प्रकाशक—
मनुभाई भ० मोदी, अध्यक्ष
श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल,
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम,
स्टे० अगास, वाया आणंद,
पो० बोरीया—३८८१३० (गुजरात)

[प्रथमावृत्ति—वीरनि० सं० २४३८; वि० सं० १९६८]
[सुधारित द्वितीय आवृत्ति, सने १९३५]
[सुधारित तृतीय आवृत्ति, सने १९६४]
[सुधारित चतुर्थ आवृत्ति, सने १९८४]
प्रति—२२००

लागत मूल्य रु २८/-
बिक्री मूल्य रु २४/-

मुद्रक—
१) वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी,
वाराणसी—२२१००१
२) अंग्रेजी अंश
राजीव प्रिन्टर्स,
विट्ठल उद्योग नगर—३८८१२१

Śrimad Rajachandra Jaina Śastramala

ŚRĪ KUNDAKUNDĀCĀRYA'S

PRAVACANASĀRA

(PAVAYAṆASĀRA)

A Pro-Canonical Text of the Jainas

The Prakrit Text critically edited with the Sanskrit Commentaries of Amṛtacandra and Jayasena and a Hindi Commentary of Pāṇḍe Hemarāja, with an English Translation of the Text, a topical Index and the Text with various readings, and with an exhaustive essay on the Life, Date and Works of Kundakunda and on the Linguistic and Philosophical aspects of Pravacanasāra

By

A. N. UPADHYE, M A, D Litt.

Retd Professor of Ardhamāgadhī

Rajaram College, Kolhapur

Published by

The Parama-Śruta-Prabhāvaka Mandal

Shrimad Rajachandra Ashrama,

Station AGAS *Post Boria–388130*

Via Anand (Gujarat)

1984

Price Rupees 36/ only.

"Study of Scriptures, indeed, bears the fruit of Meditation and that of subjugation of Senses and Passions, so in the Fifth Era Pravacanasāra (the essence of the Doctrine) *should* be studied"

Rayaṇasāra, 95

CONTENTS





श्रीमद् राजचन्द्र

जन्म . ववाणिया
वि म १९२४ कार्तिक पूर्णिमा रविवार

देहोत्सर्ग राजकोट
वि. स १९५७ चैत्र वद ५, मगलवार

इस युगके महान् तत्त्ववेत्ता

श्रीमद् राजचन्द्र

जिस महापुरुषकी विश्वविहारी प्रज्ञा थी, अनेक जन्मोमें आराधित जिसका योग था अर्थात् जन्मसे ही योगीश्वर जैसी जिसकी निरपराध वैराग्यमय दशा थी तथा सर्व जीवोके प्रति जिसका विश्वव्यापी प्रेम था, ऐसे आश्चर्यमूर्ति महात्मा श्रीमद् राजचन्द्रका जन्म महान् तत्त्वज्ञानियोकी परम्परारूप इस भारतभूमिके गुजरात प्रदेशान्तर्गत सौराष्ट्रके ववाणिया बदर नामक एक शान्त रमणीय गाँवके वणिक कुटुम्बमें विक्रम सवत् १९२४ (ईस्वी सन् १८६७) की कार्तिकी पूर्णिमा रविवारको रात्रिके दो बजे हुआ था। इनके पिताका नाम श्री रवजीभाई पंचाणभाई मेहता और माताका नाम श्री देवबाई था। इनके एक छोटा भाई और चार बहनें थी। श्रीमद्जीका प्रेम-नाम 'लक्ष्मीनन्दन' था। बादमें यह नाम बदलकर 'रायचन्द' रखा गया और भविष्यमें आप 'श्रीमद् राजचन्द्र' के नामसे प्रसिद्ध हुए।

बाल्यावस्था, समुच्चय वयचर्या

श्रीमद्जीके पितामह श्रीकृष्णके भक्त थे और उनकी माताजी देवबाई जैनसस्कार लाई थी। उन सभी सस्कारोका मिश्रण किसी अद्भुत ढगसे गगा-यमुनाके सगमकी भाँति हमारे बाल-महात्माके हृदयमें प्रवाहित हो रहा था। अपनी प्रौढ वाणीमें बाईस वर्षकी उम्रमें इस बाल्यावस्थाका वर्णन 'समुच्चयवयचर्या' नामके लेखमें उन्होने स्वय किया है—

"सात वर्ष तक बालवयकी खेलकूदका अत्यन्त सेवन किया था। खेलकूदमें भी विजय पानेकी और राजेश्वर जैसी उच्च पदवी प्राप्त करनेकी परम अभिलाषा थी। वस्त्र पहननेकी, स्वच्छ रखनेकी, खाने-पीनेकी, सोने-बैठनेकी, सारी विदेही दशा थी; फिर भी अन्त करण कोमल था। वह दशा आज भी बहुत याद आती है। आजका विवेकी ज्ञान उस वयमें होता तो मुझे मोक्षके लिये विशेष अभिलाषा न रहती।

सात वर्षसे ग्यारह वर्ष तकका समय शिक्षा लेनेमें बीता। उस समय निरपराध स्मृति होनेसे एक ही बार पाठका अवलोकन करना पडता था। स्मृति इतनी बलवत्तर थी कि वैसी स्मृति बहुत ही थोडे मनुष्योमें इस कालमें, इस क्षेत्रमें होगी। पढनेमें प्रमादी बहुत था। बातोमे कुशल, खेलकूदमें रुचिवान और आनन्दी था। जिस समय शिक्षक पाठ पढाता, मात्र उसी समय पढकर उसका भावार्थ कह देता। उस समय मुझमे प्रीति—सरल वात्सल्यता—बहुत थी। सबसे ऐक्य चाहता, सबमें भ्रातृभाव हो तभी सुख, इसका मुझे स्वाभाविक ज्ञान था। इस समय कल्पित बातें करनेकी मुझे बहुत आदत थी। आठवें वर्षमें मैंने कविता की थी, जो बादमें जाँचने पर समाप थी।

अभ्यास इतनी त्वरासे कर सका था कि जिस व्यक्तिने मुझे प्रथम पुस्तकका बोध देना आरम्भ किया था उसीको गुजराती शिक्षण भली-भाँति प्राप्त कर उसी पुस्तकका पुन मैंने बोध किया था।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति करते थे। उनसे उस वयमें कृष्णकीर्तनके पद मैंने सुने थे तथा भिन्न-भिन्न अवतारोके सम्बन्धमें चमत्कार सुने थे, जिससे मुझे भक्तिके साथ-साथ उन अवतारोमे प्रीति हो गई थी, और रामदासजी नामके साधुके पास मैंने बाल-लीलामें कठी बँधवाई थी।" उनके सम्प्रदायके महन्त होवें,

जगह-जगह पर चमत्कारसे हरिकथा करते होवें और त्यागी होवें तो कितना आनन्द आये ? यही कल्पना हुआ करती, तथा कोई वैभवी भूमिका देखता कि समर्थ वैभवशाली होनेकी इच्छा होती। " गुजराती भाषाकी वाचनमालामें जगतकर्त्ता सम्बन्धी कितने ही स्थलोमें उपदेश किया है वह मुझे दृढ हो गया था, जिससे जैन लोगोके प्रति मुझे बहुत जुगुप्सा आती थी तथा उस समय प्रतिमाके अश्रद्धालु लोगोको क्रियाएँ मेरे देखनेमें आई थी, जिससे वे क्रियाएँ मलिन लगनेसे मैं उनसे डरता था अर्थात् वे मुझे प्रिय न थी।

लोग मुझे पहलेसे ही समर्थ शक्तिशाली और गांवका नामाकित विद्यार्थी मानते थे, इसलिए मैं अपनी प्रशसाके कारण जानबूझकर वैसे मण्डलमें बैठकर अपनी चपल शक्ति दर्शानेका प्रयत्न करता। कठीके लिए बार-बार वे मेरी हास्यपूर्वक टीका करते, फिर भी मैं उनसे वाद करता और उन्हें समझानेका प्रयत्न करता। परन्तु धीरे-धीरे मुझे उनके (जैनके) प्रतिक्रमणसूत्र इत्यादि पुस्तकें पढनेके लिए मिली, उनमें बहुत विनयपूर्वक जगतके सब जीवोसे मित्रता चाही है। अत मेरी प्रीति इसमें भी हुई और उसमें भी रही। धीरे-धीरे यह प्रसङ्ग बढा। फिर भी स्वच्छ रहनेके तथा दूसरे आचार-विचार मुझे वैष्णवोंके प्रिय थे और जगतकर्त्ताकी श्रद्धा थी। उस अरसेमें कठी टूट गई, इसलिए उसे फिरसे मैंने नही बाँधा। उस समय बाँधने न बाँधनेका कोई कारण मैंने ढूँढा न था। यह मेरी तेरह वर्षकी वयचर्या है। फिर मैं अपने पिताकी दूकान पर बैठता और अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छ-दरबारके उतारे पर मुझे लिखनेके लिए बुलाते तब मैं वहाँ जाता। दूकान पर मैंने नाना प्रकारकी लीला-लहर की है, अनेक पुस्तकें पढी हैं, राम इत्यादिके चरित्रों पर कविताएँ रची हैं, सासारिक तृष्णाएँ की हैं, फिर भी मैंने किसीको न्यून-अधिक दाम नही कहा या किसीको न्यून-अधिक तौल कर नही दिया, यह मुझे निश्चित याद है।" (पत्राक ८९)

जातिस्मरणज्ञान और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति

श्रीमद्जी जिस समय सात वर्षके थे उस समय एक महत्त्वपूर्ण प्रसग उनके जीवनमें बना। उन दिनों ववाणियामें अमीचन्द नामके एक गृहस्थ रहते थे जिनका श्रीमद्जीके प्रति बहुत प्रेम था। एक दिन सांपके काट खानेसे उनकी तत्काल मृत्यु हो गई। यह बात सुनकर श्रीमद्जी पितामहके पास आये और पूछा—'अमीचन्द गुजर गये क्या ?' पितामहने सोचा कि मरणकी बात सुननेसे बालक डर जायेगा, अत उन्होंने, ब्यालू कर ले, ऐसा कहकर वह बात टालनेका प्रयत्न किया। मगर श्रीमद्जी बार-बार वही सवाल करते रहे। आखिर पितामहने कहा—'हाँ, यह बात सच्ची है।' श्रीमद्जीने पूछा—'गुजर जानेका अर्थ क्या ?' पितामहने कहा—'उसमेंसे जीव निकल गया, और अब वह चल-फिर या बोल नही सकेगा, इसलिए उसे तालाबके पासके स्मशानमें जला देंगे।' श्रीमद्जी थोडी देर घरमें इधर-उधर घूमकर छिपे-छिपे तालाब पर गये और तटवर्ती दो शाखावाले बबूल पर चढ कर देखा तो सचमुच चिता जल रही थी। कितने ही मनुष्य आसपास बैठे हुए थे। यह देखकर उन्हें विचार आया कि ऐसे मनुष्यको जला देना यह कितनी क्रूरता! ऐसा क्यो हुआ ? इत्यादि विचार करते हुए परदा हट गया, और उन्हें पूर्वभवोंकी स्मृति हो आई। फिर जब उन्होने जूनागढ़का गढ देखा तब उस (जातिस्मरणज्ञान) में वृद्धि हुई।

इस पूर्वस्मृतिरूप ज्ञानने उनके जीवनमें प्रेरणाका अपूर्व नवीन अध्याय जोडा। इसीके प्रतापसे उन्हें छोटी उम्रसे वैराग्य और विवेककी प्राप्ति द्वारा तत्त्वबोध हुआ। पूर्वभवके ज्ञानसे आत्माकी श्रद्धा निश्चल हो गई। सवत् १९४९, कार्तिक वद १२ के एक पत्रमें लिखते हैं—"पुनर्जन्म है—जरूर है। इसके लिए 'मैं' अनुभवसे हाँ कहनेमें अचल हूँ। यह वाक्य पूर्वभवके किसी योगका स्मरण होते समय सिद्ध हुआ लिखा है। जिसने पुनर्जन्मादि भाव किये हैं, उस पदार्थको किसी प्रकारसे जानकर यह वाक्य लिखा गया है।" (पत्राक ४२४)

एक अन्य पत्रमें लिखते हैं—"कितने ही निर्णयोसे मैं यह मानता हूँ कि इस कालमें भी कोई-कोई महात्मा गतभवको जातिस्मरण ज्ञानसे जान सकते है, यह जानना कल्पित नही किन्तु सम्यक् (यथार्थ) होता है! उत्कृष्ट सवेग, ज्ञानयोग और सत्सगसे भी यह ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभवमे आ जाता है। जबतक पूर्वभव अनुभवगम्य न हो तब तक आत्मा भविष्यकालके लिए सशकित धर्मप्रयत्न किया करता हैं; और ऐसा सशकित प्रयत्न योग्य सिद्धि नही देता।" (पत्राक ६४)

अवधान-प्रयोग, स्पर्शनशक्ति

वि० स० १९४० से श्रीमद्जी अवधान-प्रयोग करने लगे थे। धीरे-धीरे वे *शतावधान तक पहुँच गये थे। जामनगरमें बारह और सोलह अवधान करने पर उन्हें 'हिन्दका हीरा' ऐसा उपनाम मिला था। वि० स० १९४३ में १९ वर्षकी उम्रमें उन्होने बम्बईकी एक सार्वजनिक सभामें डॉ० पिटर्सनकी अध्यक्षतामें शतावधानका प्रयोग दिखाकर बडे-बडे लोगोको आश्चर्यमें डाल दिया था। उस समय उपस्थित जनताने उन्हें 'सुवर्णचन्द्रक' प्रदान किया था और 'साक्षात् सरस्वती' की उपाधिसे सम्मानित किया था।

श्रीमद्जीकी स्पर्शनशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण थी। उपरोक्त सभामें उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारके बारह ग्रन्थ दिये गये और उनके नाम भी उन्हें पढ कर सुना दिये गये। बादमें उनकी आँखोपर पट्टी बाँध कर जो-जो ग्रन्थ उनके हाथपर रखे गये उन सब ग्रन्थोके नाम हाथोसे टटोलकर उन्होने बता दिये।

श्रीमद्जीकी इस अद्भुत शक्तिसे प्रभावित होकर तत्कालीन बम्बई हाईकोर्टके मुख्य न्यायाधीश सर चार्ल्स सारजन्टने उन्हें यूरोपमें जाकर वहाँ अपनी शक्तियाँ प्रदर्शित करनेका अनुरोध किया, परन्तु उन्होने इसे स्वीकार नही किया। उन्हें कीर्त्तिकी इच्छा न थी, बल्कि ऐसी प्रवृत्ति आत्मोन्नतिमें बाधक और सन्मार्ग-रोधक प्रतीत होनेसे प्राय बीस वर्षकी उम्रके बाद उन्होने अवधान-प्रयोग नही किये।

महात्मा गांधीने कहा था

महात्मा गाधीजी श्रीमद्जीको धर्मके सम्बन्धमें अपना मार्गदर्शक मानते थे। वे लिखते है—

"मुझ पर तीन पुरुषोंने गहरा प्रभाव डाला है—टालसटॉय, रस्किन और रायचन्दभाई। टालसटॉयने अपनी पुस्तको द्वारा और उनके साथ थोडे पत्रव्यवहारसे, रस्किनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दि लास्ट' से—जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है, और रायचन्दभाईने अपने गाढ परिचयसे। जब मुझे हिन्दुधर्ममें शका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमें मदद करनेवाले रायचन्दभाई थे"

जो वैराग्य (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?) इस काव्यकी कडियोमें झलक रहा है वह मैंने उनके दो वर्षोंके गाढ परिचयमें प्रतिक्षण उनमें देखा है। उनके लेखोमें एक असाधारणता यह है कि उन्होने जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कही भी कृत्रिमता नही है। दूसरे पर प्रभाव डालनेके लिए एक पक्ति भी लिखी हो ऐसा मैंने नही देखा।'

---

*शतावधान अर्थात् सौ कामोको एक साथ करना। जैसे शतरज खेलते जाना, मालाके मनके गिनते जाना, जोड बाकी गुणाकार एव भागाकार मनमे गिनते जाना, आठ नई समस्याओकी पूर्ति करना, सोलह निर्दिष्ट नये विषयोपर निर्दिष्ट छन्दमें कविता करते जाना, सोलह भाषाओंके अनुक्रमविहीन चार सौ शब्द कर्ताकर्मसहित पुन अनुक्रमबद्ध कह सुनाना, कतिपय अलकारोका विचार, दो कोठोमें लिखे हुए उल्टे-सीधे अक्षरोंसे कविता करते जाना इत्यादि। एक जगह ऊँचे आसनपर बैठकर इन सब कामोमें मन और दृष्टिको प्रेरित करना, लिखना नही या दुबारा पूछना नही और सभी स्मरणमें रख कर इन सौ कामोको पूर्ण करना। श्रीमद्जी लिखते है—"अवधान आत्मशक्तिका कार्य है यह मुझे स्वानुभवमे प्रतीत हुआ है।" (पत्रांक १८)

खाते, बैठते, सोते, प्रत्येक क्रिया करते उनमें वैराग्य तो होता ही। किसी समय इस जगतके किसी भी वैभवमें उन्हें मोह हुआ हो ऐसा मैंने नही देखा'

व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणताका जितना उत्तम मेल मैंने कविमें देखा उतना किसी अन्यमें नही देखा।''

'श्रीमद् राजचन्द्र जयन्ती' के प्रसग पर ईस्वी सन् १९२१ में गाधीजी कहते हैं—''बहुत बार कह और लिख गया हूँ कि मैंने बहुतोंके जीवनमेंसे बहुत कुछ लिया है। परन्तु सबसे अधिक किसीके जीवनमेंसे मैंने ग्रहण किया हो तो वह कवि (श्रीमद्जी) के जीवनमेंसे है। दयाधर्म भी मैंने उनके जीवनमेंसे सीखा है। खून करनेवालेसे भी प्रेम करना यह दयाधर्म मुझे कविने सिखाया है।''

गृहस्थाश्रम

वि० स० १९४४ माघ सुदी १२ को २० वर्षकी आयुमें श्रीमद्जीका शुभ विवाह जौहरी रेवाशकर जगजीवनदास मेहताके बडे भाई पोपटलालकी महाभाग्यशाली पुत्री झबकबाईके साथ हुआ था। इसमें दूसरों की 'इच्छा' और 'अत्यन्त आग्रह' ही कारणरूप प्रतीत होते हैं। विवाहके एकाध वर्ष बाद लिखे हुए एक लेखमें श्रीमद्जी लिखते हैं—''स्त्रीके सम्बन्धमें किसी भी प्रकारसे रागद्वेष रखनेकी मेरी अशमात्र इच्छा नही है। परन्तु पूर्वोपार्जनसे इच्छाके प्रवर्तनमें अटका हूँ।'' (पत्राक ७८)

स० १९४६ के पत्रमें लिखते हैं—''तत्त्वज्ञानकी गुप्त गुफाका दर्शन करने पर गृहाश्रमसे विरक्त होना अधिकतर सूझता है।'' (पत्राक ११३)

श्रीमद्जी गृहवासमें रहते हुए भी अत्यन्त उदासीन थे। उनकी मान्यता थी—''कुटुम्बरूपी काजलकी कोठडीमें निवास करनेसे ससार बढता है। उसका कितना भी सुधार करो, तो भी एकान्तवाससे जितना ससारका क्षय हो सकता है उसका शताश भी उस काजलकी कोठडीमें रहनेसे नही हो सकता, क्योंकि वह कषायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है।'' (पत्राक १०३) फिर भी इस प्रतिकूलता-में वे अपने परिणामोंकी पूरी सम्भाल रखकर चले।

सफल एवं प्रामाणिक व्यापारी

श्रीमद्जी २१ वर्षकी उम्रमें व्यापारार्थ ववाणियासे बबई आये और सेठ रेवाशकर जगजीवनदासकी दुकानमें भागीदार रहकर जवाहिरातका व्यापार करने लगे। व्यापार करते हुए भी उनका लक्ष्य आत्माकी ओर अधिक था। व्यापारसे अवकाश मिलते ही श्रीमद्जी कोई अपूर्व आत्मविचारणामें लीन हो जाते थे। ज्ञानयोग और कर्मयोगका इनमें यथार्थ समन्वय देखा जाता था। श्रीमद्जीके भागीदार श्री माणेकलाल घेला-भाईने अपने एक वक्तव्यमें कहा था—''व्यापारमें अनेक प्रकारकी कठिनाइयाँ आती थी, उनके सामने श्रीमद्जी एक अडोल पर्वतके समान टिके रहते थे। मैंने उन्हें जड वस्तुओंकी चिन्तासे चिन्तातुर नही देखा। वे हमेशा शान्त और गम्भीर रहते थे।''

जवाहिरातके साथ मोतीका व्यापार भी श्रीमद्जीने शुरू किया था और उसमें वे सभी व्यापारियोंमें अधिक विश्वासपात्र माने जाते थे। उस समय एक अरब अपने भाईके साथ मोतीकी आढ़तका धन्धा करता था। छोटे भाईके मनमें आया कि आज मैं भी बडे भाईकी तरह बडा व्यापार करूँ। दलालने उसकी श्रीमद्जीसे भेंट करा दी। उन्होंने कसकर माल खरीदा। पैसे लेकर अरब घर पहुँचा तो उसके बडे भाईने पत्र दिखाकर कहा कि वह माल अमुक किमतके विना नही बेचनेकी शर्त की है और तूने यह क्या किया? यह सुनकर वह घबराया और श्रीमद्जीके पास जाकर गिड़गिड़ाने लगा कि मैं ऐसी आफतमें आ पडा हूँ।

श्रीमद्‌जीने तुरन्त माल वापस कर दिया और पैसे गिन लिये। मानो कोई सौदा किया ही न था ऐसा समझकर होनेवाले बहुत नफेको जाने दिया। वह अरब श्रीमद्‌जीको खुदाके समान मानने लगा।

इसी प्रकारका दूसरा प्रसग उनके करुणामय और नि स्पृही जीवनका ज्वलत उदाहरण है। एक बार एक व्यापारीके साथ श्रीमद्‌जीने हीरोका सौदा किया कि अमुक समयमें निश्चित किये हुए भावसे वह व्यापारी श्रीमद्‌जीको अमुक हीरे दे। उस विषयका दस्तावेज भी हो गया। परन्तु हुआ ऐसा कि मुद्दतके समय भाव बहुत बढ गये। श्रीमद्‌जी खुद उस व्यापारीके यहाँ जा पहुँचे और उसे चिन्तामग्न देखकर वह दस्तावेज फाड डाला और बोले—"भाई, इस चिट्ठी (दस्तावेज) के कारण तुम्हारे हाथ-पाँव बँधे हुए थे। बाजार भाव बढ़ जानेसे तुमसे मेरे साठ-सत्तर हजार रुपये लेने निकलते है, परन्तु मैं तुम्हारी स्थिति समझ सकता हूँ। इतने अधिक रुपये मैं तुमसे ले लूँ तो तुम्हारी क्या दशा हो? परन्तु राजचन्द्र दूध पी सकता है, खून नही।" वह व्यापारी कृतज्ञभावसे श्रीमद्‌जीकी ओर स्तब्ध होकर देखता ही रह गया।

भविष्यवक्ता, निमित्तज्ञानी

श्रीमद्‌जीका ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान भी प्रखर था। वे जन्मकुण्डली, वर्षफल एव अन्य चिह्न देखकर भविष्यकी सूचना कर देते थे। श्री जूठाभाई (एक मुमुक्षु) के मरणके बारेमें उन्होने सवा दो मास पूर्व स्पष्ट बता दिया था। एक बार स० १९५५ की चैत वदी ८ को मोरबीमें दोपहरके ४ बजे पूर्व दिशाके आकाशमें काले बादल देखे और उन्हें दुष्काल पडनेका निमित्त जानकर उन्होंने कहा—"ऋतुको सन्निपात हुआ है।" तदनुसार स० १९५५ का चौमासा कोरा रहा और स० १९५६ में भयकर दुष्काल पडा। श्रीमद्‌जी दूसरेके मनकी बातको भी सरलतासे जान लेते थे। यह सब उनकी निर्मल आत्मशक्तिका प्रभाव था।

कवि-लेखक

श्रीमद्‌जीमे अपने विचारोकी अभिव्यक्ति पद्यरूपमें करनेकी सहज क्षमता थी। उन्होने 'स्त्रीनीति-बोधक', 'सद्‌बोधशतक', 'आर्यप्रजानी पडती', 'हुन्नरकला वधारवा विषे' आदि अनेक कविताएँ केवल आठ वर्षकी वयमें लिखी थी। नौ वर्षकी आयुमें उन्होने रामायण और महाभारतकी भी पद्य-रचना की थी जो प्राप्त न हो सकी। इसके अतिरिक्त जो उनका मूल विषय आत्मज्ञान था उसमें उनकी अनेक रचनाएँ हैं। प्रमुखरूपसे 'आत्मसिद्धि', 'अमूल्य तत्त्वविचार', 'भक्तिना वीस दोहरा', 'परमपदप्राप्तिनी भावना (अपूर्व अवसर)', 'मूलमार्ग-रहस्य', 'तृष्णानी विचित्रता' हैं।

'आत्मसिद्धि-शास्त्र' के १४२ दोहोकी रचना तो श्रीमद्‌जीने मात्र डेढ़ घण्टेमें नडियादमें आश्विन वदी १ (गुजराती) स० १९५२ को २९ वर्षकी उम्रमें की थी। इसमें सम्यग्दर्शनके कारणभूत छः पदोका बहुत ही सुन्दर पक्षपातरहित वर्णन किया है। यह कृति नित्य स्वाध्यायकी वस्तु है। इसके अंग्रेजीमें भी गद्य पद्यात्मक अनुवाद प्रगट हो चुके हैं।

गद्य-लेखनमें श्रीमद्‌जीने 'पुष्पमाला', 'भावनाबोध' और 'मोक्षमाला' की रचना की। इसमें 'मोक्ष-माला' तो उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है जिसे उन्होने १६ वर्ष ५ मासकी आयुमें मात्र तीन दिनमें लिखी थी। इसमें १०८ शिक्षापाठ है। आज तो इतनी आयुमें शुद्ध लिखना भी नही आता जबकि श्रीमद्‌जीने एक अपूर्व पुस्तक लिख डाली। पूर्वभवका अभ्यास ही इसमें कारण था। 'मोक्षमाला' के संबधमें श्रीमद्‌जी लिखते हैं—"जैनधर्मको यथार्थ समझानेका उसमें प्रयास किया है, जिनोक्त मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक उसमें नही कहा है। वीतराग मार्गमें आबालवृद्धकी रुचि हो, उसके स्वरूपको समझे तथा उसके बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे इसकी बालावबोधरूप योजना की है।"

श्री कुन्दकुन्दाचार्यके 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थकी मूल गाथाओंका श्रीमद्जीने अविकल (अक्षरश) गुजराती अनुवाद भी किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्री आनन्दघनजीकृत चौबीसीका अर्थ लिखना भी प्रारम्भ किया था, और उसमें प्रथम दो स्तवनोका अर्थ भी किया था, पर वह अपूर्ण रह गया है। फिर भी इतनेसे, श्रीमद्जीकी विवेचन शैली कितनी मनोहर और तलस्पर्शी है उसका ख्याल आ जाता है। सूत्रोका यथार्थ अर्थ समझने-समझानेमें श्रीमद्जीकी निपुणता अजोड थी।

मतमतान्तरके आग्रहसे दूर

श्रीमद्जीकी दृष्टि बडी विशाल थी। वे रूढि या अन्धश्रद्धाके कट्टर विरोधी थे। वे मतमतान्तर और कदाग्रहादिसे दूर रहते थे, वीतरागताकी ओर ही उनका लक्ष्य था। उन्होने आत्मधर्मका ही उपदेश दिया। इसी कारण आज भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले उनके वचनोका रुचिपूर्वक अभ्यास करते हुए देखे जाते हैं।

श्रीमद्जी लिखते हैं—

"मूलतत्त्वमें कही भी भेद नहीं है, मात्र दृष्टिका भेद है ऐसा मानकर आशय समझकर पवित्र धर्ममें प्रवृत्ति करना।" (पुष्पमाला–१४)

"तू चाहे जिस धर्मको मानता हो इसका मुझे पक्षपात नही, मात्र कहनेका तात्पर्य यही कि जिस मार्गसे ससारमलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन कर।" (पुष्पमाला-१५)

"दुनिया मतभेदके बन्धनसे तत्त्व नही पा सकी।" (पत्राक २७)

"जहां तहांसे रागद्वेषरहित होना ही मेरा धर्म है मैं किसी गच्छमें नही हूं, परन्तु आत्मामें हूँ यह मत भूलियेगा।" (पत्राक ३७)

श्रीमद्जीने प्रीतम, अखा, छोटम, कबीर, सुन्दरदास, सहजानन्द, मुक्तानन्द, नरसिंह मेहता आदि सन्तोंकी वाणीको जहाँ-तहाँ आदर दिया है और उन्हें मार्गानुसारी जीव (तत्त्वप्राप्तिके योग्य आत्मा) कहा है। फिर भी अनुभवपूर्वक उन्होंने जैनशासनकी उत्कृष्टताको स्वीकार किया है—

"श्रीमत् वीतराग भगवन्तोंका निश्चितार्थ किया हुआ ऐसा अचिन्त्य चिन्तामणिस्वरूप, परमहितकारी, परम अद्भुत, सर्व दु.खका नि सशय आत्यन्तिक क्षय करनेवाला, परम अमृतस्वरूप ऐसा सर्वोत्कृष्ट शाश्वत धर्म जयवन्त वर्तो, त्रिकाल जयवन्त वर्तो। उस श्रीमत् अनन्तचतुष्टयस्थित भगवानका और उस जयवन्त धर्मका आश्रय सदैव कर्तव्य है।" (पत्राक ८४३)

परम वीतरागदशा

श्रीमदजीकी परम विदेही दशा थी। वे लिखते हैं—

"एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसम्पत्ति सिवाय हमें कुछ रुचिकर नही लगता, हमें किसी पदार्थमें रुचिमात्र रही नही है हम देहधारी हैं या नही—यह याद करते हैं तब मुश्केलीसे जान पाते हैं।" (पत्राक २५५)

"देह होते हुए भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है ऐसा हमारा निश्चल अनुभव है। क्योंकि हम भी अवश्य उसी स्थितिको पानेवाले हैं, ऐसा हमारा आत्मा अखण्डतासे कहता है और ऐसा ही है, जरूर ऐसा ही है।" (पत्राक ३३४)

"मान लें कि चरमशरीरीपन इस कालमें नही है, तथापि अशरीरी भावसे आत्मस्थिति है तो वह भावनयसे चरमशरीरीपन नही, अपितु सिद्धत्व है, और यह अशरीरीभाव इस कालमें नही है ऐसा यहाँ कहें तो इस कालमें हम खुद नही हैं, ऐसा कहने तुल्य है।" (पत्राक ४११)

अहमदाबादमें आगाखानके बँगलेपर श्रीमद्‌जीने श्री लल्लुजी तथा श्री देवकरणजी मुनिको बुलाकर अन्तिम सूचना देते हुए कहा था—"हमारेमें और वीतरागमें भेद न मानियेगा।"

एकान्तचर्या, परमनिवृत्तिरूप कामना

मोहमयी (बम्बई) नगरीमें व्यापारिक काम करते हुए भी श्रीमद्‌जी ज्ञानाराधना तो करते ही रहते थे और पत्रो द्वारा मुमुक्षुओकी शकाओका समाधान करते रहते थे, फिर भी बीच-बीचमें पेढीसे विशेष अवकाश लेकर वे एकान्त स्थान, जगल या पर्वतोंमें पहुँच जाते थे। मुख्यरूपसे वे खभात, वडवा, काविठा, उत्तरसडा, नडियाद, वसो, रालज और ईडरमें रहे थे। वे किसी भी स्थान पर बहुत गुप्तरूपसे जाते थे, फिर भी उनकी सुगन्धी छिप नही पाती थी। अनेक जिज्ञासु-भ्रमर उनके सत्समागमका लाभ पानेके लिए पीछे-पीछे कही भी पहुँच ही जाते थे। ऐसे प्रसगो पर हुए बोधका यत्किंचित् सग्रह 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थमें 'उपदेशछाया', 'उपदेशनोध' और 'व्याख्यानसार' के नामसे प्रकाशित हुआ है।

यद्यपि श्रीमद्‌जी गृहवास-व्यापारादिमें रहते हुए भी विदेहीवत् थे, फिर भी उनका अन्तरङ्ग सर्वसगपरित्याग कर निर्ग्रन्थदशाके लिए छटपटा रहा था। एक पत्रमें वे लिखते हैं—"भरतजीको हिरनके सगसे जन्मकी वृद्धि हुई थी और इस कारणसे जडभरतके भवमें असग रहे थे। ऐसे कारणोसे मुझे भी असगता बहुत ही याद आती है, और कितनी ही बार तो ऐसा हो जाता है कि उस असगताके बिना परम दु ख होता है। यम अन्तकालमें प्राणीको दु खदायक नही लगता होगा, परन्तु हमें सग दु खदायक लगता है।" (पत्राक २१७)

फिर हाथनोधमें वे लिखते हैं—"सर्वसग महास्रवरूप श्री तीर्थंकरने कहा है सो सत्य है। ऐसी मिश्रगुणस्थानक जैसी स्थिति कहाँ तक रखनी ? जो बात चित्तमें नही सो करनी, और जो चित्तमें है उसमें उदास रहना ऐसा व्यवहार किस प्रकारसे हो सकता है ? वैश्यवेषमें और निर्ग्रन्थभावसे रहते हुए कोटि-कोटि विचार हुआ करते है।" (हाथनोध १-३८) "आकिंचन्यतासे विचरते हुए एकान्त मौनसे जिनसदृश ध्यानसे तन्मयात्मस्वरूप ऐसा कब होऊँगा ?" (हाथनोध १-८७)

सवत् १९५६ में अहमदाबादमें श्रीमद्‌जीने श्री देवकरणजी मुनिसे कहा था—"हमने सभामें स्त्री और लक्ष्मी दोनोका त्याग किया है, और सर्वसगपरित्यागकी आज्ञा माताजी देंगी ऐसा लगता है।" और तदनुसार उन्होने सर्वसगपरित्यागरूप दीक्षा धारण करनेकी अपनी माताजीसे अनुज्ञा भी ले ली थी। परन्तु उनका शारीरिक स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगडता गया। ऐसे ही अवसर पर किसीने उनसे पूछा—"आपका शरीर कृश क्यो होता जाता है ?" श्रीमद्‌जीने उत्तर दिया—"हमारे दो बगीचे हैं, शरीर और आत्मा। हमारा पानी आत्मारूपी बगीचेमें जाता है, इससे शरीररूपी बगीचा सूख रहा है।" अनेक उपचार करने पर भी स्वास्थ्य ठीक नही हुआ। अन्तिम दिनोमें एक पत्रमे लिखते है—"अत्यन्त त्वरासे प्रवास पूरा करना था, वहाँ बीचमें सेहराका मरुस्थल आ गया। सिर पर बहुत बोझ था उसे आत्मवीर्यसे जिस प्रकार अल्पकालमे सहन कर लिया जाय उस प्रकार प्रयत्न करते हुए, पैरोने निकाचित उदयरूप थकान ग्रहण की। जो स्वरूप है वह अन्यथा नही होता यही अद्भुत आश्चर्य है। अव्याबाध स्थिरता है।" (पत्राक ९५१)

अन्त समय

स्थिति और भी गिरती गई। शरीरका वजन १३२ पौंडसे घटकर मात्र ४३ पौड रह गया। शायद उनका अधिक जीवन कालको पसन्द नही था। देहत्यागके पहले दिन शामको अपने छोटे भाई मनसुखलाल आदिसे कहा—"तुम निश्चिन्त रहना। यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होने-

बोला है । तुम शान्ति और समाधिपूर्वक रहना । जो रत्नमय ज्ञानवाणी इस देहके द्वारा कही जा सकनेवाली थी उसे कहनेका समय नही है । तुम पुरुषार्थ करना ।" रात्रिको ढाई बजे वे फिर बोले—"निश्चिन्त रहना, भाईका समाधिमरण है ।" अवसानके दिन प्रात पौने नौ बजे कहा—"मनसुख, दु खी न होना । मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ ।" फिर वे नही बोले । इस प्रकार पाँच घटे तक समाधिमें रहकर सवत् १९५७ की चैत्र वदी ५ (गुजराती) मगलवारको दोपहरके दो बजे राजकोटमें इस नश्वर शरीरका त्याग करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए । भारतभूमि एक अनुपम तत्त्वज्ञानी सन्तको खो बैठी । उनके देहावसानके समाचारसे मुमुक्षुओंमें अत्यन्त शोकके बादल छा गये । जिन-जिन पुरुषोको जितने प्रमाणमें उन महात्माकी पहचान हुई थी उतने प्रमाणमें उनका वियोग उन्हें अनुभूत हुआ था ।

उनकी स्मृतिमें शास्त्रमालाकी स्थापना

वि० स० १९५६ के भादो मासमें परम सत्श्रुतके प्रचार हेतु बम्बईमें श्रीमद्जीने परमश्रुतप्रभावक-मण्डलकी स्थापना की थी । श्रीमद्जीके देहोत्सर्गके बाद उनकी स्मृतिस्वरूप 'श्री रायचन्द्रजैनग्रन्थमाला' की स्थापना की गई जिसके अन्तर्गत दोनो सम्प्रदायोके अनेक सद्ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ है जो तत्त्वविचारकोंके लिए इस दुषमकालको बितानेमें परम उपयोगी और अनन्य आधाररूप है । महात्मा गांधीजी इस सस्थाके ट्रस्टी और श्री रेवाशकर जगजीवनदास मुख्य कार्यकर्त्ता थे । श्री रेवाशकरके देहोत्सर्ग बाद सस्थामें कुछ शिथिलता आ गई परन्तु अब उस सस्थाका काम श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगासके ट्रस्टियोने सम्भाल लिया है और सुचारुरूपसे पूर्वानुसार सभी कार्य चल रहा है ।

श्रीमद्जीके स्मारक

श्रीमद्जीके अनन्य भक्त आत्मनिष्ठ श्री लघुराजस्वामी (श्री लल्लुजी मुनि) की प्रेरणासे श्रीमद्जीके स्मारकके रूपमें और भक्तिधामके रूपमें वि० स० १९७६ की कार्तिकी पूर्णिमाको अगास स्टेशनके पास 'श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम' की स्थापना हुई थी । श्री लघुराज स्वामीके चौदह चातुर्मासोंसे पावन हुआ यह आश्रम आज बढते-बढ़ते गोकुल-सा गाँव बन गया है । श्री स्वामीजी द्वारा योजित सत्सगभक्तिका क्रम आज भी यहाँ पर उनकी आज्ञानुसार चल रहा है । धार्मिक जीवनका परिचय करानेवाला यह उत्तम तीर्थ बन गया है । सक्षेपमें यह तपोवनका नमूना है । श्रीमद्जीके तत्त्वज्ञानपूर्ण साहित्यका भी मुख्यत यहींसे प्रकाशन होता है । इस प्रकार यह श्रीमद्जीका मुख्य जीवत स्मारक है ।

इसके अतिरिक्त वर्तमानमें निम्नलिखित स्थानोपर श्रीमद् राजचन्द्र मदिर आदि सस्थाएँ स्थापित हैं जहाँ पर मुमुक्षु-बन्धु मिलकर आत्म-कल्याणार्थ वीतराग-तत्त्वज्ञानका लाभ उठाते हैं—ववाणिया, राजकोट, मोरबी, वडवा, खभात, काविठा, सीमरडा, वडाली, भादरण, नार, सुणाव, नरोडा, सडोदरा, धामण, अहमदाबाद, ईडर, सुरेन्द्रनगर, वसो, वटामण, उत्तरसडा, बोरसद, बम्बई (घाटकोपर एव चौपाटी), देवलाली, बैंगलोर, इन्दौर, आहोर (राजस्थान), मोम्बासा (आफ्रिका) इत्यादि ।

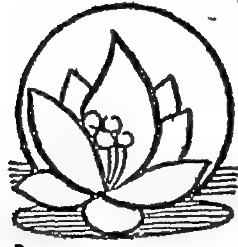
अन्तिम प्रशस्ति

आज उनका पार्थिव देह हमारे बीच नही है मगर उनका अक्षरदेह तो सदाके लिए अमर है । उनके मूल पत्रों तथा लेखोका सग्रह गुर्जरभाषामें 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थमें प्रकाशित हो चुका है (जिसका हिन्दी अनुवाद भी प्रगट हो चुका है) वही मुमुक्षुओके लिए मार्गदर्शक और अवलम्बनरूप है । एक-एक पत्रमें कोई अपूर्व रहस्य भरा हुआ है । उसका मर्म समझनेके लिये सतसमागमकी विशेष आवश्यकता है । इन पत्रोंमें

श्रीमद्जीका पारमार्थिक जीवन जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर होता है। इसके अलावा उनके जीवनके अनेक प्रेरक प्रसग जानने योग्य हैं, जिसका विशद वर्णन श्रीमद् राजचद्र आश्रम प्रकाशित 'श्रीमद् राजचद्र जीवनकला' में किया हुआ है (जिसका हिंदी अनुवाद भी प्रकट हो चुका है)। यहाँ पर तो स्थानाभावसे उस महान् विभूतिके जीवनका विहगावलोकनमात्र किया गया है।

श्रीमद् लघुराजस्वामी (श्री प्रभुश्रीजी) 'श्रीसद्गुरुप्रसाद' ग्रन्थकी प्रस्तावनामें श्रीमद्के प्रति अपना हृदयोद्गार इन शब्दोमें प्रकट करते हैं—"अपरमार्थमें परमार्थके दृढ आग्रहरूप अनेक सूक्ष्म भूलभूलैयांके प्रसग दिखाकर, इस दासके दोष दूर करनेमें इन आप्त पुरुषका परम सत्सग और उत्तम बोध प्रबल उपकारक बने हैं' सजीवनी औषध समान मृतको जीवित करें, ऐसे उनके प्रबल पुरुषार्थ जागृत करनेवाले वचनोका माहात्म्य विशेष विशेष भास्यमान होनेके साथ ठेठ मोक्षमें ले जाय ऐसी सम्यक् समझ (दर्शन) उस पुरुष और उसके बोधकी प्रतीतिसे प्राप्त होती है, वे इस दुषम कलिकालमे आश्चर्यकारी अवलम्बन है। परम माहात्म्यवंत सद्गुरु श्रीमद् राजचद्रदेवके वचनोमें तल्लीनता, श्रद्धा जिसे प्राप्त हुई है या होगी उसका महद् भाग्य है। वह भव्य जीव अल्पकालमें मोक्ष पाने योग्य है।"

ऐसे महात्माको हमारे अगणित वन्दन हो!



॥ ओ नम. ॥

प्रस्तावना

(प्रथम आवृत्ति)

प्रिय विज्ञपाठको ! मैं श्रीजिनेन्द्रदेवकी कृपासे आज आपके सन्मुख श्रीप्रवचनसार भी तीन टीकाओसहित उपस्थित करता हूँ। यह उसी नाटकत्रयीमेंका सिद्धान्त ग्रन्थ है। जो कि द्वितीयश्रुतस्कन्धके नामसे प्रसिद्ध है इसीसे जैन-सप्रदायमें परम माननीय है।

इसकी उत्पत्ति इस तरह है कि श्रीवर्धमानस्वामीके निर्वाण होनेके पश्चात् ६८३ वर्षपर्यंत अगज्ञानकी प्रवृत्ति रही। इसके बाद अगपाठी कोई भी नही हुए किन्तु एक भद्रबाहुस्वामी अष्टागनिमित्त-ज्ञानके (ज्योतिषके) धारक हुए। इनके समयमें १२ वर्षका दुर्भिक्ष पडनेसे इनके सघमेंसे अनेक मुनि शिथिलाचारी हो गये और स्वच्छन्दप्रवृत्ति होनेसे जैनमार्ग भ्रष्ट होने लगा, तब भद्रबाहुस्वामीके शिष्योंमेंसे एक धरसेन नामके मुनि हुए जिनको आग्रायणी नामक दूसरे पूर्वमें पचम वस्तु महाधिकारके महाप्रकृतिनाम चौथे प्राभृत (अधिकार) का ज्ञान था।

उक्त धरसेनाचार्यके समयमें ही एक गुणधर नामा मुनि हुए, उनको ज्ञानप्रवाद पूर्वके दशमवस्तुमेंसे तृतीय प्राभृतका ज्ञान था। उनसे नागहस्तनामा मुनिने उस प्राभृतको पढ़ा और इन दोनो मुनियोंसे फिर यतिनायकनामा मुनिने १२००० श्लोकोमें एक विस्तृत टीका रची, सो उस ग्रन्थको श्रीकुदकुदस्वामी अपने गुरु जिनचन्द्राचार्यसे पढ़कर पूर्ण रहस्यके ज्ञाता हुए और उसी ग्रथके अनुसार पचास्तिकाय-समयसार-नाटक-प्रवचनसाररूप नाटकत्रयी आदि ग्रथ रचे। ये सब ग्रथ द्वितीयश्रुतस्कध के नामसे कहे जाते हैं। इन सबमें ज्ञानको प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका कथन किया गया है अर्थात् अध्यात्मरीतिसे आत्माका ही अधिकार हैं। इन्ही ग्रन्थोंसे परद्रव्य तथा परनिमित्तजन्यविकारभाव इनसे भिन्न अपनेको जानकर अपने शुद्धस्वरूपका अनुभवकर शुद्धोपयोगमें लीन हुआ कर्मोंका अभावकर यह जीव मोक्षपदको पाता है।

इस महान ग्रन्थके कर्ता 'श्रीकुदकुदाचार्य' पट्टावलियोंके अनुसार वि स ४९ में हुए हैं इनके बनाये हुए समस्त ग्रन्थोंको दिगबर और श्वेताम्बर दोनोही पक्षके विद्वद्गण प्रमाणभूत मानकर परम आदरकी दृष्टिसे इनका स्वाध्याय तथा अवलोकन करते रहते हैं अर्थात् सर्वजैनोंमें मान्य हैं।

इस ग्रन्थकी इस समय दो सस्कृत टीकायें प्रकाशित की गई हैं उनमेंसे एक 'तत्त्वदीपिका' नामकी टीका जो कि श्रीअमृतचन्द्रसूरिने बनाई है जो कि विक्रमसवत् ९६२ में नदि सघके पट्टपर हो गये हैं। इन्होने अन्य ग्रन्थ भी बनाये हैं जो पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि नामोसे प्रसिद्ध हैं। दूसरी 'तात्पर्यवृत्ति' नामकी टीका जो कि श्रीजयसेनाचार्यने रची है इसमें विद्यार्थियोंके लिये बडी सुगमता की गई है। और तीसरी बालबोधिनी हिन्दी भाषाटीका पाडे हेमराजजीकृत भी शामिल कर दी गई है।

---

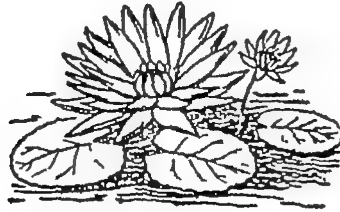
१ इन्होंने ८२ पाहुड (प्राभृत) भी रचे हैं जिनमेंसे अष्ट पाहुड तो इस समय मिलते हैं।

यद्यपि पाडे (पडित) हेमराजजीकृत यह बालबोधिनी वचनिका व्रजभाषापद्धतिके अनुसार बहुत ही उत्तम और वालवोध है परन्तु आजकलके नवीन हिन्दी भाषाके सस्कारक महाशयोकी दृष्टिमें यह भाषा सर्वदेशीय नही समझी जाती। इस कारण मैंने पडित हेमराजकृत भाषानुवादके अनुसार ही नयी सरल हिन्दी भाषामें अविकल अनुवाद किया है अर्थात् सस्कृतके हरएक पदके पीछे 'कहिये' शब्दको उठाने और वदलेमें सस्कृतपदोको कोष्ठकमें रखने तथा भावार्थको एक जगह करनेके सिवाय अपनी ओरसे अर्थमें कुछ भी न्यूनाधिक नही किया है। किन्तु जहाँ जहाँ मूल पाठ और अन्वयअर्थमें लेखकोकी भूलसे कुछ छूट गया है उसको मैंने सस्कृत टीकाके अनुसार शुद्ध कर दिया है।

इस ग्रन्थका जो उद्धार स्वर्गीय तत्त्वज्ञानी श्रीमान् रायचन्द्रजी द्वारा स्थापित श्रीपरमश्रुत प्रभावक मंडलकी तरफसे हुआ है इसलिये उक्त मडलके उत्साही प्रवन्धकर्ताओको "जिन्होने अत्यन्त उत्साहित होकर ग्रन्थ प्रकाशित कराके भव्यजीवोको महान् उपकार पहुँचाया है" कोटिश. धन्यवाद देता हूँ। और श्रीजीसे प्रार्थना करता हूँ कि वीतरागदेवप्रणीत उच्च श्रेणीके तत्त्वज्ञानका इच्छित प्रसार करनेमें उक्त मडल कृतकार्य होवे। द्वितीय धन्यवाद न्यायशीला गवर्नमेंटको दिया जाता है कि जिसने इस ग्रन्थको अपने यूनिवर्सिटीके कोर्समें दाखिलकर इसका महत्त्व प्रगट किया है। अब मेरी अन्तमें यह प्रार्थना है कि जो प्रमादसे, दृष्टिदोषसे तथा ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी न्यूनतासे कहीपर अशुद्धियाँ रह गई हो तो पाठक मेरे ऊपर क्षमा करके शुद्ध करते हुए पढे क्योकि 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' इस प्रसिद्ध वाक्यसे इस आध्यात्मिक ग्रथमें अशुद्धियोका रह जाना सभव है। इस तरह धन्यवादपूर्वक प्रार्थना करता हुआ इस प्रस्तावनाको समाप्त करता हूँ। अल विज्ञेषु।

लार्डगज जैन पाठशाला
जवलपुर।
माघकृष्णा १३ स० २४३८

जैनसमाजका सेवक
मनोहरलाल
पाढम (मैनपुरी) निवासी।



प्रकाशकका निवेदन

(द्वितीय आवृत्ति)

अबसे लगभग २३ वर्ष पहले इस ग्रन्थका पहला सस्करण प्रकाशित हुआ था, जिसका सम्पादन सशोधन स्वर्गीय पडित मनोहरलालजी शास्त्रीने किया था। इतने समयके बाद अब यह दूसरा सस्करण प्रकाशित हो रहा है। पाठक देखेंगे कि इसमें पहले सस्करणकी अपेक्षा अनेक विशेषताएँ हैं, और वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इसका सम्पादन राजाराम कॉलिज कोल्हापुरके प्राकृत या अर्धमागधीके प्रोफेसर प० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, एम् ए, ने किया है, जो अत्यन्त अध्ययनशील तथा परिश्रमी विद्वान् हैं। उनकी लिखी हुई १२५ पृष्ठोंकी अग्रेजी भूमिका (Introduction) उनके असाधारण पाडित्य और दीर्घकालव्यापी अध्ययनकी साक्षी देनेके लिये यथेष्ट है। जहाँतक हम जानते हैं, अबतक किसी भी जैनग्रन्थके सम्पादन, सशोधन और तुलनात्मक अध्ययनमें इतना परिश्रम नही किया गया है, और यही कारण है कि, बम्बई विश्वविद्यालयने ढाई सौ रुपयोंकी सहायता देकर इस ग्रन्थके सम्पादक तथा प्रकाशकका सम्मान बढ़ानेकी उदारता दिखलाई है।

बम्बई विश्वविद्यालयमें यह ग्रन्थ बहुत समयतक 'कोर्स' में रह चुका है। परन्तु इधर अप्राप्य हो जानेके कारण यह पठन क्रममें नही रहा था। आशा है कि, अब फिर कोर्समें रक्खा जायगा, और कॉलेजके विद्यार्थियोंको इससे असाधारण लाभ होगा।

अमरावती कॉलिजके सस्कृत प्रोफेसर बाबू हीरालालजी जैन, एम् ए. एल्एल् बी, ने ग्रन्थके सम्पूर्ण फार्मोंके हिन्दी प्रूफ देखनेका और प० खूबचन्दजी शास्त्रीने ग्रन्थारभके प्रूफ देखनेकी जो उदारता दिखलाई है, इसके लिए हम उक्त दोनों विद्वानोंके हृदयसे कृतज्ञ हैं।

ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनने ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियाँ देकर सशोधन कार्यमें बहुत सहायता पहुँचाई है। इसलिये भवनके हम अत्यन्त आभारी हैं।

प० प्र० मंडलकी तरफसे कई नये और पुराने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सुसम्पादित होकर जल्दी छपेंगे।

जौहरी बाजार, बम्बई.
श्रावण कृ० ३० स १९९१

निवेदक—
मणीलाल जौहरी

Preface

(Second Edition)

A student of Jaina literature, in his pursuit of Oriental Studies, has to face peculiar difficulties in evaluating the cultural contribution of Jainism and Jaina literature to the Indian heritage Jaina literature is both religious and secular, it is an extensive tract preserved in many languages, Aryan as well as Dravidian, so a thorough study of this is of prime importanc for the history of Indian literature, language, thought and life Many texts are printed in India, but they deserve no more value than that of a printed Manuscript Some Orientalists, both European and Indian, have rendered signal service to the cause of Jainism and Jaina literature by their researches and critical editions, they have prophesied that here is a fruitful field that cannot be ignored by an Indologist, but what has been done till now is very little when compared with the tremendous leaps with which Vedic and Buddhistic, Sanskrit, and Pali studies have advanced Each field may present its own problems, but the comparative and critico-historical method of study, which has borne excellent results elsewhere, is sure to be fruitful when applied to Jaina literature as well It is a stupendous task the beginnings of which have been happily made by various Orientalists, especially those three German scholars WEBER, LEUMANN and JACOBI

An exhaustive history of Jaina literature is an urgent desideratum The section on Jaina Literature, in WINTERNITZ'S *A History of Indian Literature*, Vol II in English, which has been recently published, shows how much more remains to be done If the task of a future historian is to be facilitated, it is necessary that exhaustive monographs on different works should be written shedding light on their religious, philosophical, linguistic, literary and historical aspects, and discussing all about their author and period Ample side-light is available from literary and epigraphic sources The facts should be judiciously selected and critically marshalled without losing the historical and comparative perspective With the modest aim of supplying a corner stone, carefully shaped and cautiously chiselled, to the prospective history of Jaina literature, no mean pillar in the edifice of Indian Literature, I have herewith presented an edition of *Pravacanasāra* with an introductory essay on Kundakunda, one of the greatest authors that the Jaina church has produced, and his works

The Introduction is divided into Six sections In the First section the various traditional pieces of information about Kundakunda, whether literary or epigraphic, are put together and critically evaluated In the Second section the problem of Kundakunda's date is discussed by stating the views of earlier writers, by analysing the underlying facts, and by scrutinizing the same in the light of fresh material The Third section is devoted to the study of Kundakunda's works, the contents of every work are analysed and critical remarks on each are added ; thus attention is

devoted both to the form as well as contents of each work The Fourth section is occupied by the study of *Pravacanasāra*. a chronological sketch of *Pravacanasāra*-studies is given, two recensions of the text are subjected to critical study, the contents of the work are summarised in detail, great attention is devoted to the philosophical aspects of *Pravacanasāra* from which the various topics are constructively set forth and studied on historical and critical lines in comparison with other systems of Indian philosophy, and lastly the monastic aspect of the work is discussed in comparison with that of Buddhism In the Fifth section short monographs on the six commentators of *Pravacanasāra* are added · all the available information about them andn about their works is put together, in every case, attempt has been made to settle their dates, and the quotations etc from the commentaries of some of them are also traced to their sources The Sixth section is devoted to the study of the Prakrit dialect of *Pravacanasāra*: a grammatical analysis of the dialect is given, an attempt is made to define its place in the scheme of Prakrit dialects, outlining a historical and geographical back-ground of this dialect, and lastly its name and its relation to pre-classical Prakrit postulated by Dr JACOBI are discussed Thus it will be seen that many new facts about Kundakunda and his works are brought to light, and his place in the scheme of Jaina literature is ascertained Originally a portion of this Introduction was covered by a series of lectures delivered by me, as a Post-graduate Teacher in Ardha-māgadhī, University of Bombay, to the M A students

The philosophical aspect of *Pravacanasāra*, as set forth in the Introduction here, is expected to be a modest outline to introduce the student to an exhaustive study of Jaina philosophy The time has now come, I believe, when we should no more assess the Sāṃkhya Jaina, Buddhistic and Ājīvika tenets as mere perverted continuations of stray thoughts selected at random from the Upaniṣadic bed of Aryan thought-current The inherent similarities in these systems, as against the essential dissimilarities with Aryan (Vedic and Brahmanic) religion and the gaps that a dispassionate study might detect between the Vedic (including the Brāhmaṇas) and Upaniṣadic thought-currents, really point out to the existence of an indigenous stream of thought, call it for convenience the Magadhan Religion, which was essentially pessimistic in its worldly outlook, metaphysically dualistic if not pluralistic, animistic and ultra humane in its ethical tenets, temperamentally ascetic, undoubtedly accepting the dogma of transmigration and Karma doctrine, owing no racial allegiance to Vedas and Vedic rites, subscribing to the belief of individual perfection, and refusing unhesitatingly to accept a creator

The Prakrit text of *Pravacanasāra* is presented as preserved in the commentary of Jayasena who is the earliest known commentator to pay attention to textual accuracy Only to throw some side-light on the dialectal aspect of the gāthās two other MSS have been collated, and their readings are given at the end All possible care is taken to print accurately the text and the commentaries

The English translation is as literal as possible, and it is attempted on strictly philological lines *Pravacansāra* is translated here for the first time, and so I am perfectly alive to the tentative character of my translation Professor FADDEGON'S English translation of the text and Amrtacandra's commentary (Ed by Dr. F W. THOMAS, Cambridge, 1935) reached my hands very late, when all the forms of my Translation and Introduction were printed off I have always taken into consideration, when using English equivalents for Jaina technical terms, the proposals of earlier translators of Jaina texts like STEVENSON, JACOBI, HOERNLE, BARNETT, GHOSHAL, JAINI, CHAKRAVARTI and others, and at times, with due deference to them, I have adopted other words that appeared to me more significant and connotative Along with the translation, only a few elucidatory notes have been added In the Index a systematic analysis of the contents is given under alphabetically arranged technical terms A general Index of the Introduction is added at the end to facilitate further studies

At the outset I offer my thanks to the late lamented Pt MANOHARALAL Shastri the first editor of the two Sanskrit commentaries I am highly obliged to the authorities of the Rāyachandra Jaina Sāstramālā, especially to Shetha MANILAL REVASHANKAR JHAVERI, without whose munificent encouragement my studies about Kundakunda would never have seen the light of day To Prof HIRALAL JAINA, King Edward College, Amraoti my thanks are due for his valuable suggestions and corrections in proofs from time to time I am thankful to my colleagues Prof, K G KUNDANGAR and Prof S, S SUKTHANKAR for their kind advice at the various stages of the work Then I must say that the Nirnayasāgara Press has done its work in a satisfactory manner befitting its long standing reputation

The plan of this essay was formed and many references too collected under the inspiring roof of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, in 1930, when I had the happy opportunity of attending the learned lectures of those two great Sanskritists Dr S K BELVALKAR and Dr. V S SUKTHANKAR on *Atharva-veda*-and-*Upanisads* and comparative Philology respectively, and what I owe to them by way of inspiration and instruction is beyond formal expression

Lastly, I record my deep debt of sincere gratitude to my revered Ācārya Dr P L VAIDYA, Poona, at whose worthy hands I had the proud privilege of being initiated in the field of Prakrit studies He has always encouraged me to work and to work better and along better lines The training that I have received from him has always stood me in good stead

The editor acknowledges his indebtedness to the University of Bombay, for the substantial financial help it has granted towards the cost of the publication of this book

with all its imperfections, of which, I might be allowed to say, I am better aware than any one else, I am placing this work of mine in the hands of Orien-

talists I hope that this humble contribution of mine to the study of Kundakunda might be of help, howsoever little, to scholars working in the field of Jaina literature which is still an unexplored field awaiting expert and extensive spade-work

karmanyevādhikāras te

Kolhapur.
August, 1935

A N UPADHYE



Editor's Preface
(Third Edition)

The Second Edition of the *Pravacanasāra* (revised, enlarged and remodelled) was brought out by me in 1935 It could be published in a standard form through the patronage of the then authorities of the Rāyachandra Jaina *Śāstramālā*, Bombay. It was very well received not only in the circle of Jaina scholars but also by Oriental scholars both in India and outside Its Reviews by the late Dr A B KEITH and others were quite appreciative and encouraging to me More or less on the same pattern I brought out a New Edition of the *Paramappapayāsu (Paramātma-prakāśa*· Bombay 1937, Third Edition, Agas 1960) in the same *Śāstramālā*

My Introduction of the *Pravacanasāra*, along with my other editions and papers was submitted by me for the D. Litt. degree of the University of Bombay, my *alma mater*, and I was awarded it in 1939 This recognition further confirmed my faith in my research pursuits and in the methods of study which I was following on the advice of my Professor, Dr P L VAIDYA, Poona I continued my studies in Prākrits, Jainology and other allied branches of Indology in an out-of-the-way place like Kolhapur with limited library facilities Whatever I have been able to achieve, within the limited leisure left to me after doing the College duties, till 1956 is duly recorded in my *Books and Papers* (Bombay 1956).

Lately, the management of the Rāyachandra Jaina *Śāstramālā* has changed hands, and it is now being looked after Shri RAOJIBHAI DESAI of the Shrimad Rajachandra Ashrama, Agas (via Anand W Rly). Shriman RAOJIBHAI is a sincere devotee of spiritualism (*adhyātma*) He is keenly interested in the progress of this *Śāstramālā*. It is very creditable of the Trustees of the Ashrama to have shouldered the respon sibility of this *Śāstramālā* with great religious zeal and with a view to keeping it alive and seeing it progressing

It was very kind of Shriman RAOJIBHAI DESAI and the Trustees of the Ashrama to have requested me to prepare this present edition of the *Pravacanasāra*. It will be seen that in this edition there are some additional features The Prākrit text is also continuously printed along with the various readings in the foot-notes Two more Mss are collated for the text Some additions have been made here and there It is hoped that these features will be welcomed by the readers

Throughout my studies, directly or indirectly, I have received much inspiration and guidance from the works of German Indologists As a token of my respect for the tradition of German scholarship I have dedicated this work to Professor Dr W SCHUBRING and Professor Dr L ALSDORF who so worthily represent that great tradition in the field of Indology. I have had very close academic contacts (in the case of Dr SCHUBRING only through correspondence) with them both during the last twentyfive years, and they have been a source of encouragement to me

Important Abbreviations

AMg	Ardha-Māgadhī
Apabh	Apabhraṃśa.
BBRAS	Bombay Branch Royal Asiatic Society
B O R I	Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona
B P	Bhāsa's Prakrit by Printz
E I	Epigraphia Indica
E C	Epigraphia Carnatica
G O S	Gaikwad Oriental Series, Baroda
I A	Indian Antiquary
JM	Jaina Māhārāṣṭrī
MDJG	Māṇikachanda Digambara Jaina Granthamālā, Bombay
P	Pañcāstikāya (used in the foot-notes of the Translation)
P J S	Purātana Jaina-vākya Sūcī, Sarsawa 1950
RJS	Rāyachandra Jaina Śāstramālā, Bombay
SBE	Sacred Books of the East
SBJ	Sacred Books of the Jainas, Arrah-Lucknow
SJG	Sanātana Jaina Granthamālā, Bombay-Calcutta
TS	Tattvārthasūtra (used in the foot-note of the Translation

INTRODUCTION

1. Sri Kundakundacarya

A general appreciation of Kundakunda—The position, which Kundakundācārya occupies among the Jaina authors, especially the Digambara hierarchy, is of a unique character The mention of his name has an auspicious significance, and comes next only to that of Mahāvīra and his apostle Gautama[1] To trace their spiritual lineage from Kundakunda has been looked upon as a proud privilege by Jaina monks of the Digambara section, and, as a clear proof of this, we have Kundakundānvaya for three of the four Jaina saṅghas of the Digambara ascetic community in the South[2] Many later authors are greatly indebted to him and some of his works have proved to be a milch-cow for later commentators for quotations, that at once indicates the authoritative character of his works Three of his works, *viz*, *Pañcāstikāya, Pravacanasāra* and *Samayasāra*,[3] are technically called Nāṭaka traya or Prābhṛta-traya, perhaps on the analogy of Prasthāna-traya of the Vedāntins, this suggests that these three works are as much sacred and authoritative for the Jainas as the *Upaniṣads, Brahmasūtras* and *Bhagavadgītā* for the Vedāntins Most of his utterances are above sectarianism, his *Samayasāra* is studied with devotion by Digambaras, Śvetāmbaras and Sthānakavāsis alike, and thousands of spiritually minded votaries, both monks and laymen, have drawn, to this day, religious inspiration and spiritual solace from this work of Kundakunda

Traditional names of Kundakunda—Turning to epigraphic records, his name is spelt as Koṇḍakunda,[4] a form with decided Dravidian phonetic colour, Kundakunda is a smooth Sanskritisation of the same, and has completely superseded the original word From certain inscriptions belonging to the twelfth century A D it is learnt that his original name was Padmanandi, but he came to be called Koṇḍakunda, or as we spell it Kundakunda[5] In an inscription, at Vijayanagara, of about 1386 A D, belonging to Nandisaṅgha, [p 2] we find it recorded that our author

1 *maṅgalam bhagavān Vīro maṅgalam Gautamo gaṇī |*
maṅgalam Kundakundādyāh Jaina dharmo' stu maṅgalam ||

2 According to a Kanarese MS, *Ganabheda*, Nandi-Siṁha-and *Śri* Yāpanīya-saṅgha have Kundakundānvaya, while Mūla-saṅgha has Vṛṣabhasenānvaya It is an interesting MS which gives the gaṇa, anvaya, gaccha birudāvali, siṁhāsana gādi, name-endings borne by different monks etc of each saṅgha traditional stories about the occasion etc of the particular saṅgha are also given These details so far as the historical purpose is concerned, will have to be accepted with caution

3 These works, though composed in Prakrit, are popularly known by their Śanskrit names

4 See *Epigraphia Carnatica*, II, 64, 66, 117, 127, 140, 254 etc, also *Jaina Śilālekha-Sangraha*, Ed by Prof Hiralal, Bombay, 1928

5 See *E C*, II, 64, 66 etc,

had five names Padmanandi, Kundakunda, Vakragrīva, Elācārya and Gṛdhrapiccha (also spelt piñcha)[1] Then a paṭṭāvali of Nandi saṅgha of uncertain date records the same five names for Kundakunda[2] Hoernle also notes from a MS, in the course of his comparative study of Digambara paṭṭāvalis that Kundakunda had these five names[3] The actual dates of these pontifical lists may come as late as the fifteenth century, still one might presume with confidence that portions of their contents might be sufficiently old, though none can say how much Then Śrutasāgara, who flourished about the close of the fifteenth century A D,[4] in the concluding colophons of the Sanskrit commentary on six-pāhuḍes of Kundakunda,[5] mentions these five names of our author exactly as enumerated above Kundakunda himself is completely silent on his names to such an extent that he does not mention his name even in his works excepting at the end of *Bārasa-aṇuvekkhā* His first commentator, Amṛtacandra, so far as I know, is silent on this point Jayasena, however, in the opening remarks on *Pañcāstikāya*, remarks that Padmanandi was another name of Kundakunda, and possibly he means the same, when he glorifies Paümaṇaṃdi in the two concluding Prakrit[6] verses at the end of his commentary on *Samayasāra* Thus, so far as the evidences are before us, it appears that Padmanandi was another name of Kundakunda, and it is only from the fourteenth century onwards that we find the tradition current that he had five names One would have accepted the tradition of his having five names, had it not been for the fact that some of these names are claimed by other authors, that some of them appear to have been independent individuals, and that the earlier inscriptions which give only two names, do not, at all, uphold the tradition of five names, and hence it is necessary to scrutinise these names individually and to see how far the tradition can be accepted as genuine

Vakragrīva as a name of Kundakunda discussed —The name of Vakragrīva, so far as I know occurs first in an inscription of 1125 A D, but the inscription does not give any information beyond the bare mention of Vakragrīvācārya in the line of teachers of Drāviḷa(ḍa)-saṅgha and Aruṅgaḷānvaya[7] The next mention is found in Śravaṇa Beḷgoḷa inscription of 1129 A D, it is a pretty long inscription containing much historical information[8] In the fifth verse we are told that Koṇḍakunda deserves respect from all, that [p 3] his jasmine-like fame decorates various quarters, that he was a bee to the beautiful lotus-hands of the cāraṇas, i e, a class of spiritually advanced monks who could move in the air, and that he firmly established the scripture

---

1 E Hultzsch *South Indian Inscr*, Vol 1, No 152, *Asiatic Researches* XX, p 36, see also *Indian Antiquary* XXIII, p 126, Guérinot takes Mahāmati also as a name and thus Kundakunda appears to have six names according to him see *Repertoire D Epigraphie Jaina*, No 585

2 See *Jaina Siddhānta Bhāskara*, I iv

3 *I A*, Vol XXI, p 74, foot-note No 35

4 See *Annals* of the B O R I, vol XII, p 157

5 The editions etc of the works of Kundakunda will be given later under the discussion about his works

6 Throughout Prakrit stands for Prākṛta and Sanskrit for Saṃskṛta

7 *E C*, V, Channarayapatna No 149

8 *E C*, II 67

or the sacred knowledge in Bharata Then, in verses six to nine, are glorified Samantabhadra and Simhanandi Further, in the tenth verse, some facts about Vakragrīva are given he was a great sage, he was endowed with forceful eloquence that had routed bands of disputants, and the same could not adequately be praised even by Nāgendra of one thousand mouths, he received regard from *Sāsana-devatās*, before him the necks of disputant-devils were bent with shame, and he briefly expounded the meaning of the word *atha* for six months [1] Thus this inscription paints the saint Vakragrīva as a learned and polemic logician endowed with winning delivery The way in which he is mentioned and described in the inscription clearly shows that he is a different individual from Kundakunda and appears to have flourished possibly after Kundakunda Besides, there are other inscriptions of 1137, 1158 A D and of 1168 A D in which Vakragrīvācārya is referred to,[2] but nowhere are we informed that he was identical with Kundakunda [3] In all these inscriptions, wherever there is any mention of sangha, gaṇa and anvaya, we find Vakragrīva associated with Drāviḍa-saṅgha, Nandi-gaṇa and Aruṅgalānvaya So, I think, Vakragrīva was an independent teacher quite distinct from Kundakunda

Elacarya as a name of Kundakunda discussed —Coming to the name Elācārya, I am aware of one dateless inscription, that of Chicka Hanasoge [4] in which one Elācārya of Deśī-gaṇa and Pustaka-gaccha is mentioned, but I do not get any clue as to his identity or otherwise with Kundakunda From the *praśasti* of *Dhavalā* commentary we learn that there was one Elācārya, from whom Vīrasena, the author of that commentary, received instructions in the Siddhānta[5] and there are indications in the body of *Jayadhavalā* commentary that he had possibly an explanation of his on a section at least of the Siddhānta [6] This Elācārya, being a teacher of Vīrasena, must have flourished at the close of the eighth century A D It is to this Elācārya that Indranandi refers, when he says, in his *Srutāvatāra*,[7] that Elācārya, a resident of Citrakūṭapura, was well-versed in the Siddhānta, and [p 4] it is from him that Vīrasena studied the Siddhānta, and returning to Vāṭagrāma from Citrakūṭa, composed the commentary that came to be called *Dhavalā* This Elācārya cannot be the same as Kundakunda, because in some of the preceding verses namely 160-61, Indranandi refers to Padmanandi of Kundakundapura, who I think is the same as our Kunda-

---

1 *atha-sabda vācyam avadan māsān samāsena sat* Perhaps Lewis Rice read it as *Nava-ś'abdavācyam* etc , and accordingly he took *Navas'abdavācya* as the name of a work, see his *Mysore and Coorg from Inscriptions*, p 197

2 *E C*, V, Belur No 17, Ididem Arsikere No 141, Ibid No 1

3 See also *E C*, IV, Nagamangala No 100, and *E C*, VI, Kadur No 69 where also the name of Vakragrīva occurs

4 *E C*, IV Yedatore No 28

5 *mahum so Elāirio pasīyau vara-Vīrasenassa*, second line of the first verse

6 I find a passage like this in *Jayadhavalā-ṭīkā tado puvvuttam Elāy(i)riya-Bhaḍāraena uvaittha-vakkhānameva pahāna-bhāvena ettha ghĕttavvam/*, p 199 of Sholapur MS of *Jayadhavalā*

7 *Srutāvatāra*, published in Māṇikachandra Digambara Jaina Grantha-mālā (MDJG) vol XII, see verses 177-82

kunda, that he wrote an exhaustive commentary, Parikarma by name, on the first three sections of *Ṣaṭkhaṇḍāgama* Besides we know of one more Helācārya, perhaps a provincial pronunciation of the name Elācārya, a master of māntric lore, of Drāvida gaṇa, a resident of Hemagrāma in the South He was mainly responsible for the contents of *Jvālinīmata*, a tāntric work composed, mainly based on the old work of Helācārya, by Indranandi Yogīndra in Śaka 861 *i,e* 939 A D [1] From the way in which Indranandi speaks of Helācārya it appears that Helācārya lived pretty long before, though there is no evidence to identify him with the teacher of Vīrasena referred to above That Kundakunda had a name Elācārya must remain unproved till some other evidence or independent tradition is coming forth, because the wholesale genuineness of the tradition that Kundakunda had five names has been suspected to be of doubtful authenticity as seen from the attribution of the name of Vakragrīva to Kundakunda

Grdhrapiccha as a name of Kundakunda discussed —Now the last name is Gṛdhrapiccha It is learnt from Śravaṇa Belgola inscriptions, ranging from 1115 to 1398 A D, that Gṛdhrapiccha was another name of Umāsvāti the author of *Tattvārthasūtra* [2] and some of these inscriptions indicate that at times the name Gṛdhrapiccha was enough to mention Umāsvāti, of whom, therefore, Gṛdhrapiccha might have been a very popular name In some of these records the name of Umāsvāti, with the other name Gṛdhrapiccha, comes immediately after the mention of Kundakunda's name If Gṛdhrapiccha was a name also of Kundakunda, or if it was a name common to both Kundakunda and Umāsvāti, we expect that the inscriptions in the ordinary course, should have referred to that There was some speciality in Umāsvāti's being called Gṛdhrapiccha, and that has been referred to in a Sravaṇa Belgola inscription of 1433 A D the great saint Umāsvāti belonged to the holy family of Kundakunda, and being expert in all the dogmas he compressed the range of Jaina doctrines in Sūtras, as a saint particular about the protection of living beings, he carried, as the report goes (*kila*), vulture-feathers, and since that day he came to be known among the wise people, as Gṛdhrapicchācārya [3] The name should not be looked upon as queer at all, because there have been Jaina authors bearing the names Balākapiccha[4] and Mayūrapiccha,[5] the first especially was a direct disciple of Umāsvāti [p 5] There are other epigraphic records in which sometimes the name Gṛdhrapiccha[6] alone and sometimes Umāsvāti[7] alone in mentioned Thus there appears to be no doubt that Gṛdhrapiccha was the name of Umāsvāti [8] It is through lack of proper information or through mis-information that the tradition *viz*, Kundakunda had a name Gṛdhrapiccha, appears to have been current possibly from the last quarter of

1 See *Anekānta* vol I, p 427 etc, *Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss in* C P and Berar, Intro p XXIX
2 *E C*, II, 127 117, 140, 64, 66 and 254
3 *E C*, VI, 258
4 *E C*, II, 64, 66 etc
5 *E C*, II 258, also the introductory verses of Kanarese *Dharma parīkṣā*, wherein all the three Grdhra-Balāka-and Mayūra-piccha are mentioned
6 *E C*, IV, Nagamangala No 76
7 *E C*, VII, Nagar No 46
8 In *Dhavalā* commentary we get a line *Giddhapicchāiriya-payāsida-Taccatha-sutte/*

the fourteenth century This tradition has been a source of further confusion that Kundakunda, on the supposition that he had a name Gṛdhrapiccha and from the fact that Gṛdhrapicchācārya was the author of *Tattvārthasūtra*,[1] came to be looked upon by Rājendramauli, a late commentator on *Tattvārthasūtra*, as the author of *Tattvārthasūtra*,[2] and it is a misrepresentation of facts, contradictory to earlier evidences available, in unmistakable terms

Conclusion about His names—To conclude, it is clear, in the light of the evidences discussed above, that Padmanandi was the name of our author, and he came to be known as Koṇḍakundācārya, possibly a name derived from that of his native place, Kuṇḍakundapura, as Indranandi tells us in his *Śrutāvatāra* (verse 160 etc), as to the other names attributed to Kundakunda, the name Elācārya is a matter still *sub judice*, and with regard to two other names early epigraphic records go against the tradition, I think, they might have been current through lack of authentic information about Kundakunda

Autobiographical relics of Kundakund—At the end of *Bārasa-anuvekkhā* Kundakunda mentions his name, and at the end of *Bodha-prābhṛta*, we find that it is the composition of the *śiṣya* of Bhadrabāhu this is all that we learn about Kundakunda from his works The students of Prakrit literature and those of Jaina literature will always look upon it as an unfortunate phenomenon that Kundakunda has not left anything from his mouth about the details of his personality in any of his works but that is not at all abnormal in the history of ancient Indian literature

Traditional biography of Kundakunda—There are available a couple of traditional stories about the life of Kundakunda, they are not at all contemporary records, and moreover, being written at a time far distant from the age of Kundakunda, they, by themselves, do not deserve much credit Professor Chakravarti[3] narrates the life of Kundakunda on the authority of [p 6] *Puṇyāsrava-kathā*,[4] wherein he says, it is cited as an illustration of *śāstradāna* In short the story runs thus in the town of Kurumarai, in the district of Pidatha *nāḍū*, in Dakṣiṇa-deśa of Bharata-khaṇḍa, there lived a wealthy merchant Karamuṇḍa with his wife *Śrīmati*

1 *E C*, II 254, *E C*, VIII, Nagar No 46, and the popular verse which is generally found and repeated at the close of *Tattvārtha-sūtra*—
Tattvārthasūtra-kartāram Gṛdhrapicchopalakṣitam /
vande gaṇīndra-saṃjātam-Umāsvāti munīśvaram //

2 See *Anekānta* Vol I, P 198, I have, in my possession, a fairly written MS of Rājendramauli's commentary

3 Introduction to *Pañcāstikāyasāra*, p vii etc , Vol III of the Sacred Books of the Jainas (SBJ), whenever I refer to the opinions of Prof Chakravarti, the reference is to this Introduction

4 With a view to verify the details, I consulted the Marathi *ovī* version of *Puṇyāsrava* (composed in Śaka 1739), which is based on the Kanarese *Puṇyāsrava* of Nāgarāja, composed in 1331 A D , but I was not able to trace the story I do not know whether Prof Chakravarti has in view the Sanskrit *Puṇyāsrava*, which Nāgarāja says that he has rendered into Kanarese Possibly the spellings of some proper names would even indicate that he has before him some Tamil or such source I learn from Prof Hiralal that this story is not traceable in the Hindi translation of the Sanskrit *Puṇyāsravakathākośa* of Rāmacandra Mumukṣu (Translated by Pt Premi,Bombay,1907)

They had a cow-herd, Mathivaran by name, that tended their cattle Once that boy, to his great surprise, happened to see a few trees in the centre with green foliage, when the whole forest was being consumed by conflagration The boy inspected the spot, he found there a residence of a monk and a box containing *āgamas*, to the presence of which he, as a credulous boy, attributed the exemption of that spot from fire He carried those texts home and worshipped them daily putting them on a sacred spot Once a religious monk visited the house, the merchant offered food, and this boy offered these texts, for these acts of piety the master and the boy received blessings from the Monk The master had no issues, and it so happened that the faithful boy died and was born as a son to him As time passed on, this intelligent son became a great philosopher and religious teacher, Kundakunda by name Further, Professor Chakravarti simply refers to other incidents such as the report, Kundakunda as the wisest man, in the Samavasaraṇa (i e, the religious assembly) of Śrīmandhara-svāmi, the visit of two cāraṇa saints to have it verified, his indifference to them, their consequent return with disgust the misunderstanding cleared and lastly Kundakunda's visit to Śrīmandhara-svāmi in the Pūrva-videha country The merit of the *śāstra-dāna* made him 'a great leader of thought and organiser of institutions Finally he secured the throne of Ācārya and thus spent his life in usefulness and glory'[1]

[p 7] **Another traditional story about Kundakunda** —Pandit Premi[2] gives, on the authority of a book, *Jñāna-prabodha*, another story of Kundakunda In Mālawa, in the town of Bārāpura, there lived a king Kumudacandra with his queen Kumudacandrikā In his kingdom there lived a merchant Kundaśreṣṭhi with his wife Kundalatā, they had a son whom they named Kundakunda Once the boy, playing in the company of his friends, happened to see in the park a monk who was attended on by various householders The boy carefully heard his sermons The words and the conduct of the monk influenced the boy so much that this boy of barely

1 In this context, I cannot stand the temptation of summarising here another story from *Ārādhanā Kathā-kośa* (Ed Bombay Vīra saṃvat 2442, part 3, Story No 111), of Brahma Nemidatta which also illustrates the fruit of śāstra-dāna, and which because of similarity in names, is likely to be misunderstood as the story of Kundakunda with whom in fact, it has hardly anything to do, the first part of Prof Chakravarti's version practically agrees with this In Bharata-kṣetra, in the village of Kurumarai, there was a cow-herd Govinda by name Once he saw, in a forest cave, a scared Jaina text, he took it and offered the same with devotion to a great and respectable saint Padmanandi by name The peculiarity of the text was that so many great teachers had handled and explained it, but ultimately had put it in that cave It appears that the saint Padmanandi also put that Text again there The cow-herd, Govinda worshipped that Text all the while, one day he was killed by a tiger (vyāla) After his death, as the consequence of his remunerative hankering (*nidāna*), he was born as the son of a village headman He grew up quite happily into an attractive boy Once he was reminded of his former birth after meeting Padmanandi, he entered the ascetic order and practised severe penances After his death he was born as king Kundeśa Irrespective of the pleasures available, somehow he felt disgusted with the worldly pleasures and entered the order He worshipped Jina and waited on great teachers, and lastly he became a śruta-kevalin

2 See *Kundakunda Ācārya yāñce caritra* by Pangal in Marathi, Sholapur, 1906 Premi *Jaina Hitaiṣhi* Vol X pp 369 etc, all references to Pt Premi have this source in view unless otherwise stated

eleven years was religiously awakened and soon became the pupil of that monk, Jinacandra, and lived with him The parents were very sorry over this Within a short time Kundakunda attained so much eminence amongst the pupils of Jinacandra that he became *Ācārya* at the age of 33 He advanced a good deal in those introspective and religious meditations Once he had certain doubts on some fundamental doctrines of Jainism, not knowing what to do, he closely applied himself to religious practices One day in the course of his meditation, he offered obeisance, with mental, verbal and physical purity, to *Sīmandharasvāmi*, a contemporary Tīrthaṅkara in the Videha-kṣetra, the salutation was so sincere that it immediately evoked response from *Sīmandhara* that he uttered in the Samavasaraṇa the words of blessing *sad-dharma-vṛddhir-astu* The members of the audience could not understand the propriety of this blessing when none from the audience had offered salutation *Śrīmandharasvāmi* explained that the blessings were meant for Kundakunda from Bharatakṣetra Two cāraṇa saints, who were the friends of Kundakunda in the previous birth, came to Bārāpura and took Kundakunda to the Samavasaraṇa On the way, when they were passing through the sky, the bunch of peacock-feathers fell down and could not be found, so Kundakunda had to take up a bunch of vulture-feathers in lieu and continue his religious practices Kundakunda stayed there for a week, and, after receiving much by way of religious enlightenment, he had his religious doubts cleared On his way back he had taken with him a book containing diplomatic and Tāntric contents, but it fell on the way into the salt sea Thus he came back saluting many holy places on the way He began his religious preachings here, and seven hundred men and women got themselves initiated into the order at his hands After some time he had a dispute with Svetāmbaras on the mount Girnar, in which he made the local deity Brāhmī admit that the Nirgrantha creed of the Digambaras was true Lastly, he vacated his pontifical chair in favour of Umāsvāti and died one day in religious meditation after having practised severe penances

Scrutiny of the above two traditional stories —Both these stories are practically in agreement only in the second half, but with the domicile and parentage there is no agreement, nay the points of difference [p 8] cannot be reconciled The names of the parents in the second story along with those of the king and his queen are mechanically artificial as in the bed-side stories told by the old lady to lull the child Some of the incidents, which are found in these 'traditional stories, require critical scrutiny rather to shed light on the genesis of these traditions than to prove or to disprove the truth contained therein

The earliest reference to the tradition that Kundakunda visited the Videha country is found in *Darśanasāra* of Devasena,[1] compiled 990 years after the death of Vikrama, who says that the great saint Padmanandi was enlightened by the supernatural knowledge of *Sīmandhara-svāmi* Further, Jayasena, in the opening remarks of his commentary on *Pañcāstikāya*, says on the authority of the popular tradition

1 See *Darśanasāra*, verse 43, *Jaina Hitaishi*, XIII, pp 25 etc wherein *Darśanasāra* with Hindi translation and notes is published, a critical Text of *Darśanasāra*, based on the MSS. from the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, is awaiting publication with the present writer

(*prasiddha-kathā-nyāyena*) that Kundakunda had personally gone to Pūrva-videda, paid his respects to Śrīmandhara-svāmi and received enlightenment Turning to Inscriptions from Sravaṇa Beḷgoḷa, most of them belonging to the 12th century A D or so, we learn that Kundakunda, being possessed of excellent religious conduct, was endowed with miraculous power to move in the air,[1] and that he moved in the air four fingers above the ground[2] A poetical explanation of his miraculous ability is given that he was not touched in the least, internally and externally, by the dust (of passion), the earth being the abode of dust[3] Thus the available epigraphical records mention only his miraculous ability, and they are silent about his visit to Videha land The Śravaṇa Beḷgoḷa Inscription of 1128 A D describes Kundakunda as a bee to the beautiful lotus hands of cāraṇas, this indicates some association of Kundakunda with cāraṇas The tradition attributes a visit to Videha land not only in the case of Kundakunda but to Umāsvāti and Pūjyapāda also With reference to Umāsvāti as well it is said that once he went to Videha land through his miraculous power to walk in the air to have his doubts on Jaina Siddhānta cleared from Śrīmandhara Tīrthaṅkara On the way his peacock-feather-bundh fell down, then he took the feathers of a vulture flying in the sky and had his purpose served, therefore he came to be known as Gṛdhrapiccha[4] Devacandra (1770-1841 A D), in his *Rājāvali-kathe*, gives a similar account with reference to Pūjyapāda with the difference that he could walk over to Videha land because of the power of a medicament pasted to his feet[5] In some of the inscriptions Pūjyapāda is glorified as a great miraculous physician worshipped even by sylvan [p 9] deities[6] A S Beḷgoḷa inscription of 7th July 1432 A D refers to the above tradition that the limbs of Pūjyapāda were purified by his obeisance to the Jina in Videha-kṣetra[7] The authenticity of this tradition becomes of a doubtful value because of its indiscriminative attribution to Kundakunda, Umāsvāti and Pūjyapāda It is seen above that Kundakunda and Umāsvāti are often confused, and here, with reference to this tradition Pūjyapāda is added to their list The epigraphic evidence in this context is very meagre, and the Ś Beḷgoḷa inscription of 1432 A D has to say that it is Pūjyapāda who visited the Videha land At any rate I am tempted to point out to the third gāthā of *Pravacanasāra* as the genesis or the fruitful source of the tradition that Kundakunda saluted from here Śrīmandhara in Videha land and that he consequently visited that country, there, in that *gāthā*, he pays obeisance to the contemporary Arahantas in the Mānuṣa region

As to his dispute with Śvetāmbaras on the mount Girnār and the consequent admission of Brāhmī that the Nirgrantha creed of Digambaras was true nothing

---

1 *E C*, II, 127, 117, 140 64, 66 etc
2 *E C*, II, 351
3 *E C*, II, 354 of 1398 A D
4 See p 3 of the Introduction to the Ed of *Tattvārtha-ślokavārtikam*, Bombay 1918
5 See *Karnātaka Kavicarite*, Vol I, p 7, further, the tradition tells that Pūjyapāda on his way back, lost his eyesight due to the burning heat of sun-shine, but he could recover his eyesight by composing *Śāntyaṣṭaka*, in honour of Śānteśvara at Baṅkāpura
6 *E C*, II 64, 254 etc
7 *E C*, II, 258

can be said definitely from this floating tradition, but, by the by, it may be noted that Śubhacandra (c 1516-56 A D.) also refers to this in his *Pāndavapurāna*,[1] and the same is noted in a gurvāvalī too [2]

Spiritual parentage etc of Kundakunda—Kundakunda is silent about his spiritual parentage in the sense in which the later authors have given their spiritual genealogy at the end of *Bodha-pāhuda* he mentions that it is composed by the *śiṣya* of Bhadrabāhu, but more on this point later Inscriptions, too, in this context, are not of much help According to the gurvāvalī of Nandi-saṅgha, Kundakunda was the successor of Jinacandra, the successor of Māghanandi from whom the paṭṭāvalī of Nandi-saṅgha begins,[3] but too much reliance on this paṭṭāvalī to the extent of saying that Kundakunda was the pupil of Jinacandra is hardly warranted Jayasena, in the opening remarks of his commentary on *Pañcāstikāya*, says that Kundakunda was the śiṣya of Kumāranandi Siddhāntadeva Nothing is known about this Kumāranandi The Mathura inscription mentions one Kumāranandi of Uccanāgarī śākhā,[4] and another Kumāranandi is mentioned in Devarahalli inscription of 776 A D [5] Vidyānanda, in his *Patraparīkṣā*, quotes three verses from the work *Vādanyāya* of one Kumāranandi Bhaṭṭāraka [6] But none of these, in the absence of any clue, can be identified with the guru of Kundakunda [p 10] Mere similarity in name can hardly be the ground for identification, because many Jaina saints and teachers have borne the same name at different times [7] The history of Jaina saṅghas, gaṇas and gacchas is still an obscure tract which urgently needs some light [8] and with regard to the gaṇa etc of Kundakunda there is no reliable information The traditional lists of teachers belonging to Drāviḍa-saṅgha, Nandi-gaṇa and Aruṅgaḷānvaya, and of Mūlasaṅgha, Deśī-gaṇa, Kundakundānvaya and Pustaka-gaccha, Vakra-gaccha or Sarasvati-gaccha include, at the beginning, the name of Kundakunda with reverence [9] Kundakunda is looked upon as a preeminent leader of the Mūlasaṅgha,[10] a designation claimed by

1 *Kundakunda-gaṇī yenojjayanta-giri-mastake |*
so' vatād vāditā Brāhmī pāṣāṇa-ghaṭitā kalau ||

2 *Padmanandi-gurur jāto Balātkāra-gaṇāgraṇīh |*
pāṣāṇa-ghaṭitā yena vāditā śrī Sarasvatī ||, quoted in *Jaina Hitaishi*, vol X, p 382

3 *pade tadīye muni-mānya-vṛttau Jinādicandrah samabhūd atandrah |*
tato' bhavat pañca sunāma-dhāmā śrī-Padmanandī muni-cakravartī ||, see p 3 of the Introduction to the Ed of *Samayasāra-prābhṛtam*, Benares, 1914

4 *E I*, I No xliii, No 13, pp 388-9

5 *E C*, IV, Nagamangala No 85, also I A, II, pp 155-61

6 See *Patraparīkṣā*, p 3 (Ed Benares 1913), also see his *Pramāṇaparīkṣā*, p 72 (Ed Benares 1914)

7 See the opening remarks of my paper on 'Śubhacandra and his Prakrit grammar' in the *Annals* of the B O R I, Vol XIII, i

8 See my paper on 'Yāpanīya-saṅgha' in the *Journal of the University of Bombay*, Vol I, part vi

9 I give here only a few important epigraphic references chronologically arranged, in which Kundakunda's association with different gaṇas etc is seen *E C* VIII, 35, 36, *E C*, II, 127, 69, 117, 140, *E C*, VIII Nagar No 37, *E C*, II, 64, 66, E Hultzsch *South Indian Inscriptions Vol I*, No 152, *E C*, II, 254, 258, etc

10 *E C* II, 69 *śrīmato vardhamānasya Vardhamānasya śāsane |*
śrī-Koṇḍakunda-nāmābhūn Mūla-saṃghāgraṇī gaṇī ||

the Digambaras in view of the division of the Jaina church into Digambaras and Śvetāmbaras The oft mention of Kundakundānvaya, which is repeatedly met with in various lines of teachers, clearly indicates that a spiritual lineage of Jaina teachers was started some time after Kundakunda

2 Kundakunda's date

Our approach to the problem—The most important and baffling problem is that about the date of Kundakunda, which, though handled by some scholars still requires judicious consideration after relative evaluation of various literary and epigraphic records To start with, it is necessary to take a resumé of the various opinions with evidences advanced by different scholars

The traditional date of Kundakunda.—The traditional view, current among the Jainas, which is represented by some pontifical lists, says that Kundakunda succeeded to the pontifical chair in V samvat 49, i e, about 8 B C, at the age of 33, remained a teacher for about 52 years and passed away at the age of about 85, the details about the years vary in different Mss of paṭṭāvalis Ms E of a paṭṭāvalī, noted by Hoernle, gives 149 V. samvat, i e, 92 A D as the year of his accession to the pontifical chair [1] According to another tradition, incorporated in a verse of unknown authorship quoted in *Vidvaj-jana-bodhaka*, Kundakunda flourished (*jātah*) in 770 after Vīra, i e, 243 A D, the verse expresses, rather in a vague manner, that Kundakunda was a contemporary of Umāsvāti [2] It is the first tradition that is more popular and current

[p 11] **Date proposed by Pt Premi**—Pt. Premi's opinion is that Kundakunda might have flourished about the second quarter of the third century, or more definitely he cannot be dated before the middle of the second century A D [3] The details worked out by him, on the authority of *Śrutāvatāra* of Indranandi, are these with additional touches After the nirvāṇa of Mahāvīra, 3 Kevalins lived for 62 years, 5 Śruta-Kevalins for 100 years, 11 Ten-Pūrvins for 183 years, 5 Eleven-Angins for 220 years, and 4 One-Angins for 118 years Thus the Anga-knowledge continued for a period of 683 years[4] after the nirvāṇa of Mahāvīra in 527 B C Then there followed according to *Śrutāvatāra*, the four Ārātiya monks who had a partial knowledge of sections of Angas and Pūrvas, they were succeeded by Arhadbali, Māghanandi and Dhara-

1 See *I A*, XXI, p 57 etc

2 See '*Svāmi Samantabhadra*' by Pt Jugalkishore, p 147, the verse runs thus
varse sapta-śate caiva saptatyā ca vismṛtau |
Umāsvāmi-munir jātah Kundakundas tathaiva ca ||

3 *Jaina Hitaishi*, Vol X, P 378 etc

4 Sometime the internal details do differ, though the total No of years is 683 as the period of the continuity of Anga-jñāna after Mahāvīra See Bhandarakar *Report on search for Sanskrit* Mss, 1883-84, Collected Works Vol II, pp 284 etc, Hoernle Three further Paṭṭāvalis of Digambaras, *I A*, XXI, pp 58 etc For select authoritative texts, see *Jayadhavalā tīkā*, Sholapur MS p 10, 66th sarga of *Harivamśa-purāṇa* of Jinasena, Ed 32nd vol of MDJG, *Ādipurāṇa* of Jinasena, chapter I, verse 139 etc, also compare Pt Jugalkishore's searching discussion in *Svāmi Samantabhadra*, p 160 etc

kāya say that Kundakunda composed that work to enlighten *Śivakumāra Mahārāja* who appears to be the same as *Śivamṛgeśavarman* of the Kadamba dynasty Thus the date of Kundakunda, because of his having been a contemporary of *Śivamṛgeśavarman*, comes to *Śaka* 450 *i e* 528 A D

Date proposed by Prof Chakravarti —The third opinion is that of Professor Chakravarti [1] He starts with 8 B C as the date of his accession to pontificate as worked out by Hoernle from *Paṭṭāvalīs*, and places the birth of Kundakunda in about 52 B C Further, in opposition to the date proposed by Pathak, he tries to find support for this date from the circumstantial evidences Deducing from the traditional stories that Kundakunda belonged to *Dakṣiṇa-deśa*, he lays emphasis upon the fact that Kundakunda belonged to Drāviḍa-saṅgha From an unpublished MS of *Mantra-lakṣaṇa* he draws the information that in the South, in Malaya, in Hemagrāma, there was a great and wise monk Elācārya by name who was Drāviḷa-gaṇādhīśa [2] Prof Chakravarti finds that all these references can be traced in Drāviḍa country to which therefore, Kundakunda must have belonged, Elācārya being another well-known name of Kundakunda Elācārya according to the Jaina tradition, is the author of the famous Tamil classic *Thirukkural*, he composed [p 13] it and gave to his disciple Tiruvalluvar who introduced it to Madura Saṅgha Elālasiṅgha, who is considered to be the literary patron of Tiruvalluvar, might be another name of Elācārya The authorship of *Kural* by Jaina Elācārya fits in well with other facts such as the moral tone of *Kural*, the praise of agriculture as the noblest occupation practised by Valluvas, the landed aristocracy of the South, who formed the earliest adherents of the Jaina faith in Drāviḍa country This identification of Elācārya or Kundakunda with the author of *Kural*, (which is earlier than *Śilappadigāram* and *Maṇimēkhalai*), which is not at all inconsistent with the possible age of *Kural*, would lend greater probability to the traditional date of *Paṭṭāvalīs* that Kundakunda lived at the beginning of the first century A D Being a leader of the Drāviḍa-saṅgha, Kundakunda might have composed works in Tamil for the benefit of the Vellalas of the ancient Tamil literature who were the strict followers of Ahiṃsā-dharma In the light of the above discussion Prof Chakravarti wants to settle the identification of *Śivakumāra* Mahārāja, the royal disciple of Kundakunda, for whom as all (?) the commentators of Prābhṛta-traya say, Kundakunda wrote his works Prof Chakravarti accepts Pathak's position that the church was divided into Śvetāmbaras and Digambaras, and perhaps the ordinary masses followed the Vedāntic form of Viṣṇu-cult, but he opposes the idetnification of Śivakumāra Mahārāja with Śri Vijaya Śiva Mṛgeśa Mahārāja of the Kadamba dynasty of about the 5th century A D on the grounds that Kadamba dynasty was too late in time to be present at the time of Kundakunda, and that there is no evidence to the effect that Kadambas were acquainted with Prakrit language in which Kundakunda wrote his works Further he proposes that Śivakumāra Mahārāja might be the same as king Śivaskandha, which is merely another form of Śivakumāra, of the Pallava dynasty He also figures as Yuva

1 See his Introduction to the Ed of *Pañcāstikāya*, Vol III, SBJ, Arrah, 1929

2 I have every reason to think that this Elācārya, referred to in *Mantralakṣaṇa* appears to be the same as Helācārya, previously referred to, on whose work the *Jvālinīmata* of Indranandi was based, see p 'iv *ante*

Mahārāja, which is also curiously identical with Kumāra Mahārāja Other circumstantial evidences are also favourable Conjeepuram was the capital of Pallavas who ruled over Thondamandalam or Thondainādu which was looked upon as the land of the learned, its metropolis did attract many Dravidian scholars such as the author of *Kural* etc, the kings of Conjeepuram were patrons of learning since the early centuries of the Christian era upto the 8th century, from Samantabhadra to Akalanka, we hear that Jainism was being propagated round about that place. It is not improbable, therefore, that the Pallava kings at Conjeepuram, during the first century of this era, were patrons of Jaina religion or were themselves Jainas by faith Further the body of Mayidavōlu grant is in Prakrit dialect, and it is issued by Śivaskandhavarman of Conjeepuram The use of Siddham in the beginning of the grant and its close similarities with Mathura inscriptions show the Jaina inclinations of the ruler From various other epigraphical records also it is clear that these kings had Prakrit as their court language Thus Prof Chakravarti concludes that Kundakundācārya wrote his Prābhṛtatraya for one Śivakumāra Mahārāja, who was most probably the same as Śivaskandhavarman of the Pallava dynasty

[p 14] **Pt Jugalkishore's view on the Date**—Pandit Jugalkishore, in his excellent monograph on Samantabhadra,[1] discusses the pros and cons of the various evidences utilised for settling the date of Kundakunda, and weighs the various probabilities with a view that the date of Kundakunda would help him to settle the date of Samantabhadra The date of Kundakunda given by Paṭṭāvalīs he holds to be unsatisfactory, because paṭṭāvalīs differ among themselves and often from other pieces of information available from other sources He, like Premiji, works out the antecedent chronological details of the statement of Indranandi, in his *Śrutāvatāra*, that Kundakunda wrote a commentary on the first three sections of *Saṭkhaṇḍāgama*, and practically concludes that Kundakunda cannot be earlier than 683 after Vīra, *i e* 156 A D incidentally indicating the various descrepancies of paṭṭāvalīs Making possible concessions for the alternative beginnings of Vikrama era, he would concede the earlier limit that Kundakunda should be later than 133 Vikrama saṁvat *i e* 76 A D Then he discusses the possibility of arriving at the date of Kundakunda on the tradition that Kundakunda wrote for Śivakumāra Mahārāja He indicates that much reliance cannot be put on that tradition as Kundakunda has not said anything to that effect If he tradition is to be accepted, he favours the identification proposed by Prof Chakravarti, showing that the date 528 A D, arrived at by the identification proposed by Pathak, upsets the relative chronology of many Jaina authors, and showing that the interpretation of ta *tadanvaya* in those inscriptions with the chronological deduction proposed by Pathak is wrong, because even Padmanandi, the teacher of Sakalakīrti, of the 15th century A D, is designated as *tad* (Kundakunda)-*anvaya-dhurina* Pt. Jugalkishore points to the fact that Kundakundānvayas is already mentioned in Merkara copper-plates of Śaka 388 He is not ready to accept the position that Kundakunda had a name Elācārya The date as given in the paṭṭāvalīs goes against the various aspects of the tradition recorded in *Śrutāvatāra* Lastly he takes the fact that Kunda-

1 See pp 158 etc of his Introduction to the Ed of *Ratna-karandaka Srāvakācāra* of Samantabhadra, Vol 24 of MDJG, Bombay, 1925, a part of the Introduction dealing about Samantabhadra, is also separately issued as '*Svāmī Samantabhadra*'

kunda mentions himself as the *śiṣya* of Bhadrabāhu, whom he takes as the second Bhadrabāhu, who according to the *paṭṭāvalīs* might have flourished 589 to 612 after Vīra, this period consequently leads him to the conclusion that Kundakunda might have flourished from 608 to 692 after Vīra, *i e*, c 81 to 165 A D This conclusion, he thinks, explains many obscure details

A summary of the facts—I have summarised the above views only to see the various traditions utilised in their different aspects by different scholars and the probable date at which they have arrived The following are the main traditional facts:

i Kundakunda flourished after the division of the original Jaina church into Śvetāmbaras and Digambaras,

ii Kundakunda is the *śiṣya* of Bhadrabāhu

iii On the authority of *Śrutāvatāra*, Padmanandi of Kundakundapura [p 15] traditionally received the knowledge of the Siddhānta consisting of *Karma*-and *Kaṣāya-prābhṛta*, and he wrote a huge commentary on half of the *Saṭkhaṇḍāgama*

iv Kundakunda, on the authority of Jayasena and Bālacandra, is said to have been a contemporary of one Śivakumāra Mahārāja

v Kundakunda is the author of the Tamil classic *Kural*

We shall scrutinise these points serially and then see what other evidences are available for the date of Kundakunda

Kundakunda's posteriority to Sveta and Diga division—As to the posteriority of Kundakunda to the division of the Jaina church into Digambaras and Śvetāmbaras, there cannot be two opinions, because he attacks here and there the doctrinal positions, which in later literature, are decidedly the opinions of the Śvetāmbara persuasion, such as the liberation for women, utility or futility of clothes for a monk to attain liberation etc [1] The seeds of this division, so far as I have been able to comprehend the currents of the history of Jainism go back as early as the days of Bhadrabāhu Śrutakevalin, if not earlier, who migrated to the South with a band of monks at the time of a severe famine in Magadha [2] The famine and migration must have been facts, because both Śvetāmbaras and Digambaras are agreed on these points Comparing the post-Mahāvīra hierarchical lists preserved by both the sects, the last teacher who is commonly acknowledged is Bhadrabāhu,[3] that is a clear

1 *Sutta-pāhuda* 17-26, *Pravacanasāra* III, 8-9, 20 *3-5, 24 *6-14

2 L Rice *Mysore and Coorg from Inscriptions*, chapter 1, V. Smith *Early History of India* (Third Ed) pp 146, 440, M S R Ayyangar *Studies in South Indian Jainism* chapter 2 etc Banarasidas *Ardhamāgadhī Reader*, p xlii, *Cambridge History of India* I, p 165

3 For Digambara lists see *Harivaṁśa* etc noted above, for Śvetāmbara lists see *Kalpasūtra* (S B E XXII) p 286 etc and the opening verses of *Nandisūtra*, As a matter of appearance the traditional lists of teachers belonging to these two sects agree only upto Jambū then there is difference and again Bhadrabāhu is common to both I think, in early days, before the time of Kundakunda, these schismatic divisions might not have been very acute since Ārya Maṅkṣu and Nagahasti, who studied *Kaṣāya-prābhṛta* from Guṇadhara and also taught the same to Yativṛṣabha, as stated in *Śrutāvatāra* and confirmed too by the opening

indication that the main stream might have branched into two streams from his time Circumstantial evidences gleaned from the after-effects of the famine are also favourable for such a division in the Jaina church So the definite seeds of this must have been sown in the days of Bhadrabāhu, a contemporary of Chandragupta Maurya, say about in the 3rd century B C The later traditions that the Śvetāmbara sect, according to the statement of Digambaras, arose in 136 years after the death of Vikrama and that the Digambara sect, according to the statement of Śvetāmbaras, arose in 139 years after Vikrama,[1] merely show that the doctrinal differences, by [p 16] this time i e, at about the close of the first century A D, had become visibly acute so far as the popular appreciation of these differences is concerned Thus the indication that Kundakunda refers to Śvetāmbara inclinations, as noted by Pathak and Premi, is not of great help to decide the date of Kundakunda, the other indication that Viṣṇu-worship was popular among the masses is not guaranteed by the correct interpretation, in the light of the proper context, of that gāthā No 322 of *Samayasāra.*

Kundakunda as the sisya of Bhadrabahu Discusssd —It is an important fact that Kundakunda speaks of himself as the śiṣya of Bhadrabāhu, whom he glorifies, those gāthās (of *Bodha-pāhuda*) in question run thus,

> *sadda-viyāro hūo bhāsā-suttesu jam jine kahiyam* /
> *so taha kahiyam ṇāyam sīseṇa ya Bhaddabāhussa* //61//
> *bārasa-Anga viyāṇam caüdasa-Puvvaṇga-viūla-vittharaṇam* /
> *suya-ṇāṇi-Bhaddabāhū gamaya-gurū bhayavao jayaū* //62//

From these gāthās two facts are clear that Kundakunda refers to himself as the śiṣya of Bhadrabāhu, and this Bhadrabāhu is qualified as suya-*nāni*, as a revered preceptor who knew the exact text and meaning and as one who knew the twelve Aṅgas and the wide extent of fourteen Pūrvāṅgas Śrutasāgara (c close of 15th century A D) admits both of these gāthās in his Sk commentary, and, as long as it is not shown on sound MSS-evidence that these gāthās are of an interpolatory character, we are justified to take them as composed by Kundakunda and make a judicious use of them for chronological study The Paṭṭāvalīs of Digambaras give two Bhadrabāhus, one Śrutakevali Bhadrabāhu and the other Minor or One-Aṅgin Bhadrabāhu, so it is necessary to see to whom Kundakunda refers Pandit Jugalkishore quotes and concentrates his attention on the first gāthā only, and possibly he ignores the second gāthā, and his inference is that Bhadrabāhu mentioned by Kundakunda is Bhadrabāhu II (589-612 after Vīra i e), 62-85 A D It is a very tempting identification, but one has to stand this temptation in view of the second gāthā, which gives substantial information about Bhadrabāhu The adjectives in the second gāthā clearly show that this Bhadrabāhu is none else than Śrutakevali Bhadrabāhu, Bhadrabāhu II cannot be a proper recepient of the adjectives *bārasa-Anga viyānam* and *caudasa-Puvvanga* etc

---

verses of *Jayadhavalā Ṭīkā,* figure also in the Śvetāmbara Sthavirāvali, as given in *Nandisūtra* verses No 28-30 (Āgamodayasamiti Edition), as Ārya Maṅgu and Ārya Nāgahasti almost contemporaries, 'Ārya Maṅkṣu' is an attempt at Sanskritisation of 'Ajja Maṁgu'

1 *Darśanasāra* gāthā 11 etc and Pt Premi's notes thereon in *Jaina Hitaishī* XXIII, pp 252, 265 etc

at least at the hands of a contemporary of his, if Kundakunda were to be taken, as proposed by Pt Jugalkishore, as his disciple, and the adjective suya-*nāni*, in the light of the above adjectives, should be taken to mean, I think, as *suyakevali* If Bhadrabāhu referred to is the same as Śrutakevalin, it follows quite naturally that either Kundakunda must have been his contemporary in the 3rd century B C, being his *śiṣya*, or the word *śiṣya* must mean something else than a direct disciple I am tempted to take the word *śiṣya* as a *paramparā-śiṣya*, and this is not without a parallel elsewhere With Jaina authors *guru* and *śiṣya* do not necessarily mean direct and contemporary teachers and pupils, but might even mean *paramparā-guru* and *śiṣya*, sometimes the influence of some previous teacher is so overwhelming that later pupils like to mention him as their guru For instance, Siddharsi, the author [p 17] of *Upamitibhava-prapañca-kathā* (906 A.D) calls Haribhadra as his *dharmaprabodhakaro guruh*, but it is proved by reliable evidences that they were not even contemporaries, Haribhadra having lived before the last quarter of the 8th century [1] To take another instance, Jayasena, the author of *Pratiṣṭhāpāṭha*, calls himself as Kundakundāgra-śiṣya,[2] but from the scarcity of old Mss, from the contents and language of that work, and also from the absence of any early tradition to that effect that he was a contemporary of Kundakunda, one is forced to take Jayasena as the *paramparā śiṣya* of Kundakunda of venerable name There are, however, circumstantial evidences why Kundakunda might have been tempted to call himself as the *śiṣya* of Bhadrabāhu Bhadrabāhu was the great leader of a saṅgha, which he led tot he South for its physical, moral and spiritual welfare After the demise of Bhadrabāhu his pupils and grandpupils might have always looked upon him as the greatest teacher, and especially in the South, the ascetic community, being isolated, might have inherited all the religious knowledge ultimately from the great teacher Bhadrabāhu So it is no wonder, if Kundakunda, who was at the head of an isolated ascetic group in the distant South and who always remembered with reverence that whatever knowledge he had inherited was ultimately traceable to Bhadrabāhu, called himself as the *śiṣya* *i e* the traditional pupil of Bhadrabāhu in his works which are more of a compilatory character based on hereditary instruction than original compositions But it may be asked why not take Kundakunda as the direct disciple of Bhadrabāhu Śrutakevalin and put him in the 3rd century B C There are various difficulties, Kundakunda, as, in that case, we might expect does not figure in the lists of Aṅgadhārins, the word *śiṣya* is not enough to lead us to that conclusion, because, as shown above, it could be used in the sense of a paramparā-śiṣya, I am not aware of any piece of Jaina tradition, legendary or literary, which would give even the slightest support to put Kundakunda as the contemporary of Bhadrabāhu Śrutakevalin, and the traditions, as they are available, go against this date of 3rd century B C

---

1 *Jaina Sāhitya Samśodhaka*, Vol I, p 21 etc, Dr Jacobi's Introduction to *Samarāiccakahā* in Bibl Ind 1926

2 *Vasubindu Pratiṣṭhā-pātha* Ed Calcutta, 1925, the praśasti is also quoted in the introduction (p 9) of *Samayaprābhṛtam*, Benares 1914, for other instances where *śiṣya* means *paramparā-śiṣsa* see *Annals* of the B O R I, Vol, XV, pp 84-85

genuineness of the antecedent links of the tradition, as Indranandi frankly says, ther is much obscurity,[1] and Vibudha Śrīdhara is somwhat vague when he simply say *iti paramparayā* A scrutinising search [p 19] into the details of these tradition makes us all the more aware as to how we have to grope in darkness to settle th exact date of Kundakunda So here I can say only this much that we cannot, o the authority of the traditions discussed above, insist too much that Kundakund should be later than 683 years after Vīra

Kundakunda as a contemporary of Sivakumara discussed —Now th fourth point about the possibility of Kundakunda's being a contemporary of a rule Śivakumāra Mahārāja I agree with Pt Jugalkishore in noting that Kundakunda ha not referred to any such person, nor is there any indication to that effect in hi works, his first commentator Amṛtacandra, so far as we know, does not refer to an Śivakumāra Mahārāja It is only Jayasena (c middle of the 12th century A D), an following him the Kanarese commentator Bālacandra,[2] that refer to Śivakumāra Mahārāja, for whose enlightenment, Jayasena says, Kundakunda composed his *Pañcāstikāya* Jayasena, in his commentaries on *Pañcāstikāya* and *Pravacanasāra*, mention the name of Śivakumāra or -Mahārāja,[3] but at times Śivakumāra's personality play a very dubious role as in the opening passage of *Pravacanasāra*, from which one i tempted to suspect whether Śivakumāra himself is the author of *Pravacanasāra* I should be remembered that Jayasena's statement cannot deserve the credit of a contemporary evidence, and when we try to identify this Śivakumāra with some king of the South Indian royal dynasties of the early centuries of the Christian era, it is taken for granted that Jayasena's statement, in all probability, is based on some early tradition possibly genuine in character Dr Pathak was the first to attempt an identification, and he proposed that this Śivakumāra Mahārāja should be identified with Śivamṛgeśavarman of the Kadamba dynasty (about 528 A D according to Pathak)[4] The patronage extended to Jainism and Jainas by Kadambas is well known, but that is no reason at all to put Kundakunda so late as this This conclusion cannot be accepted for various reasons first, that upsets some of the well recognised facts of Digambara chronology, secondly it is impossible that Kundakunda can be put in the 6th century, when Merkara copper plates of Śaka 388 mention Kundakundānvaya and give not less than six names of Ācāryas of that lineage,[5] and this indicates that Kundakunda will have to be put at least a century, if not more, earlier than the date of the copper-plates Perhaps it is to support this identification that

---

1 *Srutāvatāra*, verse 151, which runs thus—
Gunadhara-Dharasenānvaya-gurvoh pūrvāpara-kramo'smābhih |
na jñāyate tad anvaya-kathakāgama-muni-janābhāvāt ||

2 Relative dates of Jayasena and Bālacandra will be discussed later

3 *Pañcāstikāya*, Rāyachandra Jaina Śāstramālā (RJS), Bombay Samvat 1972, pp 1 and 6, *Pravacanasāra*, pp 1, 17, 244, and 247, I have not been able to trace any mention of Sivakumāra in his commentary on *Samayasāra*

4 Also about 475-490 A D, see G M Moraes *Kadamba Kula*, chapter vii and the genealogy facing p 15

5 *E C*, I *Coorg Inscriptions*, No 1

he mis-interpreted the words *tad-anvaya* in those copper-plates of the Rāṣṭrakūṭa dynasty, the mistake in his interpretatian is already noted above More plausible is the view of Prof Chakravarti, who identifies this Śivakumāra Mahārāja with [p 20] Śivaskandha or Yuva Mahārāja of the Pallava dynasty, as it has some favourable circumstantial evidences The only difficulty, in the way of this identification, is the uncertainty of Pallava genealogy and chronology [1] In their records the kings of the same name appear to figure at different periods Śivaskandhavarman figures fifth in the Pallava line and before him there was one Skandhavarman, and there, in those records, the mention is made of reign-years and not of any standard era The beginning of the Pallava genealogy, therefore, is chronologically uncertain Prof Chakravarti, though not explicit, appears to be aware of these difficulties when he says 'It is quite possible, therefore, that this Śivaskandha of Conjeepuram or one of the predecessors of the same name was the contemporary and disciple of Śrī Kundakunda So, if any historical value can be attached to the statements of Jayasena, the identification of Śivakumāra with the Pallava king Śivaskandha is more probable than the one proposed by Pathak

Kundakunda as the author of Kural —The attribution of the authorship of *Kural* to Kundakunda has, no doubt, some bearing on the date of Kundakunda, but the way in which Prof Chakravarti tackles that problem, I am afraid, contains the famous flaw of *kunda-badara-nyāya* Despite various sectarian claims, an unbiased critic would certainly find in *Kural* many Jaina indications, which cannot easily and naturally be explained according to other faiths, such as the divinity walking on lotuses and possessing eight qualities etc The commentator of *Nīlakesi*, a Jaina work calls *Kural* 'as our own Bible', this indicates, in addition to the internal evidences, that the author of *Kural* is claimed by the Jainas, since a pretty long time, as belonging to their community As to the date of *Kural* there are divergent opinions On very good grounds M S Ramasvami Ayangar puts *Kural* at the beginning of the Christian era [2] Further the Jaina tradition attributes the authorship of *Kural* to a Jaina saint Elācārya, who after composing gave it away to his disciple Tiruvalluvar who introduced it to Madura Saṅgha Now Kundakunda's authorship of *Kural* depends on the identity of Elācārya with Kundakunda, but this identity is not a sure ground In our previous discussion, a part of the tradition that Kundakunda had five names has been shown to be dubious and not well founded, so, if Prof Chakravarti relies on that very tradition, I must say it is insufficient to prove the identity, though I am aware that I have not been able to disprove Kundakunda's having a name Elācārya, as I have been in the case of the name Vakragrīva etc So some more evidence is necessary to show that Kundakunda had a name Elācārya, and if that is made more definite, it can be accepted that Kundakunda was the author of *Kural*, and consequently his age would be put in the first century A D I may indicate, however, that at the beginning of the Christian era the circumstances, as they might possibly have been then, appear to be quite tempting for an author of the stamp and dignity of Kundakunda, or any other Jaina teacher [p 21] of eminence, to compose an ecletic work like *Kural* without

1 H Heras *The Pallava Genealogy*, Aiyangar *Some contributions of South India to Indian culture*, chapter viii etc

2 *Studies in South Indian Jainism* pp 40 etc

making it purely a code of Jaina dogmas The Jainas were gaining ground round about Mysore soon after the 3rd century B C when Bhadrabāhu migrated to the South, and within the next two centuries the Jaina faith must have been spreading southwards If it was to be preached to masses, it must be put in palatable terms and that too in the vernacular of the masses It has been a policy of Jaina teachers, wherever they go, to adopt the local language for preaching their dogmas So they might have cultivated Tamil to spread and preach the fundamental Jaina doctrines in Dravidian countries The Jaina authorship consistently explains the strong back-ground of Aryan thought and culture in *Kural*, because only a couple of centuries before the Jainas had come down freshly from Magadha and surrounding parts in Northen India The Jaina teachers, the earlier generations of them being well acquainted with Magadhan polity and forms of Government, introduced in their works political notions and theories as current in Magadha, and that is the reason why we find so many points of affinity between Kauṭilya's *Arthaśāstra* and *Kural* At the beginning of the Christian era the Jaina teachers appear to have been not very confident about their prospective success in the Tamil land, and they might have been afraid that their words might not be well received among the wise of the land, this appears to be the reason why Elācārya or (if he is identical with Kundakunda) Kundakundācārya might have presented *Kural* to the Madura Saṅgha through his disciple, Tiruvalluvar, who, from his name, appears to be the son of the soil in Tamil land In the next two centuries the Jaina faith became gradually established, and the Jainas were the pioneers of the so-called Augustan age of Tamil literature, and by the close of the 5th century A D, as Devasena tells us in his *Darśanasāra* (24 etc) Drāviḍasaṅgha, perhaps a designation indicating some geographical limitation to the Mūlasaṅgha, was established in Madura by Vajranandi

Later limit for the date suggested from literary and epigraphic evidences —Turning to the earliest Digambara commentators with a desire to see whether their works help us to settle the date of Kundakunda by quotations etc from Kundakunda's works, we find that the earliest available commentaries, being incorporated in *Dhavalā* and *Jayadhavalā*, do not give any help, because it is wellnigh impossible to distinguish the various strata with their respective authors Pūjyapāda, so far known the earliest Digambara commentator on *Tattvārthasūtra*, quotes, in his *Sarvārthasiddhi* (II, 10),[1] five gāthās, which are found in the same order in *Bārasa-Anuvēkkhā* (Nos. 25–29) of Kundakunda, though he does not say from what source he is quoting The context in which they are quoted, the serial order of quotation and the absence of these quotations in *Rājavārtika* of Akalaṅka[2] etc go to indicate the genuineness of these quotations in *Sarvārthasiddhi*[3] *Bārasa-Anuvēkkhā* [p 22] has some gāthās common with the eighth chapter of *Mūlācāra*[4] but these gāthās do not figure therein, and I am not aware of these gāthās in any of the earlier Jaina works Under these circum-

1 *Sarvārthasiddhi*, pp 90 etc Ed Kolhapur, Saka 1839
2 *Tattvārtha-Rājavārtikam*, Ed Benares, 1915
3 Sometimes the copyists, not minding the chronological consequences, incorporate, in the course of copying important quotations etc, from later commentaries in earlier ones
4 *Mūlācāra*, Ed MDJG Vols 19 and 23

stances and in view of the maintenance of the original order of these quoted gāthās, it is clear that Pūjyapāda is quoting from *Bārasa-Anuvĕkkhā* of Kundakunda That puts a good later limit to the age of Kundakunda Pūjyapāda lived earlier than the last quarter of the 5th century A D,[1] so Kundakunda must be prior to him Then the Merkara copper-plates of Śaka 388, *i e* 466 A D, to which reference is already made, mention six *Ācāryās* with a clear statement that they belonged to Kundakundānvaya, that means Kundakundānvaya was in vogue, on the innocent hypothesis that these six teachers were successors in that lineage, at least a hundred years before the date of the copper-plates, and further back if we take that Kundakunda's lineage began one century, if not more, earlier, it is not too much, because the lineage of a saint does not begin immediately after his death That brings us to the middle of the 3rd century A D as the later limit of Kundakunda's age

The two limits and the possible conclusion —In the light of this long discussion on the age of Kundakunda wherein we have merely tried to weigh the probabilities after approaching the problem from various angles and by thoroughly thrashing the available traditions, we find that the tradition puts his age in the second half of the first century B C and the first half of the first century A D, the possibility of *Ṣaṭkhaṇḍāgama* being completed before Kundakunda would put him later than the middle of the second century A D, and the Merkara copper plates would show that the later limit of his age would be the middle of the third century A D Further the possibilities, in the light of the limitations discussed, that Kundakunda might have been a contemporary of King Śivaskandha of the Pallava dynasty and that he, if proved to be the same as Elācārya on more definite grounds, might be the author of *Kural*, would imply that the age of Kundakunda should be limited, in the light of the circumstantial evidences noted above, to the first two centuries of the Christian era I am inclined to believe, after this long survey of the available material that Kundakunda's age lies *at the beginning of the Christian era*[2]

---

1 On Pūjyapāda and his date etc F Keilhorn *I A* Vol X, pp 75-79, K B Pathak *I A*, Vol XII pp. 19-21, Dr S K Belvalkar, *Systems of Sanskrit Grammar*, R B R Narasimhacharya *Karnātaka Kavicarite*, Vol 1, pp 5 etc, Pt Premi *Jaina Hitaishi*, Vols XIV pp 345 etc and XV pp 49 etc, Pt Jugalkishore *Svāmī Samantabhadra*, pp 141 etc

2 I shoud passingly refer here to a recent discussion on the date of Kundakunda The second line of the 17th gāthā of *Niyamasāra* runs thus *edesim vitthāram loyavibhāgesu nādavvam* /, on this Padmaprabha Maladhārideva comments thus *etesām caturgati-Jīvabhedānām vistārah Lokavibhāgābhidhāna-paramāgame draṣṭavyah* /(p 16 of *Niyamasāra*,Bombay 1916) Pt Premi (*Jaina Jagat* VIII, iv) inferred from this that Kundakunda is referring to the Prakrit *Lokavibhāga* of Sarvanandi composed in Śaka 380, it is not available, but the Sanskrit version of it by Siṁhasūri is available, and that, therefore, Kundakunda is later than 458 A D Pt Premi's position is logiccally weak, nor is it guaranteed by the facts as already shown by Pt Jugalkishore (*Jaina Jagat* VIII ix) The use *loyavibhāgesu* in plural does not indicate that it is the name of any individual work, and much reliance so far as historical and chronological purpose is concerned, cannot be placed on the interpretation of the commentator, who comes long after Kundakunda The word might refer to a collection of works belonging to Lokānuyoga group of Jaina Literature The interpretation of the commentator should not be attributed to Kundakunda When the Merkara

[p 23] **Prakrit dialect as an evidence for the date proposed** —Though not a sure evidence, the stage of Prakrit also is, at times, used to indicate the age of an author, this dialectal evidence, so far as I am aware of the peculiar inherent traits and geographical and circumstantial handicaps of Prakrits, cannot be of an absolute character, but merely a cumulative one In the section on the Prakrit dialect of *Pravacanasāra* it is indicated, after a thorough analysis of the grammatical facts from the gāthās of *Pravacanasāra* that the stage of Prakrit, as represented by these gāthās, is earlier than that of the Prakrit portions, as critically analysed by Dr Jacobi, of *Nāṭyaśāstra* of Bharata The date of *Nāṭyaśāstra* is a matter of uncertainty, possibly it is anterior to Bhāsa and Kālidāsa and usually, therefore, it is assigned to the beginning of the second century A D or so This is quite in keeping with our conclusion that Kundakunda might have flourished at the beginning of the Christian era The appearance of Apabhraṁśa forms is also considered to have some chronological utility It is shown in the discussion about the Prakrit dialect, that not a single Apabhraṁśa form is traced in *Pravacanasāra*, that possibly indicates a period when Prakrits had not developed as yet the Apabhraṁśa traces Now *Paümacariya* of Vimalasūri, which should be placed at the beginning of the Christian era according to the statement of the author himself,[1] shows many forms which can be called Apabhraṁśa in the terminology of Hemacandra So Kundakunda possibly belongs to an earlier period making concession to geographical limitations that Kundakunda belonged to the extreme south etc, this also favours our relegation of Kundakunda to the beginning of the Christian era

Domicile etc in the light of the date proposed —The domicile of Kundakunda will have to be sought in South India, especially in Dravida country, from the spelling of his name, Kŏṇḍakunda,[2] from the fact that he is called the preëminent leader of the Mūla-saṅgha and from his being and associated with Drāviḍa-saṅgha Considering the probability of his association with the Pallava dynasty, his activities might lie round about Conjeevaram, which was [p 24] a cultural centre, in the South, in the early centuries of the Christian era The time, when Kundakunda flourished, appears to be sufficiently critical so far as the upkeep of the Jaina community in the South was concerned After the arrival of Bhadrabāhu, a fresh impetus must have been given to Jainism in the South, and attempts must have been made to get royal patronage etc to put Jainism on sound basis by conversions as we see from the traditional stories associated with Samantabhadra

---

copper plates of Śaka 388 refer to Kundakundānvaya and mention half a dozen teachers belonging to that lineage, it is impossible that Kundakunda can be put after Śaka 380, and that he might be referring to the work of Sarvanandi

1 On internal evidences that Vimalasūri was acquainted with Greek astronomy etc Dr Jacobi doubts the date given by the author, and would put him in the third century A D or even somewhat later

2 Quite recently it is reported in a Jaina Kannada Magazine, *Vivekabhyudaya*, I, 3-4 p 54, that there is a village, Kŏndakundi, some four or five miles away from Guntkal Railway station, associated with the life of Kundakunda, a couple of furlongs away from that village there is a cave, with some Jaina idols where Kundakunda is said to have performed his penances

and Akalaṅka The task before Kundakunda must have been really a great one The Digambaras had denounced the Jaina canon as formed at Pāṭaliputra by Śvetāmbaras after the famine in Magadha was over, and by about the beginning of the Christian era so far as the Digambara Text-tradition was concerned, the important texts, as a whole, had fallen into oblivion Kundakunda had to respond to the religious needs of the community, and to meet this situation he must have composed small tracts in Prakrit mainly based on whatever traditional Text-knowledge was inherited from early teachers The traditional aspect of Kundakunda's works is clear from the fact that his works have some common verses with some texts of the Śvetāmbara canon, being a common property in early days they have been preserved by both the sections independently On the one hand Kundakunda stands as the converging centre of early text-tradition and on the other his works themselves have given rise to commentaries and commentators thus diverging into a budding and exhuberent growth of Jaina dogmatic discussions of various kinds

3. Kundakunda's Works

Kundakunda as the author of 84 pahudas—Kundakunda has a great halo of literary activity, and the tradition attributes to him not less than eighty four treatises called Pāhuḍas or Prābhṛtas The title pāhuḍa, a present, indicates according to one interpretation, that these books are composed or compiled with a spiritual purpose, and they are merely devotional presents to the Higher Self, Jayasena explains the word thus *yathā ko'pi Devadattah rāja-darśanārtham kiñcit sārabhūtam vastu rājñe dadāti tat prābhṛtam bhanyate / tathā paramātmārādhaka-puruṣasya nirdoṣi-paramātma-rāja darśanārtham idamapi śāstram prābhṛtam/*[1] This is how commentators are skilful in giving certain meanings The real traditional meaning appears to be different Pāhuḍa means an adhikāra,[2] *i e* a section in which a particular topic is treated or discussed Some Śvetāmbara works, too, have this designation for instance *Joni-pāhuḍa*, *Siddha-pāhuḍa*[3] etc That Kundakunda wrote 84 Pāhuḍas is merely a floating tradition, and I am not aware of any statement to that effect from his commentators etc The number is not at all incredible [p 25] in view of the fact that some of his Pāhuḍas are very small tracts *Sutta-pāhuḍa*, for instance, contains only 27 gāthās The circumstances also were favourable for Kundakunda to compose numerous small tracts or prakaraṇas The Jaina community in the South, in the days of Kundakunda was much isolated from the main stock in Magadha and other parts The community, as a whole, had its religious needs Digambaras did not attempt a fresh compilation of the canon after the famine was over, and the canon, as shaped at Pāṭaliputra by some of their brethren in the North who came to be known as Śvetāmbaras, was denounced by the Digambaras

1 See his commentary on *Samayasāra*, p 555-6 (RJS edition), elsewhere on p 5, he interprets Samaya-pāhuḍa thus *prābhṛtam sāram sārah śuddhāvasthā samaya-syātmanah prābhṛtam samayaprābhṛtam athavā samaya eva prābhṛtam*

2 See *Gommaṭasāra* Jīvakāṇḍa gāthā 341 (SBJ V) *ahiyāro pāhuḍayam eyattho i e* adhikāra and pāhuḍa are synonyms

3 *Jaina Granthāvalī*, pp 62 & 66

as simply a patch-work and not genuine The result was that the Digambaras lost almost all texts as a whole The only alternative before leaders like Kundakunda was to rely on their memories and put together whatever they had traditionally received from their teachers and grand-teachers, not as Anga-works, but merely as sections or pieces from Angas In this manner Kundakunda might have compiled and composed many small texts One should not insist too much on the number 84, because we get the names of only a few of them,[1] and the number of available works, attributed to Kundakunda, is comparatively small It must be plainly stated that in majority of the following works, the original texts scarcely mention the name of Kundakunda, at times traditionally they are attributed to Kundakunda, and sometimes the commentators say that Kundakunda is the author, in every case I have taken care to see whether any other author has claimed a particular work as his, and whether there is any conflict in the tradition In India philosophers and authors always stood for systems, they were never particular in mentioning their names at the end of their works, because they were conscious that whatever they were compiling or composing belonged, so far as the contents were concerned, to earlier teachers Being simply responsible for the form, they did not like to pose as authors in the modern sense So in India we have philosophies and not philosophers as in Greece, the authors never hesitated to merge their individualities in a particular stream of philosophical thought, and the individual philosopher, as Max Müller puts it, is but the mouth-piece of tradition

[p 26] Now we will study the various works attributed to Kundakunda All his works so far available, are in Prakrit

SAT-KHANDĀGAMA-TIKĀ It is already seen above that Indranandi in his *Srutāvatāra*, tells us that Padmanandi of Kundakundapura, possibly the same as our Kundakunda, wrote a commentary, *Parikarma* by name, on the three sections of *Ṣatkhandāgama* The commentary is not available today This tradition, moreover, is conflicted by the statement of Vibudha Śrīdhara, according to whom the author is Kundakīrti, the pupil of Kundakunda So the existence and the authorship of this work belong to the domain of uncertainty of tradition [2]

---

1 Besides the works studied in this section, the following are the names of works attributed to Kundakunda, some of the names are partly in Sanskrit and partly in Prakrit, and, at times, differently spelt There are still many Jaina libraries that have not been thoroughly inspected and so it is not at all impossible that we might chance upon some of these works, for the sake of easy reference, I give here the names of works attributed to Kundakunda arranged according to English alphabets — 1 *Ācārapāhuda*, 2 *Ālāpapāhuda*, 3 *Amga* (*sāra*)-*pāhuda*, 4 *Ārādhanā* (*sāra*)-*pāhuda*, 5 *Bamdha* (*sāra*)-*pāhuda*, 6 *Buddhi or Bodhipāhuda*, 7 *Caranapahuda*, 8 *Cūlīpāhuda* 9 *Cūrnipāhuda*, 10 *Divvapāhuda*, 11 *Dravya* (*sāra*)-*pāhuda*, 12 *Dṛṣṭipāhuda*, 13 *Evamtapāhuda*, 14 *Jīvapāhuda*, 15 *Joni* (*sāra*)-*pāhuda*, 16 *Karmavipākapāhuda*, 17 *Kramapāhuda*, 18 *Kriyāsārapāhuda*, 19 *Kṣapana* (*sāra*)-*pāhuda*, 20 *Labdhi* (*sāra*)-*pāhuda*, 21 *Loyapāhuda*, 22 *Nayapāhuda*, 23 *Nitāyapāhuda*(?), 24 *Nokammapāhuda*, 25 *Pañcavargapāhuda*, 26 *Payaddhapāhuda* 27 *Payāpāhuda*, 28 *Prakṛtipāhuda*, 29 *Pramānapāhuda*, 30 *Salamīpāhuda*(?) 31 *Samthānapāhuda*, 32 *Samavāyapāhuda*, 33 *Saṭdarśanapāhuda* 34 *Siddhāntapāhuda*, 35 *Sikkhāpāhuda*, 36 *Sthānapāhuda*, 37 *Tattva* (*sāra*)-*pāhuda*, 38 *Toyapāhuda*, 39 *Oghātapāhuda* 40 *Utpādapāhuda* 41 *Vidyāpāhuda* 42 *Vastupahuda* 43 *Vihiya or Vihavapāhuda*

2 See the discussion above p 17

MULĀCĀRA[1] It is an authoritative work on the conduct of Jaina monks, especially Digambaras Its Prakrit dialect, contents, Text etc are very important, and need careful study especially in comparison with *Nijjuttis* of the Śvetāmbara canon Vasunandi,[2] the Sk commentator, attributes its authorship to Vaṭṭakera I have come across certain South Indian MSS, quite genuine in their appearance, wherein the name of the author is given as Kundakunda, these MSS contain some additional gāthās As I am busy in collating and studying *Mūlācāra*-text, I do not want to be dogmatic on this point, let it be an open question at this stage

Ten-Bhaktis[3] —Prabhācandra, the author of *Kriyākalāpa* commentary, says in his commentary on *Siddha-bhatti* that all the Sanskrit Bhaktis are composed by Pūjyapāda and the Prakrit ones by Kundakundācārya[4] We are concerned here only with Prakrit Bhaktis The text of Ten-Bhaktis, as published, is not reliable for critical purposes, MSS are at variance as to the number of verses in particular Bhaktis As they are very little known outside Jaina circles, I intend to introduce them to the readers, particularly the Prakrit Bhaktis These Bhaktis, as they are available in MSS, open with five-fold salutation (*pamca-namoyāra*), *mamgala-sutta*, *loguttamā-sutta*, *saraṇa-sutta*, *sāmāïya-sutta* in Prakrit prose

TITTHAYARA-BHATTI It has eight gāthās in which salutations are offered to 24 Tīrthaṅkaras with the specific mention of their names Excepting the first verse it is common with Śvetāmbaras who generally incorporate it in their *Pañcapratikramana*[5] It is followed by Prakrit prose passages of [p. 27] *pratikramana* and *ālocanā* (*i e* confession and report of sins etc committed)

SIDDHA-BHATTI There is a good deal of uncertainty about the number of verses Here we get a discourse on Siddhas (*i e* the liberated souls), the classes of Siddhas, the way in which liberation is attained, the happiness and the abode of Siddhas It is concluded with an ālocanā prose passage in Prakrit.

SUDA-BHATTI It contains 11 gāthās and the concluding prose passage It opens with a salutation to Siddhas Then are offered salutations to twelve Aṅgas by name, the 12th Aṅga, *Diṭṭhivāda*, has five divisions Then follow the names of 14 Puvvas or Pūrvas, which, according to the commentator, are to be included in the fourth division of Dṛṣṭivāda The remaining verses give further division This Bhakti is important for the traditional division of early Jaina literature

CĀRITTA-BHATTI It contains some 10 verses of Anuṣṭubh metre It opens with a salutation to Vardhamāna Mahāvīra The Tīrthaṅkara, for the benefit of living

1 *Mūlācāra* with Vasunandi's Sk Commentary is published in MDJG vols 19 & 23, published with a Hindi translation and an alphabetical index of gāthās in Anantakīrti D Jaina granthamālā, Bombay 1919

2 He belonged to circa 12th century A D

3 An edition of Ten-bhaktis with the Sk commentary of Prabhācandra and the Marathi translation of Pt Jinadāsa has appeared from Sholapur, 1921, in my remarks on these Bhaktis I have used this edition, and, at times, I have consulted a Kannada MS, called *Kriyākalāpa*, from my collection

4 *Samskṛtāh sarvāh bhaktayah Pādapūjyasvāmi-kṛtāh prākṛtāstu Kundakundācārya-kṛtāh* / p 61, Sholapur ed

5 Compare p 3 of *Pañcapratikramanasūtrāni*, Bombay 1925

4

beings, has preached five-fold cāritra or conduct sāmāiya, chedovaṭṭhāvaṇa, parihāra-visuddhi, suhuma-saṃjama and jahākhāda-cāritta [1] Then are enumerated 28 mūla-guṇas and the uttara-guṇas for the monks The monk determines to avoid the breach of these vows There is the usual prose passage at the end

ANAGĀRA-BHATTI It contains 23 gāthās and there is a pross passage at the end Here prayers are offered to all great saints endowed with merits These saints, giving up the perverted view, have adopted the right one Then their detailed virtues, in the light of Jaina enumerative technicalities, are given into groups from two onwards upto fourteen These groups indicate a thorough cultivation of dogmatic details in the monastic community the members of which could easily grasp the details, when simply the groups are enumerated These group-enumerations are on a short scale when compared with those found in *Thānamga* and *Samavāvamga* of the Śvetāmbara canon This feature is seen even in Buddhist texts like *Anguttaranikāya* Then various penancial practices and achievements of monks are described The author entertains a pious desire that these prayers might bring him the destruction of miseries This Bhakti gives a good idea of the ideal conduct expected from a Jaina monk

ĀYARIYA-BHATTI It contains some 13 gāthās Here we get a description of an ideal preceptor, who initiates others on the path of liberation The great monks are described to be patient like the earth, pleasing like water, clean like the sky and undisturbed like the ocean Then follows the prose passage in which the aspirant salutes the five dignitaries with their characteristics, and concludingly expresses his aspirations

NIVVĀNA-BHATTI It contains some 27 gāthās Here we have an enumeration of Tīrthaṅkaras and holy personages with the places where they attained Nirvāṇa, to them and to those places salutations are offered This [p 28] Bhakti is important from the points of Jaina traditional mythology and geography In the prose passage we are informed that Mahāvīra Vardhamāna attained Nirvāṇa, at Pāvā, early in the moring, on Svāti-nakṣatra, at the end of the night of the 14th day of the black half of the month of Kārtika when there were still four years minus eight and half months (?) remaining of the fourth era [2] This passage is so similar in style that it can be put without any violation in the Śvetāmbara Jaina canon in a particular context.

PAMCAPARAMETTHI-BHATTI It contains 7 verses, the first six are in Sragviṇī metre treated as a Mātrā-vṛtta, and the last is a gāthā There is a prose passage at the end Here we get the eminent characteristics of five dignitaries, and the aspirant hopes for eternal happiness

Critical remarks on Ten-bhaktis —Thus we have eight Prakrit Bhaktis In the case of *Nandīśvara-Bhakti and Śānti-Bhakti,* we have only the concluding Prakrit

---

1 Compare *Tattvārthasūtra* IX, 18

2 The passage runs thus *imammi avasappiṇie caütthasamayassa pacchime bhāe āuṭṭha (addhaṭṭha?) māsahīne vāsacaükkammi sesakālammi Pāvāe ṇayarīe Kattiyamāsassa kiṇhacaüdasīe rattīe Sādīe ṇakkhatte paccūse bhayavado Mahadi Mahāvīro Vaddhamāṇo siddhim gado* /, that means the fifth era began 3 years and 3 months and a half after tha nirvāṇa of Mahāvīra Or *āuttha* might be taken as three and half as in Marāṭhī

passages without the Prakrit metrical Bhaktis, and there might be, I think, metrical *Namdisara* and *Samti-bhattis* that gives us the required number of ten The general outline of contents indicates that these Bhaktis are something like devotional prayers with a strong dogmatic and religious back-ground Unfortunately there is no critical edition, nay even a correct and readable edition, of the Bhaktis They are of utmost importance for the study of Jaina tradition, the Prakrit dialect and the contents also cannot be neglected A critical student will immediately detect two strata in Prakrit Bhaktis: the first stratum consisting of concluding prose passages and the next of metrical Bhaktis Both the strata cannot be from the same author and of the same age What is substantially found in prose portions is amplified in details in metrical Bhaktis The prose portions, when carefully read, remind us of closely similar passages in Śvetāmbara canonical texts, in their *Pratikramana* and *Āvaśyaka Sūtras* and texts like *Pamcasutta* [1] So here is a tract of literature which antedates the division of Jaina church, and it has been inherited, with modifications here and there, independently by Digambaras as well as Śvetāmbaras It is no use discussing the authorship of these prose passages, they form the traditional heritage of Jaina monks, and their age is as old as Jainism itself As to metrical Bhaktis, *Titthayara-bhatti* is common to both the sects, and that also must have been traditionally inherited The remaining Bhaktis, too, might have been composed mainly based on traditional knowledge, and as a matter of fact, they have an appearance of antiquity It is just imaginable that Kundakunda might have composed, or rather compiled, the metrical Bhaktis to explain and amplify the prose Bhaktis, which, too, as traditional relics, he retained at the end In the [p 29] course of amplification Kundakunda might have put together many suitable verses from early tradition as inherited by him Just to supplement the Prakrit Bhaktis and to keep pace with the growing popularity of classical Sanskrit among the Jaina monks, Pūjyapāda appears to have composed the Sanskrit Bhaktis, some of them are dignified in style, and especially *Siddha-Bhakti* is a masterpiece of logical acumen

DAMSANA-PĀHUDA [2] It contains 36 gāthās The main topic is the glorification of and discussion about Right faith or Samyagdarśana Ordinarily it consists in believing in the principles and categories preached by Jinas, and really speaking it is the (realization of) self itself (19-20) [3] It is the foundation of religion and the sure step to liberation (2, 21) In its absence knowledge, conduct and austerities are not counted at their real worth (3, 4, 15 etc.) The bondage of karmic sand is washed away by the water-current of Right faith (7) Right faith forms the roots of the tree of virtue (10-11) Men of Right faith deserve respect in this world and attain glories in the next (2 etc) It is the false believer who feels no regard for and

1 Ed with English Introduction, Critical Notes containing extracts from Haribhadra's Commentary and English Translation by A N Upadhye, Kolhapur 1934

2 The Eight-pāhudas, *Damsaṇa* to *Sīla-pāhuda*, *Rayaṇasāra*, and *Bārasa-Aṇuvekkhā* are published in MDJG vol 17, the first six pāhudas with the Sk commentary of Śrutasāgara and the rest with only Sk chāyā

3 In giving the analysis of Pāhudas etc I have given, whenever convenient, the Nos of gāthās in brackets, this summary incorporates a free rendering, and not a literal translation, of some of the gāthās

envies the natural condition of the monks (24) Virtues are no virtues, if they are not well founded on Right faith (27) In short Right faith means an attitude of pure manifestation of consciousness (28), and, when human birth is obtained, one should not lose the opportunity of achieving Right faith by devotion to Jinas (34 etc)

CĀRITTA-PĀHUDA It has 44 gāthās The main discussion is about the cultivation of Right conduct which is quite essential for the attainment of liberation (9), it is twofold with reference to Right faith and Self-control (5) The first should be endowed with eight virtues *nissamkiya* etc (7 ff) A man of faith is on the path of knowledge and avoids sinful acts (14) He sees the reality, realises it in its twofold aspects and avoids the breach of conduct, and thus he becomes free from karmas (17-18) The second, namely self-control, is of two kinds one for householders who have still some paraphernalia (*Parigraha*), and the other for houseless monks who have no *parigraha* at all (20) The conduct of a layman is divided into eleven stages *damsana-vaya* etc , and consists in the practice of five *anu-vratas*, partial vows, three *guna-vratas*, virtual vows, and four *śikṣā-vratas*, disciplinary vows, which the author defines in detail (21-25) The conduct of a monk consists in curbing five senses, in observing five full vows, in cultivating 25 *kiriyās* (the same as *bhāvanās*, five attendant clauses of each vow) and in observing five *samitis (i e* the items of carefulness or regulation) and three *guptis (i e* the control of mind, speech and body) (27-36) He is a man of Right knowledge, discriminates Jīva from Ajīva, and he is on the path of liberation, if he rises above attachment and aversion (38)

[p 30] *SUTTA-PĀHUDA* It has 27 gāthās The contents of the sūtras are given by Arahantas, while for their proper textual form the Gaṇadharas are responsible, thus the contents are handed down from teacher to pupil (1-2) A needle with sūtra (*i e* thread) is not lost, so a man with (the knowledge of) sūtra (*i e* the sacred text) is not lost in saṃsāra (3-4) The purport of the sacred texts, as preached by the Jina, comprises various topics such as Jīva and Ajīva, of these the man of Right faith should discriminate which is acceptable (*upādeya*) and which is rejectable (*heya*), by studying this in its ordinary and realistic aspects, one attains happiness after destroying karmic dirt (6) Being devoid of scriptural knowledge, if one leads a life without control *(sacchamdam)*, sin is the only consequence (9) The unique path, leading to liberation, consists in giving up clothes and eating in the cavity of palms (10) The greatest regard (*vandanā*) is deserved by such monks who are self-controlled, free from sin, enduring 22 disturbances (*parīsaha*) and capable of destroying karmas, while other monks, endowed with Faith and Knowledge but still using clothes, deserve only formal greeting *(icchākāra)* (11-13) Even a hairpoint of paraphernalia is harmful to a monk, he eats only once the food offered in the cavity of his palms, he is in the state in which he is born *(jaha-jāya-rūva-sariso)*, and he never takes anything, not even the sesamum-husk by his hands (17 ff) The *nirgrantha* type is the best then comes that of a house-holder who is spiritually advanced (20-21) The ascetic emblem prescribed for women is that she takes meals once and has a garment which she retains even when she takes meals Women are forbidden from accepting severe types of asceticism such as nakedness, because they are constitutionally unfit there is a growth of subtle living beings in their organ of generation, between their breasts,

in their navel and armpits, their mind is fickle and devoid of purity, they have monthly courses, and they cannot concentrate undisturbed If they have faith, they go along the track possessed of the ascetic emblem noted above (22-25) When a man has to accept something, it should be in a little quantity, even though there is plenty of water in the ocean, only a small quantity is taken for washing purposes, those who are free from desires are free from miseries (27)

BODHA-PĀHUDA This pāhuḍa has 62 gāthās distributed over eleven topics which are enumerated (3-4) after the benedictory verses (1-2) 1 *āyadana* (Sk. *āyatana*), spiritual or religious support or resort. The great saint, who is self-controlled in every way, who has curbed the passions etc, who is endowed with five great vows, and who, possessed of knowledge and pure meditation, has realised his self, is a religious resort or support (5-7) 2 *cedīharam* (Sk *caitya-gṛham*), holy edifice· The soul, constituted of knowledge and pure with five full vows, is itself the holy edifice, according to the Jaina creed it is beneficial to six kinds of embodied beings, it serves as a means for bondage and liberation, for happiness and misery according to individuals devoted thereto (8-9). 3 *padimā* (Sk *pratimā*), image or idol The image to be worshipped represents a bondless and passionless condition, when movable, it is that of a great saint, otherwise that of a Siddha who is [p 31] endowed with infinite quaternity (*ananta-catuṣṭaya*), who is bodiless and free from eight karmas and above disturbances (10-13) 4 *daṃsana* (Sk *darśana*) Darśana is a comprehensive term comprising faith, knowledge and conduct, and shows the path of liberation As a flower is constituted of scent, milk of ghee, so darśana is materially or corporeally constituted of Right knowledge (14-15) 5 *Jinabimba* (Sk *Jinabimba*), the idol of Jina or Arhat: It represents an embodiment of knowledge, control and passionlessness, it bestows initiation (into the order) and instruction, and serves as a cause for destroying the Karman, it deserves worship and respect (16-18) 6 *Jinamuddā* (Sk *Jinamudrā*), the image or appearance of Jina It is such that therein the activities of senses and passions are sealed with knowledge and unwavering self-control (19) 7 *nāna* (Sk *jñāna*), knowledge or enlightenment An ignorant person, like an archer without the bow, cannot hit the target of liberation He, who has the bow of firm mind, with a string of scriptural knowledge, has the arrows of triple jewel and has his attention set on the highest object, will never miss the course of liberation (20-23) 8 *deva*, the divinity: The great divinity who is free from delusion bestows on liberable souls (*bhavya*) the Dharma which is pure with compassion and asceticism which is free from all attachments (24-25) 9 *tittha* (Sk *tīrtha*), the holy resort The pure Dharma, faith, control, austerities and knowledge—these are the holy resorts, and therein the great monks should take bath in the from of *dīkṣā*, initiation into the order, and *śikṣā*, instruction (26-27) 10 *Arahanta* (Sk *Arhat*), Jina, the worshipful one The nature of Arahanta can be meditated upon from various points of view He is above birth and death and their antecedents, and his description should be viewed from the points of *guṇa-sthāna*, *mārgaṇa-sthāna*, *paryāpti*, *prāṇa*, *jīva-sthāna* etc (28-36) His physical existence, in that stage, is above bodily defects and diseases (37), his flesh and blood are white, in short he is endowed with various abnormal excellences (38 41) 11 *pavvajjā* (Sk *pravrajyā*), asceticism Here the author describes the nature of

pravrajyā, and thereby we get a glimpse of an ideal monk The monk should wander about being endowed with five full vows, controlling his senses and devoted to study and meditation without any desires He should be free from attachment, conquer 22 parīsahas, be without passion and abstain from sinful activities Friends or foes, praise or abuse, gain or otherwise, grass or gold, all these he looks upon with equanimity He is free from disturbing factors, internal or external He is above delusion and has come to possess virtues like faith, austerities, vows and self-control (44-47, 50, 53 56, 58 etc) He is naked in the form in which he is born, he wanders calmly with his arms hanging and with no weapons, and he pays no attention towards his body (51-52) He keeps with him neither internal nor external paraphernalia even to the extent of sesamum-husk (55), he does not keep company of beasts, women, eunuchs and bad characters, he never enters into unhealthy gossip, but always applies himself to study and meditation (57) He lives in deserted houses, under the trees, in parks, on the burial ground, on the top of mountain, in a mountain cave, in a dreadful forest [p 32] or in a dwelling place which is not specially built for him (42, 51 etc, 43 is very obscure), stones, wood, bare ground, all these he uses for seat and bed (56) He receives food everywhere with no consideration of good or mediocre, poor or rich houses (48) The last two gāthās can be freely translated thus That which was preached by Jinas came to be converted into words in the sacred texts in (a particular) language, the same, as (it was traditionally) understood, has been similarly preached by the disciple of Bhadrabāhu Success to lord Bhadrabāhu, who is *suya-nāni*, a teacher knowing the text and meaning, and who knows the twelve Angas and the wide extense of fourteen Pūrvāngas

BHĀVA-PĀHUDA The total strength of this pāhuda is 163 gāthās, and there are some additional gāthās also The main current occupies a good deal of glorification of and some discussion about *bhāva*, which, here, means the purity of psychic state (*parināma-suddhi* as in 5) This bhāva is primarily of three kinds. pure, auspicious and inauspicious (75 + 1-3) It is *bhāvalinga* that is of utmost importance, and not *dravyalinga*, in the case of an ascetic, it is the purity of mind that makes one virtuous or vicious (2) A bhāva-lingī sādhu is free from attachment for body etc and completely immune from vanity and passions, and he concentrates himself on his self (56, the way in which he concentrates is shown by those popular gāthās 57-60) A monk should become naked from inside by giving up false faith and other flaws, and then he becomes automatically a naked monk according to the commandment of Jina (73, 54) Nakedness without the purity of mind is of no value at all (55)

It is due to the absence of bhāva that the soul has wandered and is wandering in infinite samsāra constituted of four grades of existance (*gati*), experiencing myriads of miseries and passing through various vicissitudes of utmost agony, accidental, mental, natural and physical, therein the soul is acting under *kāndarpī* and other motives and is busy with four kinds of unhealthy gossip (7-17) The number of births undergone is so great that the milk drunk from mothers' breasts might fill an ocean, and so the tears of mothers (19-21). Many bodies were accepted and given up, and the duration of life came to an end due to poison etc (24-25) All things in this world were tasted and much water drunk, but still there is no satisfaction

(22–23) Because of the absence of bhāva, the soul has wandered everywhere, dying various wretched births, dwelling in the dirt of maternal wombs and eating dirty fluid in childhood (31-41 etc) Bhāva is the potent means to effect the destruction of saṃsāra

The glories of bhāva are untold Various virtues, religious practices, austerities, scriptural study and knowledge all these are simply a farce in the absence of bhāva (20, 4, 5, etc 70 etc 87 etc 97 etc 105 etc 125 etc) This possession of bhāva brings manifold glories to the soul (126 etc) As long as there is some ability, one should try to cultivate the purity of mind and heart by undertaking various religious practices (130 etc) There are 363 [p 33·] heretical creeds (*kriyāvadin* etc) which should be given up, and one should be firm in Jainism (135, 140)

When there is no bhāva, passions actully ruin the spiritual destiny of the soul Bāhubali's spiritual progress was hindered by his vanity, even though he had no attachment for his body On account of *nidāna*[1] the saint Madhupiṅga could not be a monk, and the saint Vaśiṣṭha suffered misery (44-46) Bāhu, though a Jaina monk, burnt the town of Daṇḍaka due to the internal hatred and fell into the Raurava-hell, so also Dīpāyana, though a monk in appearance but devoid of real merits, wandered in infinite saṃsāra (49-50) Śivakumāra, though encircled by young ladies, could put an end to saṃsāra because of his heroic and pure mind Bhavyasena could not be a bhāvaśramaṇa (i e an ascetic with bhāva), even though he had learnt 12 Aṅgas and 14 Pūrvas, nay the whole of the scriptural knowledge, while Śivabhūti, whose bhāva was pure, attained omniscience by simply uttering *tusa-māsa* (51–3) [2] Even the fish Śālisikth, due to impurity of mind, fell into a great hell (86) A good man, when endowed with purity of mind, is not contaminated by passions and pleasures like a lotus-leaf by water (152) [3]

---

1 Nidāna is a sort of remunerative hankering, it consists in hankering after future pleasures and enjoyments as a remuneration of the penances etc practised in this life One, who wants to achieve an equanimous and peaceful voluntary submission to death (*sallekhanā*), must keep his mind free from the attitude of nidāna (*Sarvārthasiddhi* VIII, 37), which is also a kind of monomania or painful concentration (*ārtadhyāna*) (Ibidem IX, 33)

2 The words *tusa-māsa* symbolically stand for the concept that the body is absolutely distinct from the soul, like the husk from the bean, Śrutasāgara gives a story on this gāthā, and explains that phrase thus *tuṣān maso bhinna iti yathā tathā śarīrād ātmā bhinnah* |

3 I have put together, in this paragraph, the legendary references from *Bhāvapāhuda* It is necessary that all such legendary anecdotes, incidentally referred to in early Śvetāmbara and Digambara texts, should be put together to have a glimpse of the initial capital of Jaina myths Such references are found in Jaina texts like *Paiṇnas*, *Bhagavatī Ārādhanā* of Śivakoti, *Mūlācāra* etc A partial attempt in this direction, mainly confined to the *Païnnas* of the Śvetāmbara canon is already made by Kurt von Kamptz in his monograph '*Uber die vom Sterbfasten handelnden ältern païnna des Jaina-Kanon*', Hamburg 1929 I have listed alphabetically all the legends from *Bhagavatī Ārādhanā* of Śivakoti and I find that some legends are common with *Maraṇasamādhi Paiṇṇa* of the Śvetāmbara canon Thus, many of these legends antedate the division of the church, and they are independently preserved by Digambaras and Śvetāmbaras

In order to get rid of the karmas one should reflect on the nature of the self which is an embodiment of knowledge and consciousness it should be known to be without the qualities of taste, colour, smell, touch and sound, it is sentiency itself, it is beyond inferential mark, and it has no definable shape (61 etc 64) But from times immemorial the soul is bound by karmas of eight kinds, to the stock of which additions are made by various causes of karmic bondage such as *mithyātva* etc (146 etc, 115), this karman can be destroyed by religious practices accompanied by purity of mind Karman is the cause of saṃsāra There cannot be a sprout, when the seed is burnt, similarly when the seed of karman is burnt, there can never be the [p 34] sprout of transmigration for those monks who have purity of mind (124) Dharma, as preached by Jinas, consists in self-concentration of a pure type free from all the flaws like attachment etc (83, 119 etc), and it is thereby that the saṃsāra is crossed (83) As long as the self is not realised, liberation cannot be attained, even though myriads of meritorious deeds are done (84)

This very soul becomes the higher self, when it is completely free from karmas, and comes to be designated as Jñānin, Śiva, Parameṣṭhin, Sarvajña, Viṣṇu, Caturmukha and Buddha (149) The preeminent path leading to this state of unending bliss and knowledge consists in the cultivation of triple jewel Right faith, Right knowledge and Right conduct (30-31) The cultivation of these jewels includes, at various stages, various detailed virtues, to wit reflection on five kinds of knowledge (65), giving up passions, pleasures and *no-kaṣāyas* (76 etc 89); thinking over *ṣodasa-kāranas* which incur Tīrthaṅkara-nāma-karman (77) practising twelvefold penance and reflecting over 13 kriyās (78), practising faultless asceticism and observing twofold control, sleeping on the ground, abandoning five kinds of clothes without minding the *parīsahas* (79, 92 etc), constant study of scriptures whose contents are preached by Tīrthaṅkaras and which, in their textual form, are composed by Ganadharas (90), reflection on 12 *anuprekṣās*, 25 *bhāvanās*, seven principles, nine categories and the groups of Jīvas at various stages of Gundasthāna (94-95), practice of nine kinds of celibacy, giving up ten kinds of coition (96), accepting only the prescribed food (101), observing five kinds of discipline (*vinaya*) and 10 kinds of *vaiyāvṛtya* (102-3), accepting four external liṅgas only after there is internal purity (109), not to desire for fame and glory, but simply to practise primary and advanced virtues (*mūla* and *uttara-guna*) (110-11), etc etc [1]

In short, says the author in conclusion, Artha, Dharma, Kāma and Mokṣa proceed from purity of mind (162)

MOKKHA-PĀHUDA It contains 106 gāthās The aim of the author is to discuss about the Higher self, realizing which souls attain liberation (1-3) The self is of three kinds the external represented by sense-organ the internal represented by psychic states and the Higher represented by that divinity free from karmic stains etc (4-6) The aspirant, who has a liking for and who has grasped the words of Jina and has consequently avoided unhealthy activities, should give up all that is external

1 I have almost heaped these technical details in this paragraph only to indicate what an amount of technicalities the author handles, sometimes he explains them, but in majority of cases he takes it for granted that his hearers or readers are already acquainted with them

and be introspective, so that the Higher self might be realized (33, 38, 7 etc) It is through sheer ignorance that this body is looked upon as self (10 etc) *Para-dravya*, or the object external, is that which is (absolutely) different from the nature of the self, it may be living, non-living or an admixture of both *Sva-dravya* is the self itself which is pure, free from eight Karmas, and an embodiment of knowledge (17 18) Those, who discriminate between them and give up the external, attain liberation following the path of Jinas (19)

[p 35] The difference between the self and the Higher self is similar to that between ore and gold (24) When external objects are avoided and the Higher self is meditated upon, the self reaches the stage of Higher self (7 etc) Being free from pleasures and passions one should adopt jina-mudr*ā i e*, the appearance of a true Jaina saint (46-47) and begin meditating on the Higher self (48) To achieve a successful meditation a thorough cultivation of three jewels is quite necessary (34, 36, 37, 90 etc) A crystal looks distorted in colour, when it is put near some foreign substance, so is the case with the soul Unwavering and unruffled equanimity must be established in the spiritual states, then the self is itself, just on the point of evolving the Higher self (49-51, 83 etc) Meditation is a potent means to self-realization (26 etc) When an aspirant is steeped in meditation, unmindful of his daily routine, he becomes free from Karmas, being firm in mind, faith and conduct he attains the highest state (48 etc 63 etc) Even a particle of attachment is a great adversary of self-realization, and hence all out-going inclinations must be completely stopped (69, 66 etc) One should meditate, firm like the mount Meru, on the real nature of the soul, which is an embodiment of knowledge etc (84, 86 etc) It is only the weak and undisciplined that complain that the present time is not proper for meditation Dharma-dhyāna is possible for monks today, and thereby better births, which anticipate liberation, can be acquired (73-78)

Right knowledge consists in discriminating Jīva from Ajīva (41); and the right knower is he who knows things as they are (58) There is tremendous difference between a man of knowledge and an ignoramous An ignorant person might spend many births practising severe penances to destroy the karman which can be destroyed, within a short time, by a man of knowledge who is controlled in three ways (53 etc) This right knowledge, coupled with austerities, leads one to liberation, one without the other is fruitless (59) A monk should abstain from all external activities, and concentrate on the real nature of the self ever maintaining his primary virtues etc (91 etc) The self alone is the resort or shelter, because therein are seated the five dignitaries (104)

The doctrine of Jina about bondage and liberation is, in short, that one who is attached to objects external is bound, while one who abstains from them gets rid of manifold karmas (13)

LINGA-PĀHUDA It contains 22 gāthās In the case of a monk, it is the *bhāva-linga* that is important, mere external appearance (*dravya-linga*) will not make one a true monk (2) A monk, if he is sinful even after accepting the emblem of a Jaina monk, ridicules the standard of asceticism and ruins his co-monks (3). If he sings and dances, is anxious and disturbed, is attached for meals, harms the earth-bodied beings and plants, and loves ladies and hates others, he is no more a monk

but a beast full of deceit and treachery and devoid of discipline and conduct (4-5, 12, 15-18) If a monk is unchaste, full of vanity, taking part in worldly activities and sins, and violates the religious virtues, he is destined to go to hell (6, 9, 10 etc) [p 36] In a monk's appearance if one is unchaste, given to sinful thought, runs after and quarrels for food, one wanders long in *samsāra* (7-9) He is not a monk, though an ascetic in appearance, but a thief, who takes things unoffered and blames others (14) An ascetic, who eats at a harlot's and praises that food, acts like a fool, and is not a true monk (21)

SILA-PĀHUDA It is a discourse, in 40 *gāthās*, on *Śīla* meaning conduct, character especially chastity Knowledge and chaste life are not incongruent, if chaste conduct is wanting, objects of senses ruin that knowledge (2) Knowledge unaccompanied by chaste conduct, asceticism without right faith and austerities without self-control are all worthless (5) Even men of knowledge wander long in *samsāra*, because they are given to pleasures, but those who are chaste can easily put an end to *samsāra* after mastering the knowledge and practising austerities If a man of knowledge, who is given to pleasures, can go to liberation, why is it that Surattaputta, though knowing Ten-*pūrvas*, went to hell ? Knowledge, faith, austerities and conduct bring *nirvāṇa* for them who lead a chaste life (7, 9, 11 etc 30) It is not enough if grammatical, metrical, Vaiśeṣika, Vyavahāra (perhaps the same as Dharmaśāstra) and Nyāya *Śāstras* are studied (16),[1] to make human birth fruitful, a chaste life must be led, and thereby one is loved by gods (15-17)

Chaste life, or *śīla*, is an important factor of spiritual life, it has its attendant virtues like compassion to living beings, control, truthfulness, non-theft, celibacy, satisfaction, right-faith and knowledge (19) A dose of poison may entail death only once, but the dose of sense-pleasures involves repeated deaths and births in *samsāra* (22) *Śīla*, with its attendant virtues, like fire assisted by wind, burns the deposit of old Karmas (34), and then the soul becomes Siddha endowed with all the virtues (35)

Critical remarks on Eight-pahudas —It has been usual, possibly from the fact that *Srutasāgara* wrote a commentary *en masse* on six *pāhuḍas*, to take the six *pāhuḍas* in a group, and *Chappāhuḍa* came to be looked upon,[2] through mistake, as the name of a work of Kundakunda The last two *pāhuḍas* have not been, somehow or the other commented upon by *Śrutasāgara* Taking into consideration the six *pāhuḍas*, or even eight *pāhuḍas*, it is clear from the contents that each *pāhuḍa*

---

1 As the texts of these *Pāhuḍas* are not critically edited, and hence not definite, I have not taken into consideration the bearing of these *gāthās* on the date of Kundakunda, and, moreover the date of our author, whose works are of a compilatory character, will have to be settled on other broader evidences than stray references like these, for, as Dr Jacobi, in a slightly different context, puts it, 'Nothing is more common than that such details should be added as a gloss, or be incorporated even in the text, by those who transmitted it either in writing or in instructing their pupils' (SBE 22, Introduction pp, 39-40)

2 See W Denecke's essay in *Festgabe Jacobi*, p 163 etc, perhaps Dr Winternitz follows W Denecke in his *A History of Indian Literature*, (in English) vol II p 577, which has just reached my hands I am not aware of any commentary on six Pāhuḍas by Amṛtacandra though Dr Winternitz notes his along with that of Śrutasāgara

is meant to be an independent treatise Each pāhuḍa has a significant title which substantially indicates the main current of the subject matter, though, as usual in traditional texts, there is [p 37] always scope for side-topics In some of them like *Cāritt-* and *Bodha-pāhuḍa* the exposition of the subject matter is very systematic, while in others like *Sutta-* and *Bhāva-pāhuḍa* the contents appear to be merely compiled, that is why perhaps the ascetic emblem prescribed for women is included in *Sutta-pāhuḍa* The same topic, in these pāhuḍas, appears in places more than one: the discussion about liṅga is found in *Bhāva-pāhuḍa* and in *Liṃga-pāhuḍa* *Bhāva-pāhuḍa* is extensively varied in its contents, and it is important from various points of view so many Jaina technicalities are simply referred to, and the author takes it for granted that his hearers are already acquainted with them, the dogmatic property of Jainism must have been quite systematically arranged in numerical groups before the days of Kundakunda, otherwise his off-hand introduction of technical terms would be meaningless, the legendary references found in *Bhāva-pāhuḍa* indicate to the presence of many Jaina mythological stories already current at the beginning of the Christian era The manner of exposition, in all these pāhuḍas, is narrative and dogmatic, and the author never feels the necessity of logical defence of the principles he is enunciating, some times he takes resort to similes to make his appeal effective

I am perfectly aware that it is only on the ground of current tradition that Kundakunda is accepted as the author of these pāhuḍas, and no evidence is coming forth, nor there is anything in these texts, taken as a whole, which shonld preclude us from taking Kundakunda as the author of these works The texts of these pāhuḍas as utilised by me, could not be claimed to be critical, so there is every probability of ommissions and commissions of gāthās especially in such traditional texts W Denecke doubts Kundakunda's authorship, but he gives no definite reasons Dialectally he finds that six pāhuḍas are younger than *Samayasāra* etc, but this cannot be a safe guide, unless we are guided by critical editions The reason for the presence of Apabhraṃśa forms in these pāhudas, as compared with *Pravacanasāra*, I have explained in my discussion on the dialect of *Pravacanasāra* It is imaginable that traditionally compiled texts might be attributed to Kundakunda because of his literary reputation, but to prove this we must have some strong evidence potent enough to cancel the current tradition In conclusion I would say that these pāhudas contain many ideas, phrases and sentences which are quite in tune with the spirit and phrasiology of *Pravacanasāra*

These pāhudas have left great impression, a fact not unknown even to Śrutasāgara, on some of the later writers Pūjyapāda has composed his *Samādhiśataka*[1] in a systematic manner and with a stronger metaphysical tone mainly based on *Mŏkkhapāhuḍa* Joindu also shows, in his compositions, his close acquaintance with these pāhudas Many verses of Amṛtacandra remind us of the gāthās from these pāhuḍas from which he quotes also Guṇabhadra, in his *Ātmānuśāsana*,[2] follows closely many gāthās from *Bhāva-pāhuḍa* etc

1 Published in Sanātana Jaina Granthamālā (SJG) Vol I, Bombay 1905
2 Ibid, pp 52 etc

RAYANASĀRA , It contains 165 verses, of which one is a *dohā* and the rest are *gāthās* The author intends to give a discourse on the religious [p, 38,] duties of laymen and monks A man of right faith always preaches what is traditionally received from the Tīrthaṅkaras through Gaṇadharas (2) Right faith is the root of the tree of liberation, and it is twofold (4), in its absence no virtues can stand (47 etc), and it is a patent remedy against Karman (52) A man of faith is endowed with 70 virtues, and is devoid of 44 flaws (8, 7) The duties of a house-holder consist in giving gifts and in performing *pūjā*, and those of a monk in meditation and study (11 etc) Jinas should be worshipped, and the gifts should be given to recepients (*pātra*) who are of three kinds (15 etc , 123 etc) Pleasurable and happy equipments, here and in the next world, are all the fruits of *supātra-dāna*, like seeds giving good crops when sown in fertile fields (17-30 etc) That man, who appropriates for himself the wealth meant for *jīrnoddhāra, pratiṣṭhā Jinapūjā* etc , is sure to go to hell etc (32 etc)

Men without right faith have no discriminative faculty (40), are not devoted to religious duties, and do not meditate on the nature of the self (49 ff) As opposed to a man of right faith, who spends his time thinking over *vairāgya* and *jñāna*, the man of perverted faith spends his time in greed, wicked thoughts, laziness and quarrels Men of right faith are rare today, but still, as said by Jina, Dharmadhyāna is possible in the present age (57 ff)

Inauspicious mental attitude (*aśubha-bhāva*) is inclined towards wicked and irreligious channels of activities, while the auspicious one towards meritorious and religious ones, accordingly hell or heaven is the consequence (61, 65 etc) Auspicious attitude is attended with the suppression of passions etc , and consequently results into real self-control A *jñānin* immediately destroys his karman, and his achievements are varied (72-79)

Everywhere Bhakti or devotion is quite necessary, all the religious activities are fruitful, if one has regard or devotion towards his teachers (83 ff) Ascetic garb is a painful burden, if one is not directed towards self-realisation (88 ff) In order to realise *ātma-tattva* and *para-tattva*, in this age, study is a sure remedy, so one should devote oneself to the study of sacred texts which is as good as meditation (95) When one's mind is set on the Higher-self with mental, verbal and physical purity, karman is immediately destroyed (96) This is the province of a great monk who abstains from all unhealthy and irreligious activities, and absorbs himself in the self Those who are attached to paraphernalia, like a fly stuck in phlegm, have no hope of self-realization (106, 93 ff) Those monks who are self-willed, who do not live with a guru, and who, being of bad conduct, oppose the *sangha*, are a bane to Jainism (108) It is a great sin to dabble in worldly professions and to be attached to various items of worldly paraphernalia like *gana* and *gaccha* (109 etc) The monk should not eat anything according to his sweet will, but recieve only the proper food, which is put in the cavity of his palms (116, 120 ff) The penancial practices should be intelligent, and there should be no hankering after popularity, respect and gain (131 etc) Attachment is bondage and non-attachment is liberation, knowing this one should not be attached to *bahir-ātman* (134) There are so many things and relations which [p 39] constitute *bahir-ātman* and must be distinguished

from the real nature of the self (137-40) Realisation of the self is liberation, to achieve this end *jñānābhyāsa* is a great means, for the house-holder, however, 53 duties are prescribed (156-57ff) The three jewels stand for *gana* and *gaccha*, the various virtues mean *sangha*, and *samaya* is the pure soul, the great monk should not be attached to *gana* etc, but he should cultivate three jewels with its attendant virtues, so that he will soon attain liberation, (161 etc.)

Critical remarks on Rayanasara —The text of *Rayanasāra*, as a whole, is very badly handed down, from the footnotes which contain the results of the comparison of two MSS,, it is clear that the number and the sequence of gāthās are not definite, and they might further vary, if more MSS are collated There are repetitions of ideas, and the arrangement is not quite satisfactory, and this might be due to the disturbance of the text by additional gāthās It is conspicuous and not usual in the works of Kundakunda that in the middle we have a dohā and about half a dozen verses in Apabhraṁśa dialect So far as the present shape of *Rayanasāra* stands, it cannot be, as a whole, attributed to Kundakunda It is just possible that the ground-work may be his, even then some evidences to that effect must be produced. There are certain points which are not quite favourable for the authorship of Kundakunda, his name is not mentioned in the colophon, some verses are in Apabhraṁśa which is abnormal in his works, no doubt there are many common ideas, but there are certain social touches which are not met with in his other works, gaṇa, gaccha, saṅgha etc are referred to and a cryptic explanation is attempted, similes are found in his works, but the number of similes is very great here That Kundakunda is the author of *Rayanasāra* should remain, I think, a point *sub judice*, until some more evidences, one way or the other are coming forth

BĀRASA-ANUVEKKHĀ It contains 91 gāthās This work deals with 12 reflections[1] which should necessarily be cultivated for the stoppage [p 40] of karmic influx The following are the topics on which the monk is to reflect constantly 1, Various paraphernalia, relatives, physical strength and beauty etc, are all tran–

1 The twelve Anuprekṣās, for various reasons the foremost being that the reflection thereon is a cause of stopping the karmic influx and that a discussion about them includes many topics of Jainism, have proved a fascinating subject with Jaina authors that much space is devoted to them in many works, and besides even independent works have been written To note only a few *Mūlācāra* of Vaṭṭakera has its 8th chapter devoted to this, then Kundakunda composed or compiled his *Bārasa-Anuvĕkkhā* which has much, even some gāthās, common with the above chapter, about 150 gāthās are devoted to this topic in *Bhagavatī Ārādhanā* of Śivakoṭi (the text mentions his name as Śivārya), in the Śvetāmbara canon, for instance, some 70 verses cover these topics in *Maranasamādhi Paiṇṇa Bārasa Anuvĕkkhā* of Kumāra or Kārttikeya (circa 8th century A D) contains 489 gāthās and is solely devoted to 12 anuprekṣās, Śubhacandra in his Sanskrit *Jñānārnava*, devotes about 195 verses to Anuprekṣās Digambara authors like Amitagati Somadeva and Padmanandi have discussed these anuprekṣās in their works, among the Śvetāmbaras too, works like *Dvādaśabhāvanā*, (*Jaina Granthāvali* p 180), *Bhavanāsamdhi-prakarana* (*Annals* of the B O R I vol XI i) are current Dhavala, in his *Harivamśapurāna* (Apabhraṁśa) refers to some work on Anuprekṣā by one Simhanandi which is not discovered, so far as I know, anywhere In Kanarese, Hindi and other vernaculars, too, works devoted to Anuprekṣā are composed both by early and modern authors

sitory, the soul alone is eternal and above all these (1-7) 2 No external things like gems, medicines, armies and weapons can rescue the soul from death, the only shelter is the self itself which is the seat of five dignitaries and an abode of Right faith, knowledge, conduct and austerities (8-13) 3 The soul is alone, alone responsible for the fruits of the acts done (14-20) 4 Relatives, friends and this body, all these constitute the object external, and are absolutely separate from the soul which is an embodiment of faith and knowledge (21-3) 5. The soul is wandering in samsāra suffering many miseries with false motives and pretended attachments, the soul, when it is free from karmas, gets out of samsāra (24-38) 6 This universe is threefold with hells below and heavens above that are the consequences of inauspicious and auspicious manifestations of consciousness, when there is pure manifestation liberation is attained (39-42) 7 Everything in this world is impure and the soul alone, when free from karman, is pure and an abode of eternal happiness (43-46) 8 Mithyātva, vowlessness, passions and various activities are the causes of karmic influx which is the cause of samsāra, so these causes should be removed 47-60) 9 Such religious activities, which counteract the karmic influx, should be reflected upon (61-65) 10 Further the twofold way of shedding the karmic matter should be considered (66-67) 11 Then 11 *pratimās* of a house-holder and 10 *dharmas* of a monk should be considered, the internal and external attachment should be given up, and one should meditate on the pure nature of the self (68-82) 12 Enlightenment is rare, so one should reflect on the means of attaining it (83-86) Reflection on these 12 topics is spiritually fruitful, and leads one to liberation The subject has been thus treated, from ordinary and real points of view, by the preceptor Kundakunda (87-91)

Critical remarks on Barasa Anuvekkha—The text of *Bārasa-Anuvekkhā* is not definite, as I have seen from comparison the number of gāthās varies from MS to MS, even the last gāthā, in which Kundakunda s name is mentioned is not found in some MSS Whether the last gāthā is composed by Kundakunda or not cannot be said at this stage, but this much is certain that the tradition is uniform in attributing this work to Kundakunda There is an appearance of antiquity about the text some of the gāthās are common with the 8th chapter of *Mūlācāra* which possibly indicates that these verses are traditionally inherited, five gāthās from this work are quoted, in the same order, in *Sarvārthasiddhi* by Pūjyapāda, and the method of exposition is quite traditional and dogmatic Many ideas and even sentences from this book are taken and elaborated in later texts on anuprekṣā

NIYAMASĀRA[1], It contains 187 gāthās according to the text preserved [p 41] in the Sk commentary of Padmaprabha Maladhārideva The author has composed,

1 Published by Jaina Grantharatnākara Kāryālaya, Bombay 1916, this edition is accompanied by the Sk commentary of Padmaprabha Maladhārideva and a Hindi translation of the same by Br Shitalprasadaji Ed with English translation etc by Uggarsain, S B J vol IX, Lucknow 1931 As to the date of Padmaprabha, I would indicate here only the tentative limits of his age In the introductory verses he mentions Siddhasena, Pūjyapāda, Bhaṭṭākalaṅka and Vīranandi-vratīndra It is necessary to see who is this Vīranandi We know two Vīranandis, one the author of *Candraprabhacarita* who flourished earlier than 1025 A D, as Vādirāja refers to him in his *Pārśvanāthacarita* composed in that year, the second Vīranand i, the

ollowing the words of Jina, this work as an excuse for self-meditation His aim is o give some essential discussion on Three jewels which necessarily (*niyamena*) form he path of liberation (2-4) Right faith consists in believing in *āpta, āgama* and *tattvas,* ifter the description of the first two (5-8) follows the detailed discussion about the tattvas or principles of Jainism Jīva is described with regard to its two *upayogas* and its natural and abnormal modifications (10–19), then further are discussed non-sentient principles, namely, matter, dharma, adharma, *ākāśa* and kala, with Jīva they are called six substances, and the same are known as *astikāya,* when time or kāla is excepted (20-37) t is the duty of the soul to relinquish the objects external and pursue its own nature, since every soul, from the point of view of initial purity, is a Siddha itself (38-51) This Right faith is devoid of perverted motives

Right knowledge is free from doubt, perversity or delusion and vacillation, and it consists in the correct understanding as to what is acceptable and what is rejectable (51-52)

Right conduct, from the *vyavahāra* or ordinary point of view, consists in observing five Mahāvratas, five Samitis and three Guptis, all of which are precisely defined (56-68), this topic is concluded with some remarks from the *niścaya* point of view (69-70) and with the description of five dignitaries, *viz*, Arhat, Siddha, Ācārya, Upādhyāya and Sādhu (71–75) Then, in order to confirm the aspirant in his *bhedābhyāsa* or *bheda-vijñāna* (77-82), a discussion about Right conduct from niścaya-naya is set forth mainly describing the *āvaśyakas* (with their attendant reflections) such as Pratikramana (83–94), Pratyākhyāna (95-106), Ālocanā of four kinds (107–112), Kāyotsarga (119-123) (these two being the forms of *prāyaścitta* 113–118), Sāmāyika (124–133) and Parama bhakti which is two-fold Nirvṛti and Yoga bhakti (134-140) An exposition on āvaśyaka, which is defined as *avasassa kamma āvassayam,* is given from the realistic point of view These rites like pratikramana etc lead a monk to *vītarāga cāritra,* passionless conduct, these are verbal rites, and one should exert one's utmost to convert them into meditational ones, the practice of āvaśyakas leads to self-realization (141–158) attended with omniscience wherein *darśana* and *jñāna* are simultaneous, just as light and heat are simultaneous in the Sun [1] Omniscience is not merely self-illuminating, but it [p 42.] illuminates, at the same time, other objects as well, in fact it is the essential nature of the soul The various activities of an omniscient do not involve any further karmic bondage, at the termination of his age, with all the karmas tracelessly destroyed, the liberated soul shoots up to the top of the world (*loka*), where he halts eternally because of the absence of any cause for movement, and enjoys unparallelled eternal happiness (159-183)

author of *Ācārasāra,* comes much later and belongs possibly to the first half of the 12th century A D, Further in the light of Nidugall inscription (*EC*, XII, Pavugada Nos 51-52) of about 1232 A D, I would say that Padmaprabha was a pupil of this second Vīranandi, so he might have flourished about the middle of the 12th century A D It remains to be seen, however, as to what data would be supplied by various works referred to and by different quotations in his commentary

1 Simultaneity of jñāna and darśana in an omniscient is upheld here, Siddhasena, too, in his *Sammatitarka* II, 3 ff, accepts this very position, while Jinabhadra-kṣamāśramana (*Viśeṣāvaśyakabhāṣya* 3132 ff) and a host of other Śvetāmbara authors, following their Canon, especially *Nandi*, *Prajñāpanā* and other texts, say that jñāna and darśana in a Kevalin are *kramena*, step by step, and not *yugapat* or simultaneously

Critical remarks on Niyamasara—That Kundakunda is the author of *Niyamasāra* is accepted on the authority of Padmaprabha, the only known commentator of that work The discussion of subject matter is quite worthy of Kundakunda, and the whole atmosphere is quite in tune with other works of his The exposition of the subject matter is very systematic leaving aside some traditional verses here and there, as it would be clear from analysis For the division of the text into 12 śrutaskandhas, Padmaprabhadeva, the commentator, is responsible, with all due defference to his high-flowing spiritual muse I must say that this division has no sanction from the original text, nor does it facilitate the understanding of the text in any way, the author, it appears, never intended to have any divisions in his work The composite character of the text, when read in the original, immediately impresses a reader, and in this respect it stands in contrast to *Bhāvapāhuda* This work contains some traditional gāthās which are found in his other works, and also in *Mūlācāra* So far as I understand the discussion Kundakunda s enumeration of Āvaśyakas is thus Pratikramaṇa, Pratyākhyāna, Ālocanā, Kāyotsarga, Sāmāyika and Paramabhakti, it is slightly different from the traditional enumeration,[1] wherein Ālocanā is absent, being possibly included in Pratikramaṇa which it precedes in actul performance,[2] and in place of Paramabhakti we have Stuti and Vandanā Kundakunda divides Paramabhakti into two types nirvṛti and yoga-bhakti, wherein can be the traces of Stuti and Vandanā Either Kundakunda did not want to stick to the traditional enumeration because he was discussing the subject from niścaya-naya, or he did not find any material difference between the two enumerations, or he incorporates, in this context, some early tradition The phrase *loya-vibhāgesu* in gāthā 17 does not refer, as I understand it, to any individual text but to a class of literatute of Lokānuyoga group, while in gāthā 94 the author decidedly refers to a text *Pratikramaṇa-sūtra* by name [3]

PAMCATTHIYA-SAMGAHA or *PANCĀSTIKĀYASĀRA*[4] It is the devotion towards the doctrine that has goaded the author to produce this [p 43] book for the further propagation and glorification of the creed He proposes to deliver a discourse on *samaya*, the contents are originally given out by Śramaṇa (Mahāvīra), and they lead the follower to liberation (2), *samaya* is defined as the *samavāya* or collocation of five astikāyas, *i e*, those entities that manifest, through numerous qualities and modes, their existence with extensive spatial points, *viz*, soul (jīva), matter (pudgala), principles of motion and rest (Dharma & Adharma) and space (Ākāśa),

---

1 *Mūlācāra* I, 22

2 *Mūlācāra* VII, 121 ff

3 *Padikamana-nāmadheye sutte jahā vaṇṇidam padikamaṇam* / etc

4 P E Pavolini, Il compendio dei cinque elementi—*Pamcatthiyasamgahasuttam* in *Geornale della Societa asiatica italiana*, vol 14, pp 1-40 Florence, 1901 with some remarks on the language, metre and MSS we get here the text edited with a summary of contents of each verse following Amṛtacandra's commentary, Ed with Amṛtacandra's Sk and Paṇḍe Hemarājajī's Hindi commentary in RJS, 1904, Ed a second time with the addition of the Sk commentary of Jayasena, RJS, 1914, Edited with an English translation, an original commentary in English and with philosophical and historical Introduction by Prof A Chakravarti in SBJ, Vol III Arrah, 1920, Edited with a Hindi rendering of Jayasena's Sk commentary by Br Shitalaprasadaji from Surat

of which the three worlds are an outcome (3-5) The same including time (*Kāla*) are designated as Dravyas which mutually interpenetrate and accommodate each other ever retaining their individuality, and which are so called because of their passing through various modes ever maintaining their existential character (6-9) Dravya or substance has substantiality or existence, is endowed with the triad of origination, destruction and permanence, and forms the substratum of qualities and modifications (10) Then follows a discussion on the mutual relation etc between substance, quality and modification, and the same is illustrated in the case of Jīva, in view of the doctrine of seven-fold predication (Saptabhaṅgī) (11-22) This introductory section (*Pīṭhikā*) is concluded with a discussion on Time, which is Dravya but not an Astikāya, from the real and ordinary points of view (23-26)

Then the author enumerates the special characteristics of jīva and discusses them in detail both in the transmigratory and liberated conditions The soul lives (30 ff), it is of the same size of the body it comes to occupy (33 ff), it has consciousness (38-39) which manifests into *jñāna* and *darśana* (40-52), it is the performer of actions (53-56) and is liable for the results thereof (57-67), and lastly the soul is potent When discussing about the *upayogas*, namely jñāna and darśana, the author deals with the relation between substance and quality stated from the Jaina point of view This discussion about Jīva is winded up with two cryptic gāthās on the nature of Jīva in its one to tenfold aspects (71-72) In the discussion about Ajīva the author gives various types of matter down to the primary atom, the nature of which is defined in detail (73-82) Then the two Astikāyas, Dharma and Adharma, the principles of motion and rest, are taken and their characteristic functions given with illustrations (83-89) After the discussion about Ākāśa we get some gāthās on the corporeal and non-corporeal aspects of these substances (97-99) Then Kāla is discussed, and the section is concluded with two benedictory gāthās (103-4)

After having discussed about substances (Dravya) and magnitudes (Astikāya), the author proposes to discuss the same as Padārthas or categories, thus shedding light on the path of liberation which consists in the cultivation of Right faith, Right knowledge and Right conduct, which are defined in short [p 44] (104-7) The author enumerates the nine categories (108) and discusses them serially Jīva, its nature and types are biologically viewed (109-23), Ajīva is defined, contrasted and its relation with Jīva discussed (124-30) Puṇya and Pāpa are defined, as *śubha-* and *aśubha-pariṇāma* which must be suppressed (131-34), auspicious attachment etc lead to meritorious, and careless conduct etc lead to demeritorious influx of karman (135 40), for the stoppage of karmic influx one has to rise above attachment and aversion (141-3), he, who has stopped the karmic influx, if he practises penances etc effects the destruction of karmas (144-6), it is the passionate and tainted *bhāvas* that lead to bondage (146-50), when the karmic influx is stopped and the deposit too is consumed the immediate result is liberation, wherein the soul has its innate and potential qualities completely developed (151-3)

In conclusion the author gives a beautiful appendix in which a discourse, in short, on liberation and the path of liberation is given from *vyavahāra* and *niścaya naya* (161 etc)

6

Critical remarks on Pancastikaya.—The text of *Pañcāstikāya*, as it is available today, is preserved in two recensions, one preserved in the Sk commentary of Amṛtacandra and the other commented upon by Jayasena, the former contains 173 gāthās and the latter 181, the majority of additional gāthās being found in the context of upayoga-discussion The division of the work into two Śruta-skandhas, with a *pīṭhikā* in the beginning and a *cūlikā* at the end, as proposed by Amṛtacandra, is quite proper, and helps the understanding of the text The concluding verses of the first Śruta-skandha (103-4) and the opening formula of the next might tempt one to say that these are two independent works put together by some other hand than that of Kundakunda, no doubt that the two Śruta-skandhas are meant to be independent sections, each throwing light on the other, but Kundakunda himself has brought them together in one work as indicated by the pronoun *tesim*, in the opening gāthā of 2nd Śruta, which refers to Astikāyas etc discussed in the first, so the arrangement is by Kundakunda himself

The word *samgraha* in the title indicates that it is mainly a compilation by and not a composition of Kundakunda, and there are indications in the body of the text that the author might have put together traditional verses when trying to discuss a topic in a connected manner· the characteristics of the soul are not discussed in the order in which they are enumerated in gāthā 27 etc as it is clear from the analysis, possibly due to the fact that the author might have collected together the traditional verses, in many places the topical discussion is disturbed by the same idea repeated, some gāthās (64 etc) are called Siddhānta-sūtrāṇi ,by Amṛtacandra, sometimes groups of gāthās, which are a compact body in themselves but have little connection with the context, are met with here and there (71-2), and the so called Mokṣa-cūlika is as good as an independent section So Kundakunda might have compiled this work out of the great range of traditional verses that he might have inherited from his teachers

[p 45] *SAMAYASĀRA*[1] The author opens his discourse with the definition of *sva-samaya* and *para-samaya* which respectively stand for the realisation of the self as identical with Right faith etc and with material karmas (2) When *ekatva* i e, the oneness of the self, is realized there is no bondage at all (3), and the aim of the author is to point out this *ekatva*, the same as *bhedavijñāna*, to the best of his ability (*sva-vibhavena*) (5) The ultimate aim of every aspirant is to realise the pure soul as a knower from the Niścaya-naya Just as we cannot make a barbarian (*mleñcha*) understand us unless talked to in his speech, so Vyavahāra point of view is quite necessary for the understanding of pure Niścaya view-point (7 etc), Vyavahāranaya helps the weak speech of ours, which is incapable of fully expressing the reality

1 Published with the Sk commentaries of Amṛtacandra and Jayasena in Sanātana Jaina Granthamālā, Benares, 1914, published with these two Sk commentaries and a Hindi commentary of Jayacandra in RJS, Bombay 1919, the text edited with Sk shade, English translation and commentary by J L Jaini in SBJ, vol 8, Lucknow, 1930, besides, Jayacandra's Hindi commentary which closely follows Amṛtacandra, has been published from Kolhapur, Bombay etc, Br Shitalprasada following Jayasena's commentary has written a Hindi commentary on this, and it is published from Surat.

(11 etc). The pure Niścaya view-point consists in realising the self as unbound and untouched by karmas, as one, stedfast and inseparable from its attributes and not united with anything etc The three jewels stand for that self, just as we know, believe in and follow a king, so also it should be with the self The soul must exert to sever all attitudes of attachment as I and mine, because the absolutely pure self cannot be anything other than itself It is not the body but the merits of the soul embodied therein that are to be praised So infatuation with the objects external must be conquered, exhausted and completely relinquished, the Jñānin then is liberated (14 etc)

Ignoramuses identify the soul with various other things not being aware that they are all forms of matter from which, really speaking, the nature of the soul is absolutely different, they babble in conventional modes of speech which cannot stand for the Truth Jīva has no material attributes, nor has it really to do anything with Jīva-sthānas and Guṇa-sthānas which are all occasioned by karman, it is only for practical purposes that they are predicated of the Jīva in its transmigratory condition If all these material states and entities are to be identical with Jīva, the differentiating line between spirit and matter will vanish out The adjuncts and classifications of Jivas are the outcome of Nāma-karman (39-68)

One must realise the difference between the soul and the karmic influx, and leave off the states of anger etc, remaining in which the soul is bound by karman When the danger of impurity is known, the soul refrains from the causes of *āsrava* Concentrating on the nature of the soul one should consider everything as extraneous The psychic states of the spirit and the karmic transformations are naturally related, really speaking the soul is the agent of its spiritual states wherein the material stuff is trasformed into [p 46] karman, it is only from the ordinary point of view that the agency of karman is attributed to the soul When the soul realizes itself as an embodiment of knowledge, there is no more bondage occasioned by Mithyātva etc If it is to be said that the soul is not bound etc, we are led to absurd positions either there is no saṃsāra or there is the illogical position of the Sāṃkhya doctrine (117 and 122) A Jñānin experiences psychic states of knowledge and the Ajñānin the opposite of the same One rises above various shades of view-points and statements, when he comes to realise the pure self (69-144)

Demeritorious and meritorious karmas can be compared with iron and gold fetters respectively, to get liberation one must be free from both It is necessary that attachment should be given up, and one should absorb himself in his pure self, otherwise all penances and religious practices are fruitless To believe in Jīva etc is faith, to grasp them is knowledge, and to avoid attachment etc is conduct, which together constitute the path of liberation, as they counteract Mithyātva, ignorance and passions (145-163)

Mithyātva etc., which are the psychic states of souls in transmigration, are the causes of karmic influx When the psychic state is free from passional tinge, there is no cause for bondage A ripe fruit fallen to the ground cannot stick back to the stalk, so the karman, when once completely destroyed, cannot involve the soul in saṃsāra A man of right faith because of his discriminative ability, is above bondage (164-180)

Gold, though heated, does not lose its yellow colour, so, though operated on by karman, the *Jñānin* does not leave his *jñānitva*, his aim is to discriminate the pure soul from passional states Being free from all attachments, when one concentrates oneself on his self, there is no more contact with karman and No-karman (181-192)

The pleasures etc of a man of right faith, because of the complete absence of attachment etc in his case, only exhaust his karmic deposit He has fully realised that his soul is only *jñāyaka* not to be identified with anything else Attachment etc, even to the extent of a primary atom, cause a great danger to self-realisation, even though one has mastered all the sacred texts One should absorb oneself in his self, which is an embodiment of knowledge, and thus be satisfied, that is excellent happiness A Jñānin, being free from attachment etc, is not rusted by karman, like a piece of gold thrown in mud, while the ignorant person is to be compared with a piece of iron A man of faith is endowed with *niśśankā* and other virtues, and is free from fear etc (193-236)

If a man, with his body besmeared with oil, stands in a dusty place and takes exercise of various kinds, he is coated with dust, similarly a man of false faith, passing through various states of attachment etc and acting in various ways, is bound by karmic dust On the other hand, when the oil is removed, the dust would not stick to his body inspite of his various exercises, so a man of faith, who is not at all attached to anything, though he acts in various ways, is not bound by karman One should be always indifferent to the effects of karman Really speaking bondage results from [p 47] impure thought-activity, whether a sinful act is committed or not Though the thought-activity proceeds from some object or the other, it is not the object but the thought-activity that is responsible for bondage (237-287)

A person, bounded in shackles, cannot get himself released, if he simply thinks of shackles without thinking of breaking them, so a man in saṃsāra must break the bonds of karman that he might be completely free The chisel of self-discrimination will help him to cut off these karmic shackles, and then the pure self is realised (288-307)

In the case of an Ajñānin the fruition of karman leads to further bondage, while the Jñānin feels spiritually light, when the karman gives its fruit It is wrong to accept absolute denial of agency in the case of Jīva as done by the Sāṃkhyas (340), because thereby the relation of cause and effect and of doer and enjoyer cannot be established The psychic states of attachment and aversion are seen in the soul and not in material objects It is the alert sense of absolute non-attachment that raises the soul to great heights of spiritual magnanimity Knowledge and self are prefectly identical, neither less nor more, nor knowledge can be found elsewhere, nor be identified with anything else Leaving all external emblems one should apply oneself to the pursuit of liberation and be ever absorbed in oneself, so that eternal bliss might be achieved

Critical remarks on Samayasara — *Samayasāra* is considered by the Jainas to be the best work of Kundakunda, and its contents, according to the orthodox opinion, are too sacred to be read by house-holders The reasons are quite plain the work deals mainly with spiritual topics such as *bheda-vijñāna*, the discussion is

from Śuddha niścaya point of view, and the Vyavahāra point is explained only to avoid possible misunderstandings, and lastly the spiritual statements from Niścaya-naya may prove socially and ethically harmful to the house-holders who are almost absolutely lacking in spiritual discipline The majority of the statements are in a reflective and meditational tone sometimes even in the first person The aim of the author is to impress on the readers that ignorance resulting from karmic association has barred many a soul from self-realisation, so every aspirant must rise above all attachment and realise the soul as absolutely pure, sentient, omniscient and completely distinct from lifeless stuff (ajīva). this is the highest pitch of Jaina spiritual teaching The author takes it for granted that his readers are already acquainted with Jaina terminology, and he goes on brooding over the real nature of the soul, sometimes distinguishing it from matter, sometimes discussing the nature of karman, its influx, bondage etc , and sometimes showing the way of stopping and exhausting the karman There is a simplicity and directness in his utterances which appear like the attempts of the author to express the incommunicable which he himself has experienced He is very fluent, jubilant and exhilarated, when he goes on reflecting on the pure nature of the self It is no wonder, therefore, if he has not cared for what is called systematic exposition seen for instance in his works like *Cāritta-pāhuda* He would repeat ideas and sentences just to make the topic [p 48·] more impressive Here and there, when the text is read without using the commentaries one feels that groups of traditional verses are intruding on the context indicating perhaps that many traditional verses were included, when this text came to be so shaped by Kundakunda

The author's reference to Do-kiriyāvāda in 85-6 is interesting, though it is not discussed in detail The tenet that the soul can be the agent of its psychic states and also of karmic modifications, is not accepted by Jaina philosophers In the Śvetāmbara canon, too, the Do-kiriyāvāda, in its various aspects, has been criticised, according to the Śvetāmbara tradition the promulgator of this creed was Ārya Gaṅga who flourished 228 years after Mahāvīra [1]

The next interesting reference is to the Sāṃkhya doctrine in gāthās 117, 122 and 340, by name The position of Puruṣa and his relation with Prakṛti are some of the weak stones in the structure of Sāṃkhya ontology Puruṣa being ever free can never be bound, it is the Prakṛti that is bound and liberated The question can be raised, if there is no bondage why talk of liberation, and if there is no real connection between Puruṣa and Prakṛti, how the false conception of such connection can rise ? It is these points, such as Prakṛti does everything and Puruṣa is neutral without doing anything, that are attacked The Jaina position is that the soul or spirit is the agent of various *bhāvas* or psychic states whereby there is the influx of karman leading to further bondage, when the karmas are destroyed, with their causes rooted out and the existing stock evaporated, the soul attains its natural purity constituted of eternal bliss and omniscience

The text of *Samayasāra* has 415 verses according to Amṛtacandra's recension and 439 verses according to that of Jayasena, it is not only the question of additional

1 See *Bhagavatī-sūtra* I, ix, sūtra 75, I, x, sūtra 18, II, v, sūtra 100 etc also *Viśeṣāvaśyakabhāṣya* 2424 ff

gāthās, but sometimes Jayasena preserves important and independent variants, the majority are gāthās there being only 4 anuṣṭubh verses in the 9th section Amṛtacandra divides the whole text into 9 Aṅkas with a *pūrva-raṅga* at the beginning and a *pariśiṣṭa* at the end, this division, though not sanctioned by the author, is helpful to grasp the contents of this, the biggest work of Kundakunda

The designation nataka discussed.—Though it has been usual to call *Pañcāstikāya*, *Pravacanasāra* and *Samayasāra* as Nāṭaka-trayī, it is, in fact, *Samayasāra* alone, whose contents refer to the drama of *saṃsāra* in which Jīve and Ajīva are the dramatis personae playing the role of *āsrava* etc, that is fit to be called a nāṭaka It is from this that all the three works which constituted the Prābhṛta-trayī came to be called nāṭakas Amṛtacandra appears to be the first to give this designation to *Samayasāra*,[1] and he wanted to make it more appropriate by various indications scattered all over his commentary, the introductory section is called Pūrva-raṅga, the work is [p 49] divided into Aṅkas or acts, dramatic terms like *niṣkrāntaḥ*, *praviśati* etc are used at the end and beginning of different chapters from the end of the 2nd chapter, and he uses, here and there, other terms quite usual in Sanskrit dramas Jayasena, too, adopts these terms, but he calls the chapters as Adhikāras

4. Pravacanasara of Kundakunda

a) Study of Pravacanasara

Pravacanasara in oriental studies—*Pavayanasāra* or *Pravacanasāra* of Kundakunda is a pretty popular work in Jaina circles, and copies of it would be found almost in every Digambara collection[2] but it is very lately, especially because the Digambaras were too reluctant to open their stores of books for others, that the MSS of it fell into the hands of orientalists Bühler knew its name as a sacred work belonging to the dravyānuyoga group of the Digambara literature[3] K B Pathak too referred to it as a work of Kundakunda[4] It was the late Dr R G Bhandarkar, that all round brilliant and stationary Dhruva star in the firmament of oriental learning, who, in his monumental report for 1883-4, gave some excerpts from *Pravacanasāra*, and gave also the analysis of it incorporating a translation too of a few gāthās, in conclusion he compared some of the Jaina tenets with those of Sāṃkhya Vedānta and Buddhism, and attempted a chronological evaluation

1 It is interesting to note that Amṛtacandra, with *Samayasāra* against his name, finds a place, as a play-wright in M Schuyler's *Bibliography of the Sanskrit Drama* p 24

2 I am very thankful to Prof H D Velankar, Wilson College, Bombay, from whom I learn that there are 8 MSS of *Pravacanasāra* at the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 1 at Arrah 2 at Mūḍabidri, 3 at Sarasvati Bhavana Bombay (2 of which are used for the present edition), 1 at Bhuleśvara Jaina Mandira, Bombay, and 6 at Terāpanthi Baḍā Mandira Jaipur Besides MSS of this work are available in Karanja collections (See *Catalogue of Sk and Pk MSS in C P and Berar* 1926) and also in local Maṭhas of Kolhapur and Beḷgola

3 *I A*, Vol VII, pp 28-9

4 *I A*, Vol XIV, pp 14-26, there is no work named *Prābhṛtasāra* though Pathak mentions it along with *Pravacanasāra*

of Jainism as a system Some of his conclusions were so striking that they received almost immediate attention of and were searchingly scrutinised and criticised by Dr. Jacobi,[1] and so far as I know, his criticism never appears to have been replied to by Bhandarkar, perhaps, he had no immediate occasion for that Further *Pravacanasāra* finds place in Strassburg collection of Digambara MSS, and is consequently noticed by Leumann [2] Pischel, in his comparative grammar of Prakrit dialects,[3] took a grammatical notice of the gāthās quoted by Bhandarkar and came to the conclusion that the dialect should be designated as Jaina Śaurasenī Later on, since its publication,[4] [p 50] *Pravacanasāra* invariably finds place in the list of important works of Jainism [5]

b) The Text of Pravacanasara

Text influenced by the commentary—Manuscripts of *Pravacanasāra* generally contain one or the other commentary along with the text for various reasons among the Digambaras the practice of studying Prakrit gāthās unaided by a Sk gloss has fallen out of use since long, the text as a whole is too difficult to be understood without a commentary, and lastly, there is already the bias that an authoritative work like *Pravacanasāra* should be studied with the help of a commentary, if a direct teacher is not available Even if some MSS without a commentary are available, they are so late in age that there is every possibility of their being copied from some MS with a commentary

Two recensions of the text—The text of *Pravacanasāra* is preserved in two recensions, one along with the commentary of Amṛtacandra and the other adopted by Jayasena and other commentators According to Amrtacandra it contains 275 gāthās divided into three Śrutaskandhas [6] each dealing with Jñāna-tattva, Jñeya-tattva and Caraṇa-tattva and containing 92, 108 and 75 gāthās respectively Jayasena, however, adopts the three divisions, calling them adhikāras, following Amrtacandra whose commentary was already before him when he wrote his, but according to him the number of gāthās is larger and comes to 311, each adhikāra containing 101, 113 and 97 gāthās respectively Thus it is clear that the recension of Amṛtacandra is shorter in each section, and of this Jayasena is quite aware [7]

---

1 SBE XLV, Introduction p 35 etc

2 *Wiener Zeitschrift für die Kunde des Morgenlandes,* Vol XI, pp 297-312

3 *Grammätik der Prākrit-Sprachen* in the Grundriss etc Strassburg, 1900

4 Edited in RJS, saṁvat 1969, published with Br Shitalprasāda's Hindi translation of Jayasena's commentary in three vols, Vīra saṁvat 2450-52, Surat, an English translation of *Pravacanasāra* was promised by the Jaina Literature Society, London, but is not published as yet [Since published]

5 Dr Winternitz (*Indian Literature* II, p 576) describes *Pravacanasāra* as a much prized book on Jinistic dogmatics psychology and eithics' Prof A B Dhruva (his Introduction to *Syādvādamañjarī* in Bombay, Sk and Pk series, p 80) describes it as a comprehensive survey of Jainism'

6 This Śrutaskandha division reminds us of similar divisions in *Acārānga* and *Sūtrakṛtānga* etc of the Śvetāmbara canon

7 See below the discussion about Jayasena's commentary,

Jayasena has a definite[1] text before him, and he has adopted it though the earlier commentator Amrtacandra, whom Jayasena follows in all the philosophical discussions, adopted a shorter recension Bālacandra, the *Kannada* commentator, follows Jayasena As to Prabhācandra, the copy of his commentary examined by me is defective, but it appears that his version of the text is nearer to that of Jayasena than that of Amrtacandra Thus Amrtacandra's recension is shorter and stands by itself

Criteria of textual criticism and the nature of additional gathas — It is very difficult to apply objective standards and settle whether particular *gāthā* might have been originally included in the text by the author himself or added later on, the compilatory character of Kundakunda's works nullifies the criterion whether a *gāthā* fits in a particular context or not, the available MSS are accompained by one or the other commentary, so [p 51] they are already under the bias of a particular commentary, and lastly whether a *gāthā* can be admitted in a particular context is sure to be a subjective criterion in works like *Pravacanasāra* It will be a reliable evidence that would make a particular *gāthā* of dubious authenticity, if the same *gāthā* appears in some other works in more fitting context, but that even is not conclusive, because so many traditional verses are likely to be independently inherited Under these circumstances the safer way would be to indicate the contents and the general nature of these *gāthās* in the longer recension and see what position they occupy in the text

Book I

19 *1 It is something like a gloss on the previous *gāthā* and does not disturb the context very much

52 *2 It is salutationary and comes at the end of a sub-section, it is not unusual in Kundakunda's works to find a salutationary *gāthā* even in the middle, see for instance I, 82

68 *3-4 These two come at the end of a sub-section, Arhat and Siddha are defined, and salutations to Siddha are offered

79 *5-6 The topic is continued by defining Deva, the second *gāthā* is salutationary

82 *7 Continuation of the salutation in the previous *gāthā*

92 *8-9 Concluding and partly benedictory *gāthās*

Book II

*1 The opening mangala which is almost indispensable

43 *2 When the author has said in the previous *gāthā natthi padesa tti kālassa*, one feels the necessity of further explanation, and it is fulfilled by this *gāthā*

53 *3 This *gāthā* gives the further divisions of four life-essentials mentioned in the previous *gāthā*, the absence of this *gāthā* would not disturb the text

1 At times Jayaseha gives alternative readings of the same gāthās and interprets them twice, see, for instance, II, 46-7

95 *4 This *gāthā* has some distant connection with the previous one, to a certain extent it disturbs the context, it is not included in Prabhācandra's commentary, and lastly it occurs in *Gōmmatasāra*, Karmakāṇḍa 163

108 *5 Concluding salutation to Siddha etc

Book III

17 *1-2 The point in the previous gāthā is amplified with an illustration, one feels that they are quite suited to the context

20 *3-5 Explaining the significance of abstention from *parigraha*, arguments against the use of clothing, gourd-bowl are put forth in these gāthās

24 *6-16 Discussing about non-attention towards the body, arguments against women attaining liberation are set forth, and the ascetic emblem of a nun is described [p 52]

26 *17 This *gāthā* tells us how a monk becomes negligent, I think it disturbs the context to a certain extent

29 *18-20 Discussing about the nature of faultless food of a monk, the faults of flesh are set forth

39 *21 It elucidates further the same idea that is being discussed in that context

68 *22 A bit of additional explanation, the context is not disturbed even if it is dropped, it occurs in *Pañcāstikāya* 137, where it is more fitting.

Classification and scrutiny of additional gathas—From the above analysis it would be clear that these gāthās can be grouped under three convenient heads first, gāthās containing salutation and benediction *viz*, I, *2, *4, *6, *7, *8-9, II, *1, *5, secondly, those containing explanation and amplification, *viz*, I, *1, *3, *5, II, *2 *3, III, *1-2, *18-20, *21, *22, and lastly, those containing additional information, *viz*, II, *4, III *3-5 *6-16, *17 In the first two groups there are some gāthās of a neutral character, *i e*,, even if they are dropped their absence would not be felt, and even if they are present they do not materially add to the contents of *Pravacanasāra* as a whole. So it is the last group which needs strict scrutiny The main criterion to be applied to the third group is whether the additional information given by these gāthās is or is not consistent with the contents of other works of Kundakunda, if there is any inconsistency, the gāthās will have to be looked upon as of doubtful authenticity, and, if the same contents are found in other works of Kundakunda, they can be treated as acceptable, because the repetition of an idea is not abnormal in works of traditional character The position of II, *4, especially in that particular context, is doubtful The remonstration against the use of clothes, in III, *3-5, is only an amplification of one of the 28 primary virtues (III, 4, 8-9, etc), and this subject is discussed in details in *Cārittapāhuda* (20 ff), *Suttapāhuda* (17 ff), *Bodhapāhuda* (51 ff,) and other works of his, so this topic is quite in tune with Kundakunda's discussions That women cannot attain liberation, as set forth in III, *6-16, is a topic which represents the Digambara view against that held by the Śvetāmbaras It is not only here, but also in *Suttapāhuda* (22 ff), that Kundakunda states his views almost in the same tone Further, even if it is taken that he is attacking Śvetāmbaras without mentioning their name there is no anachronism at all, because Kundakunda flourished as already seen, after this division in the

Jaina church The contents of III, *17 have nothing special, though the gāthā disturbs the context So, in conclusion, I do not find that there is any strong case against Kundakunda's authorship, as a composer or compiler, of these additional gāthās, excepting one or two gāthās whosh position I have detected to be dubious in that context

Critical light on the recension of Amrtacandra —Now the immediate question that confronts us is as to why Amṛtacandra does not include these gāthās in his commentary Textual fidality and literal translation are not the aims of his commentary, his commentary is like a *bhāṣya* where he wants simply to expound with additional touches and in a systematical manner the contents of *Pravacanasāra* If this is his aim, naturally he would not care [p 53] to admit those neutral gāthās which do not substantially contribute to the contents of *Pravacanasāra* This explains, to a certain extent, his omission of gāthās included under the first two groups, but still one desires that he should have retained gāthās like II, *1, 43 *2, III 17 *1-2, 29 *18-20 etc

Many early Prakrit gāthās have been followed by Amṛtacandra in his works Some of the gāthās, though not included by him in his recension of *Pravacanasāra*, are already known to him, as it is clear from the following comparison with the Sk. verses in his other works

1 *Pravacanasāra* II, 43 *2,
edāni pamca-davvāni ujjhiya kālam tu atthikāya tti |
bhannamte kāyā puna bahu-ppadesāna pacayattam ||
Cp, *Tattvārthasāra*[1] III, 4,
vinā kālena śeṣāni dravyāni Jina-pungavaiḥ |
pañcāstikāyāḥ kathitāḥ pradeśānām bahutvataḥ ||

2 *Pravacanasāra* III, 17 *1-2
mucchā parīggaho cciya ajjhappa-pamānado diṭṭho |
Cp, Puruṣārthasiddhyupāya[2] III, 12,
yā mūrcchā nāmeyam vijñātavyaḥ parigraho eṣaḥ |

3 *Pravacanasāra* III, 29 *18-9
pākkesu a āmesu a vipaccamānāsu maṃsa-pesīsu |[3]
saṃtattiyam uvavādo taj jādīnam nigodānam ||
jo pakkam apakkam vā pesīm mamsassa khādi phāsadi vā |
so kila nihanadi pimdam jīvānam anega-kodīnaṁ ||
Cp, *Puruṣārthasiddhyupāya* 67-8
āmāsvapi pakvāsvapi vipacyamānāsu māmsa-peśīṣu |
sātatyenotpādas taj jātīnām nigotānām ||
āmām vā pakvām vā khādati yaḥ spṛśati vā piśita-peśīm |
sa nihanti satata-nicitam pindam bahu jīva-koṭīnām ||

Further some of the gāthās not admitted by Amṛtacandra are very old ones, for instance III, 17 *1-2

---

1 Ed SJG Vol I
2 Ed in SJG Vol I, with Hindi translation in RJS Vira Samvat 2431
3 I understand that these gāthās are found in *Sambodhasaptati* of Ratnaśekharasūri who flourished in the 14th century A D

uccālıyamhı pāe ıriyā-samıdassa nıggamatthāe |
ābādhĕjja kulımgam marĕjja tam jogam āsĕjja || 1 ||
na hı tassa tannımıtto bandho suhumo ya desıdo samaye |
mucchā parıggaho ccıya ajjhappa-pamānado dıttho || 2 ||

Pūjyapāda quotes them in his *Sarvārthasiddhi* (VII, 13) along with the previous gāthā, namely, III, 17 of *Pravacanasāra*, Akalaṅka too quotes them in his *Rājavārtika*[1], and they are quoted in *Dhavalā* commentary[2] in the midst of some two dozen gāthās only a few of which are traced in *Pravacanasāra* Haribhadra also quotes them in his commentary on [p 54] *Daśaveyālıyasutta*[3] with the difference that his quotations have a Māhārāṣṭrī look, and that the last line is different These verses have a traditional appearance, and they might be traced to a tract of literature which was once the common property of Digambaras and Śvetāmbaras[4] There is no reason why Amṛtacandra should have left these verses some of which he has translated in his own compositions and some of which are pretty old and authoritative to both the sects, and it is not right to attribute motives to him, when the evidences are so meagre with us

Then there remain some of the gāthās of the third group, namely III, 20 ⁺ 3-5, 24 ⁺ 6-16 The contents of these gāthās go against the Śvetāmbaras who sanction a begging-bowl etc for a monk and who accept that a woman can attain liberation in the same birth My tentative conjecture is that Amṛtacandra was too spiritualistic to enter into sectarian polemics,[5] and possibly he wanted to make

1 *Tattvārtha-Rājavārtıkam*, Benares, p 275

2 Sholapur MS p 18ff

3 See Devachanda Lalabhai Series vol 47, p 25, the last line is read thus by Haribhadra *jamhā so apamatto sā ya pamāa tti nıddıṭṭhā|* Sīlāṅka, who quotes these two gāthās in his commentary on *Sūtrakṛtāṅga* (Āgamodayasamiti Ed p 39), has a few different readings in the first lines, and he quotes the last line in an altogether different form *anavajjo u payogena savvabhāvena so jamhā|*

4 I am driven to this bold surmise especially from the manner in which they are quoted in *Dhavalā-ṭīkā* That there are such verses which have been commonly inherited by Śvetāmbaras and Digambaras is quite clear from my remarks on Ten-Bhaktis etc These two gāthās as found in Digambara texts are in the same form so far as their dialectal appearance is concerned, while as quoted by Haribhadra they show an inclination towards Māhārāṣṭrī There is no doubt that the present Śvetāmbara canon has leaned towards Māhārāṣṭrī from Ardhamāgadhi because of the constant handling of Ardhamāgadhi texts in a country where Māhārāstrī was popular A comparison of such common verses between the early Śvetāmbara canon and early Digambara texts would help us to have a glimpse of original Ardhamāgadhī. I am sure the counterparts of these two gāthās might be traced in the Śvetāmbara canon especially *Paīnnas* and *Nijjuttıs*, it is pity that most of them are not within my reach

5 The suggestion that he might have been a Śvetāmbara does not hold water for various reasons, he accepts the 28 Mūlaguṇas which include nudity (III, 8), he does not protest against the phrase *jaha-jāda-rūva* (*i e* nudity, see *Uttarā*, 22, 34) of a monk (III, 4, 6, 25), and lastly he puts those, *i e*, the Śvetāmbaras, who hold that an omniscient can be Nirgrantha even with clothes and can take food in morsels, under Viparīta-mithyātva (*Tattvārthasāra* V, 6), the verse in question runs thus

sagranthopı ca nırgrantho grāsāhārī ca kevalī |
rucır evamvıdhā yatra vıparītam hı tat smṛtam ||

his commentary, along with it the sublime utterances of Kundakunda, acceptable to all the sects by eliminating the glaring and acute sectarian attacks

c) Summary of Pravacanasara[1]

Book I

The author offers salutation to Vardhamāna, to the remaining Tīrthaṅkaras, to the liberated souls and the great saints collectively as well as individually, [p 55] and lastly to the contemporary Tīrthaṅkaras in the Mānuṣa region, then he declares his intention to adopt equanimity after entering the order of ascetics whereby is attained liberation, the path to which consists in Right faith, knowledge and conduct (1-6)

For the time being a substance is said to be constituted of that by which it is transformed or modified, and therefore, the soul, when it develops Dharma, is called Dharma (8), which is a synonym for Śama or the unperturbed state of the self (7) The thing or the existing entity is always made up of substance, quality and modification with reference to substance and modification one without the other is not possible (10), so the soul is auspicious or inauspicious when it develops those modifications, and it is pure when free from both (9) Śuddhopayoga[2] leads to liberation of self-born, eternal and supersensuous happiness, Śubhopayoga to heaven and the Aśubha to wretched human, sub-human and hellish births continuously (11-13) A saint with Śuddhopayoga has properly realised everything, is free from attachment and endowed with control and penance, and to him pleasure and pain are alike (14)

With this Śuddhopayoga the soul, free from four Ghātiya karmas, becomes omniscient and itself, and comes therefore to be called Svayambhū (15-16) An existing entity suffers origination and destruction by some or the other modification, in the state of Svayambhū too there is the collocation of origination, destruction and permanence, but there the origination is without destruction and vice versa (17-18) In this stage the soul being free from karmas, infinitely potent and supersensuous, develops, as a result of Śuddhopayoga, Knowledge (omniscience) and Happiness (19)

i) The omniscient is above bodily pleasure and pain (20), he enjoys direct vision of all objects without sensational stages in his perception (21-22) The omnipresence of omniscient knowledge is thus established the soul, *i e*, the knower, and knowledge are coextensive, any infringement of coextension leads to the conclusion that either knowledge is a nonsentient function or the soul can know without knowledge (23-5), knowledge is coextensive with objects known, and the objects

---

The use of words like Nava-tattva and a mention of *Vyavahāra sūtra (Samayasāra* pp 31, 33, 195, 404) *ṣaṣṭha, aṣṭhama* fasts *(Tattvārthasāra* VII 10) suggest, at the most, that he was closely acquainted with Śvetāmbara literature

1 I have completely rewritten my summary which was once published in *Jaina Gazette* Vol XXV, p 156 etc

2 Śuddhopayoga is only svabhāva-pariṇāma, that is, the natural state of the soul free from auspicious and inauspicious manifestations of consciousness that is how I understand it

known comprise the whole universe Knowledge is the function of the soul alone, and the omniscient soul can know the whole objectivity, as it were reflected in itself, though there is no mutual contact (26-29) As a sapphire enlightens the milk in which it is put, knowledge enlightens all objects, all of which, because of the omnipresence of the former, are reflected in it, in this process of direct knowing the omniscient does neither lose nor gain anything (30-32)

The knower and the knowledge are one, and knowledge is not at all an extraneous instrument, when the soul, as a knower, has its knowledge perfectly developed, all the things—of the past, present and future, and the subject, object and their modifications—are reflected presently therein (35-37) [p 56] The transcendental aspect of omniscience lies in its ability to know the absent and non-concrete as well, which are not perceived by indirect or mediate knowledge received through senses (38-41) This act of knowing is the natural and essential outcome of the destruction of counter-acting karmas, and therefore this as well as other activities do not make the omniscient liable, as the beings in the round-of-rebirths are, to attachment and aversion which lead to further bondage (42-6, 52)

Omniscient knowledge visualises completely and simultaneously the whole range of variegated and unequal objectivity of the present and otherwise A single substance has infinite modes, and infinite are the classes of substances, to know them serially is an impossibility, so in order to know even a single substance with its modifications, it is necessary that one should know simultaneously the objects of three tenses and three worlds, being still immune from consequent attachment or aversion (49-52) This omniscience, which is supersensitive (*i e* it does not require the help of senses) in its functions, can visualise non-concrete entities, and as such it is the highest, the soul when it functions through organs of senses, with which it is endowed in its embodied state, perceives only the perceptible, and sometime it does not, the sense organs cannot perceive simultaneously, they constitute a foreign stuff not essentially and naturally belonging to the self, and as such what is perceived by them cannot be direct to the soul, so it is only in omniscience, when the soul directly visualises the objects without the mediation of senses, there is direct (*pratyakṣa*) knowledge (53-58)

ii) That self-born, perfect and pure knowledge, which enlightens infinite things and which is free from the stages of perception, is called real happiness, omniscience is a state of happiness where there is no trace of misery because of the absence of hindering karmas, everything desirable is achieved therein, and it is appreciated by all the liberable souls, various beings in the round-of-rebirths are harassed by senses, and they try to satisfy them by yielding to them, but this pleasure of senses is misery itself, the soul is the substratum of happiness, and the bodily happiness is no happiness at all, when the soul is itself happiness, it is no use pursuing the pleasures of senses, and it is the liberated soul that has both knowledge and happiness (which are not contingent on external accessories), just as the sun has both light and warmth (59-68)

As a result of Śubhopayoga which consists in devotion to divinity, preceptor etc and in the cultivation of philanthropy and fasts, the soul is destined to sub-human, human or divine births wherein are available various pleasures of senses.

The happiness of gods even is not self-established, simply to satisfy their physical itch they enjoy various pleasures, the enjoyment of these pleasures simply leads to further prolongation of embodied condition, their desire for sensory pleasures goes on increasing, and they are ever unsatisfied The happiness derived through senses is dependent, amenable to disturbances, terminable and a cause of bondage and dangerous, so it should be completely eschewed This should be thoroughly realized, attachment and aversion [p 57] towards various objects should be given up, the Śuddhopayoga must be cultivated, so that miseries incidental to body would disappear (69-78) Delusion is a great hindrance to self-realization, he who knows Arahanta fully and in all the aspects, knows himself, and his delusion is evaporated All the Arahantas have destroyed Karmas and attained liberation by being free from delusion, attachment and aversion and by realising the pure self, and they have preached also to that effect (79-82)

Delusion consists in being infatuated with various objects, one is baffled therein developing attachment and aversion which give rise to various kinds of bondage which should be destroyed, the characteristics of delusion are perverted apprehension, cruelty unto beings and indulging with the objects of senses This delusion can be exhausted by understanding from the scriptures the objectivity constituted of substances, qualities and modifications, and then liberation is attained The soul is constituted of knowledge, and other things are related with it only as substances thus the self and non-self should be understood, if the self were to realise a delusionless state of itself, he is a true saint who understands thus, and he is called Dharma, as he is free from delusion, expert in scriptures and established in conduct free from attachment (83-92)

Book II

The object of knowledge is made up of substances, which by their very nature are existential entities, which are characterised by and endowed with various qualities and modifications, and which are all the while coupled with origination, destruction and permanence without leaving their existential nature (1 3-5), though established as an existential entity, the substance undergoes conditions of permanence, origination and destruction which are simultaneous (7-8), they take place in modifications which are possible in a substance, and hence substance is a base for all of them that are collocated therein (9-10) One modification rises and the other vanishes, but the substance is the same, the substance develops some other quality leaving the one so both modes and qualities constitute the substance, which is ever self-existent (11-3) The realation between substance, quality, and modification, is that of non-identity (*anyatva*), they are not separate, because they have no separate space-points (*pravibhakta-pradeśa*), so they cannot be present elsewhere than in a substance (14-8)

The substance which forever retains its position can be affirmed and denied, with respect to its existence, according as it is viewed from the view-point of substance or that of modification So far as the substance is concerned there is always non-difference, but there is difference in view of the modification which pervades the substance for the time being (19, 22) According to some modification or other it is

stated that a substance exists, does not exist, is indescribable, is both or otherwise (23) The various activities lead to karmas which give their fruits, the Nāmakarman, which overpowers the soul, [p 58] shapes the figuration of the body etc in a particular existence like that of man, god etc , and the soul-substance is the same individual behind these modifications that are developed by karmas There is nothing like absolute production or destruction in this world wherein, at every moment, some modification originates and some other passes away, so this mundane existence is a flux of active change through which the soul-substance is moving (20-1, 24-8). The modificatory development in the case of the soul, which is soiled by karman from times immemorial, is of the nature of the soul, *i e*, sentiency, it is of three kinds knowledge (*jñāna*), the comprehension of the objectivity, whatever is done (*karman*) by the soul, and the fruit (*phala*) which is either happiness or misery The soul then is not the direct agent of these results, yet ordinarily they are attributed to the soul The soul, which is itself the agent, means, action and fruit, realizes itself as pure, when passions etc are not developed.

Substance comprises Jīva and Ajīva Jīva is constituted of the sentiency and manifestation of consciousness Ajīva or the insentient class comprises five substances Pudgala or matter, from the fine molecule to gross earth, possesses sense-qualities, Dharma the principle of motion, serves as the fulcrum of motion, Adharma, the principle of rest, serves as the fulcrum of rest, Ākāśa or space gives accommodation, Kāla or time marks continuity Of these matter alone is concrete and the rest are non-concrete, *i e* devoid of sense-qualities and hence not amenable to sense-perception All these substances exist in Loka or physical space in which take place transformations consisting of origination, permanence and destruction collectively or individually, while in Alokākāśa there is space alone (35-42) Time is devoid of space-points, while other substances have innumerable space-points, and hence they are called Astikāyas A primary atom has no space-points, but it is itself the unit of measuring space point, and the time required for a primary atom to traverse one space-point of space is called Samaya A space-point of space is capable of giving room to the atoms of all substances All these ultimate units are not exempt from the trio of origination, permanence and destruction (43, 45-52)

The physical world or Loka is stable, eternal and full with entities endowed with space-points, this is the object of knowledge, and the knower is the soul endowed with the life-essentials, *viz*, senses, channels of activities, duration of life and respiration, which are fashioned by material substances The soul in its embodied condition, being bound by infatuatory and other karmas and enjoying the fruits of karmas, incurs fresh karman Being tainted with karman it develops attachment and aversion, and incurs fresh bondage It takes births in different grades of existence with different figuration of the body due to Nāma-Karman Real Knowledge of things will rescue one from attachment and aversion (53-62)

The soul is constituted of the manifestation of consciousness which is towards perception and knowledge, and which is auspicious or inauspicious, the auspicious one is characterised by devotion to religious duties and compassion to living beings, and leads to merit, the inauspicious one is characterised [p 59,] by sensual pleasures and passions and cruelty to beings, and leads to sin, and in the absence

of both there is the pure one which is not amenable to karmic bondage Being free from auspicious and inauspicious manifestations one should meditate on the soul as an embodiment of knowledge and absolutely different from everything else (63-70)

The atomic interlinking is a process by itself Atomic modifications, cohesive or arid, whether having even or odd points, get mutually interlinked when ordinarily there is the difference of two points, the minimum point being excepted, the soul is not responsible for this process (73) But the physical world is fully packed with material bodies, subtle and gross and capable of becoming karmas which, coming into contact with the passional condition of the soul, inflow into the soul (77) The four kinds of bodies are material in nature, the soul, however, is without the sense-qualities, it is all sentiency, it is beyond inferential mark, and it has no definable shape (79-80) The soul though not concrete perceives and knows concrete objects, so is the case with bondage (82) It is by the attitude of attachment and aversion that the soul is tinged, and thereby the karman binds (84) The soul has space-points wherein penetrate the karmic particles, they remain there and pass away according to the period of bondage, when the soul develops attachment there is bondage, otherwise not (86-7) The soul is absolutely different from all the embodied conditions (90 ff) The soul is the direct agent of the developments of its consciousness and not of all those consitions constituted of material substances, thus it is not the agent of material karmas, but only of its own bhāvas which being tinged with passions receive karmas this is really speaking the doctrine of bondage, ordinarily it may be stated differently (88-97)

The real meditation on the self is possible only when all notions of attachment and mineness are completely severed The various objects, living and non-living, are not the permanent associates of the soul which is essentially constituted of sentiency The great saint who is completely immune from passional hindrances, being all-round rich in knowledge and happiness of all the senses together and having no functions of senses, meditates on the highest happiness (98-108).

Book III

The Jaina ascetic emblem is of two kinds internal and external, the internal one which aims at liberation consists in being free from infatuation and preliminary sins, in being endowed with pure manifestation of consciousness and activities, and in having no desires at all, the external one consists in possessing a form in which one is born, in pulling out hair and moustache, in being pure, in being free from harm unto beings and in not attending to the body The external ascetic emblem prescribed for women, because of their natural and inherent disabilities, is of slightly different character consisting of clothing etc, and they are called nuns or Samaṇīs (5-7, 24 *6-16)

Perfect non-attachment is a prerequisite for adopting these emblems by entering the order of monks If one wants to escape from misery, he should [p 60] adopt asceticism after saluting the divinity and saints, after taking leave of the family of relatives, being let off by the elders, wife and children and being intent on the cultivation of knowledge, faith, conduct, austerities and strength He should

approach a great and worthy teacher and request him for admission to the order, being ideally non-attached He should receive his course of duties consisting of 28 mūla-guṇas or primary virtues, he is a defaulter in case he is negligent about them, if the primary virtues are violated, in spite of his carefulness, he should report and confess before a worthy teacher and practise the prescribed lustral course, he should always see that the primary virtues are not violated Negligent and careless activities are always harmful to living beings, it is not so much the question of objective and actual sin, and a monk of careless conduct is called a murderer of living beings, whether they are actually killed or not (1-4, 10, 8-9, 11-12, 30, 16-8)

Absolute non-attachment should be his aim He is not to be attached either to food or to fast, either to residence or to touring, or to paraphernalia, or to co-monks, or to unhealthy gossip. Attachment means bondage, and even a particle of attachment hinders the attainment of liberation, desirable or undesirable relations and objects are all equal to him, complete immunity from attachment and aversion means the destruction of karmas (13-5, 19, 39, 41-4)

He is allowed to keep only a little quantity of paraphernalia which does not involve sin and which is essential for the practice of his primary virtues The only acceptable ascetic paraphernalia is said to consist of the bodily form with which one is born, the words of the teacher, (disciplinary) modesty and the study of sacred texts Other articles of use, on account of his non-attachment, are sure to disturb him and his course of conduct He should not have any attachment even for the body which he simply sustains, and yokes to austerities without concealing his ability (21-3, 20 *3-5, 24-5, 28) A monk should be constantly applied to the study of scriptures whereby he acquires certainty of knowledge and meditational concentration The scripture is his eye, and enlightens him on the nature of objectivity constituted of both self and non-self This scriptural study prepares him for self-discipline and self-control, and the value of the same will be heightened when he is completely non-attached (32-6, 39) The diet and tourings of the monk are proper, he takes one meal a day which is not stomachful, which is in the form in which it is obtained, which is obtained by begging and by day, and wherein there is no consideration of juices He completely abstains from flesh and wine which involve the destruction of living beings When the monks accept that little quantity of faultless food, it is as good as they are without food (26, 29, 29 * 18-20, 27).

If liberation is to be obtained, faith and self-control are the necessary accompaniments of scriptural knowledge The monk should observe fivefold carefulness, control his three channels of activities, curb his senses, subdue his passion and cultivate faith, knowledge and discipline He should stand up etc when a great teacher arrives, and honour him according to his merits A meritorious coäscetic always deserves regard A monk degrades himself, if he does not recognise the meritorious and if he expects reverence from those who [p 61] are more worthy than himself He should keep himself aloof from monks of inferior merits and from the company of commoners, and try to stay with equals or superiors (37, 40, 47, 61-7, 70)

The monks are endowed with either auspicious or pure manifestation of consciousness, it is the pure one that is free from karmic influx Śubhopayoga

consists in devotion to Arahantas etc, in showing affection to all the followers of the doctrine, in preaching about the doctrine, in receiving and feeding the pupils, in rendering assistance to the fourfold ascetic community, in conferring benefits on all without expecting anything in return, and in helping a co-monk if he is suffering from disease etc He may have a talk with common people when he has to help a diseased monk Disciplinary formalities in behaviour are 'not forbidden in Śubhopayoga (45, 47-56) Monks of Śuddhopayoga have grasped all things properly, have renounced attachment for external and internal paraphernalia and are not steeped in pleasures of senses (73) A monk is not to dabble in worldly professions He should observe his course of conduct thoroughly understanding the nature of food, touring, place, time, physical labour, his forbearance and bodily condition Devotion to ignoble persons has no beneficial results A monk who has abstained from improper conduct, who has ascertained the reality, and who is peaceful and perfect in asceticism, will soon attain liberation, then he is pure, Siddha (31, 57-60, 72)

Critical remarks on Pravacanasara —The division of *Pravacanasāra* into three Books is to be attributed to Kundakunda himself, because we have, at the beginning of each book, significant benedictory verses and because each book has its contents systematically shaped in a self-sufficient manner but still not altogether disconnected with the remaining two books

Taking a detached view of the broad outlines of the contents, it is found that Kundakunda gives some important lessons to a novice who is just on the threshold of asceticism and wants to enter the order of coenobites It is required of him to maintain an undisturbed spiritual mood, completely abandoning Aśubhopayoga and not attaching much importance to Śubhopayoga but always intent on Śuddhopayoga, that immediately raises the individual spirit to the level of the Universal one that is completely free from karmas, infinitely potent, full of knowledge and happiness It is a climax of spiritual evolution where the subject-object reltion is not to be seen, where, the individual retains its individuality, and where the spirit being endowed with omniscience is able to know and see all the objects with their modifications without any spatial and temporal limitations In that stage transcendental knowledge and happiness are experienced eternally This is the spiritual aim of the novice; to understand and realize it fully it is necessary that the novice must have a clear perspective of the objects of knowledge and their modificational and attributal fluctuations, of the measure of responsibility on the spirit in fashioning his own karmas, of the agency and causes of karmas, and of the nature of meditational ecstasy which would rescue the spirit from the cocoon of karmas When the aspirant is properly equipped, he enters the order, observes the primary virtues, is absolutely nonattached and passionless, is devoted to [p 62] scriptures, maintains strict ascetic discipline, cultivates Śuddhopayoga, tries to stop the influx and to destroy the stock of karmas, and thus gradually attains that stage of self-evolved Siddha

There are some other topics included in this work only to elucidate the above contents The exposition is methodical, and the reader is gradually taken from one

topic to the other, repetition[1] is met with in some two or three places which might be possibly due to the inclusion of some traditional gāthās The author is not merely a dogmatist here, at times he plays the role of a logician he expects certain objections, himself raises certain questions, and tries to answer them [2] Thus *Pravacanasāra* combines in itself an academic treatise as well as a practical manual for a novice ready to enter the ascetic order. Though sometimes the ideas are repeated, there is no verbosity of style, considering the passages like the statement of Syādvāda, the definition of Jīva etc,[3] one feels that many of his utterances are really sūtras short in form but pregnant with significance. There in an ease about his discussions Throughout the work there is the flavour of the masterly grasp of a mature mind. Such simplicity of style and directness of appeal are possible only from him who has himself tasted the ambrosia of direct spiritual experience

d) Philosophical Aspect of Pravacanasara

1. Dogmatical Back-ground or the Jaina ontology —The object of knowledge (artha) is made up of substances that are characterised by qualities, and with which moreover are associated the modifications (II, 1) Origination and destruction simultaneously take place in qualities and modes, when their substratum, namely the substance, permanently retains its existential character (II, 5, 7, 37 etc) There are two classes of substances sentient comprising Jīvas alone, and insentient (Ajīva) comprising matter (Pudgala), the fulcrum of motion (Dharma), the fulcrum of rest (Adharma), space (Ākāśa) and time (Kāla) To give their characteristics · Jīva, or the soul or spirit, is constituted of sentiency and manifestation of consciousness, Pudgala or matter is insentient and endowed with colour, taste, smell and touch to its last subtle condition, Dharma is the condition of movement, Adharma, the condition of rest, Ākāśa or space gives room, and Kāla or time marks the continuity Excepting Pudgala all are non-concrete or formless (amūrta) *i e*, devoid of sense qualities and not amenable to sense-perception (II, 41-2) Excepting time all the substances have got extension in space, while time occupies only one space-point, so time is not an Astikāya (II, 43) Jīvas are many: liberated or non-liberated, if non-liberated, they are found in four grades of existence and different embodiments according to their karmas Matter is found in the form of aggregates or primary atoms, and is of various kinds The ultimate indivisible unit of matter is the primary atom (paramānu), it is an unit of [p. 63] space-measurement (pradeś'a) The whole world is fully packed with material bodies, subtle or gross, capable of being received as karmas or not by the soul Dharma and Adharma are one-all-pervasive substances which are coextensive with the physical space Ākāśa or space is of two kinds, Lokākāśa or the physical space wherein are accommodated all these substances for all the time, and Alokākāśa, non-physical or super-physical space (which is beyond Lokākāśa) where there is nothing but mere space that extends infinitely, the ultimate unit of space is a space-point or pradeśa which is capable of giving room

1 For instance the various statements of Śubhopayoga in all the three Books see the Index

2 Compare for instance I, 24-5, II, 81, etc,

3 See II, 23, 80 etc

to the atoms (in some cases pradeśas) of all substances Time which marks continuity is without extension in space, the ultimate unit of time is samaya, that much period of time required for a primary atom to traverse one space-point That which has no space-points, not even one space-point, is to be known as void, which is something other than existence (II, 35-52, 60, 76-77)

Critical remarks on Jaina and Samkhya ontology—Jainism does not accept creation in the Nyāya-Vaiśeṣika sense or emanation, whether actual or apparent, in the Vedāntic sense With it the world is existential and real Since it is not created by any one on the analogy of a carpenter or a smith, the cosmic constituents, enumerated by Jainism are such that they are capable of explaining the diverse phenomena by their mutual interaction The ontological start is that of realistic dualism or even pluralism The world of existence is constituted of two substances, life and non-life, which are not philosophical postulates but reals as spirit and matter which are pluralistic, constitutionally eternal, and not liable to lose or to interchange their nature The snbstances like earth, water, fire, mind etc enumerated by Nyāya-Vaiśeṣika are only forms of matter according ro Jainism The position is exactly the same in Jainism and Sāṃkhya so far as the initial start is concerned, one accepting the thesis and antethesis of Jīva and Ajīva end the other ef Puruṣa and Prakṛti, thus both are dualistic or even pluralistic in view of the plurality of spirits that essentially retain their individuality, but the immediate development of these two schools is interesting Sāmkhya dualism is undiluted, it is what Dr Belvalkar aptly calls touch-me-not dualism, with a spirit of idealism this dualism has been maintained by the Sāṃkhya almost to a logical fallacy, while Jainism started with the same dualism but with a plain dogma that the soul is associated with matter from times immemorial With this dogma it was easy for Jainism to explain saṃsāra as a remedy against which Religion was needed That explains very well how Jainism became an institutional religion with all the necessary accessories like mythology etc and with a philosophical background, while Sāṃkhya remained till the end only a system of intellectual pursuit. The strong realistic tone of Jainism is the result of common-sense and analytical approach to objectivity Dharma and Adharma respond to the definition of substance, because they exist as the neutral and conditional causes of motion and rest [1] The two words are never used in this sense any- [p 64] where else, and there still remains a question why and how Jainism might have taken the liberty of using these words with this meaning The Sāmkhya idea that Dharma leads upwards and Adharma downwards[2] is merely the ethico-religious idea quite usual in *Gītā* and other works In Jainism they are non-corporeal and

---

1 The conceptions of Dharma and Adharma require a thorough study In early stages of oriental studies they were uniformly misunderstood For some important exposition of these two see Jaini *Outlines of Jainism* pp 22 etc Ghoshal *Davvasamgaha* (SBJ I), pp 52 etc , and appendix p lviii, Chakravarti *Pañcāstikāyasāra* (SBJ III), pp 90-8, 101 etc Bhattacharya *Jaina Gazette*, Vol XXIII, pp 242 etc , Becharadasa *Jaina Sāhitya Saṃśahhaka* III, pp 35-42 and Jagadishachandra *Indian Historical Quarterly* IX, 3, p 792

2 *Sāmkhyakārikā* 44

homogeneous-whole substances: Dr Jacobi holds this as mark of antiquity of Jainism [1] To give space is the characteristic of *Ākāśa*, it may be relative when it accommodates other substances, empty space also is possible according to Jainism,[2] and it is called Alokākāśa which extends infinitely beyond our physical world Jainism and Nyāya-Vaiśeṣika agree in holding *Ākāśa* as all-pervading and eternal, but Jainas do not accept that sound is a quality of *Ākāśa* As with the Vaiśeṣikas, time is not one and all-pervading in Jainism according to which time has a sort of atomic constitution [3] The coordination of the ultimate units of matter, space and time is really interesting aṇu and samaya are known to Nyāya-Vaiśeṣika systems, but pradeśa, as an unit of space, I am not aware of anywhere That a substance is endowed with the trio of origination, destruction and permanence is peculiarly a commonsense view deduced from such patent and visible illustrations that a ring comes into existence after a bangle is melted and reshaped, still gold is there as a permanent substance This common-sense view will have to be studied in the light of extreme philosophical idealism of Vedānta and Buddhism, according to the former the clay alone is real the individual names and forms being mere illusion, and according to the latter there is nothing as eternal behind the changing qualities which alone are perceived by us The common-sense view appears to have been promulgated in same eastern part of India where Yājñavalkya enlightened Janaka on the doctrine of Ātman etc The realistic start never allowed any Jaina philosopher to adopt philosophical extremes

2 **Substance, Quality and modification**—Substances (dravya), qualities (guṇa) and modification (paryāya) are called the object of knowledge (1, 87) The substances which form the objectivity comprise the ego, the non-ego and the combinatory resultants of the two (I, 36) The substance forms the substratum of qualities and modifications, and it is constantly endowed with origination, destruction and permanence without leaving its existential character (I, 87, II, 3, 6, 13) It is the very nature of the substance to be amenable to these three states (II, 7), origination and destruction are simultaneous and interdependent, and are not possible in the absence of the substance (II, 8) This trio refers to modifications and qualities, and the [p 65] substance, as it forms the essential basis of the three, comes to be predicated of them at that moment (II, 9) The object of knowledge has always one or the other modification (I 18) One modification originates and the other passes away, while the substance is permanent (II, 11) There is nothing as absolute production or destruction in this world what is the production of one is the destruction of the other (II, 27) That condition or state (pariṇāma), which in fact forms the nature of the substance is quality, which is a distinguishing mark too (II, 37-8) The transformation of one (form of the) object into the other is the modification with its varieties of figuration (II, 60) The substance, quality and modification are existential (II, 13), as to the relation between the three they are non-separate (apṛthaktva) and non-identical (anyatva) they cannot be separate

1 *Outlines of Jainism* p xxxiii
2 See pp 16-7 of the Translation at the end, footnote 5
3 Ibid p 18 foot-note 1

because they are the coöccupants of the same spatial extense, and they are non-identical because one is not the other (II, 14-8). To illustrate Soul is a substance, manifestation of consciousness is its quality, and its modifications are hellish, sub-human, human and divine embodiments which are caused by Nāmakarman, or even the state of a Siddha,[1] behind all those modifications the soul is essentially the same and permanent (II, 20, 21, 25-7) The substance is one in view of its substantiality, but it comes to be manifold because of the modifications pervading it for the time being (II, 23)

Explanatory Remarks on the Three—The substances, according to Jainism, are the irreducible constituents which, being themselves existential, give an existential character to the universe The substance can be material as well as spiritual So primarily in view of their livingness or otherwise, they are two, and finally the same can be six These substances, whether viewed in their twofold types or six classes, cannot be reduced back to anything as one substance as Vedāntins do with Brahman in view The substances are arrived at by analysing the subjective and objective existence The substances are not immutable but subjected to constant changes in their qualities and modifications with which they are endowed A substance divested of qualities and modifications is merely an abstraction, simply a void, and as such not accepted in Jainism The Nyāya school, however, accepts that the substances, just at the moment of their creation, are devoid of qualities which come to be intimately related with them only later[2] Substance is the substratum of qualities and modifications, and the intelligibility of a substance depends on its qualities and modifications, because they are its determinants The relation between these three is that of non-separateness because they subsist in the [p 66.] same spatial extense, and of non-identity because one is not the other Qualities and modifications can be roughly compared with inseparable and separable accidents Quality is mainly a differentia of a substance, while the modification stands for the apparent condition or state of appearance which serves as a badge for individual discrimination Guṇas and modifications have substance as their substratum, these three constitute a thing A thing is subjected to origination, destruction and permanence Origination and destruction refer to modifications and qualities on the permanent bed-rock of substance It is only the permanent that changes, without permanence there is no meaning whatsoever in change Any amount of changes in qualities and modifications can never convert the soul into non-soul and so forth

1 The illustrations might be extended with reference to the remaining five substances as well Pudgala is a substance, colour, taste, smell and touch are its qualities, and the manifold material objects like pots, pins, pens etc are the modifications Dharma and Adharma are substances, to serve as fulcrums of motion and rest respectively is their quality, and the actual motion and rest, as associated with various moving and stationary bodies, are their modifications *Ākāśa* is a substance, to give room or space is its guṇa, and the space individually occupied by various objects like pot, pitcher etc are its modifications Lastly *Kāla* is a substance vartanā or continuity is its guṇa, and seconds, minutes, hours, etc, are the modifications of time

2 *ādya-kṣaṇe nirguṇaṃ dravyaṃ tiṣṭhati* as in *Tarkabhāṣā* etc

Distinction between Guna and Paryaya :—This tenet of qualities and modifications as mutually distinct needs further scrutiny Gu*n*as are a quite usual feature of Vaiśeṣika system, the notion of paryāya is peculiarly Jaina, though seen in its popular sense in later Nyāya works [1] In early Jaina works, like those of Kundakunda, the notion of gu*n*as is very simple, gu*n*as stand, to generalise from the illustrations, for the essential differentia of a thing, but in many later works the doctrine has been much more elaborated possibly after the manner of the Vaiśeṣika system [2] The presence of an illustration in the Indian syllogism has been as much beneficial as harmful to the process of thinking, if it has forced thought to keep pace with and correspond to practical life, it has equally hindered abstract thinking which is beyond illustrations from practical life, and the consequence has been that a principle is evolved with a few illustrations in view, and the details go on increasing as fresh illustrations are met with If this method is kept in view, we can exactly understand the distinction drawn by Kundakunda between gu*n*a and paryāya Sentiency or the manifestation of consciousness is the gu*n*a of Jīva-substance, while its modifications are god-hood, man-hood etc. Corporeality (rūpitva) is the gu*n*a of pudgala or matter, and its paryāyas are manifold like wood etc When these primary paryāyas have in turn sub-paryāyas, the position of gu*n*a comes to be slightly different, and we are led to the distinction something like that of the general and particular gu*n*as, When we have further paryāyas of wood like benches, tables etc, we are not satisfied with the gu*n*a of pudgala but we try to formulate a gu*n*a or gu*n*as of wood, or give the differentia of wood which will help us to distinguish wood from other inanimate entities This process thus goes on and on Farther we proceed from matter, more the number of qualities constituting the differentia of a particular object So there is sufficient justification for Kundakunda to distinguish gu*n*a and paryāya

Siddhasena's Objections Stated.—This view of Kundakunda is wholly accepted by Umāsvāti in his *Tattvārthasūtra* (V, 29, 30, 38 41 etc), and his work being practically a common property of Digambaras and Śvetāmbaras, this view is the most popular one But Siddhasena, who has been a champion [p 67:] of reason and who would state whatever he finds logically valid whether the scriptures support him or not, takes a different position [3] He attacks the position of those who accept that colour, taste, smell and touch are independent cognisable qualities that have substance as their substratum (davvānugayā) He says guṇa and paryāya are synonyms signifying the same concept because lord Mahāvīra has desenbed only two Nayas, Dravyārthika and paryāyārthika, and there is no third Naya as Guṇārthika which might have been necessary in case gu*n*a was different from paryāya, because the lord has preached to Gautama and others as *vaṇṇapajjavehiṃ* etc, and because the definitions of gun*n* and paryāya that are given are of the same meaning, etc.

1 See *Nyāyakośa*, 3rd Ed, p 491 under paryāya

2 *Ālāpapaddhati* (SJG I) pp 155 etc Amṛtacandra's commentary on *Pravacanasāra*, p 124

3 See gāthās 8-14 etc of the 3rd kānda of *Sanmati-tarkaprakarāna*, with Abhayadeva's commentary, Ed by Becharadas and Sukhalal, in five parts, Ahmedabad 1930

etc This attack, apparently directed against the Nyāya-Vaiśeṣika, includes, by the further reference to two Nayas, even the Jaina authors like Kundakunda and Umāsvāti, because they accept only two Nayas and still maintain guṇas as distinct from paryāyas

Kundakunda's position stated and Siddhasena's objections explained away—I am perfectly aware that the line of demarcation is a slippery ground especially because of the confusion between the Jaina and Vaiśeṣika positions, but so far as the position taken by Kundakunda and Umāsvāti is taken into consideration they have enough justification as shown above Siddhasena, I think, has confused the Nyāya-Vaiśeṣika and Kundakunda's positions The term guṇa is a blank cheque in the Sanskrit language,[1] and one has to be cautious in scrutinizing the different shades of meaning even though the same word might have been used for all practical appearance The Sāṁkhya guṇas, for instance, are not mere qualities but something substantial[2] According to Kundakunda guṇa is an essential differentia of a substance and as ubstance without guṇa has no existence, the relation between guṇa and dravya is that of difference-in-congruency According to Nyāya school, however, the substance in the first moment of its creation is without qualities, and only in the next moment it comes to be intimately united with them Secondly, many of the Nyāya-Vaiśeṣika guṇas like śabda etc are no more guṇas according to Jainism but merely forms of matter[3] Lastly, the qualitative difference in atoms corresponding to air, fire, water and earth as accepted by the Vaiśeṣikas is not possible according to Jainism Thus therefore the Jaina and Nyāya-Vaiśeṣika ideas about guṇa should not be confused It is already shown how Kundakunda has clearly stated that guṇa is different from paryāya, that guṇas and paryāyas are different can be shown by an illustration as well taking a golden pot and an earthen one, the paryāya is the same but the guṇas of gold and earth are not the same, and secondly taking a golden ring and a golden bangle, the qualities with the substratum gold are the same but the paryāyas are different So, if paryāyas and (p 68) guṇas are distinct, then why not have a Guṇārthikanaya besides Dravyārthika and Paryāyārthika ? It is really an interesting and legitimate question raised by Siddhasena and needs explanation The paryāya is an external imposition, it may be of manifold kinds, the same paryāya may be possible on different substance-grounds, the same substance may be subjected to different paryāyas at different times, and the paryāya is not essentially inherent in the very nature of the substance The only relation between substance and paryāya is that a subtance cannot be imagined without one or the other paryāya Paryāya stands for the fluctuating aspect of substance and qualities, and requires to be stated when anything about a substance is to be said, and hence the necessity of a Paryāyārthikanaya As distinguished from this, we have Dravyārthikanaya in which the attention is directed not towards the fluctuating

---

1 See *Nyāyakośa* under guṇa p 261

2 Max Müller *Six systems of Indian Philosophy*,1st Ed , p 468

3 *Pravacanasāra* II, 40 *Pañcāstikāya* (SBJ III) p 84 etc , and *Davvasamgaha* 16 SBJ I, p 47)

aspect of the thing but to the permanent aspect of it, namely the substance with qualities. Guṇa cannot be perceived anywhere else than in a substance, and a substance cannot be conceived without a guṇa · so one without the other is an impossibility The guṇas being embedded in and coeval with the substance, there is no necessity of a third view-point as Guṇārthika It would have been necessary, if the Jainas like Naiyāyikas admitted the possibility of substance without guṇas at least for a while Further the canonical references *vaṇṇa-pajjavehim* and *gamdhapajjavehim*[1] can be thus explained No doubt colour, taste, smell and touch are the qualities of matter or pudgala, and being inherent and essential characteristics of matter they continue to remain even upto the stage of primary atoms As seen above the qualities too have their paryāyas or modes the colour as a quality has five modifications such as black, blue, yellow, white and red,[2] so the phrase *vannapajjavehim* means 'by the modifications of colour', and there is no implication at all that the colour is a paryāya. If it is to be taken as Karmadhāraya compound, the plural loses its force, vaṇṇa as a quality being only one And moreover we do find passages in the Śvetāmbara canon[3] itself where guṇa and paryāya are distinguished [4]

(p 69) 3 **Nature Of Spirit And Matter, Or Jiva And Pudgala** —The Jīva is essentially constituted of sentiency (cetanā) and manifestation of consciousness (upayoga) (II, 35), but from beginningless time it is already tainted with karman (II, 29) The development of its sentiency is threefold with regard to knowledge which consists in the comprehension of the objectivity, with regard to Karma which consists in whatever is done (samāraddhaṁ) by the soul, and with regard to the fruit of Karma which is either happiness or misery, and these three are predicated of the soul (II, 31, 32, etc) Likewise the manifestation of consciousness (upayoga) is towards jñāna and darśana (II, 63) and flows in three channels, inauspicious,

1 *Bhagavatisūtra* IVX, 4, sūtra 513

2 I am aware that some later authors, who have confused the Jaina and Vaiśeṣika ideas, sometime call yellowness as a guṇa and sometimes as a paryāya For instance *pītatāatdiparyāyeṇa* /, *pītatādayo guṇāh* /,etc in Amṛtacandra's commentary on *Pravacanasāra* pp 22, 99 etc The original Jaina idea was that colour is a guṇa and different colours like yellow etc are paryāyas of that guṇa, but according to Vaiśeṣikas the various colours are guṇas, so naturally the later authors confused these ideas

8 *Uttarādhyayanasūtra* 28, 6

4 The views on dravya, guṇa and paryāya of different authors like Kundakunda, Umāsvāti, Pūjyapāda, Akalaṅka Haribhadra, Siddhasenasūri,Amṛtacandra,Vidyānanda Vādidevasūri Rājamalla and Yaśovijaya etc have been quoted extensively in a footnote on pp 631-33 of *Sanmati-prakaraṇa* (Ed Ahmedabad), Akalaṅka who shows a close acquaintance with the various works of Siddhasena, has in view the objections of Siddhasena The necessity of a third naya, in case guṇa was distinct from paryāva, is smoothly set aside by Akalaṅka by appealing to the authority of Arhatpravacana namely, *Tattvārthasūtras* Further the substance has twofold nature general (sāmānya) and particular (viśeṣa) corresponding to which we have two nayas Lastly he would not mind, so far as his interpretation of the sūtra *guṇa-paryāyavad dravyam* is concerned even if it is taken as *guṇā eva paryāyāh* (*Rājavārtikam* p 243) Thus Akalaṅka, in view of his Anekānta-stand, partly accepts Siddhasena's view. Haribhadra and Yaśovijaya too partly follow Siddhasena

auspicious and pure (I, 9), which respectively indicate impiety, piety and purity (I, 11 etc) Auspicious and Inauspicious channels are indicative of transmigratory condition, when the soul is free, it has the pure manifestation (I 46) The soul in its pure condition is without sense-qualities, is all the quality of sentiency, is beyond inferential mark and has no definable shape (II, 80), but, here, being in the association of karmic matter, it has received a concrete embodiment (I, 55 II, 25) The various grades of existence to which the soul is subjected in this round-of-rebirths are due to karmas (II, 25-6) When passional conditions are developed, the soul though non-concrete is bound by karmas which are concrete, just as the soul though devoid of colour etc is able to see colour etc (II, 81, 82). The soul really speaking is not the direct agent of karmas but only of its states of consciousness which being alredy tinged with passions etc receive the karmas (II 91, 92, 98)

Matter is concrete possessed of sensory qualities to its last unit (II, 40). The world is full of material bodies (II, 76), and the aggregatory process is going on because of their inherent qualities of cohesion and aridness (II, 71 etc). The mattermolecules capable of becoming karmas, coming into contact with passional development of the soul, are transformed into karmas (II, 77), further they inflow into the soul and remain there binding it (II, 86) Thus the passional states give rise to bondage (II, 87-8),

Really speaking the soul is pure in view of its liberated condition, but in this *saṃsāra*, being alrady associated with karman which results into further karmas the soul in its embodied condition, comes to have many material adjuncts the body, mind, speech are all material (II, 69-70) Matter-bodies which are transformed into karmas go to form the bodies that serve as the transmigratory equipments of the spirit, there are five such bodies the physical, transformatory, electric, translocational and karmic (II, 78-9) The four life-essentials, namely, sense-organs, channels of activity, duration of life and respiration which characterise an embodied soul are all material being caused by the karmas (II,55-6 etc) Thus the senseorgans too are made of matter, and the soul in *saṃsāra* comes to have them, whether it is born in movable (trasa) or immovable (sthāvara) bodies (1, 57, II, 90).

(p 70) Comparative And Critical Remarks On The Nature of Spirit.— Upaniṣadic texts like *Maitrāyaṇīya* start the creative process with Prajāpati who enters the various creatures in the form of the breath of life etc and apparently becomes the agent of everything like good and bad acts but in fact unaffected by them But further we are told that the actual agent is another Ātman called Bhūtātman who under the influence of Prakṛti becomes manifold [1] The first position is a thorough theistic one The second position is perhaps the modification of the first possibly under Sāṃkhya influence The second position comes nearer the Jaina idea, though the Jainas do not accept any such One Ātman which is capable of becoming manifold Jainas and Mīmāṃsakas agree in holding that Ātman is constituted of caitanya, and that there is a multitude of separate souls pleasure and pain come to be experienced because of karmic association according to Jainism, while Mīmāṃsakas simply say that they are changes in the soul-stuff

1 Belvalkar & Ranade *History of Indian Philosophy* Creative period p 337

In the condition of liberation, the soul according to Mīmāṃsa, exists without cognition, but Jainism holds that the liberated soul is an embodiment of cognition and knowledge and of all bliss that may be one of the reasons why Mīmāṃsā and Jainism differ on the possibility of omniscience for a liberated soul Puruṣa of the Sāṃkhya can be compared with Jaina Ātman, with the differenee that Ātman in Jainism is not merely a spectator, unbound etc, but he is already bound by karmas and will one day be liberated Sāṃkhya has a tinge of idealism [1] Jainism in realistic, and Ātman is a substance endowed with sentiency as distinguished from pudgala or matter which is devoid of sentiency, these two constitute the objective existence with time etc The Jaina Ātman is a permanent individuality and will have to be distinguished from Buddhistic Vijñānas which rise and disappear, one set giving rise to a corresponding set In *Brahmajālasutta* various tenets, as distinguished from Buddhistic views, have been described· the classification is subjectwise and not systemwise Jaina conceptions of spirit and matter agree to a great extent with rhe Sassatavāda[2] which, it is interesting to note, is attributed to Śramaṇas and Brāhmaṇas, and which is not correct in the eye of Kṣaṇikavāda of Buddhism Jainism is pluralistic and the Ātmans are many, nay infinite, and they retain their individualities even in liberation as distinguished from Advaita Vedānta wherein ultimately Ātman is one and eternal, and all other forms of existence are not real but merely the shades of the same In the temperate monism of (p 71) Rāmānuja, however, the souls as individuals possess reality Unlike in the Nyāya system the soul in Jainism is not physically all-pervasive but of the same size as that of the body which it comes to occupy Jainism does not accept any idea like the individual souls being drawn back into some Higher soul, Brahman or Iśvara, periodically

Comparative And Critical Remarks On The Nature Of Matter.—Matter according to Jainism is an objective antethesis of spirit, it is inanimate and perceptible as against spirit which cannot be perceived by senses That matter is concrete, gross and perceptual is a thorough realistic position, and can be very happily contrasted with modern ideal conceptions that matter is merely the way in which a fundametally mental universe appears to our finite intelligences Both spirit and matter are reals, or to put in other words both the experiencing subject and the experienced object are real and genuine The soul in saṃsāra is already associated with matter called karman since beginningless time This association reminds

1 Dr, Belvalkar 'Sāṃkhya, Realism', or Idealism *Dayānanda Commemoration volume*, Ajmer 1934 pp 19-24

2 Discussing about the nature of Siddha, Kundakunda accepts a very modest and relative position clearly stating that extremes are not acceptable In this context (see *Pañcāstikāya* 37) quite incidentally a statement is made

sassadam adha ucchedam bhavvam abhavvaṁ ca suṇṇam idaram ca|
viṇṇāṇam avinnānam na vi jujjadi asadi sabbhāve ||37||

This gāthā, so far as I understand it independent of the commentators, has in view Śāśvatavāda Ucchedavāda, Śūnyavāda and Vijñānavāda which are very often referred to in Buddhist texts (see E J Thomas *The History of Buddhist thought* pp 124 etc.) Ucchedauāda is said to have been the view of Ajita Kesakamabali

us of the formal connection between Puruṣa and Prakṛti of the Sāṁkhya. Matter in Jainism is gross, common-place and realistic, while Sāṁkhya Prakṛti, though it evolves much that is gross as well as subtle, stands for what is ordinarily termed as undeveloped primordial matter, and it is an idealistic concept Prakṛti is a bed of evolution, while Jaina matter is a common-place stuff amenable to multifarious modifications Each soul is responsible for its karmic encrustation It is said that the Maulika Sāṁkhyas accepted as many Prakṛtis as there are Puruṣas, this early Sāṁkhya position makes that system much more realistic and would bring it nearer the Jaina ideas The Jaina term for matter is pudgala,[1] which in Buddhism means the individual, character, being and Ātman From the shifting of its meaning[2] the word appears to be a later import in Buddhism along with Jaina terms like *āsrava*[3] Some Buddhist heretics known as Vātsīputrīyas too, as Śāntarakṣita says, take pudgala equal to Ātman[4] That body, mind and speech are all material corresponds to the Sāṃkhya view according to which they are all evolved from Prakṛti The four kinds of Ahaṃkāras[5] Vaikārika, Taijasa, Bhūtādi and Karmātman remind us of the four bodies in Jainism Āhāraka, Vaikriyika, Taijasika and Kārmaṇa the two lists are in such a close agreement that it (p 72:) cannot be a mere accident In explaining the phenomenon of *saṃsāra*, the karmic matter plays the same part in Jainism as *Māyā* or Avidyā in the Vedānta system Karma is a subtle matter which inflows into the soul when the soul has been a recepticle for it under the influence of attachment and aversion The karma doctrine, as an aspect of Jaina notion of matter, is a complex and elaborate subject by itself, still I would say here passingly that no substantial similarities of this Karma doctrine are known to me in any of the Indian systems[6]

4 **The Doctrine Of Three Upayogas**—The soul is constituted of the manifestation of consciousness which is in the form of knowledge or cognition and which

---

1 The Jaina commentators give its etymology thus *pūraṇa-galanānvartha-saṃjñatvāt pudgalāḥ* etc (*Rājavārtikam*, p 190) The Buddhist etymology runs thus *punti vuccati, tasmiṃ galantīti puggalā* (PTS pali English Dict under Puggala) The definition *pūraṇād galanād etc pudgalāḥ paramāṇavah* as given in *Viṣṇupurāṇa* agrees almost with the Jaina idea (*Nyāyakośa* p 502)

2 Mrs C A F Rhys Davids says, "we do not know when this oddly ugly word *pudgala*, *puggala* came to be substituted for the older *purisa* or *pulisa*, or *puruṣa*"—etc See *Festschrift Morritz Winternitz*, Leipzig 1933, p 158

3 The Pali *pārājika* is also traced back to *pāramciya* 'which was probably a technical term with the Jainas and perhaps other Schools before it was adopted by Buddhists and applied to their own regulations '—E J Thomas *Festschrift M Winternitz* p 163

4 See *Tattvasaṁgraha*, verses 336-349, Intro, p cix

5 *Sāmkhyakārikā* 25 etc, *Sāmkhyapravacanasūtra* (Allahabad 1915) p 250 etc, Max Müller *Six systems etc* p 320

6 Windisch reviewing Glasenapp's *Die Lehre vom Karman* in der philosphie der Jains nach den Karmagranthas dargestellt, Leipzig 1915 remarks "'The doctrine of Karma is a central dogma of the Indian religions' says H V Glasenapp at the beginning of his foreword, but in no Brahmanic or Buddhistic work is it so extensively used as in the Jaina philosophy Therein was the peculiar worth of the Karmagranthas And it is clear that the technical terminology of the doctrine is taken from the old Siddhānta" (*Geschichte der Sanskrit philologie*, in the Grundriss)

flows in one of the three channels: inauspicious, auspicious or pure (1, 9, 11, 63).

A being of inauspicious manifestation of consciousness is steeped in sensual pleasures and passions, is given to false scriptures, evil intentions and wicked works, is cruel, and goes astray (II, 66) The inauspicious one is a cause of sinful karmic influx (II, 64, III, 45) Under the influence of this upayoga the soul wanders for long as a low graded human being, a sub-human being and a hellish one subjected to thousands of miseries (I, 12)

The auspicious manifestation of consciousness is characterised by devotion to God, ascetic or preceptor and by the practice of philanthropy, virtues, fasts etc (I, 69) and by compassion towards all the living beings (II, 65) It incurs only the meritorious influx of karmas for the soul (II, 65, III, 45) It leads the soul to heavenly pleasures, and even if one is born as a sub-human, human or divine being there are plenty of pleasures of senses (I, 11, 70) A monk with Śubhopayoga shows a respectful behaviour towards elderly monks, offers instructions on faith and knowledge, maintains students, and helps co-monks without causing harm to any living beings (III, 47-8)

Immunity from the contagion of the above two upayogas is the characteristic of pure manifestation of consciousness which is not open to karmic influx (II, 64, III, 45) and leads to the annihilation of all the miseries (II, 89) The soul with this upayoga develops religious experience (dharma), which is a spiritual state of transcendental, self-born, super-sensuous, unparallelled, indestructible and infinite happiness and omniscience (I, 13-4) In Śuddhopayoga the physical pains are no more, and one knowing the nature of reality is above attachment and aversion, in fine he is equanimous (I, 7, 78)

Comparison with Samkhya gunas etc—The condition of Śuddhopayoga is not to be sought in the round-of-rebirths, as it belongs to liberated souls who are completely immune from auspicious and inauspicious states of consciousness which characterise the pious and impious beings in this world [p 73] The socio-ethical aspect of this doctrine is so apparent that one is tempted to compare it with the doctrine of three guṇas of the Sāṁkhya system, which in their both classical and popular aspects have been used for explaining the socio-ethical inequalities,[1] perhaps Bhandarkar referred to this very similarity [2] The similarity is very striking, but the dissimilar details should not be ignored The three guṇas are the constituents of Prakṛti and not of Puruṣa, the spirit, who has come to look upon himself by mistake as their agent, sometimes they are looked upon as limitations through which the absolute becomes the individual soul.[3] This fascinating Sāṁkhya terminology has influenced later Vedānta represented by works like *Pañcadaśī* where Prakṛti plays the role of Brahman's reflection possessed of three guṇas, elements of good, indifferent and bad, corresponding to three kinds of actions [4] There is similarity between upayogas and guṇas so far as their moral effects are

1 *Sāṁkhyakārikās* 53-4, *Anugītā* xiv 36 etc, Keith *Sāṁkhya system* p 34.
2 Collected works Vol II, p 242
3 *Śvetāśvataropaniṣad* I 3 and Keith *Sāṁkhya System* p 34.
4 Max Müller *Six systems* etc p 334

concerned As distinguished from the Sāṃkhya view of guṇas, the upayogas belong to the spirit or the Jīva according to Jainism, Śuddhopayoga though comparable with sattva is not a positive spiritual something, but only immunity from the remaining two upayogas, in the Sāṃkhya system, guṇas are the ingredients of Prakṛti, which in turn represents an equipoise of guṇas, but in Jainism upayogas are manifested by the soul because of its being associated with karmic matter

5 **The Theory Of Omniscience**—Really speaking the soul (ātman) is the knower and essentially an embodiment of knowledge (II, 35, I, 28 etc) Knowledge is the self, and knowledge cannot subsist anywhere else than in the self, self and knowledge are coëxtensive, neither less nor more (I, 23), if the self is smaller, then knowledge being insentient cannot function, if larger, it cannot know in the absence of knowledge (I, 24-5) In a sense however the self can be taken as wider than the self (I, 29), because it has other characteristics like sukha, vīrya etc In view of its being an embodiment of knowledge, the soul is capable of knowing itself, other objects than itself and the combinatory products of the two (I, 36) But this essential knowing ability of the soul is crippled because of its long association with karmic matter (in the form of knowledge-obscuring etc), and it has come to possess the sense-organs (I, 55, II, 53) The senses are material in nature (paudgalika) and hence foreign to the real nature of the soul Whatever is apprehended through the senses is indirect (parokṣa), because the soul is not directly apprehending the object of knowledge, that would be direct apprehension (paccakkham vinnānam) when the soul apprehends all by itself without the aid of senses (1, 56-58) The sense-perception is graded and mediate (ajugavam and parokkham), because it has four stages outliner grasp (avagraha), discrimination (īhā), judgment (avāya) and retention (dhāraṇā) (I, 40).

[p 74] After manifesting pure consciousness when the soul becomes free from knowledge-obscuring conation-obscuring, obstructive and deluding karmas, it comes to be self-constituted and possessed of omniscience (I, 15-6) This omniscience is snpersensuous, therein the apprehension of the objectivity takes place directly by the soul without the aid of sense-organs, there are no sensational stages, but the apprehension is sudden and simultaneous, it is endowed with the potencies of all the senses together as it were, and there is nothing that is not visualised in omniscience (I, 20-2) The omniscient knows and sees the whole world, the variegated and unequal objectivity of the present or otherwise, neither entering into nor entered into by the objects of knowledge, just as the eye sees the objects of sight (I, 27, 47) Omniscience operates on the objects, just as a sapphire thrown in milk pervades the whole of it with its lustre, omniscience is ubiquitous in its functions, and therefore the omniscient is called omnipresent, and all the objects are within his knowledge (I, 28-31 35) The external objectivity does not affect him, though he sees and knows everything completely (I, 32) It is the supernatural characteristic of omniscience that therein are visualised all present and absent modifications of all those types of substances as if in the present (I, 37-39) Omniscience being an extra-sensory form of knowledge (atīndriya-jñāna) knows any substance with or without space-points, with or without form and those modifications which have not come into existenec and those that are destroyed (I, 41) It

is also called kṣāyika-jñāna, because this knowledge is the result of the destruction of karmas and does not involve fresh karmas (1, 42, 52). Omniscience is the only knowledge worth the name, because its apprehension is simultaneous and sudden, a single substance has infinite modes, and infinite are the classes of substances: so to know one is to know all and to know all is to know one, it is impossible to exhaust them if they were to be known one after another. thus omniscience is the only knowledge that can really grasp the objectivity (1, 48-51)

The development of omniscience is necessarily accompanied by that of perfect or absolute happiness (1, 59, 19), there is no trace of misery, since the destructive karmas are all exhausted (1, 60) As the sun has light and warmth, so the Siddha, the liberated soul, has absolute knowledge and happiness (1, 68) This happiness is independent of everything, and hence eternal, it is not physical but spiritual (1, 65) It should be completely distinguished from the pleasures of senses after which all the worldly beings are so much enamoured, the pleasures of senses are miseries in disguise, because they are dependent on something else, amenable to destruction, terminable, a cause of bondage and dangerous (1, 63-4, 76)

Some Side-Light On Omniscience—This doctrine of omniscience will have to be approached and evaluated from metaphysical, psychological and religio-mystical veiw-points, and it has to be understood in the light of other corelated tenets of Jaina philosephy, The soul or spirit is essentially a knower and an eternal embodiment of knowledge as distinguished from the Nyāya school where knowledge, though belonging to the eternal [p 75] self , is not in itself eternal but disappears like any other act,[1] in the transmigratory condition this ability is crippled by karmas, so in the pure condition the soul must be a knower par excellence, and this knowledge will have to function irrespective of temporal and spatial limitations so patent in the process of human perception Further the objectivity is a huge complexity with manifold modifications some present and some absent Such a complex object of knowledge cannot be justly comprehended in its entiriety by a mediatory process of knowledge So, if this complex objectivity is to be thoroughly and immediately grasped, the soul must directly visualise it, that is possible only in omniscience, when the soul is completely free from all hindrances Sense-organs are, after all, material adjuncts of the soul incurred by it as a consequence of karmas so according to Jainism the knowledge received through senses, unlike in the Vaiśeṣika system where it is called pratyakṣa and explained as the contact between the senses and the objects of knowledge is indirect or mediate, because the objects are not known directly and straightway by the soul or self Thus the senses are the means of empirical knowledge which is conditioned by the limitations of time and space which is liable to environmental and perceptual errors, and which has stages in its process of knowing Reliable knowledge worth accepting as authoritative is possible only when the self directly knows the objectivity without the mediation of senses, and that is the condition of omniscience, The possibility of omniscience can be inductively proved Men of different degrees of intelligence and knowledge are found in this world, what is beyond the

1 Max Müller *Six Systems* etc , p, 559

grasp of one might very easily be understood by the other, some men have some of their senses more alert and sharp than usually possible, all this means that there is the possibility of the presence of different degrees of knowledge according to proportionate subsidence and destruction of knowledge-obscuring karman Then that condition of the liberated soul, where all the karmas are tracelessly annihilated, will have to be accepted as a state of unlimited knowledge which is the very nature of the self In the religio-mystical experience the self when freed from karmic fetters is itself the Higher self, it is a condition of absolute knowledge which is the same as absolute happiness for which there is no parallel in this world Knowledge and happiness are the two sides of the same shield of liberation, nay they are identical What Vedānta puts negatively Jainism puts positively the former links nescience with misery and the latter omniscience with eternal bliss, the Vedānta annihilates nescience by submerging the individual into the Universal, while Jainism says that the individual itself becomes universal, still each retaining its separate individuality, with this omniscient bliss, when stripped of its karmas The omniscience is possessed by Jaina prophets like Mahāvīra and by all the liberated souls

Omniscience of Varuna,—Leaving aside the peculiar back-ground of this doctrine in Jaina philosophy, the conception of all-knowledge is a legitimate claim of human mind Some tinge of omniscience is associated [p 76 :] with the Vedic god Varuṇa The all-encompassing blue vault above is the natural basis of Varuṇa, the sun, the eminent luminary of the sky, is his eye, his golden winged messenger, the sky can be seen from everywhere, especially so with nomadic Aryans who spent much of their time on open grounds, and so Varuṇa sits looking on all, and he easily detects the violations of his laws by men The sky is ever reflected in the great ocean, so Varuṇna is said to go in the ocean [1] This ubiquitous character of Varuṇa brings him some tinge of omniscience, so he is said to be a witness to the flights of birds in the sky and to the path of ships in the ocean This is physical omnipresence with a moral purpose and does not indicate any metaphysical or psychological implication, that is why perhaps this idea is not seen to be continued in later literature

Upaniṣads On Omniscience—The conception of omniscience in Upaniṣadic philosophy has to be sought under the idea of Brahman, Through the course of Indo-Aryan literature, from *Rgveda* to the last stratum of *Upaniṣads*, the word Brahman, both neuter and masculine, has passed through various vicissitudes of meaning, once the word signified prayer, and later on the potential power in prayers and other holy acts, and further Brahman as the limitless power at the basis of all existence was an easy step, but synthetically taking into consideration the culminating point, the Brahman has both anthropomorphic and noumenal characteristics [2] In the beginning he is identified with various elements, and later he is conceived as bliss and light and ultimately the Real of the real Brahman is the cosmic base, or the world-ground as Hume puts it, of all phenomena which are merely his various aspects Brahman is everything, it is permeation it is identity, besides him there

---

1 Macdonell *Vedic Mythology* pp, 22 etc,

2 Belvalkar and Ranade *History of Indian Philosophy,* Creative Period, pp 351 etc

is nothing real 'The phenomenal is a part of the Real, but only a fragment of the totality of the real' [1] This searching insight of the Upaniṣadic philosophers has brought them to a peculiar stand of awareness whatever is around the subject, the phenomenal world including the subject, is illusory, and what is noumenal, the Brahman, is unknowable, and it is truly beyond expression When the limited individual, realizing himself as one with the cosmic spirit *viz*, Brahman, knows this, he knows everything in fact The omniscience or all-knowledge, according to *Upaniṣads*, would come to mean the complete negation of nescience, the cosmic illusion, by fully grasping the underlying reality, the Unity This omniscience is Brahman-knowledge for which senses, thought and instruction are no means at all, it is a state of the supreme bliss of Turīyāvasthā The Vedāntic Brahman has no appreciable individuality in a finite sense, he is an all-embracing and all-pervading individuality, or better the cosmic principle standing for all that exists, is intelligent and is bliss, with the monist it is unique with no second, and with Śaṁkara whatever else that appears to be besides him is simply a figment of nescience In this Vedāntic conception which is thoroughly idealistic, the [p 77] objectivity is not outside the knower, while for Jaina omniscience, there is a complex external objectivity infinitely extended over both time and space which the omniscient has to visualise as easily as the eye does the object of sight In Jainism, because of its notion of pluralism of spirits, the self retains its individuality even in the stage of omniscience and eternal bliss, while in Vedānta Brahman is all with no scope for individual spirits In Vedānta Brahman, who is one without a second, is alone omniscient, while in Jainism many spirits might function as omniscients mutually interpenetrating without any conflict In all this the realistic tone of Jainism is quite apparent

Omniscience according to Buddhism—Buddhism has claimed omniscience for Buddha, and Śāntarakṣita holds that Buddha's omniscience is justified because of the correctness and validity of the doctrines propounded by him, because Buddha was free from the veil of suffering, and because he had destroyed the veil covering the transcendental truth The unbounded compassion of Buddha even to a śūdra is a characteristic of his omniscience Men ordinarily know only the general, while Buddha knows all the particular details, When Buddha sees them he is not stained by dirty contacts, he sees them keeping his mind untainted His mind is endowed with super-normal excellence, so he sees everything clearly So far as the personalistic note is concerned Jainism and Buddhism agree in the interpretation of omniscience, and their respective teachers are claimed to be omniscient The Jaina claim of omniscience, however, for Mahāvīra that he was 'omniscient, all seeing and possessed of complete knowledge and sight, that whether walking or standing, asleep or awake, knowledge and insight were continually present, has been ridiculed by Buddhists Buddha's claim of omniscience is of a slightly different character he remembers past lives as far back as he wishes, he can see the death and birth of beings according to their karmas, and as a result of the destruction of āsava he has attained, in this life, a free mind and knowledge [2] All the Jaina implications

1 Hume *Thirteen Principal Upaniṣads*, Intr p 37

2 See E J Thomas *The History of Buddhist Thought*, p 148

of omniscience cannot be read in Mahāyāna Buddhism, especially Śūnyavāda and Vijñānavāda, because both of them are idealistic as opposed to Jainism which is realistic The soul in Jainism being the sole knower can claim omniscience as its legitimate essence, while the momentary stream of consciousness in Buddhism can never be a substantial substitute for the Jaina soul The omniscient Tīrthakara has round about him the complex object of knowledge (including his self) with manifold modifications extending over three times and infinite space but according to Vijñānavāda there is nothing in this world besides the chain of consciousness Thus the Vijñānavāda, if I would say like that, comes round to Upaniṣadic monism, and omniscience simply amounts to self-knowledge, because nothing exists beyond vijñāna And Buddha is claimed as omniscient, because that would give infallibility to his utterances [1]

Kumarila's attack on Omniscience.—Kumārila has adversely [P. 78 •] criticised the doctrine of omniscience; so the *Pūrvamīmāṃsā* view is worthy of note, and it will have to be studied in the context of some of the special tenets of that school With the *Pūrvamīmāṃsā* Vedic injunctions are of the highest authority, the performance of the sacrifice is the highest duty which when performed gives rise to some unprecedented cosmic potency (apūrva), 'a potential after state of acts', which brings about all the fruits for the perfomer of the sacrifice. These tenets cannot allow any one to claim omniscience for the simple reason that if any one were to be omniscient outside the Vedic fold, his words would be looked upon as infallible and the Vedic authority would be questioned Kumārila says that the human being might see only the general aspect of things, and hence it is not possible to believe that a man can see all things in all places and of all times The omniscient will have to be a dirty being, because, being necessitated by the function of seeing, he will have to come into contact with so many dirty things There is a limit to visionary or knowing ability, and it cannot be stretched beyond that, so none can be able to see things which are supersensuous None of the five proofs can justify any one's omniscience The so called omniscients do not agree among themselves, their words are against Vedas whose authotity is unquestionable, and no omniscient is ever come across by anybody so omniscience is an impossibility [2] The all-knowledge attributed to Brahman means only self-knowledge This attack of Kumārila has twofold handicaps first, his hands are tied down by the above tenets of his school, and secondly, he has not distinguished sense-perception from omniscience, he attacks omniscience as if it is sense-perception intensified and magnified Kundakunda has plainly told us that senses have no part to play in omniscience, it is the spirit, being a knower by nature and essentially constituted of knowledge, that comes face to face with the complex reality, and comprehends it immediately and simultaneously in its entirety with no effort on his part and with no effect on his spiritual constitution

Omniscience elsewhere and omniscient Bliss—The creating Īśvara of the Nyāya school is omniscient, because the doer or kartā must know his actions with

1 *Tattvasaṃgraha*, G O, S xxx, pp, 815-936, Intro pp 45-50, 153-6 and 62-4

2 *Ślokavārtika* verses 111 etc

their causes, and the universe being an object of knowledge must be known by somebody Partial counterparts of and similarities with this notion might be detected in the Alaukika-pratyakṣa of the Nyāya school and in the Samādhiaprajñāta meditation and some meditational achievements of the Yoga school There is another aspect of omniscience emphasized by Kundakunda that it is a spiritual state of eternal bliss It is essentially the spiritual happiness, the senses have no scope there, for their happiness or pleasure is not independent as it is contingent on the conjunction of two entities If it is once realised there is no end to that It is attainable only after the destruction of various hindering karmas In this state knowledge and bliss are identical, because both of them are identical with the self This condition is possible for a Tīrthakara and a Siddha It is to be aspired after by religious aspirants This state can be happily compared with, so far as its reference to [p 79.] an individual is concerned, the Jīvan-muktāvasthā of Sāmkhya and Vedānta,[1] in which Ātman has been Brahman but is waiting till the journey of the mortal body is over and the upādhis are mitigated, in this condition there are no pains, no actions good or bad [2] So far as its blissful aspect is concerned, it is similar to Upaniṣadic Turīyāvasthā where self-conscious bliss is attained [3] This state of Brahmānanda is set forth in *Taittirīyopaniṣad* with an attempt to measure the bliss with empirical standards, we get there the perfect identity of Brahman and Ātman, and in the end there is a classical passage recording the ecstatic echo of the aspirant who is one with Brahman This aspect of omniscience, in fact, partly encroaches on the realm of religious mysticism

Omniscience compared with Radhakrishnan's religious experience — This spiritual life of omniscience and omnibliss is almost exactly the same as what Radhakrishnan calls Religious experience [4] It is a positive spiritual state of self-transcendence, there the individual acts by his whole being, by the totality of his faculties and energies, it is not the result of unconscious perversion but of spiritual super-consciousness, there is the response of the whole to the whole, and therein 'thought and reality coalesce and a creative merging of subject and object results' This religious experience is full of joy and peace But there is a point of difference this religious experience, according to Radhakrishnan, is a temporary state and not exercised continuously at the level of everyday experience, while omniscience when once attained cannot be parted with, because it is the essential manifestation of the entire spirit 'The soul of man' as Joad puts it 'is like a chrysalis maturing in the cocoon of matter from which one day it will burst forth and spread its wings in the sun of pure reality'.[5] This direct spiritual experience is a self-guaranteed vision and hence accepted

---

1 *Sāmkhyakārikā* 67

2 Belvalkar *Basu Mallika Lectures* pp 66-8

3 Ranade *Constructive Survey of Upa Phil* pp 335 etc

4 *An Idealistic view of Life* pp 84 etc, also *Counter Attack from the East* by C E M Joad pp 79 etc

5 This statement of Joad reads like a gāthā of Kundakunda rewritten It only means that in the interpretation of Reality the denominational religions, with which our relations are determined by the accidents of time and place, disappear into one Religion of transcendental experience of the Real

as the foundation of religion, that is exactly the reason why Jaina and Buddhist prophets are claimed to be Sarvajñas.

Necessity and proof of omniscience —This doctrine of Sarvajñatā has been a bone of contention between different schoolmen, the problem is twofold first, whether omniscience is humanly possible, and secondly, whether so and so is omniscient The Indian philosophical systems that accept Veda as a self-guaranteed authority have totally denied the first part and partially the second Jainism and Buddhism, with whom Veda has never been an authority perhaps for racial and geographical reasons, accept the first part but differ among themselves on the second point that is but natural They have struggled hard to prove and to establish the omniscience of their [p 80] respective prophets, for on that depended the very life and death of their systems it was the omniscience that could give infallibility to their prophets and therefore automatically to their scriptures that constituted the utterances of these prophets A good deal of literature has grown round this topic With Kundakuada sarvajñatā is a dogma, a religious heritage and an essential part of the doctrine he represents, he has not tried to prove it logically, perhaps it was not needed in his days The *Nijjuttis* show the traces of the logical approach to the subject, but the definite period of polemic logic in Jaina literature, so far as the existing Jaina works are concerned begins with Samantabhadra (circa 2nd century A.D), this period almost corresponds with the adoption of Sanskrit by the Jainas which was more convenient for polemcial style Umāsvāti is the first Jaina author to adopt Sanskrit, in his *Tattvārthasūtra* he describes omniscience (1, 10, 11, 29) on the same lines of Kundakunda, but he does not attempt to prove it The relative chronology of Jaina authors requires that Umāsvāti might have flourished somewhere between KundaKunda and Samantabhadra, Samantabhadra tries to prove the possibility of sarvajñatā, perhaps he has in view some attack either by Cārvāka or Mimāṃsā on the Sūtras of Umāsvāti, Samantabhadra s verses about Sarvajñatā have been looked upon as profound, full of meaning, and all the following authors, right upto the end of middle ages, have tried to prove the possibility of Sarvajñatā almost on the very capital of Samantabhadra' s arguments. The subject has been discussed with great zeal for centuries together by some of the greatest logicians that the Sanskrit language has ever come to be handled by [1]

6 [p 81] **The Atomic Theory** —Matter (pudgala) is a permanent substance belonging to non-sentient class of substances (11, 35) It is of various kinds, concrete and amenable to sense-perception, colour, taste, smell and touch are found in matter from the finer molecule to the gross earth (11 39 etc) The matter is either

1 It would not be out of place, if I give here references to various important discussions about Sarvajñatā, in Indian Literature, arranged according to relative chronology Really the logical discussion about Sarvajñatā begins with Samantabhadra (c 2nd century A D) who tries to establish Sarvajñatā in his *Āptamīmāṃsā*, verses 5-6 Siddhasena, who is undoubtedly later than Kundakunda, who flourished possibly after Samantabhadra, and who is generally assigned to the end of the 6th century A D (or even a century or two, I think, he might be earlier), in his *Sanmati-prakarana* (Ed Ahmedabad 1930), 2nd kāṇḍa, discusses about Kevalajñāna, the same as Sarvajñāna, or Sarvajñatā particularly with the background of the Śvetāmbara canon in view From some verses quoted by Anantakīrti

in the form of primary atoms (paramāṇu) or aggregates (skandha), these aggregates are the lumps of primary atoms The primary atom has no space-points i e, it has no spatial extension, it is the unit of the space-measure, and it cannot be perceived by senses Primary atoms being arid (rūkṣa) or cohesive (snigdha) come to form aggregates, Points of aridness or cohesiveness of an atom because of transformation increasing by one from one onwards, attain infinity Atoms form aggregates because of their points of aridness and cohesiveness, so atoms whether arid or cohesive, whether having odd or even points, form aggregates when there is the difference of two points, the minimum point being excepted To explain and illustrate an atom of one point of cohesiveness or aridness cannot be a party in the aggregatory process, an atom of two points of cohesiveness binds with an atom of four points of cohesiveness or aridness, and that of three points with that of five points Thus the various aggregatory formations are possible (II, 71-5)

Kundakunda's view stated—Kundakunda does not prove his primary atoms but simply describes them, the reason is quite apparent that he is merely utte-

---

in his *Bṛhat-sarvajñasiddhi* it appears that Dharmakīrti might have attacked the word *dūrārtha* etc used by Samantabhadra Pātrakesarī, who flourished possibly earlier than Akalaṅka in his *Pañcanamaskārastotra*, clearly defines Kevelajñana in select words of which *akramam* (equal to *yugapat*) reminds us of the attack raised by Siddhasena against the Śvetāmbara canon, he also attempts the proof of omniscience (see verses 4, 18-20 MDJG vol 13) The colophon that it is composed by Vidyānanda is put possibly by the editor being misled by the identification of Pātrakesarī and Vidyānanda proposed by Dr, Pathak, but it is now proved to be erroneous Akalaṅka (circa middle of the 7th century A.D) in his *Aṣṭaśatī* a commentary on *Āptamīmāṃsa* of Samantabhadra, explains clearly the position of Samantabhadra particularly with Buddhist attack in view Kumārila (middle of the 7th century) in his *Slokavārtika* (p 80 etc Ed Benares) attacks Buddhist Sarvajñatā and Jaina Kevalajñāna (verse 141), so far as the attack against the Jainas is concerned he has in view the statements of Samantabhadra and possibly he is acquainted with the view of Akalaṅka Kumārila's views have been fully and thoroughly criticised by Śāntarakṣita (705-762 A D) in his *Tattvasaṃgraha* and by Kamalaśīla (713-763 A,D) in his commentary on the same We find some discussion in *Prameyakamalamārtanda* of Prabhācandra Vidyānanda in his *Aṣṭasahasrī*, which is a commentary on Samantabhadra's *Āptamīmāṃsā* and completely incorporates *Aṣṭaśatī* of Akalaṅka, elaborately quotes from *Ślokavārtika* and possibly some other works of Kumārila and *Tattvasaṃgraha* of Śantarakṣita and attacks their views in detail We find these discussions in his *Tattvārtha-Slokavārtika* which appears to have been given this name after that of Kumārila's work Abhayadevasūri in his elaborate commentary on Siddhasena's *Sanmati Prakarana* discusses this topic at a great length Later some manuals, too, have been written to prove the Sarvajñatā, for instance *Bṛhat-Sarvajñasiddhi* and *Laghu-Sārvajñasiddhi* of Anantakīrti (Ed MDJG, vol I,) the attacks of which are mainly directed against Kumārila and they are much indebted to various authors from Samantabhadra down to Vidyānanda Besides these sources it is likely that there might be discussion in the works of Sumati Anantavīrya etc. some of which are lost and some still in MSS Sarvajñatā came to be accepted and discussed only as a religious necessity, but in course of time its psychological aspects also have been developed incidentally

ring the doctrines enunciated by the omniscient, and they are, as tradition would require, above any proof Matter exists either in gross aggregates or fine primary atoms, an aggregate is perceivable fact, while a primary atom, which represents a stage beyond which there is no possibility of further bisection, is beyond the ken of ordinary perception, only the super-normal perception can visualise it A primary atom, as we gather from other works of Kundakunda, is the ultimate, indivisible unit of matter It is eternal, unsounding, occupying one space-point and endowed with touch, taste, smell and colour, it is the cause of four elements (dhātu), and it is characterised by change (pariṇāma guṇo) [1] Every primary atom has only one taste, one [p 82 •] colour, one smell and two touches or contacts [2] With this description of paramāṇu, it is possible to attempt a proof of atomic existence as partly done by Umāsvāti and others It is clear from this description that the primary atom is not an ideal postulate like the geometrical point· it is essentially matter possessing the characteristics of matter or pudgala There is this fundamental difference between Jaina Primary atoms and the Vaiśeṣika atoms the former are of one kind, but the latter are of four kinds corresponding to four elements earth, water, fire and wind Attempts to conceive a visible entity like a mote in the sun-beam compared with the tertiary atom are seen in Nyāya-Vaiśeṣika texts, but they are conspicuously absent in Jaina works The Jainas and Vaiśeṣikas agree in holding that an atom is beyond sense-perception

Kundakunda on atomic interlinking —About atomic combination into aggregates Kundakunda gives the Jaina theory which is unique by itself The primary atoms, we have seen, have taste, smell, colour and touch It is this touch or contact whether cohesive or arid (snigdha or rūkṣa) that brings about the atomic combination There are points or degrees (aṁśa) of cohesiveness or aridness which decide the compatibility or otherwise of two combining parties [3] A primary atom whether cohesive or arid forms an aggregate with another whether arid or cohesive on certain conditions between the two combining parties there must be a difference of two degrees in the odd or even series of degrees of aridness or cohesiveness, but a paramāṇu possessing only one degree of aridness or cohesiveness, cannot

1 See *Pañcāstikāya* 84 etc and Prof Chakravarti's notes thereon (SBJ III pp 82 etc), the gāthā 85 has something like the Vaiśeṣika doctrine in view, but the use of the word *dhātu*, for elements, is more a Buddhistic technical term than the Vaiśeṣika one, See also *Niyamasāra*, 25

2 There are five kinds of tastes bitter, sour pungent, sweet and astringent, of which a paramāṇu has only one There are five colours black, blue, yellow, white and red, of which a primary atom has only one Smell is of two kinds agreeable and disagreeable, a paramāṇu can be one or the other There are eight kinds of contacts soft and hard (*mṛdu* and *kaṭhina*), heavy and light (*guru* and *laghu*), cold and hot (*śīta* and *uṣṇa*) and cohesive and arid (*snigdha* and *rūkṣa*, also rendered as smooth and rough) The first two pairs are not possible in the case of a paramāṇu, of the remaining it will have two contacts, and the pairs might be arranged accordingly, a paramāṇu can be cold and arid, cold and cohesive, hot and arid, and hot and cohesive (See *Tattvārthasūtra* V, 23, with *Bhāṣya* and *Sarvārthasiddhi*, and also *Pañcāstikāya* 84-8)

3 The possibility of change by increase or decrease in the degrees of aridness or cohesiveness in an atom owing to internal and external causes(?) is also accepted (See *Gōmmatasāra*, Jīvakāṇḍa gāthā 618)

be a party to the formation of an aggregate In the aggregate the one of higher degree absorbs the one of a lower degree Thus the atomic aggregation is an automatic function resulting from the essential nature of paramāṇus 'A crude theory,' Dr B N Seal remarks on this atomic interlinking, [1] 'this, of chemical combination, very crude but immensively suggestive, and possibly based on the observed electrification of smooth and rough surfaces as the result of rubbing'. The Nyāya-Vaiśeṣika position is different, according to which it is the will of God, the creating agency, that produces motion in the atoms, and so they [p 83,] combine into dvyaṇukas or binary atoms, three of which go to form a tryanuka or tertiary one and so forth, till masses of earth, water, fire and air are produced It is this theistic position that gives altogether a different turn to the Nyāya-Vaiśeṣika atomic theory The later Nyāya-Vaiśeṣika ideas and hair-splitting discussions about dvyaṇukas and tryaṇukas have no place in Jaina exposition.

Atomism Elsewhere:—In the Vedāntic cosmology there is no place for real atoms, because their acceptance would not be consistent with the uniqueness of Brahman, The word aṇu is known to *Upaniṣads*, but it stands for what is infinitesimally small and has nothing to do with the indivisible ultimate unit of matter, It is only some Buddhists that accept eternal atoms corresponding to four elements like the Vaiśeṣikas, Vijñānavādins, however, when they deny the reality of substance, cannot accept real atoms The Jaina paramāṇu is similar to the atoms recognised by Leucippus and Democritus in its basic conception that it is an eternal and indivisible minute particle of matter, that it is beyond senseperception, that it is made of the same substance, and that there are no four classes of atoms corresponding to elements, but the varying size and form of atoms with corresponding sourness etc accepted by them is not possible in Jaina conception The combinatory urge in atoms is due to their degrees of cohesiveness and aridness according to Jainism, but according to Democritus as explained by Epicurus, a primordial motion of atoms was assumed, which function in the Nyāya Vaiśeṣika is fulfilled by the will of God These similarities and dissimilarities do not by themselves lead to any chronological results, as they involve other wider issues, however, taking a constructive view of the Jaina atomic theory and comparing it with the Nyāya-Vaiśeṣika one, the Jaina view is much more primitive, and as Jacobi remarks the Jainas 'seem to have worked out their system from the most primitive notions about matter'[2]

7 Syadvada, or the Theory of Conditional Predication—A single substance is endowed with infinite modifications, and there are infinite classes of substances· to know one substance fully is to know the whole range of the object of knowledge, and this is possible only in omniscience, The sense-perception is graded and partial (1, 40, 48-51) A substance is endowed with qualities (or attributes) and modifications, though the substance is the same, it comes to be different because of its passing through different modifications, so when something is to be stated about a substance, viewed through a flux of modifications, there

1 *The Positive Science of the Ancient Hindus* p 97
2 *Encyclopedia of Religion and Ethics* Vol II, p 199

would be seven modes of predication · according to some modification or the other it is stated that a substance is, is not, is indescribable, is and is not, is and is indescribable, is not and is indescribable, and is, is not and is indescribable (II, 22-3)

Side-light on the Back-ground of Syadvad.—This is the famous Saptabhangī or *Syādvāda* of Jainism From the way in which *Kundakunda* has described this Syādvāda one thing is clear that the doctrinal elements, which have led the Jaina philosophers to enunciate such a seemingly [p 84] self-contradictory theory of conditional predications, are already present in Jainism The object of knowledge is a huge complexity constituted of substances, qualities and modifications, extended over three times and infinite space, and simultaneously subjected to origination, destruction and permanence Such an object of knowledge can be comprehended only in omniscience The senses are the indirect means of knowledge and whatever they apprehend is partial like the perception of an elephant by those seven blind persons The ordinary human being cannot rise above the limitations of his senses, so his apprehension of reality is partial, and it is valid only from a particular view-point this leads to the Nayavāda of the Jainas When ordinary human knowledge is partial, a new method of stating our approach to the complex reality had to be devised, and that is Syādvāda, the doctrine of conditional predications Thus the doctrine is a direct result of the strong awareness of the complexity of the object of knowledge and of the limitations of human apprehension and expression The substance is subjected to a constant flux of modifications, and we always look at it through one modification or the other, present or absent When we are looking at its present modification, we should not absolutely deny the past or future ones this peculiar position, leads us to conditional affirmation, conditional negation and conditional indescribability, which by their combination give rise to seven possible statements [1] Kundakunda makes it clear that Syādvāda is postulated because of this eternal flux of modifications [2]

Syadvada in Higher and Lower Knowledge—Students, very much imbued with the spirit of Vedānta, have always looked upon this approach to reality as a process of uncertainty and indefiniteness of knowledge, and a question is very often raised whether Syādvāda refers to Higher knowledge or to lower knowledge or to both If it refers to Higher knowldge, then Jainism is quagmire of uncertain statements which lead to nowhere, if it refers to lower knowledge, then Jainism has not reached the plain of Higher knowledge, and if it refers to both, then Jainism, with such a logic of indefiniteness, will more mislead than lead its followers to its religious or spiritual destiny These alternatives, that might be put forth by the Vedānta, whether accepted or rejected in parts or in toto, appear to be very dangerous It is necessary therefore, that the Jaina position should be clearly explained It must be remembered that the terms Higher knowledge and lower knowledge are imported from Vedānta According to Vedānta Higher knowledge consists in

1 For a detailed discussion about *Syādvāda* see my article in *Jaina Gazette* Vol 26, pp 188-97

2 In *Pañcāstikāya* it is said that the seven Bhangas are possible *ādesavasena* while in *Pravacanasāra, pajjāyena du kenavi* practically it means the same, because paryāya or the modification is the essential subject of *ādeśa*, the statement of information

realising the transcendental truth of the identity of the self, after being immune from upādhis, with Brahman for eternity, while lower knowledge consists in the knowledge of the worship of Brahman in his phenomenal state [p 85] as a personal deity or so forth [1] As a matter of fact, there is nothing exactly corresponding to this in Jainism, but if at all we try to find counterparts of parallel shade, Higher knowledge might stand for the knowledge of the liberated condition and lower for that of the phenomenal world Then, in that case, Syādvāda is confined to lower knowledge, where the individual knower approaches the reality by means of his senses and through the flux of modifications with which the object of knowledge is invested But the Higher knowledge is not closed to Jainism there is the omniscient Tīrthaṅkara who directly visualises the reality and conveys to us the nature of Higher knowledge. Thus Jainism gets out of those alternatives What Vedas are to Vedānta the Āgamas, which are the words of the omniscient, are to Jainism· the validity of their respective scriptures as accepted by them is a dogma with all the schools, and it should not detain us any long to understand the approach of Syādvāda and to appreciate its ontological back-ground and epistemological necessity

Syadvada and Nayavada —A thing, or the object of knowledge, is anekāntātmaka, *i e,*, of infinite characters that can be analysed and grasped individually, and this is the function of Nayavāda Nayas thus reveal only a part of the totality, and they should not be mistaken for the whole Because of this infinitefold constitution of a thing, there shall be infinite Nayas, and the same can be classified under broad heads as seven, two and so forth [2] As Akalaṅka defines, Naya is a particular approach of the knower (*nayo jñātur abhiprāyo*) A synthesis of these different view-points is a practical necessity, therein every view-point must be able to retain its relative importance, and this is fulfilled by Syādvāda which 'consists in seven vocal statements, limited by the clause *may be* (syāt) affirming, or denying, or both affirming and denying (whether simultaneously or seriatim) this or that quality or characteristic of a substance, with reference to its own, or foreign, or both own and foreign quaternion (dravya, kṣetra, kāla, and bhāva) without contradicting other proofs' Leaving aside the historical consideration, the relation between Syādvāda and Nayavāda I have stated elsewhere, 'Syādvāda is a corollary of Nayavāda. the latter is analytical and primarily conceptual and the former is synthetical and mainly verbal Syādvāda will certainly look lame in the absence of Naya doctrine Naya doctrine without Syādvāda has no practical value Syādvāda, in course of the process of assertion, curbs down and harmonises the absolute views of individual Nayas' [3]

1 Max Müller *Six systems* etc p 215

2 *Tattvārthasūtra* 1, 33, A B Dhruva *Syādvādamañjarī* (Bombay Sk and Pk series) notes on verse 28 etc, pp 276 etc,

3 *Jaina Gazette* Vol 26 pp 191-2, it is not that the Jaina authors have never tried to give other interpretations of seven Bhaṅgas on the grammatical view of Syādvāda, I find, for instance, in *Jayadhavalā* Commentary (Sholapur MS p 37) an interesting verse like this

kathamcit kenacit kaścit kutaścit kasyacit kvacit //
kadācic ceti paryāyāt syādvādah sapta-bhanga-bhṛt //

[p 86] **Nayavada and Syadvada traced back in Jaina Literature** — It is already shown that Nayavāda and Syādvāda are thoroughly consistent with Jaina ontology and theory of knowledge, but this is only a synthetic view So it is necessary to trace the antecedents and side-links of them in the early Jaina as well as cognate tracts of Indian literature and to try to shed light on the historical background of these tenets For this line of study it should be remembered that there are certain handicaps inherent in the very preservation of Indian literature, and Jaina literature is no exception The canon of the Śvetāmbaras, though portions of it can be as old as the 3rd century B. C or so, has been finally shaped in the middle of the 5th century A D, the fragments of the procanon of the Digambaras can be dated a few years earlier than the beginning of the Christian era, both the canon and pro-canon always leave scope for additions and omissions, besides huge portions falling into oblivion, being always preserved in the memories of monks, till a definite shape was given to them by commentators who came much later Taking these conditions for what they are, the seeds of both Nayavāda and Syādvāda are to be sought in early literature The word Naya in the sense of a view-point occurs in the Ardhamāgadhī canon of the Śvetāmbaras,[1] *Prajñapti* mentions Niścayanaya and Vyāvahārika naya[2] Turning to the pro-canonical literature of the Digambaras, Kundakunda refers to Vyavahāra and Niścaya-naya in his *Samayasāra, Pravacanasāra, Pañcāstikāya and Bārasa-Anuvekkhā* more than once,[3] at times he refers to Paramārtha-naya, Śuddha-naya which appear to me, in the light of the context and other passages, to be equal to Niścayanaya,[4] perhaps he admits the possibility of a view which is above these two (pakṣātikrānta),[5] and lastly he has in view the possibility of Nayas more than two[6] Umāsvāti mentions five or seven Nayas[7] After Umāsvāti, Samantabhadra very often refers to Nayas, his discussions being always of a synthetic and non-enumerative character, he does not enumerate seven Nayas The later authors like Siddhasena, Pūjyapāda, Akalaṅka and a host of them discuss these Nayas as given in *Tattvārthasūtra* at times differing among themselves on subtle details[8] Next turning to Syādvāda, the word Syādvāda, or Saptabhaṅgī is not [p 87]

---

1 See *Ardhamāgadhī Dictionary* Indore, s v

2 Dhruva *Syādvādamañjarī* notes p 303, I have consulted Ardhamāgadhi Dictionary and I find that the Nayas like Naigama, Samabhirūḍha etc are traceable to *Thānamga* and *Bhagavatī*, but, as some of these texts are not within my reach I have not been able to verify the references of the Dictionary

3 *Samayasāra* gāthās 7 12, *5, 27, 46, 47, 48, 56, 59 60, 67 84, 98, 360 etc, and 16, *5, 27, 29, 33, 56, 60, 83 272, 324 etc, *Pravacanasāra* 1 89 for dravyārthika and paryāyārthika 1, 19, 22, *Pañcāstikāya* 161 mentions niścaya, *B-Anuvekkhā* 82, 85, 86, 91

4 *Samayasāra* 8, 43, 11, 12, 14, 141, 272 etc

5 *Samayasāra* 142

6 Ibid, 144, it remains a question why we do not find any of the technical names of nayas, excepting perhaps Vyavahāra, in the works of Kundakunda There is a work called *Nayapāhuda* attributed to Kundakunda, but it is not discovered as yet

7 *Tattvārthasūtra* 1, 33, especially the various commentaries thereon

8 Chakravarti, *Pañcāstikāya* Intro p, 52 etc and Dhruva's notes referred to above.

traced, so far as I am guided by the Ardhamāgadhī Dictionary, in the Śvetāmbara canon; but however the seeds of that tenet are there *Bhagavatīsūtra* mentions the three primary predications [1] Prof A B Dhruva says that there is a reference to Syādvāda in *Sūtrakṛtānga-niryukti*, but I have not been able to trace it there I think he is perhaps misled by the definition of kriyāvāda etc in verse No. 118 [2] Kundakunda mentions full-fledged Syādvāda in *Pañcāstikāya* and *Pravacanasāra*, and the former gives the name Saptabhanga [3] There is no explicit reference to Syādvāda in *Tattvārthasūtras*, it is said to be implied by the sūtra, *arpitānarpita-siddheh* (V, 32) Later authors like Samantabhadra, Siddhasena, Akalanka, Haribhadra, Vidyānanda have fully discussed it in their works Philosophical evolution needs that Nayavāda should come first and Syādvāda next, but the references collected here do not warrant any conclusion like that, and even the Jaina authors say that they are the two wings of Anekānta

Counterparts of Syadvada elsewhere Discussed—Attempts have been made to detect the counterparts of the doctrine of manifold predication in other systems of thought According to *Sāmaññaphalasutta* a statement clearly indicating his extreme agnostic attitude is put in the mouth of Sañjaya Belaṭṭhiputta that he used to say *'atthi' ti pi no, 'natthi' ti pi me no, 'atthi ca natthi ca' ti pi me no, 'nevatthi na natthi' ti pi me no* This is considered by some as the forerunner of Syādvāda which is the positive form of it as shaped by Mahāvīra [4] Prof Dhruva mentions another view of equivocators who would neither declare anything to be good, nor to be bad, but on a question being put to them on this or that they resort to eel-wriggling by equivocation and say 'I do not take it thus I do not take it the other way But I advance no different opinion And I do not deny your position And I do not say it is neither the one or the other' Because it is attributed to 'some recluses and Brāhmaṇas', Prof Dhruva has concluded that Syādvāda, whose erroneous form is given above, had non-Jaina beginnings I admit the first part that it is a perverted parallel of Syādvāda, but the second part that it had non-Jaina beginnings is not guaranteed by the evidences It is clear that Prof Dhruva is led to this surmise by the word Brāhmaṇa, but the other word 'recluse' should not be ignored He gives the translated form 'recluse', and in all probability the original word must have been 'śramaṇa' I may have here a digression on the word Śramaṇa It occurs very often in Buddhistic texts [5] It means a non-Brahmanic ascetic, Buddha is often addressed by non-Buddhists as Śramaṇa, it designates those who are opposed to Brāhmaṇas, who are casteless, and who do not recognise the Vedas but attack [p 88] their superiority [6] Turning to Jaina literature,

1 *Jaina Sāhitya Saṃśodhaka* I, 4 *Sammatiprakaraṇa* p 441, especially the foot-notes on that page and the next Dhruva's Intro of *Syādvādamañjarī* p 77

2 *Sūyagadam* Ed by Dr P L Vaidya, Poona

3 *Pañcāstikāya* 14 and 72

4 Jacobi SBE 45 Intro p 46, Belvalkar *Brahmasūtra-bhāsya* II, ii, notes, p 114, and Dhruva Ibidem Intro p 76

5 See PTS Pali Dictionary under *samano*

6 Dutt *Early Buddhist Monachism* pp 64 and 69

Mahāvīra is uniformly mentioned as *Samane bhagavam Mahāvīre* by the Jaina texts, *Pravacanaṣāra* throughout uses the word Śramaṇa for a monk, and this sense is quite usual in the Śvetāmbara canon, and in South Indian vernaculars like Kannada Śramaṇa or Śravaṇa necessarily means a Jaina [1] The presence of the word 'recluse' in the context therefore, does not allow the conclusion of the non-Jaina origin The Buddhist passage indicates that it is a perverted view of the Jaina doctrine, something similar to it might have been upheld by Brāhmaṇa ascetics as well *Brahmajālasutta* mentions a view called Antānantikā, which at least in its name appears to be very near Anekānta, and against that the Buddhist propounded the fourfold process or method of exposition (catuṣkoṭikah *hoti, na hoti, ca na hoti ca, n'eva hoti na na hoti*),[2] Even in Jaina texts we do find this fourfold method of exposition in different contexts, for instance, a statement can be true, false, both true and false, or neither true nor false[3] All these parallels merely point out to a method of exposition which must have been current in Magadha perhaps even before Mahāvīra and Buddha Some scholars hold that Syādvāda comes out as a compromise between certain contradictory utterances of *Upaniṣads* that Being alone was true, that non-being alone was all true, neither being nor non-being is the truth, reality must be characterised by neither or both This opinion perhaps takes it for granted that all the *Upaniṣads* are a uniform stratum of literature which is never influenced by the philosophical speculations of the land in which they came to be shaped It is just possible that various views held by different philosophers, not necessarily Vedic, must have influenced the Upaniṣadic thought as well

Vedantic beginning for Syadvada not tenable—Prof A B Dhruva suggests that the Anirvacanīyatā-vāda of Vedānta has led to the Syādvāda of the Jainas as the next positive step This deduction is based on the supposition that Syādvāda had non-Jaina beginnings as proposed by himself on accout of its being attributed to 'recluses and Brāhmaṇas' The deduction is fallacious, because, as shown above, the term recluse, a śramaṇa, preeminently means a Jaina Anirvacanīyatā means that Māyā is such a principle that it can neither be called a being nor a non-being, nor both, and hence it is anirvacanīya [4] Māyā cannot be predicated in terms of being or non-being, in short it is a negative description, if at all I can call it so, of Māyā It should be distinguished from the conditional statements of Syādvāda It is true that there is some similarity between avaktavya proposition of Syādvāda and anirvacanīyatā of Vedānta, but the underlying idea is different, in the former [p 89] there is an attempt to coordinate affirmation and negation, while the latter wants to escape from both Anirvacanīyatā-vāda cannot logically develop into Syādvāda, and perhaps even Prof Dhruva is aware of it when he calls Syādvāda

1 A traditional definition, perhaps of sufficient antiquity is preserved in Abhayadeva's commentary on *Praśnavyākaraṇāṅga*, and it runs thus *niggaṃtha-sakka-tāvasa-geruyaājīva paṃcahā samaṇā*| Possibly it means a Magadhan recluse in general

2 *Indian H Quarterly* VIII, p 721

3 *Dasaveyāliyasutta* chap 7 also *Ācārāṅga* and other texts

4 *Sāmkhyapravacanasūtra* V, 54 especially the bhāṣya of Vijñānabhikṣu, see Dasgupta. *History of Indian Philosophy* Vol I, pp 461, 487

'as the next positive step' The logical development of anirvacanīyatā-vāda, if it is to be conceived irrespective of the dogmatical moorings of one system or the other, would be pure agnosticism, or by making some concession to the dogmas, it will come to something nearer the Śūnyavāda or Vijñānavāda of Buddhism, of which, as Dr. Dasgupta says, partial traces can be seen in Vedānta

Syadvada And Relativity—Half a century before, Darwin's evolution was a conjuring word with us, and today it is Einstein's relativity. The postulates of physicist and philosopher are all upset today by the theory of relativity It is mainly the theory of physicist, but here we are concerned only with its philosophical bearing As compared with relativity Syādvāda is much simpler and less elaborate, and the reasons are quite apparent, the bounds of human knowledge have become much more wide and the achievements of science more fruitful than what they were some centuries before The contribution of Syādvāda and Relativity to the ultimate outlook on life and its problems, taking into consideration the conditions under which and the age in which they are propounded, is almost the same To the Syādvādin the existence is a huge complexity, human mind cannot adequately apprehend it, nor can the human speech properly express the same As such absolute and categorical statements are out of court, and all statements are true so far our particular point of view is concerned This inadequacy of human understanding has led the Syādvādin to the doctrine of omniscience To the relativist all our terms of expression like right and left, fore and aft, east and west, up and down, high and low, dear and cheap, and many others are relative, they are not the same for all the observers and under all the conditions, so they are not absolute, but merely relative to something Some idealistic relativists have actually said that we all live in a queer world of ignorance, and there is no mode of testing Time, velocity, even matter in view of the electrical theory—everything is relative The other results of relativism are equally startling As Eddington says, 'the theory of relativity has unified the great laws which by their position hold a proud place in knowledge, and yet this by itself is only an empty shell The reality is in our own consciousness' Syādvādin is not such a subjectivist, according to him complete knowledge belongs to the omniscient being who cannot have any place in experimental sciences, for him reality exists outside the perceiver as well, but the percipient is too weak to perceive everything irrespective of spatial and temporal limitations, and hence his statements, are true relatively, only in particular context The position of Syādvādin, as distinguished from that of a full-blown relativist, can be thus expressed in the very words of Sir Oliver Lodge "Objective reality exists, but it is we who interpret it The universe is incapable of being comprehended by any finite being, it must be interpreted, and the way we interpret it depends on ourselves and on our faculties" [p 90] The religious dogma of a Syādvādin goes a step further and accepts an omniscient being, but Sir Oliver Lodge says, 'How God perceives it, or what it is an ultimate reality, we do not know' [1]

Syadvada and modern philosophy—The aim of Syādvāda happily corresponds with the scope of philosophy in modern thought Syādvāda aims to unify,

1 Sir Oliver Lodge *Relativity* p 39 etc

coordinate, harmonise and synthesise the individual view points into a practicable whole, or 'in the Syādvāda' as Prof Dhruva puts it 'discordant notes are blended so as to make a perfect harmony' With the advance of specialisation of different branches of knowledge like psychology, metaphysics, theology, epistemology etc the considerable size and importance of what philosophy once meant are being gradually reduced with a very happy result that philosophy, too, with the time, is taking a new grab, it aims now to unify constructively the conclusions of various branches of knowledge like special sciences with a view to explain the riddle of the universe Experimental sciences start with certain assumptions like the casual principle etc but philosophy examines these hypotheses in an abstract manner Special sciences deal "with some specially selected aspect of the general world, and its conclusions apply to that special aspect alone Any characteristics which a thing may possess in any other relations or for other purposes are irrelevent To the psychologist people are their actions, to the physiologist they are more or less efficient organisms, to the chemist they are various collections of elements, to the physicist they are forces in motion These same people may also be good husbands or good squash racket players, but these aspects of their whole personality are at the moment irrelevent They may become relevent when the statistician enquires into these sides of their natures" [1] Philosophy harmonises all these by examining their assumptions, and in its ideal aspect it aims to find 'one concrete categorical fact expressible in conceptual form' As to the aim of philosophy, with which I have just compared Syādvāda, Joad says, "Philosophy[2] consists, in fact, of continual pooling and sifting of the conceptions of philosophers The more diverse the conceptions the richer the material to be sifted None is to be rejected, because, while none is true, none is wholly false" This attitude will surely cultivate tolerance in the earnest struggle for the search of Truth This sense of relativity of truth is also visible in the methods of scientific research Aspects or Nayas are after all aspects, however exhaustively they are enumerated True knowledge, which philosophy aims at, is the knowledge of a whole, a culminating synthesis after every avenue of analysis is exhausted The function of Nayavāda in Jainism is almost the same, so far as the underlying idea is concerned, as that of various special sciences, just as Syādvāda harmonises various Nayas, so modern philosophy aims to harmonise the conclusions of different experimental [p 91] sciences Nayas simply analyse and take to bits only a particular aspect, so a process of synthetic expression like Syādvāda is necessary to convey the nature of reality [3]

Evaluation of Syadvada—As Prof Chakravarti puts it, Syādvāda has steered clear of the shallow realism of *Cārvākas* and the ludicrous idealism of

1 J F Wolfenden *The Approach to Philosophy*, p 27 etc, also Joad's *Counter Attack from the East* pp 95 etc

2 For philosophy, substitute Syādvāda and for conceptions of philosophers various Nayas and the comparative position is the same

3 The exact chronological relation between Nayavāda and Syādvāda, the grouping of seven or six Nayas under Dravyārthika and Paryāyārthika, the coordination or identification of these two Nayas with Niścaya and Vyavahāra these are points which need further study on strictly historical and philological lines

Nayavādins.[1] 'Syādvāda' says Prof Dhruva 'is not a doctrine of mere speculative interest, one intended to solve a mere ontological problem, but has a bearing upon man's psychological and spiritual life'[2] It has supplied the philosopher with cosmopolitanism of thought convincing him that Truth is not anybody's monopoly with tariff walls of denominational religions and the religious aspirant with 'intellectual toleration' which is quite on par with Ahiṃsā for which Jainism has eminently stood for the last two thousand years and more[3]

8 **Jaina conception of Divinity**—The soul being tainted with karman develops states of consciousness which being auspicious or inauspicious receive karmic influx, and it is this karman that binds the soul and revolves it in *saṃsāra* Essential characteristics of the soul are all crippled by the karmic encrustation of eight kinds (II, 95) The soul in this round-of-rebirths is subject to attachment, aversion and other psychic states tinged with passions which occasion further karmas (III, 43). The way out of this *saṃsāra* consists in Right faith, Right knowledge and Right conduct (I, 6) The first consists in believing in the nature of things or realities as they are, for instance the soul is essentially pure etc; the second consists in comprehending the whole range of objectivity as preached by Arahantas or from the [p 92:] Agamas[4] (I, 81-2, III, 33 etc), and the last consists in adopting perfect equanimity after practising the essential duties and penances in an ascetic life that go to stop the influx and exhaust the deposit of karmas.

When the soul is free from the four destructive or malignant types of karmas, namely Jñānāvaraṇīya, Darśanāvaraṇīya, Mohanīya and Antarāya, it manifests

1 *Pañcāstikāya* Intro p 85

2 *Syādvādamañjarī* notes p 272

3 Syādvāda or Saptabhaṅgī attracted the attention of Orientalists mainly because *Brahmasūtra* or Bādarāyaṇa contains a sūtra *na ekasminnasaṃbhavāt* II, ii, 33, which really contains an attack against Anekāntavāda of the Jainas, and the spirit of the sūtra has been consistently immortalized by a host of commentators like Śaṅkara, Rāmānuja, Vallabha and others It is not possible to say exactly the Jaina definition which Bādarāyaṇa had in view, but in all probability the Jaina definition contained a word *ekasmin*, and it was perhaps a forerunner of such definitions now met with in Jaina commentaries *praśnavaśād ekasmin vastuni avirodhena vidhi-pratiṣedha-vikalpanā saptabhaṅgī* (*Rājavārtika* p 24), or the anonymous verse whose source I have not been able to trace but which is quoted by Jayasena in his *ṭīkā* on *Pañcāstikāya*

ekasminnavirodhena pramāna-naya-vākyataḥ |
sadādi-kalpanā yā ca saptabhaṅgīti sā matā ||

Almost all manuals on Jainism contain some discussion about Syādvāda, so an exhaustive bibliography is beyond the scope of this foot-note Before one actually begins the study of Jaina technical works on Syādvāda the following books can be read with advantage Jacobi's paper 'The Metaphysics and Ethics of the Jainas', Chakravarti *Pañcāstikāya* Philosophical Introduction (SBJ III), Dasgupta *A History of Indian Philosophy* Vol I, Chapter on Jainism, Radhakrishnan *Indian Philosophy* Vol I, Chapter on Jainism, Dhruva *Syādvādamañjarī* Intro & Notes Important texts etc have been noted by Prof Dhruva in his Introduction and notes

4 Importance attached by the Jainas to their Āgamas can be seen from the third book of *Pravacanasāra*

pure consciousness and becomes self-sufficient (I, 16); the pure self is realised, and all the developments of consciousness like agency, means, action and fruit are identical with the self (II, 35) In this state of self-realisation are developed omniscience and eternal happiness, therein the soul is called Svayambhū There the spirit develops excellent infinite strength, excessive lustre and super-sensuousness (I, 19). There is no trace of any misery and no place for any desires The self is itself and nothing more, nor in need of anything more (II, 68) The whole range of objectivity is immediately and simultaneously visualised and known by him with no temporal and spatial limitations (I, 21-2, 37) He is himself, all knowledge, having nothing to do with karmas, his function of a knower, being his essential nature and spontaneous output, brings no karmas to him (I, 43-4) The highest happiness which was the object of his meditation has been reached (II, 106) Then he becomes Siddha after the remaining four aghāti-karmas are destroyed, as the sun is all lustre and warmth He is all knowledge and happiness and a Divinity (I, 68)

Transmigration a fact and a dogma—According to Jainism the round-of-rebirths is a fact and transmigration a dogma, nay, we cannot think of Jainism without transmigration The ball of rebirths is already set in motion since beginningless time, and it stops only when the soul attains liberation The cause of rebirth is karma which is a subtle form of matter that is, since eternity, associated with the soul Like Vedāntic Māyā, karman explains saṃsāra As to the means of getting liberation it is a part of religious details which should not detain us long, but one thing I want to note that the Jaina philosophers have devoted a great attention to the study of living organisms and the different spiritual stages which result from the suppression and destruction of different karmic forces

The idea of divinity explained—The Jaina conception of divinity stands almost by itself here, as in other tenets, Jainism inclines towards realistic pluralism Every soul, when it is completely free from karmas, becomes itself (Svayambhū),[1] and it is the divinity Divinity as a type, a level of spiritual evolution and a culmination of spiritual attainments, [p 93] is one, but every soul, even when it attains divinity, retains its individuality It is the free soul, the higher self, as distinguished from souls in mundane existence The Jaina God as a type is an ideal to all the aspirants on the religious path The conception of god holds a great vista of optimistic vision before the religious devotee It is often said that the aim of religion is the realisation of the potentially divine in man, this means that the self not only knows itself but becomes itself (svayambhūta), now immune from all matter, by becoming itself it becomes the God which nature was already inherent in the spirit, but, upto this time, crippled by karmas, and this then is the state of perfection,

1 In the *Upaniṣads* the word Svayambhū is used, and it signifies the self-existent Brahman (*Īśa* 8, *Kaṭha* 4, 1, etc) The Jains too call their divinity as Svayambhū By using this word they mean that the individual self has become (svayaṃ bhūta) the Universal one, the Vedāntic sense is that of self-created and self-existent This designation is used by various Jaina authors Kundakunda in *Pravacanasāra* I, 16, Samantabhadra in his *Svayambhū-stotra*, Siddhasena, at the opening of his stutis Pūjyapāda in *Siddhabhakti* 4, and many other later authors

Vedic Gods and the Jaina conception of God —The conception of divinity in the Vedic age has its roots in the awe of nature and in the unsophisticated mind of a nomadic tribe which was under the sway of a simple conviction that the natural events and phenomena, so regular in their occurrence and so terrific at times, must have some superhuman agency behind, thus the Vedic gods owe their existence and attributes to some natural phenomenon Varuṇa is there, because the blue sky is there, even in waters reflected, so Varuṇa comes to be a ubiquitous deity who is a patent witness to all the sins of man, because all of them are committed under the sky Multiplicity of natural phenomena leads to plurality of gods that are divided into three classes according to their terrestrial locations Like our human families the nature gods too have their families with Aditi as their mother, but the worshipper has his difficulty as to how he might be able to concentrate on a single god in this chaotically grown gallery of Vedic gods, and hence the tendency of Henotheism which, when philosophically diluted and divested of individual names of different gods, remarkably grew into theistic monism, possibly through the doctrine of Rta, the all-governing principle, that there was someone behind all these gods, and consequently behind cosmic existence, who later on played the part of a lord of all the beings (Prajāpati), and who is the causal agency of this cosmic existence and the cause of everything that baffled human reason here From this the step of personal Ātman or of impersonal Brahman of the *Upaniṣads*, or the toning down of these principles for practical purposes like creation etc, in later phases of Aryo-Vedic religions is not a long one Nowhere in this scheme the Jaina conception of god properly fits in monastic tendency is too strong in Aryan faiths, and hence the antecedents of Jainism with this conception of divinity, which is pluralistic in its beginning and the infinite souls in which retain their individualities even in summum bonum, demand all the more attention, and they will have to be sought in eastern India especially in Magadha and the surrounding parts reaching far back in time before the advent of the Aryans

Jainism and Nastikata —By the orthodox systems Jainism is called Nāstika; and whether it is so depends on the significance of the word nāstika which has changed its meaning very often and which has been a favourite term of contempt with which anyone can label his opponent Nāstika, according to grammarians, is one who does not believe the other worlds, then the Jainas [p 94.] are not Nāstikas But according to Smṛtis Nāstika means one who denies creation by an intelligent agency and one who denies the authority of Vedas, in both these senses Jainism is Nāstika, because it never accepts the theory of creation, and with it Vedas have never been an authority Jainism does accept a god, and hence the term atheist, in its etymological sense, cannot be levelled against Jainism If atheism means no-acceptance of a popular god who creates, protects and destroys the world as assumed in many Indian systems, then Jainism is atheistic In applying these conventional labels one has to be very cautious

Jaina Liberation —Emancipation according to Jainism consists in the freedom from the karmas when the inherent powers of the spirit are fully blossomed, it is the end of the world-process, when the process has come to an end so far as

a particular soul is concerned, in emancipation the individual spirit or soul is at its best In that state the individual fully develops all-knowledge, all-vision, all-bliss and all-power It is not the obliteration of the individual, nor of the inherent individual traits, nor is it the submergence of the individuality into some universality

9 **Jainism in Indian religious thought** —This brief survey of some of the important tenets of Jainism compared and contrasted here and there with those of other Indian systems tempts me to try to state tentatively the position of Jainism in the evolution of Indian religio-philosophical thought Its non-acceptance of Vedic authority, wholly common with Buddhism and partly with Sāṃkhya, perhaps indicates that these three belong to one current of thought. They have in common the theory of transmigration with the attendant pessimistic outlook of life and Karma doctrine as an automatic law of retribution which appear definitely for the first time in *Upaniṣads* so far as the Vedic literature is concerned [1] The humane and ethical outlook and the downright denunciation of Hiṃsā, whether for personal ends or for Sacrificial purposes, are common to all the three That Buddhism and Sāṃkhya have much in common is not a new thing to orientalists Ontological dualism, the plurality of spirits, the misleading of the spirit by matter, the early Sāṃkhya belief that there are as many Prakṛtis as there are Puruṣas and many other technical details are common to Jainism and Sāṃkhya In all the three systems three is no place for a creator or a super-human distributor of prizes and punishments These common points are at times not at all consistent with the natural evolution of the Vedic religion till almost the middle of the Upaniṣadic period Especially the Sāṃkhya, which is accepted as orthodox possibly because of its fascinating terminology, inspite of its glaring inconsistencies with the accepted orthodoxy, has influenced some of the *Upaniṣads*, and later on being coupled with theistic Yoga it became unquestionably orthodox In view of these common points between Jainism, Sāṃkhya and Buddhism and their common differences with the Aryo-Vedic religious [p 95] forms, and in view of some of the peculiar tenets of Jainism in common with Ājīvika, Pūraṇa Kassapa's order etc, I am inclined to postulate a great Magadhan religion, indigenous in its essential traits, that must have flourished on the banks of Ganges in eastern India long before the advent of the Aryans into central India, and possibly at the end of the Brāhmaṇa period these two streams of Aryan and indigenous religious thoughts met each other, and the mutual interaction resulted on the one hand into the *Upaniṣads* in which Yājñavalkya and others are, for the first time, preaching Ātmavidyā and on the other, in contrast to the Vedic ritualistic form of religion practised by the masses, into Jainism and Buddhism that came prominently to the fore as the strong representatives of the great heritage of Magadhan Religion [2]

---

1 Keith *Sāmkhya System* pp 15-6, Ideas like transmigration are accepted as a definite fact only in the Group three (and partly also Group four) of the Upaniṣadic tract of literature, see Belvalkar & Ranade *History of Indian Phil*, Vol II p 375

2 I had first set forth this theory in my paper 'Mahāvīra and Buddha on Nirvāṇa read before the Sanskrit Association, Rajaram College, Kolhapur in 1932, it was published in the College Magazine and subsequently the major portion of it

e) Monastic aspect of Pravacanasara

An ideal Jaina Monk.–The third book of *Pravacanasāra* gives a good picture of an ideal Jaina monk who has adopted asceticism to get rid of the misery of *saṃsāra* His twofold emblems impose on him internal and external purity Absolute non-attachment is the motto of a monk, and the details of his duties are all deduced from this virtue The Jaina monk is indifferent towards the world, though he bears no hatred towards it, the worldly ends of power, fame and wealth for which men strive in sweating competition are of no importance to him. The twenty-eight Mūlaguṇas comprise his course of conduct he observes five vows, he is careful in his fivefold activities, he fully controls his five senses, he observes six essential duties, he pulls out his hair periodically, he remains naked, he does not take bath, he sleeps on the ground, he does not cleanse his teeth, he takes his meals in a standing posture, and he takes only one pure meal a day He takes all possible precaution not to violate these Mūlaguṇas, and in case he violates them, he duly approaches his teacher, reports and confesses the sin, and adopts the lustral course Negligence is his greatest enemy, so he keeps himself constantly alert Not only he has no attachment at all, but he is absolutely indifferent to the world and its allurements He keeps almost no paraphernalia He spends his time in studying the scripture and in the practice of penancial courses and primary virtues He eats little, only once, and that too when it is duly offered to him, and there is no consideration for juices Any food which involves harm unto living beings is absolutely forbidden His eye is set on liberation, so he constantly struggles to maintain a pure attitude of mind, and cultivates faith, knowledge and discipline He keeps company with superior monks or [p. 96] with monks of equal merits,[1] and observes all respectful formalities towards an elderly monk His preachings and all other activities are in the very interest of his spiritual advancement. Being a Nirgrantha he practises no profession The rigorous type of Nirgrantha asceticism is not prescribed for women because of their natural disabilities Women are not excluded from entering the order; but the ascetic emblem of nuns is more moderate and less rigorous than the one prescribed for monks

Critical remarks on some Jaina ascetic practices—It must be noted that we do not see any reference to four stages of life, there are only two stages here the first, that of a house-holder, and the second, that of a monk, and it is with the latter's duties that *Pravacanasāra* is concerned The outline of duties of a Jaina monk here is very sketchy, but all the fundamentals are given, and the details, which are found in special texts like *Mūlācāra* etc, are simply implied Most of these details are natural deductions from certain fundamental rules of conduct

---

appeared in *Jaina Gazette* Vol 30, 6 Asking some queries on certain issues about the Jaina and Buddhistic conceptions of soul, Ananda Kausalyayana, Berlin, writes in *Jaina Gazette* Vol 30, II ' Mr Upadhya's survey of Vedic, Brahmanic, Upaniṣadic and Bhddha-Jaina thought-currents would do credit to any writer on this subject, and his stress on the suggestion that the Aryan thought-current received some impetus from the indigenous non-Vedic thought-current is of great importance". I have discussed this very subject in more details in my essay on the Jaina Karma Doctrine which is awaiting publication

1 Compare *Dasaveyāliya'* XII, 9-10

which require that the ascetic life should be very rigid and that the life of a monk should be as much independent and self-sufficient as it is humanly possible. The subtle details and the method and manner of treatment differ here and there, but the monastic atmosphere as found in *Ācārāṅga, Dasaveyāliya, Mūlācāra* and *Pravacanasāra* is practically of the same character, whether the texts belong to Śvetāmbaras or Digambaras Nudity is prescribed in Śvetāmbara texts as well,[1] but the commentators say that it is meant for Jinakalpi monks Nudity, as a part of ascetic discipline, appears to have been in great vogue in eastern India even before the time of Mahāvīra and Buddha, it is found prescribed in Ājīvika and other schools, it is an ideal extension of the vow of non-attachment, and hence its practicable modifications too are found in the same systems in which nudity is prescribed. Not to cleanse the teeth, not to take bath and a host of other details are common to both Digambaras and Śvetāmbaras The report and confession of sins[2] can be compared with the Prātimokṣa ceremony of the Buddhist order according to which the eating of food only once at a sitting too was prescribed The technical term pravrajyā-dāyaka is common to Jainism and Buddhism The Jaina rules with regard to food and clothing are more rigorous than those prescribed for Buddhist monks in Vinaya texts It has been usual to trace many of the Jaina and Buddhistic practices to Brahmanic monastic life of Dharmasūtras, but I think, without denying, however, mutual exchanges and modificatory influences, many of the underlying [p 97·] principles of Jaina and Buddhistic monachism stand by themselves, and they will have to be traced back to a body of ascetic practices in Eastern India even before Mahāvīra and Buddha The Śramaṇism is peculiarly Indian, and its antecedent seeds are to be sought on the Indian soil

Remarks on the saṃgha of monks—There are indications throughout *Pravacanasāra* that the Jaina monks used to live in groups the head of the band was called Gaṇin the text gives different formalities to be observed before the preceptor, the Śramaṇa saṃgha which has four classes is referred to in III, 49, in the case of certain monks admission and upkeep of students are allowed, the monks (sādhu) are expected to give assistance to Śramaṇas on certain occasions (III, 52), and a monk is asked not to mix with those of inferior merits Our text mentions two office-bearers in the ascetic community Pravrajyā-dāyaka, one who initiates the novices into the order of monks, and the other Niryāpaka (the Sk rendering, I think, should be niryāmaka, a pilot) who brings them to the right track when they have committed faults

Back-ground of the Jaina institution on mendicancy—The institution of mendicancy is not recognised in earlier Upaniṣads, but only in later works like

1 *Ācārāṅga* I 9 1 etc and many other passages from the second part, *Dasaveyāliya* VI 65, *Uttarādhyayana* 21, 49, K P Jaina The Jaina References in Buddhist literature, in Studie materiali di storie delle Religioni, III for 1927, and other papers of his in the *Jaina Hostel Magazine*, Allahabad, Winternitz *Indian Literature* II, p 434

2 See my Introduction to *Pamcasutta* pp 11 ff, *uposatha* gatherings, an off-shoot of his Pātimokkha, are traced back to non-Buddhistic sources and they were accepted by Buddha according to the request of Bimbisāra from 'some of the religious orders of his time, it should be noted that Bimbisāra was an adherent of Jaina faith for some time at least-see Dutt *Early History of Buddhism and the Buddhist schools* p 115

Dharmaśāstras that it is described It is not at all improbable that the ascetic institution was purely Magadhan, rather current in Eastern India, since long time as the forerunner of Jaina and Buddhistic monachism Dutta remarks "It seems reasonable that the condition of religious mendicancy developed on the Indian soil, and was not introduced into the country by the early Aryan settlers whose life and society are reflected to us from the Vedic mantras" [1] In *Pravacanasāra* the monk is repeatedly designated as a *Śramaṇa*, the meaning of which is already discussed above [2] Though originally it designated a Magadhan recluse, by the time of Kundakunda it appears to have been an exclusive appellation of Jaina monks, as it is clear from the South Indian usage of that word It is possible that Megasthenes, in referring to Sarmanes, had in view the Jaina monks, the orientalists have detected that his designation of Gymnosophists was meant for Jaina ascetics, and the word Gymnetai used by Kleitarchos[3] appears to be a corruption of Jaina-yati

5. Commentators of Pravacanasara

1. Amrtacandra and his Tattvadipika

Amrtacandra and his works—We know nothing about the personal life of Amṛtacandra [4] He gives no information about himself in his works The *praśasti* printed at the end has nothing to do with [p 98·] Āmṛtacandra, but it belongs possibly to a scribe of a Ms Aśādhara[5] quotes a verse (No 26) from *P -siddhyupāya* with the phrase *'etad anusārenaiva Thakkuro' pidam apāthīt'*, indicating thereby that Amṛtacandra had perhaps another name Thākkura, or it might have been his surname in his family life as Thākūra or so The source of Āśādhara's information, however, is not known to us Only five works of Amṛtacandra are available today 1 *Puruṣārthasiddhyupāya,*[6] also known as *Jina-pravacanarahasya-kośa*, exhaustively deals with the duties of a house-holder in a highly philosophical tone His explanations of Ahiṃsā and the relation between the two Nayas are important contributions to the understanding of the subject There is a freshness about his treatment, and some of his illustrations are original and striking, it is throughout written in Āryā metre The text does not mention his' name 2 The second work is *Tattvārthasāra* which is a running metrical exposition of *Tattvārthasūtra* Excepting the concluding verse, it is in Anuṣṭubh metre The name of the author is not mentioned, but at the end of these two works the author happily expresses his modesty that the letters have

1 *Early Buddhist Monachism*, p 60

2 See p 83 above, also Dutta *Early B Monachism* pp 41 etc

3 Dutta *Early B Monachism* pp 120 ff

4 For some notes on Amṛtacandra see Peterson *Reports* IV p ix, *Jaina Hitaishi* Vol ivx p 255, some additional notes have been written by Pts. Premi and Jagadishacandra in *Jaina Jagat*, the actul reference to which I have mislaid.

5 His commentary on *(Anagāra) Dharmāmrta*, p 160, MDJG No 14

6 This and *Tattvārthasāra* are published in SJG vol I, the former is published in RJG with Premi's Hindi translation

formed the words, the words the sentences, which in turn have made the book, so he is no more the author 3-5 Besides these two works, we have his commentaries on *Pañcāstikāya* (called *Tattvapradīpikā-vṛttih*), *Pravacanasāra* (called *Tattvadīpikā*) and *Samayasāra* (called *Ātmakhyātih*), at the end of which he uniformly mentions his name *Samayasāra-kalaśa* is often treated as an independent work of Amṛtacandra and even a Sk commentary is written on that alone by Śubhacandra,[1] but in fact it is a separate compilation of the verses included in his commentary on *Samayasāra* All these works are in Sanskrit It may be asked whether he wrote in Prakrit, possibly he did, for the following reasons his commentaries indicate that he was a close student of Prakrit, at the close of some MSS of his commentary on *Samayasāra* one Prakrit gāthā is found possibly composed by himself,[2] and lastly Meghavijayagaṇi attributes some Prakrit gāthās to Amṛtacandra from a *Śrāvakācāra* of his copmposed in Prakrit One gāthā attributed to Amṛtacandra is traced in *Dhādasī-gāthā*,[3] about the author of which nothing is known except that he is said to have belonged to Kāṣṭhāsangha If Meghavijayaji's attribution is authentic, Amṛtacandra might be the author of *Dhādasī*, and in that case he possibly belonged to Kāṣṭhāsangha. If he belonged to Kāṣṭhāsangha, this might conveniently explain the use of certain words and phrases of Amṛtacandra and the omission of some crucial gāthās from Kundakunda's texts,[4] but all this belongs to the domain of conditional conjecture

[p 99] **His scholarship, Style etc**—As a commentator Amṛtacandra's position is really great because, so far as we know, he is the first commentator on the authoritative works of kundakunda He does not aim at verbal explanation, but he wants simply to propound the philosophical contents of the gāthās Sometimes, however, it is possible to conjecture a particular Prakrit reading from his close paraphrase[5] His zeal for Anekānta logic is very great that is quite clear from his commentaries and other works He shows close acquaintance with Digambara as well as Śvetāmbara works He quotes from *Mōkkhapāhuda* of Kundakunda[6] He quotes a *Vyavahārasūtra*[7] which appears to be possibly some Śvetāmbara work, Jayasena not being aware of any such work translates the same by Cirantana-prāyaścitta-sūtra He quotes a gāthā from *Sanmati* of Siddhasena[8] His mastery over Sanskrit idiom is remarkable, his handling of Jaina technical terms is so natural and easy that he does not hesitate even to translate them like ordinary common nouns He knows the value of pithy remarks and concise exposition, sometimes repetition is seen here and there, and this habit he appears to have contracted from Kundakunda's *Samayasāra* Sometimes his prose is artificial, though the current of his expression is very forceful Amṛtacandra is more a poet than a prose writer, to this even a few verses in his commentary on

1 Published under the title *Paramādhyātma-taranginī* in SJG No 15, Calcutta, on Śubhacandra see my paper in *Annals* of the B O R I vol XII, ii, p 132 ff
2 Prof Velankar. *Catalogue of Sk & Pk MSS in the library of* BBRAS, Vols III-IV, p 430
3 Ed MDJG Vol 13 pp 161 etc, it is the 20th gāthā that is quoted by Meghavijaya
4 See p 50 above and foot-note No 5 on p 51
5 See for instance I 19 (*adimdio*), 51 (*visamam*) etc
6 *Pañcāstikāya* on gāthā 146, p 212
7 *Samayasāra* p 404
8 *Pañcāstikāya* on gāthā 172, p 251

Pravacanasāra bear witness As a spiritual poet (adhyātma-kavi) his position is simply unique and unequalled by any Jaina author before or after him His *Samaya-sāra-kalaśa* is a veritable mine of finely phrased and carefully polished melodious verses containing the essence of Ātmavidyā, it has left lasting influence on some of the later authors like Padmaprabhadeva, and the subject matter is discussed with such a dignity in suitable metres that this compilation is enough to commemorate the poetic talents of Amṛtacandra

Quotations in his Tattvadipika—There are only five quotations in his *Pravacanasāra*-commentary The verse *ānandāmṛta* etc. is introduced with the phrase '*bhavati cātra ślokah*', this use of the singular, though there are two more verses coming after that, shows that it is perhaps a quotation, but I have not been able to trace it anywhere Taking together two more quotations, *jāvadiyā vayana-vahā* and *para-samayānam*, which are quoted one after the other, they are found in the same order in *Gōmmatasāra* (Karma-kanda 894-5), and there is practical agreement between the readings Their consecutive position and verbal agreement tempt one to suggest that Amṛtacandra might have taken them from *Gōmmatasāra*; but one cannot be dogmatic on this point, because *Gōmmatasāra* is a work of compilatory character, and there is every possibility of these gāthās being found in *Dhavalā* and *Jayadhavalā* commentaries The first gāthā is found in *Sanmati-prakarana* of Siddhasena (III 47), but Amrtacandra though acquainted with the works of Siddhasena, does not appear to have quoted it from that source for the following reasons [p 100 ·] first, the gāthā as given by Siddhasena has Māhārāṣṭri features, but here it is decidedly in Śaurasenī, secondly, Amrtacandra quotes these two verses together, while Siddhasena has only one [1] Then the remaining two quotations, *niddhā niddhena* and *niddhassa niddhena*, are found in *Gōmmatasāra* (611-14), though not consecutively as quoted here, in the same order with the intervention of two gāthās in the middle The dialectal appearance also agrees, but we should not be dogmatic, *niddhassa niddhena* is a very old gāthā, it is quoted in *Sarvārthasiddhi* (V, 37, there *dh* is retained for *h*)[2] of Pūjyapāda, following him Akalanka quotes it in *Rājavārtika* (where *dh* is changed to *h*); with slight variants it is quoted in *Bhāṣya-vrtti* (V, 35) of siddhasenagani, and further from an editorial note[3] thereon I find that the gāthā is traceable to *Pannavanā-sutta* of the Śvetāmbara canon This again brings us to the same conclusion that it is a traditional verse independently preserved by both the sections

Date of Amrtacandra—There is very scanty material of settling the date of Amrtacandra I have not been able to trace his name in any of the Jaina inscriptions known to me It is seen above that he quotes *carana* etc, without mentioning

1 *jāvaiyā* etc alone is quoted in *Jayadhavalā* (p 28 of Sholapur MS) Judging from the context and the dialectal appearance, it appears to be quoted there from *Sanmatiprakarana* *Jayadhavalā* is the name of the last form of the commentary which incorporates older portions, so this gāthā might belong to the last stratum There is every possibility of tracing this gāthā in still earlier tracts of literature

2 Much importance should not be attached to these variants, because none of these editions is critical,

3 Āgamodaya Samiti Ed Vol, 1, p 425

the source, from *Sanmati-prakarana* of Siddhasena, it is possible that it might, along with another gāthā *nicchaya* etc on the next page, turn out to be a traditional gāthā current long before Siddhasena even like the gāthās *jāvadiyā* etc *niddhassa niddhena* etc In case he quotes from Siddhasena, he cannot be earlier than 7th century A D, which is the latest period assigned to Siddhasena,[1] though it is possible that Siddhasena might have flourished at least a couple of centuries earlier [2] So this does not help us to put a definite earlier limit In the opening remark on gāthā 27 of *Pañcāstikāya* Amrtacandra says *Bhaṭṭa-matānusāri-śiṣyam prati Sarvajña-* [p 101 :] *siddhih|* It is quite plain that he is referring to the view of Bhaṭṭa Kumārila on omniscience to which reference is already made The date of Kumārila was once uncertain, but Śāntarakṣita's attack on Kumārila would put Kumārila in the last quarter of the 7th century A D [3] So this forms the earlier limit for the period of Amrtacandra, and he is thus later than 7th century A D [4] As to the later limit he is quoted by Āśādhara (first half of the 13th century A D), by Jayasena (c middle of the 12th century A D) and by Padmaprabha (middle of the 12th century) Thus this much can be definitely said that Amrtacandra flourished between the 7th and the 12th century A D There are other probabilities to narrow down this period he appears to have quoted from *Gōmmaṭasāra* compiled by Nemicandra (circa 10th century A D), he might be the author of *Dhādasī gāthā* in which reference is made to Nil piccha-saṅgha (the same as Māthura-saṅgha) which was founded in 896 A D according to *Darśanasāra* of Devasena, and lastly he appears to be acquainted *Ālāpapaddhati* of Devasena [5] These probabilities taken together might indicate that Amrtacandra flourished somewhere about the close of the 10th century A D that is only a tentative suggestion The traditional Paṭṭāvalis put Amrtacandra at the beginning of the 10th century A D

---

1 On the date of Siddhasena various scholars have written I can give only some select references within my reach Vidyabhushana puts him about 480-550 A D (*Indian Logic* p 173), Jinavijaya puts him earlier than 5th century A D (*Jaina Sāhitya Samśodhaka* I ii, p 82 foot-note also his Introduction to his ed of *Jītakalpa*, Ahmedabad 1926, on Siddhasena see his article *Jaina Hitaishi*, Vol 12, pp. 22 *etc* Vol 14, pp 52, 131, 153), Dr Jacobi puts Siddhasena in the last quarter of the 7th century A D (*Samarāiccakahā*, Intr p iii) See Pt Jugalkishore's discussion in *Svāmī Samantabhadra* pp 128 etc, Dr Vaidya puts him about 700 A.D (*Nyāyāvatāra* Intro p 21, Bombay 1928), Pt Sukhalal places him in the 5th century of the Vikrama era (See his Gujarati Intro to *Sanmatiprakarana* pp 35 etc), Winternitz *Indian Literature* Vol II, p 477 foot-note 2, see also Hiralal *Catalogue of Sk and pk MSS in C P & Berar*, p xii

2 In saying thus I have in view Pūjyapāda's reference to Siddhasena in his Sk grammar, and that he quotes partly a verse from Stuti of Siddhasena (see *Sarvārthasiddhi* VII, 13), I am aware, however, that there have been many authors bearing the name Siddhasena

3 See Dr Bhattacharyya's Intro to *Tattvasamgraha*, G O S p 82

4 I have shown elsewhere that Akalaṅka cannot be later than the last quarter of the 7th century A D (*Annals* of the B O R I XIII, ii, p 164 foot-note) Amrtacandra is decidedly later than Akalaṅka who flourished earlier than Kumārila

5 Compare p 112 of *Pravacanasāra*

2. Jayasena and his Tatparya-vrtti

Jayasena and his Commentaries—Sufficient information about Jayasena, the commentator of Kundakunda's works, is not available There are eight verses found at the end of his commentary on *Pravacanasāra*,[1] but the authorship of these verses, because of certain syntactical difficulties, is a matter of uncertainty They might have been composed even by a pupil of Jayasena These verses indicate that Kumāranandi was the teacher of Jayasena who belonged to Mūlasangha, of which two previous saints mentioned are Vīrasena and Somasena I hesitate to attach much importance to these details by themselves Besides his commentaries on the three works of Kundakunda,[2] no other work of Jayasena is discovered as yet Of his three commentaries, the one on *Pañcāstikāya* is written first as it is referred to by himself in his two other commentaries[3] As to the relative chronology of the [p 102] remaining two commentaries, there is no definite evidence, from the scarcity or frequency of quotations, from the shortening of details and from the presence of a few Prakrit verses, at the close of *Samayasāra-tīkā*, glorifying Paümanamdi, I think that the oommentary on *Samayasāra* comes last

This Jayasena distinguished from others of the same name—This Jayasena will have to be distinguished from other Jayasenas known from epigraphic and literary references One Jayasena, the teacher of Dharmaghoṣa is mentioned in Mathurā inscription of the first century A D,[4] which is too early a date for our author Secondly, Jinasena, the author of *Mahāpurāna* (c 838 A D) mentions one Jayasena as his guru,[5] but our commentator is different from him as he quotes from *Dravyasamgraha* to which he refers by name, as he quotes from *Acārasāra* of Vīranandi and as he quotes from and mentions the name of *Cāritrasāra* of Cāmundarāja, and all these works are later than Jinasena Thirdly, the author of a *Pratisthāpātha* is Jayasena alias Vasubindu who calls himself as the agra-śiṣya of Kundakunda, he cannot be identical with our commentator, because he never says that he is the chief disciple of Kundakunda, he does not give his another name Vasubindu, and because the language of *Pratiṣṭhāpātha* in general is inferior to that of our commentaries Fourthly, Jayasena from whose *Dharmaratnākara* excerpts are given by Peterson[6] is also different from this commentator

1 In some MSS they are put at the end of the commentary of *Pañcāstikāya*, see the foot-notes on Malliṣena's commentary

2 There appears to be much confusion about the so called commentaries of Jayasena The MS from Belgaum described later on is the same as that of Jayasena's commentary, his name is not at all mentioned, but there is the name of (Ma)lliṣena at the end of *Pravacanāsara-tīkā* According to Peterson's extracts (*Reports* IV, p 153) there is a commentary of Brahmadevaji on *Pañcāstikāya*, but comparing the extracts given by Peterson I find that it verbally agrees with that of Jayasena which is printed in RJS This confusion can be cleared only after getting more MSS of Jayasena's Tīka, I regret, I detected this point too late to shed any further light.

3 See *Pravacanasāra* pp. 121, 162 & 187, *Samayasāra* p 116

4 *E I*, II, p 199

5 See the Introductory verses of *Mahāpurāna* No 58

6 Peterson *Reports* IV, p 152

Jayasena as a Commentator, compared with Amrtacandra—Jayasena as a commentator has his own method by which he has influenced later commentators like Brahmadeva At the beginning of a section or a sub-section, he always gives the analysis of that section by grouping gāthās according to topics Every gāthā is introduced by a remark which generally agrees with the one of Amrtacandra Then he explains the gāthā word by word Further with such phrases like *tathā hi* he winds up the discussion of a particular gāthā incorporating the suggestions of Amrtacandra and sometimes adding fresh discussions with such words *atrāha śiṣyāḥ, parihāram āha* etc His style is simple, and with a purpose he writes in simple Sanskrit ignoring, as he himself says, the grammatical strictness for which he solicits the indulgence of sensible readers [1] His commentaries are studded with quotations here and there, it is rarely that their sources are mentioned, and very often they are off-hand quotations indicating the wide learning of Jayasena The number of quotations is abnormally great in *Pañcāstikāya,*[2] and [p 103] in proportion to the length of the text the number is comparatively smaller in *Samayasāra* He often draws the attention of readers to Prakrit peculiarities,[3] but no sūtras of any Prakrit grammar are quoted by him The text preserved in his commentary is valuable in various ways, and his fidelity to the longer recension is really creditable, though the shorter recension of Amrtacandra was already before him Excepting in the matter of text -preservation, influence of Amrtacandra's commentary is very great on him He knows fully well and remarks that Amrtacandra has not included certain gāthās [4] At times he quotes those very verses quoted by Amrtacandra, and even verses from *Samayasārā-ṭīkā* are included by him in his commentary, and he follows Amrtacandra very closely.[5] The scholarship of Amrtacandra is terrific, and it might even bewilder students, but Jayasena is easy and sympathetic, and with students who want to understand Kundakunda he will certainly be a favourite He always follows the philosophical lead of

---

1 *Samayasāra* p 568

2 In his commentary on *Pañcāstikāya* Jayasena mentions the names of the following works *Dravyasamgraha* (pp 6-7), *Cāritrasāra* (p 219), *Sarvārthasiddhi-ṭippaṇaka* (p 219, *Tattvānuśāsana* (pp 212, 253) *Upāsakādhyayana, Ācāra (-sāra?), Ārādhanā* (p 254), *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣapurāṇa* (p 254) He quotes many verses anonymously, and so far as I have been able to trace their sources some of these quotations are found in works like *Samavaśaraṇa-stotra* (quotations on pp 4 8), *Daśabhaktis* (on pp. 6, 126), *Ācārasāra* (on p 8), *Iṣṭopadeśa* (on p 44), *Yogasāra* (on p 61), *Ālāpapaddhati* (on p 105) *Gōmmaṭasāra* (on pp 126, 182), *Amarakośa* (on p 135) *Mōkkhapāhuda* (on p 211), *Bhāva-pāhuda* (on pp 212, 254) The only author mentioned by name is Pūjyapāda In his commentary on *Samayasāra* he mentions Samantabhadra (p 459) and Yogīndradeva (p 424), and anonymously he quotes from works like *Gōmmatasāra, Samādhiśataka, Paramātmaprakāśa* He mentions a work Siddhānta (pp 250, 424 also in *Pañcāstikāya* p 254 along with Prābhṛta and Tattvārtha) by which perhaps he means the commentaries *Dhavalā* and *Jayadhavalā* I must say that this note of mine is not exhaustive

3 See *Pravacanasāra* p 240, *Samayasāra* pp 11 52, 178, 236, 243, 249, and 303

4 See *Pravacanasāra* p 270 sometimes he mentions the name of Amrtacandra' sometimes simply refers to his Ṭīkā, sometimes calling it as Vārtika-vyākhyāna, see *Pañcāstikāya* pp 9, 166, *Pravacanasāra* pp 16, 148

5 Compare *Samayasāra* pp 204-5, 394, 545

Amrtacandra, but textual fidelity and explanation in simple terms are his special provinces

Quotations in his Tatparyavrtti—In an appendix I have listed all the quotations from Jayasena's commentary on *Pravacanasāra* So far as I have been able to trace their sources, the works from which Jayasena quotes are these *Mūlācāra, Siddhabhakti, Pañcāstikāya, Bārasa-Anuvekkhā, Tattvārtha-sūtra, Svayambhū-stotra, Dohāpāhuda, Gommatasāra* and *Ālāpa-paddhati* Among the untraced quotations, the verse *eko bhāvah* etc is important A verse somewhat similar to this is quoted in many *Śvetāmbara* commentaries like *Syādvāda-mañjarī, Sanmati-ṭīkā,* Manibhadra's vrtti on *Sad-darśanasamuccaya,*[1] The form of this verse agrees, excepting for the word *buddha* in place of *dṛṣṭa,* with the one found at the end of *Nayacakra* as noted by Pt Sukhalālaji [2] It is also quoted in the 34th chapter of *Jñānārnava* of Śubhacandra The gāthā *nokamma* etc, is quoted in *Prameya-kamalamārtanda* The verse *deśa-pratyakṣa* etc is traced to *Cāritrasāra* of Cāmundarāja,[3] *śuddhasphaṭika* etc and *samasukha* etc are quoted by Āśādhara in his commentaries on *Dharmāmrta*[4] and *Iṣṭopadeśā* [5]

[p. 104.] **Date of Jayasena**—The various quotations and references to different works in his commentaries will help us to settle the earlier limit of Jayasena's period He quotes from *Gommatasāra* and mentions *Dravyasamgraha* by name, in his commentary on *Pravacanasāra* he quotes from *Cāritrasāra* of Cāmundarajā, and these are the works of the last quarter of the 10th century Jayasena, in his commentary on *Pañcāstikāya* (p 8) quotes two verses from *Ācārasāra* (IV, 95–96) of Vīranandi, and possibly he refers to this *Ācārasāra* in his remark *Upāsakādhyayan-Ācār-Ārādhana-digranthaih* Vīranandi wrote a Kannada commentary on his own *Ācārasāra* which he completed in 1153 A D,[6] and this period can be confirmed by various inscriptions at Śravana Beḷgoḷa [7] The Sk *Ācārasāra* might have been written a few years earlier even before the author was tempted to write a Kannada commentary to make it more useful in the Kannada country So Jayasena must be later than c 1150 A D Then from the comparison of Jayasena's commentaries with those of Bālacandra it is quite clear that Balacandra has based his commentaries mainly on those of Jayasena as shown below, and Bāḷacandra, has written his commentaries, to take the earliest period, in the first quarter of the 13th century A D So with a slight adjustment of a few years for which there is scope but no definite proof, we can say that Jayasena might have written his commentaries in the second half of the 12th century A D [8]

---

1 For references see Prof Dhruva's notes on *Syādvādamañjarī* p 14

2 *Sanmati prakarana* p 63, foot-note 7, thanks to Pt Jugalkishore who drew my attention to this reference and to the next of *nokamma* etc

3 *Cāritrasāra* p 22, Ed MDJG vol 9

4 Page 638, Ed MDJG vol 14

5 Page 51 Ed MDJG vol 13

6 See *Karnātaka Kavicarite* vol. I p 168, *Ācārasāra,* Introduction MDJG vol 11

7 *E C* II, 127, 140 etc

8 In the light of fresh facts I have slightly modified my earlier remarks, see *Annals* of the B O R I XII, ii, p 158

3. Balacandradeva and his Kannada Tatparya-vrtti

Information about Balacandra —*Bāḷacandra* has written *Kannada* commentaries on all the three works of Kundakunda Putting together the pieces of information contained in the colophons of his commentaries,[1] we learn that he styled himself as Adhyātmi Bāḷacandra, [2] that he was the *śiṣya* [p 105] of Nayakīrti Raddhānta (Siddhānta) cakri and that he came to realize ātma-svabhāva through the service of Sāgaranandi[3] who was the *nandana* of Nayakīrti

His teacher, colleagues disciples, Domicile etc —Bāḷacandra had the unique honour of being the *śiṣya* of Nayakīrti who was a great religious force and authority in Beḷgoḷa and the surrounding country[4] The heirarchical line was that of Mūlasangha, Deśigana, Pustakagaccha and Kundakundānvaya[5] Nayakīrti

1 The prose colophon runs thus *'idu samasta-Saiddhāntikacakravarti-śrī-Nayakīrti-devanandana-vina (e ?) ya-janānandana-nijaruci-Sāgaranandi-paramātma-deva-seva-sāditātma-svabhāva-nityānanda-Bāḷacandradeva-viracita-Samayasāraprābhṛta-sūtrānug-ata-Tātparyavṛtti* From my translation of this passage given above, it is clear that I do not agree with Dr Venkatasubbaiyya's interpretation (see his *Kelavu Kannada Kavigala Jīvana-Kālavicāra* p 190) which has its own handicaps if the words were to be separated, as he proposes, then they stand without necessary terminations, if all the words so separated necessarily go with Bāḷacandra, then the adjective Saiddhantikacakravarti goes with Bāḷacandra and it would be against the very statement of Bāḷacandra in the concluding verses, and lastly there is no objection to Bāḷacandra's having another spiritual teacher in Sāgaranandi, as Nayakīrti died in 1176 A D, and Bāḷacandra lived upto at least 1232 A D It appears that the name Sāgaranandi has somehow escaped the notice of Narasimhacarya, though he suggests that Bāḷacandra appears to have studied with a pupil of Nayakīrti'

2 There have been many Bāḷacandras Though much has been written on different Bāḷacandras, still it is necessary to clear the whole position once more in the light of different inscriptional references I have confined myself here only to Adhyātmi Bāḷacandra, the commentator of Kundakunda's work, and only the relevent epigraphic references have been utilised For different discussions about Bālacandras see R Narasimhacharya *Karnātaka Kavicarite* vol I, pp 99 etc, 253ff 321ff vol III Intro pp 45ff Venkatasubbaiyya *Kelavu Kannada Kavigala Jīvana Kāla-vicāra*, pp 33ff pp 190ff and Pai's article in *Abhinava Pampa*, Dharwar 1934 pp 1-41 For Bāḷacandra the commentator of *Upadeśa-kandali* of Āsada see Peterson's *Reports* III p 39

3 I know two Sāgaranandis from inscriptions the first who is mentioned in an inscription of 1145 A D (see *E C* IV, Nagamangala No 76), and the second Sāgaranandi Siddhāntadeva is mentioned in a Ś-Beḷgoḷa inscription (*E C* II 380) and to him Śāntinātha temple which is just in the vicinity of Beḷgoḷa, was made over by Rācimayya Another inscription of 1220 A D (*E C* V Arsikere No 77) mentions Sāgaranandi and further informs that Rācimayya was the minister of Kaḷacūryas first and later on he placed himself under the protection of the Hoysaḷa King Ballāḷa II (*E C* II, Introduction p 33) So this second Sāgaranandi was living in 1220 A D and his place of residence too was near about Ś-Beḷgoḷa, thus it is possible that Bāḷacandra received lessons in spiritual culture from this Sāgaranandi after the death of Nayakīrti We have no positive evidence to say that Sāgaranandi was also the pupil (*nandana*) of Nayakīrti but he could be called so by Bāḷacandra, when Nayakīrti was a great teacher, a Mahāmandalācārya The presence of a contemporary Sāgaranandi confirms my interpretation of the prose colophon

4 *E C* II, 345, 335 of 1195 A D

5 *E C* II, 327, IV Nagamangal No 70

died on April 24, 1176 A.D., and he left behind him a great number of pupils of whom Meghacandra appears to be his pontifical successor, his other pupils being Maladhārideva, Śrīdhara, Dāmanandi, Bhānukīrti, Bāḷacandra, Māghanandi, Prabhācandra, Padmanandi and Nemicandra[1] In all the lists of Nayakīrti's disciples Bāḷacandra comes after Damanandi and Bhānukīrti,[2] sometimes Prabhācandra and Nemicandra are mentioned above Bāḷacandra[3] Bāḷacandra, though not the eldest disciple of Nayakīrti, appears to have soon come into prominence, as a benevolent monk of severe ascetic discipline he is glorified in various inscriptions, many of his lay-disciples, male and female, constructed idols and built temples[4] Ācaladevi, the wife of the minister Candramauli, was his lay-disciple, she built a temple at *S* Beḷgoḷa, and Bāḷacandra's name is reverentially mentioned in an inscription of 1182 A D which is a grant of a village Bammeyana-haḷḷi by the Hoysaḷa king Vīra Ballāḷadeva at the request of Candra mauli[5] Nāgadeva builds a *nisidi*[6] in 1195 A D as an act of reverence in the memory of [p. 106] departed Nayakīrti, and in that inscription Bāḷacandradeva is mentioned[7] In 1231 A D Gōmmaṭaseṭṭi, a servant of Hoysaḷa *Srī* Vīra Narasimhadeva and a disciple of Adhyātmi Bāḷacandra (the pupil of Nayakīrti), made a grant of land for the worship of Gōmmaṭadeva[8] Bōppana Paṇḍita known as Sujanottamsa, wrote a beautiful Kannaḍa prayer of Gōmmaṭadeva, it is incorporated in an inscription at Beḷgoḷa, and it was inscribed by direction of Bāḷacandra[9] These facts indicate that the place of Bāḷacandra's activity was round about Beḷgoḷa

Date of Balacandra—That Bāḷacandra served Sāgaranandi (possibly one of the pupils of Nayakīrti) for spiritual realization, that he is mentioned after Dāmanandi and Bhānukīrti and that he lived upto at least 1231 A D go to show that Bāḷacandra must have been comparatively young when Nayakīrti died So roughly the life of Bāḷacandra can be circumscribed by the dates, 1176 and 1231 A D As he refers to his cultivation of self-realization, I am tempted to say that he might have written his commentaries at the close of his life So the date of his commentaries might lie at the beginning of the 13th century A D to take the earliest period Besides his commentaries on Kundakunda's works, he has written Kannaḍa commentaries on *Paramātma-prakāśa* and *T-sūtra*, and has also composed some hymns of prayer[10]

Commentaries of Jayasena and Balacandra compared—Comparison of Bāḷacandra's commentaries with those of Jayasena is a question by itself, and it cannot be dealt with in a limited space at my disposal, so I shall confine myself only to their commentaries on *Pravacanasāra* This comparison will reveal so

---

1 *EC* II, 66
2 *EC* II, 36, 327, 33 and 335
3 *EC* II, 326, 327
4 *EC* II, 185, 193, 195, 198, 331 etc.
5 *EC* II, 327, V Channarayapattan No 50
6 For the significance of *nisidi* see my note in the *Annals* of the B O R I vol XIV, iii-iv, p 264
7 8 *EC* II, 335, 186
9 Ibidem 234
10 *Kavicarite* I, p 253

many points of similarity *Tātparyavṛtti* is the name of both the commentaries, it is the longer recension that is accepted, the introductory remarks of many gathas and the verbal explanations are often the same word for word, and lastly there is a close agreement even in longer passages as seen from the opening passage given below from the Kannada *ṭīkā*:

*sva saṃvitti-samutpanna-paramānaṃdaika-lakṣaṇa-sukhāmṛta-viparīta-caturgati-saṃsāra-duhkha-bhaya-bhītanuṃ samutpanna-parama-bheda-vijñāna-prakāśātiśayanuṃ nirākṛta-samasta-durnayaikānta-durāgrahanuṁ āsanna-bhavya*nuṁ appa *Śivakumāra*-mahārājam *parityakta-śatru-mitrādi pakṣapātādinātyanta-madhyasthanā*gi sakala-puruṣā-rtha-*sārabhūte*yum *atyantātma-hite*yam *avinaśvare*yum bhagavat *paṃca-parameṣṭhi-prasā-dotpanne*-yumappa *mukti-śriyanupādeyaṁ* mādi gauṇa mukhya-rūpa-bahistattvāntas tattva-prarūpaṇa-Pravacanasāradādiyoḷu *śatendra-vandya-śrī Vardhamāna-svāmi-tīrthakara-parama-devapramukha-paṁca-parameṣṭhi*-galam *dravya-bhāva-namaskārad*iṁ bandisi *par-ama-cāritramanāśraysuvenemdu* pūnkeyam *mādi*dapam // *sūtrāvatāram*// pamca-kuḷakam // esa surāsura etc [1] Many similar passages [p 107] can be selected from Bāḷacandra's commentary, and the above passage is almost the same as that of Jayasena with a few Kannada terminations etc added here and there which are not italicised

Baḷacandra's commentary is shorter than that of Jayasena The topical analysis and grouping of gāthās, the high-flowing concluding remarks at the close of literal interpretation of certain important gāthās,[2] the supplementary discussions containing many original suggestions and quotations, the critical insight of textual explanation with the help of grammatical rules, beautiful quotations here and there, references to his commentary on *Pañcāstikāya* alternative interpretations of certain gāthās [3] these and many others are the peculiar features of Jayasena's commentary, but all these points, which are so essential in a genuine commentary, are conspicuously absent in the Kannada commentary of Bālacandra Bāḷacandra merely explains the gāthās word for word in Kannada, and sometimes he adds a few remarks by way of analysis and explanation and some quotations, which in that very context, are found in more details in the commentary of Jayasena

Priority of Jayasena's Commentary—Taking into consideration these close similarities between the commentaries of Jayasena and Bālacandra one has to say something on the relative priority of one or the other The points of agreement are such that these commentaries are not independent of each other Pt Jugalkishore holds that Jayasena is later than Bālacandra [4] From the comparison of the two commentaries drawn above, it would be clear to any one that Bālacandra has written his commentary placing before him that of Jayasena alone Bāḷacandra's commentary is a mechanical performance and, so far as I have compared both, I have no hesitation to say that there is no discussion of Bāḷacandra which is not found in Jayasena's commentary The individual traits of Jayasena's commentary, his comprehensive

1 The common words between Jayasena and Bālacandra are put in italics, while the Kannada terminations and words, which are the only items of difference, are not italicised

2 See for instance I 15

3 See for instance II, 46-7

4 *Svāmī Samantabhadra* p 167, foot-note

grasp of the whole text and his plain remarks on his additional gāthās are not found in Bālacandra's commentary Comparing their styles, Bālacandra's Kannada is Sanskrit-ridden and artificial: and its only explanation is that he is rendering into Kannada some Sanskrit commentary Jayasena closely follows Amṛtacandra, and he plainly refers to him more than once, if the commentary of Bālacandra was utilised by Jayasena, he would have certainly referred to it Bālacandra has not, so far as I have peeped through the MS of his commentaries, referred to Amṛtacandra, possibly he is not aware of any other commentary than that of Jayasena So Jayasena flourished earlier than Bālacandra, and even Bālacandra, I think, hints the same, when he names his commentary as *Tātparya-vṛtti* and when he says,

> *dhṛta-ratnatritayaṃ Prā-*
> *bhṛta-sūtrānugata-vṛttiyaṃ*[1] *palargaṃ Prā-|*
> *kṛta-Karnātaka-vākya-*
> [p 108] *rtha-tattva-niścittiyāge nirvartisidem*[2] *||*[3]

4. Prabhacandra and his Sarojabhaskara

Remarks On Prabhacandra's Commentary—A MS of *Pravacanasāra* containing the Sk commentary of Prabhācandra is used for this edition, and the various readings are given at the end,[4] it is possible that Prabhācandra might have written commentaries on the remaining two works also of Kundakunda The name of his commentary is *Saroja-bhāskara* As compared with that of Amṛtacandra, there is no speciel profundity in Prabhācandra's commentary, His aim appears to be very modest, he gives a word-for-word explanation of the Prakrit text, and the extent of his exposition is shorter than that of Jayasena with whom he agrees here and there The Prakrit text which Prabhācandra has before him appears to be somewhat different, but this point can be more definitely settled after consulting some more MSS,, as the one used by me is defective Of the gāthās which are additional in Jayasena's commentary, Prabhācandra does not include at all 111, 17*1-2, and it is just possible that they were not present in the text before him. With regard to gāthā II, 95*4 Prhbhācandra remarks *'parināmam ti āgame pratipāditam, subha-payadinetyādi-gāthā-dvayam ādeyam na bhavati, prakṣepakatvād iti-upekṣyate/*, it is not clear to what two gāthās he refers, for in Jayasena's com-

---

1 *v l vṛttiyim*

2 *v l nirvarnisidaṃ*

3 I am thankful to Pt Bahubali Sharma, Sangli, who kindly lent to me his MS of Bālacandra's commentaries It is in old Kannada characters written on modern water-mark paper, it is copied by Bhujabali Anantappa Shastri of Halmgaḷi in Śaka 1824 (+78=1902 A D)

4 For the description of this MS see page 42 at the end, Prabhācandra's commentary opens thus

> *Vīram pravacanasāram nikhilārtham nirmalam janānandam |*
> *vakṣye sukhāvabodham nirvāna-padam pranamyāham ||*

The concluding colophon runs thus iti *śrī Prabhācandradeva-viracite Pravacanasāra-sarojabhāskare etc*

mentary we have only one *gāthā* It appears that Prabhācandra has somewhat different order of *gāthās* here and there, especially in the III Book, but this might be due even to the defective character of MS P, this change in the order does not materially affect the contents

Information about Prabhacandra and his date —Prabhācandra gives no information about himself in his commentary on *Pravacanasāra*, so it is necessary to see whether we get any information about him from other sources [1] Śrutamuni, the author of Prakrit *Bhāva-tribhangī*, says in the praśasti of that work that Bālacandra was his *anuvrata-guru*, Abhayacandra Siddhānti his *mahāvrata-guru* and Abhayasūri and Prabhācandra were his *śāstra-gurus* [2] In the course of an eulogy of these different teachers he speaks about Prabhācandra that he was a saint skilled in Saratraya (*viz*, *Pañcāstikāya-*, *Pravacana-*, and *Samaya-sāra*), devoted to his pure self, free from attitudes [p 109] of attachment for external objects and devoted to the enlightenment of liberable people [3] From this mention of Saratraya it appears that Śrutamuni is referring to Prabhacandra, the commentator If so, the date of Prabhācandra can be settled Śrutamuni with his teacher Abhayacandra is mentioned in Ś. Belgoḷa Inscr No 254 of 1398 A D which is written some generations after Śrutamuni Then taking into consideration the Hulluhaḷḷi inscription of 1371 A D,[4] we find that it refers to the death of Abhinava Śrutamuni who was the grand-disciple (praśiṣya) of Śrutamuni [5] So Śrutamuni might have flourished in the middle of the 14th century A D Bālacandra who is the guru of Śrutamuni is different from our commentator Bāḷacandra This Bālacandra, to whom Śrutamuni refers appears to be the same as one referred to in Haḷebīda Inscr of 1275 A D which is the year of his death [6] I am aware that there was one other Bālacandra of Ingaleśvarabali, who was living in 1282 A D [7] At any rate these dates of Śrutamuni and Bāḷacandra indicate that Prabhācandra flourished in the first quarter of the 14th Century A D or so, thus his commentary comes later than that of Baḷacandra

5. Mallisena and his Tika

The MS of so called Mallisena's tika —It is reported that one Malliṣena has written Sanskrit commentaries on *Pañcāstikāya* and *Pravacanasāra*,[8] but unfortunately the Karanja MSS could not be available to me In the absence of definite information about him, it is of no avail to try to identify him with one or the

1 About various Prabhācandras and about this Prabhacandra see Pt Jugalkishore's notes p 63 of the Intro to *Sravakācāra*, MDJG Vol 24

2 Introduction to MDJG Vol 20 p 4 etc

3 The verse runs thus with my emendations in brackets,

vara-Sārattaya-niūno suddam parao (*suddhappa-raō*) *virahiya-parabhāo*(*vo*) /
bhaviyānam padibohanakaro Pahācanda nāma muni //

4 E C III Nanjanagud No 64

5 E C II 254

6 E C V Belur Nos 13, 132, *Karnaṭaka Kavicarite* Vol I, p 391

7 E. C II 334

8 *Catalogue of Sk and Pk MSS in C P & Berar* pp 663 671

other Mallișena When I was in a helpless mood, being unable to get the Karanja MS, Rao Bahaddur A P Chaugule, B A, LL B, Pleader, Belgaum, kindly handed over to me a MS [1] containing the Sk commentaries of the three works of Kundakunda With [p 110] all curiosity I turned over its pages, and at the end of the commentary of *Pravacanasāra*, I found a colophon *Śrī Llișenācārya*[2]*-kṛtā-ṭīkā bhadraṁ bhūyāt* I thought I got the commentary of Mallișena, but a careful study frustrated all my expectations The commentaries from this MS are the same as those of Jayasena in the printed editions The agreement is perfect Quite carefully these MSS omit the mention of the name of Jayasena in various places The so-called Praśasti of Jayasena, as printed at the end of *Pravacanasāra*, is found in this MS. at the end of *Pañcāstikāya*, and the date *'Vikramasamvat 1369 varșair-asvina suddhi I Bhaumadine'* as preserved in the printed edition is found in this MS too [3] So some definite light can be shed on all these points only after the MSS from Karanja are made available

6. Pande Hemaraja and his Hindi Balavabodha

Remarks On Hemaraja's Style Etc—Pāṇde Hemarāja's Hindī comment-

1 It is a paper MS, 10 by 6 inches in size It contains 394 folios written on both sides in neat Devanāgarī hand and some words and sentences here and there are written in red ink Each page contains 14 lines and each line about 34 letters 109 folios are devoted to *Pañcāstikāya-ṭīkā*, 110-243 to *Pravacanasāra-ṭīkā* and 244-394 to *Samayasāra-ṭīkā* Though the MS is well preserved, some portion between 393 and 94 appears to be missing On p 108 we have the praśasti *'ajñāna-tamasā lipto* etc' as printed at the end of this edition of Jayasena's *ṭīkā*, strangely the sentence *'nṛpa-Vikrama-samvat // 1369 // varșairāśvinasuddhi / / 1 / / Bhomadine'* intervenes between the first verse and the remaining portion of the praśasti *Pravacanasāra-ṭīkā* ends with the colophon *'Śrī Llișenācārya kṛtā ṭīkā bhadram bhūyāt'* in which *Ma* appears to be missing after *Śrī* At the end of *Samayasāra-ṭīkā*, on folio 394 we have scribes' colophons the first in Devanāgarī and the second in Kannada script *Śaka* 1692 *Vikrta-nāma-samvatsare Samvat* 1827 *Āṣāḍha-māse śuklapakșe daśamī-tithau Svā(m ?)ti-nakșatre Somavāsara-siddhayoga-yukte Śrī-Bedakthāḷagrāmila-Sāntappa-satputra-Bhujabalinā sva-jñānāvaraṇīya-karma-kșayārtham sva-hastena prābhṛtasāra-nāma-pustakam likhitam // Śrī Nāndanī-grāme Ādiśvaracaityālaye //, mangalam bhūyāt // Śrī Sumati ** śișya-Bhujabali-nāmadheyena śrī-samyaktva-prā ptyartham//* Then follows the colophon in Kannada characters *Saka-varșa* 1713 *neya Virodhikrta-samvatsarada Mārgaśira-bahula navamiyallu SrīmalLaksmīsena-bhattārak-asvāmiyavarige Jinamati-akkagaḷa-jiyanu tanage kevalajñāna-nimityavāgi barasi-koṭtaṃtha Prābhrta-granthakke ācandr-atārakaṃ maṃgalamastu // śrī* 3//

It appears that the present MS is written in Saka 1713(+78=1791)from a MS written in 1770 A D which in turn is copied from a MS of 1312 A D It may be even taken that the present MS is written in 1770 A D, and is presented by Jinamati to Lakșmīsena, after writing the Kannada colophon, in 1791 A D The villages Bedakthāla and Nāndanī are near each other, the first in the Belgaum Dt of Bombay Presidency and the second in the Kolhapur Territory

2 That appears to be a scribal error for Mallișena

3 Prof Hiralal writes to me 'It is not unlikely that this Mallișena is identical with the one commemorated in one of the Sravana Beḷgoḷa Inscriptions [(*E C* 11 67 of 1128 A D)]of whom it is said *yasmād-āgama-nirnayo yama-bhrtām*(verse 69)in that praśasti"

ary, the dialectal form being made to conform to modern Hindī, is printed in this edition For beginners the commentary is of great value generally the literal explanation of each gāthā is given and then follows a bhāvārtha of the gāthā As Hemarāja himself tells us, his commentary is mainly based on that of Amṛtacandra, the bhāvārtha generally summarises the stiff but important remarks of Amṛtacandra. There is a clarity and smoothness about his explanation It is a clear proof of his intelligent insight that he could compose such a lucid commentary out of the bewilderingly stiff material from Amṛtacandra's commentary

Relations and works of Hemaraja—*Pānde* Hemarāja was a respectable resident of *Āgrā*, and he belonged to Garga gotra He had a noble daughter Jainī by name who was married to Nandalāla Lālā Bulākīdāsa was the son of this learned lady, and it was to commemorate the name of his revered mother that he rendered into Hindī, at her request, the *Pāndavapurāna of* Subhacandra. Hemarāja was the pupil of Pandit Rūpacandra Besides his Hindī commentaries on *Pañcāstikāya* and *Pravacanasāra,* he has metrically rendered *Bhaktāmara* into Hindī and has explained in prose *Gōmmatasāra* and *Nayacakra* [1]

[p 111] **The occasion of composition**—Hemarāja wrote his commentary on *Pravacanasāra*, as he says in his praśasti, at the instance of Kumārapāla, a pious house-holder *from Āgrā* Kumārapāla represented to him that, as *Samayasāra* was already explained in sweet language by Rājamalla, it was necessary that *Pravacanasāra* should also be explained without delay whereby the religion of Jina might flourish in all its branches, and requested him to write a Hindi commentary on it and receive the fruit of having glorified Jainism In the praśasti on *Paravacanāsara-ṭīkā* he pays respects to Shah Jahan This commentary was completed on Sunday the 5th of the bright half of Māgha in the year 1709 which corresponds 1653 A. D when Shah Jahan was on the throne of Delhi [2] His *Nayacakravacanikā* was completed in Saṃvat 1724 (1668 A D) [3]

6. The Prakrit dialect of Pravacanasara[4]

Introductory remarks—It is rather premature to attempt an exhaustive grammar of the gāthās of Kundakunda from his various works, because the various editions of Kundakunda's works, that we have today, simply represent readable individual MSS, and can hardly be called critical, as we understand that term to-day Even the present text of *Pravacanasāra* is not strictly critical, it represents, to a great extent, the Prakrit text as preserved by Jayasena in his Sanskrit commentary, but it has, however, an advantage that it is accompanied by a table of various readings

1 This information is mainly based on Pt Premi's essay on Jaina Hindī Literature in *Jaina Hitaishī,* Vol XIII, pp 10 17

2 Bhandarkar Collected works Vol II p 224

3 There is a Hindi metrical version of *Pravacanasāra* by Vṛndāvana He was born in samvat 1848 He was an Agravāla of Goyal gotra His father's name was Dharmacandra He lived in Benares He has written some works on Jaina ritual, and Pt Premi says that his *Chandośataka* is a model text-book (Premi Ibidem, pp 22-3)

4 This section is reprinted here with a few modifications and additions from the *Journal of the University of Bombay*, Vol II part vi I am thankful to the Publication Board that granted so kindly my request for permission to reprint this article in the Introduction of *Pravacanasāra*

drawn from some independent MSS, one accompanied by the commentary of Amṛtacandra and the other by that of Prabhācandra So, under the present condition of the text of *Pravacanasāra*, I think it better to give some of the typical and salient features of the dialect used herein than an exhaustive grammatical survey of all the works of Kundakunda or even of *Pravacanasāra* It may be that some of my statements will have to be modified, when a critical text of this work is prepared after a faithful and unbiased study of MSS hailing from different parts of India

Treatment of vowels—The Sk. vowels, excepting *ṛ ṝ ḷ ai* and *au*, are generally intact, a long vowel before a conjunct is shortened, the quantity remaining the same There are, however, a few notable changes, which I give here Of *a*, *mamatti=mamatva* (II, 108), *nisĕjja=niṣadyā* (I, 44), of *ā* *mĕtta=mātra* (II, 46, 71, III, 17, 38), Bhāsa has the form *matta*,[1] of *ī* *vihūna=vihīna* (III,13, see also the *v l* I, 7, 17, II, 8), of *u* [p 112,] *purisa=puruṣa* (III, 57), Pali also has *purisa*[2] but Bhāsa has *purusa*,[3] of *ṛ* *gharattha=gṛhastha* (III, 54), *pagadam=prakṛtam* (III, 61), *vasaho=vṛṣabhah* (I, 26), *vasabha* in Pali,[4] *vitthada=vistṛta* (I, 59), *iddhī=ṛddhih* (I, 38* 3), *isino=ṛṣayah* (I, 33), *viddhi=vṛddhi* (I, 73) Pali has *vuddhi*[5] in the sense of growth, *paidī=prakṛtih* (III, 24 *8),[6] *pudhavī=pṛthivī* (II, 40), cp Pali *puthuvī*,[7] *pudhatta=pṛthaktva* (II, 14), *vuddho=vṛddhah* (III, 30), of *ṝ* *kattīnām=kartṝnām* (II, 68), of *e* *dosa*=dveṣa (I, 78), cp Pali *dosa*,[8] even in Sk Aśvaghoṣa once has the form *pradoṣam*, which is metrically required, but the meaning is that of *pradveṣam*,[9] of *ai* *īsariyam=aiśvaryam*, *issariya* is a *v l* (I, 68 *3) the Pali form available is *issariya*,[10] *neva=naiva* (I, 32), *veuvvio=vaikurvikah* (II 79), of *au* *orālio=audārikah* (II, 79), *dhovva=dhrauvya* (II, 8 note *v l* *dhaüvva* in P) In this context may be noted the forms of contraction *uggaha=avagraha* (I, 21), *ohi=avadhi* (III 34), cp, Pali *odhi*,[11] also note *avagāha* (II, 85)

Samdhis illustrated—A few facts of vowel *saṃdhi* besides normal *savarna-dīrgha* and *guna samdhi* may be collected here *jinavariṃda=jinavara+indra* (III, 24), *manusiṃda* (I, 1), and *samaniṃda* (III, 24 *6), *teniha=tena+iha* (III, 22), *dhammuvadeso=dharma+upadeśah* (I, 44), *bījāniva=bījāni+iva* (III, 55), *tāeva=tāe* (*tayā*)+*eva* (III, 54) These illustrations would go to indicate that, especially in a *samdhi* of two dissimilar vowels, there is a tendency to do away with the first vowel[12] There are some cases of what Pischel calls sandhi-consonant[13] *annamanna* (II, 81), *rāgamādīhiṃ=rāgādibhih* (II, 85)

---

1 Printz *Bhāsa's Prākrit* (*B P*), p 5
2 Geiger *Pali Literature und Sprache*, p. 52
3 Printz *B P* 5
4 Geiger *Pali L Spr* p 45
5 Ibidem p 45
6 Nos with asterisks indicate the additional gāthās in the Sk commentary of Jayasena
7 Geiger *Pali L Spr.*, p 45
8 Ibidem p 50
9 Keith. *Sanskrit Drama* p 86
10 Geiger *Pali L Spr*, p 46
11 Ibidem p 50
12 Hemacandra's Prakrit Grammar VIII, i, 10, and also Dr Jacobi's remarks in *Sa rāiccakahā* Intro pp 28-29
13 Pischel *Grammatik der Prākrit-Sprachen*, p 239

Treatment of Intervocalic Consonants—The tendency of the Prakrit dialect, preserved in *Pravacanasāra*, is more towards the preservation of intervocalic (or as Hemacandra calls them non-initial and non-conjunct) consonants sometimes in their original and sometimes in their softened form, than towards total elision leaving behind only the constituent vowel

Intervocalic *k* is generally softened into *g*, *adhiga-adhika* (III, 66), *khāiga= kṣāyika* (I, 50), *gunappagāni—gunātmakāni* (II, 1), *pattega=pratyeka* (I, 3), *loga-loka* (I, 16), *logiga-laukika* (III, 53), *samagaṃ=samakam* (I, 3), at times it is elided making place for *ya-śruti* if possible by the nature of its position or leaving behind simply the constituent vowel *ajjhāvaya-adhyāpaka* (I, 4), *ahiyam-adhikam* (III, 70), *khāiyaṁ-kṣāyikam* (I, 47), [p 113'] *titthayara-tīrthakara* (I 2), *loyāloya= lokāloka* (I, 23), *sayala-sakala* (I, 54), *sāvaya-śrāvaka* (III, 50), and scarcely it is retained *adhika* (I, 19) Its presence in words like *amjali-karanam* (III, 62), *bamdha-kāranam* (I, 76) is due to its positional advantage that it is initial of the second member of the compound The *svārthe k* is not found in plenty as in Apabhraṁśa, and its treatment is likewise *appagam-ātma(-kam)* (I, 79), *mamsugam= śmaśru(-kam)* (III, 5), *saga-parināma=sva(-ka)-parināma* (II, 75)

Intervocalic *g* is retained *āgama* (III, 35 etc), *bhogehim-bhogaih* (I, 73) *roga* (III, 52), *vigada-rāgo=vigata-rāgah* (I, 14)

The general tendency appears to be towards retaining intervocalic *c* *ayadācāra=ayatācāra* (III, 17), *āloittā-ālocyā* (III, 12), *manavacikāya=manovākkāya* (II, 54 *3), *locāvassaya-locāvaśyaka* (III, 8), *vimocido-vimocitah* (III 2), sometimes it is dropped *āloyana=alocana* (III, 12), *pavayana-pravacana*, cp Pali *pāvacana*,[1] while in AMg both *pavayana* and *pāvayana*

Intervocalic *j* is very often preserved *kammarajehim-karmarajobhih* (II, 96), *tejo-tejas* (I, 19), *pūjāsu* (I, 69), *bijānīva-bījānīva* (III, 55), *sahajehim-sahajaih* (I, 63), at times it is dropped *kammarayam-karmarajas* (II, 95), *bhoyana-bhojana* (III, 8), *manuya-manuja* (I, 6), the form *manuva-manuja* (I, 85, III, 55) appears to be contaminated with the form *mānava*, or it may be even a case of *va-śruti* as in Pali *suva-śuka*[2]

Intervocalic *ṭ* is changed to *ḍ* *uppādida-utpātita* (III, 5), *kodīnam-koṭīnām* (III, 29 *19, also III, 38)

Normally and pretty often intervocalic *t* is changed to *d* *idi-iti* (III, 25), *ghādi-ghāti* (I, 19), *cāduvvaṇṇassa-cāturvarnasya* (III, 49), *jadīnam-yatīnām* (II, 97), *jadhajāda-rūvajādam - yathājāta-rūpajātam* (III, 5), *devadā - devatā* (I, 68), *padi-pati* (I, 16), *mohādiehim - mohādikaih* (II, 56), even *du - tu* (II, 36), at times it is dropped *aïsaya=atiśaya* (I, 13), *eyam-etat* (III, 75), *ghāī-ghāti* (I, 1), *parinaī-parinati* (II, 77) With regard to the retention, change or elision of *t*, MSS are not in agreement, as it can be very easily seen from the list of *v l* given at the end This uncertain value of *t* upsets the p p forms to a great extent which are seen sometimes with *d* and sometimes with *y* From the various readings the general impression would be that Jayasena's text is perhaps under *Mahārāṣṭrī*

1, Geiger *Pali L Spr*, p 53

2 Ibid p 55.

influence, as at times it drops *t*, when other MSS soften it. The present 3rd p sg termination, *ti*, is almost always changed to *di*, but more on this point later Generally *t*, in the proximity of cerebral *ṛ* or *r*, perhaps through the stage of *ṭ*, is changed to *ḍ* as it were to compensate for the loss of that cerebral element in the course of transformation *paḍivanno=pratipannah* (II, 98), *paḍivatti=pratipattih* (III, 47), *vitthaḍa=vistṛta* (I, 61), *samvuḍo=samvṛtah* (III, 40) The root *tiṣṭh* is represented by *ciṭṭh* (II, 86), MSS AP,[1] however, would [p. 114] read *tiṭṭhaṁti* for *ciṭṭhaṁti*

Intervocalic *d* is almost always preserved *appadeso=apradeśah* (II, 46), *ādicco=ādityah* (I, 68), *uppādo=utpādah* (I, 18), *uvadesa=upadeśa* (I, 71), *jadi=yadi* (III, 23), *Jinovadiṭṭham = Jinopadiṣṭam* (I, 34), *visāradā = viśāradāh* (III, 63), *sadā* (I, 12); it is very scarcely that it is elided, *uvaeso=upadesah* (II, 84) The change of *d* to *ḍ* in *pādubbhavaḍi* (II, 11) is due to cerebral proximity as remarked above in the case of *t*, the other MSS, however, do not preserve this reading In this context may be noted *orālio=audārikah* (II, 79)

There is only cerebral nasal in the dialect of *Pravacanasāra*, thus *n* initial, medial or conjunct is changed to *ṇ* without exception *jiṇakkhāde=jinākhyātān* (III, 64), *ṇivvāṇa=nirvāna* (I, 6), *ṇevaṇṇōṇṇesu=naivānyonyesu* I, 28), *maṇuvo=manujah* (II, 21)

Intervocalic *p* is changed to *v* *aṇovama=anupama* (I, 13), *ṇiravĕkkho=nirapekṣah* (III, 26), sometimes it is retained even *ghoramapāram* (I, 77)

Intervocalic *kh* is changed to *h* *suha=sukha* (I, 13, 14), *suhidā=sukhitāh* (I, 73), it is initial by its position in *kāya-khedam* (III, 50) Intervocalic *th* is at times softened into *dh* and at times changed to *h* *kadham=katham* (II 14), *jadhā=yathā* (II, 82, III, 30), *pudhattam=pṛthaktvam* (II, 14), *jahā=yathā* (I, 30), *manorahā=manorathāh* (I, 92 *9), *th* is changed to *dh* in *pudhavī* (II, 40), which is due to cerebral proximity The normal tendency is towards preserving intervocalic *dh*: *anegavidhaṁ=anekavidham* (II, 32), *adhiga=adhika* (I, 68 *4), *cakkadhara=cakradhara* (I, 73), *padhāna=pradhāna* (III, 49, 61), *madhumaṁsam=madhumāmsam* (III, 29), *vidhāna=vidhāna* (I, 82), at times it is changed to *ahiyam = adhikam* (III, 70, MSS AP differ), *pahāna=pradhāna* (I, 6, 19 *1, here also MSS vary), *vivihāṇī=vividhāni* (I, 74), *sāhū=sādhuh* (III, 52, MSS vary) From the various readings, it would be clear that Jayasena's text, at times, has an inclination towards *h*. Intervocalic *bh* is generally changed to *h* *lahadi = labhate* (II, 29), *vasaho=vṛṣabhah* (I, 26, III, 1), *vihava=vibhava* (I, 6), *sahāva=svabhāva* (II, 24, 91), *suhena=śubhena* (I, 9, III, 46), at times it is retained · *anubhāgo=anubhāgah* (II 95*4)*abhibhūya* (I, 30), *nabho=nabhas* (II, 44), *sabhāva=svabhāva* (II, 92)

Generally initial (of a word even in a compound) *y* is changed to *j* *jadā=yadā* (I, 9) *jadi=yadi* (I, 11), *judo=yutah* (II, 95), *abhijutta=abhiyukta* (III, 46), *uvajutta=upayukta* (III, 26*17), at times non-initial *y* is retained *adimdiyattam=atīndriyatvam* (I, 20), *samavāyo=samavāyah* (I, 17), *sampayogajudo=samprayogayutah* (I, 11), at times it is dropped, *suddhovaoga=śuddhopayoga* (I, 13)

---

1 A=a MS with the Sanskrit commentary of Amṛtacandra and P=a MS with Prabhācandra's commentary see their description at the end

Generally *r* is retained *agārī* (III, 50), *anamtavaravīrio=anantavaravīryah* (I, 19), *devāsura* (I, 6), *parināmo=parināmah* (II, 88). It is very scarcely that *r*, initial as well as non-initial, is changed to *l* *lukkha-rūkṣa* (II, 73-4) cp Pali *lukha*,[1] AMg *lukkha* also *lūha*, *orālio-audārikah* [p 115*] (II, 79) Cp Pali *uḷāra-udāra*,[2] our form is perhaps a further metathesis Because *r* has a strong cerebral element in its pronunciation and because *t*, on account of cerebral proximity, is changed to *d*, we find that *padi* is indiscriminately equated with *pari* as well as *prati*, and hence *padipunna-śāmanno-paripūrna-śramanyah* (III, 14)

Intervocalic *v* is preserved, *viviho-vividhah* (I, 84), *sahāva-svabhāva* (II, 24) *sāvaja-śrāvaka* (III, 50) Note *jīyadu-jīvatu* (III, 17 MSS. AP read *jīvadu*)

Of the sibilants only the dental, *s*, is allowed *kusalo-kuśalah* (I, 92), *damsana-darśana* (I, 82* 7), *padesa-pradeśa* (II, 46), *pesīsu-peśīṣu* (III, 29*18), *visaya-viṣaya* (II, 66), *sayana-śayana* (III, 16)

Critical remarks on ya-sruti —It is necessary to note, at this stage, the position of *ja-śruti*[3] in this dialect of *Pravacanasāra* *ja-śruti* is recognised under certain circumstances If a consonant is dropped leaving behind a vowel, *ja-śruti* occupies that vowel provided that vowel is *a* or *ā* *āloyana-ālocana* (III, 11), *odaïjā-audayikāh* (I, 45), *kammarajam-karmarajas* (II, 95), *lojāloja-lokāloka* (I, 23), *sāvaja-śrāvaka* (III, 50), this *ja-śruti* does not develop in case the remaining vowel to be occupied is not *a* or *ā* *aïsaya-atiśaya* (I, 13), *davvaṭṭhiena=dravyārthikena* (II, 22), *davvādiesu-dravyādikeṣu* (I, 83), but *y*, to be distinguished from *j*, can be coupled, under such circumstances, with any vowel, if the consonant to be dropped in the Sk. word is *y* itself *imdiyehi-indriyaih* (I,63), *niyadayo-niyatayah* (I, 44), *visaye-viṣayān* (II, 83), *visayesu-viṣayeṣu* (III, 73) In this context I may be allowed to have a digression *ja-śruti* appears to be *originally* a peculiarity of Jaina Prakrit dialects[4] Hemacandra, whose rule is clearer than that of Canda, makes its scope very limited For the development of *ja-śruti* he says (1) the constituent vowel should be *a* or *ā*, and (2) the preceding vowel also should be *a* or *ā*, i e, in other words, *ja-śruti* can develop between *a-varnas* (*avarṇa* meaning *a* and *ā*), he admits, however, by the illustration *pijaï-pibati*, that the second condition is at times violated A scrutiny of pre-Hemacandra literature, whether in Ardha-Māgadhī, Jaina Śaurasenī or Jaina Māhārāṣṭrī, will show that his second condition is more violated than observed, and to fulfil the phonetic needs the first condition is quite sufficient. The position of *ja-śruti* in *Pravacanasāra* as enunciated above, though not in complete agreement with Hemacandra's rule, almost wholly agrees with the usage of the Ardha-Māgadhī canon, it is only some modern editors that try to follow Hemacandra literally Even in Pāli, *y* at times develops in the place of a consonant dropped *khāyita-khādita*, *nija=nija*,[5] etc

1 Geiger *Pali L Spr*, p 59

2 Geiger *Pali L Spr*, p 59

3 Pischel *Gr Pr Spr*, p 137, M Ghosh Prakrit verses in *Bhārata-Nāṭyaśāstra*, see p 8 of *Indian Historical Quarterly*, Vol VIII, 4, Dr P L Vaidya *A Manual of AMg Grammar*, Poona 1933, pp 19-20

4 Caṇda's *Prākṛta Lakṣana*, III, 39, Hemacandra VIII i, 180

5 Geiger *Pali L Spr*, p 55

[p 116:] **Treatment of conjunct consonants.**—Just to have a glimpse of the treatment of conjunct consonants, initial as well as medial, some typical cases from *Pravacanasāra* are put together here *itthi-strī* (I, 44), *gilāna-glāna* (III, 30), *gilāna* in Pali, *cāga-tyāga* (III, 20), *chudhā-kṣudhā* (III, 52) *khudhā* in Pali,[1] *ṇāṇam-jñānam* (I, 19), *niddhā-snigdha* (II, 71) Bhāsa has *siniddha*,[2] *thāvara-sthāvara* (II, 90) *phāso* (v l, *paraso*)-*sparśaḥ* (I, 56) Bhāsa has *parisa*,[3] *maṃsuga-śmaśru* (-*ka*) (III, 5). Then some cases of assimilated, non-initial conjuncts may be noted *ajjhattha-adhyātma* (?) (III, 73), *attha* and *attha=artha* (I, 10, 18, 26, etc) *appā-ātma* (I, 7, II, 33), *ādā-ātmā* (I, 8, II, 33), *ussāsa-ucchvāsa* (III, 38) This form—*ussāsa*[4] is in the mouth of Vidūṣaka in the fragments of Aśvaghoṣa's dramas, and Dr Lüders calls it a form of Old Śaurasenī *chaddiyā-charditā* (III, 19), the form *vicchaddam*[5] occurs in the fragments of Aśvaghoṣa's dramas, and it is regarded as a Śaurasenī feature, *taccaṃ-tattvam* (II, 16), *taccanhū-tattvajñaḥ* (II, 105), *damsana-darśana* (II, 100), *dhŏvva* (v l *dhaüvva*)-*dhrauvya* (II, 8), *pakkhīna-prakṣīna* (I, 19), *pajjaya* and *dajjāya=paryāya* (I, 10, II, 1), *pŏggala* or *puggala-pudgala* (I, 34; II, 40, II, 76), *puvva-pūrva* (II, 47), Pali *pubba* Bhāsa has *puruva*,[6] and Hema requires *purava* in Śaurasenī, *māhappam-māhātmyam* (I, 51), *vacchaladā-vatsalatā* (III,46), *Vaddhamāna=Vardhamāna* (I, 1), *savvanhū-sarvajñaḥ* (I, 16), *samthāna samsthāna* (II, 60) The simplification of a conjunct is, at times, achieved, by anaptyxis *arahamta-arhan* (I, 3), *ariho-arhan* (I, 68*3), *kiriyā-kriyā* (I, 21, II, 24), *chadumattha-chadmastha* (III, 56), *daviya-dravya* (II, 62), *pariyamta-paryanta* (II, 40), *raýana-ratna* (I, 30), another reading is *radana*, Bhāsa has both these forms,[7] *vīriya-vīrya* (I, 2), *suhuma-sūkṣma* (II, 75, III, 17*2, 24*12, once *suhama* (III, 24*11)

Declension—To have some idea of the morphological scheme of the dialect of *Pravacanasāra*, some typical forms are noted here, Masculine nouns, Singular Nom *dhammo* (I, 7), Acc *uvadesam* (I, 88), Inst *kālena* (III, 75), *gurunā* (III, 7), Dat *niggamatthāe*(?) (III, 17*1), Abl *carittādo* (I, 6 see II, 37 for similar forms), Gen *bhāvassa*, (II, 92), Loc *loge* (I, 68), *dānammi* (I, 69), *cariyamhi* (I, 79). In Pali we have *dhamme*, *dhammassiṁ* and *dhammamhi*,[8] and the Girnar edict of Aśoka has Loc sg in -*amhi*,[9] Plural Nom *samanā* (III, 10), *isino* (I, 33), Acc, *titthaýare* (I, 2), *mohādī* (I, 79), Inst *vihovehim* (I, 6,), *ŏggahādihim* (I, 59), and sometimes without *anusvāra*, Gen *surānaṁ* (I, 71), *sāhūnaṁ* (I, 4), Loc *suhesu* (I, 62) Neuter nouns, Singular *davvam* (I, 8), Acc *jagam* (I, 29), Loc *jagadi* (I, 26), Plural: [p 117] *rūvāṇi* (I, 28) *limgāni* (I, 85) Some typical forms of feminine nouns may be noted Nom sg *devadā* (I, 68), *sampattī* (I, 5), Acc sg *taṇham* (I, 74),

1 Geiger *Pali L Spr*, p 67
2 Printz *B P*, p 12
3 Ibidem p 12
4 Lüders *Bruchstücke Buddhistischer Dramen*, p 45
5 Ibidem p 47
6 Printz *B P*, pp 5 and 13
7 Ibid p 12
8 Geiger *Pali L Spr*, p 79
9 Woolner *Asoka Text and Glossary*, part I, p xxi

Inst *aṇukampayā* (III, 51) *chudhāe* (III, 52), *niyadinā* (I, 43), *bhāsāe* (I, 30), *saṇṇayā* (I, 87), Inst pl. *tanhāhiṁ* (I, 75), Abl, sg *uvadhīdo* (III, 19), Gen sg *itthissa* (III, 24*13), Gen pl *itthīnam* (I, 44), Loc sg *uvadhimhi* (III, 15), *cěṭṭhamhi* (III, 19), *vikadhammi* (III, 15) Some typical forms of consonantal stems may be noted Nom sg *ādā* (I, 66), *ṇāṇī* (I, 28), *bhagavam* (I 32), Acc sg, *appāṇaṁ* (I 33), *kevaliṁ* (I, 33), *ādam* (I, 90), *jammaṇā* (III, 24*7), Gen sg *appaṇo* (I, 81), *dehissa* (I, 66) Of the pronominal forms a few typical ones may be noted Nom sg *esa* (I, 1) *jo* (I, 7), *so* (I, 7), Acc pl *ede* (I, 91), *te savve* (I, 3), Abl sg *jamhā* (I, 20), *tamhā* (I, 84), *jatto* (1, 5), *tatto* (II, 29), Abl pl *tehiṁdo* (II, 90), Gen pl *tesim*, *savvesim* (I, 4, 5,), fem *tāsim* (III, 24*10)

Conjugation—Coming to the conjugational forms, we have Present 1st p sg *paṇamāmi* (I, 1) *vamdāmi* (I, 3), *maṇṇe* (II, 100), 3rd p sg *havadi* (I, 65), *hodi* (I, 18), *pajahadi* (II, 20), *passadi* (I, 29), *pěcchadi* (I, 32), *pāvadi* (I, 88), *pappodi* (III, 75) the forms *pappoti* occurs in AMg as well see *Uttarādhyayana* 14, 14 (with a *v l pappotti* 3rd p sg of the present) cp Pali *pāpunāti*, *jāyadi* (II, 27) *gěnhadi* (I, 32), *atthi* (I, 53), *karedi* (I, 52*2), *kīradi* (II 91), *kunadi* (I, 89, II, 57, III, 50), *dharedi* (II, 58), *bibhedi* (III 20*5), *jādi* (I, 15), *jhādi* (II, 59), *nādi* (I, 25), 3rd p pl *khīyamti* (I 19*1), *parūvěmti* (I, 39), *vaṭṭamti* (III, 67), *vattamte* (I, 37), *hǒmti* (I, 38) The 3rd p sg termination, as seen from the above illustrations, is necessarily *di*, it is only in three or four places that Jayasena's text reads *i*, but, being backed by other MSS, I have corrected it to *di* In gāthā No. III 20*5, Jayasena has *i* four times, I have not changed it, as I had not the advantage of collating other MSS of Jayasena's text but it is seen from the variants, that P has *di* throughout. Future 3rd p sg *bhavissadi* (II, 20) Imperative 2nd p sg *jāna* (II, 80, 87), *jānīhi* (II, 82), *viyāna* (I, 64), 3rd p sg *abhigacchadu* (I, 90), *padivajjadu* (III, 1), *maradu* (III, 17) The potential or the optative 3rd p sg of the root *as* is preserved as *se*=*syāt* (III, 49, 50), which is peculiar to our text, in AMg it is *siyā*, but a prototype of *se* can be suspected in forms like *hane* etc [1] in *Ācārāṅgā* of the Śvetāmbara canon, cp Pali *labhe*[2] for optative 3rd p sg

Verbal derivatives—Some typical present participles are *ahǒjjamāno*=*abhavan* (II, 21), *uvadisadā*=*upadiśatā* (II, 5) *parinamado*=*parinamamānasya* (I, 21), *parinamamāṇa*=*parinamamāna* (II, 26) *bhavam*=*bhavan* (II, 14, 20), *vattamte*=*vartamānan* (I, 3), *hǒjjam*=*bhavan* (II, 103) Generally, the past passive participle forms are the corruptions of the Sk forms, the uncertainty about the retention or otherwise of intervocalic *d* upsets these forms to a great extent, some typical forms are noted here *apariccatta*=*aparītyakta* (II, 3), *udiṇṇa*=*udīrṇa* (I 75), *gada* and *gaya*=*gata* (I, 50 31) *jutta*=*yukta* (I, 70) *nivvāda*=*nirvṛta* (I, 82), *dhoda*=*dhauta* (I, 1), *bhanida* and [p 118] *bhaniya* (II 32, I, 34), *samaraddha*=*samārabdha* (II, 32), *samchaṇṇa*=*samchanna* (I, 77), *silittha*=*śliṣṭa* (II, 96) Some of the typical gerund forms are *kiccā*=*kṛtvā* (I, 4, 82), *paducca*=*pratītya* (I, 50), *khittā*=*kṣiptvā* (III, 20*5), *cattā*=*tyaktvā* (I, 79, II, 98), *dattā*=*dattvā* (III, 29*20), *ditthā*=*dṛṣṭvā* (III, 52, 61, I, 92*8) compare *puṭṭhā*[3] in *Ācārāṅga* for *pṛṣṭyā*, *āpiccha*=*āpṛcchya*

1 Schubring *Ācārāṅgā sūtra* p 12 etc
2 Geiger *Pali L Spr*, *p* 110
3 *Ācārāṅga-sūtra*, ed Schubring, p 34

(III, 2) *āsĕjja=āsādya* (I,5, II, 91, also read *āsijja* III, 2), *abhibhūya* (I, 30, II, 25), *uvalabbha=upalabhya* (I, 88), *panamiýa=pranamya* (III, 2) *pappā=prāpya* (I, 65 etc II, 77–8) the form *pappā* is used by Haribhadra in his *Vimśatikā*, 16, 16 and it is used in the AMg canon also, see *Uttarā*, 36, 9, *jānittā=jñātvā* (II, 102), *namamsittā=namaskrtya* (III, 7), *nirumbhittā* (possibly a confusion between *rumdha* and *rubbha*[1])=*nirudhya* (II, 104), *sunidūna=śrutvā* (I 62) *bhaviýa=bhūtvā* (I 12, II, 20) *khaviýa=ksapayitvā* (II, 103) Some typical forms of the Infinitive of purpose are *dedum=datum* (II, 48), *nādum=jñātum* (I, 40, 48), *bhŏttum=bhoktum* (III, 29*20) From the following forms when studied in their context, it appears that the past passive participles are made to serve the purpose of the past active participles *uddiṭṭhā=uddiṣtavantah* (III, 24), *kammamevuttā=karmaivoktavantah* (I, 42), *samakkhādā=samākhyātavantah* (II, 6) The typical forms of the potential passive participle or necessitative are: *abbhuttheya=abhyuttheya* (III, 63), *kāýavva=kartavva* (I, 67, III, 12), *neya=jñeya* (I, 20), *panivadanīya=pranipataniya* (III, 63), *munedavvo=jñātavyah* (I, 8, II, 2, 39), *samadhidavva=samadhyetavya* (I, 86), *samkhavaidavva=samksapayitavya* (I, 84)

Particles etc—Particles: *a* (I, 85), *ýa* (I, 3), *jahā* (I, 30) *jadhā* (II, 82, III, 30), *jadha* (II, 45), *taha* (I, 4), *tahā* (I, 53), *tadha* (II 6, III, 21), *puna* (I, 2), *puno* (I, 17), *khalu* (I, 7), *khu* (II, 10) *iti* (II 5, 6), *idi* (II, 99, III, 4), *ti* (after an *anusvāra)* (I, 36), *tti* (I, 8), with regard to the use of *tti*, following illustration may be noted in which *tti* appears to do away with the preceding termination *tammaya tti* (I, 8), *parŏkkha tti* (I, 58), *davva tti* (I, 87), *samga tti* (III, 24) *du* (I, 18, II, 30), *vi* (I, 22), *pi* (after an *anusvāra)* (III, 3), *hi* (II, 24) *va* (I, 27), *vā* (I, 20), *kaham* (I, 25), *kadham* (I, 57, II, 21, III, 21), *kiha* (II, 59, III, 58), *kidha* (I, 49, III, 21), *va* (III, 18), *vva* (I, 44), *tāvadi* (I, 70), *cciýa* (III, 74), *jadi* (III, 68), *kila* (III, 29*19 *v l kira*)

Numerals and typical words—Some of the numerals are *ega* (I, 48), *ŏkka* (II, 10, 49), *duga* (II, 49), *cadu* (II, 55), *pamca* (II, 54*3) A few typical words, which have not been illustrated heretofore, can be noted here *jananā=jñaptih* (I, 34), *jidimdo=jitendriyah* (III, 4), *jugavam=yugapat* (I, 47), *jonham=jainam* (I, 51, 88, III, 6, once the reading is *jĕnham*), *dugumchā=jugupsā* (III, 24*9) cp Pali *jigucchā*

The place of this dialect among the Prakrits—With this grammatical survey it is possible to define the position of the dialect of *Pravacanasāra* in the scheme of Prakrit dialects This dialect, in fact, has [p 119] many features common to Prakrits, as a whole, such as the loss of vowels *ṛ* and *lṛ* and of the dipthongs *ai* and *au*, general tendency towards changing the intervocalic consonants, reduction of the three sibilants to one, the reduction of the nasals, and the tendecny to assimilate the conjunct when it is not simplified by anaptyxis Words like *mĕtta*, *vihūna*, *vuddha* etc may be found in almost all dialects With respect to vowel changes and the consequent forms of words like *iddhī*, *isi*, *orāliýa*, *ohi*, *dosa*, *nisĕjjā*, *pagada*, *vasaho* (°*bho* in Ardha-Māgadhi), *veuvvio*, *samvudo* etc, they are a common property with AMg 'of the Svetāmbara canon some of them are found in Jaina Māhārāṣtri of the Svetambara

1 See Hema Prakrit Grammar, iv, 218, 245

post-canonical literature, only because JM inherits many features of AMg Forms like *pagada, pudhatta etc* smack of Śaurasenī

The treatment accorded to intervocalic consonants, especially stops, is of a very uncertain character, the general tendency is towards softening or retention, a phenomenon quite usual in the early text of the AMg canon and in Śaurasenī, in Bhāsa's Śaurasenī retention or softening of intervocalic consonants is still facultative, while in that of Kālidāsa the tendency is towards omission It must be remembered that the Śvetāmbara canon has been, in later days, subjected to a strong *Māhārāṣṭrī* influence, because, since the days of Valabhi, redaction, 980 years after Mahāvīra, the canon came to be shaped, nourished, nurtured, copied and studied, in Western India, especially in Gujarat ard Kathiawar Still words like *anega, udahi, logāloge, vibhāga* etc can be seen on any page of the canonical texts, and they indicate the basic non-*Māhārāṣṭrī* element of AMg The softening of *k* to *g* is merely an extension of Śaurasenī phenomenon, generalised by grammarians, of softening *t* and *th* to *d* and *dh* The retention of *g* is quite normal in AMg of the canon The retention of *c* and *j* exhibit a strong contrast with normal *Māhārāṣṭrī* The softening of *t*, which is almost universally taken recourse to in *Pravacanasāra* is peculiarly Śaurasenī and extended by grammarians to Māgadhī and other dialects, as a result of this the Present 3rd p sg termination is necessarily *di*, which, according to critical editors is *i* in AMg texts, though some editors of the orthodox school would preserve *ti* The treatment accorded to dental nasal in *Pravacanasāra* is worthy of note it is universally cerebralised whether initial, medial or conjunct, and this is in agreement with Śaurasenī Turning to Prakrit grammarians on this point, Vararuci wants unexceptional cerebralisation, while Hemacandra says that dental may be retained if initial Coming to the practice in AMg, the MSS are never in agreement, but critical scholars, from Weber to Vaidya,[1] have created a substantial convention of retaining a dental at the beginning of a word and of changing it to cerebral elsewhere Exception is, however, made in the case of *naṃ*[2] With regard to conjunct *nn* or *ṇṇ*, Dr Jacobi's rule[3] is that *ṇṇ* should be preferred, if there is *ṇ* in the Sk original, otherwise *nn*, but one must say that [p 120] Dr Jacobi has over-extended his convention, when he prints *savvannū*, which, as a matter of phonetic necessity, should be *savvaṇṇū*[4] Our MSS *Pravacanasāra* are almost in agreement in preferring *ṇ* everywhere and that has been uniformly followed The treatment of aspirated consonants *th, dh, bh* at times agrees with AMg and at times with Śaurasenī The phenomenon of *ya-śruti* is practically the same as in AMg canon, though in JM, as seen in modern editions, there is a tendency to observe strictly the rules of Hemacandra In AMg there are many cases where *r* is changed to *l*, but in our text the tendency is towards retaining *r*, though we have a few cases of *r* changing to *l*, this is more in agreement with Śaurasenī

1 Weber Uber ein Fragment der *Bhagavatī*, Berlin, 1866–7, Dr Vaidya his editions of *Nirayāvaliyāo, Antagadadasāo* etc, *Vivāgasuya* and *Paesikahāṇaya* etc Poona

2 Leumann retains forms like *ṇūnaṃ no* etc, see his *Das Aupapātika-sūtra*, sections 132–3, 137, Dr Vaidya *A Manual of Amg Grammar* pp 21–2

3 Dr Jacobi *Āyāraṁga sutta* PTS London 1882 p xv

4 Hema Grammar, VIII, I, 56, II, 83

Coming to the treatment of conjunct consonants, typical words like *ādā* (*āyā* in AMg) *gilāna, niddho, thāvara, suhuma*, etc, are quite usual in AMg canon. In *Pravacanasāra* we get *puvva*, which, according to Hemacandra, is optionally *purava* in Śaurasenī

In morphology the Nom sg termination of *a*-stems is *o*, which agrees with Śaurasenī and partially with AMg The Loc sg has *e*, *-ammi* or *ammi* and *-amhi* or *-amhi e and -ammi* are normal in AMg It is a point *sub judice*, whether *-ammi* is possible in Śaurasenī, it is not forbidden by Hemacandra, it is only later grammarians like Mārkandeya that have not allowed it in Śaurasenī With no discredit to the worth of Prakrit grammarians, I might say that it is an innocent anachronism that Mārkandeya should be a judge on the Prakrit of a writer like Rājaśekhara, though eminent Prakritists like Konow have adopted this view If usage (evidenced by good MSS) and phonetic possibility are taken into consideration, *-ammi* is not impossible in Śaurasenī Our text has *amhi* in addition, it is also spelt as *-amhi* it is found in the Girnar edict of Aśoka as already noted above The Loc sg of *jagat* as *jagadi* only betrays strong Sk influence The instrumental sg termination for fem. nouns ending in *ā* is *e*, which is quite normal, but at times the Sk form is retained as in *anukampayā* The Loc sg forms are worthy of note, as some fem nouns with *ā* stems are treated as masculine nouns in *a*-stems *vikadhammi* from *vikathā*, *cĕtthammi* from *ceṣṭā* etc, the Gen sg of *strī* is *itthissa* these forms of feminine nouns are, so far as I know, the peculiarities of our text alone Coming to the pronominal forms the Abl pl of *tad* is *tehimdo* which is Śaurasenī with vengeance

The present 3rd p sg termination is decidedly Śaurasenī The future 3rd p sg form *bhavissadi* is not Śaurasenī according to Hemacandra's standard The forms of the gerund and infinitive of purpose agrae either with AMg or Śaurasenī, if not, they are the corruptions of Sk forms, directly or through analogy, according to recognised rules of phonetic corruption

Besides this vacillation between AMg and Śaurasenī, there is another stong influence working on the Pk dialect of *Pravacanasāra* and that is of Sanskrit, We come across forms like *jānannavi, tanna, tavvivarīdo* etc, which indicate that the author has in his mind the Sk idiom quite predominantly This explains also the tendency to retain intervocalic *c* at times and even *p* in [p 121] phrases like *ghoramapāram*. Even the ready-made Sk forms are subjected to phonetic corruption and imported, for instance *jagadi, divā* (*diyā* in AMg), *nadā* (I, 42) *sannayā*, which are very scare elsewhere The past p participles and the gerund forms show that they are corruped from SK Some roots necessarily retain their Ātmanepada colour The verbal forms like *janayamti, pappodi* and *bibhedi* substantiate the same conclusion

Thus this dialect of *Pravacanasāra*, in short, inherits many features of AMg dialect of the Śvetāmbara canon, it is nourished in the back-ground of Śauraseni, and thereon a strong influence of Sanskrit is working

Views on the name of this dialect—Then what significant name can be given to this dialect of *Pravacanasāra?* Pischel,[1] with the analysis of a few gāthās from *Pravacanasāra* and *Kattigeyânuppĕkkhā* as quoted by Bhandarkar,[2] came to

1 Pischel *Gr Pr Spr*, p 20
2 *Report on Search for Sanskrit* MSS, 1883-84

the conclusion, with a remarkable grasp and suggestiveness, that this dialect should be called Jaina *Śauraseni* This christening was quite in agreement with the precedent that the dialect of the post-canonical literature of the *Svetāmbaras*, whcih represented an admixture of Ardha-*Māgādhi* and *Māhārāṣṭri*, was called Jaina *Māhārāṣṭri* by Dr Jacobi But some German scholars have questioned the accuracy of the designation, Jaina *Śauraseni* In his lecture,[1] delivered at Delhi, in 1928, Dr Walther Schubring passingly refers to the fact that the Digambara works like *Mūlācāra* etc are interesting for the grammatical exposition as shown by one of his pupils, who was connected with an investigation in *Mūlācāra* and other important Digambara treatises, and in conclusion he remarks 'The future will teach us whether the signification Pischel proposed *viz*, Jaina *Sauraseni*, will appear adequate' It appears that Dr Schubring is sceptic on that point Dr Schubring here refers, as he informs me in one of his letters, to an unpublished thesis 'Digambara texts', written in 1922 by his pupil Dr Walter Denecke Though the complete text of the thesis was not printed and published, the writer himself has given an abstract of it in the Jubilee volume[2] for Professor Jacobi In his observations on the Digambara texts Dr Denecke discusses various points about some Digambara Pk works, such as *Mūlācāra* of Vaṭṭakera, *Kaitigeyāṇuppēkkhā* of Kumāra, and *Chappāhuda, Samayasāra* and *Pañcāstikāya* of Kundakunda, it is only on the language of these works that W Denecke concentrates his attention, and most of his illustrative forms have been drawn from *Chappāhuda* On the whole, the dialeotal facts arrived at by Denecke are practically the same as those noted by me above in connection with *Pravacanasāra* except in one respect He remarks that the language of these works is influenced 'by Ardhamāgadhī, Jaina *Māhārāṣṭrī* which approaches it and Śaurasenī', from some of the illustrations given by himself, he would not hesitate to accept the influence of Sk The only one aspect, where our facts are not in agreement, is that he finds some Apabhra*mś*a forms in *Chappāhuda* [p 122] and *Kattigeyanuppēkkha*, and as he has not given any Apabh forms from *Pravacanasāra*, my conclusions remain unaffected, The majority of Apabh, forms, which Denecke notes, are from *Chappāhuda*, and the reasons why in *Chappāhuda* alone so many Apabh forms are found are these the Pāhu*d*as are easy and hence very often studied, in early days even the commentaries were not needed, the only commentary that appears to have been written and is available is that of Śrutasāgara, who lived about the beginning of the 16th century A D ,[3] so the texts of Pāhu*d*as have suffered dialectal changes here and there in the course of oral transmission and study, and the Apabh forms are there, because the Digambaras were cultivating Apabhra*mś*a side by side with other languages either traditionally inherited or adopted from different places, wherever they went

Denecke's view criticised, and Jaina Saurasenı as the significant name —In the light of the dialectal facts considered by him, Denecke says that it was unlucky that Pischel called this dialect as Jaina *Śaurasenī*, that Pischel's treatment

1 Published in *Vīra*, a Hindi Monthly, vol V, pp 11-12

2 *Festgabe* Hermann Jacobi zum, 75, Bonn 1926

3 *Annals* of the B O R I, XII, ii, p 157

and conclusion are not free from mistakes, and that according to his opinion, the name 'Digambari language' is a better designation. I do not understand, when there is practical agreement between Pischel and himself, and between his results and those of mine (excepting Apabh elements in *Chappāhuḍa*), why Denecke objects to the designation, Jaina Śaurasenī Any name can be given, just as Dr Jacobi once intended to call Jaina Māhārāṣṭrī as Jaina Saurāṣṭrī,[1] but one must prove first that the name previously suggested is connotatively defective, and that the name proposed is more significant As remarked above, Pischel's designation has been not without a precedent, and the name, Jaina Śauraseni, is capable of signifying the main traits of this dialect The word Jaina shows that it is primarily handled by Jaina authors and that it contains some dialectal features of Ardha-Māgadhi, the traditional name of the canonical language of the Jainas, the word Śauraseni shows that it has some parellels with Śauraseni of the grammarians and even of the dramas and further the term Śauraseni is wide enough to imply the Sanskritic influence, as the Śauraseni of Sk dramas is moulded after the fashion of the Sk idiom So Pischel's designation is sufficiently significant, and no new christening is needed The new name proposed by Denecke is not significant and comprehensive The name, Digambari language, on the very face of it, does not indicate a Pk dialect, it ignores the deep Śauraseni back-ground of the dialect, and it is misleading, in view of the fact that the Digambara authors have adopted, at different periods as well as side by side different languages and dialects as the one we are discussing, Sanskrit, Tamiḷa, Kannaḍa, and so forth Thus Denecke's proposed designation is not significant, as it includes matter not needed and excludes important traits of the dialect I am aware that this Jaina Śauraseni, the dialect of the gāthās of *Pravacanasāra*, has come, in later days, under the influence of Māhārāṣṭrī and Apabhraṃśa, but that is outside the scope of the present discussion To conclude, [p 123] Pischel's designation *viz*, Jaina Śauraseni, is sufficiently significant and it need not be changed, simply for the sake of changing it

Historical back-ground of Jaina Sauraseni—Is it possible to outline the historical back-ground and the circumstances, that might have been responsible for the shaping of the Jaina Śauraseni dialect ? A couple of centuries after the *nirvāṇa* of Mahāvira, as a result of the severe famine that is said to have taken place in
of Mahāvira, as a result of the severe famine that is said to have taken place in
Magadha, a portion of the Jaina community, under the leadership of Bhadrabāhu, migrated to the South,[2] and this has been the historical starting point of Jainism in South India The Jainas, that migrated to the South, could conveniently stick up to their ascetic practices, but those, that remained behind, became slack, to a great extent, due to difficult days of famine At the end of the famine, the members of the ascetic community in the North convened a *saṃgha* for the restoration of the sacred canon, as so many monks, who were the repositories of the sacred lore, had been the victims of famine It was at Pāṭaliputra that the canon was shaped, as it was then available from the various monks that had survived the famine, This canon, naturally, being shaped wholly by those that were remaining in the North and who had

1 His Intro to *Kalpasūtra* p 18, Leipzig 1879

2 *South Indian Jainism* chap II, *Ardhamāgadhi Reader* ixl etc

apparently slackened their ascetic practices, was not acceptable to those that had migrated to the South Here is the visible seed of the division of the Jaina church under the denominations of *Śvetāmbara* and Digambara, as they came to be known later on It was a practical step, on the part of the *Śvetāmbaras*, that they tried to restore the sacred texts as much as it was possible under the then prevailing circumstances, and it is this canon, after passing through various vicissitudes, that was committed to writing, almost as it is to-day under Devarddhigaṇi, at Valabhi, in the year 983 after the *nirvāṇa* of Mahāvīra The Digambaras, in their zeal for the genuine canon, did neither restore it themselves, nor could they accept the canon as shaped by the Pāṭaliputra *saṃgha*, with the result that the community, as a whole, came to lose the sacred canon But when we take into consideration the ancient method of study, that the teachers and pupils relied more on their memories than on the material accessories of knowledge like MSS etc, it is imaginable that the leading teachers among the Digambaras, in the South, might have utilised, on such an occasion, the knowledge of what they had studied from their teachers, and, to satisfy the religious needs of the community in the south, they might have composed small treatises, not as the sacred canon, which, as they understood that term, was lost beyond recovery, but as mere memory-notes of what they had received traditionally from their teachers, and it is to this class of literature that the works of authors like Puṣpadanta, Bhūtabali, Vaṭṭakera, Kundakunda and Śivārya belong Their works are written in a language, which inherited many dialectal characteristics of AMg, in which the traditional canon was originally preserved, why, between the works of these authors and the works of the Śvetāmbara canon, we have many common ideas, nay common verses,[1] these common verses do not imply [p 124] mutual borrowing, but prove a common heritage of both These things clearly explain the AMg elements in Jaina Śaurasenī The strong Śaurasenī colour must have been due to central Indian influence,[2] and, as the Digambaras continued their literary activities in the extreme South, their dialect could remain immune, at least for a long time, from the onslaughts of *Māhārāṣṭrī* That the Digambaras were partial to Śaurasenī is also clear from the manner in which they enriched the Kannaḍa vocabulary under Prakritic influence and when we see forms like *sakkada-samskṛta* in Kannaḍa, we are tempted to say that it was Śaurasenī grammar that helped them to transform Sk words and then to import them into Kannaḍa[3] Further, the Sk influence on Jaina Śaurasenī can be easily explained by the fact that the Jainas, in the South, were soon driven by circumstances around to adopt Sanskrit, and we find that Jaina authors like Samantabhadra, Pūjyapāda Anantavīrya, Akalaṅka and others cultivated chaste Sanskrit This strong inclination towards Sk and the absence of the reservoir of the AMg canon brought Jaina Śaurasenī under Sk influence The Śvetāmbaras in the North could not show much influence of SK on their

---

1 The problem raised by the common verses between *Mūlācāra* and *Āvaśyaka-niryukti* and between *Prakīrṇakas* and *Bhagavatī Ārādhanā* will be taken up in a separate paper

2 See Chatterjee *Origin and Development of Bengali Language*, pp 60-1

3 The apabhraṁśa-prakaraṇa chapter VIII, of the Kannaḍa Grammar *Śabdamaṇidarpaṇa* of Keśirāja, gives rules of corrupting Sk words, these rules remind us of similar ones in Prakrit grammars, some of which are special to Śaurasenī

Prakrit, because they constantly studied their canonical works and post-canonical ones like *Nijjuttis* and *Cūrṇis*, all in Prakrit, which were sufficiently large in bulk, and moreover they took up Sk rather late Just as the Jaina Śaurasenī is influenced by Sk, so the Sanskrit used by Śvetāmbara writers, because of their partiality towards and constant study of their texts in Prakrits, is greatly influenced by Pk. idiom, and that is why we find non-Sanskritic elements in many of the Śvetāmbara Sk works. The conspicuous absence of Deśī words in *Pravacanasāra*, possibly indicates that the Jaina Śaurasenī was nourished, or rather preserved,, in the extreme South, isolated from the growing varnaculars of the Aryan tongue in the North, and further, the South Indian varnaculars like Tamiḷa, Kannaḍa etc, perhaps phonetically, or due to small stock of vocabulary in early days, were inadequate to give loan words etc, while the AMg canon in the North was being nourished on parallel lines with the growing varnaculars and hence the possibility of more Deśī words etc therein I would call these early Jaina Śaurasenī works as the Pro-canonical texts of the Jainas

Jaina Saurasenī and Jacobi's pre-classical Prakrit—Now remains one point as to the relation of Jaina Saurasenī with the pre-classical Prakrit postulaten by Dr Jacobi [1] Māhārāṣṭrī, as its name possibly indicates, had its cradle in Mahārāṣṭra, though it is difficult to define its boundaries at the beginning of the Christian era It was from the region of its birth that it must have spread into Northern India It does not appear in the dramas of Bhāsa, but, by the time of Śūdraka and Kālidāsa, its place appears to be recognised for verses This comparatively late appearance of Māhārāṣṭrī in literature does give rise to a question as to what possibly might have occupied [p 125] the place of this dialect in early days Dr Jacobi postulates that there must have been some Prakrit, which he calls pre-classical Prakrit, and further he shows that he finds the traces of this Prakrit dialect in the *Nāṭyaśāstra* of Bharata This pre-classical Prakrit was marked by the optional retention, change or loss of intervocalic consonants, by the softening of *t* to *d* and the gerund in *iya*, and by some kinship with the dramatic Śaurasenī and also, according to Dr Jacobi, it shows some traces of Māhārāṣṭrī in the Loc sg in *-ammi* and gerund in *ūna* But, in view of the fact that the Śaurasenī of the fragments of Buddhistic dramas does not yet show the softening of *t* to *d*, Dr. Jacobi suspects that originally it must have been foreign to dramatic Śaurasenī, but later on adopted therein from the pre-classical Prakrit, partial glimpses of which are traceable in *Nāṭyaśāstra* This postulation of pre-classical Prakrit is really ingenious and explains many otherwise conflicting facts, but the question remains whether Dr Jacobi would have come to these very conclusions, if he had compared the so-called Pali phonology with his postulated pre-classical Prakrit This he has not done The so-called old Śaurasenī elements in the fragments of Buddhistic dramas can well be possible in Pali, such as the retention of intervocalic consonants, the change of *ny* to *ññ* and so forth, in almost all the three dialects called Old AMg, Old Saurasenī and Old Māgadhī by Dr. Lūders,[2] we find that there is no tendency towards cerebralisation of *n*, and this might be a Pali influence on the various dialects, as a whole, as handled by Aśvaghoṣa What then is

1 Dr Jacobi *Bhavisatta Kahā* von Dhanapāla pp 81*-89*.

2 Dr Lüders *Bruchstücke Buddhistischer Dramen* pp. 33-34

the relation of this postulated pre-classical Prakrit with the Jaina Śaurasenī? The so-called specialities of this pre-classical Pk are practically found in Jaina Śaurasenī, as we have analysed it from the gāthās of *Pravacanasāra* The postulate of Jacobi has one disadvantage that the dialectal facts from *Nāṭyaśāstra* will have to be accepted with caution, of this he himself is aware, and makes sufficient concession for Sanskritisms and scribal errors [1] The so-called antiquity of the orthography, *hn* rather than *nh*, might be merely the scribe s habit of writing Sk Comparing the dialectal stage represented by *Nātyaśāstra* with that of *Pravacanasāra*, one is struck with close similarities, if Sanskritisms like *viśuṣka, bhramarāvalī, sahasra, yuvati* etc are taken to be, and they are, chronologically late features imposed on the pre-classical Prakrit, then the Jaina Saurasenī, which exhibits comparatively less Sanskrit influence, might represent chronologically an earlier stage than that of *Nātyaśāstra* And I think that the dialectal characteristic of this pre-classical Pk will have to be decided by a comparison of common verses between the Śvetāmbara canon in AMg and the Pro-canonical literature of the Digambaras, without ignoring, of course, the Pali parallels, and the results are sure to be reliable, because these two tracts of literature have been preserved independently and with a remarkable mutual isolation

[p 126] The cumulative effect of the dialectal stage of Jaina Saurasenī on the probable period of Kundakunda, the author of *Pravacanasāra*, is already touched upon above



1 The Prakrit verses have been critically edited recently, see *Indian Historical Quarterly* vol VIII, iv

Post Script

Additions etc. to the Introduction

Page 1, paragraph 1 Pt Jugalkishore Mukthar has written an exhaustive and learned Review of my edition of the *Pravacanasāra* in the *Jaina Siddhānta Bhāskara* IV, i, pp 53–69, Arrah 1937 Some of the facts brought to light by him merit attention See also his note on Kundakunda and his works in his Introduction, pp, 12 f, to the *Purātana Jainavākya Sūcī* (P J S), Sarsawa 1950

Pt Kailash Chandra Shastri has written an exhaustive Introduction in Hindi to his *Prābhṛta-Samgraha* (Jivarāja Jaina Granthamālā, No 9, Sholapur 1960) Though he has substantially used this Introduction, now and then he has made his own suggestions and additions which deserve notice Some of the Important ones are noted by me here and there below

Paragraph 2 The figures in square brackets refer to the pages of the earlier edition brought out by me in 1935

Page 8, last word of the first paragraph, namely 'the mānuṣa region' Pt Jugalkishore is not ready to accept this conjecture, see his Review noted above Pt Kailash Chandra's observations may also be seen Vide his Introduction noted above,

Page 9, paragraph 2 on the word *Vādanyāya* There is a work *Vādanyāya* by Dharmakīrti as well The first section of it is edited by Rahula Sankrityayan in the *Journal* of the Bihar and Orissa Research Society, XXI, 4, December 1935

Page 16, on the word 'Suyakevali,' in line 5 Pt Jugalkishore's observations in his Review and Pt Kailash Chandra's remarks in his Introduction, noted above, may be taken into account

Page 17, on the words '*Jayadhavalā* commentaries,' in line 26 Pt Jugalkishore has shown in his Review, noted above, that the *Dhavalā* contains reference to *Parikarma* Dr H L Jain has given references to the contexts in the *Dhavalā* where *Pariyamma* is mentioned He shows that it was a commentary on the *Ṣatkhandāgama* and quite authoritative Though the name of the author is not noted, it is probable (from some common expressions in the *Niyamasāra*) that its author might have been Kundakunda (*Dhavalā*, vol I, Intro pp 46 f, Amraoti 1939 For reference to *Parikarma* in the *Jayadhavalā*, see Kasāyapāhuḍa, Vol I, Intro p 34, Benares 1944) For some observations in this context see also *Tiloyapannatti*, part II (Sholapur 1951), Intro p 6 Pt Kailash Chandra also (in the manner of Dr H L Jain) has collected (see his Intro noted above) a number of passages from the *Dhavalā* which refer to

Parikarma In his opinion its contents primarily covered Saiddhāntika-gaṇita It is mentioned as *Parikarma-sūtra*, it is closely connected with the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* on which possibly it was a Vyākhyā, now and then expressing different views Vīrasena does not mention the name of the author, but Pt Kailash chandra is inclined to accept Kundakunda as its author, because Indranandi says so and because some of its expressions have their counterparts in the *Niyamasāra* as already noted by Dr H L Jain

Page 21, para 2 on the words 'Christian era' Muni Śrī Kalyanavijayaji has advanced some arguments against an early date for Kundakunda (*Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra*, Jalor 1941) But his observations are not objectively presented, nor do they stand strict critical scrutiny Some of his arguments are already met by my discussion to which he makes no reference On his other details, I may just passingly note the following points i) The Hindu deities Viṣṇu, Brahman etc are mentioned in the *Sūtrakṛtāṅga* (I 6 21, I 1 5, etc), one of the earliest works in the Ardhamāgadhi canon, and it is not correct to presume that these are just deities of the Purāṇic age ii) Reference to Caityagṛha has nothing to do with Caityavāsa iii) It is still to be proved that the *Rayaṇasāra* is the work of Kundakunda, the author of the *Pravacanasāra* iv) Some of his presumptions are obviously incorrect In chronological discussions evidence is more valuable than anybody's opinion, however ingenious it might be

Pt Sukhalalaji has expressed his assertive voice against such an early date for Kundakunda (*Sanmati Prakaraṇa* (Hindi), Ahmedabad 1963) But he has not presented any evidence which could be weighed by a historian of literature It is not the conclusion but the evidence which is presented that matters more in objective studies The philosophical concepts and the attendant terms have flown in India in various currents and cross currents, and there is very little individualistic about them So any attempt to come to chronological conclusions on the basis of similarities of ideas and so on will always remain problematic F W Thomas (vide his Intro to the *Pravacanasāra* pp 16 ff, Cambridge 1935) has already made an objective attempt in this direction by putting together various terms etc (as a sign of antiquity) used by Kundakunda whom he puts earlier than Umāsvāti and would not at any rate put him after Siddhasena as perhaps Pt Sukhalalaji has in his mind The studies about Kundakunda are still in their infancy, and there is scope for further investigation It is well-known that scholars are not agreed even on the age of Kālidāsa for the simple reason that some of them try to usher in arguments which have hardly any relevance and definiteness while determining questions of chronology This is a good lesson for us who are working on chronological problems

Page 22, foot-note 2 It is suggested that Koṇdakunde-Konkondla (Anantapur Dt) is the place to which Kundakunda belonged and possibly derived his

name from that place It is an interesting suggestion and can be accepted as a workable hypothesis for the present (P B Desai *Jainism in South India*, Sholapur 1957, pp 152 ff)

Page 25, paragraph I, on the word '*Mūlācāra*' See Pt Jugalkishore's observations on this work in his Intro pp 18f of his P J S. Pt. Paramanand has written an article (*Anekānta*, II, 3, pp 221 f) that Kundakunda should be looked upon as the author of the *Mūlācāra*, but the evidence presented is not conclusive He shows further (Ibidem pp. 319f) how it has a number of gāthās common with other works See also Pt Hiralal's article on this work (Ibidem XII, 11, p 330ff.) He has further noted (Ibidem pp 362f) how the *Mūlācāra* shares some gāthās with the works of Kundakunda The Samayasārādhikāra of the *Mūlācāra* (X 89-90) has a few gāthās common with the *Sanmati* of Siddhasena (II 40-53), see the *Sanmati Tarka* English, Intro p 71, Bombay 1939 Even the name of the author or compiler is still obscure It is necessary, however, to treat the present chapters of the *Mūlācāra* as independent Prakaraṇas put together under one title In this context see the foot-note No 3 on p 31 below

Page 27, paragraph 2, on the word 'Daṃsaṇapāhuḍa' Dr W Schubring has written a learned paper 'Kundakunda echt und unecht' in ZDMG, Band 107-Heft 3 (December 1957), pp 557f It throws a searching light on the language and contents of some of the Pāhuḍas, and whether the author of the *Pravacanasāra* etc is the same as the author of some of the Pāhuḍas should be critically edited

Page 28, second paragraph, on 'Cāritta-pāhuḍa' There is a thorough and excellent study of the entire range of the Śrāvakācāra presented by Dr R Willams in his *Jaina Yoga*, London Oriental Series, Vol 14, London 1963

Page 38, foot-note No 1, add after "Lucknow 1931' Lately there is another edition of the *Niyamasāra* with Padmaprabha's comm and Gujarati Anuvāda by H J Shaha, Śri Jaina Svādhyāya Mandira Trust, Sonagadh 1951

Page 39, foot note from the earlier page, add at the end of it after the word 'commentary' My paper on this subject submitted to the Eighth Session of the All-India Oriental Conference, Mysore, is published, in its revised form, in the *Journal* of the University of Bombay, XI, ii, for 1942, pp 100f. Padmaprabha and his commentary, on the Niyamasāra' All the quotations are listed and an attempt was made to put broad limits to his age which was assigned to 'the last quarter of the 12th century and the first quarter of the 13th century A D' With more specific evidence, namely, the epigraph from Pataśivaram (Dt Anantapur) which gives so many details about Padmaprabha, it is shown now (P B Desai *Jainism in South India* and Some Jaina Epigraphs, Sholapur 1957, pp 159-60) that he passed away on Monday, February 24, A D 1185

Page 47, foot-note 4, add at the end of it This promised English translation of the *Pravacanasāra* and its Sanskrit commentary by Amṛtacandra by

B Faddegon is edited with an Introduction by F W. Thomas and published as Vol I, Jaina Literature Society Series, Cambridge 1935 The learned Editor has discussed some important points in the Intro which deserve special attention, such as the relative ages of Kundakunda and Umāsvāti, ancient character of the works of Kundakunda in the light of his terminology and references, some technical usages of Kundakunda etc An edition of the *Pravacanasāra*, Text Amṛtacandra's comm and Gujarati Translation is brought by H J Shaha, Songadh 1948, and there is a Hindi counterpart of this edition by Pt. Parameshthidas, Maroth 1950 A metrical version of the *Pravacanasāra* in Hindi by Vṛndāvana (see p 106, foot-note 3, below) was already published by the Jaina Hitaishī Kāryālaya, Bombay 1908 Lately, a Gujarati Padyānuvāda has appeared, songadh 1950 A Marathi Padyānuvāda by Shri M H Gandhi is published in the *Ārya Kundakunda* Osmanabad 1952 By the bye, in 1915, an edition of the *Pravacanasāra* by the late T K Laddu was announced in the S B J (see the list of proposed publications in the *Paramātma-prakāśa*, Arrah 1915), possibly due to the sad demise of the editor no such edition could be brought forth

Page 47, at the close of the first paragraph, on the word 'Jainism' Pt Sukhalalaji (*Sanmati-prakarana*, Hindi, pp 40ff Ahmedabad 1963) has instituted a comparison between the works of Kundakunda and the *Sanmati-prakarana* of Siddhasena He has detected between them common expressions, similarity of style, parallel contents and some improvements-deviations here and there It is necessary that this study has to be extended to the Stutis as well If one treats the entire early Jaina literature as one unit of study and is guided only by the available evidence, the irresistable conclusion is that Siddhasena took the clue of the Yugapad-vāda (see the foot-notes 1 and 2 on pp 39 and 76-7 below) from Kundakunda and consequently the make up of his *Sanmatiprakarana* is much influenced by that of the *Pravacanasāra* of Kundakunda Possibly to sidetrack this conclusion, Pt Sukhalalaji, if I understand him rignt, is postulating the currency of the Yugapad-vāda to some extent even in early Śvetambara literature (Ibidem pp 54 ff)

Page 48, paragraph No 2 In the Review, noted above, Pt Jugalkishore raises the question of the gāthās found common between the *Pravacanasāra* and the *Tiloyapannatti* of Yativṛṣabha See his article on this topic in the *Anekānta*, Vol II, No 1, pp 3 f, Delhi 1939, also his further discussion in his Intro to the P J S, pp 27f This subject is discussed in the Intro, in English and Hindi, to the *Tiloyapannatti*, part II, Sholapur 1951

Page 51, first paragraph, line 10, on the word 'Haribhadra' Both these verses, as quoted by Haribhadra, are found in the *Sāvayapannatti* attributed to Umāsvāti (Bombay 1905) but possibly composed by Haribhadra himself, see verse Nos 223-4, p 122

Page 52, first foot-note continued from the earlier page On this conjecture see Pt Jugalkishore's views in his Review noted above

Page 68, foot-note 5: When I wrote this I was not aware of a foot-note of H Jacobi (SBE, 45, Jaina Sūtras part ii, pp. 406-7, foot-note 3) where he describes the five bodies which an individual possesses according to Jainism, and at the close of his note, he remarks 'Compare also the Sāṃkhya terms *vaikṛta* and *taijasa*, Garbe, *Die Sāṃkhya Philosophie* pp 236, 249' It appears that the remaining terms had not then attracted his attention At any rate the similarity, very close one indeed, is a fact

Page 73, line 7, on the word Brahman: Brahman as an omniscient Being, see the *Vedānta-siddhānta-sūkti-mañjari*, Calcutta Sk Series, No IV, Intro p 39, note also the text, pp 57-60

Page 84, foot-note 1 · Haribhadra also has quoted this line in his commentary on the *Dasaveyāliya*, I, 3 So possibly it is a pretty old definition traditionally handed down

Page 92, line 7 The *Sūyagadam* possibly accepts a naked monk as an ideal one (I, 7, 22), and *nāganiya* means a nude monk

Page 94, paragraph 2, on the word style etc In this context, the observations of Dr F W Thomas deserve special attention 'His [i e, Amṛtacandra's] commentary on the *Pravacanasāra* is elaborate and of a severe, almost painful, precision which leaves nothing to be supplied and by no means shrinks from reiteration. He is an excellent master of Jaina Sanskrit he employs a fullness of phrase which not unfrequently gives an impression of an enjoyment of sonorous circumlocution and complicated sentences rather than of a simple striving for exactitude, and which renders the work of interpretation and translation extremely difficult but no special charity is required for recognising in the remorselessness of style the outcome of an inflexible religious faith Like other Jaina writings, the commentary is entirely void of personal display, but there are some few passages where it adopts a strain of enthusiasm and even indulges in verse (p 24, Intro to the ed, noted above, on p 47)

Page 96, at the end of the paragraph, on the words '10th century A D' See Pt Paramananda's note on Amṛtacandra in the *Anekānta*, VIII, pp 173-4 Jayasena, the author of the *Dharmaratnākara*, composed at Sakalīkarahāṭaka in Saṃvat 1055 (-57=998 A D) quotes many verses from the *Puruṣārtha-siddhyupāya* of Amṛtacandra So Amṛtacandra must have flourished earlier than 998 A D See also *Jaina Saṃdeśa, śodhānka* V, pp 177f, Mathura 1959, *The Voice of Ahiṃsā*, Vol XI, No 6, June 1961

Page 96, on the foot-note No 2 This reference is elaborated by Pt Sukhalalaji in an article on the age of Siddhasena (*Bhāratiya Vidyā*, Hindi, III, I, pp 132-3, July 1945) assigning him to the 5th century of the Vikrama era His note is also included in the *Sanmati-prakarana*, Hindi, p 10f, Ahmedabad 1963 Pt Sukhalalaji accepts that the *Jainendra-vyākarana* refers to Siddhasena, but, in his opinion, it could not have referred to Samantabhadra as an author He holds the view that 'Samantabhadra' possibly stands for the 'Samantabhadra-vyākarana, of the Buddhist author Candrakirti The suggestion is ingenious, but it remains just a speculation till

the relevant context is traced in Candrakirti's work about which, one wished the necessary bibliographic references were supplied for further study and verification (Ibidem p 47)

Page 97, end of the second paragraph, on the *'Dharmaratnākara'* About Jayasena, the author of the *Dharmaratnākara* (saṁvat 1055) see *Anekānta,* VIII, pp 200-5

Page 98, foot-note 2. As he knows the *Paramātma-prakāśa,* it is not unlikely that he mentions the name of its author as Yogindradeva really the name should have been Yogindu A Master misunderstood the title (Yogīndra) of Jinadattasūri as the name of the author of the *Paramātma-prakāśa* (See his paper Mysterious Paiśāci, JRAS, April 1943, p 45) as shown by me in a note in the *Annals* of the B O R I., Vol 34, pp 166-7

Page 104, second paragraph, on the word Śrutamuni in line 21 My friend Prof D. L Narasimhachar, Mysore, writes to me thus At the end of a Ms. called *Tattvaratna-pradipikā,* a Kannada commentary on the Sūtras of Umā-svāti written by Adhyātmi Bāḷacandra, the following Prākrit verse occurs *siddhaṁti Abhayacaṁdo tassa sisso ya hoi Sudamunino/ savvaguṇe paripunno tassaṁ sisso ya Nāgacaṁdo ya//*

Page 106, at the end of the third paragraph There is also a Tamil commentary on the three works of Kundakunda, see my note in the *Annals* of the B O R I XIX, 1, pp 1-2, Poona 1938



प्रवचनसारकी विषयानुक्रमणिका

३ चारित्राधिकार:


इति विषयानुक्रमणिका

श्रीमत्

कुन्दकुन्दाचार्य-विरचितः

प्रवचनसारः



श्रीवीतरागाय नमः

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

प्रवचनसारः

(टीकात्रयोपेतः)



श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृततत्त्वप्रदीपिकावृत्तिः

मङ्गलाचरणम्

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ॥१॥
हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः ।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ॥२॥

श्रीजयसेनाचार्यकृततात्पर्यवृत्तिः

नमः परमचैतन्यस्वात्मोत्थसुखसंपदे ।
परमागमसाराय सिद्धाय परमेष्ठिने ॥१॥

अथ कश्चिदासन्नभव्यः **शिवकुमार**नामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतविपरीतचतुर्गतिसंसारदुःखभयभीतः, समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः, समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृतदुराग्रहः, परित्यक्तसमस्तशत्रुमित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यन्तात्महितामविनश्वरां पञ्चपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाणः, श्रीवर्धमान-

---

श्री पांडे हेमराजजीकृत बालावबोधभाषाटीका

मंगलाचरण

छप्पयछंद—स्वयंसिद्ध करतार, करै निजकरम सरमनिधि ।
आप हि करणसरूप, होइ साधनसाधै विधि ॥
संप्रदानता धरै, आपकौं आप समप्पै ।
अपादानतैं आप, आपकौं करि थिर थप्पै ॥
अधिकरन होइ आधार निज, वरतै पूरन ब्रह्मपर ।
षटविधि कारकमय रहित, विविध एकविधि अज अमर ॥१॥

परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम् ।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥३॥

अथ खलु कश्चिदासन्नसंसारपारावारपारः समुन्मीलितसातिशयविवेकज्योतिरस्तमितसमस्तैकान्तवादविद्याभिनिवेशः पारमेश्वरीमनेकान्तविद्यामुपगम्य मुक्तसमस्तपक्षपरिग्रहतयात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा सकलपुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमां भगवत्पञ्चपरमेष्ठिप्रसादोपजन्यां परमार्थसत्यां मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थनायकपुरःसरान् भगवतः पञ्चपरमेष्ठिनः प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन संभाव्य सर्वारम्भेण मोक्षमार्गं संप्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते । [अथ सूत्रावतारः—]

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥१॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विशुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥२॥

स्वामितीर्थंकरपरमदेवप्रमुखान् भगवत पञ्चपरमेष्ठिनो द्रव्यभावनमस्काराभ्या प्रणम्य परमचारित्रमाश्रयामीति प्रतिज्ञा करोति—

पणमामीत्यादिपदखण्डनरूपेण व्याख्यान क्रियते—**पणमामि** प्रणमामि । स कः । कर्ता **एस** एषोऽहं ग्रन्थकरणोद्यतमना स्वसवेदनप्रत्यक्ष । कम् । **वड्ढमाण** अवसमन्तादृद्ध वृद्ध मान प्रमाणं ज्ञानं यस्य स भवति वर्धमान, 'अवाप्योरलोप' इति लक्षणेन भवत्यकारलोपोऽवशब्दस्यात्र, त

दोहा— महातत्त्व महनीय मह, महाधाम गुणधाम ।
चिदानद परमातमा, वदौं रमताराम ॥२॥
कुनय-दमनि सुवचन-अवनि, रमनि स्यातपद सुद्ध ।
जिनवानी मानी मुनिप, घटमे करहु सुबुद्धि ॥३॥

चौपाई—पच इष्टपदके पद वदौं । सत्यरूप गुरु गुण अभिनदौं ।
प्रवचनसारग्रथकी टीका । बालबोध भाषामय नीका ॥४॥
रचौं आप परकौं हितकारी । भव्यजीव–आनद विथारी ।
प्रवचन-जलधि अरथ-जल लैहै । मतिभाजन समान जन पैहै ॥५॥

दोहा— अमृतचद्रकृत सस्कृत, टीका अगम अपार ।
तिस अनुसार कहौं कछू, सुगम अलप विस्तार ॥६॥

श्रीकुदकुदाचार्य प्रथम ही ग्रन्थके आरभमे मंगलाचरणके लिये नमस्कार करते हैं—

[एष अहं वर्धमान प्रणमामि] यह जो मै "अपने अनुभवके गोचर ज्ञानदर्शनस्वरूप" कुदकुंदाचार्य हूँ, सो वर्धमान जो देवाधिदेव परमेश्वर परमपूज्य अतिमतीर्थंकर उनको नमस्कार करता

ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥३॥
किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥४॥
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥५॥ [पणगं]

एष सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितं धौतघातिकर्ममलम् ।
प्रणमामि वर्धमान तीर्थं धर्मस्य कर्तारम् ॥१॥
शेषान् पुनस्तीर्थकरान् ससर्वसिद्धान् विशुद्धसद्भावान् ।
श्रमणांश्च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान् ॥२॥
तास्तान् सर्वान् समक समकं प्रत्येकमेव प्रत्येकम् ।
वन्दे च वर्तमानानर्हतो मानुषे क्षेत्रे ॥३॥

रत्नत्रयात्मकप्रवर्तमानधर्मतत्त्वोपदेशक श्रीवर्धमानतीर्थंकरपरमदेवम् । क्व प्रणमामि । प्रथमत एव । किं विशिष्टम् । **सुरासुरमणुसिंदवंदिदं** त्रिभुवनाराध्यानन्तज्ञानादिगुणाधारपदाधिष्ठितत्वात्तत्पदाभिलाषिभिस्त्रिभुवनाधीशैः सम्यगाराध्यपादारविन्दत्वाच्च सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितम् । पुनरपि किं विशिष्टम् । **धोदघाइकम्ममल** परमसमाधिसमुत्पन्नरागादिमलरहितपारमार्थिकसुखामृतरूपनिर्मलनीरप्रक्षालितघातिकर्ममलत्वादन्येषा पापमलप्रक्षालनहेतुत्वाच्च धौतघातिकर्ममलम् । पुनश्च किं लक्षणम् । **तित्थ** दृष्टश्रुतानुभूतविषयसुखाभिलाषरूपनीरप्रवेशरहितेन परमसमाधिपोतेनोत्तीर्णससारसमुद्रत्वात्, अन्येषा तरणोपायभूतत्वाच्च तीर्थम् । पुनश्च किं रूपम् । **धम्मस्स कत्तार** निरुपरागात्मतत्त्वपरिणतिरूपनिश्चयधर्मस्योपादानकारणत्वात् अन्येषामुत्तमक्षमादिबहुविधधर्मोपदेशकत्वाच्च धर्मस्य कर्तारम् । इति क्रियाकारकसम्बन्ध । एवमन्तिमतीर्थंकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ॥१॥ तदनन्तर प्रणमामि । कान् **सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे** शेषतीर्थंकरान्, पुन ससर्वसिद्धान् वृषभादिपार्श्वपर्यन्तान् शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणसर्वसिद्धसहितानेतान् सर्वानपि । कथभूतान् ।

हूँ । कैसे हैं ? श्रीवर्धमानतीर्थंकर [**सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दित**] विमानवासी देवोके, पातालमे रहनेवाले देवोके और मनुष्योके स्वामियोकर नमस्कार किये गये हैं, इस कारण तीन लोककर पूज्य हैं । फिर कैसे है ? [**धौतघातिकर्ममल**] धोये है चार घातियाकर्मरूप मैल जिन्होने इसलिये अनतचतुष्टय [अनतज्ञान १, अनतदर्शन २, अनतवीर्य ३, अनत सुख ४] सहित हैं । फिर कैसे है ? [**तीर्थं**] तारनेमे समर्थ हैं, अर्थात् भव्यजीवोको ससार समुद्रसे पार करनेवाले है, फिर कैसे है ? [**धर्मस्य कर्तार**] शुद्ध आत्मिक जो धर्म उसके कर्ता अर्थात् उपदेश देनेवाले हैं ॥१॥ [**पुन अह**] फिर मै कुदकुदाचार्य [**शेषान् तीर्थंकरान् ससर्वसिद्धान् प्रणमामि**] शेष जो बचे, तेईस तीर्थंकर समस्त अतीतकालके सिद्धो सहित है, उनको नमस्कार करता हूँ । कैसे हैं ? तीर्थंकर और सिद्ध [**विशुद्ध-**

कृत्वार्हद्भ्य सिद्धेभ्यस्तथा नमो गणधरेभ्य ।
अध्यापकवर्गेभ्य साधुभ्यश्चेति सर्वेभ्य ॥४॥
तेषा विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रम समासाद्य ।
उपसपद्ये साम्य यतो निर्वाणसप्राप्ति ॥५॥ [पञ्चकम्]

एष स्वसंवेदनप्रत्यक्षो दर्शनज्ञानसामान्यात्माहं सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितत्वात्त्रिलोकैकगुरु, धौतघातिकर्ममलत्वाज्जगदनुग्रहसमर्थानन्तशक्तिपारमैश्वर्यं, योगिना तीर्थत्वात्तारणसमर्थं, धर्मकर्तृत्वाच्छुद्धस्वरूपवृत्तिविधातार, प्रवर्तमानतीर्थनायकत्वेन प्रथमत एव परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरपरमपूज्यसुगृहीतनामश्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि ॥१॥ तदनु विशुद्धसद्भावत्वादुपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावान् शेषानतीततीर्थनायकान्, सर्वान् सिद्धांश्च, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात्सभावितपरमशुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि ॥२॥ तदन्वेतानेव पञ्चपरमेष्ठिनस्तद्व्यक्तिव्यापिनः सर्वानेव साप्रतमेतत्क्षेत्रसंभवतीर्थकरासभवान्महाविदेहभूमिसभवत्वे सति मनुष्यक्षेत्रप्रवर्तिभिस्तीर्थनायकै सह वर्तमानकालं गोचरीकृत्य युगपद्युगपत्प्रत्येक प्रत्येकं च मोक्षलक्ष्मीस्वय-

---

विसुद्धसब्भावे निर्मलात्मोपलब्धिबलेन विश्लेषिताखिलावरणत्वात्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वाच्च विशुद्धसद्भावान्। **समणे य** श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूश्च। किंलक्षणान्। **णाणदसणचरित्ततववीरियायारे** सर्वविशुद्धद्रव्यगुणपर्यायात्मके चिद्वस्तुनि यासौ रागादिविकल्परहितनिश्चलचित्तवृत्तिस्तदन्तर्भूतेन व्यवहारपञ्चाचारसहकारिकारणोत्पन्नेन निश्चयपञ्चाचारेण परिणतत्वात् सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारोपेतानिति । एव शेषत्रयोविंशतितीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ॥ २ ॥ अथ **ते ते सव्वे** तास्तान्पूर्वोक्तानेव पञ्चपरमेष्ठिन सर्वान् **वदामि य** वन्दे, अह कर्ता। कथम् । **समगं समग** समुदायवन्दनापेक्षया युगपद्युगपत् । पुनरपि कथम् । **पत्तेगमेव पत्तेग** प्रत्येकवन्दनापेक्षया प्रत्येक प्रत्येकम् । न केवलमेतान् वन्दे अरहते अर्हत । किंविशिष्टान् । **वट्टंते माणुसे खेत्ते** वर्तमानान् । क्व । मानुषे क्षेत्रे । तथाहि—साप्रतमत्र भरतक्षेत्रे तीर्थकराभावात् पञ्चमहाविदेहस्थितश्रीमन्दरस्वामितीर्थकरपरमदेवप्रभृतितीर्थकरै सह तानेव पञ्चपरमेष्ठिनो

सद्भावान्] निर्मल हैं, ज्ञानदर्शनरूप स्वभाव जिनके। जैसे अन्तिम अग्निकर तपाया हुआ सोना अत्यन्त शुद्ध हो जाता है, उसी तरह निर्मल स्वभाव सहित हैं। **[च श्रमणान्]** फिर आचार्य, उपाध्याय और साधुओको नमस्कार करता हूँ। कैसे हैं ? **[ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान्]** ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य ये हैं आचरण जिनके, अर्थात् ज्ञानादिमे सदैव लीन रहते हैं, इस कारण उत्कृष्ट शुद्धोपयोगकी भूमिको प्राप्त हुए है। इस गाथामे पञ्चपरमेष्ठीको नमस्कार किया है ॥२॥ **[च पुन अह]** फिर मै कुदकुदाचार्य **[मानुषे क्षेत्रे वर्तमानान्]** मनुष्योके रहनेका क्षेत्र जो ढाई द्वीप, (जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, और आधा पुष्करद्वीप) उसमे रहनेवाले जो जो अरहत हैं, **[तान् तान् सर्वानर्हत]** उन सब अरहताको **[समकं समकं प्रत्येकमेव प्रत्येक]** सबको एकही

वरायमाणपरमनैर्ग्रन्थ्यदीक्षाक्षणोचितमङ्गलाचारभूतकृतिकर्मशास्त्रोपदिष्टवन्दनाभिधानेन संभावयामि ।।३।। अथैवमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां प्रणतिवन्दनाभिधानप्रवृत्तद्वैतद्वारेण भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसवलनबलविलीननिखिलस्वपरविभागतया प्रवृत्ताद्वैतं नमस्कारं कृत्वा ।।४।। तेषामेवार्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधानत्वेन सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावात्मतत्त्वश्रद्धानावबोधलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानसंपादकमाश्रमं समासाद्य सम्यग्दर्शनज्ञानसंपन्नो भूत्वा,

---

नमस्करोमि । कया । करणभूतया मोक्षलक्ष्मीस्वयवरमण्डपभूते जिनदीक्षाक्षणे मङ्गलाचारभूतया अनन्तज्ञानादिसिद्धगुणभावनारूपया सिद्धभक्त्या, तथैव निर्मलसमाधिपरिणतपरमयोगिगुणभावनालक्षणया योगिभक्त्या चेति । एव पूर्वविदेहतीर्थंकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गतेत्यभिप्राय ।।३।। अथ **किच्चा** कृत्वा । कम् । **णमो** नमस्कारम् । केभ्य । **अरहताण सिद्धाण तह णमो गणहराण अज्झावयवग्गाण साहूण चेव** अर्हत्सिद्धगणधरोपाध्यायसाधुभ्यश्चैव । कतिसख्योपेतेभ्य । **सव्वेसिं** सर्वेभ्य । इति पूर्वगाथात्रयेण कृतपचपरमेष्ठिनमस्कारोपसहारोऽयम् ।।४।। एव पचपरमेष्ठिनमस्कार कृत्वा किं करोमि । **उवसंपयामि** उपसपद्ये समाश्रयामि । किम् । **सम्म** साम्य चारित्रम् । यस्मात् किं भवति । **जत्तो णिव्वाणसपत्ती** यस्मान्निर्वाणसप्राप्ति. । किं कृत्वा । पूर्वं **समासिज्ज** समासाद्य प्राप्य । कम् । **विसुद्धणाणदसणपहाणासम** विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणप्रधानाश्रमम् । केषा सम्बन्धित्वेन **तेसिं** तेषा पूर्वोक्तपरमेष्ठिनामिति । तथाहि—अहमाराधक', एते चार्हदादय आराध्या इत्याराध्याराधकविकल्परूपो द्वैतनमस्कारो भण्यते । रागाद्युपाधिविकल्परहितपरमसमाधिवलेनात्मन्येवाराध्याराधकभाव पुनरद्वैतनमस्कारो भण्यते । इत्येवंलक्षण पूर्वोक्तगाथात्रयकथितप्रकारेण पचपरमेष्ठिसबन्धिन द्वैताद्वैतनमस्कार कृत्वा । तत' किं करोमि । रागादिभ्यो भिन्नोऽय स्वात्मोत्थसुखस्वभाव

समय अथवा हरएकको कालके क्रमसे [**वन्दे**] नमस्कार करता हूँ। **भावार्थ**—इस भरतक्षेत्रमे इस समय तीर्थंकर मौजूद नही है, इस कारण जो महाविदेहमे तीर्थंकर वर्तमान है, उनको मन वचन कायसे शास्त्रके अनुसार नमस्कार करता हूँ। वह नमस्कार दो तरहका है, द्वैत तथा अद्वैत, जो शरीरको नमाकर मस्तकको भूमिमे लगाकर, अनेक स्तुतियोसे पचपरमेष्ठीको अष्टाङ्ग नमस्कार करना है, वह द्वैत नमस्कार है, और जिस जगह भाव्यभावकभावोकी विशेषता (उत्कटता) से अत्यत लीन होकर 'ये पचपरमेष्ठी' 'यह मैं' ऐसा अपना और परका भेद मिट जावे, उस जगह अद्वैत नमस्कार कहा जाता है। अभ्यन्तरके परिणामोको भाव्य, तथा वचनोके बोलनेरूप बाह्य भावोको भावक कहते हैं ।।३।। [**अहं साम्यं उपसपद्ये**] मै ग्रन्थकर्ता शान्त भाव जो वीतरागचारित्र उसको स्वीकार करता हूँ । क्या करके ? [**अर्हद्भ्यो नमस्कृत्य**] अरहत जो अनन्तचतुष्टयसहित जीवन्मुक्त जिनवर है, उनको पहिले कहा हुआ दो तरहका नमस्कार करके, [**तथा सिद्धेभ्य**] और उसी प्रकार सिद्धोको, [**गणधरेभ्य**] आचार्योंको, [**अध्यापकवर्गेभ्य**] उपाध्यायोके समूहको [**च इति सर्वेभ्य. साधुभ्य**] और इसी प्रकार सब साधुओको नमस्कार करके ।।४।। फिर क्या करके शमपरिणामोको स्वीकार करता हूँ ? [**तेषा विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रमं**] उन पचपरमेष्ठियोके निर्मल दर्शनज्ञानस्वरूप मुख्य स्थानको [**समासाद्य**] पाकरके । [**यतो निर्वाण-प्राप्ति**] क्योकि इन शान्तपरिणामोंसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। **भावार्थ**—सब उपाधियोंसे

जीवस्य कषायकारणतया पुण्यबन्धसप्राप्तिहेतुभूतं सरागचारित्रं क्रमापतितमपि दूरमुत्क्रम्य सकलकषायकलिकलङ्कविविक्ततया निर्वाणसप्राप्तिहेतुभूत वीतरागचारित्राख्यं साम्यमुपसपद्ये । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यात्मकैकाग्र्य गतोऽस्मीति प्रतिज्ञार्थः । एव तावदयं साक्षान्मोक्षमार्गं सप्रतिपन्नः ॥५॥

अथायमेवं वीतरागसरागचारित्रयोरिष्टानिष्टफलत्वेनोपादेयहेयत्वं विवेचयति—

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

सपद्यते निर्वाण देवासुरमनुजराजविभवैः ।
जीवस्य चरित्राद्दर्शनज्ञानप्रधानात् ॥६॥

परमात्मेति भेदज्ञान, तथा स एव सर्वप्रकारोपादेय इति रुचिरूप सम्यक्त्वमित्युक्तलक्षणज्ञानदर्शनस्वभाव, मठचैत्यालयादिलक्षणव्यवहाराश्रमाद्विलक्षण भावाश्रमरूप प्रधानाश्रम प्राप्य । तत्पूर्वक्रमायातमपि सरागचारित्र पुण्यबन्धकारणमिति ज्ञात्वा परिहृत्य निश्चलशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपं वीतरागचारित्रमहमाश्रयामीति भावार्थ । एव प्रथमस्थले नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापचक गतम् ॥५॥ अथोपादेयभूतस्यातीन्द्रियसुखस्य कारणत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयम् । अतीन्द्रियसुखापेक्षया हेयस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वात्सरागचारित्र हेयमित्युपदिशति—**संपज्जदि** सपद्यते । किम् । **णिव्वाणं** निर्वाणम् । कथम् । सह कै । **देवासुरमणुयरायविहवेहि** देवासुरमनुष्यराजविभवैः । कस्य । **जीवस्स** जीवस्य । कस्मात् । **चरित्तादो** चरित्रात् । कथभूतात् । **दंसणणाणप्पहाणादो** सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधानादिति । तद्यथा—आत्माधीनज्ञानसुखस्वभावे शुद्धात्मद्रव्ये यन्निश्चलनिर्विकारानुभूतिरूपमवस्थान

जुदा आत्माको जानना, और वैसा ही श्रद्धान करना, ये ही निर्मल दर्शन, ज्ञान पचपरमेष्ठीके स्थान हैं । इनमे ही पचपरमेष्ठी प्राप्त होते है । इस तरह स्थानोको मैं पाकर वीतरागचारित्रको धारण करता हूँ । यद्यपि गुणस्थानोके चढनेके क्रममे सरागचारित्र जवर्दस्ती अर्थात् चारित्रमोहके मन्द उदय होनेसे अपने आप आ जाता है, तो भी मैं उसको दूर ही से छोडता हूँ, क्योकि वह कषायके अशोसे मिला हुआ है, और पुण्यबन्धका कारण है । इस कारण समस्त कषाय—कलकरहित तथा साक्षात् मोक्षका कारण वीतरागचारित्रको अगीकार करता हूँ ॥५॥

आगे श्रीकुदकुदाचार्य वीतराग-सरागचारित्रके उपादेय-हेयफलका खुलासा गाथासूत्रमे कहते हैं—

[जीवस्य चरित्रात् निर्वाण सपद्यते] जीवको चारित्रगुणके आचरणसे मोक्ष प्राप्त होता है । कैसे चारित्रसे ? **[दर्शनज्ञानप्रधानात्]** सम्यग्दर्शन-ज्ञान हैं मुख्य जिसमे । किन विभूतियो सहित मोक्ष पाता है ? **[देवासुरमनुजराजविभवैः सह]** स्वर्गवासी देव, पातालवासी देव तथा मनुष्योंके स्वामियोकी सपदा सहित । **भावार्थ**—चारित्र दो प्रकारका है, वीतराग तथा सराग । वीतराग-

संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः। तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्धः। अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम् ॥६॥

अथ चारित्रस्वरूपं विभावयति—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

चारित्रं खलु धर्मो धर्मो यः स शम इति निर्दिष्ट.।
मोहक्षोभविहीन परिणाम आत्मनो हि शम ॥७॥

स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः।

तल्लक्षणनिश्चयचारित्राज्जीवस्य समुत्पद्यते। किम्। पराधीनेन्द्रियजनितज्ञानसुखविलक्षण, स्वाधीनातीन्द्रियरूपपरमज्ञानसुखलक्षण निर्वाणम्। सरागचारित्रात्पुनर्देवासुरमनुष्यराजविभूतिजनको मुख्यवृत्त्या विशिष्टपुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाण चेति। असुरेषु मध्ये सम्यग्दृष्टि कथमुत्पद्यते इति चेत्—निदानबन्धेन सम्यक्त्वविराधना कृत्वा तत्रोत्पद्यत इति ज्ञातव्यम्। अत्र निश्चयेन वीतरागचारित्रमुपादेय सराग हेयमिति भावार्थ ॥६॥ अथ निश्चयचारित्रस्य पर्यायनामानि कथयामीत्यभिप्राय मनसि सप्रधार्य सूत्रमिद निरूपयति, एवमग्रेऽपि विवक्षितसूत्रार्थं मनसि धृत्वाथवास्य सूत्रस्याग्रे सूत्रमिदमुचित भवत्येव निश्चित्य सूत्रमिद प्रतिपादयतीति पातनिकालक्षण यथासभव सर्वत्र ज्ञातव्यम्—**चारित्त** चारित्र कर्तृ **खलु धम्मो** खलु स्फुट धर्मो भवति। **धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो** धर्मो य स तु शम इति निर्दिष्ट। **समो** यस्तु शमः स **मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु** मोहक्षोभविहीन परिणाम। कस्य। आत्मन। हु स्फुटमिति। तथाहि—शुद्धचित्स्वरूपे चरण चारित्र, तदेव चारित्र मिथ्यात्वरागादिससरणरूपेण भावससारे पतन्त प्राणिन-

---

चारित्रसे मोक्ष होता है, इस कारण वीतरागचारित्र आप मोक्षरूप है, और सरागचारित्रसे इन्द्र, धरणेंद्र,चक्रवर्तीकी विभूतिस्वरूप बध होता है, क्योंकि सरागचारित्र कषायोंके अशोके मेलसे आत्माके गुणोका घात करनेवाला है। इस कारण आप बधरूप है। इसीलिये ज्ञानी पुरुषोको सरागचारित्र त्यागने योग्य कहा है, और वीतरागचारित्र ग्रहण करने योग्य कहा गया है ॥६॥

आगे निश्चयचारित्रका स्वरूप कहते है—

[**खलु चारित्रं धर्मः**] निश्चयकर अपनेमे अपने स्वरूपका आचरणरूप जो चारित्र वह धर्म अर्थात् वस्तुका स्वभाव है, जो स्वभाव है, वह धर्म है। इस कारण अपने स्वरूपके धारण करनेसे चारित्रका नाम धर्म कहा गया है [**यः धर्मं तत्साम्यमिति निर्दिष्टम्**] जो धर्म है, वही समभाव है, ऐसा श्रीवीतरागदेवने कहा है। वह साम्यभाव क्या है ? [**मोहक्षोभविहीनः आत्मन परिणामः**] उद्वेगपने (चचलता) से रहित आत्माका परिणाम वही साम्यभाव है। अभिप्राय यह

शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः । तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम् । साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः ॥७॥

अथात्मनश्चारित्रत्वं निश्चिनोति—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥८॥

परिणमति येन द्रव्य तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तम् ।
तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्य. ॥८॥

यत्खलु द्रव्यं यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन् काले किलौष्ण्य-

---

मुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्म. । स एव धर्म स्वात्मभावनोत्थसुखामृतशीतजलेन काम-क्रोधादिरूपाग्निजनितस्य ससारदु खदाहस्योपशमकत्वात् शम इति । ततश्च शुद्धात्मश्रद्धानरूप-सम्यक्त्वस्य विनाशको दर्शनमोहाभिधानो मोह इत्युच्यते । निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य विनाशकश्चारित्रमोहाभिधान क्षोभ इत्युच्यते । तयोर्विध्वसकत्वात्स एव शमो मोहक्षोभविहीन शुद्धात्मपरिणामो भण्यत इत्यभिप्राय ॥७॥ अथाभेदनयेन धर्मपरिणत आत्मैव धर्मो भवतीत्यावेद-यति— **परिणमदि जेण दव्व तक्काले तम्मय त्ति पण्णत्तं** परिणमति येन पर्यायेण द्रव्यं कर्तृ तत्काले तन्मय भवतीति प्रज्ञप्तम् । यत कारणात्, **तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो** तत. कारणात् धर्मेण परिणत आत्मैव धर्मो मन्तव्य इति । तद्यथा–निजशुद्धात्मपरिणतिरूपो निश्चयधर्मो भवति । पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहारधर्मस्तावदुच्यते । यतस्तेन विवक्षिताविवक्षितपर्यायेण परिणत द्रव्य तन्मय भवति, तत पूर्वोक्तधर्मद्वयेन परिणतस्तप्ताय पिण्डवदभेदनयेनात्मैव धर्मो भवतीति ज्ञातव्यम् । तदपि कस्मात्, उपादानकारणसदृश हि कार्यमिति वचनात् । तच्च पुनरुपा-दानकारण शुद्धाशुद्धभेदेन द्विधा । रागादिविकल्परहितस्वसवेदनज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यान वा

है, कि वीतरागचारित्र वस्तुका स्वभाव है । वीतरागचारित्र, निश्चयचारित्र, धर्म, समपरिणाम ये सब एकार्थवाचक हैं, और मोहकर्मसे जुदा निर्विकार जो आत्माका परिणाम स्थिररूप सुखमय वही चारित्रका स्वरूप है ॥७॥

आगे चारित्र और आत्माकी एकता दिखाते हैं—

[येन द्रव्य परिणमति] जिस समय जिस स्वभावसे द्रव्य परिणमन करता है, **[तत्काल तन्मय]** उस समय उसी स्वभावमय द्रव्य हो जाता है, **[इति प्रज्ञप्तं]** ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है । जैसे लोहेका गोला जब आगमे डाला जाता है, तब उष्णरूप होकर परिणमता है, अर्थात् उष्णपनेसे तन्मय हो जाता है, इसी तरह यह आत्मा जब शुभ, अशुभ, शुद्ध भावोमेसे जिस भावरूप परिणमता है, तब उस भावसे उसी स्वरूप होता है । **[तस्माद्धर्मपरिणतः आत्मा]** इस कारण वीतरागचारित्र (समताभाव) रूप धर्मसे परिणमता यह आत्मा **[धर्मो मन्तव्य·]** धर्म जानना । **भावार्थ**—जब जिस तरहके भावोसे यह आत्मा परिणमन करता है, तब उन्ही स्वरूप ही है, इस न्यायसे वीतरागचारित्ररूप धर्मसे परिणमन करता हुआ वीतरागचारित्र धर्म ही

परिणतायःपिण्डवत्तन्मयं भवति । ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मनश्चारित्रत्वम् ॥८॥

अथ जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वं निश्चिनोति—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

जीव परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभोऽशुभ ।
शुद्धेन तदा शुद्धो भवति हि परिणामस्वभाव· ॥ ९ ॥

यदाऽयमात्मा शुभेनाशुभेन वा रागभावेन परिणमति तदा जपातापिच्छराग-परिणतस्फटिकवत् परिणामस्वभावः सन् शुभोऽशुभश्च भवति । यदा पुनः शुद्धेना-

---

केवलज्ञानोत्पत्तौ शुद्धोपादानकारण भवति । अशुद्धात्मा तु रागादिना अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादान-कारण भवतीति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ एव चारित्रस्य सक्षेपसूचनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रय गतम् । अथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयेण परिणतो जीव शुभाशुभशुद्धोपयोगस्वरूपो भवतीत्युपदिशति—**जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा** जीव कर्ता यदा परिणमति शुभेनाशुभेन वा परिणामेन **सुहो असुहो हवदि** तदा शुभेन शुभो भवति, अशुभेन वाऽशुभो भवति । **सुद्धेण तदा सुद्धो हि** शुद्धेन यदा परिणमति तदा शुद्धो भवति । **हि** स्फुटम् । कथभूत सन् । **परिणामसब्भावो** परिणामसद्भावः सन्निति । तद्यथा—यथा स्फटिकमणिविशेषो निर्मलोऽपि जपापुष्पादिरक्तकृष्णश्वेतोपाधिवशेन रक्तकृष्णश्वेतवर्णो भवति, तथाऽय जीव स्वभावेन शुद्धबुद्धैकस्वरूपोऽपि व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासभव सरागसम्यक्त्वपूर्वकदानपूजादिशुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठा-नेन परिणत शुभो ज्ञातव्य इति । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगपञ्चप्रत्ययरूपाशुभोपयोगेना-शुभो विज्ञेय । निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन परिणत शुद्धो ज्ञातव्य इति । किंच जीवस्यासख्येय-लोकमात्रपरिणामा· सिद्धान्ते मध्यमप्रतिपत्त्या मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानरूपेण कथिताः । अत्र प्राभृतशास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि सक्षेपेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण कथितानि । कथमिति चेत्—

हो जाता है । इसोलिये आत्मा और चारित्रके एकपना है । आत्माको चारित्र भी कहते है ॥८॥

आगे आत्माके शुभ, अशुभ तथा शुद्ध भावोका निर्णय करते है—

[**यदा जीव**] जब यह जीव [**शुभेन अशुभेन वा परिणमति**] शुभ अथवा अशुभ परिणामो-कर परिणमता है, [**तदा शुभो अशुभो भवति**] तब यह शुभ वा अशुभ होता है । अर्थात् जब यह दान, पूजा, व्रतादिरूप शुभपरिणामोंसे परिणमता है, तब उन भावोके साथ तन्मय होता हुआ शुभ होता है, और जब विषय, कषाय, अव्रतादिरूप अशुभ भावोकर परिणत होता है, तब उन भावोंके साथ उन्ही स्वरूप हो जाता है । जैसे स्फटिकमणि काले फूलका सयोग मिलनेपर काला ही हो जाता है । क्योकि स्फटिकका ऐसा ही परिणमन—स्वभाव है । उसी प्रकार जीवका भी

रागभावेन परिणमति तदा शुद्धारागपरिणतस्फटिकवत्परिणामस्वभावः सन् शुद्धो भवतीति सिद्धं जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वम् ॥९॥

अथ परिणामं वस्तुस्वभावत्वेन निश्चिनोति—

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥१०॥

नास्ति विना परिणाममर्थोऽर्थं विनेह परिणाम ।
द्रव्यगुणपर्ययस्थोऽर्थोऽस्तित्वनिर्वृत्त ॥ १० ॥

न खलु परिणाममन्तरेण वस्तु सत्तामालम्बते । वस्तुनो द्रव्यादिभिः परिणामात् पृथगुपलम्भाभावान्निःपरिणामस्य खरशृङ्गकल्पत्वाद् दृश्यमानगोरसादिपरिणाम-

---

मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोग , तदनन्तरमसयतसम्यग्दृष्टिदेशविरत-प्रमत्तसयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोग , तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोग , तदनन्तर सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थ ॥९॥ अथ नित्यैकान्तक्षणिकैकान्तनिषेधार्थं परिणामपरिणामिनो परस्परं कथचिदभेद दर्शयति—**णत्थि विणा परिणाम अत्थो** मुक्तजीवे तावत्कथ्यते—सिद्धपर्यायरूपशुद्धपरिणाम विना शुद्धजीवपदार्थो नास्ति । कस्मात् । सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात् । **अत्थ विणेह परिणामो** मुक्ता-

---

समझना । [**शुद्धेन तदा शुद्धो भवति**] जब यह जीव आत्मिक वीतराग शुद्धभावस्वरूप परिणमता है, तब शुद्ध होता है । जैसे स्फटिकमणि जब पुष्पके सबधसे रहित होता है, तब अपने शुद्ध (निर्मल) भावरूप परिणमन करता है । ठीक उसी प्रकार आत्मा भी विकाररहित हुआ शुद्ध होता है । इस प्रकार आत्माके तीन भाव जानना ॥ ९ ॥

आगे वस्तुका स्वभावपरिणाम वस्तुसे अभिन्न (एकरूप) है, यह कहते हैं—

[**परिणाम विना अर्थः नास्ति**] पर्यायके विना द्रव्य नही होता है । क्योकि द्रव्य किसी समय भी परिणमन किये विना नही रहता, ऐसा नियम है । जो रहे, तो गधेके सीगके समान असभव समझना चाहिये । जैसे गोरसके परिणाम दूध, दही, घी, तक्र (छाछ) इत्यादि अनेक हैं, इन निज परिणामोंके बिना गोरस जुदा नही पाया जाता । जिस जगह ये परिणाम नही होते, उस जगह गोरसकी भी सत्ता (मौजूदगी) नही होती । उसी तरह परिणामके बिना द्रव्यकी सत्ता (मौजूदगी) नही होती है । कोई ऐसा समझे कि, द्रव्यके विना परिणाम होता होगा, सो भी नही होता, [**अर्थं विना परिणामो न**] द्रव्यके विना परिणाम भी नही होता । क्योकि परिणामका आधार द्रव्य है । जो द्रव्य ही न होवे, तो परिणाम किसके आश्रय रहे । यदि गोरस ही न होवे, तो दूध, दही, घी, तक्र इत्यादि पर्यायें कहाँसे होवें, इसी प्रकार द्रव्यके बिना परिणाम अपनी मौजूदगीको नही पा सकता है । तो कैसा पदार्थ अपने अस्तिपनेको पा सकता है, [**द्रव्यगुणपर्ययस्थ अर्थः**] जो द्रव्य

विरोधाच्च । अन्तरेण वस्तु परिणामोऽपि न सत्तामालम्बते । स्वाश्रयभूतस्य वस्तुनोऽभावे निराश्रयस्य परिणामस्य शून्यत्वप्रसंगात् । वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेषलक्षणेषु गुणेषु, क्रमभाविविशेषलक्षणेषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यमयास्तित्वेन निर्वर्तितं निर्वृत्तिमच्च । अतः परिणामस्वभावमेव ॥१०॥

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कसंभववतोः शुद्धशुभपरिणामयोरुपादानहानाय फलमालोचयति—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥११॥

धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसप्रयोगयुत ।
प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम् ॥ ११ ॥

यदायमात्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिमुद्वहति तदा निःप्रत्यनी-

---

त्मपदार्थं विना इह जगति शुद्धात्मोपलम्भलक्षण सिद्धपर्यायरूप शुद्धपरिणामो नास्ति । कस्मात् । सज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात् । दव्वगुणपज्जयत्थो आत्मस्वरूप द्रव्य तत्रैव केवलज्ञानादयो गुणा सिद्धरूप पर्यायश्च, इत्युक्तलक्षणेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु तिष्ठतीति द्रव्यगुणपर्यायस्थो भवति । स क. कर्ता । अत्थो परमात्मपदार्थ , सुवर्णद्रव्यपीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायस्थसुवर्णपदार्थवत् । पुनश्च किरूपः । अत्थित्तणिव्वत्तो शुद्धद्रव्यगुणपर्यायाधारभूत यच्छुद्धास्तित्व तेन निर्वृत्तोऽस्तित्वनिर्वृत्त , सुवर्णद्रव्यगुणपर्यायास्तित्वनिर्वृत्तसुवर्णपदार्थवदेवेति । अयमत्र तात्पर्यार्थ । यथा—मुक्तजीवे द्रव्यगुणपर्यायत्रय परस्पराविनाभूत दर्शित तथा ससारिजीवेऽपि मतिज्ञानादिविभावगुणेषु नरनारकादिविभावपर्यायेषु नयविभागेन यथासभव विज्ञेयम्, तथैव पुद्गलादिष्वपि । एवं शुभाशुभशुद्धपरिणाम-

---

गुण पर्यायोमे रहता है, वह पदार्थ [अस्तित्वनिर्वृत्तः] अस्तिपने [मौजूदगी] से सिद्ध होता है। भावार्थ—जिस जगह द्रव्य गुण पर्यायोकी एकता हो, वहाँपर ही द्रव्यका अस्तित्व है। जो इन तीनोमेसे एक भी कम होवे, तो पदार्थ ही न कहलावे। जैसे सुवर्ण द्रव्य है, और उसमे पीतादि गुण है, तथा कुण्डलादि पर्याय है जो इनमेसे एककी भी कमी होती है, तो सोनेका अभाव ही हो जाता है, ठीक इसी प्रकार दूसरे पदार्थोमे भी ऐसा ही स्वरूप समझना। इससे यह बात सिद्ध हुई कि, परिणाम द्रव्यका पर्याय है। इसके विना द्रव्यका अभाव हो जाता है। यहाँपर इतनी विशेषता और भी समझना कि, जहाँ जैसा द्रव्य होता है, वहाँपर वैसे ही गुण पर्याय होते है, इस न्यायसे शुद्ध आत्माके शुद्ध गुण पर्याय और अशुद्ध आत्माके अशुद्ध गुण पर्याय होते हैं। जहाँ यह आत्मा शुभ अशुभ परिणामरूप परिणमता है, वहाँ इन अपने परिणामोमे व्याप्य व्यापकरूप होता हुआ उसी स्वरूप हो जाता है। जब शुद्धपरिणामोरूप परिणमन करता है, तब उन्ही स्वरूप हो जाता है। क्योंकि परिणाम द्रव्यका स्वभाव है ॥ १० ॥

आगे शुभपरिणाम और शुद्धपरिणाम ये दोनो चारित्र है, इनके फलको कहते है—

[यदि आत्मा शुद्धसंप्रयोगयुतः तदा निर्वाणसुखं प्राप्नोति] जब आत्मा शुद्ध उपयोग सहित

कशक्तितया स्वकार्यकरणसमर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति । यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति । अतः शुद्धोपयोग उपादेयः शुभोपयोगो हेयः ॥११॥

व्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथाद्वय गतम् ॥१०॥ अथ वीतरागसरागचारित्रसज्ञयो शुद्धशुभोपयोगपरिणामयो सक्षेपेण फल दर्शयति—**धम्मेण परिणदप्पा अप्पा** धर्मेण परिणतात्मा परिणतस्वरूप सन्नयमात्मा **जदि सुद्धसंपयोगजुदो** यदि चेच्छुद्धोपयोगाभिधानशुद्धसप्रयोगपरिणामयुत परिणतो भवति **पावदि णिव्वाणसुहं** तदा निर्वाणसुख प्राप्नोति । **सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं** शुभोपयोगयुत परिणत सन् स्वर्गसुख प्राप्नोति । इतो विस्तरम्—इह धर्मशब्देनाहिंसालक्षण सागारानगाररूपस्तथोत्तमक्षमादिलक्षणो रत्नत्रयात्मको वा, तथा मोहक्षोभरहित आत्मपरिणाम शुद्धवस्तुस्वभावश्चेति गृह्यते । स एव धर्म पर्यायान्तरेण चारित्र भण्यते । 'चारित्त खलु धम्मो' इति वचनात् । तच्च चारित्रमपहृतसयमोपेक्षासयमभेदेन सरागवीतरागभेदेन वा शुभोपयोगशुद्धोपयोगभेदेन च द्विधा भवति । तत्र यच्छुद्धसप्रयोगशब्दवाच्य शुद्धोपयोगस्वरूप वीतरागचारित्र तेन निर्वाण लभते । निर्विकल्पसमाधिरूपशुद्धोपयोगशक्त्यभावे सति यदा शुभोपयोगरूपसरागचारित्रेण परिणमति तदा पूर्वमनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतमाकुलत्वोत्पादक स्वर्गसुख लभते । पश्चात् परमसमाधिसामग्रीसद्भावे मोक्ष च लभते इति सूत्रार्थः ॥११॥ अथ चारित्रपरिणामासभवादत्यन्त-

---

होता है, तब मोक्षसुखको पाता है । **[वा शुभोपयुक्त]** और जब शुभोपयोगरूप भावोमे परिणमता है, तब **[स्वर्गसुख]** स्वर्गोके सुख पाता है । कैसा है, यह आत्मा **[धर्मपरिणतात्मा]** धर्मसे परिणमा है, स्वरूप जिसका । **भावार्थ**—वीतराग सराग भावोकर धर्म दो प्रकारका है । जब यह आत्मा वीतराग आत्मिक धर्मरूप परिणमता हुआ शुद्धोपयोगभावोमे परिणमन करता है, तब कर्मोसे इसकी शक्ति रोकी नही जा सकती । अपने कार्य करनेको समर्थ हो जाता है, इस कारण अनन्त अखण्ड निजसुख जो मोक्षसुख उसको स्वभाव ही से पाता है, और जब यह आत्मा, दान, पूजा, व्रत, सयमादिरूप सरागभावोकर परिणमता हुआ शुभोपयोग परिणतिको धारण करता है, तब इसकी शक्ति कर्मोसे रोकी जाती है ॰सलिये मोक्षरूपी कार्य करनेको असमर्थ हो जाता है । फिर उस शुभोपयोग परिणमनसे कर्मबन्धरूप स्वर्गोके सुखोको ही पाता है । यद्यपि शुभोपयोग चारित्रका अग है, तो भी अपने सुखसे उलटा परके आधीन ससारसबन्धी इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाले सुखका कारण है । क्योकि यह राग-कषायसे मिला हुआ है, और जो इन्द्रियजन्य सुख है, वह वास्तवमे दु ख ही है । जैसे कोई पुरुष गरम घी अपनी देहपर डालता है, तो उससे वह दाहके दु खको पाता है । ऐसे घीके भी लगनेसे कुछ शातपना नही होता । जिस तरह केवल आगके जलनेसे दु ख होता है, वैसा ही दु ख इस गरम घीसे भी होता है । इसलिये इन्द्रियजनित सुखको गरम घीके समान जानना चाहिये । अर्थात् यह शुभोपयोग भी ससारके फलको देता है, इस कारण अशुभोपयोगके समान त्यागने योग्य है, और शुद्धोपयोग, आत्मीकसुखको 'कि जिसमे किसी तरहकी भी आकुलता नही है' देता है । इसलिये उपादेय है ॥ ११ ॥ आगे विलकुल त्यागने

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभपरिणामस्य फलमालोचयति—

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं ॥१२॥

अशुभोदयेनात्मा कुनरस्तिर्यग्भूत्वा नैरयिक ।
दु खसहस्रै सदा अभिधृतो भ्रमत्यत्यन्तम् ॥१२॥

यदायमात्मा मनागपि धर्मपरिणतिमनासादयन्नशुभोपयोगपरिणतिमालम्बते तदा कुमनुष्यतिर्यङ्नारकभ्रमणरूपं दुःखसहस्रबन्धमनुभवति । ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति । एवमयमपास्तसमस्तशुभाशुभोपयोगवृत्ति शुद्धोपयोगवृत्तिमात्मसात्कुर्वाणः शुद्धोपयोगाधिकारमारभते ॥१२॥

तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मनः प्रोत्साहनार्थमभिष्टौति—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥

हेयस्याशुभोपयोगस्य फल दर्शयति—**असुहोदयेण** अशुभोदयेन **आदा** आत्मा **कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो** कुनरस्तिर्यङ्नारको भूत्वा । किं करोति । **दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चतं** दु खसहस्रै सदा सर्वकालमभिघृत कदर्थित पीडित सन् संसारे अत्यन्त भ्रमतीति । तथाहि—निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य तत्रैव शुद्धात्मन्यविक्षिप्तचित्तवृत्तिरूपनिश्चयचारित्रस्य च विलक्षणेन विपरीताभिनिवेशजनकेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषतीव्रसक्लेशरूपेण चाशुभोपयोगेन यदुपार्जित पापकर्म तदुदयेनायमात्मा सहजशुद्धात्मानन्दैकलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतेन दु खेन दु खित सन् स्वस्वभावभावनाच्युतो भूत्वा ससारेऽत्यन्त भ्रमतीति तात्पर्यार्थं । एवमुपयोगत्रयफलकथनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वय गतम् ॥१२॥ अथ शुभाशुभोपयोगद्वय निश्चयन-

---

योग्य और चारित्रका घात करनेवाला जो अशुभोपयोग है, उसके फलको दिखाते है—**[अशुभोदयेन आत्मा अत्यन्तं भ्रमति]** अव्रत, विषय, कषायरूप अशुभोपयोगोसे परिणमता यह आत्मा अर्थात् धर्मसे बहिर्मुख ससारी जीव है, वह बहुत कालतक ससारमे भटकता है। कैसा होता हुआ ? **[कुनर तिर्यग्नैरयिक भूत्वा सदा अभिद्रुत]** खोटा (दु खी-दरिद्री) मनुष्य, तिर्यच तथा नारकी होकर हजारो दु खोसे हमेशा दु खी होता हुआ, ससारमे भ्रमण करता है। **भावार्थ**—शुभोपयोग किसी एक व्यवहारनयके अगसे धर्मका अग है, परंतु यह अशुभोपयोग तो धर्मका अग किसी तरह भी नही है। इसलिये यह अत्यत ही हेय है, और जो इसमे लगे रहते है, वे खोटे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी इन तीन गतियोमे अनेक दु खोसे क्लेशरूप होते हुए सदाकाल भटकते है ॥१२॥ आगे अत्यत उपादेय शुद्ध उपयोग फल दिखाते हैं—**[शुद्धोपयोगप्रसिद्धाना एतादृशं सुख]** वीतराग—परमसामायिकचारित्रसे उत्पन्न हुए जो अरहत और सिद्ध है, उनके ही ऐसा सुख विद्यमान है।

अतिशयमात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तम् ।
अव्युच्छिन्नं च सुख शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥१३॥

आससारापूर्वपरमाद्भुताह्लादरूपत्वादात्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात्पराश्रयनिरपेक्षत्वादत्यन्तविलक्षणत्वात्समस्तायतिनिरपायित्वान्नैरन्तर्यप्रवर्तमानत्वाच्चातिशयवदात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तमव्युच्छिन्नं शुद्धोपयोगनिःपन्नानां सुखामृतं तत्सर्वथा प्रार्थनीयम् ॥१३॥

अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूपं निरूपयति—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥

येन हेय ज्ञात्वा शुद्धोपयोगाधिकार प्रारभमाण , शुद्धात्मभावनामात्मसात्कुर्वाण सन्, स्वस्वभावजीवस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफल प्रकाशयति। अथवा द्वितीयपातनिका—यद्यपि शुद्धोपयोगफलमग्रे ज्ञान सुख च सक्षेपेण विस्तरेण च कथयति तथाप्यत्रापि पीठिकाया सूचना करोति । अथवा तृतीयपातनिका—पूर्वं शुद्धोपयोगफल निर्वाण भणितमिदानी पुनर्निर्वाणस्य फलमनन्तसुख कथयतीति पातनिकात्रयस्यार्थं मनसि धृत्वा सूत्रमिद प्रतिपादयति—**अइसयं** आसंसाराद्देवेन्द्रादिसुखेभ्योऽप्यपूर्वाद्भुतपरमाह्लादरूपत्वादतिशयस्वरूप, **आदसमुत्थं** रागादिविकल्परहितस्वशुद्धात्मसवित्तिसमुत्पन्नत्वादात्मसमुत्थ, **विसयातीदं** निर्विषयपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतपञ्चेन्द्रियविषयातीतत्वाद्विषयातीत, **अणोवम** निरुपमपरमानन्दैकलक्षणत्वेनोपमारहितत्वादनुपम, **अणंतं** अनन्तागामिकाले विनाशाभावादप्रमितत्वाद्वाऽनन्त, **अव्वुच्छिण्ण च** असातोदयाभावान्निरन्तरत्वादविच्छिन्न च **सुहं** एवमुक्तविशेषणविशिष्ट सुख भवति । केषाम् । **सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं** वीतरागपरमसामायिकशब्दवाच्यशुद्धोपयोगेन प्रसिद्धा उत्पन्ना येऽर्हत्सिद्धास्तेषामिति । अत्रेदमेव सुखमुपादेयत्वेन निरन्तर भावनीयमिति भावार्थ ॥१३॥ अथ येन शुद्धोपयोगेन पूर्वोक्तसुख भवति तत्परिणतपुरुषलक्षण प्रकाशयति—**सुविदिदपयत्थसुत्तो** सुष्ठु सशयादिरहितत्वेन विदिता ज्ञाता रोचिताश्च निजशुद्धात्मा-

---

कैसा है सुख ? [**अतिशय**] सबसे अधिक है। क्योकि अनादिकालसे लेकर ऐसा सुख कभी इन्द्र वगैरहकी पदवियोमे भी अपूर्व आश्चर्य करनेवाला परम आनदरूप नही हुआ। फिर कैसा है ? [**आत्मसमुत्थ**] अपने आत्मासे ही उत्पन्न हुआ है, पराधीन नही है। फिर कैसा है ? [**विषयातीतं**] पांच इद्रियोंके स्पर्श, रस, गध, रूप, शब्दस्वरूप जो विषय-पदार्थ उनसे रहित है, सकल्प-विकल्परहित अतीद्रियसुख है। फिर कैसा है ? [**अनौपम्य**] उपमासे रहित है, अर्थात् तीन लोकमे जिस सुखके बराबर दूसरा सुख नही है। इस सुखकी अपेक्षा दूसरे सब सुख दु ख ही स्वरूप हैं। फिर कैसा है ? [**अनन्तं**] जिसका नाश नही होता, सदा ही नित्य है। फिर कैसा है ? [**अव्युच्छिन्नं**] बाधारहित-हमेशा एकसा रहता है। ऐसा सुख शुद्धोपयोगका ही फल है। इससे यह अभिप्राय निकला कि, शुद्धोपयोग सर्वप्रकारसे उपादेय है, और शुभ अशुभोपयोग हेय है। इन दोनोमे व्यवहारनयसे किसी तरह शुभोपयोग तो उपादेय है, परन्तु अशुभोपयोग तो सर्वथा ही हेय है ॥१३॥ आगे शुद्धोपयोग सहित जीवका स्वरूप कहते है—[**एतादृश. श्रमणः शुद्धोपयोगः इति भणित.**] ऐसा

सुविदितपदार्थसूत्र　संयमतप संयुतो विगतराग ।
श्रमण. समसुखदु खो　भणित　शुद्धोपयोग इति ॥१४॥

सूत्रार्थज्ञानबलेन　स्वपरद्रव्यविभागपरिज्ञानश्रद्धानविधानसमर्थत्वात्सुविदितपदार्थसूत्रः । सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात्पञ्चेन्द्रियाभिलाषविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मनः शुद्धस्वरूपे संयमनात्, स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनाच्च संयमतपःसंयुतः ।　सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृतनिर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतराग । परमकलावलोकनाननुभूयमानसातासातवेदनीयविपाकनिर्वर्तितसुखदुःखजनितपरिणामवैषम्यात्समसुखदुःखः श्रमण　शुद्धोपयोग इत्यभिधीयते ॥१४॥

अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरभाविविशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति—

दिपदार्थास्तत्प्रतिपादकसूत्राणि च येन स सुविदितपदार्थसूत्रो भण्यते । **संजमतवसंजुदो** बाह्ये द्रव्येन्द्रियव्यावर्तनेन षड्जीवरक्षणेन चाभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन स्वरूपे संयमनात् संयमयुक्त , बाह्याभ्यन्तरतपोबलेन कामक्रोधादिशत्रुभिरखण्डितप्रतापस्य स्वशुद्धात्मनि प्रतपनाद्विजयनात्तपसंयुक्तः । **विगदरागो** वीतरागशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तरागादिदोषरहितत्वाद्वीतराग' । **समसुहदुक्खो** निर्विकारनिर्विकल्पसमाधेरुद्गता समुत्पन्ना तथैव परमानन्तसुखरसे लीना तल्लया निर्विकारस्वसंवित्तिरूपा या तु परमकला तदवष्टम्भेनेष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरहितत्वात्समसुखदु ख **समणो** एवं गुणविशिष्ट श्रमण परममुनि **भणिदो सुद्धोवओगो त्ति** शुद्धोपयोगो भणित इत्यभिप्राय' ॥१४॥ एवं शुद्धोपयोगफलभूतानन्तसुखस्य शुद्धोपयोगपरिणतपुरुषस्य च कथनरूपेण पञ्चमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥

(अथास्यान्तराधिकारस्योपोद्घात)—अथ प्रवचनसारव्याख्याया मध्यमरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थाया मुख्यगौणरूपेणान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वप्ररूपणसमर्थाया च प्रथमत एकोत्तरशतगाथाभिर्ज्ञानाधि-

---

परम मुनि शुद्धोपयोग भावस्वरूप परिणमता है । इस प्रकार वीतरागदेवने कहा है । कैसा है, वह श्रमण अर्थात् मुनि । [सुविदितपदार्थसूत्र] अच्छी रीतिसे जान लिये है, जीवादि नव पदार्थ तथा इन पदार्थोंका कहनेवाला सिद्धात जिसने, अर्थात् जिसने अपना और परका भेद भले प्रकार जान लिया है, श्रद्धान किया है, तथा निजस्वरूपमे ही आचरण किया है, ऐसा मुनीश्वर ही शुद्धोपयोगवाला है। फिर कैसा है ? [संयमतप संयुत.] पाँच इन्द्रिय तथा मनकी अभिलाषा और छह कायके जीवोकी हिंसा इनसे आत्माको रोककर अपने स्वरूपका आचरण रूप जो संयम, और बाह्य तथा अतरंग बारह प्रकार के तपके बलकर स्वरूपकी स्थिरताके प्रकाशसे ज्ञानका तपन (देदीप्यमान होना) स्वरूप तप, इन दोनो कर सहित है । फिर कैसा है ? [विगतरागः] दूर हुआ है, परद्रव्यसे रमण करना रूप परिणाम जिसका । फिर कैसा है ' [समसुखदु ख] समान हैं, सुख और दु ख जिसके अर्थात् उत्कृष्टज्ञान की कलाकी सहायताकर इष्ट वा अनिष्टरूप इन्द्रियोंके विषयोमे हर्ष तथा खेद नहीं करता है, ऐसा जो श्रमण है, वही शुद्धोपयोगी कहा जाता है ॥१४॥ आगे शुद्धोपयोगके लाभके बाद ही शुद्ध आत्मस्वभावकी प्राप्ति होती हैं, ऐसा कहते है—[यः उपयोगशुद्ध आत्मा ज्ञेयभूतानां

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥१५॥

उपयोगविशुद्धो यो विगतावरणान्तरायमोहरजा ।
भूत स्वयमेवात्मा याति पर ज्ञेयभूतानाम् ॥१५॥

यो हि नाम चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेन यथाशक्ति विशुद्धो भूत्वा वर्तते स खलु प्रतिपदमुद्भिद्यमानविशिष्टविशुद्धिशक्तिरुद्ग्रन्थितासंसारबद्धदृढतरमोहग्रन्थितयात्यन्तनिर्विकारचैतन्यो निरस्तसमस्तज्ञानदर्शनावरणान्तरायतया निःप्रतिघविजृम्भि-

---

कार, तदनन्तर त्रयोदशाधिकशतगाथाभिर्दर्शनाधिकार, ततश्च सप्तनवतिगाथाभिश्चारित्राधिकारश्चेति समुदायेनैकादशाधिकत्रिशतप्रमितसूत्रै. सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपेण महाधिकारत्रय भवति । अथवा टीकाभिप्रायेण तु सम्यग्ज्ञानज्ञेयचारित्राधिकारचूलिकारूपेणाधिकारत्रयम् । तत्राधिकारत्रये प्रथमतस्तावज्ज्ञानाभिधानमहाधिकारमध्ये द्वासप्ततिगाथापर्यन्त शुद्धोपयोगाधिकार. कथ्यते। तासु द्वासप्ततिगाथासु मध्ये 'एस सुरासुर' इमा गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण चतुर्दशगाथापर्यन्तं पीठिका । तदनन्तर सप्तगाथापर्यन्त सामान्येन सर्वज्ञसिद्धि, तदनन्तर त्रयस्त्रिंशद्गाथापर्यन्त ज्ञानप्रपञ्च । ततश्चाष्टादशगाथापर्यन्त सुखप्रपञ्चश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन शुद्धोपयोगाधिकारो भवति । अथ पञ्चविंशतिगाथापर्यन्त ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयप्रतिपादकनामा द्वितीयोऽधिकारश्चेत्यधिकारद्वयेन, तदनन्तर स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन चैकोत्तरशतगाथाभिः प्रथममहाधिकारे समुदायपातनिका ज्ञातव्या ॥

इदानी प्रथमपातनिकाभिप्रायेण प्रथमत पञ्चगाथापर्यन्त पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारादिप्ररूपणप्रपञ्च, तदनन्तर सप्तगाथापर्यन्त ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयपीठिकाव्याख्यान क्रियते, तत्र पञ्च स्थलानि भवन्ति तेष्वादौ नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापञ्चक, तदनन्तर चारित्रसूचनमुख्यत्वेन 'संपज्जइ णिव्वाण' इति प्रभृति गाथात्रयमथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन 'जीवो परिणमदि' इत्यादिगाथासूत्रद्वयमथ तत्फलकथनमुख्यतया 'धम्मेण परिणदप्पा' इति प्रभृति सूत्रद्वयम् । अथ शुद्धोपयोगध्यातु पुरुषस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफलदर्शनार्थं च प्रथमगाथा, शुद्धोपयोगिपुरुषलक्षणकथनेन द्वितीया चेति 'अइसयमादसमुत्थ' इत्यादि गाथाद्वयम् । एव पीठिकाभिधानप्रथमान्तराधिकारे स्थलपञ्चकेन चतुर्दशगाथाभि समुदायपातनिका प्रोक्ता ॥

इति चतुर्दशगाथाभि स्थलपञ्चकेन **पीठिकाभिधान** प्रथमोऽन्तराधिकार समाप्त ॥

तदनन्तर सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिर्ज्ञानविचार सक्षेपेण शुद्धोपयोगफल चेति कथनरूपेण गाथासप्तकम् । तत्र स्थलचतुष्टय भवति, तस्मिन् प्रथमस्थले सर्वज्ञस्वरूपकथनार्थं प्रथमगाथा, स्वयम्भूकथनार्थं द्वियोया चेति 'उवओगविसुद्धो' इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ तस्यैव भगवत उत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनार्थं प्रथमगाथा, पुनरपि तस्यैव दृढीकरणार्थं द्वितीया चेति 'भगविहीणो' इत्यादि गाथा-

---

पारं याति] जो आत्मा शुद्धोपयोगसे निर्मल हो गया है, वही आत्मा सव पदार्थोंके अतको पाता है, अर्थात् जो शुद्धोपयोगी जीव है, वही तीनकालवर्त्ती समस्त पदार्थोंके जाननेवाले केवलज्ञानको प्राप्त

तात्मशक्तिश्च स्वयमेव भूतो ज्ञेयत्वमापन्नानामन्तमवाप्नोति । इह किलात्मा ज्ञानस्वभावो ज्ञानं तु ज्ञेयमात्रं ततः समस्तज्ञेयान्तर्वर्तिज्ञानस्वभावमात्मानमात्मा शुद्धोपयोगप्रसादादेवासादयति ॥१५॥

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य कारकान्तरनिरपेक्षितयाऽत्यन्तमात्मायत्तत्वं द्योतयति—

द्वयम् । अथ सर्वज्ञश्रद्धानेनानन्तसुखं भवतीति दर्शनार्थं 'तं सव्वत्थवरिट्ठं' इत्यादि सूत्रमेकम् । अथातीन्द्रियज्ञानसौख्यपरिणमनकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, केवलिभुक्तिनिराकरणमुख्यत्वेन द्वितीया चेति 'पक्खीणघाइकम्मो' इति प्रभृति गाथाद्वयम् । एवं द्वितीयान्तराधिकारे स्थलचतुष्टयेन समुदायपातनिका ॥ तद्यथा—अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरं केवलज्ञानं भवतीति कथयति । अथवा द्वितीयपातनिका—**कुन्दकुन्दाचार्य**देवाः संबोधनं कुर्वन्ति, हे **शिवकुमारमहाराज**, कोऽप्यासन्नभव्यः संक्षेपरुचिः पीठिकाव्याख्यानमेव श्रुत्वात्मकार्यं करोति, अन्यः कोऽपि पुनर्विस्तररुचिः शुद्धोपयोगेन संजातसर्वज्ञस्य ज्ञानसुखादिकं विचार्य पश्चादात्मकार्यं करोतीति व्याख्याति—**उवओगविसुद्धो जो** उपयोगेन शुद्धोपयोगेन परिणामेन विशुद्धो भूत्वा वर्तते यः **विगदावरणंतरायमोहरओ भूदो** विगतावरणान्तरायमोहरजोभूतः सन् । कथम् । **सयमेव** निश्चयेन स्वयमेव **आदा** स पूर्वोक्त आत्मा **जादि** याति गच्छति । किं **परं** पारमवसानम् । केषाम् । **णेयभूदाणं** ज्ञेयभूतपदार्थानाम् । सर्वं जानातीत्यर्थः । अतो विस्तरः—यो निर्मोहशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणेन शुद्धोपयोगसंज्ञेनागमभाषया पृथक्त्ववितर्कवीचारप्रथमशुक्लध्यानेन पूर्वं निरवशेषमोहक्षपणं कृत्वा तदनन्तरं रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवित्तिलक्षणेनैकत्ववितर्कवीचारसंज्ञद्वितीयशुक्लध्यानेन क्षीणकषायगुणस्थानेऽन्तर्मुहूर्तकालं स्थित्वा तस्यैवान्त्यसमये ज्ञानदर्शनावरणवीर्यान्तरायाभिधानघातिकर्मत्रयं युगपद्विनाशयति । स जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तवस्तुगतानन्तधर्माणां युगपत्प्रकाशकं केवलज्ञानं प्राप्नोति । ततः स्थितं शुद्धोपयोगात्सर्वज्ञो भवतीति ॥ १५ ॥ अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य भिन्नकारकनिरपेक्षत्वेनात्माधीनत्वं प्रकाशयति—**तह सो लद्धसहावो** यथा निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगप्रसादा-

---

होता है, कैसा होता हुआ कि [**विगतावरणान्तरायमोहरजा स्वयमेव भूतः सन्**] दूर हुई ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, तथा मोहनीयकर्मरूप धूलि (मल) जिससे ऐसा आप ही होता हुआ । **भावार्थ**—जो शुद्धोपयोगी जीव है, वह गुणस्थान गुणस्थान प्रति शुद्ध होता हुआ बारहवें गुणस्थानके अन्तमें संपूर्ण चार घातिया कर्मोंका नाशकर केवलज्ञानको पाता है, और आत्माका स्वभाव ज्ञान है, ज्ञान ज्ञेयके प्रमाण है, ज्ञेय तीनों कालोंमें रहनेवाले सब पदार्थ है, इसलिए शुद्धोपयोगके प्रसादसे ही यह आत्मा सब ज्ञेयोंको जाननेवाले केवलज्ञानको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ आगे शुद्धोपयोगका फल जो केवलज्ञानमय शुद्धात्माका लाभ वह जिस समय इस आत्माको होता है, तब कर्ता-कर्मादि छह कारकरूप आप ही होता हुआ स्वाधीन होता है, और किसी दूसरे कारकको नहीं चाहता है, यह कहते हैं—[**तथा स आत्मा स्वयंभूः भवति इति निर्दिष्टः**] जैसे शुद्धोपयोगके प्रभावसे केवलज्ञानादि गुणोंको प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार वही आत्मा 'स्वयंभू' नामवाला भी

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो ।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

तथा स लब्धस्वभावः सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहित ।
भूत स्वयमेवात्मा भवति स्वयंभूरिति निर्दिष्ट ॥ १६ ॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वाद्गृहीत-

---

त्सर्वं जानाति तथैव स. पूर्वोक्तलब्धशुद्धात्मस्वभावः सन् **आदा** अयमात्मा **हवदि सयभु त्ति णिद्दिट्ठो** स्वयभूर्भवतीति निर्दिष्ट कथित । किंविशिष्टो भूत । **सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो भूदो** सर्वज्ञ सर्वलोकपतिमहितश्च भूत सजात । कथम् । **सयमेव** निश्चयेन स्वयमेवेति । तथाहि— अभिन्नकारकचिदानन्दैकचैतन्यस्वस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् कर्ता भवति । नित्यानन्दैकस्वभावेन

होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है । तात्पर्य यह है, कि जो आत्मा केवलज्ञानादि स्वाभाविक गुणो को प्राप्त हुआ हो, उसीका नाम स्वयभू है । क्योकि व्याकरणकी व्युत्पत्तिसे भी जो 'स्वय' अर्थात् आप ही से अर्थात् दूसरे द्रव्यकी सहायता विना ही 'भवति' अपने स्वरूप होवे, इस कारण इसका नाम स्वयभू कहा गया है, यह आत्मा अपने स्वरूपकी प्राप्तिके समय दूसरे कारककी इच्छा नही करता है । आप ही छह कारकरूप होकर अपनी सिद्धि करता है, क्योकि आत्मामे अनन्त शक्ति है, कैसा है वह [**लब्धस्वभाव**] प्राप्त किया है, घातियाँ कर्मोके नाशसे अनन्तज्ञानादि शक्तिरूप अपना स्वभाव जिसने । फिर कैसा है ? [**सर्वज्ञः**] तीन कालमे रहनेवाले सब पदार्थोको जानने वाला है । फिर कैसा है ? स्वयंभू आत्मा ।] **सर्वलोकपतिमहित**] तोनो भुवनोंके स्वामी इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती इनकर पूजित हैं । फिर कैसा है ? [**स्वयमेव भूतः**] अपने आप ही परको सहायताके विना अपने शुद्धोपयोगके बलसे अनादि अविद्यासे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके बन्धोको तोडकर निश्चयसे इस पदवीको प्राप्त हुआ है, अर्थात् सकल सुर, असुर, मनुष्योके स्वामियोंसे पूज्य सर्वज्ञ वीतराग तीन लोकका स्वामी शुद्ध अपने स्वयंभूपदको प्राप्त हुआ है ।

अब षट्कारक दिखाते हैं—कर्त्ता १, कर्म २, करण ३, संप्रदान ४, अपादान ५, अधिकरण ६, ये छह कारकोंके नाम हैं, और ये सब दो दो तरहके हैं, एक व्यवहार दूसरा निश्चय । उनमे जिस जगह परके निमित्तसे कार्यकी सिद्धि की जाय, वहाँ व्यवहार षट्कारक होना है, और जिस जगह अपनेमे ही अपनेको उपादान कारण कर अपने कार्यकी सिद्धि की जावे, वहाँ निश्चय षट्कारक हैं । व्यवहार छह कारक उपचार असद्भूतनयकर सिद्ध किये जाते हैं, इस कारण असत्य हैं, निश्चय छह कारक, अपनेमे ही जोडे जाते हैं, इसलिये सत्य हैं । क्योकि वास्तवमे कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कर्त्ता व हर्ता नही है, इसलिये व्यवहारकारक असत्य है, अपनेको आप ही करता है,

कर्तृत्वाधिकारः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन्, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राणः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् संप्रदानत्वं दधानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञान स्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वावलम्बनादपादानत्वमुपाददानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्व-

---

स्वय प्राप्यत्वात् कर्मकारक भवति। शुद्धचैतन्यस्वभावेन साधकतमत्वात्करणकारक भवति। निर्विकारपरमानन्दैकपरिणतिलक्षणेन शुद्धात्मभावरूपकर्मणा समाश्रियमाणत्वात्सप्रदान भवति। तथैव पूर्वमत्यादिज्ञानविकल्पविनाशेऽप्यखण्डितैकचैतन्यप्रकाशेनाविनश्वरत्वादपादान भवति। निश्चयशुद्धचैतन्यादिगुणस्वभावात्मन. स्वयमेवाधारत्वादधिकरण भवतीत्यभेदषट्कारकीरूपेण स्वत

इस कारण निश्चयकारक सत्य है। जो स्वाधीन होकर करे, वह **कर्ता**, जो कार्य किया जावे, वह **कर्म**, जिसपर किया जावे, वह **करण**, जो कर्मकर दिया जावे वह **संप्रदान**, जो एक अवस्थाको छोड दूसरी अवस्थारूप होवे, वह **अपादान**, जिसके आधार कर्म होवे, वह **अधिकरण** कहा जाता है। अब दोनो कारकोका दृष्टात दिखलाते हैं। उनमे प्रथम व्यवहारकर इस तरह है—जैसे कुभकार (कुम्हार) कर्ता है, घडारूप कार्यको करता है, इससे घट कर्म है, दड चक्र चीवर (डोरा) आदिकर यह घट कर्म सिद्ध होता है, इसलिए दड आदिक करण कारक है, जल वगैरहके भरनेके लिए घट दिया जाता है, इसलिये सप्रदानकारक है, मिट्टीकी पिंडरूपादि अवस्थाको छोड घट अवस्थाको प्राप्त होना अपादानकारक है, भूमिके आधारसे घटकर्म किया जाता है, बनाया जाता है, इसलिए भूमि अधिकरणकारक समझना, इस प्रकार ये व्यवहार कारक हैं। क्योकि इनमे कर्ता दूसरा है, कर्म अन्य है, करण अन्य ही द्रव्य है, दूसरे ही को देना दूसरेसे करना। आधार जुदा ही है। निश्चय छह कारक अपने आप ही मे होते हैं, जैसे—मृत्तिका—द्रव्य (मट्टी) करता है, अपने घट परिणाम कर्मको करता है, इसलिये आप ही कर्म है, आप ही अपने घट परिणामको सिद्ध करता है, इसलिये स्वय ही करण है, अपने घट परिणामको करके अपनेको ही सौंप देता है, इस कारण आप ही सप्रदान है। अपनी मृत्पिड अवस्थाको छोड़ अपनी घट अवस्थाको करता है, इसलिये आप ही अपादान है। अपनेमे ही अपने घटपरिणामको करता है, इसलिये आप ही अधिकरण है। इस तरह ये निश्चय षट्कारक है, क्योकि किसी भी दूसरे द्रव्यकी सहायता नही है, इस कारण अपने आपमे ही ये निश्चयकारक साधे जाते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा ससार अवस्थामे जब शुद्धोपयोगभावरूप परिणमन करता है, उस समय किसी दूसरेकी सहायता (मदद) न लेकर अपनी ही अनन्त शुद्धचैतन्यशक्तिकर आप ही छह कारकरूप होके केवलज्ञानको पाता है, इसी अवस्थामे 'स्वयभू' कहा जाता है। शुद्ध अनन्तशक्ति तथा ज्ञायकस्वभाव होनेसे अपने आधीन होता हुआ यह आत्मा अपने शुद्धज्ञायकस्वभावको करता है, इसलिये आप ही कर्ता है, और जिस शुद्धज्ञायकस्वभावको करता है, वह आत्माका कर्म है, सो वह कर्म आप ही है, क्योकि शुद्ध—अनतशक्ति, ज्ञायक स्वभावकर अपने आपको ही प्राप्त होती है, वहाँ यह आत्मा ही 'कर्म' है, यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मीक परिणामकर स्वरूपको साधन करता है, वहाँपर अपने अनतज्ञान 'करणकारक' होता है, यह आत्मा अपने शुद्ध परिणामोको करता हुआ अपनेको ही देता है, उस अवस्थामें शुद्ध अनत-

भावस्याधारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाणः, स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमानः उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघातिकर्माण्यपास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयंभूरिति निर्दिश्यते। अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसबन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते ॥ १६ ॥

अथ स्वायंभुवस्यास्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्यात्यन्तमनपायित्वं कथंचिदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं चालोचयति—

भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो ॥१७॥

भङ्गविहीनश्च भव सभवपरिवर्जितो विनाशो हि।
विद्यते तस्यैव पुन स्थितिसभवनाशसमवाय ॥ १७ ॥

एव परिणममाण सन्नयमात्मा परमात्मस्वभावकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे यतो भिन्नकारकं नापेक्षते तत स्वयभूभवतीति भावार्थ ॥ १६ ॥ एव सर्वज्ञमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। स्वयभूमुख्यत्वेन द्वितीया चेति प्रथमस्थले गाथाद्वय गतम्। अथास्य भगवतो द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयेनानित्यत्वमुपदिशति—**भगविहीणो य भवो** भङ्गविहिनश्च भव जीवितमरणादिसमताभावलक्षण-

---

शक्ति ज्ञायकस्वभाव कर्मकर आपको ही स्वीकार करता हुआ 'सप्रदानकारक' होता है, यह आत्मा जब शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है, उस समय इस आत्माके सासारिक अशुद्ध—क्षायोपशमिक मति आदि ज्ञानका नाश होता है, उसी अवस्थामे अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वभावकर स्थिरपनेको धारण करता है, तब 'अपादानकारक' होता है। यह आत्मा जब अपने शुद्धअनतशक्ति ज्ञायकस्वभावका आधार है, उस दशामे 'अधिकरणकारक'को स्वीकार करता है। इस प्रकार यह आत्मा आप ही षट्कारकरूप होकर अपने शुद्धस्वरूपको उत्पन्न (प्रगट) करता है, तभी स्वयभू पदवीको पाता है। अथवा अनादिकालसे बहुत मजबूत बँधे हुए घातियाकर्मोको (ज्ञानावरण १, दर्शनावरण २, मोहनीय ३, अन्तराय ४) नाश करके आप ही प्रगट हुआ है, दूसरेकी सहायता कुछ भी नही ली, इस कारण स्वयभू कहा जाता है, यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि परको सहायतासे स्वरूपकी प्राप्ति क्यो नही होती ? उसका समाधान—कि जो यह आत्मा पराधीन होवे, तो आकुलता सहित हो जाय, और जिस जगह आकुलता है, वहाँ स्वरूपकी प्राप्ति नही, इस कारण परकी सहायता विना ही आत्मा निराकुल होता है, इसी दशामे अपनी सहायतासे आपको पाता है। इसलिए निश्चय करके आप ही षट्कारक है। जो अपनी अनतशक्तिरूप सपदासे परिपूर्ण है, तो वह दूसरेकी इच्छा क्यो रक्खे ? अर्थात् कभी नही ॥ १६ ॥ आगे इस स्वयभू प्रभुके शुद्धस्वभावको नित्य दिखलाते है, और किसी प्रकारसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अवस्था भी दिखलाते हैं—[**तस्य आत्मन. भगविहीन भव विद्यते**] जो आत्मा शुद्धोपयोगके प्रसादसे स्वरूपको प्राप्त हुआ है, उस आत्माके नाशरहित

अस्य खल्वात्मनः शुद्धोपयोगप्रसादात् शुद्धात्मस्वभावेन यो भवः सः पुनस्तेन रूपेण प्रलयाभावाद्भङ्गविहीनः। यस्त्वशुद्धात्मस्वभावेन विनाशः स पुनरुत्पादाभावात्संभवपरिवर्जितः अतोऽस्य सिद्धत्वेनानपायित्वम्। एवमपि स्थितिसंभवनाशसमवायोऽस्य न विप्रतिषिध्यते, भङ्गरहितोत्पादेन संभववर्जितविनाशेन तद्द्वयाधारभूतद्रव्येण [ध्रौव्येण ?] च समवेतत्वात् ॥१७॥

अथोत्पादादित्रयं सर्वद्रव्यसाधारणत्वेन शुद्धात्मनोऽप्यवश्यं भवतीति विभावयति—

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो ॥१८॥

उत्पादश्च विनाशो विद्यते सर्वस्यार्थजातस्य।
पर्यायेण तु केनाप्यर्थः खलु भवति सद्भूत ॥ १८ ॥

परमोपेक्षासयमरूपशुद्धोपयोगेनोत्पन्नो योऽसौ भव केवलज्ञानोत्पादः। स किंविशिष्ट । भङ्गविहीनो विनाशरहित.। **सभवपरिवज्जिदो विणासो हि** योऽसौ मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपससारपर्यायस्य विनाशः। स किंविशिष्ट । सभवहीन निर्विकारात्मतत्त्वविलक्षणरागादिपरिणामाभावादुत्पत्तिरहित । तस्माज्ज्ञायते तस्यैव भगवत सिद्धस्वरूपतो द्रव्यार्थिकनयेन विनाशो नास्ति। **विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो** विद्यते तस्यैव पुन स्थितिसंभवनाशसमवायः, तस्यैव भगवत. पर्यायार्थिकनयेन शुद्धव्यञ्जनपर्यायापेक्षया सिद्धपर्यायेणोत्पाद, ससारपर्यायेण विनाश, केवलज्ञानादिगुणाधारद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति। तत स्थित द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययध्रौव्यत्रय सभवतीति ॥ १७ ॥ अथोत्पादादित्रय यथा सुवर्णादिमूर्तपदार्थेषु दृश्यते तथैवामूर्तेऽपि सिद्धस्वरूपे विज्ञेय पदार्थत्वादिति निरूपयति—**उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स** उत्पादश्च

उत्पाद है। अर्थात् जो इस आत्माके शुद्धस्वभावकी उत्पत्ति हुई, फिर उसका नाश कभी नही होता **[च संभवपरिवर्जितः विनाश]** और विनाश है, वह उत्पत्तिकर रहित है, अर्थात् अनादिकालकी अविद्या (अज्ञान) से पैदा हुआ जो विभाव (अशुद्ध) परिणाम उसका एकबार नाश हुआ, फिर वह नही उत्पन्न होता है, इससे तात्पर्य यह निकला, कि जो इस भगवान् (ज्ञानवान्) आत्माके उत्पाद है, वह विनाश रहित हैं, और विनाश उत्पत्ति रहित है, तथा अपने सिद्धिस्वरूपकर ध्रुव (नित्य) है, अर्थात् जो यह आत्मा पहले अशुद्ध हालतमे था, वही आत्मा अब शुद्धदशामे मौजूद है, इस कारण ध्रुव है। **[तस्यैव पुन स्थितिसंभवनाशसमवाय.]** फिर उसी आत्माके ध्रौव्य उत्पत्ति नाश इन तीनोका मिलाप एक ही समयमे मौजूद है, क्योकि यह भगवान् एक ही वक्त तीनो स्वरूप परिणमता है, अर्थात् जिस समय शुद्ध पर्यायकी उत्पत्ति है, उसी वक्त अशुद्ध पर्यायका नाश है, और उसी कालमे द्रव्यपनेसे ध्रुव है, दूसरे समयकी जरूरत ही नही है, यह कहनेसे यह अभिप्राय हुआ, कि द्रव्यार्थिकनयसे आत्मा नित्य होनेपर भी पर्यायार्थिकनयसे उत्पत्ति, विनाश, ध्रौव्य, इन तीनो सहित ही है ॥१७॥ आगे उत्पाद आदिक द्रव्यका स्वरूप है, इस कारण सब द्रव्यो

यथाहि जात्यजाम्बूनदस्याङ्गदपर्यायेणोत्पत्तिर्दृष्टा। पूर्वव्यवस्थिताङ्गुलीयकादिपर्यायेण च विनाशः। पीततादिपर्यायेण तूभयत्राप्युत्पत्तिविनाशावनासादयतः ध्रुवत्वम्। एवमखिलद्रव्याणां केनचित्पर्यायेणोत्पादः केनचिद्विनाशः केनचिद्ध्रौव्यमित्यवबोद्धव्यम्।

विनाशश्च विद्यते तावत्सर्वस्यार्थजातस्य पदार्थसमूहस्य। केन कृत्वा। **पज्जाएण दु केणवि** पर्यायेण तु केनापि विवक्षितेनार्थव्यञ्जनरूपेण स्वभावविभावरूपेण वा। स चार्थः किंविशिष्टः। **अट्ठो खलु होदि सब्भूदो** अर्थः खलु स्फुटं सत्ताभूतः सत्ताया अभिन्नो भवतीऽति। तथापि—सुवर्णगोरसमृत्तिकापुरुषादिमूर्तपदार्थेषु यथोत्पादादित्रयं लोके प्रसिद्धं तथैवामूर्तेऽपि मुक्तजीवे। यद्यपि शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिलक्षणस्य संसारावसानोत्पन्नकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशो भवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च भवति, तथाप्युभयपर्यायपरिणतात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्वं पदार्थत्वादिति। अथवा ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्त्यपेक्षया भङ्गत्रयेण परिणमति। षट्स्थानगतागुरुलघुकगुणवृद्धिहान्यपेक्षया वा भङ्गत्रय-

---

मे है, तो फिर आत्मामें भी अवश्य हैं, यह कहते हैं।

[**केनापि**] किसी एक [**पर्यायेण**] पर्यायसे [**सर्वस्य अर्थजातस्य**] सब पदार्थोंकी [**उत्पादः**] उत्पत्ति [**च विनाशः**] तथा नाश [**विद्यते**] मौजूद है, [**तु**] लेकिन [**खलु**] निश्चयसे [**अर्थः**] पदार्थ [**सद्भूतः**] सत्तास्वरूप [**भवति**] है। **भावार्थ**—पदार्थका अस्तित्व (होना) सत्तागुणसे है, और सत्ता, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप है, सो किसी पर्यायसे उत्पाद तथा किसी पर्यायसे विनाश और किसी पर्यायसे ध्रुवपना सब पदार्थोंमे हैं। जब सब पदार्थोंमे तीनो अवस्था हैं, तब आत्मामे भी अवश्य होना सम्भव है। जैसे सोना कुण्डल पर्यायसे उत्पन्न होता है, पहली कंकण (कड़ा) पर्यायसे विनाशको पाता है, और पीत, गुरु तथा स्निग्ध (चिकने) आदिक गुणोंसे ध्रुव है, इसी प्रकार यह जीव भी संसारअवस्थामे देव आदि पर्यायकर उत्पन्न होता है, मनुष्य आदिक पर्यायसे विनाश पाता है, और जीवपनेसे स्थिर है। मोक्ष अवस्थामे भी शुद्धपनेसे उत्पन्न होता है, अशुद्ध पर्यायसे विनाशको प्राप्त होता है, और द्रव्यपनेसे ध्रुव है। अथवा आत्मा सब पदार्थोंको जानता है, ज्ञान है, वह ज्ञेय (पदार्थ)के आकार होता है, इसलिये सब पदार्थ जैसे जैसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होते हैं, वैसे वैसे ज्ञान भी होता है, इस ज्ञानकी अपेक्षा भी आत्माके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य जान लेना, तथा षट्गुणी हानि वृद्धिकी अपेक्षा भी उत्पाद आदिक तीन आत्मामे हैं। इसी प्रकार और बाकी द्रव्योमे उत्पाद आदि सिद्ध कर लेना। यहाँ पर किसीने प्रश्न किया, कि द्रव्यका अस्तित्व (मौजूद होना) उत्पाद वगैरह तीनसे क्यो कहा है ? एक ध्रुव ही से कहना चाहिए, क्योकि जो ध्रुव(स्थिर) होगा, वह सदा मौजूद रह सकता है ? इसका समाधान इस तरह है-जो पदार्थ ध्रुव ही होता, तब मट्टी सोना दूध आदि सब पदार्थ अपने सादा आकारसे ही रहते, घड़ा, कुडल, दही वगैर भेद कभी नही होते, परन्तु ऐसा देखनेमे नही आता। भेद तो अवश्य देखनेमे आता है, इस कारण पदार्थ अवस्थाकर उपजता भी है, और नाश भी पाता है, इसीलिये द्रव्यका स्वरूप उत्पाद, व्यय भी है। अगर ऐसा न माना जावे, तो संसारका ही लोप होजावे, इस लिये यह बात सिद्ध हुई, कि पर्यायसे उत्पाद तथा व्यय सिद्ध होते हैं, और द्रव्यपनेसे ध्रुव सिद्ध होता

अतः शुद्धात्मनोऽप्युत्पादादित्रयरूपं द्रव्यलक्षणभूतमस्तित्वमवश्यं भावि ॥१८॥

अथास्यात्मनः शुद्धोपयोगानुभावात्स्वयंभुवो भूतस्य कथमिन्द्रियैर्विना ज्ञानानन्दाविति संदेहमुदस्यति—

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो ।
जादो अणिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥१९॥

प्रक्षीणघातिकर्मा अनन्तवरवीर्योऽधिकतेजा ।
जातोऽनिन्द्रिय स ज्ञान सौख्य च परिणमति ॥ १९ ॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् प्रक्षीणघातिकर्मा, क्षायोपशमिकज्ञानदर्शना-

---

मवबोद्धव्यमिति सूत्रतात्पर्यम् ॥ १८ ॥ एव सिद्धजीवे द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि विवक्षितपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वय गतम् । अथ त पूर्वोक्तसर्वज्ञ ये मन्यन्ते ते सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, परम्परया मोक्ष च लभन्त इति प्रतिपादयति—

[१]तं सव्वट्ठवरिट्ठं इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं ।
ये सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥ १८*१ ॥

तं सव्वट्ठवरिट्ठं तं सर्वार्थवरिष्ठ **इट्ठं** इष्टमभिमतम् । कै. । **अमरासुरप्पहाणेहिं** अमरासुरम् प्रधानै. । **ते सद्दहंति** ये श्रद्दधति रोचन्ते **जीवा** भव्यजीवा । **तेसिं** तेषाम् । **दुक्खाणि** दु खानि । **खीयंति** विनाश गच्छन्ति, इति सूत्रार्थ ॥ १ ॥ एव निर्दोषिपरमात्मश्रद्धानान्मोक्षो भवतीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथा गता ॥ अथास्यात्मनो निर्विकारस्वसवेदनलक्षणशुद्धोपयोगप्रभावात्सर्वज्ञत्वे सतीन्द्रियैर्विना कथ ज्ञानानन्दाविति पृष्ठे प्रत्युत्तर ददाति—**पक्खीणघादिकम्मो** ज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपपरमात्मद्रव्यभावनालक्षणशुद्धोपयोगबलेन प्रक्षीणघातिकर्मा सन् । **अणंतवरवीरिओ** अनन्तवरवीर्य. । पुनरपि किंविष्ट । **अहियतेजो** अधिकतेजा. । अत्र तेज.शब्देन केवलज्ञानदर्शनद्वयं

है, इन तीनोंसे ही द्रव्यका अस्तित्व (मौजूदगी) है ॥ १८ ॥

आगे कहते हैं, कि यह आत्मा शुद्धोपयोगके प्रभावसे स्वयभू तो हुआ, परतु इन्द्रियोंके विना ज्ञान और आनद इस आत्माके किस तरह होता है, ऐसी शकाको दूर करते हैं, अर्थात् ये अज्ञानी जीव इन्द्रिय विषयोंके भोगनेमे ही ज्ञान, आनद मान बैठे हैं, उनके चेतावनेके लिये स्वभावसे उत्पन्न हुए ज्ञान तथा सुखको दिखाते हैं—[स] वह स्वयभू भगवान् आत्मा [**अतीन्द्रियः जातः 'सन्'**] इन्द्रिय ज्ञानसे रहित होता हुआ [**ज्ञानं सौख्य च**] अपने और परके प्रकाशने(जानने) वाला ज्ञान तथा आकुलता रहित सुख, इन दोनो स्वभावरूप [**परिणमति**] परिणमता है । कैसा है भगवान् । [**पक्षीणघातिकर्मा**] सर्वथा नाश किये हैं, चार घातिया कर्म जिसने अर्थात् जबतक

---

१. इस गाथाकी श्रीमत् अमृतचन्द्राचार्यने टीका नही की । तात्पर्यवृत्तिमें ही इसका व्याख्यान है ।

संपृक्तत्वादतीन्द्रियो भूतः सन्निखिलान्तरायक्षयादनन्तवरवीर्यः, कृत्स्नज्ञानदर्शनावरणप्रलयादधिककेवलज्ञानदर्शनाभिधानतेजाः, समस्तमोहनीयाभावादत्यन्तनिर्विकारशुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमासादयन् स्वयमेव स्वपरप्रकाशकत्वलक्षणं ज्ञानमनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं च भूत्वा परिणमते। एवमात्मनो ज्ञानानन्दौ स्वभाव एव। स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ संभवतः ॥१९॥

अथातीन्द्रियत्वादेव शुद्धात्मनः शारीरं सुखदुःखं नास्तीति विभावयति—

ग्राह्यम्। **जादो सो** स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा जात सजात। कथभूत। **अणिंदियो** अनिन्द्रिय इन्द्रियविषयव्यापाररहित। अनिन्द्रिय सन् किं करोति। **णाण सोक्खं च परिणमदि** केवलज्ञानमनन्तसौख्य च परिणमतीति तथाहि—अनेन व्याख्यानेन किमुक्त भवति, आत्मा तावन्निश्चयेनानन्तज्ञानसुखस्वभावोऽपि व्यवहारेण ससारावस्थाया कर्मप्रच्छादितज्ञानसुख सन् पश्चादिन्द्रियाधारेण किमप्यल्पज्ञान सुख च परिणमति। यदा पुनर्निर्विकल्पस्वसवित्तिबलेन कर्माभावो भवति तदा क्षयोपशमाभावादिन्द्रियाणि न सन्ति स्वकीयातीन्द्रिवाज्ञानसुख चानुभवति। तदपि कस्मात्। स्वभावस्य परापेक्षा नास्तीत्यभिप्रायः॥ १९॥ अथातीन्द्रियत्वादेव केवलिन. शरीराधारोद्भूत भोजनादिसुख क्षुधादिदु ख च नास्तीति विचारयति—**सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि** सुख वा पुनर्दु ख वा केवलज्ञानिनो नास्ति। कथभूतम्। **देहगदं** देहगत देहाधारजिह्वेन्द्रियादिसमुत्पन्न कवलाहारादिसुखम्, असातोदयजनित क्षुधादिदु ख च। कस्मान्नास्ति। **जम्हा अदिंदियत्त जादं** यस्मान्मोहादिघातिकर्माभावे पञ्चेन्द्रियविषयसुखाय व्यापाररहितत्व जातम्। **तम्हा दु तं णेय** तस्मादतीन्द्रियत्वाद्धेतोरतीन्द्रियमेव तज्ज्ञान सुख च ज्ञेयमिति। तद्यथा–लोहपिण्डससर्गाभावादग्नियथा घनघातपिट्टन न लभते तथायमात्मापि लोहपिण्डस्थानीयेन्द्रियग्रामाभावात् सासारिकसुखदु ख

घातियाकर्म सहित था, तबतक क्षायोपशमिक मत्यादिज्ञान तथा चक्षुरादिदर्शन सहित था। घातियाकर्मोंके नाश होते ही अतीन्द्रिय हुआ। फिर कैसा है? [**अनन्तवरवीर्य**] मर्यादा रहित है, उत्कृष्ट बल जिसके अर्थात् अतरायके दूर होनेसे अनन्तबल सहित है। फिर कैसा है? [**अधिकतेजा**] अनत है, ज्ञानदर्शनरूप प्रकाश जिसके अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मके जानेसे अनतज्ञान, अनतदर्शनमयी है, और समस्त मोहनीयकर्मके नाशसे स्थिर अपने स्वभावको प्राप्त हो गया है। **भावार्थ**—इस आत्माका स्वभाव ज्ञान—आनद है, परके अधीन नही है, इसलिये निरावरण अवस्थामे ही इन्द्रियविना ज्ञान, सुख स्वभावसे ही परिणमते हैं। जैसे सूर्यका स्वभाव प्रकाश है, वह मेघपटलोकर ढँक जानेसे हीन प्रकाश होजाता है, लेकिन मेघ समूहके दूर हो जाने पर स्वाभाविक प्रकाश हो जाता है, इसी प्रकार इस आत्माके भी इन्द्रिय—आवरण करनेवाले कर्मोंके दूर होजानेसे स्वाभाविक (किसी के निमित्त विना) ज्ञान तथा सुख प्रगट हो जाता है ॥१९॥

आगे जब तक आत्मा इन्द्रियोके आधीन है, तबतक शरीरसबधी सुख, दु खका अनुभव

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥२०॥

सौख्य वा पुनर्दुःखं केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम् ।
यस्मादतीन्द्रियत्वं जातं तस्मात्तु तज्ज्ञेयम् ॥२०॥

नानुभवतीत्यर्थं । कश्चिदाह—केवलिना भुक्तिरस्ति, औदारिकशरीरसद्भावात् । असद्वेद्यकर्मोदयसद्भावाद्वा । अस्मदादिवत् । परिहारमाह—तद्भगवतः शरीरमौदारिक न भवति किंतु परमौदारिकम्—"शुद्धस्फटिकसकाश तेजोमूर्तिमय वपुः । जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥" यच्चोक्तमसद्वेद्योदयसद्भावात्तत्र परिहारमाह—यथा व्रीह्यादिबीजं जलसहकारिकारणसहितमङ्कुरादिकार्यं जनयति तथैवासद्वेद्यकर्म मोहनीयसहकारिकारणसहितं क्षुधादिकार्यमुत्पादयति । कस्मात् । "मोहस्स बलेण घाददे जीव" इति वचनात् । यदि पुनर्मोहाभावेऽपि क्षुधादिपरीषह जनयति तर्हि वधरोगादिपरीषहमपि जनयतु न च तथा । तदपि कस्मात् । "भुक्त्युपसर्गाभावात्" इति वचनात् । अन्यदपि दूषणमस्ति । यदि क्षुधाबाधास्ति तर्हि क्षुधाक्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति । तथैव क्षुधादुःखितस्यानन्तसुखमपि नास्ति । जिह्वेन्द्रियपरिच्छित्तिरूपमतिज्ञानपरिणतस्य केवलज्ञानमपि न सभवति । अथवा अन्यदपि कारणमस्ति । असद्वेद्योदयापेक्षया सद्वेद्योदयोऽनन्तगुणोऽस्ति । तत कारणात् शर्कराराशिमध्ये निम्बकणिकावदसद्वेद्योदयो विद्यमानोऽपि न ज्ञायते । तथैवान्यदपि बाधकमस्ति—यथा प्रमत्तसयतादितपोधनाना वेदोदये विद्यमानेऽपि मन्दमोहोदयत्वादखण्डब्रह्मचारिणा स्त्रीपरीषहबाधा नास्ति, यथैव च नवग्रैवेयकाद्यहमिन्द्रदेवाना वेदोदये विद्यमानेऽपि मन्दमोहोदयेन स्त्रीविषयबाधा नास्ति, तथा भगवत्यसद्वेद्योदये विद्यमानेऽपि निरवशेषमोहाभावात् क्षुधाबाधा नास्ति । यदि पुनरुच्यते भवद्भिः—मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवलिपर्यन्तास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जीवा आहारका भवन्तीत्याहारकमार्गणायामागमे भणितमास्ते, तत कारणात् केवलिनामाहारोऽस्तीति । तदप्ययुक्तम् । परिहार.—"णोकम्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो । ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो" ॥ इति गाथाकथितक्रमेण यद्यपि षट्प्रकार आहारो भवति तथापि नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वमवबोद्धव्यम् । न च कवलाहारापेक्षया । तथाहि—सूक्ष्माः सुरसाः सुगन्धा अन्यमनुजानामसभविन. कवलाहार विनापि किंचिदूनपूर्वकोटिपर्यन्त शरीरस्थितिहेतव सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीरनोकर्माहारयोग्या लाभान्तरायकर्मनिरवशेषक्षयात् प्रतिक्षण पुद्गला आस्रवन्तीति नवकेवलिलब्धिव्याख्यानकाले भणित तिष्ठति । ततो ज्ञायते नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वम् । अथ मतम्—भवदीयकल्पनया आहारानाहारकत्वं नोकर्माहारापेक्षया, न च कवलाहारापेक्षया चेति कथ ज्ञायते । नैवम् । "एकं द्वौ त्रीन् वानाहारक" इति तत्त्वार्थे कथितमास्ते । अस्य सूत्रस्यार्थः कथ्यते—भवान्तरगमनकाले विग्रहगतौ शरीराभावे सति नूतनशरीरधारणार्थं त्रयाणा शरीराणा षण्णा पर्याप्तीना योग्यपुद्गलपिण्ड-

---

करता है । यह केवलज्ञानी भगवान् अतीन्द्रिय है, इस कारण इसके शरीरसबधी सुख, दु ख नही है, ऐसा कहते है—[**केवलज्ञानिन**] केवलज्ञानीके [**देहगतं**] शरीरसे उत्पन्न हुआ [**सौख्यं**] भोजनादिक सुख [**वा पुनः दुःखं**] अथवा भूख वगैरहका दु.ख [**नास्ति**] नही है [**यस्मात्**] इसी कारणसे इस केवली-भगवान्के [**अतीन्द्रियत्वं जातं**] इन्द्रियरहित भाव प्रगट हुआ [**तस्मात्तु**]

, यत एव शुद्धात्मनो जातवेदस इव कालायसगोलोत्कूलितपुद्गलाशेषविलासकल्पो नास्तीन्द्रियग्रामस्तत एव घोरघनघाताभिघातपरंपरास्थानीयं शरीरगतं सुखदुःखं न स्यात् ॥२०॥

अथ ज्ञानस्वरूपप्रपञ्चं सौख्यस्वरूपप्रपञ्चं च क्रमप्रवृत्तप्रबन्धद्वैधेनाभिदधाति, तत्र केवलिनोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्सर्वंप्रत्यक्षं भवतीति विभावयति–

ग्रहण नोकर्माहार उच्यते । स च विग्रहगतौ कर्माहारे विद्यमानेऽप्येकद्वित्रिसमयपर्यन्त नास्ति । ततो नोकर्माहारापेक्षयाऽऽहारानाहारकत्वमागमे ज्ञायते । यदि पुन कवलाहारापेक्षया तर्हि भोजनकाल विहाय सर्वदैवानाहारक येव, समयत्रयनियमो न घटते । अथ मतम्—केवलिना कवलाहारोऽस्ति मनुष्यत्वात् वर्तमानमनुष्यवत् । तदप्ययुक्तम् । तर्हि पूर्वकालपुरुषाणा सर्वज्ञत्व नास्ति, रामरावणादि पुरुषाणा च विशेषसामर्थ्यं नास्ति वर्तमानमनुष्यवत् । न च तथा । किंच छद्मस्थतपोधना अपि सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीराभावे 'छट्ठो त्ति पढमसण्णा' इति वचनात् प्रमत्तसयतषष्ठगुणस्थानवर्तिनो यद्यप्याहार गृह्णन्ति तथापि ज्ञानसयमध्यानसिद्धयर्थं, न च देहममत्वार्थम् । उक्त च—"कायस्थित्यर्थमाहार कायो ज्ञानार्थमिष्यते । ज्ञान कर्मविनाशाय तन्नाशे परम सुखम् । ण बलाउसाहणट्ठ ण सरीरस्स य चयट्ठ तेजट्ठ । णाणट्ठ सजमट्ठ झाणट्ठ चेव भुञ्जति ।" तस्य भगवतो ज्ञानसयमध्यानादिगुणा स्वभावेनैव तिष्ठन्ति न चाहारबलेन । यदि पुनर्देहममत्वेनाहार गृह्णाति तर्हि छद्मस्थेभ्योऽप्यसौ हीन प्राप्नोति । अथोच्यते–तस्यातिशयविशेषात्प्रकटा भुक्तिर्नास्ति प्रच्छन्ना विद्यते । तर्हि परमौदारिकशरीरत्वाद्भुक्तिरेव नास्त्ययमेवातिशय किं न भवति । तत्र तु प्रच्छन्नभुक्तौ मायास्थान दैन्यवृत्ति , अन्येऽपि पिण्डशुद्धिकथिता दोषा बहवो भवन्ति । ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्या । अत्र चाध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यन्त इति । अयमत्र भावार्थ —इद वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यमत्राग्रहो न कर्तव्य । कस्मात् । दुराग्रहे सति रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मभावनाविघातो भवति ॥ २० ॥ एवमनन्तज्ञानसुखस्थापने प्रथमगाथा केवलिभुक्तिनिराकरणे द्वितीया चेति गाथाद्वय गतम् ।

इति सप्तगाथाभि स्थलचतुष्टयेन सामान्येन **सर्वज्ञसिद्धि** नामा द्वितीयोऽन्तराधिकार समाप्त ॥ २ ॥

अथ ज्ञानप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथा भवन्ति । तत्राष्टौ स्थलानि । तेष्वादौ केवलज्ञानस्य सर्वं प्रत्यक्ष भवतीति कथनमुख्यत्वेन 'परिणमदो खलु' इत्यादिगाथाद्वयम्,

---

इसीलिये [**तत् ज्ञेयं**] तत् अर्थात् अतीन्द्रिय ही ज्ञान और सुख जानने चाहिये । **भावार्थ**—जैसे आग लोहेके गोलेकी सगति छूट जानेपर घनकी चोटको नही प्राप्त होती, इसी प्रकार यह आत्मा भी लोहके पिण्डसमान जो इन्द्रियज्ञान उसके अभावसे ससारसबधी सुख दु खका अनुभव नही करता है । इस गाथामे केवलीके कवलाहारका निषेध किया है ॥ २० ॥

आगे केवलीको अतीन्द्रियज्ञानसे ही सब वस्तुका प्रत्यक्ष होता है, यह कहते हैं—[**ज्ञान परिणममानस्य**] केवलज्ञानको परिणमता हुआ जो केवली भगवान् है, उसको [**खलु**] निश्चयसे

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया ।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

परिणममानस्य खलु ज्ञान प्रत्यक्षा· सर्वद्रव्यपर्याया· ।
स नैव तान् विजानात्यवग्रहपूर्वाभि क्रियाभि· ॥२१॥

यतो न खल्विन्द्रियाण्यालम्ब्यावग्रहेहावायपूर्वकप्रक्रमेण केवली विजानाति । स्वयमेव समस्तावरणक्षयक्षण एवानाद्यनन्ताहेतुकासाधारणभूतज्ञानस्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय तदुपरि प्रविकसत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते । ततोऽस्याक्रमसमा-

---

अथात्मज्ञानयोर्निश्चयेनासख्यातप्रदेशत्वेऽपि व्यवहारेण सर्वगतत्व भवतीत्यादिकथनमुख्यत्वेन 'आदा णाणपमाण' इत्यादिगाथापञ्चकम्, तत पर ज्ञानज्ञेययो परस्परगमननिराकरणमुख्यतया 'णाणी णाणसहावो' इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ निश्चयव्यवहारकेवलिप्रतिपादनादिमुख्यत्वेन 'जो हि सुदेण' इत्यादिसूत्रचतुष्टयम्, अथ वर्तमानज्ञाने कालत्रयपर्यायपरिच्छित्तिकथनादिरूपेण 'तक्कालिगेव सव्वे' इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञान बन्धकारणं न भवति रागादिविकल्परहित छद्मस्थज्ञानमपि । किंतु रागादयो बन्धकारणमित्यादिनिरूपणमुख्यतया 'परिणमदि णेय' इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञान सर्वज्ञानं सर्वज्ञत्वेन प्रतिपादयतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन 'ज तक्कालियमिदरं' इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ ज्ञानप्रपञ्चोपसहारमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, नमस्कारकथनेन द्वितीया चेति 'णवि परिणमदि' इत्यादि गाथाद्वयम् । एव ज्ञानप्रपञ्चाभिधानतृतीयान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथाभि स्थलाष्टकेन समुदायपातनिका । तद्यथा–अथातीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्केवलिन· सर्वप्रत्यक्ष भवतीति प्रतिपादयति—**पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया** सर्वद्रव्यपर्याया प्रत्यक्षा भवन्ति । कस्य । केवलिन किं कुर्वत । **परिणमदो** परिणममानस्य । खलु स्फुटम् । किम् । **णाणं** अनन्तपदार्थपरिच्छित्तिसमर्थं केवलज्ञानम् । तर्हि किं क्रमेण जानाति । **सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं** स च भगवान्नैव तान् जानात्यवग्रहपूर्वाभि क्रियाभिः, किंतु युगपदित्यर्थ । इतो विस्तर·– अनाद्यनन्तमहेतुक चिदानन्दैकस्वभाव निजशुद्धात्मानमुपादेय कृत्वा केवलज्ञानोत्पत्तेर्बीजभूतेनागमभाषया शुक्लध्यानसज्ञेन रागादिविकल्पजालरहितस्वसंवेदनज्ञानेन यदायमात्मा परिणमति, तदा स्वसवेदनज्ञानफलभूतकेवलज्ञानपरिच्छित्त्याकारपरिणतस्य तस्मिन्नेव क्षणे क्रमप्रवृत्तक्षायोपशमिक-

---

[**सर्वद्रव्यपर्यायाः**] सब द्रव्य तथा उनकी तीनो कालकी पर्यायें [**प्रत्यक्षा·**] प्रत्यक्ष अर्थात् प्रगट है । जैसे स्फटिकमणिके अन्दर तथा बाहिरमे प्रगट पदार्थ दीखते हैं । उसी तरह भगवानको सब प्रत्यक्ष है । [**स**] वह केवली भगवान् [**तान्**] उन द्रव्यपर्यायोको [**अवग्रहपूर्वाभि क्रियाभिः**] अवग्रह आदि अर्थात् अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणारूप जो क्रिया हैं, उनसे [**नैव विजानाति**] नही जानता है । साराश यह है कि–जैसे कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न्प हुए ज्ञानवाले, अवग्रह आदि जो मतिज्ञानकी भेदरूप क्रिया हैं, उनसे जानते हैं, वैसे केवली नही जानते । क्योकि उन केवलीभगवानके सब तरफसे कर्मोके पड़दे दूर होजानेके कारण अखंड अनन्त शक्तिसे पूर्ण, आदि अन्त

क्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया समस्तसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा भवन्ति ॥२१॥

अथास्य भगवतोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वादेव न किंचित्परोक्षं भवतीत्यभिप्रैति—

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥२२॥

नास्ति परोक्षं किंचिदपि समन्तत सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य ।
अक्षातीतस्य सदा स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य ॥२२॥

अस्य खलु भगवतः समस्तावरणक्षयक्षण एव सांसारिकपरिच्छित्तिनिष्पत्तिबलाधानहेतुभूतानि प्रतिनियतविषयग्राहीण्यक्षीणि तैरतीतस्य, स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदरूपैः समरसतया समन्ततः सर्वैरेवेन्द्रियगुणैः समृद्धस्य, स्वयमेव सामस्त्येन स्व-

---

ज्ञानाभावादक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया सर्वद्रव्यगुणपर्याया अस्यात्मन प्रत्यक्षा भवन्तीत्यभिप्राय ॥२१॥ अथ सर्वं प्रत्यक्ष भवतीत्यन्वयरूपेण पूर्वसूत्रे भणितमिदानी तु परोक्ष किमपि नास्तीति तमेवार्थं व्यतिरेकेण दृढयति—**णत्थि परोक्ख किंचि वि** अस्य भगवत परोक्ष किमपि नास्ति । किंविशिष्टस्य । **समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स** समन्तत सर्वात्मप्रदेशै. सामस्त्येन वा स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छित्तिरूपसर्वेन्द्रियगुणसमृद्धस्य, तर्हि किमक्षसहितस्य । नैवम् । **अक्खातीदस्स** अक्षातीतस्येन्द्रियव्यापाररहितस्य, अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—अक्ष्णोति ज्ञानेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तद्गुणसमृद्धस्य । **सदा** सर्वदा सर्वकालम् । पुनरपि किंरूपस्य । **सयमेव हि णाणजादस्स** स्वयमेव हि स्फुट केवलज्ञानरूपेण जातस्य परिणतस्येति । तद्यथा—अतीन्द्रियस्वभावपरमात्मनो विपरीतानि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानीन्द्रियाण्यतिक्रान्तस्य जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रत्यक्ष-

---

रहित, असाधारण, अपने आप ही प्रगट हुआ केवलज्ञान है, इस कारण एक ही समयमे सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ज्ञानरूपी भूमिमे प्रत्यक्ष झलकते हैं ॥ २१ ॥

आगे इस भगवानके अतीन्द्रियज्ञानरूप परिणमन करनेसे कोई भी वस्तु परोक्ष नही है, यह कहते हैं—[**अस्य भगवतः**] इस केवलीभगवानके [**किंचिदपि**] कुछ भी पदार्थ [**परोक्ष नास्ति**] परोक्ष नही है । एक हो समय सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको प्रत्यक्ष जानता है, इसलिये परोक्ष नही । कैसे हैं ? वे भगवान् [**अक्षातीतस्य**] इन्द्रियोसे रहित ज्ञानवाले हैं, अर्थात् इन्द्रियें ससारसबधी ज्ञानका कारण हैं । और परोक्षरूप मर्यादा लिये पदार्थोंको जानती हैं, इस प्रकारकी भावइन्द्रियें भगवानके अब नही, इसलिये सत् प्रत्यक्ष स्वरूप जानते हैं । फिर कैसे हैं ? [**समन्तत**] सब आत्माके प्रदेशो (अगो) मे [**सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य**] सब इन्द्रियोंके गुण जो स्पर्श वगैरहको ज्ञान उस कर पूर्ण है, अर्थात् जो एक एक इन्द्रिय एक एक गुणको ही जानती हैं, जैसे आँख रूपको, इस तरहके क्षयोपशमजन्यज्ञानके अभाव होनेपर प्रगट हुए केवलज्ञानसे वे केवलीभगवान्, सब अगो द्वारा सब स्पर्शादि विषयोको जानते हैं । फिर कैसे हैं ? [**स्वयमेव**] अपने आप ही [**हि**] निश्चय कर [**ज्ञानजातस्य**] केवलज्ञानको प्राप्त हुए हैं । **भावार्थ**—अपने और परवस्तुके

परप्रकाशनस्य, स्वैरं लोकोत्तरज्ञानजातस्य, अक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया न किंचनापि परोक्षमेव स्यात् ॥२२॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वं ज्ञानस्य सर्वगतत्वं चोद्द्योतयति—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥

आत्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम् ।
ज्ञेयं लोकालोकं तस्माज्ज्ञानं तु सर्वगतम् ॥२२॥

आत्मा हि 'समगुणपर्यायं द्रव्यम्' इति वचनात् ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वरहितत्वेन परिणतत्वात्तत्परिमाणं, ज्ञानं तु ज्ञेयनिष्ठत्वाद्दाह्यनिष्ठदहनवत्तत्परिमाणं, ज्ञेय तु लोकालोकविभागविभक्तानन्तपर्यायमालिकालीढस्वरूपसूचिता विच्छेदोत्पाद[विच्छेदोपदर्शित]ध्रौव्या षड्द्रव्यी सर्वमिति यावत् । ततो निःशेषावरणक्षयक्षण एव लोका-

---

प्रतीतिसमर्थमविनश्वरमखण्डैकभासमय केवलज्ञान परिणतस्यास्य भगवत परोक्ष किमपि नास्तीति भावार्थ ॥ २२ ॥ एव केवलिना समस्त प्रत्यक्ष भवतीति कथनरूपेण प्रथमस्थले गाथाद्वय गतम् । अथात्मा ज्ञानप्रमाणो भवतीति ज्ञान च व्यवहारेण सर्वगतमित्युपदिशति—**आदा णाणपमाणं** ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वाभावादात्मा ज्ञानप्रमाणो भवति । तथाहि—'समगुणपर्याय द्रव्य भवति' इति वचनाद्वर्तमानमनुष्यभवे वर्तमानमनुष्यपर्यायप्रमाण , तदेव मनुष्यपर्यायप्रदेशर्वातज्ञानगुणप्रमाणश्च प्रत्यक्षेण दृश्यते यथायमात्मा, तथा निश्चयत सर्वदैवाव्याबाधाक्षयसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतो योऽसौ केवलज्ञानगुणस्तत्प्रमाणोऽयमात्मा । **णाण णेयप्पमाणमुद्दिट्ठ** दाह्यनिष्ठदहनवत् ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्ट कथितम् । **णेयं लोयालोयं** ज्ञेय लोकालोकं भवति । शुद्धबुद्धैकस्वभावसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्यादिषड्द्रव्यात्मको लोक , लोकाद्बहिर्भागे शुद्धाकाशमलोक , तच्च लोकालोकद्वयं स्वकीयस्वकीयानन्तपर्यायपरिणतिरूपेणानित्यमपि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यम् । **तम्हा णाणं तु सव्वगयं**

प्रकाशनेवाला नाशरहित लौकिकज्ञानसे जुदा ऐसा अतीन्द्रियज्ञान (केवलज्ञान) जब प्रगट हुआ, तब परोक्षपना किस तरह हो सकता है ? (नही होता) ॥ २२ ॥

आगे आत्माको ज्ञानप्रमाण कहते हैं, और ज्ञानको सर्वव्यापक दिखलाते हैं—[**आत्मा**] जीवद्रव्य [**ज्ञानप्रमाण**] ज्ञानके बराबर है, क्योकि द्रव्य अपने-अपने गुणपर्यायोंके समान होता है, इसी न्यायसे जीव भी अपने ज्ञानगुणके बराबर हुआ । आत्मा ज्ञानसे न तो अधिक न कम परिणमन करता है, जैसे सोना अपनी कडे कुडल आदि पर्यायोंसे तथा पीलेवर्ण आदिक गुणोंसे कम अधिक नही परिणमता, उसी प्रकार आत्मा भी समझना । [**ज्ञानं ज्ञेयप्रमाण**] और ज्ञान ज्ञेयके (पदार्थोंके) प्रमाण है, ऐसा [**उद्दिष्टं**] जिनेन्द्रदेवने कहा है, जैसे—ईंधनमे स्थित आग ईंधनके बराबर है, उसी तरह सब पदार्थोंको जानता हुआ ज्ञान ज्ञेयके प्रमाण है, [**ज्ञेयं लोकालोक**] ज्ञेय है, वह लोक तथा अलोक है, जो भूत भविष्यत् वर्तमानकालकी अनंत पर्यायो सहित छह द्रव्य हैं, उसको लोक और इस लोकसे बाहर अकेला आकाश उसको अलोक जानना, इन्हीं दोनोंको

लोकविभागविभक्तसमस्तवस्त्वाकारपारमुपगम्य तथैवाप्रच्युतत्वेन व्यवस्थितत्वात् ज्ञानं सर्वगतम् ॥२३॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वानभ्युपगमे द्वौ पक्षावुपन्यस्य दूषयति—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा ।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि ।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥जुगलं।

ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्येह तस्य स आत्मा ।
हीनो वा अधिको वा ज्ञानाद्भवति ध्रुवमेव ॥२४॥
हीनो यदि स आत्मा तत् ज्ञानमचेतन न जानाति ।
अधिको वा ज्ञानात् ज्ञानेन विना कथ जानाति ॥२५॥युगलम्।

यदि खल्वयमात्मा हीनो ज्ञानादित्यभ्युपगम्यते, तदात्मनोऽतिरिच्यमानं ज्ञानं

यस्मान्निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगभावनाबलेनोत्पन्न यत्केवलज्ञान तट्टङ्कोत्कीर्णाकारन्यायेन निरन्तर पूर्वोक्तज्ञेय जानाति, तस्माद्व्यवहारेण तु ज्ञान सर्वगत भण्यते । तत स्थितमेतदात्मा ज्ञानप्रमाण ज्ञान सर्वगतमिति ॥२३॥ अथात्मान ज्ञानप्रमाण ये न मन्यन्ते तत्र हीनाधिकत्वे दूषण ददाति– **णाणप्पमाणमादा य हवदि जस्सेह** ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्य वादिनो मतेऽत्र जगति **तस्स सो आदा** तस्य मते स आत्मा **हीणो वा अहिओ वा णणादो हवदि धुवमेव** हीनो वा अधिको वा ज्ञानात्सकाशाद् भवति निश्चितमेवेति ॥ २४ ॥ **हीणो जदि सो आदा त णाणमचेदणं ण जाणादि** हीनो

ज्ञेय कहते हैं । [**तस्मात्**] इसलिये [**ज्ञानं तु**] केवलज्ञान तो [**सर्वगतं**] सब पदार्थोंमे प्रवेश करनेवाला सर्वव्यापक है, अर्थात् सबको जानता है, इससे ज्ञान ज्ञेयके बराबर है ॥ २३ ॥

आगे जो मूढदृष्टि आत्माको ज्ञानके प्रमाण नही मानकर अधिक तथा हीन मानते है, उनके पक्षको युक्तिसे दूषित करते हैं—[**इह**] इस लोकमे [**यस्य**] जिस मूढबुद्धिके 'मतमे [**आत्मा**] आत्मद्रव्य [**ज्ञानप्रमाणं**] ज्ञानके बराबर [**न भवति**] नही होता है, अर्थात् जो विपरीत बुद्धिवाले आत्माको ज्ञानके बराबर नही मानते, [**तस्य**] उस कुमतीके मतमे [**स आत्मा**] वह जीवद्रव्य [**ज्ञानात्**] अपने ज्ञानगुणसे [**हीनो वा अधिको वा**] हीन (कम) अथवा अधिक (बडा) [**ध्रुवमेव**] निश्चयसे [**भवति**] होता है, अर्थात् उन्हे या तो आत्माको ज्ञानसे कम मानना पडेगा, या अधिक मानना पडेगा । [**यदि**] जो [**स आत्मा**] वह जीवद्रव्य [**हीन**] ज्ञानसे न्यून होगा [**तदा**] तो [**तद् ज्ञान**] वह ज्ञान [**अचेतन**] अचेतन होनेसे [**न जानाति**] कुछ भी नही जान सकेगा [**वा**] अथवा [**ज्ञानात्**] ज्ञानसे [**अधिकः**] अधिक होगा, तो [**ज्ञानेन विना**] ज्ञानके विना [**कथ जानाति**] कैसे जानेगा ? । **भावार्थ**—जो आत्माको ज्ञानसे हीन माने, तो

स्वाश्रयभूतचेतनद्रव्यसमवायाभावादचेतनं भवद्रूपादिगुणकल्पतामापन्नं न जानाति। यदि पुनर्ज्ञानादधिक इति पक्षः कक्षीक्रियते तदावश्यं ज्ञानादतिरिक्तत्वात् पृथग्भूतो भवन् घटपटादिस्थानीयतामापन्नो ज्ञानमन्तरेण न जानाति, ततो ज्ञानप्रमाण एवायमात्माभ्युपगन्तव्यः ॥२४-२५॥

अथात्मनोऽपि ज्ञानवत् सर्वगतत्वं न्यायायातमभिनन्दति—

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ॥२६॥

सर्वगतो जिनवृषभ सर्वेऽपि च तद्गता जगत्यर्था।
ज्ञानमयत्वाच्च जिनो विषयत्वात्तस्य ते भणिता ॥२६॥

ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्यपर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्तं तथाभूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद्भगवानपि सर्वगत एव। एवं सर्वगत-

---

यदि स आत्मा तदाग्नेरभावे सति उष्णगुणो यथा शीतलो भवति तथा स्वाश्रयभूतचेतनात्मकद्रव्यसमवायाभावात्तस्यात्मनो ज्ञानमचेतन भवत्सत् किमपि न जानाति। **अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि** अधिको वा ज्ञानात्सकाशात्तर्हि यथोष्णगुणाभावेऽग्नि शीतलो भवन्सन् दहनक्रियाप्रत्यसमर्थो भवति तथा ज्ञानगुणाभावे सत्यात्माप्यचेतनो भवन्सन् कथ जानाति न कथमपि। अयमत्र भावार्थ —ये केचनात्मानमगुष्ठपर्वमात्र, श्यामाकतण्डुलमात्र वटककणिकादिमात्र वा मन्यन्ते ते

ज्ञानगुण स्पर्श रस गध वर्णकी तरह अचेतन हो जावेगा, और अचेतन (जड) होनेसे कुछ भी नही जान सकेगा, जैसे अग्निसे उष्णगुण अधिक माना जावे, तो अधिक उष्णगुण अग्निके विना शीतल होनेसे जला नही सकता, और जो ज्ञानसे आत्मा अधिक होगा, अर्थात् आत्मासे ज्ञान हीन होगा, तो घट वस्त्रादि पदार्थोकी तरह आत्मा ज्ञान विना अचेतन हुआ कुछ भी नही जान सकेगा, जैसे अग्नि उष्णगुणसे जितनी अधिक होगी, उतनी ही शीतल होनेके कारण ईंधनको नही जला सकती। इस कारण यह सिद्ध हुआ, कि आत्मा ज्ञानके ही प्रमाण है, कमती बढती नही है ॥ २४—२५ ॥ आगे जिस तरह ज्ञान सर्वगत है, उसी तरह आत्मा भी सर्वगत है, ऐसा कहते हैं—**[ज्ञानमयत्वात्]** ज्ञानमयी होनेसे [**जिनवृषभ**] जिन अर्थात् गणधरादिदेव उनमे वृषभ (प्रधान) [**जिनः**] सर्वज्ञ भगवान् [**सर्वगत**] सब लोक अलोकमे प्राप्त हैं, [**च**] और [**तस्य विषयत्वात्**] उन भगवानके जानने योग्य होनेसे [**जगति**] ससारमे [**सर्वेपि च ते अर्था**] वे सब ही पदार्थ [**तद्गताः**] उन भगवानमे प्राप्त हैं, ऐसा [**भणिता**] सर्वज्ञने कहा है ॥ **भावार्थ**—अतीत अनागत वर्तमान काल सहित सब पदार्थोके आकारोको (पर्यायोको) जानता हुआ, ज्ञान सर्वगत कहा है, और भगवान् ज्ञानमयी हैं, इस कारण भगवान भी सर्वगत ही हैं, और जिस तरह आरसीमे घटपटादि पदार्थ झलकते हैं, वैसे ज्ञानसे अभिन्न भगवानमे भी सब पदार्थ प्राप्त हुए हैं, क्योकि वे पदार्थ भगवानके जानने योग्य हैं। निश्चयकर ज्ञान आत्माप्रमाण है, क्योकि निर्विकार निराकुल अनन्तसुखको आत्मामें आप वेदता है, अर्थात् अनुभव करता है। ज्ञान आत्माका स्वभावरूप लक्षण है,

ज्ञानविषयत्वात्सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात्तद्गता एव भवन्ति । तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकाराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते । तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिष्ठत्वात् । अयं क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चेयः ॥२६॥

अथात्मज्ञानयोरेकत्वान्यत्वं चिन्तयति—

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥२७॥

निषिद्धा । येऽपि समुद्घातसप्तकं विहाय देहादधिकं मन्यन्ते तेऽपि निराकृता इति ॥ २५ ॥ अथ यथा ज्ञान पूर्वं सर्वगतमुक्त तथैव सर्वगतज्ञानापेक्षया भगवानपि सर्वगतो भवतीत्यावेदयति— **सव्वगदो** सर्वगतो भवति । स क कर्ता । **जिणवसहो** जिनवृषभ सर्वज्ञ । कस्मात् सर्वगतो भवति । **जिणो** जिन **णाणमयादो य** ज्ञानमयत्वाद्धेतो **सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा** सर्वेऽपि च ये जगत्यर्थास्ते दर्पणे बिम्बवद् व्यवहारेण तत्र भगवति गता भवन्ति । कस्मात् । **ते भणिया** तेऽर्थास्तत्र गता भणिता **विसयादो** विषयत्वात्परिच्छेद्यत्वात् ज्ञेयत्वात् । कस्य । **तस्स** तस्य भगवत इति । तथाहि—यदनन्तज्ञानमनाकुलत्वलक्षणानन्तसुख च तदाधारभूतस्तावदात्मा इत्थभूतात्मप्रमाण ज्ञानमात्मन स्वस्वरूप भवति । इत्थभूत स्वस्वरूप देहगतमपरित्यजन्नेव लोकालोक परिच्छिनत्ति । तत कारणाद्व्यवहारेण सर्वगतो भण्यते भगवान् । येन च कारणेन नीलपीतादिबहि पदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने प्रतिफलन्ति तत कारणादुपचारेणार्थकार्यभूता अर्थाकारा अप्यर्था भण्यन्ते । ते च ज्ञाने तिष्ठन्तीत्युच्यमाने दोषो नास्तीत्यभिप्राय ॥ २६ ॥ अथ ज्ञानमात्मा भवति, आत्मा तु ज्ञान सुखादिक वा भवतीति प्रतिपादयति—**णाणं अप्प त्ति मद** ज्ञानमात्मा भवतीति मत

इस कारण वह अपने ज्ञानस्वरूप स्वभावको कभी नही छोडता । समस्त ज्ञेया-(पदार्थ) कारोंमे प्राप्त नही होता, अपनेमे ही स्थिर रहता है । यह आत्मा सब पदार्थोंका जाननेवाला है, इसलिये व्यवहारनयसे सर्वगत (सर्वव्यापक) कहा है, निश्चयसे नही । इसी प्रकार निश्चयनयसे वे पदार्थ भी इस आत्मामे प्राप्त नही होते, क्योकि कोई पदार्थ अपने स्वरूपको छोडकर दूसरेके आकार नही होता, सब अपने अपने स्वरूपमे रहते हैं । निमित्तभूत ज्ञेयके आकारोको आत्मामें ज्ञेयज्ञायक सबधसे प्रतिबिंबित होनेसे व्यवहारसे कहते हैं, कि सब पदार्थ आत्मामे प्राप्त हो जाते हैं । जैसे आरसीमे घटादि पदार्थ प्रतिबिम्ब निमित्तसे प्रवेश करते हैं, ऐसा व्यवहारमे कहा जाता है, निश्चयसे वे अपने स्वरूपमे ही रहते हैं । इस कथनसे साराश यह निकला, कि निश्चयसे पदार्थ आत्मामे नही आत्मा पदार्थोंमे नही । व्यवहारसे ज्ञानरूप आत्मा पदार्थोंमे है । पदार्थ आत्मामें हैं, क्योकि इन दोनोका ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध दुर्निवार हैं ॥ २६ ॥ आगे ज्ञान और आत्मा एक है, तथा आत्मा ज्ञान भी है, और सुखादिस्वरूप भी है, ऐसा कहते हैं—[**ज्ञानं**] ज्ञानगुण [**आत्मा**] जीव

ज्ञानमात्मेति मत वर्तते ज्ञान विना नात्मानम् ।
तस्मात् ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञान वा अन्यद्वा ॥२७॥

यतः शेषसमस्ताचेतनवस्तुसमवायसंबन्धनिरुत्सुकतयाऽनाद्यनन्तस्वभावसिद्धसमवायसंबन्धमेकमात्मानमाभिमुख्येनावलम्ब्य प्रवृत्तत्वात् तं विना आत्मानं ज्ञानं न धारयति, ततो ज्ञानमात्मैव स्यात् । आत्मा त्वनन्तधर्माधिष्ठानत्वात् ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानमन्यधर्मद्वारेणान्यदपि स्यात् । किं चानेकान्तोऽत्र बलवान् । एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्वमात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात् । सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव आत्मनः शेषपर्यायाभावस्तदविनाभाविनस्तस्याप्यभावः स्यात् ॥२७॥

समतम् । कस्मात् । **वट्टदि णाण विणा ण अप्पाण** ज्ञानं कर्तृ विनात्मान जीवमन्यत्र घटपटादौ न वर्तते । **तम्हा णाणं अप्पा** तस्मात् ज्ञायते कथचिज्ज्ञानमात्मैव स्यात् । इति गाथापादत्रयेण ज्ञानस्य कथचिदात्मत्व स्थापितम् । **अप्पा णाणं च अण्ण वा** आत्मा तु ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानं भवति, सुखवीर्यादिधर्मद्वारेणान्यद्वा नियमो नास्तीति । तद्यथा–यदि पुनरेकान्तेन ज्ञानमात्मेति भण्यते तदा ज्ञानगुणमात्र एवात्मा प्राप्त सुखादिधर्माणामवकाशो नास्ति । तथा सुखवीर्यादिधर्मसमूहाभावादात्माऽभाव., आत्मन आधारभूतस्याभावादाधेयभूतस्य ज्ञानगुणस्याप्यभाव , इत्येकान्ते सति द्वयोरप्यभाव । तस्मात्कथचिज्ज्ञानमात्मा न सर्वथेति । अयमत्राभिप्राय —आत्मा व्यापको ज्ञान व्याप्य ततो ज्ञानमात्मा स्यात्, आत्मा तु ज्ञानमन्यद्वा भवतीति । तथा चोक्तम्—'व्यापक तदतन्निष्ठ व्याप्यं तन्निष्ठमेव च' ॥२७॥ इत्यात्मज्ञानयोरेकत्व, ज्ञानस्य व्यवहारेण सर्वगतत्वमित्यादिकथनरूपेण द्वितीयस्थले

ही है [**इति मतं**] ऐसा कहा है । [**आत्मानं विना**] आत्माके विना [**ज्ञान**] चेतनागुण [**न वर्तते**] और किसी जगह नही रहता [**तस्मात्**] इस कारण [**ज्ञानं**] ज्ञानगुण [**आत्मा**] जीव है [**च**] और [**आत्मा**] जीवद्रव्य [**ज्ञानं**] चैतन्य गुणरूप है, [**वा अन्यत्**] अथवा अन्य गुणरूप भी है । **भावार्थ**—ज्ञान और आत्मामे भेद नही है, दोनो एक हैं । क्योकि अन्य सब अचेतन वस्तुओके साथ सबध न करके केवल आत्माके ही साथ ज्ञानका अनादिनिधन स्वाभाविक गाढ सवध है, इस कारण आत्माको छोड ज्ञान दूसरी जगह नही रह सकता । परतु आत्मा अनन्तधर्मवाला होनेसे ज्ञान गुणरूप भी है और अन्य सुखादि गुणरूप भी है, अर्थात् जैसे ज्ञानगुण रहता है, वैसे अन्य गुण भी रहते हैं । दूसरी बात यह है, कि भगवन्तका अनेकान्त सिद्धान्त बलवान् है जो एकान्तसे ज्ञानको आत्मा कहेगे, तो ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जावेगा, और जब गुण ही द्रव्य हो जावेगा, तो गुणके अभावसे आत्मद्रव्यके अभावका प्रसङ्ग आवेगा, क्योकि गुणवाला द्रव्यका लक्षण है, वह नही रहा, और जो सर्वथा आत्माको ज्ञान ही मानेंगे, तो आत्मद्रव्य एक ज्ञानगुणमात्र ही रह जावेगा, सुखवीर्यादि गुणोका अभाव होगा । गुणके अभावसे आत्मद्रव्यका अभाव सिद्ध होगा, तब निराश्रय अर्थात् आधार न होनेसे ज्ञानका भी अभाव हो जायेगा । इस कारण सिद्धान्त यह निकला, कि ज्ञानगुण तो आत्मा अवश्य है, क्योकि ज्ञान अन्य जगह नही रहता । परतु, आत्मा ज्ञानगुणको

अथ ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमनं प्रतिहन्ति—

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टन्ति ॥२८॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिन ।
रूपाणीव चक्षुषो नैवान्योन्येषु वर्तन्ते ॥२८॥

ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति किंतु तेषां ज्ञानज्ञेयस्वभावसम्बन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति । यथा हि चक्षूंषि तद्विषयभूतरूपिद्रव्याणि ण परस्परप्रवेशमन्तरेणापि ज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणान्येवमात्माऽर्थाश्चान्योन्यवृत्तिमन्तरेणापि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणाः ॥२८॥

गाथापञ्चकं गतम् । अथ ज्ञान ज्ञेयसमीपे न गच्छतीति निश्चिनोति–**णाणी णाणसहावो** ज्ञानी सर्वज्ञ केवलज्ञानस्वभाव एव । **अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स** जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्था ज्ञेयात्मका एव भवन्ति न च ज्ञानात्मका । कस्य ज्ञानिन. । **रूवाणि व चक्खूणं णवण्णोण्णेसु वट्टंति** ज्ञानी पदार्थाश्चान्योन्य परस्परमेकत्वेन वर्तन्ते । कानीव केषा सवन्धित्वेन, रूपाणीव चक्षुषामिति । तथाहि—यथा रूपिद्रव्याणि चक्षुषा सह परस्पर सम्बन्धाभावेऽपि स्वाकारसमर्पणे समर्थानि, चक्षूषि च तथाकारग्रहणे समर्थानि भवन्ति । तथा त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्था कालत्रयपर्यायपरिणता ज्ञानेन सह परस्परप्रदेशससर्गाभावेऽपि स्वकीयाकारसमर्पणे समर्था भवन्ति । अखण्डैकप्रतिभासमय केवलज्ञान तु तदाकारग्रहणे समर्थमिति भावार्थ' ॥ २८ ॥ अथ ज्ञानी ज्ञेयपदार्थेषु निश्चयनयेनाप्रविष्टोऽपि

अपेक्षा ज्ञान है, अन्य गुणोकी अपेक्षा अन्य है ॥ २७ ॥ आगे निश्चयसे ज्ञान न तो ज्ञेयमे जाता है, और न ज्ञेय ज्ञानमे जाता है, ऐसा कहते हैं—[हि] निश्चयकर [**ज्ञानी**] आत्मा [**ज्ञानस्वभाव**] ज्ञानस्वभाववाला है, तथा [**अर्था**] पदार्थ [**ज्ञेयात्मका**] ज्ञेयस्वरूप हैं । क्योकि [**ज्ञानिन**] ज्ञानीके [**ते अर्था**] वे पदार्थ [**चक्षुषा**] नेत्रोके [**रूपाणि इव**] रूपी पदार्थोंके समान [**अन्योन्येषु**] आपसमे अर्थात् सब मिलके एक अवस्थामे [**नैव**] नही [**वर्तन्ते**] प्रवर्तते है । **भावार्थ**—यद्यपि आत्मा और पदार्थोंका स्वभावसे ही ज्ञेय ज्ञायक सबध आपसमे है, तो भी ज्ञानी आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञेयस्वरूप नही है, और पदार्थ ज्ञेय (जानने योग्य) स्वरूप हैं, ज्ञानस्वरूप नही, अर्थात् अपने स्वरूपको छोडकर एकरूप नही होते । जैसे कि नेत्र रूपी पदार्थोंमें प्रवेश किये विना ही उन पदार्थोंके स्वरूप ग्रहण करनेको समर्थ है, और वे रूपी पदार्थ भी नेत्रोमे प्रवेश किये विना ही अपना स्वरूप नेत्रोंके जनानेको समर्थ हैं । इसी प्रकार आत्मा भी न तो उन पदार्थोंमे जाता है, और न वे (पदार्थ) आत्मामे आते हैं, अर्थात् ज्ञेय ज्ञायक सबधसे सकल पदार्थोंमे प्रवेश किये विना ही आत्मा सबको जानता है, और वे पदार्थ भी आत्मामें प्रवेश नही करके अपने स्वरूपको जनाते हैं । इसी कारण आत्माको व्यवहारसे सर्वगत कहते हैं ॥ २८ ॥ आगे निश्चयनयसे यद्यपि पदार्थोंमे आत्मा प्रवेश नही करता है, तो भी व्यवहार से प्रविष्ट (प्रवेश किया) सरीखा है, ऐसी शक्तिकी

अथार्थेष्ववृत्तस्यापि ज्ञानिनस्तद्वृत्तिसाधकं शक्तिवैचित्र्यमुद्द्योतयति—

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥२९॥

न प्रविष्टो नाविष्टो ज्ञानी ज्ञेयेषु रूपमिव चक्षु ।
जानाति पश्यति नियतमक्षातीतो जगदशेषम् ॥२९॥

यथाहि चक्षू रूपिद्रव्याणि स्वप्रदेशैरसंस्पृशदप्रविष्ट परिच्छेद्यमाकारमात्मसात्कुर्वन्न चाप्रविष्ट जानाति पश्यति च । एवमात्माप्यक्षातीतत्वात्प्राप्यकारिताविचारगोचरदूरतामवाप्तो ज्ञेयतामापन्नानि समस्तवस्तूनि स्वप्रदेशैरसंस्पृशन्न प्रविष्टः शक्तिवैचित्र्यवशतो वस्तुवर्तिनः समस्तज्ञेयाकारानुन्मूल्य इव कवलयन्न चाप्रविष्टो जानाति पश्यति च । एवमस्य विचित्रशक्तियोगिनो ज्ञानिनोऽर्थेष्वप्रवेश इव प्रवेशोऽपि सिद्धिमवतरति ॥२९॥

व्यवहारेण प्रविष्ट इव प्रतिभातीति शक्तिवैचित्र्य दर्शयति—**ण पविट्ठो** निश्चयनयेन न प्रविष्ट, **णाविट्ठो** व्यवहारेण च नाप्रविष्ट, किंतु प्रविष्ट एव । स क कर्ता । **णाणी** ज्ञानी । केषु मध्ये । **णेयेसु** ज्ञेयपदार्थेषु । किमिव । **रूवमिव चक्खू** रूपविषये चक्षुरिव । एवभूतः सन् । किं करोति । **जाणदि पस्सदि** जानाति पश्यति च **णियदं** निश्चित सशयरहित तम् । किंविशिष्ट सन् । **अक्खातीदो** अक्षातीत । किं जानाति पश्यति । **जगमसेस** जगदशेषमिति । तथाहि—यथा लोचनं कर्तृ रूपिद्रव्याणि यद्यपि निश्चयेन न स्पृशति तथापि व्यवहारेण स्पृशतीति प्रतिभाति लोके । तथायमात्मा मिथ्यात्वरागाद्यास्रवाणामात्मनश्च सबन्धि यत्केवलज्ञानात्पूर्वं विशिष्टभेदज्ञान तेनोत्पन्न यत्केवलज्ञानदर्शनद्वय तेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थान्निश्चयेनास्पृशन्नपि व्यवहारेण स्पृशति, तथा स्पृशन्निव ज्ञानेन जानाति दर्शनेन पश्यति च । कथभूत सन् । अतीन्द्रियसुखास्वादपरिणत सन्नक्षा-

---

विचित्रता दिखलाते हैं—[**अक्षातीतः**] इन्द्रियोसे रहित अर्थात् अनत अतीन्द्रियज्ञान सहित [**ज्ञानी**] आत्मा [**ज्ञेयेषु**] जानने योग्य अन्य पदार्थोंमे [**प्रविष्टः न**] पैठता नही है, और [**अविष्टः न**] नही पैठता ऐसा भी नही, अर्थात् व्यवहार कर पैठासा भी है । वह [**रूप**] रूपी पदार्थोंको [**चक्षुरिव**] नेत्रोकी तरह [**अशेषं जगत्**] सब संसारको [**नियत**] निश्चित अर्थात् ज्योका त्यो [**जानाति**] जानता है, और [**पश्यति**] देखता है । **भावार्थ**—अनन्त अतीन्द्रिय ज्ञानसहित आत्मा निश्चयनयसे ज्ञेयपदार्थोंमे प्रवेश नही करता है, परन्तु एकान्तसे सर्वथा ऐसा ही नही है, व्यवहारसे वह ज्ञेयपदार्थोंमे प्रवेश भी करता है, और जैसे-नेत्र अपने प्रदेशोसे रूपीपदार्थोंका स्पर्श नही करता, तथा रूपी पदार्थोंका भी उस (नेत्र) मे प्रवेश नही होता, केवल उन्हे जानता तथा देखता है । परतु व्यवहारसे 'उन पदार्थोंमे दृष्टि है' ऐसा कहते है । इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञेय पदार्थोंमे निश्चयनयसे यद्यपि प्रवेश नही करता है, तो भी ज्ञायकशक्ति उसमे कोई ऐसी विचित्र है । इस कारण व्यवहारनयसे उसका ज्ञेयपदार्थोंमे प्रवेश भी कहा जाता है ॥ २९ ॥ आगे व्यवहारसे आत्मा ज्ञेयपदार्थोंमे

अथैव ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति संभावयति—

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥३०॥

रत्नमिहेन्द्रनीलं दुग्धाध्युषितं यथा स्वभासा ।
अभिभूय तदपि दुग्धं वर्तते तथा ज्ञानमर्थेषु ॥३०॥

यथा किलेन्द्रनीलरत्नं दुग्धमधिवसत्स्वप्रभाभारेण तदभिभूय वर्तमानं दृष्टं, तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्नं करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन कारणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते ॥३०॥

तीत इति । ततो ज्ञायते निश्चयेनाप्रवेश इव व्यवहारेण ज्ञेयपदार्थेषु प्रवेशोऽपि घटत इति ॥ २९ ॥ अथ तमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण दृढयति—**रयणमिह** रत्नमिह जगति । किं नाम । **इंदणील** इन्द्रनीलसंज्ञम् । किंविशिष्टम् । **दुद्धज्झसियं** दुग्धे निक्षिप्तं **जहा** यथा **सभासाए** स्वकीयप्रभया **अभिभूय** तिरस्कृत्य । किम् । **तं पि दुद्धं** तत्पूर्वोक्तं दुग्धमपि **वट्टदि** वर्तते । इति दृष्टान्तो गतः । **तह णाणमट्ठेसु** तथा ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति । तद्यथा—यथेन्द्रनीलरत्नं कर्तृ स्वकीयनीलप्रभया करणभूतया दुग्धं नीलं कृत्वा वर्तते, तथा निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमसामायिकसंयमेन यदुत्पन्नं केवलज्ञानं तत् स्वपरपरिच्छित्तिसामर्थ्येन समस्ताज्ञानान्धकारं तिरस्कृत्य युगपदेव सर्वपदार्थेषु परिच्छित्त्याकारेण वर्तते । अयमत्र भावार्थः—कारणभूतानां सर्वपदार्थानां कार्यभूताः परिच्छित्त्याकारा उपचारेणार्था भण्यन्ते, तेषु च ज्ञानं वर्तत इति भण्यमानेऽपि व्यवहारेण दोषो नास्तीति ॥ ३० ॥ अत्र पूर्वसूत्रेण

प्रवेश करता है, यह बात दृष्टान्तसे फिर पुष्ट करते हैं—[इह] इस लोकमें [यथा] जैसे [दुग्धाध्युषितं] दूधमें डुबाया हुआ [इन्द्रनील रत्नं] प्रधान नीलमणि [स्वभासा] अपनी दीप्तिसे [तद्दुग्धं] उस दूधको [अपि] भी [अभिभूय] दूर करके अर्थात् अपनासा नीलवर्ण करके [वर्तते] वर्तता है । [तथा] उसी प्रकार [अर्थेषु] ज्ञेयपदार्थोंमें [ज्ञानं केवलज्ञान प्रवर्तता है । **भावार्थ**—यदि दूधसे भरे हुए किसी एक बर्तनमें प्रधान नीला रत्न डाल दें, तो उस बर्तनका सब दूध नीलवर्ण दिखलाई देगा । क्योंकि उस नीलमणिमें ऐसी एक शक्ति है, कि जिसकी प्रभासे वह सारे दूधको नीला कर देता है । इस क्रियामें यद्यपि निश्चयसे नीलमणि आपमें ही है, परन्तु प्रकाशकी विचित्रताके कारण व्यवहारनयसे उसको सब दूधमें व्याप्त कहते हैं ठीक ऐसी ही ज्ञान और ज्ञेयों (पदार्थों) की दशा (हालत) है, अर्थात् निश्चयनयसे ज्ञान आत्मामें ही है, परन्तु व्यवहारनयसे ज्ञेयमें भी कहते हैं । जैसे दर्पणमें घटपटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, और दर्पण अपनी स्वच्छतारूप शक्तिसे उन पदार्थोंके आकार हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानमें पदार्थ झलकते हैं, और अपनी स्वच्छतारूप ज्ञायकशक्तिसे वह ज्ञेयाकार होजाता है, अतएव व्यवहारसे ज्ञान पदार्थोंमें है, ऐसा कहते हैं ॥३०॥

अथैवमर्था ज्ञाने वर्तन्त इति संभावयति—

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥३१॥

यदि ते न सन्त्यर्था ज्ञाने ज्ञानं न भवति सर्वगतम् ।
सर्वगतं वा ज्ञानं कथं न ज्ञानस्थिता अर्था ॥३१॥

यदि खलु निखिलात्मीयज्ञेयाकारसमर्पणद्वारेणावतीर्णाः सर्वेऽर्था न प्रतिभान्ति ज्ञाने तदा तन्न सर्वगतमभ्युपगम्यते । अभ्युगम्येत वा सर्वगतम् । तर्हि साक्षात् संवेदनमुकुरुन्दभूमिकावतीर्णप्रतिबिम्ब [बिम्बि] स्थानीयस्वीयस्वीयसंवेद्याकारकारणानि, परंपरया प्रतिबिम्बस्थानीयसंवेद्याकारकारणानीति कथं न ज्ञानस्थायिनोऽर्था निश्चीयन्ते ॥३१॥

अथैव ज्ञानिनोऽर्थैः सहान्योन्यवृत्तिमत्त्वेऽपि परग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावेन सर्वं पश्यतोऽध्यवस्यतश्चात्यन्तविविक्तत्वं भावयति—

भणित ज्ञानमर्थेषु वर्तते व्यवहारेणात्र पुनरर्था ज्ञाने वर्तन्त इत्युपदिशन्ति—**जइ** यदि चेत् **ते अट्ठा ण सति** ते पदार्था स्वकीयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेणादर्शे विम्ववन्न सन्ति यदि चेत् । क्व । **णाणे** केवलज्ञाने **णाणं ण होदि सव्वगयं** तदा ज्ञान सर्वगत न भवति । **सव्वगयं वा णाणं** व्यवहारेण सर्वगत ज्ञान समत चेद्भवता **कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा** तर्हि व्यवहारनयेन स्वकीयज्ञेयाकारपरिच्छित्तिसमर्पणद्वारेण ज्ञानस्थिता अर्था कथ न भवन्ति किंतु भवन्त्येव । अत्रायमभिप्राय — यत एव व्यवहारेण ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारग्रहणद्वारेण ज्ञान सर्वगत भण्यते, तस्मादेव ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेण पदार्था अपि व्यवहारेण ज्ञानगता भण्यन्त इति ॥ ३१ ॥ अथ ज्ञानिनः पदार्थैं सह यद्यपि व्यवहारेण ग्राह्यग्राहकसबन्धोऽस्ति तथापि सश्लेषादिसबन्धो नास्ति, तेन कारणेन ज्ञेय-

---

आगे जैसे ज्ञेयमे ज्ञान है, वैसे ही व्यवहारमे ज्ञानसे ज्ञेय (पदार्थ) है, ऐसा कहते है—[**यदि**] जो [**ते अर्था**] वे ज्ञेयपदार्थ [**ज्ञाने**] केवलज्ञानमे [**न सन्ति**] नही होवें, [**तदा**] तो [**सर्वगतं ज्ञान**] सब पदार्थोमे प्राप्त होनेवाला ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान ही [**न भवति**] नही होवे, और [**वा**] जो [**सर्वगत ज्ञान**] केवलज्ञान है, ऐसा मानो, तो [**अर्थाः**] पदार्थ [**ज्ञानस्थिता**] ज्ञानमे स्थित है, (मौजूद हैं) ऐसा [**कथं न**] क्यो न होवे ? अवश्य ही होवे । **भावार्थ**—यदि ज्ञानमे सब ज्ञेयोके आकार 'दर्पणमे प्रतिबिम्ब की तरह' नही प्रतिभासें, तो ज्ञान सर्वगत ही नही ठहरे, क्योकि जब आरसीमे स्वच्छपना हैं, तब घटपटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी समय आरसी भी सबके आकार होजाती है । इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयको तब जानता है, जब अपनी ज्ञायकशक्तिसे सब पदार्थोके आकार होजाता है, और जब सब पदार्थोके आकार हुआ, तो सब पदार्थ इस ज्ञानमे स्थित क्यो न कहे जायँगे ? व्यवहारसे अवश्य ही कहे जायँगे । इससे यह सिद्ध हुआ, कि ज्ञान और पदार्थ दोनो ही एक दूसरेमे मौजूद है ॥ ३१ ॥

गेण्हदि णेव ण मुञ्चदि ण परं परिणमदि केवली भगवं ।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥३२॥

गृह्णाति नैव न मुञ्चति न पर परिणमति केवली भगवान् ।
पश्यति समन्तत स जानाति सर्वं निरवशेषम् ॥३२॥

अथ खल्वात्मा स्वभावत एव परद्रव्यग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावात्स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानस्वरूपेण विपरिणम्य निष्कम्पोन्मज्जज्ज्योतिर्जात्यमणिकल्पो भूत्वाऽवतिष्ठमानः समन्ततः स्फुरितदर्शनज्ञानशक्तिः, समस्तमेव निःशेषतयात्मानमात्मनात्मनि सचेतयते । अथवा युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षलक्षणक्रियाविरामः प्रथममेव समस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतत्वात् पुनः परमाकारान्तरमपरिणममानः समन्तोऽपि विश्वमशेषं पश्यति जानाति च विविक्तत्व एव॥३२॥

पदार्थैः सह भिन्नत्वमेवेति प्रतिपादयति—**गेण्हदि णेव ण मुचदि** गृह्णाति नैव मुञ्चति नैव **ण परं परिणमदि** पर परद्रव्य ज्ञेयपदार्थ नैव परिणमति । स क कर्ता । **केवली भगवं** केवली भगवान् सर्वज्ञ । ततो ज्ञायते परद्रव्येण सह भिन्नत्वमेव । तर्हि किं परद्रव्य न जानाति । **पेच्छदि समतदो सो जाणदि सव्व णिरवसेसं** तथापि व्यवहारनयेन पश्यति समन्तत सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्जानाति च सर्वं निरवशेषम् । अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—अभ्यन्तरे कामक्रोधादि वहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिकं बहिर्द्रव्य न गृह्णाति, स्वकीयानन्तज्ञानादिचतुष्टय च न मुञ्चति यतस्तत कारणादयं जीव केवलज्ञानोत्पत्तिक्षण एव युगपत्सर्वं जानन्सन् पर विकल्पान्तर न परिणमति । तथाभूत सन् किं करोति । स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानज्योतिषा जात्यमणिकल्पो निःकम्पचैतन्यप्रकाशो भूत्वा स्वात्मान स्वात्मना स्वात्मनि जानात्यनुभवति । तेनापि कारणेन परद्रव्यै सह भिन्नत्वमेवेत्यभिप्राय ॥३२॥

आगे आत्मा और पदार्थोंका उपचारसे यद्यपि आपसमे ज्ञेयज्ञायक सबध है, तो भी निश्चयनयसे परमपदार्थके ग्रहण तथा त्यागरूप परिणामके अभावसे सब पदार्थोंको देखने जाननेपर भी अत्यत पृथक्पना है, ऐसा दिखाते हैं—[**केवली भगवान्**] केवलज्ञानी सर्वज्ञदेव [**परं**] ज्ञेयभूत परपदार्थोंको [**नैव**] निश्चयसे न तो [**गृहणाति**] ग्रहण करते हैं, [**न मुञ्चति**] न छोडते हैं, और [**न परिणमति**] न परिणमन करते हैं, [**सः**] वे केवली भगवान् [**सर्वं**] सब [**निरवशेषं**] कुछ भी बाकी नही ऐसे ज्ञेग पदार्थोंको [**समन्तत**] सर्वांग ही [**पश्यति**] देखते हैं, और [**जानाति**] जानते हैं । **भावार्थ**—जब यह आत्मा केवलज्ञानस्वरूप परिणमन करता है, तब इसके निष्कप ज्ञानरूपी ज्योति प्रगट होती है, जो कि उज्जवल रत्नके अडोल प्रकाशके समान स्थिर रहती है। वह केवलज्ञानी पर ज्ञेय पदार्थोंको न ग्रहण करता है, न छोडता है, और न उनके रूप परिणमन करता है । अपने स्वरूपमे आप अपनेको ही वेदता है (अनुभव करता है), परद्रव्योसे स्वभावसे ही उदासीन है । जैसे दर्पणकी इच्छाके विना ही दर्पणमे घट पट वगैर पदार्थ प्रतिबिम्बित होते है। उसी प्रकार जानने की इच्छा बिना ही केवलज्ञानीके ज्ञानमे त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते है । इस कारण व्यवहारसे ज्ञाता द्रष्टा है । इससे यह सिद्ध हुआ, कि यह ज्ञाता

अथ केवलज्ञानिश्रुतज्ञानिनोरविशेषदर्शनेन विशेषाकांक्षाक्षोभं क्षपयति—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥३३॥

यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन ।
त श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकरा ॥३३॥

यथा भगवान् युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यविशेषशालिना केवलज्ञानेनानादिनिधन-निष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवल-स्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् केवली, तथायं जनोऽपि क्रमपरिणममाणकतिपय-

---

एव ज्ञान ज्ञेयरूपेण न परिणमतीत्यादिव्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापञ्चक गतम् । अथ यथा निरावरणसकलव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानेनात्मपरिज्ञानं भवति तथा सावरणैकदेशव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन स्वसवेदनज्ञानरूपभावश्रुतेनाप्यात्मपरिज्ञान भवतीति निश्चिनोति । अथवा द्वितीयपातनिका—यथा केवलज्ञान प्रमाण भवति तथा केवलज्ञानप्रणीतपदार्थप्रकाशक श्रुतज्ञानमपि परोक्षप्रमाण भवतीति पातनिकाद्वय मनसि धृत्वा सूत्रमिद प्रतिपादयति—**जो** य कर्ता **हि** स्फुट **सुदेण** निर्विकारस्वसवित्तिरूपभावश्रुतपरिणामेन **विजाणदि** विजानाति विशेषेण जानाति विषयसुखानन्दविलक्षणनिजशुद्धात्मभावनोत्थपरमानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादेनानुभवति । कम् । **अप्पाणं** निजात्मद्रव्यम् । कथभूतम् । **जाणगं** ज्ञायक केवलज्ञानस्वरूपम् । केन कृत्वा । **सहावेण** समस्तविभावरहितस्वस्वभावेन **तं सुयकेवलिं** त महायोगीन्द्र श्रुतकेवलिन **भणंति** कथयन्ति । के कर्तार. । **इसिणो** ऋषय । किंविशिष्टा । **लोयप्पदीवयरा** लोकप्रदीपकरा लोकप्रकाशका इति । **अतो** विस्तर —युगपत्परिणतसमस्त चैतन्यशालिना केवलज्ञानेन अनाद्यनन्तनि कारणान्यद्रव्यसाधारण-स्वसवेद्यमानपरमचैतन्यसामान्यलक्षणस्य परद्रव्यरहितत्वेन केवलस्यात्मन आत्मानि स्वानुभव-नाद्यथा भगवान् केवली भवति, तथाय गणधरदेवादिनिश्चयरत्नत्रयाराधकजनोऽपि पूर्वोक्त-

---

आत्मा परद्रव्योसे अत्यन्त (बिलकुल) जुदा ही है, व्यवहारसे ज्ञेय ज्ञायक सवध है ॥ ३२ ॥ आगे केवलज्ञानसे ही आत्मा जाना जाता है, अन्य ज्ञानसे क्या नही जाना जाता ? इसके उत्तरमे केवल-ज्ञानी और श्रुतकेवली इन दोनोको बराबर दिखाते है-[**य**·] जो पुरुष [हि] निश्चयसे [**श्रुतेन**] भाव-श्रुतज्ञानसे [**स्वभावेन ज्ञायकं**] अपने ही सहज स्वभावसे सबको जाननेवाले [**आत्मानं**] आत्माको अर्थात् अपने निजस्वरूपको [**विजानाति**] विशेषतासे जानता है [**त**] उस भावश्रुतज्ञानीको [**लोक-प्रदीपकरा.**] समस्तलोकके उद्योत करनेवाले [**ऋषय**]श्रीवीतरागदेव [**श्रुतकेवलिनं**] श्रुतकेवली [**भणन्ति**] कहते है । **भावार्थ**—जिस प्रकार केवलज्ञानी एक ही कालमे अनन्त चैतन्यशक्तियुक्त केवलज्ञानसे अनादि अनंत, कारण रहित, असाधारण, स्वसवेदन ज्ञानकी महिमाकर सहित, केवल आत्माको अपनेमे आप वेदता है, उसी प्रकार यह सम्यग्दृष्टि भी कितनी एक क्रमवर्ती चैतन्य-शक्तियो सहित श्रुतज्ञानसे केवल आत्माको आपमे आपसे वेदता है, इस कारण इसे श्रुतकेवली कहते

चैतन्यविशेषशालिना श्रुतज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंवेद्य[संचेत्य]मान-चैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि सचेतनात् श्रुतकेवली । अलं विशेषाकाङ्क्षाक्षोभेण, स्वरूपनिश्चलैरेवावस्थीयते ॥३३॥

अथ ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदमुदस्यति--

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं ।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥

सूत्रं जिनोपदिष्टं पुद्गलद्रव्यात्मकैर्वचनैः ।
तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानं सूत्रस्य च ज्ञप्तिर्भणिता ॥ ३४ ॥

श्रुतं हि तावत्सूत्रम् । तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म । तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम् । श्रुतं तु तत्कारणत्वात् ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव । एवं

लक्षणस्यात्मनो भावश्रुतज्ञानेन स्वसंवेदनान्निश्चयश्रुतकेवली भवतीति । किंच--यथा कोऽपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति, रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति । तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्षपर्याये भगवानात्मानं पश्यति । संसारी विवेकीजनः पुनर्निशास्थानीयसंसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिना निजात्मानं पश्यतीति । अयमत्राभिप्रायः--आत्मा परोक्षः, कथं ध्यानं क्रियते इति संदेहं कृत्वा परमात्मभावना न त्याज्येति ॥ ३३ ॥ अथ शब्दरूपं द्रव्यश्रुतं व्यवहारेण ज्ञानं निश्चयेनार्थपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतमेव ज्ञानमिति कथयति । अथवात्मभावनारतो निश्चयश्रुतकेवली भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम् । अयं तु व्यवहारश्रुतकेवलीति कथ्यते--सुत्तं द्रव्यश्रुतम् । कथंभूतम् । जिणोवदिट्ठं जिनोपदिष्टम् । कैः कृत्वा । पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं पुद्गलद्रव्यात्मकैर्दिव्यध्वनिवचनैः । तं जाणणा हि णाणं तेन पूर्वोक्तशब्दश्रुताधारेण ज्ञप्तिरर्थपरिच्छित्तिर्ज्ञानं भण्यते । हि स्फुटम् । सुत्तस्स य जाणणा भणिया पूर्वोक्तद्रव्यश्रुतस्यापि

है । वस्तुके स्वरूप जाननेकी अपेक्षा केवलज्ञानी और श्रुतकेवली दोनो समान हैं । भेद केवल इतना ही है, कि केवलज्ञानी संपूर्ण अनंत ज्ञानशक्तियोंसे वेदता है, श्रुतकेवली कितनी एक शक्तियोंसे वेदता है । ऐसा जानकर जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे अपने स्वरूपको स्वसंवेदन ज्ञानमें वेदते हैं, तथा आपमें निश्चल होकर स्थिर होते हैं, और जैसे कोई पुरुष दिनमें सूर्यके प्रकाशसे देखता है, उसी प्रकार केवलज्ञानी अपने केवलज्ञानसे आपको देखते हैं । तथा जैसे कोई पुरुष रात्रिको दीपकके प्रकाशसे देखता है, उसी प्रकार संसारपर्यायरूप रात्रिमें ये सम्यग्दृष्टि विवेकी भावश्रुतज्ञानरूप दीपकसे अपनेको देखते हैं । इस तरह केवली और श्रुतकेवली समान हैं ॥ ३३ ॥ आगे ज्ञानके श्रुतरूप उपाधिभेदको दूर करते हैं--[**पुद्गलद्रव्यात्मकैः**] पुद्गलद्रव्यस्वरूप [**वचनैः**] वचनोंसे [**जिनोपदिष्टं**] जो जिनभगवान् का उपदेश किया हुआ है, [**सूत्रं**] वह द्रव्यश्रुत है, [**हि**] निश्चयकर [**तद्ज्ञप्तिः**] उस द्रव्यश्रुतका जानना वह [**ज्ञानं**] भावश्रुत ज्ञान है । [**च सूत्रस्य**] और द्रव्यश्रुतको भी [**ज्ञप्तिः**] ज्ञान [**भणिता**] 'व्यवहारसे' कहा है । **भावार्थ**--द्रव्यश्रुत पुद्गलमय है, क्योंकि वह वीतराग भगवानका अनेकान्तरूप वचन है । इस द्रव्यश्रुतको जो ज्ञान

सति सूत्रस्य ज्ञप्तिः श्रुतज्ञानमित्यायाति । अथ सूत्रमुपाधित्वान्नाद्रियते ज्ञप्तिरेवावशिष्यते । सा च केवलिनः श्रुतकेवलिनश्चात्मसंचेतने तुल्यैवेति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदः ॥३४॥

अथात्मज्ञानयोः कर्तृकरणताकृत भेदमपनुदति—

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥३५॥

यो जानाति स ज्ञान न भवति ज्ञानेन ज्ञायक आत्मा ।
ज्ञान परिणमते स्वयमर्था ज्ञानस्थिता. सर्वे ॥३५॥

अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति स एव ज्ञानमन्तर्लीनसाधकतमोष्णत्वशक्तेः स्वतन्त्रस्य जातवेदसो दहनक्रियाप्रसिद्धेरुष्णव्यपदेशवत् । न तु यथा पृथग्वर्तिना दात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा [ज्ञानेन]

व्यवहारेण ज्ञानव्यपदेशो भवति न तु निश्चयेनेति । तथाहि—यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीव. पश्चाद्व्यवहारेण नरनारकादिरूपोऽपि जीवो भण्यते । तथा निश्चयेनाखण्डैकप्रतिभासरूप समस्तवस्तुप्रकाशक ज्ञान भण्यते, पश्चाद्व्यवहारेण मेघपटलावृतादित्यस्यावस्थाविशेषवत्कर्मपटलावृताखण्डैकज्ञानरूपजीवस्य मतिज्ञानश्रुतज्ञानादिव्यपदेशो भवतीति भावार्थ ॥ ३४ ॥ अथ भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञानी न भवतीत्युपदिशति—**जो जाणदि सो णाण** य कर्ता जानाति स ज्ञानं भवतीति । तथाहि—यथा सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि सति पश्चादभेदनयेन दहनक्रियासमर्थोष्णगुणेन परिणतोऽग्निरप्युष्णो भण्यते, तथार्थक्रियापरिच्छित्तिसमर्थेन ज्ञानगुणेन परिणत आत्मापि ज्ञान भण्यते । तथा चोक्तम्—'जानातीति ज्ञानमात्मा' **ण हवदि णाणेण जाणगो आदा** सर्वथैव भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञायको न भवतीति । अथ मतम्-यथा भिन्नदात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा भिन्नज्ञानेन ज्ञायको भवतु को दोष इति । नैवम् । छेदनक्रियाविषये दात्र बहिरङ्गोपकरण तद्भिन्न भवतु, अभ्यन्तरोप-

---

जानता है, उसे निश्चयसे ज्ञान कहते हैं । परन्तु जो द्रव्यश्रुत को ही ज्ञान कहते हैं, सो व्यवहारनयसे ज्ञानके उत्पन्न करनेमे कारणभूत होनेसे अन्नमे प्राणकी तरह कारणमे कार्यका व्यवहार कर कहते हैं, यथार्थमे द्रव्यश्रुतकी ज्ञानसज्ञा नही है, क्योकि वचन जड पुद्गलमयी है, तथा वह ज्ञानको उपाधिरूप है, और ज्ञान जानने मात्र है, उसके कोई उपाधिका काम ही नही है । लेकिन 'श्रुतज्ञान' ऐसा कहनेका कारण यह है, कि कर्मके सयोगसे द्रव्यश्रुतका निमित्त पाकर ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि वस्तुके स्वभावका विचार किया जाय, तो ज्ञान ज्ञानसे ही उत्पन्न होता है, इसीलिये ज्ञानके कोई श्रुत वगैर उपाधि नही है ॥३४॥ आगे कितने ही एकान्तवादी ज्ञानसे आत्माको भिन्न मानते हैं, सो उनके पक्षको दूर करनेके लिये आत्मा कर्त्ता है, ज्ञान कारण है, ऐसा भिन्नपना दूर करके आत्मा और ज्ञानमे अभेद सिद्ध करते हैं—[य] जो आत्मा [जानाति] जानता है, [स] वह [ज्ञानं] ज्ञान है । [ज्ञानेन] ज्ञान गुणसे [ज्ञायक] जाननेवाला [आत्मा] आत्मा अर्थात् चेतनद्रव्य [न भवति]

ज्ञायको भवत्यात्मा । तथा सत्युभयोरचेतनत्वमचेतनयोः संयोगेऽपि न परिच्छित्तिनिष्पत्तिः । पृथक्त्ववर्तिनोरपि परिच्छेदाभ्युपगमे परपरिच्छेदेन परस्य परिच्छित्तिर्भूतिप्रभृतीनां च परिच्छित्तिप्रसूतिरनङ्कुशा स्यात् । किंच–स्वतोव्यतिरिक्तसमस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतं ज्ञानं स्वयं परिणममानस्य कार्यभूतसमस्तज्ञेयाकारकारणीभूताः सर्वेऽर्था ज्ञानवर्तिन एव कथंचिद्भवन्ति, किं ज्ञातृज्ञानविभागक्लेशकल्पनया ॥३५॥

अथ किं ज्ञानं किं ज्ञेयमिति व्यनक्ति—

करणं तु देवदत्तस्य छेदनक्रियाविषये शक्तिविशेषस्तच्चाभिन्नमेव भवति । उपाध्यायप्रकाशादिबहिरङ्गोपकरणं तद्भिन्नमपि भवतु दोषो नास्ति । यदि च भिन्नज्ञानेन ज्ञानी भवति तर्हि परकीयज्ञानेन सर्वेऽपि कुम्भस्तम्भादिजडपदार्था ज्ञानिनो भवन्तु न च तथा । **णाणं परिणमदि सयं** यत एव भिन्नज्ञानेन ज्ञानी न भवति तत एव घटोत्पत्तौ मृत्पिण्ड इव स्वयमेवोपादानरूपेणात्मा ज्ञानं परिणमति । **अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे** व्यवहारेण ज्ञेयपदार्था आदर्शे बिम्बमिव परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने

नहीं होता । [ज्ञानं] ज्ञान [स्वयं] आप ही **[परिणमते]** परिणमन करता है, **[सर्वे अर्थाः]** और सब ज्ञेय पदार्थ **[ज्ञानस्थिताः]** ज्ञानमें स्थित हैं । **भावार्थ—**यद्यपि व्यवहारमें संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादि भेदोंसे ज्ञान और आत्माको वस्तुके समझनेके लिये भिन्न कहते हैं, परन्तु निश्चयमें ज्ञान और आत्मामें भिन्नपना नहीं है, प्रदेशोंसे ज्ञान और आत्मा एक है । इसी कारण ज्ञानभावरूप परिणमता आत्मा ही ज्ञान है । जैसे अग्नि ज्वलनक्रिया करनेका कर्त्ता है, और उष्णगुण ज्वलन क्रियाका कारण है । अग्नि और उष्णपना व्यवहारसे भिन्न है, परन्तु यथार्थमें भिन्न नहीं है, जो अग्नि है, वही उष्णपना है, और इसलिये अग्निको उष्ण भी कहते हैं । इसी प्रकार यह आत्मा जाननेरूप क्रियाका कर्त्ता है, और ज्ञान जानन—क्रियाका साधन है, इसमें व्यवहारसे भिन्नपना (भेद) है, वस्तुतः आत्मा और ज्ञान एक ही है । और जैसे कोई पुरुष लोहेके दाँते (हँसिये) से घासका काटनेवाला कहलाता है, उस तरह आत्मा ज्ञानसे जाननेवाला नहीं कहा जाता, क्योंकि घासका काटनेवाला पुरुष और घास काटनेमें कारण लोहेका दाँता ये दोनों जैसे जुदा जुदा पदार्थ हैं, उसी प्रकार आत्मा और ज्ञानमें जुदापना नहीं है, क्योंकि आत्मा और ज्ञान, अग्नि और उष्णताकी तरह अभिन्न ही देखनेमें आते हैं, जुदे नहीं दीखते, और जो कोई अन्यवादी मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि, आत्मासे ज्ञान भिन्न है, ज्ञानके संयोगसे आत्मा ज्ञायक है । सो उन्हें "आत्मा अचेतन है, ज्ञानके संयोगसे चेतन हो जाता है," ऐसा मानना पड़ेगा । जिससे धूलि, भस्म, घट, पटादि समस्त अचेतन पदार्थ चेतन हो जायँगे, क्योंकि जब ये पदार्थ जाने जाते हैं, तब इन धूलि वगैरः पदार्थोंसे भी ज्ञानका संयोग होता है । इस कारण इस दोषके मेटनेके लिये आत्मा और ज्ञान एक ही मानना चाहिये । और जैसे आरसीमें घटपटादि पदार्थ प्रतिबिम्बरूपसे रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञानमें सब ज्ञेयपदार्थ आ रहते हैं । इससे यह सारांश निकला, कि आत्मा और ज्ञान अभिन्न हैं, अन्यवादियोंकी तरह भिन्न नहीं हैं ॥ ३५ ॥ आगे "ज्ञान क्या है, और ज्ञेय क्या है,"

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं ।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥३६॥

तस्मात् ज्ञानं जीवो ज्ञेयं द्रव्यं त्रिधा समाख्यातम् ।
द्रव्यमिति पुनरात्मा परश्च परिणामसंबद्ध ॥३६॥

यतः परिच्छेदरूपेण स्वयं विपरिणम्य स्वतन्त्र एव परिच्छिनत्ति ततो जीव एव ज्ञानमन्यद्रव्याणां तथा परिणन्तुं परिच्छेत्तु चाशक्तेः । ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणविचित्रपर्यायपरंपराप्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्यं, तत्तु ज्ञेयतामापद्यमानं द्वेधात्मपरविकल्पात् । इष्यते हि स्वपरपरिच्छेदकत्वावबोधस्य बोध्यस्यैवविधं द्वैविध्यम् । ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात् कथं नामात्मपरिच्छेदकत्वम् । का हि नाम

तिष्ठन्तीत्यभिप्राय ॥ ३५ ॥ अथात्मा ज्ञान भवति शेष तु ज्ञेयमित्यावेदयति—**तम्हा णाण जीवो** । यस्मादात्मैवोपादानरूपेण ज्ञान परिणमति तथैव पदार्थान् परिच्छिनत्ति, इति भणित पूर्वसूत्रे । तस्मादात्मैव ज्ञान **णेय दव्व** तस्य ज्ञानरूपस्यात्मनो ज्ञेय भवति । किम् । द्रव्यम् । **तिहा समक्खादं** तच्च द्रव्य कालत्रयपर्यायपरिणतिरूपेण द्रव्यगुणपर्यायरूपेण वा तथैवोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण च त्रिधा समाख्यातम् । **दव्वं ति पुणो आदा परं च** तच्च ज्ञेयभूत द्रव्यमात्मा भवति । परं च । कस्मात् । यतो ज्ञान स्व जानाति पर चेति प्रदीपवत् । तच्च स्वपरद्रव्य कथभूतम् । **परिणामसंबद्धं** कथ-

---

इन दोनोका भेद कहते हैं—[**तस्मात्**] इसी कारणसे [**जीवः**] आत्मा [**ज्ञान**] ज्ञानस्वरूप है, और [**त्रिधा समाख्यात**] अतीत, अनागत, वर्तमान पर्यायके भेदसे अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भेदसे अथवा द्रव्य, गुण, पर्यायसे तीन प्रकार कहलानेवाला [**द्रव्य**] द्रव्य है, [**ज्ञेयं**] वह ज्ञेय है । [**पुन**] फिर [**आत्मा**] जीव पदार्थ [**च**] और [**परं**] अन्य अचेतन पाँच पदार्थ [**परिणामसंबद्धं** परिणमनसे बधे हैं, इसलिए [**द्रव्यमिति**] द्रव्य ऐसे पदको धारण करते हैं **भावार्थ**—पहलेकी गाथा मे कहा है, कि यह आत्मा ज्ञानभावसे आप ही परिणमन करके परकी सहायता विना स्वाधीन जानता है, इसलिये आत्मा ही ज्ञान है । अन्य (दूसरा) द्रव्य ज्ञान भावपरिणमनके जाननेमे असमर्थ है । इसलिये अतीतादि भेदसे, उत्पादादिकसे, द्रव्यगुणपर्यायके भेदसे, तीन प्रकार हुआ द्रव्य ज्ञेय है, अर्थात् आत्माके जानने योग्य है । और आत्मा दीपककी तरह आप तथा पर दोनोका प्रकाशक (ज्ञायक) होनेसे ज्ञेय भी है, ज्ञान भी है, अर्थात् दोनो स्वरूप है । इससे यह साराश निकला, कि ज्ञेय पदार्थ स्वज्ञेय और परज्ञेय (दूसरेसे जानने योग्य) के भेदसे दो प्रकार हैं, उनमे पाँच द्रव्य ज्ञेय ही है, इस कारण परज्ञेय हैं, और आत्मद्रव्य ज्ञेय-ज्ञान दोनो रूप है, इस कारण स्वज्ञेय है । यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि आत्मा अपनेको जानता है, यह बात असभव है । जैसे कि नट-कलामे अत्यत चतुर भी नट आप अपने ही कधेपर नही चढ सकता, उसी प्रकार अन्य पदार्थोंके जाननेमे दक्ष आत्मा आपको नही जान सकता, तो इसका समाधान यह है—कि पहले कहे हुए दीपकके दृष्टातसे आत्मा मे भी स्वपरप्रकाशक शक्ति है इस कारण आत्मा अपनेको तथा परको जाननेवाला अवश्य हो सकता है । इससे असम्भव दोष कभी भी नही लग सकता । अब यहाँपर फिर कोई प्रश्न करे, कि आत्माको द्रव्योका ज्ञान किससे है ? और द्रव्योको किस रीतिसे

क्रिया कीदृशश्च विरोधः। क्रिया ह्यत्र विरोधिनी समुत्पत्तिरूपा वा ज्ञप्तिरूपा वा। उत्पत्तिरूपा हि तावन्नैकं स्वस्मात्प्रजायत इत्यागमाद्विरुद्धैव। ज्ञप्तिरूपायास्तु प्रकाशनक्रिययैव प्रत्यवस्थितत्वान्न तत्र विप्रतिषेधस्यावतारः। यथा हि प्रकाशकस्य प्रदीपस्य परं प्रकाश्यतामापन्नं प्रकाशयतः स्वस्मिन् प्रकाश्ये न प्रकाशान्तरं मृग्यं, स्वयमेव प्रकाशनक्रियायाः समुपलम्भात्। तथा परिच्छेदकस्यात्मनः परं परिच्छेद्यतामापन्नं परिच्छिन्दतः स्वस्मिन् परिच्छेद्ये न परिच्छेदकान्तरं मृग्यं, स्वयमेव परिच्छेदनक्रियायाः समुपलम्भात्। ननु कुत आत्मनो द्रव्यज्ञानरूपत्वं द्रव्याणां च आत्मज्ञेयरूपत्वं च। परिणामसम्बन्धत्वात्। यतः खलु आत्मद्रव्याणि च परिणामैः सह सम्बध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणां तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयाकारेण परिणतिरबाधिता प्रथ्यते [प्रतपति] ॥३६॥

अथातिवाहितानागतानामपि द्रव्यपर्यायाणां तादात्विकवत् पृथक्त्वेन ज्ञाने वृत्तिमुद्द्योतयति—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥

तात्कालिका इव सर्वे सदसद्भूता हि पर्यायास्तासाम्।
वर्तन्ते ते ज्ञाने विशेषतो द्रव्यजातीनाम् ॥३७॥

सर्वासामेव हि द्रव्यजातीनां त्रिसमयावच्छिन्नात्मलाभभूमिकत्वेन क्रमप्रतपत्स्वरूप-

---

चित्परिणामीत्यर्थः। नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात् घटादिवत्। परिहारमाह—प्रदीपेन व्यभिचारः, प्रदीपस्तावत्प्रमेयः परिच्छेद्यो ज्ञेयो भवति न च प्रदीपान्तरेण प्रकाश्यते, तथा ज्ञानमपि स्वयमेवात्मानं प्रकाशयति न च ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते। यदि पुनर्ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते तर्हि गगनावलम्बिनी महती दुर्निवारानवस्था प्राप्नोतीति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥ एवं निश्चयश्रुतकेवलिव्यवहारश्रुतकेवलिकथनमुख्यत्वेन भिन्नज्ञाननिराकरणेन ज्ञानज्ञेयस्वरूपकथनेन च चतुर्थस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्। अथातीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने सांप्रता इव दृश्यन्त इति

प्राप्त होता है? तो उससे कहना चाहिये, कि ज्ञान, ज्ञेयरूप पदार्थ, परिणामोंसे बंध रहे हैं। आत्माके ज्ञानपरिणति ज्ञेय पदार्थकी सहायतासे है। यदि ज्ञेय न होवे, तो किसको जाने? और ज्ञेय पदार्थ ज्ञानका अवलम्बन करके ज्ञेय अवस्थाको धारण करते हैं। जो ज्ञान न होवे, तो इन्हें कौन जाने? इसलिये पदार्थोंका ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध हमेशासे है, मिट नहीं सकता ॥ ३६ ॥ आगे कहते हैं, कि अतीत कालमें हुए द्रव्योंके पर्याय और अनागत (भविष्यत्) कालमें होनेवाले पर्याय, ज्ञानमें वर्तमान सरीखे प्रतिभासते (मालूम पडते) हैं—[**तासां द्रव्यजातीनां**] उन प्रसिद्ध जीवादिक द्रव्य जातियोंके [**ते सर्वे**] वे समस्त [**सदसद्भूता**] विद्यमान तथा अविद्यमान [**पर्यायाः**] पर्याय [**हि**] निश्चयसे [**ज्ञाने**] ज्ञानमें [**विशेषतः**] भिन्न-भिन्न भेद लिये

सपदः सद्भूतासद्भूततामायान्तो ये यावन्तः पर्यायास्ते तावन्तस्तात्कालिका इवात्यन्तसंकरेणाप्यवधारितविशेषलक्षणा एकक्षण एवावबोधसौधस्थितिमवतरन्ति। न खल्वेतदयुक्तम्, दृष्टाविरोधात्। दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयतः संविदालम्बितस्तदाकारः। किंच चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविदः। यथा हि चित्रपट्यामतिवाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि। किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तादात्विकाविरोधात्। यथा हि प्रध्वस्तानामनुदितानामालेख्याकारा वर्तमाना एव, तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा वर्तमाना एव भवन्ति ॥३७॥

अथासद्भूतपर्यायाणां कथंचित्सद्भूतत्वं विदधाति—

निरूपयति—सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया सर्वे सद्भूता असद्भूता अपि पर्याया ये हि स्फुट वट्टंते ते पूर्वोक्ता. पर्याया वर्तन्ते प्रतिभासन्ते प्रतिस्फुरन्ति। क्व। णाणे केवलज्ञाने। कथंभूता इव। तक्कालिगेव तात्कालिका इव वर्तमाना इव। कासा सबन्धिन। तासिं दव्वजादीणं तासा प्रसिद्धाना शुद्धजीवद्रव्यजातीनामिति। व्यवहितसबन्ध कस्मात्। विसेसदो स्वकीयस्वकीयप्रदेशकालाकारविशेषै. संकरव्यतिकरपरिहारेणेत्यर्थ। किंच—यथा छद्मस्थपुरुषस्यातीतानागतपर्याया मनसि चिन्तयत. प्रतिस्फुरन्ति, यथा च चित्रभित्तौ बाहुबलिभरतादिव्यतिक्रान्तरूपाणि श्रेणिकतीर्थकरादिभाविरूपाणि च वर्तमानानीव प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते तथा चित्रभित्तिस्थानीयकेवलज्ञाने भूतभाविनश्च पर्याया युगपत्प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते, नास्ति विरोध। यथाय केवली भगवान् परद्रव्यपर्यायान् परिच्छित्तिमात्रेण जानाति न च तन्मयत्वेन, निश्चयेन तु केवलज्ञानादिगुणाधारभूत स्वकीयसिद्धपर्यायमेव स्वसवित्त्याकारेण तन्मयो भूत्वा परिच्छिनत्ति जानाति, तथासन्नभव्यजीवेनापि निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयपर्याय एव सर्वतात्पर्येण ज्ञातव्य इति तात्पर्यम् ॥ ३७ ॥ अथातीतानागतपर्यायाणामसद्भूतसंज्ञा भवतीति प्रतिपादयति—जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय-

---

[तात्कालिका इव] वर्तमानकाल सबधी पर्यायोकी तरह [वर्तन्ते] प्रवर्तते हैं। भावार्थ—जैसे किसी चित्रकारने (चितेरेने) चित्रपटमे बाहुबली-भरतादि अतीतपुरुषोका चित्र बनाया, और भावीकाल सम्बन्धी श्रेणिकादि तीर्थंकरका चित्र बनाया, सो वे चित्र उस चित्रपटमे वर्तमानकालमे देखे जाते हैं। उसी प्रकार ज्ञान चित्रपटमे जो पर्याय हो चुके, तथा जो आगे होनेवाले है उनका वर्तमान प्रतिबिम्ब भासता है। यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि "वर्तमानकालके ज्ञेयोके आकार ज्ञानमे प्रतिबिम्बित हो सकते हैं, परतु जो हो चुके हैं, तथा जो होनेवाले है, उनका प्रतिभास होना असभव मालूम होता है।" उसका समाधान यह है—कि जब छद्मस्थ ज्ञानो (अल्पज्ञानी) तपस्वी भी योगबलसे वा तपस्याके प्रभावसे ज्ञानमे कुछ निर्मलता होनेसे अतीत अनागत वस्तुका विचार कर लेते हैं, तब उनका ज्ञान अतीत अनागत वस्तुके आकार होजाता है, वहाँपर वस्तु वर्तमान नही है। तैसे निरावरणज्ञानमे (जिसमे किसी तरहका आच्छादन न हो, बिलकुल निर्मल हो ऐसे ज्ञानमे) अतीत अनागत वस्तु प्रतिभासे, तो असभव नही है। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है। स्वभावमे तर्क नही चल सकता ॥३७॥ आगे जो पर्याय वर्तमान पर्याय नही है, उनको किसी प्रकार वर्तमान

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

ये नैव हि संजाता ये खलु नष्टा भूत्वा पर्यायाः ।
ते भवन्ति असद्भूताः पर्याया ज्ञानप्रत्यक्षाः ॥३८॥

ये खलु नाद्यापि संभूतिमनुभवन्ति, ये चात्मलाभमनुभूय विलयमुपगतास्ते किलासद्भूता अपि परिच्छेदं प्रति नियतत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्णभूतभाविदेववदप्रकम्पार्पितस्वरूपाः सद्भूता एव भवन्ति ॥३८॥

अथैतदेवासद्भूतानां ज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढयति—

जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥३९॥

पज्जाया ये नैव संजाता नाद्यापि भवन्ति, भाविन इत्यर्थः । हि स्फुटं ये च खलु नष्टा विनष्टाः पर्यायाः । किं कृत्वा । भूत्वा ते होंति असब्भूदा पज्जाया ते पूर्वोक्ता भूता भाविनश्च पर्याया अविद्यमानत्वादसद्भूता भण्यन्ते । णाणपच्चक्खा ते चाविद्यमानत्वादसद्भूता अपि वर्तमानज्ञानविषयत्वाद्व्यवहारेण भूतार्था भण्यन्ते, तथैव ज्ञानप्रत्यक्षाश्चेति । यथायं भगवान्निश्चयेन परमानन्दैकलक्षणसुखस्वभावं मोक्षपर्यायमेव तन्मयत्वेन परिच्छिनत्ति, परद्रव्यपर्यायं तु व्यवहारेणेति । तथा भावितात्मना पुरुषेण रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवेदनपर्याय एव तात्पर्येण ज्ञातव्यः, बहिर्द्रव्यपर्यायाश्च गौणवृत्त्येति भावार्थः ॥३८॥ अथासद्भूतपर्यायाणां वर्तमानज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढयति—जइ पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ण हवदि वा यदि प्रत्यक्षो न भवति । स कः । अजातपर्यायो भाविपर्यायः ।

दिखलाते हैं—[हि] निश्चय करके [ये पर्यायाः] जो पर्याय [नैव संजाताः] उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, तथा [ये] जो [खलु] निश्चयसे [भूत्वा] उत्पन्न होकर [नष्टाः] नष्ट होगये हैं, [ते] वे सब अतीत अनागत [पर्यायाः] पर्याय [असद्भूताः] वर्तमानकालके गोचर नहीं [भवन्ति] होते हैं, तो भी [ज्ञानप्रत्यक्षाः] केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं । **भावार्थ**—जो उत्पन्न नहीं हुए, ऐसे अनागत अर्थात् भविष्यत्कालके और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गये, ऐसे अतीतकालके पर्यायोंको असद्भूत कहते हैं, क्योंकि वे वर्तमान नहीं हैं । परंतु ज्ञानकी अपेक्षा ये ही दोनों पर्याय सद्भूत भी हैं, क्योंकि केवलज्ञानमें प्रतिबिम्बित हैं । और जैसे भूत-भविष्यतकालके चौबीस तीर्थंकरोंके आकार पाषाण (पत्थर) के स्तंभ (खंभा) में चित्रित रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञानमें अतीत अनागत ज्ञेयोंके आकार प्रतिबिम्बित होकर वर्तमान होते हैं ॥३८॥ आगे असद्भूतपर्यायें ज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं, इसीको पुष्ट करते हैं—[यदि वा] और जो [ज्ञानस्य] केवलज्ञानके [अजातः पर्यायः] अनागत पर्याय [च] तथा [प्रलयितः] अतीत पर्याय [प्रत्यक्षः] अनुभवगोचर [न भवति] नहीं होते, [तदा] तो [तत् ज्ञानं] उस ज्ञानको [दिव्यं] सबसे

यदि प्रत्यक्षोऽजात पर्याय प्रलयितश्च ज्ञानस्य ।
न भवति वा तत् ज्ञान दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति ।। ३९ ।।

यदि खल्वसंभावितभावं सभावितभावं च पर्यायजातमप्रतिघविजृम्भिताखण्डितप्रतापप्रभुशक्तितया प्रसभेनैव नितान्तमाक्रम्याक्रमसमर्पितस्वरूपसर्वस्वमात्मानं प्रतिनियतं ज्ञानं न करोति, तदा तस्य कुतस्तनी दिव्यता स्यात् । अतः काष्ठाप्राप्तस्य परिच्छेदस्य सर्वमेतदुपपन्नम् ।।३९।।

अथेन्द्रियज्ञानस्यैवं प्रलीनमनुत्पन्नं च ज्ञातुमशक्यमिति वितर्कयति—

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ।।४०।।

अर्थमक्षनिपतितमीहापूर्वै ये विजानन्ति ।
तेषा परोक्षभूत ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तम् ।।४०।।

ये खलु विषयविषयिसंनिपातलक्षणमिन्द्रियार्थसंनिकर्षमधिगम्य क्रमोपजायमानेनेहादिकप्रक्रमेण परिच्छिन्दन्ति, ते किलातिवाहितस्वास्तित्वमनुपस्थितस्वास्तित्वकालं

न केवल भाविपर्याय प्रलयितश्च वा । कस्य । ज्ञानस्य । **तं णाण दिव्व ति हि के परूवेंति** तत् ज्ञानं दिव्यमिति के प्ररूपयन्ति, न केऽपीति । तथाहि—यदि वर्तमानपर्यायवदतीतानागतपर्यायं ज्ञान कर्तृ क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन साक्षात्प्रत्यक्ष न करोति, तर्हि तत् ज्ञान दिव्य न भवति । वस्तुतस्तु ज्ञानमेव न भवतीति । यथाय केवली परकीयद्रव्यपर्यायान् यद्यपि परिच्छित्तिमात्रेण जानाति तथापि निश्चयनयेन सहजानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि तन्मयत्वेन परिच्छित्तिं करोति, तथा निर्मलविवेकिजनोऽपि यद्यपि व्यवहारेण परकीयद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञान करोति, तथापि निश्चयेन निर्विकारस्वसवेदनपर्याये विषयत्वात्पर्यायेण परिज्ञान करोतीति सूत्रतात्पर्यम् ।।३९।। अथातीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थानिन्द्रियज्ञान न जानातीति विचारयति **अत्थ** पदार्थं **अक्खणिवदिद** इन्द्रियगोचर **ईहापुव्वेहि जे विजाणति** ईहापूर्वक ये विजानन्ति । **तेसिं परोक्खभूदं** तेषा सम्बन्धि ज्ञान परोक्षभूत सत् **णादुम-**

उत्कृष्ट अर्थात् स्तुति करने योग्य [हि] निश्चय करके [**के प्ररूपयन्ति**] कौन कहता है ? कोई भी नही । **भावार्थ**—जो ज्ञान भूत भविष्यत् पर्यायोको नही जाने, तो फिर उस ज्ञानको महिमा ही क्या रहे ? कुछ भी नही । ज्ञानको प्रशसा तो यही है, कि वह सबको प्रत्यक्ष जानता है । इसलिए भगवान्‌के दिव्यज्ञानमे तीनो कालकी समस्त द्रव्यपर्याय एक ही बार प्रत्यक्ष प्रतिभासित होती है, इसमे कुछ भी सन्देह नही है । अनत महिमा सहित सर्वज्ञका ज्ञान ऐसा ही आश्चर्य करनेवाला है ।।३९।। आगे इन्द्रियजनित ज्ञान अतीत अनागत पर्यायोके जाननेमे असमर्थ है, ऐसा कहते हैं—[**ये**] जो जीव [**अक्षनिपतित**] इन्द्रिय गोचर हुए [**अर्थ**] घट पटादि पदार्थोको [**ईहापूर्वै**.] ईहा है पूर्वमे जिनके ऐसे ईहा, अवाय, धारणा इन मतिज्ञानोसे [**विजानन्ति**] जानते हैं, [**तेषा**] उन जीवोके [**परोक्षभूतं**] अतीत अनागतकाल सबधी परोक्ष वस्तु [**ज्ञातुम्**] जाननेको [**अशक्यं**] असमर्थपना है, [**इति**] इस

वा यथोदितलक्षणस्य ग्राह्यग्राहकसंवन्धस्यासंभवतः परिच्छेत्तुं न शक्नुवन्ति ॥४०॥

अथातीन्द्रियज्ञानस्य तु यद्यदुच्यते तत्तत्संभवतीति संभावयति—

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं ।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥४१॥

अप्रदेश सप्रदेशं मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम् ।
प्रलय गत च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रिय भणितम् ॥४१॥

इन्द्रियज्ञान नाम उपदेशान्तःकरणेन्द्रियादीनि विरूपकारणत्वेनोपलब्धिसंस्कारादीन् अन्तरङ्गसरूपकारणत्वेनोपादाय प्रवर्तते । प्रवर्तमान च सप्रदेशमेवाध्यवस्यति स्थूलोपलम्भकत्वान्नाप्रदेशम् । मूर्तमेवावगच्छति तथाविधविषयनिवन्धनसद्भावान्ना-

---

सवक ति पण्णत्त सूक्ष्मादिपदार्थान् ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्त कथितम् । कै । ज्ञानिभिरिति । तद्यथा—चक्षुरादीन्द्रिय घटपटादिपदार्थपार्श्वे गत्वा पश्चादर्थं जानातीति सनिकर्षलक्षण नैयायिकमते । अथवा सक्षेपेणेन्द्रियार्थयो सवध सनिकर्ष स एव प्रमाणम् । स च सनिकर्ष आकाशाद्यमूर्तपदार्थेषु देशान्तरितमेर्वादिपदार्थेषु कालान्तरितरामरावणादिषु स्वभावान्तरितभूतादिषु तथैवातिसूक्ष्मेषु परचेतोवृत्तिपुद्गलपरमाण्वादिषु च न प्रवर्तते । कस्मादिति चेत्, इन्द्रियाणा स्थूलविषयत्वात्, तथैव मूर्तविषयत्वाच्च । तन कारणादिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवति । तत एव चातीन्द्रियज्ञानोत्पत्तिकारणं रागादिविकल्परहित स्वसवेदनज्ञान विहाय पञ्चेन्द्रियसुखसाधनीभूय इन्द्रियज्ञाने नानामनोरथविकल्पजालरूपे मानसज्ञाने च ये रतिं कुर्वन्ति ते सर्वज्ञपद न लभन्ते इति सूत्राभिप्राय ॥४०॥ अथातीन्द्रियज्ञानमतीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थान् जानातीत्युपदिशति—**अपदेस** अप्रदेश कालाणुपरमाण्वादि **सपदेस** शुद्धजीवास्तिकायादिपञ्चास्तिकायस्वरूप **मुत्त** मूर्तं पुद्गलद्रव्य **अमुत्तं च** अमूर्तं च शुद्धजीवद्रव्यादि **पज्जयमजाद पलयगय च** पर्यायमजात भाविन प्रलय गत चातीतमेतत्सर्वं

प्रकार [प्रज्ञप्त] सर्वज्ञदेवने कहा है । **भावार्थ**—जितने मतिज्ञानी जीव है, उन सबके पहले तो इद्रिय और पदार्थका सबध होता है, पीछे अवग्रह ईहादि भेदोंसे पदार्थका निश्चय होता है । इसलिये अतीत अनागतकाल सवधी वस्तुए उनके ज्ञानमे नही झलकती, क्योकि उन वस्तुओंसे इद्रियका सयोग नही होता । इनके सिवाय वर्तमानकाल संवधी भी जो सूक्ष्म परमाणु आदि हैं, तथा स्वर्ग मेरु आदि दूरवर्ती और अनेक अमूर्तीक पदार्थ हैं, उनको इन्द्रिय सयोग न होनेके कारण मतिज्ञानी नही जान सकता । इन्द्रियज्ञानसे स्थूल घटपटादि पदार्थ जाने जाते है, इसलिये इन्द्रियज्ञान परोक्ष है—हीन है—हेय है केवलज्ञानकी तरह सर्वप्रत्यक्ष नही है ॥४०॥ आगे अतीन्द्रियज्ञान सबको जानता है, ऐसा कहते हैं—**[यत्]** जो ज्ञान **[अप्रदेश]** प्रदेश रहित कालाणु तथा परमाणुओंको, **[सप्रदेश]** प्रदेश सहितको अर्थात् पचास्तिकायोको **[मूर्तं]** पुद्गलोको **[च]** और **[अमूर्तं]** शुद्ध जीवादिक द्रव्योको **[अजात पर्याय]** अनागत पर्यायोको [च] और **[प्रलयं गत]** अतीत पर्यायोको **[जानाति]** जानता है **[तत् ज्ञान]** उस ज्ञानको **[अतीन्द्रिय]** अतीन्द्रिय **[भणित]** कहा है ॥ **भावार्थ**—

मूर्तम् । वर्तमानमेव परिच्छिनत्ति विषयविषयिसंनिपातसद्भावान्न तु वृत्तं वर्त्स्यच्च । यत्तु पुनरनावरणमनिन्द्रियं ज्ञानं तस्य समिद्धधूमध्वजस्येवानेकप्रकारतालिङ्गितं दाह्यं दाह्यतानतिक्रमाद्दाह्यमेव यथा तथात्मनः अप्रदेश सप्रदेशं मूर्तममूर्तमजातमतिवाहित च पर्यायजात ज्ञेयतानतिक्रमात्परिच्छेद्यमेव भवतीति ॥४१॥

अथ ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया ज्ञानान्न भवति श्रद्दधाति—

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥४२॥

परिणमति ज्ञेयमर्थं ज्ञाता यदि नैव क्षायिकं तस्य ।
ज्ञानमिति तं जिनेन्द्राः क्षपयन्तं कर्मैवोक्तवन्तः ॥४२॥

परिच्छेत्ता हि यत्परिच्छेद्यमर्थं परिणमति तन्न तस्य सकलकर्मकक्षक्षयप्रवृत्तस्वा-

---

पूर्वोक्त ज्ञेयं वस्तु जाणादि जानाति यत् ज्ञान कर्तृ **त णाणमदिंदिय भणियं** तत् ज्ञानमतीन्द्रिय भणितं तेनैव सर्वज्ञो भवति । तत एव च पूर्वगाथोदितमिन्द्रियज्ञान मानसज्ञान च त्यक्त्वा ये निर्विकल्प-समाधिरूपस्वसवेदनज्ञाने समस्तविभावपरिणामत्यागेन रतिं कुर्वन्ति त एव परमाह्लादैकलक्षण-सुखस्वभाव सर्वज्ञपद लभन्ते इत्यभिप्राय ॥ ४१ ॥ एवमतीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने प्रत्यक्षा न भवन्तीति बौद्धमतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रय, तदनन्तरमिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवत्यतीन्द्रिय-ज्ञानेन भवतीति नैयायिकमतानुसारिशिष्यसबोधनार्थं च गाथाद्वयमिति समुदायेन पञ्चमस्थले गाथापञ्चक गतम् ॥ अथ रागद्वेषमोहाः बन्धकारण, न च ज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापञ्चक-पर्यन्त व्याख्यान करोति । तद्यथा–यस्येष्टानिष्टविकल्परूपेण कर्मबन्धकारणभूतेन ज्ञेयविषये परि-णमनमस्ति तस्य क्षायिकज्ञान नास्तीत्यावेदयति—**परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि** नोलमिद पीत-मिदमित्यादिविकल्परूपेण यदि ज्ञेयार्थं परिणमति ज्ञातात्मा **णेव खाइगं तस्स णाण ति** तस्यात्मन

अतीन्द्रियज्ञान सबको जानता है, इसलिये अतीन्द्रियज्ञानीको ही सर्वज्ञ पद है । जो इन्द्रियज्ञानसे सर्वज्ञ मानते हैं, वे प्रत्यक्ष मिथ्या बोलते है । क्योकि जो पदार्थ वर्तमान होवे, मूर्तीक स्थूल प्रदेश सहित होवे, तथा निकट होवे, उसीको इन्द्रियज्ञान क्रमसे कुछेक जान सकता है । अप्रदेशी, अमूर्तीक तथा अतीत अनागतकाल सबंधी जो पदार्थ हैं, उनको नही जान सकता । ऐसे ज्ञानसे सर्वज्ञ पदवी कहाँसे मिल सकती है ? कहीसे भी नही ॥ ४१ ॥ आगे अतीन्द्रियज्ञानमे इष्ट अनिष्ट पदार्थोमे सविकल्परूप परिणमन क्रिया नही है, ऐसा दिखलाते हैं—[**यदि**] जो [**ज्ञाता**] जाननेवाला आत्मा [**ज्ञेयमर्थं**] ज्ञेयपदार्थको [**परिणमति**] संकल्प विकल्परूप होकर परिणमन करता है, [**तदा**] तो [**तस्य**] उस आत्माके [**क्षायिकं ज्ञान**] कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुआ अतीन्द्रियज्ञान [**नैव**] निश्चयसे नही है, [**इति 'हेतो '**] इसलिये [**जिनेन्द्रा**] सर्वज्ञदेव [**तं**] उस विकल्पी जीवको [**कर्म क्षपयन्त**] कर्मका अनुभव करनेवाला [**एव**] ही [**उक्तवन्त**] कहते हैं। **भावार्थ**—जबतक आत्मा सविकल्परूप पदार्थोको जानता है, तबतक उसके क्षायकज्ञान नही होता, क्योकि जो जीव सविकल्पी है, वह प्रत्येक पदार्थमे रागी हुआ मृगतृष्णा–उग्र गर्मीमे तपी हुई बालूमे जलकी सी बुद्धि रखता हुआ, कर्मोको भोगता है।

भाविकपरिच्छेदनिदानमथवा ज्ञानमेव नास्ति तस्य। यतः प्रत्यर्थपरिणतिद्वारेण मृगतृष्णाम्भोभारसंभावनाकरणमानसः सुदुःसहं कर्मभारमेवोपभुञ्जानः स जिनेन्द्रैरुद्गीतः ॥ ४२ ॥

अथ कुतस्तर्हि ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया तत्फलं च भवतीति विवेचयति—

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥४३॥

उदयगता कर्मांशा जिनवरवृषभैः नियत्या भणिताः।
तेषु विमूढो रक्तो दुष्टो वा बन्धमनुभवति ॥ ३४ ॥

संसारिणो हि नियमेन तावदुदयगताः पुद्गलकर्मांशाः सन्त्येव। अथ स सत्सु तेषु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यते।

क्षायिकज्ञानं नैवास्ति। अथवा ज्ञानमेव नास्ति। कस्मान्नास्ति। तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता तं पुरुषं कर्मतापन्नं जिनेन्द्राः कर्तारः उक्तवन्तः। किं कुर्वन्तम्। क्षपयन्तमनुभवन्तम्। किमेव। कर्मैव। निर्विकारसहजानन्दैकसुखस्वभावानुभवनशून्यः सन्नुदयागतं स्वकीयकर्मैव स अनुभवन्नास्ते न च ज्ञानमित्यर्थः। अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—यदि ज्ञाता प्रत्यर्थं परिणम्य पश्चादर्थं जानाति तदा अर्थानामानन्त्यात्सर्वपदार्थपरिज्ञानं नास्ति। अथवा तृतीयव्याख्यानम्—बहिरङ्गज्ञेयपदार्थान् यदा छद्मस्थावस्थायां चिन्तयति तदा रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति, तदभावे क्षायिकज्ञानमेव नोत्पद्यते इत्यभिप्रायः ॥४२॥ अथानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणमनेऽपि ज्ञानं बन्धकारणं न भवति, न च रागादिरहितकर्मोदयोऽपीति निश्चिनोति—**उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया** उदयगता उदयं प्राप्ताः कर्मांशा ज्ञानावरणादिमूलोत्तरकर्मप्रकृतिभेदाः जिनवरवृषभैर्नियत्या स्वभावेन भणिताः, किंतु स्वकीयशुभाशुभफलं दत्त्वा गच्छन्ति, न च रागादिपरिणामरहिताः सन्तो बन्धं कुर्वन्ति। तर्हि कथं बन्धं करोति जीवः इति चेत्। **तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बन्धमणुभवदि** तेषु

इसी लिये उसके निर्मल ज्ञानका लाभ नहीं है। परन्तु क्षायिकज्ञानीके भावरूप इन्द्रियोंके अभावसे पदार्थोंमें सविकल्परूप परिणति नहीं होती है, क्योंकि निरावरण अतीन्द्रियज्ञानसे अनंत सुख अपने साक्षात् अनुभव गोचर है। परोक्षज्ञानीके इन्द्रियोंके आधीन सविकल्परूप परिणति है, इसलिये वह कर्मसंयोगसे प्राप्त हुए पदार्थोंको भोगता है ॥ ४२ ॥ आगे कहते हैं, कि ज्ञान बंधका कारण नहीं है, ज्ञेयपदार्थोंमें जो राग द्वेषरूप परिणति है, वही बंधका कारण है—**[जिनवरवृषभैः]** गणधरादिकोंमें श्रेष्ठ अथवा बड़े ऐसे वीतरागदेवने **[उदयगताः कर्मांशाः]** उदय अवस्थाको प्राप्त हुए कर्मोंके अंश अर्थात् ज्ञानावरणादि भेद **[नियत्या]** निश्चयसे **[भणिताः]** कहे हैं। **[तेषु]** उन उदयागत कर्मोंमें **[हि]** निश्चय करके **[मूढः]** मोही, **[रक्तः]** रागी **[वा]** अथवा **[दुष्टः]** द्वेषी **[बन्धं]** प्रकृति, स्थिति आदि चार प्रकारके बन्धको **[अनुभवति]** अनुभव करता है, अर्थात् भोगता है। **भावार्थ—** संसारी सब जीवोंके कर्मका उदय है, परंतु वह उदय बंधका कारण नहीं है। यदि कर्मजनित इष्ट

तत एव च क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति । अतो मोहोदयात् क्रियाक्रियाफले न तु ज्ञानात् ॥ ४३ ॥

अथ केवलिनां क्रियापि क्रियाफलं न साधयतीत्यनुशास्ति—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥४४॥

स्थाननिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियतयस्तेषाम् ।
अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ॥ ४४ ॥

यथा हि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनागुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते, तथा हि केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते । अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात् । यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केव-

---

उदयागतेषु सत्सु कर्मांशेषु मोहरागद्वेषविलक्षणनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनारहित सन् यो विशेषेण मूढो रक्तो दुष्टो वा भवति स केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिलक्षणमोक्षाद्विलक्षण प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्नं बन्धमनुभवति । तत स्थितमेतत् ज्ञान बन्धकारण न भवति कर्मोदयेऽपि, किंतु रागादयो बन्धकारणमिति ॥ ४३ ॥ अथ केवलिना रागाद्यभावाद्धर्मोपदेशादयोऽपि बन्धकारण न भवन्तीति कथयति—**ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य** स्थानमूर्ध्वस्थितिर्निषद्या चासन विहारो धर्मोपदेशश्च **णियदयो** एते व्यापारा नियतय स्वभावा अनीहिता । केषाम् । **तेसिं अरहंताण** तेषामर्हतां निर्दोषिपरमात्मनाम् । क्व । **काले** अर्हदवस्थायाम् । क इव । **मायाचारो व्व इत्थीणं** मायाचार इव स्त्रीणा-

---

अनिष्ट भावोमे जीव रागी द्वेषी मोही होकर परिणमता है, तभी बध होता है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि ज्ञान तथा कर्मके उदयसे उत्पन्न क्रियायें बधका कारण नही है, बधके कारण केवल राग द्वेष मोहभाव है, इस कारण ये सब तरहसे त्यागने योग्य है ॥ ४३ ॥ आगे केवलीके कर्मका उदय है, और वचनादि योग क्रिया भी है, परन्तु उनके रागादि भावोके अभावसे बध नही होता है—[**तेषामर्हतां**] उन अरहतदेवोके [**काले**] कर्मोंके उदयकालमे [**स्थाननिषद्याविहारा**] स्थान, आसन, और विहार ये तीन काययोगकी क्रियायें [**च**] और [**धर्मोपदेश**] दिव्यध्वनिसे निश्चय व्यवहार स्वरूप धर्मका उपदेश यह वचनयोगकी क्रिया [**स्त्रीणा**] स्त्रियोके स्वाभाविक [**मायाचार इव**] कुटिल आचरणकी तरह [**नियतयः**] निश्चित होती है । **भावार्थ**—वीतरागदेवके औदयिकभावोसे काय, वचन योगकी क्रियायें अवश्य होती है, परन्तु उन क्रियाओमे भगवानका कोई यत्न नही है, मोहके अभावसे इच्छाके विना स्वभावसे ही होती हैं । जैसे स्त्रीवेदकर्मके उदयसे स्त्रीके हाव, भाव, विलास विभ्रमादि स्वभाव ही से होते हैं, उसी प्रकार अरहतके योगक्रियायें सहज ही होती है । जैसे मेघके जलका वरसना, गर्जना, चलना, स्थिर होना, इत्यादि क्रियायें पुरुषके यत्नके

लिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते । अतोऽमी स्थानादयो मोहोदयपूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिनां क्रियाफलभूतबन्धसाधनानि न भवन्ति ॥४४॥

अथैवं सति तीर्थकृतां पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर एवेत्यवधारयति—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया ।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥४५॥

पुण्यफला अर्हन्तस्तेषां क्रिया पुनर्हि औदयिकी ।
मोहादिभिः विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता ॥४५॥

अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति । क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसभावितात्मसंभूतितया किलौदयिक्येव । अथैवंभूतापि सा समस्तमहामोहमूर्धाभिषिक्तस्कन्धावारस्यात्यन्तक्षये संभूतत्वान्मोह-

---

मिति । तथाहि—यथा स्त्रीणां स्त्रीवेदोदयसद्भावात्प्रयत्नाभावेऽपि मायाचारः प्रवर्तते, तथा भगवतां शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतमोहोदयकार्येहापूर्वप्रयत्नाभावेऽपि श्रीविहारादयः प्रवर्तन्ते । मेघानां स्थानगमनगर्जनजलवर्षणादिवद्वा । ततः स्थितमेतत् मोहाद्यभावात् क्रियाविशेषा अपि बन्धकारणं न भवन्तीति ॥ ४४ ॥ अथ पूर्वं यदुक्तं रागादिरहितकर्मोदयो बन्धकारणं न भवति विहारादिक्रिया च, तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति—**पुण्णफला अरहंता** पञ्चमहाकल्याणपूजाजनकं त्रैलोक्यविजयकरं यत्तीर्थंकरनाम पुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्तो भवन्ति **तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया** तेषां या दिव्यध्वनिरूपवचनव्यापारादिक्रिया सा निःक्रियशुद्धात्मतत्त्वविपरीतकर्मोदयजनितत्वात्सर्वाप्यौदयिकी भवति हि स्फुटम् । **मोहादीहिं विरहिया** निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रच्छादकममकाराहंकारोत्पादनसमर्थमोहादिविरहितत्वाद्यतः **तम्हा सा खायग त्ति मदा** तस्मात् सा यद्यप्यौदयिकी तथापि निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वस्य विक्रियामकुर्वती सती क्षायिकी मता । अत्राह शिष्यः—'औदयिका भावा बन्धकारणम्' इत्यागमवचनं तर्हि वृथा भवति । परिहारमाह—औदयिका भावा बन्धकारणं भवन्ति, परं किंतु

विना ही उसके स्वभावसे होती हैं, उसी प्रकार इच्छाके विना औदयिकभावोंसे अरहंतोंके क्रिया होती हैं । इसी कारण केवलीके बंध नहीं है । रागादिकोंके अभावसे औदयिकक्रिया बंधके फलको नहीं देती ॥४४॥ आगे अरहंतोंके पुण्यकर्मका उदय बंधका कारण नहीं है, यह कहते हैं—[अर्हन्तः] सर्वज्ञ वीतरागदेव [पुण्यफलाः] तीर्थंकरनामा पुण्यप्रकृतिके फल हैं, अर्थात् अरहंत पद तीर्थंकरनाम पुण्यकर्मके उदयसे होता है । [पुनः] और [तेषां] उनकी [क्रिया] काय तथा वचनकी क्रिया [हि] निश्चयसे [औदयिकी] कर्मके उदयसे है । परन्तु [सा] वह क्रिया [मोहादिभिः] मोह, राग, द्वेषादि भावोंसे [विरहिता] रहित है । [तस्मात्] इसलिये [क्षायिकी] मोहकर्मके क्षयसे उत्पन्न हुई है, [इति मता] ऐसी कही गई है । **भावार्थ**—अरहंत भगवानके जो दिव्यध्वनि, विहार आदि क्रियायें हैं, वे पूर्व बँधे कर्मके उदयसे हैं । वे आत्माके प्रदेशोंको चलायमान करती हैं, परन्तु राग, द्वेष, मोह भावोंके अभावसे आत्माके चैतन्य विकाररूप भावकर्मको उत्पन्न नहीं करती । इसलिये औदयिक

रागद्वेषरूपाणामुपरञ्जकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत । [अथानुमन्येत] चेत्तर्हि कर्मविपाकोऽपि न तेषां स्वभावविघाताय ॥ ४५ ॥

अथ केवलिनामिव सर्वेषामपि स्वभावविघाताभावं निषेधयति—

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण ।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥४६॥

यदि स शुभो वा अशुभो न भवति आत्मा स्वय स्वभावेन ।
ससारोऽपि न विद्यते सर्वेषा जीवकायानाम् ॥ ४६ ॥

यदि खल्वेकान्तेन शुभाशुभभावस्वभावेन स्वयमात्मा न परिणमते तदा सर्वदैव सर्वथा निर्विघातेन शुद्धस्वभावेनैवावतिष्ठते । तथा च सर्व एव भूतग्रामाः समस्त-

---

मोहोदयसहिता । द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति । यदि पुन कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि ससारिणा सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्राय. ॥ ४५ ॥ अथ यथार्हता शुभाशुभपरिणामविकारो नास्ति तथैकान्तेन ससारिणामपि नास्तीति साख्यमतानुसारिशिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति दूषणद्वारेण परिहार ददाति—**जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण** यथैव शुद्धनयेनात्मा शुभाशुभाभ्या न परिणमति तथैवाशुद्धनयेनापि स्वय स्वकीयोपादानकारणेन स्वभावेनाशुद्धनिश्चयरूपेणापि यदि न परिणमति तदा । किं दूषण भवति । **ससारो वि ण विज्जदि** निस्ससारशुद्धात्मस्वरूपात्प्रतिपक्षभूतो व्यवहारनयेनापि ससारो न विद्यते । केषाम् । **सव्वेसिं जीवकायाणं** सर्वेषा जीवसघातानामिति । तथाहि—आत्मा तावत्परिणामी स च कर्मोपाधिनिमित्ते सति स्फटिकमणि-

---

है और आगे नवीन बधमे कारणरूप नही है, पूर्वकर्मके क्षयमे कारण है। तथा जिस कर्मके उदयसे वह क्रिया होती है, उस कर्मका बंध अपना रस (फल) देकर खिर जाता है, इस अपेक्षा अरहतोकी क्रिया कर्मके क्षयका कारण है। इसी कारण उस क्रियाको क्षायिकी भी कहते है, अर्थात् अरहतोकी दिव्यध्वनि आदि क्रिया नवीन बधको करती नही है, और पूर्व बधका नाश करती हैं, तब क्यो न क्षायिकी मानो जावे ? अवश्य मानने योग्य है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि केवलीके बध नही होता, क्योकि कर्मका फल आत्माके भावोको घातता नही। मोहनीयकर्मके होनेपर क्रिया आत्मीकभावोका घात करती है, और उसके अभावसे क्रियाका कुछ भी वल नही रहता ॥ ४५ ॥ आगे कहते है, कि जैसे केवलीके परिणामोमे विकार नही है, वैसे अन्य जीवोके परिणामोमे विकारोका अभाव भी नही है—[**यदि**] जो [**स**] वह आत्मा [**स्वभावेन**] अपने स्वभावसे [**स्वयं**] आप ही [**शुभ**] शुभ परिणामरूप [**वा**] अथवा [**अशुभ**] अशुभ परिणामरूप [**न भवति**] न होवे, [**तदा**] तो [**सर्वेषा**] सब [**जीवकायानां**] जीवोको [**संसार एव**] ससार परिणति ही [**न विद्यते**] नही मौजूद होवे। **भावार्थ**—आत्मा परिणामी है। जैसे स्फटिकमणि काले, पीले, लाल फूलके सयोगसे उसीके आकार

बन्धसाधनशून्यत्वादाजवंजवाभावस्वभावतो नित्यमुक्ततां प्रतिपद्येरन् । तच्च नाभ्युपगम्यते । आत्मनः परिणामधर्मत्वेन स्फटिकस्य जपातापिच्छरागस्वभावत्ववत् शुभाशुभस्वभावत्वद्योतनात् ॥४६॥

अथ पुनरपि प्रकृतमनुसृत्यातीन्द्रियज्ञान सर्वज्ञत्वेनाभिनन्दति—

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं ।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥४७॥

यत्तात्कालिकमितर जानाति युगपत्समन्तत सर्वम् ।
अर्थं विचित्रविषमं तत् ज्ञान क्षायिक भणितम् ॥ ४७ ॥

तत्कालकलितवृत्तिकमतीतोदर्ककालकलितवृत्तिक चाप्येकपद एव समन्ततोऽपि सकलमप्यर्थजातं, पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणलक्ष्मीकटाक्षितानेकप्रकारव्यञ्जितवैचित्र्यमितरेतरविरोधधापितासमानजातीयत्वोद्दामितवैषम्य क्षायिकं ज्ञानं किल जानीयात् । तस्य हि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानां क्षयोपशमावस्थावस्थितज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलाना-

---

रिवोपाधिं गृह्णाति, तत कारणात्ससाराभावो न भवति । अथ मतम्—ससाराभावः साख्याना दूषण न भवति, भूषणमेव । नैवम् । ससाराभावो हि मोक्षो भण्यते, स च ससारिजीवाना न दृश्यते, प्रत्यक्षविरोधादिति भावार्थ ॥ ४६ ॥ एव रागादयो बन्धकारण न च ज्ञानमित्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथापञ्चक गतम् । अथ प्रथम तावत् केवलज्ञानमेव सर्वज्ञस्वरूप, तदनन्तर सर्वपरिज्ञाने सति एकपरिज्ञान, एकपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापञ्चकपर्यन्त व्याख्यानं करोति । तद्यथा—अत्र ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यान प्रकृत तावत्तत्प्रस्तुतमनुसृत्य पुनरपि केवलज्ञान सर्वज्ञत्वेन निरूपयति—ज यज्ज्ञान कर्तृ **जाणदि** जानाति । कम् । अत्थ अर्थं पदार्थमिति विशेष्य-

---

काला, पीला, लालरूप परिणमन करता है, उसी प्रकार यह आत्मा अनादिकालसे परद्रव्यके सयोगसे राग, द्वेष, मोहरूप अज्ञान भावोमे परिणमन करता है। इस कारण ससार भाव है। यदि आत्माको ऐसा (परिणामी) न मानें, तो ससार ही न होवे, सभी जीव अनादिकालसे लेकर मोक्षस्वरूपमे स्थित (ठहरे) कहलावें, परन्तु ऐसा नही है। इससे साराश यह निकला, कि केवली शुभाशुभ भावरूप परिणमन नही करते हैं, बाकी सब ससारी जीव शुभ, अशुभ भावोमे परिणमते हैं॥ ४६ ॥
आगे पूर्व कहा गया अतीन्द्रियज्ञान ही सबका जाननेवाला है, ऐसा फिर कहते हैं—[**यत्**] जो ज्ञान [**समन्तत**] सर्वांगसे [**तात्कालिकमितर**] वर्तमानकाल सबधी और उससे जुदी भूत, भविष्यतकाल सबधी पर्यायो कर सहित [**विचित्रं**] अपनी लक्षणरूप लक्ष्मीसे अनेक प्रकार [**विषम**] और मूर्त अमूर्तादि असमान जाति भेदोसे विषम अर्थात् एकसा नही, ऐसे [**सर्वं अर्थं**] सब ही पदार्थोंके समूहको [**युगपत्**] एक ही समयमे [**जानाति**] जानता है, [**तत् ज्ञान**] उस ज्ञानको [**क्षायिक**] क्षायिक अर्थात् कर्मके क्षयसे प्रगट हुआ अतीन्द्रिय ऐसा [**भणितं**] कहा है। **भावार्थ**—अतीत, अनागत, वर्तमानकाल सबधी नानाप्रकार विषमता सहित समस्त पदार्थोंको सर्वांग एक समयमे प्रकाशित करनेको

मत्यन्ताभावात्तात्कालिकमतात्कालिकं वाप्यर्थजातं तुल्यकालमेव प्रकाशेत । सर्वतो विशुद्धस्य प्रतिनियतदेशविशुद्धेरन्तःप्लवनात् समन्ततोऽपि प्रकाशेत । सर्वावरणक्षयाद्देशावरणक्षयोपशमस्यानवस्थानात्सर्वमपि प्रकाशेत । सर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयादसर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विलयनाद्विचित्रमपि प्रकाशेत । असमानजातीयज्ञानावरणक्षयात्समानजातीयज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विनाशनाद्विषममपि प्रकाशेत । अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात् ॥४७॥

अथ सर्वमजानन्नेकमपि न जानातीति निश्चिनोति—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ ४८ ॥

यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान् ।
ज्ञातुं तस्य न शक्य सपर्यय द्रव्यमेक वा ॥ ४८ ॥

पदम् । किं विशिष्टम् । **तक्कालियमिदर** तात्कालिक वर्तमानमितर चातीतानागतम् । कथ जानाति । **जुगव** युगपदेकसमये **समंतदो** समन्तत सर्वात्मप्रदेशै सर्वप्रकारेण वा । कतिसख्योपेतम् । **सव्वं** समस्तम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । **विचित्तं** नानाभेदभिन्नम् । पुनरपि किरूपम् । **विसमं** मूर्तामूर्तचेतनाचेतनादिजात्यन्तरविशेषैर्विसदृशं **तं णाणं खाइयं भणियं** यदेव गुणविशिष्ट ज्ञान तरक्षायिक भणितम् । अभेदनयेन तदेव सर्वज्ञस्वरूप तदेवोपादेयभूतानन्तसुखाद्यनन्तगुणानामाधारभूत सर्वप्रकारोपादेयरूपेण भावनीयम् । इति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥ अथ य. सर्वं न जानाति स एकमपि न जानातीति विचारयति—**जो ण विजाणदि** य कर्ता नैव जानाति । कथम् । **जुगवं** युगपदेकक्षणे । कान् । **अत्थे** अर्थान् । कथभूतान् । **तिक्कालिगे** त्रिकालपर्यायपरिणतान् । पुनरपि कथंभूतान् । **तिहुवणत्थे** त्रिभु-

---

एक अतीन्द्रिय क्षायिककेवलज्ञान ही समर्थ है, अन्य किसी ज्ञानकी शक्ति नही है । ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे जो ज्ञान एक ही बार सब पदार्थोको नही जानता, क्रम लिये जानता है, ऐसे क्षायोपशमिकज्ञानका भी केवलज्ञानमे अभाव है, क्योकि केवलज्ञान एक ही बार सबको जानता है, और क्षायोपशमिकज्ञान एकदेश निर्मल है, इसलिये सर्वांग वस्तुको नही जानता, क्षायिकज्ञान सर्वदेश विशुद्ध है, इसीमे एकदेश निर्मलज्ञान भी समा जाता है इसलिये वस्तुको सर्वांगसे प्रकाशित करता है, और इस केवलज्ञानके सब आवरणका नाश है, मतिज्ञानावरणादि क्षयोपशमका भी अभाव है, इस कारण सब वस्तुको प्रकाशित करता है । इस केवलज्ञानमे मतिज्ञानावरणादि पाँचो कर्मोका क्षय हुआ है, इससे नाना प्रकार वस्तुको प्रकाशता है, और असमान जातीय केवलज्ञानावरणका क्षय तथा समान जातीय मतिज्ञानावरणादि चारके क्षयोपशमका क्षय है, इसलिए विषमको प्रकाशित करता है । क्षायिकज्ञानकी महिमा कहाँतक कही जावे, अति विस्तारसे भी पूर्णता नही हो सकती, यह अपने अखड़ित प्रकाशकी सुन्दरतासे अब कालमे, सब जगह, सब प्रकार, सबको, अवश्य ही

इह किलैकमाकाशद्रव्यमेकं धर्मद्रव्यमेकमधर्मद्रव्यमसंख्येयानि कालद्रव्याण्यनन्तानि जीवद्रव्याणि । ततोऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि । तथैषामेव प्रत्येकमतीतानागतानुभूयमानभेदभिन्ननिरवधिवृत्तिप्रवाहपरिपातिनोऽनन्ताः पर्यायाः । एवमेतत्समस्तमपि समुदितं ज्ञेयं, इहैवैकं किंचिज्जीवद्रव्यं ज्ञातृ । अथ यथा समस्तं दाह्यं दहन् दहनः समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं परिणमति, तथा समस्तं ज्ञेयं जानन् ज्ञाता समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षमात्मानं परिणमति । एवं किल द्रव्यस्वभावः । यस्तु समस्तज्ञेयं न जानाति स समस्तं दाह्यमदहन् समस्तदाह्यहेतुक-

---

वनस्थान् । णादुं तस्स ण सक्कं तस्य पुरुषस्य संबन्धि ज्ञानं ज्ञातुं समर्थं न भवति । किम् । दव्वं ज्ञेयद्रव्यम् । किंविशिष्टम् । सपज्जयं अनन्तपर्यायसहितम् । कतिसंख्योपेतम् । एगं वा एकमपीति । तथाहि—आकाशद्रव्यं तावदेकं, धर्मद्रव्यमेकं, तथैवाधर्मद्रव्यं च लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालद्रव्याणि, ततोऽनन्तगुणानि जीवद्रव्याणि, तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि । तथैव सर्वेषां प्रत्येकमनन्तपर्यायाः, एतत्सर्वं ज्ञेयं तावत्तत्रैकं विवक्षितं जीवद्रव्यं ज्ञातृ भवति । एवं तावद्वस्तुस्वभावः । तत्र यथा दहनः समस्तं दाह्यं दहन् सन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनस्वरूपमुष्णपरिणततृणपर्णाद्याकारमात्मानं (स्वकीयस्वभावं) परिणमति, तथायमात्मा समस्तं ज्ञेयं जानन् सन् समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकाखण्डज्ञानरूपं स्वकीयमात्मानं परिणमति जानाति परिच्छिनत्ति । यथैव च स एव दहनः पूर्वोक्तलक्षणं दाह्यमदहन् सन् तदाकारेण न परिणमति, तथाऽऽत्मापि पूर्वोक्तलक्षणं समस्तं ज्ञेयमजानन् पूर्वोक्तलक्षणमेव सकलैकाखण्डज्ञानाकारं स्वकीयमात्मानं न परिणमति न जानाति न परिच्छिनत्ति । अपरमप्युदाहरणं दीयते—यथा

जानता है ॥ ४७ ॥ आगे जो सबको नही जानता, वह एकको भी नहीं जानता, इस विचारको निश्चित करते हैं—[यः] जो पुरुष [त्रिभुवनस्थान्] तीन लोकमें स्थित [त्रैकालिकान्] अतीत, अनागत, वर्तमान, इन तीनकाल संबंधी [अर्थान्] पदार्थोंको [युगपत्] एक ही समयमें [न विजानाति] नही जानता है, [तस्य] उस पुरुषके [सपर्ययं] अनन्त पर्यायों सहित [एकं द्रव्यं वा] एक द्रव्यको भी [ज्ञातुं] जाननेकी [शक्यं न] सामर्थ्य नहीं है । भावार्थ—इस लोकमें आकाशद्रव्य एक है, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य भी एक है, कालद्रव्य असंख्यात है, जीवद्रव्य अनंत है, और पुद्गलद्रव्य जीव-राशिसे अनंतगुणा अधिक है । इन छहों द्रव्योंके तीन काल संबंधी अनंत अनंत भिन्न भिन्न पर्याय हैं । ये सब द्रव्य पर्याय ज्ञेय हैं । इन द्रव्यों में जाननेवाला एक जीव ही है । जैसे अग्नि समस्त ईंधनको जलाता हुआ उसके निमित्तसे काष्ठ, तृण, पत्ता, वगैरह ईंधनके आकार होकर अपने एक अग्निस्वभावरूप परिणमता है, उसी प्रकार यह ज्ञायक (जाननेवाला) आत्मा सब ज्ञेयोंको जानता हुआ ज्ञेयके निमित्तसे समस्त ज्ञेयाकाररूप होकर अपने ज्ञायकस्वभावरूप परिणमन करता है, और अपने द्वारा अपनेको आप वेदता (जानता) है । यह आत्मद्रव्यका स्वभाव है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि जो सब ज्ञेयों को नहीं जानता, वह एक आत्माको भी नहीं जानता, क्योंकि आत्माके ज्ञानमें सब ज्ञेयोंके आकार प्रतिबिम्बित

समस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानम् अपरिणमन् दहन इव समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारमात्मानं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षत्वेऽपि न परिणमति। एवमेतदायाति यः सर्वं न जानाति स आत्मानं न जानाति ॥४८॥

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥४९॥

द्रव्यमनन्तपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि।
न विजानाति यदि युगपत् कथ स सर्वाणि जानाति ॥४९॥

आत्मा हि तावत्स्वयं ज्ञानमयत्वे सति ज्ञातृत्वात् ज्ञानमेव। ज्ञानं तु प्रत्यात्मवर्ति प्रतिभासमयं महासामान्यम्। तत्तु प्रतिभासमयानन्तविशेषव्यापि। ते च सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनाः। अथ यः सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनानन्तविशेषव्यापिप्रतिभासमयमहासामान्यरूपमात्मानं स्वानुभवप्रत्यक्षं न करोति स कथं प्रतिभासमयमहासामान्य-

---

कोऽप्यन्धक आदित्यप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन्नादित्यमिव, प्रदीपप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् प्रदीपमिव, दर्पणस्थबिम्बान्यपश्यन् दर्पणमिव, स्वकीयदृष्टिप्रकाश्यन् पदार्थानपश्यन् हस्तपादाद्यवयवपरिणत स्वकीयदेहाकारमात्मान स्वकीयदृष्ट्या न पश्यति, तथाय विवक्षितात्मापि केवलज्ञानप्रकाश्यान् पदार्थानजानन् सकलाखण्डैककेवलज्ञानरूपमात्मानमपि न जानाति। तत एतत्स्थित य सर्वं न जानाति स आत्मानमपि न जानातीति ॥४८॥ अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति—**दव्वं** द्रव्य **अणंतपज्जयं** अनन्तपर्यायं **एगं** एक **अणंताणि दव्वजादाणि** अनन्तानि द्रव्यजातानि **जो ण विजाणदि** यो न विजानाति अनन्तद्रव्यसमूहान् **किध सो सव्वाणि जाणादि** कथ स सर्वान् जानाति **जुगवं** युगपदेकसमये न कथमपीति। तथाहि—आत्मलक्षण तावज्ज्ञान

होते हैं, इस कारण यह आत्मा सबका जाननेवाला है। इन सबके जाननेवाले आत्माको जब प्रत्यक्ष जानते है, तब अन्य सब ज्ञेय भी जाने जाते है,क्योकि सब ज्ञेय इसीमे प्रतिबिम्बित है। जो सबको जाने, तो आत्माको भी जाने, और जो आत्माको जाने, तो सबको जाने, यह बात परस्पर एक है, क्योकि सबका जानना, एक आत्माके जाननेसे होता है। इसलिये आत्माका जानना और सबका जानना एक है। साराश यह निकला, कि जो सबको नही जानता, वह एक आत्माको भी नही जानता ॥४८॥ आगे कहते है, कि जो एकको नही जानता, वह सबको नही जानता—[**यदि**] जो [**अनन्तपर्यायं एक द्रव्य**] अनन्त पर्यायवाले एक आत्म द्रव्यको [**नैव जानाति**] निश्चयसे नही जानता, [**तदा**] तो [**स**] यह पुरुष [**युगपत्**] एक ही बार [**अनन्तानि**] अत रहित [**सर्वाणि**] सम्पूर्ण [**द्रव्यजातानि**] द्रव्यो के समूह [**कथ**] कैसे [**जानाति**] जान सकता है ? **भावार्थ**—आत्माका लक्षण ज्ञान है। ज्ञान प्रकाशरूप है, वह सब जीव-राशिमे महासामान्य है, और अपने ज्ञानमयी अनत भेदोसे व्याप्त है। ज्ञेयरूप अनंत द्रव्यपर्यायोके निमित्तसे ज्ञानके अनंत भेद है। इसलिये अपने अनत

व्याप्यप्रतिभासमयानन्तविशेषनिबन्धनभूतसर्वद्रव्यपर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्यात् । एवमेतदायाति य आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानाति । अथ सर्वज्ञानादात्मज्ञानमात्मज्ञानात्सर्वज्ञानमित्यवतिष्ठते । एव च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वेनान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभास्यमानयोः स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेनात्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखातमिव प्रतिभाति । यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसंचेतनाभावात् परिपूर्णस्यैकस्यात्मनोऽपि ज्ञान न सिद्धयेत् ॥४९॥

अथ क्रमकृतप्रवृत्त्या ज्ञानस्य सर्वगतत्वं न सिद्धयतीति निश्चिनोति—

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स ।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥५०॥

तच्चाखण्डप्रतिभासमय सर्वजीवसाधारण महासामान्यम् तच्च । महासामान्य ज्ञानमयानन्तविशेषव्यापि । ते च ज्ञानविशेषा अनन्तद्रव्यपर्यायाणा विषयभूताना ज्ञेयभूताना परिच्छेदका ग्राहका । अखण्डैकप्रतिभासमय यन्महासामान्य तत्स्वभावमात्मान योऽसौ प्रत्यक्ष न जानाति स पुरुष. प्रतिभासमयेन महासामान्येन ये व्याप्ता अनन्तज्ञानविशेषास्तेषा विषयभूता येऽनन्तद्रव्यपर्यायास्तान् कथ जानाति, न कथमपि । अथ एतदायातम् । य आत्मान न जानाति स सर्वं न जानातीति । तथा चोक्तम्—"एको भाव सर्वभावस्वभाव सर्वे भावा एकभावस्वभावा । एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्ध सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धा ॥" अत्राह शिष्य—आत्मपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञान भवतीत्यत्र व्याख्यात, तत्र तु पूर्वसूत्रे भणित सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञान भवतीति । यद्येव तर्हि छद्मस्थाना सर्वपरिज्ञान नास्त्यात्मपरिज्ञान कथ भविष्यति, आत्मपरिज्ञानाभावे चात्मभावना कथ, तदभावे केवलज्ञानोत्पत्तिर्नास्तीति । परिहारमाह—परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते । कथमिति चेत्—लोकालोकादिपरिज्ञान व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते, तच्च व्याप्तिज्ञान परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहक कथचिदात्मैव भण्यते । अथवा स्वसवेदनज्ञानेनात्मा ज्ञायते, ततश्च भावना क्रियते, तया रागादिविकल्परहितस्वसवेदनज्ञानभावनया केवल-

---

विशेषणोसे युक्त यह सामान्य ज्ञान सबको जानता है । जो पुरुष ऐसे ज्ञानसंयुक्त आत्माको प्रत्यक्ष नही जान सकता, वह सब पदार्थोंको कैसे जान सकेगा ? इसलिये 'एक आत्माके जाननेमें सब जाना जाता है । जो एक आत्माको नही जानता, वह सबको नही जानता', यह बात सिद्ध हुई । दूसरी बात यह है कि, आत्मा और पदार्थोंका ज्ञेयज्ञायक सबध है । यद्यपि अपने अपने स्वरूपसे दोनो पृथक् पृथक् हैं, तो भी ज्ञेयाकार ज्ञानके परिणमनसे सब ज्ञेयपदार्थ ऐसे भासते हैं, मानो ज्ञानमे ठहर हो रहे हैं । जो ऐसा आत्माको नही मानें, तो वह अपने स्वरूपको सपूर्णपनेसे नही जाने, तथा आत्माके ज्ञानकीमहिमा न होवें । इस कारण जो आत्माको जानता है, वह सबको जानता है, और जो सबको जानता है, वह आत्माको जानता है । एकके जाननेसे सब जाने जाते हैं, और सबके जाननेसे एक जाना जाता है, यह कहना सिद्ध हुआ । यह कथन एकदेश ज्ञानकी अपेक्षासे नही है, किंतु केवलज्ञानकी अपेक्षासे है

उत्पद्यते यदि ज्ञान क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिन ।
तन्नैव भवति नित्य न क्षायिकं नैव सर्वगतम् ॥५०॥

यत्किल क्रमेणैकैकमर्थमालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तदेकार्थालम्बनादुत्पन्नमन्यार्थालम्बनात्। प्रलीयमान नित्यमसत्तया कर्मोदयादेका व्यक्तिप्रतिपन्न पुनर्व्यक्त्यन्तरं प्रतिपद्यमानं क्षायिकमप्यसदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानाक्रान्तुमशक्तत्वात् सर्वगत न स्यात् ।५०॥

अथ यौगपद्यप्रवृत्त्यैव ज्ञानस्य सर्वगतत्व सिद्धयतीति व्यवतिष्ठते—

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थ संभवं चित्तं ।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥ ५१ ॥

त्रैकाल्यनित्यविषम सकल सर्वत्र सभव चित्रम् ।
युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम् ॥५१॥

क्षायिकं हि ज्ञानमतिशयास्पदीभूतपरममाहात्म्य, यत्तु युगपदेव सर्वार्थानालम्ब्य

ज्ञान च जायते। इति नास्ति दोष ॥४९॥ अथ क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति व्यवस्थापयति— **उप्पज्जदि जदि णाण** उत्पद्यते ज्ञान यदि चेत्—**कमसो** क्रमश सकाशात्। किं कृत्वा। **अट्ठे पडुच्च** ज्ञेयार्थानाश्रित्य। कस्य। **णाणिस्स** ज्ञानिन' आत्मन **तं णेव हवदि णिच्चं** उत्पत्तिनिमित्तभूतपदार्थविनाशे तस्यापि विनाश इति नित्य न भवति। **ण खाइग** ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमाधीनत्वात् क्षायिकमपि न भवति। **णेव सव्वगद** यत एव पूर्वोक्तप्रकारेण पराधीनत्वेन नित्य न भवति, क्षयोपशमाधीनत्वेन क्षायिक न भवति, तत एव युगपत्समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावाना परिज्ञानसामर्थ्याभावात्सर्वगत न भवति। अत एतत्स्थित यद्ज्ञान क्रमेणार्थान् प्रतीत्य जायते तेन सर्वज्ञो न भवति। इति ॥५०॥ अथ युगपत्परिच्छित्तिरूपज्ञानेनैव सर्वज्ञो भवतीत्यावेदयति—**जाणदि** जानाति। किं कर्तृ।

॥ ४९ ॥ आगे जो ज्ञान पदार्थोंको क्रमसे जानता है, वह सर्वगत नही हो सकता, ऐसा सिद्ध करते हैं—[**यदि**) जो [**ज्ञानिन.**] आत्माका [**ज्ञान**] चैतन्यगुण [**अर्थान्**] पदार्थोंको [**क्रमश**] क्रमसे [**प्रतीत्य**] अवलम्बन करके [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होता है, [**तदा**] तो [**तत्**] वह ज्ञान [**नैव**] न तो [**नित्यं**] अविनाशी [**भवति**] है, [**न क्षायिकं**] न क्षायिक है, और [**नैव सर्वगत**] न सबका जाननेवाला होता है। **भावार्थ**—जो ज्ञान एक एक पदार्थका अवलम्बन (ग्रहण) करके क्रमसे प्रवर्तता है, एक ही बार सबको नही जानता है, वह ज्ञान विनाशीक है, एक पदार्थके अवलम्बनसे उत्पन्न होता है, दूसरेके ग्रहणसे नष्ट होता है, इस कारण अनित्य है। यही ज्ञानावरणीकर्मके क्षयोपशमसे हीनाधिक होता है, इसलिये क्षायिक भी नही है, किन्तु क्षयोपशमरूप है, और अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जाननेमे असमर्थ है, इसलिये सबके न जाननेसे असर्वगत है। साराश यह है, कि जिस ज्ञानसे पदार्थ क्रमपूर्वक जाने जाते है, वह ज्ञान पराधीन है। ऐसे ज्ञानसे सर्वज्ञ पदका होना असिद्ध है, अर्थात् सर्वज्ञ नही कहा जाता ॥ ५० ॥ आगे जो ज्ञान एक ही बार सबको जानता है, उस ज्ञानसे सर्वज्ञ पदकी सिद्धि है, ऐसा कहते हैं—[**जैनं**] केवलज्ञान [**त्रैकाल्यनित्य-**

प्रवर्तते ज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णन्यायावस्थितसमस्तवस्तुज्ञेयाकारतयाधिरोपितनित्यत्वं प्रतिपन्नसमस्तव्यक्तित्वेनाभिव्यक्तस्वभावभासिक्षायिकभाव त्रैकाल्येन नित्यमेव विषमीकृतां सकलामपि सर्वार्थसंभूतिमनन्तजातिप्रापितवैचित्र्यां परिच्छिन्ददक्रमसमाक्रान्तानन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया प्रकटीकृताद्भुतमाहात्म्य सर्वगतमेव स्यात् ॥५१॥

अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि क्रियाफलभूत बन्ध प्रतिषेधयन्नुपसहरति—

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबधगो तेण पण्णत्तो ॥५२॥

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते नैव तेष्वर्थेषु ।
जानन्नपि तानात्मा अबन्धकस्तेन प्रज्ञप्त ॥५२॥

इह खलु 'उदयगदा कम्मंसा' इत्यत्र सूत्रे उदयगतेषु पुद्गलकर्मांशेषु सत्सु

जोण्हं जैनज्ञानम् । कथम् । जुगव युगपदेकसमये **अहो हि णाणस्स माहप्प** अहो हि स्फुट जैनज्ञानस्य माहात्म्य पश्यताम् । किं जानाति । अर्थमित्यध्याहार । कथभूतम् । **तिक्कालणिच्चविसयं** त्रिकालविषय त्रिकालगत नित्य सर्वकालम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । **सयल** समस्तम् । पुनरपि कथभूतम् । **सव्वत्थ सभव** सर्वत्र लोके सभव समुत्पन्न स्थितम् । पुनश्च किंरूपम् । **चित्त** नानाजातिभेदेन विचित्रमिति । तथाहि—युगपत्सकलग्राहकज्ञानेन सर्वज्ञो भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् । ज्योतिष्कमन्त्रवादरससिद्ध्यादीनि यानि खण्डविज्ञानानि मूढजीवाना चित्तचमत्कारकारणानि परमात्मभावनाविनाशकानि च तत्राग्रह त्यक्त्वा जगत्त्रयकालत्रयसकलवस्तुयुगपत्प्रकाशकमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासरूप सर्वज्ञशब्दवाच्य यत्केवलज्ञान तस्यैवोत्पत्तिकारणभूत यत्समस्तरागादिविकल्पजालेन रहित सहजशुद्धात्मनोऽभेदज्ञान तत्र भावना कर्तव्या, इति तात्पर्यम् ॥५१॥ एव केवलज्ञानमेव सर्वज्ञ इति

विषमं] अतीतादि तीनो कालसे सदाकाल (हमेशा) असम ऐसे [**सर्वत्र सभव**] सब लोकमें तिष्ठते [**चित्र**] नाना प्रकारके [**सकल**] सब पदार्थ [**युगपत्**] एक ही बार [**जानाति**] जानता है । [**अहो**] हे भव्यजीवो, [**हि**] निश्चयकर यह [**ज्ञानस्य**] ज्ञानकी [**माहात्म्यं**] महिमा है । **भावार्थ**—जो ज्ञान एक ही बार सफल पदार्थोंका अवलबनकर प्रवर्तता है, वह नित्य है, क्षायिक है, और सर्वगत है । जिस कारण केवलज्ञानमे सब पदार्थ टकोत्कीर्णन्यायसे प्रतिभासते हैं, और प्रकार नही । इस ज्ञानको कुछ और जानना अवशेष (बाकी) नही है, जो इसमे ज्ञेयाकारोकी पलटना होवे, इस कारण यह ज्ञान नित्य है । इस ज्ञानको कोई शक्ति कर्मसे ढँकी हुई नही है, अनत शक्तियाँ खुली हैं, इसलिये यह ज्ञान क्षायिक है, और यह अनतद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोको प्रगट करता है, इससे यह ज्ञान सर्वगत है । साराश—केवलज्ञानकी महिमा कोई भी नही कह सकता, ऐसे ही ज्ञानसे सर्वज्ञ पदकी सिद्धि होती है ॥५१॥ आगे केवलीके ज्ञानकी क्रिया है, परन्तु क्रियाका फल—बध नही है, ऐसा कथन सक्षेपसे कहकर आचार्य ज्ञानाधिकार पूरा करते हैं—[**आत्मा**]

संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यमानः क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति, न तु ज्ञानादिति प्रथममेवार्थपरिणमनक्रियाफलत्वेन बन्धस्य समर्थितत्वात् । तथा 'गेण्हदि णेव ण मुंचदि' इत्यर्थपरिणमनादिक्रियाणामभावस्य शुद्धात्मनो निरूपितत्वाच्चार्थानपरिणमतोऽगृह्णतस्तेष्वनुत्पद्यमानस्य चात्मनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि न खलु क्रियाफलभूतो बन्धः सिद्धयेत् ॥५२॥

जानन्नप्येष विश्व युगपदपि भवद्भाविभूत समस्त
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति पर नैव निर्लूनकर्मा ।

कथनरूपेण गाथैका, तदनन्तर सर्वपदार्थपरिज्ञानमिति द्वितीया चेति । ततश्च क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति प्रथमगाथा, युगपद्ग्राहकेण स भवतीति द्वितीया चेति समुदायेन सप्तमस्थले गाथापञ्चक गतम् । अथ पूर्वं यदुक्त पदार्थपरिच्छित्तिसद्भावेऽपि रागद्वेषमोहाभावात् केवलिना बन्धो नास्तीति तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढीकुर्वन् ज्ञानप्रपञ्चाधिकारमुपसहरति—**ण वि परिणमदि** यथा स्वकीयात्मप्रदेशै. समरसीभावेन सह परिणमति तथा ज्ञेयरूपेण न परिणमति **ण गेण्हदि** यथैव चानन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपमात्मरूपतया गृह्णाति तथा ज्ञेयरूप न गृह्णाति **उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु** यथा च निर्विकारपरमानन्दैकसुखरूपेण स्वकीयसिद्धपर्यायेणोत्पद्यते तथैव च ज्ञेयपदार्थेषु नोत्पद्यते । किं कुर्वन्नपि । **जाणण्णवि ते** तान् ज्ञेयपदार्थान् स्वस्मात् पृथग्रूपेण जानन्नपि । स क' कर्ता । **आदा** मुक्तात्मा **अबधगो तेण पण्णत्तो** तत कारणात्कर्मणाबन्धक प्रज्ञप्त इति । तद्यथा—रागादिरहितज्ञान बन्धकारणं न भवतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षविपरीतस्य नारकादिदुखकारणकर्मबन्धस्य कारणानीन्द्रियमनोजनितान्येकदेशविज्ञानानि त्यक्त्वा सकलविमलकेवलज्ञानस्य कर्मबन्धाकारणभूतस्य यद्बीजभूत निर्विकारस्वसंवेदनज्ञान तत्रैव भावना कर्तव्येत्यभिप्राय ॥५२॥ एव रागद्वेष

केवलज्ञानी शुद्धात्मा [**तान्**] उन पदार्थोंको [**जानन् अपि**] जानता हुआ भी [**येन**] जिस कारण [**अपि**] निश्चय करके [**न परिणमति**] न तो परिणमता है, [**न गृह्णाति**] न ग्रहण करता है, [**नैव**] और न [**तेषु अर्थेषु**] उन पदार्थोंमे [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होता है, [**तेन**] उसी कारणसे वह [**अबन्धक**] नवीन कर्मबधसे रहित [**प्रज्ञप्त**] कहा गया है । **भावार्थ**—यद्यपि केवलज्ञानी सब पदार्थोंको जानता है, तो भी उन पदार्थोंको राग, द्वेष, मोह भावसे न परिणमता है, न ग्रहण करता है, और न उनमे उत्पन्न होता है, इस कारण बध रहित है । क्रिया दो प्रकारकी है, एक ज्ञप्तिक्रिया और दूसरी ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया, उनमे ज्ञानकी राग द्वेष मोह रहित जाननेरूप क्रिया को 'ज्ञप्तिक्रिया' और जो राग द्वेष मोहकर पदार्थका जानना, ऐसी क्रियाको 'ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया' कहते है । इनमे से ज्ञेयार्थपरिणमनक्रियासे बध होता है, ज्ञप्तिक्रियासे नही होता । केवलीके ज्ञप्तिक्रिया है, इसलिये उनके बध नही है । पहले "उदयगदा कम्मसा" आदि गाथासे ज्ञेयार्थ परिणमन क्रियाको बँधका कारण कहा है, सो यह केवलीके नही है । और "गेण्हदि णेव ण मुचदि" आदि गाथासे केवलीके देखने जाननेरूप क्रिया कही है, सो इस ज्ञप्तिक्रियासे बध नही है ॥५२॥ इसप्रकार **ज्ञानाधिकार** पूर्ण हुआ ॥ १ ॥

तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-
ज्ञेयाकार त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमर्ति. ॥

। इति ज्ञानाधिकारः ।

अथ ज्ञानादभिन्नस्य सौख्यस्य स्वरूप प्रपञ्च यन् ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्व चिन्तयति–

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु ।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥

अस्त्यमूर्तं मूर्तमतीन्द्रिययमैन्द्रिय चार्थेपु ।
ज्ञान च तथा सौख्य यत्तेषु पर च तत् ज्ञेयम् ॥५३॥

अत्र ज्ञान सौख्य च मूर्तमिन्द्रियजं चैकमस्ति । इतरदमूर्तमतीन्द्रियं चास्ति । तत्र तेषु चतुर्षु मध्ये यदमूर्तमतीन्द्रियं च तत्प्रधानत्वादुपादेयत्वेन ज्ञातव्यम् । तत्राद्य

मोहरहितत्वात्केवलिना बन्धो नास्तीति कथनरूपेण ज्ञानप्रपञ्चसमाप्तिमुख्यत्वेन चैकसूत्रेणाष्टमस्थल गतम् ।

अथ ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यानानन्तरं ज्ञानाधारसर्वज्ञं नमस्करोति—

तस्स णमाइ लोगो देवासुरमणुअरायसंबंधो ।
भत्तो करेदि णिच्च उवजुत्तो त तहा वि अह ॥ *२ ॥

करेदि करोति । स क । लोगो लोक । कथभूत । देवासुरमणुअरायसंबधो देवासुरमनुष्य-राजसंबन्ध । पुनरपि कथभूत । भत्तो भक्त । णिच्च नित्य सर्वकालम् । पुनरपि किंविशिष्ट । उवजुत्तो उपयुक्त उद्यत. । इत्यभूतो लोक का करोति । णमाइ नमस्या नमस्क्रियाम् । कस्य । तस्स तस्य पूर्वोक्तसर्वज्ञस्य । त तहा वि अहं त सर्वज्ञ तथा तेनैव प्रकारेणाहमपि ग्रन्थकर्ता नमस्करोमीति । अयमत्रार्थ —यथा देवेन्द्रचक्रवर्त्यादयोऽनन्ताक्षयसुखादिगुणास्पद सर्वज्ञस्वरूप नमस्कुर्वन्ति, तथैवाह-मपि तत्पदाभिलाषी परमभक्त्या प्रणमामि ॥२॥ एवमष्टाभि स्थलैर्द्वात्रिंशद्गाथास्तदनन्तर नमस्कार-गाथा चेति समुदायेन त्रयस्त्रिंशत्सूत्रैर्ज्ञानप्रपञ्चनामा तृतीयोऽन्तराधिकार समाप्त । अथ सुखप्र-पञ्चाभिधानान्तराधिकारेऽष्टादश गाथा भवन्ति। अत्र पञ्चस्थलानि, तेषु प्रथमस्थले 'अत्थि अमुत्त' इत्याद्यधिकारगाथासूत्रमेक, तदनन्तरमतीन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन 'ज पेच्छदो' इत्यादि सूत्रमेक,

---

आगे दूसरे अधिकारमे ज्ञानसे अभिन्नरूप सुखका वर्णन करते हुए आचाय महाराज पहले "कौन सुख हेय है, और कौन उपादेय है," यह विचार दिखाते हैं—[अर्थेषु] पदार्थों मे [अतीन्द्रिय] इद्रियोका आधीनतासे रहित [ज्ञान] ज्ञान है, वह [अमूर्तं] अमूर्तीक है, [च] और [ऐन्द्रिय] इद्रिय-जनित ज्ञान [मूर्तं] मूर्तीक [अस्ति] है । [च तथा] और इसी तरह [सौख्य] सुख भी हैं । अर्थात् जो इद्रिय बिना सुखका अनुभव है, वह अतीद्रिय अमूर्तीक सुख है, और जो इद्रियके आधीन सुखका अनुभव है, सो इद्रियजनित मूर्तीक सुख है । [च] और [तेषु] उन ज्ञान सुखके भेदोमे [यत्] जो [पर] उत्कृष्ट है, [तत्] वह [ज्ञेय] जानने योग्य है । भावार्थ—ज्ञान और सुख दो

१ इस गाथासूत्रकी भी श्रीमदमृतचन्द्राचार्यने टीका नहीं की, इससे मूलसख्यामें नही रक्खा ।

मूर्ताभिः क्षायोपशमिकीभिरुपयोगशक्तिभिस्तथाविधेभ्य इन्द्रियेभ्यः समुत्पद्यमानं परायत्तत्वात् कादाचित्कत्वं, क्रमकृतप्रवृत्ति सप्रतिपक्षं सहानिवृद्धि च गौणमिति कृत्वा ज्ञानं च सौख्यं च हेयम् । इतरत्पुनरमूर्ताभिश्चैतन्यानुविधायिनीभिरेकाकिनीभिरेवात्मपरिणामशक्तिभिस्तथाविधेभ्योऽतीन्द्रियेभ्यः स्वाभाविकचिदाकारपरिणामेभ्य समुत्पद्यमानमत्यन्तमात्मायत्तत्वान्नित्य, युगपत्कृतप्रवृत्ति निःप्रतिपक्षमहानिवृद्धि च मुख्यमिति कृत्वा ज्ञानं सौख्य चोपादेयम् ॥५३॥

अथातीन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमभिष्टौति—

अथेन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन 'जीवो सय अमुत्तो' इत्यादि गाथाचतुष्टय, अथानन्तरमिन्द्रियसुखप्रतिपादनरूपेण गाथाष्टक, तत्राप्यष्टकमध्ये प्रथमत इन्द्रियसुखस्य दु खत्वस्थापनार्थं 'मणुआ सुरा' इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ मुक्तात्मना देहाभावेऽपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं देह सुखकारण न भवतीति कथनरूपेण 'पप्पा इट्ठे विसये' इत्यादि सूत्रद्वय, तदनन्तरमिन्द्रियविषया अपि सुखकारण न भवन्तीति कथनेन 'तिमिरहरा' इत्यादि गाथाद्वयम्, अतोऽपि सर्वज्ञनमस्कारमुख्यत्वेन 'तेजोदिट्ठी' इत्यादि गाथाद्वयम् । एव पञ्चान्तराधिकारे समुदायपातनिका ॥ अथातीन्द्रियसुखस्योपादेयभूतस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन्नतीन्द्रियज्ञानमतीन्द्रियसुख चोपादेयमिति, यत्पुनरिन्द्रियज ज्ञान सुख च तद्धेयमिति प्रतिपादनरूपेण प्रथमतस्तावदधिकारस्थलगाथया स्थलचतुष्टय सूत्रयति—**अत्थि** अस्ति विद्यते। किं कर्तृ । **णाण** ज्ञानमिति भिन्नप्रक्रमो व्यवहितसबन्ध । किंविशिष्टम् । **अमुत्त मुत्त** अमूर्तं मूर्तं च। पुनरपि किंविशिष्टम् । **अदिंदिय इंदिय च** यदमूर्तं तदतीन्द्रिय मूर्तं पुनरिन्द्रियजम् । इत्थभूत ज्ञानमस्ति । केषु विषयेषु । **अत्थेसु** ज्ञेयपदार्थेषु, **तहा सोक्ख च** तथैव ज्ञानवदमूर्तमतीन्द्रिय मूर्तमिन्द्रियजं च सुखमिति । **ज तेसु पर च तं णेय** यत्तेषु पूर्वोक्तज्ञानसुखेषु मध्ये परमुत्कृष्टमतीन्द्रिय तदुपादेयमिति ज्ञातव्यम् । तदेव विव्रियते—अमूर्ताभि क्षायिकीभिरतीन्द्रियाभिश्चिदानन्दैकलक्षणाभि शुद्धात्मशक्तिभिरुत्पन्नत्वादतीन्द्रियज्ञान सुख चात्माधीनत्वेनाविनश्वरत्वादुपादेयमिति पूर्वोक्तामूर्तशुद्धात्मशक्तिभ्यो विलक्षणाभि क्षायोपशमिकेन्द्रियशक्तिभिरुत्पन्नत्वादिन्द्रियज ज्ञान सुख च परायत्तत्वेन विनश्वरत्वाद्धेयमिति तात्पर्यम् ॥५३॥ एवमधिकारगाथया प्रथमस्थल गतम् । अथ पूर्वोक्तमुपादेयभूतमतीन्द्रियज्ञान विशेषेण व्यक्तीकरोति—**ज** यदन्तीन्द्रिय ज्ञान कर्तृ **पेच्छदो** प्रेक्ष-

---

प्रकारके हैं, एक अतीन्द्रिय अमूर्तीक और दूसरा इन्द्रियाधीन मूर्तीक । इनमे से अतीन्द्रिय अमूर्तीक ज्ञानसुख उपादेय है, और इन्द्रियाधीन मूर्तीक ज्ञानसुख हेय है । जो ज्ञानसुख आत्मीक, अमूर्तीक, चैतन्यरूप परद्रव्योके सयोगसे रहित केवल शुद्धपरिणतिरूप शक्तिसे उत्पन्न है, वह सब तरहसे आत्माके आधीन है, अविनाशी है, एक ही बार अखडित धारा प्रवाहरूप प्रवर्तता है, शत्रुरहित है, और घटता बढता नही है, इस कारण उत्कृष्ट तथा उपादेय है, और जो आत्माके मूर्तीक क्षयोपशमरूप इन्द्रियो के आधीन चैतन्य शक्ति से उत्पन्न है, वह पराधीन है, विनाशीक है, क्रमरूप प्रवर्तता है, शत्रुसे खडित है, और घटता बढता है, इस कारण हीन तथा हेय है ॥ ५३ ॥ आगे अतीन्द्रियसुखका कारण अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है, यह कहते है—**[प्रेक्षमाणस्य]** देखनेवाले पुरुष-

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥५४॥

यत्प्रेक्षमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रियं च प्रच्छन्नम्।
सकलं स्वकं च इतरत् तद्ज्ञानं भवति प्रत्यक्षम् ॥५४॥

अतीन्द्रियं हि ज्ञानं यदमूर्तं यन्मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियं यत्प्रच्छन्नं च यत्सकलं स्वपरविकल्पान्तःपाति प्रेक्षत एव। तस्य खल्वमूर्तेषु धर्माधर्मादिषु, मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियेषु परमाण्वादिषु द्रव्यप्रच्छन्नेषु कालादिषु क्षेत्रप्रच्छन्नेष्वलोकाकाशप्रदेशादिषु, कालप्रच्छन्नेष्वसाप्रतिकपर्यायेषु, भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि स्वपरव्यवस्थाव्यवस्थितेष्वस्ति द्रष्टृत्वं प्रत्यक्षत्वात्। प्रत्यक्षं हि ज्ञानमुद्भिन्नानन्तशुद्धिसंनिधानमनादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धमेकमेवाक्षनामानमात्मानं प्रतिनियतमितरसामग्रीममृगयमाणमनन्तशक्तिसद्भावतोऽनन्ततामुपगतं दहनस्येव दाह्याकाराणां

माणपुरुषस्य जानाति। किं किम्। अमुत्तं अमूर्तमतीन्द्रियनिरुपरागमदानन्दैकसुखस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृति समस्तामूर्तद्रव्यसमूहं मुत्तेसु अदिंदियं च मूर्तेषु पुद्गलद्रव्येषु यदतीन्द्रियं परमाण्वादि पच्छण्णं कालाणुप्रभृतिद्रव्यरूपेण प्रच्छन्नं व्यवहितमन्तरितम्, अलोकाकाशप्रदेशप्रभृति क्षेत्रप्रच्छन्नं, निर्विकारपरमानन्दैकसुखास्वादपरिणतिरूपपरमात्मनो वर्तमानसमयगतपरिणामास्तत्प्रभृतयो ये समस्तद्रव्याणां वर्तमानसमयगतपरिणामास्ते कालप्रच्छन्नाः, तस्यैव परमात्मनः सिद्धरूपशुद्धव्यञ्जनपर्यायः शेषद्रव्याणां च ये यथासंभवं व्यञ्जनपर्यायास्तेष्वन्तर्भूताः प्रतिसमयप्रवर्तमानषट्प्रकारप्रवृद्धिहानिरूपा अर्थपर्याया भावप्रच्छन्ना भण्यन्ते। सयलं तत्पूर्वोक्तं समस्तं ज्ञेयं द्विधा भवति। कथमिति चेत्। सगं च इदरं किमपि यथासंभवं स्वद्रव्यगतं इतरत्परद्रव्यगतं च तदुभयं यतः कारणाज्जानाति तेन कारणेन तं णाणं तत्पूर्वोक्तज्ञानं हवदि भवति। कथंभूतम्। पच्चक्खं प्रत्यक्षमिति। अत्राह शिष्यः—ज्ञानप्रपञ्चाधिकारः पूर्वमेव गतः, अस्मिन् सुखप्रपञ्चाधिकारे सुखमेव कथनीयमिति। परिहारमाह—यदतीन्द्रियं ज्ञानं पूर्वं भणितं तदेवाभेदनयेन सुखं भवतीति ज्ञापनार्थम्, अथवा ज्ञानस्य मुख्यवृत्त्या तत्र

का [यद्ज्ञान] जो ज्ञान [अमूर्तं] धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव इन पाँच अमूर्तीक द्रव्योंको [च] और [मूर्तेषु] मूर्तीक अर्थात् पुद्गलद्रव्योंके पर्यायोंमें [अतीन्द्रियं] इन्द्रियोंसे नहीं ग्रहण करने योग्य परमाणुओंको [प्रच्छन्नं] द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे गुप्त पदार्थोंको [सकलं स्वकं] सब ही स्वज्ञेय [च] और [इतरं] परज्ञेयोंको जानता है। [तत्] वह ज्ञान [प्रत्यक्षं] इन्द्रिय विना केवल आत्माके आधीन [भवति] होता है। **भावार्थ**—जो सबको जानता है, उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। इस ज्ञानमें अनन्त शुद्धता है। अन्य सामग्री नहीं चाहता, केवल एक अक्षनामा आत्माके प्रति निश्चिन्त हुआ प्रवर्तता है, और अपनी शक्तिसे अनन्त स्वरूप है। जैसे अग्नि (आग) ईंधनके आकार है, वैसे ही यह ज्ञान ज्ञेयाकारोंको नहीं छोड़ता है, इसलिये अनन्तस्वरूप है। इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञानकी महिमाको कोई दूर नहीं कर सकता। इसलिये अनन्तस्वरूप है।

ज्ञानस्य ज्ञेयाकाराणामनतिक्रमाद्यथोदितानुभावमनुभवत्तत् केन नाम निवार्येत। अतस्तदुपादेयम् ॥५४॥

अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥५५॥

जीवः स्वयममूर्तो मूर्तिगतस्तेन मूर्तेन मूर्तम्।
अवगृह्य योग्यं जानाति वा तन्न जानाति ॥५५॥

इन्द्रियज्ञानं हि मूर्तोपलम्भकं मूर्तोपलभ्यं च तद्वान् जीवः स्वयममूर्तोऽपि पञ्चेन्द्रियात्मकं शरीरं मूर्तमुपागतस्तेन ज्ञप्तिनिष्पत्तौ बलाधाननिमित्ततयोपलम्भकेन मूर्तेन मूर्तं स्पर्शादिप्रधानं वस्तूपलभ्यतामुपागतं योग्यमवगृह्य कदाचित्तदुपर्युपरि शुद्धिसंभवादवगच्छति, कदाचित्तदसंभवान्नावगच्छति। परोक्षत्वात्। परोक्षं हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिगुण्ठनान्निमीलितस्यानादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धस्याप्यात्मनः स्वयं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्ययसामग्रीमार्गणव्यग्रतयात्यन्तविसंष्ठुलत्वम-

---

हेयोपादेयचिन्ता नास्तीति ज्ञापनार्थं वा। एवमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमिति कथनमुख्यत्वेनैकगाथया द्वितीयस्थलं गतम् ॥५४॥ अथ हेयभूतस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वादल्पविषयत्वाच्चेन्द्रियज्ञानं हेयमित्युपदिशति-**जीवो सयं अमुत्तो** जीवस्तावच्छक्तिरूपेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनामूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखस्वभावः, पश्चादनादिबन्धवशाद् व्यवहारेण **मुत्तिगदो** मूर्तशरीरगतो मूर्तशरीरपरिणतो भवति। **तेण मुत्तिणा** तेन मूर्तशरीरेण मूर्तशरीराधारोत्पन्नमूर्तद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाधारेण **मुत्तं** मूर्तं वस्तु **ओगेण्हित्ता** अवग्रहादिकेन क्रमकरणव्यवधानरूपं कृत्वा **जोग्गं** तत्स्पर्शादिमूर्तं वस्तु। कथंभूतम्। इन्द्रियग्रहणयोग्यं **जाणदि वा तण्ण जाणादि** स्वावरणक्षयोपशमयोग्यं किमपि स्थूलं जानाति, विशेषक्षयोपशमाभावात् सूक्ष्मं न जानातीति। अयमत्र भावार्थः—इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते, तथापि

इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञानकी महिमाको कोई दूर नहीं कर सकता। इसलिये यह प्रत्यक्षज्ञान उपादेय है, और अतीन्द्रिय सुखका कारण है ॥५४॥ आगे जो इन्द्रियसुखका कारण इन्द्रियज्ञान है, उसे हेय दिखलाकर निंदा करते हैं—[**जीवः**] आत्मद्रव्य [**स्वयं**] अपने स्वभावसे [**अमूर्तः**] स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, रहित अमूर्तीक है, और [**स एव**] वही अनादि बंध—परिणमनकी अपेक्षा [**मूर्तिगतः**] मूर्तिमान् शरीरमें स्थित (मौजूद) है। [**तेन मूर्तेन**] उस मूर्तीक शरीरमें ज्ञानकी उत्पत्तिको निमित्तकारणरूप मूर्तिवंत द्रव्येन्द्रियसे [**योग्यं मूर्तं**] इन्द्रियके ग्रहण करने योग्य स्थूलस्वरूप मूर्तीकको अर्थात् स्पर्शादिरूप वस्तुको [**अवगृह्य**] अवग्रह ईहादि भेदोंसे, क्रमसे, ग्रहण करके [**जानाति**] जानता है, [**वा**] अथवा [**तत्**] उस मूर्तीकको [**न जानाति**] नहीं जानता, अर्थात् जब कर्मके क्षयोपशमकी तीव्रता होती है, तब जानता है, मंदता होती है, तब नहीं जानता। **भावार्थ**—यह आत्मा अनादिकालसे अज्ञानरूप अंधकारकर अंधा हो गया है यद्यपि अपनी चैतन्यकी महिमाको लिये रहता है, तो भी कर्मके संयोगसे इन्द्रियके विना अपनी शक्तिसे जाननेको असमर्थ है, इसलिये

वलम्बमानमनन्तायाः शक्तेः परिस्खलनान्नितान्तविक्लवीभूतं महामोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात् परपरिणतिप्रवर्तिताभिप्रायमपि पदे पदे प्राप्तविप्रलम्भमनुपलम्भसंभावनामेव परमार्थतोऽर्हति । अतस्तद्धेयम् ॥५५॥

अथेन्द्रियाणां स्वविषयमात्रेऽपि युगपत्प्रवृत्त्यसंभवाद्धेयमेवेन्द्रियज्ञानमित्यवधारयति—

फासो रसो य गन्धो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति ।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥५६॥

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णः शब्दश्च पुद्गला भवन्ति ।
अक्षाणां तान्यक्षाणि युगपत्तान्नैव गृह्णन्ति ॥५६॥

इन्द्रियाणां हि स्पर्शरसगन्धवर्णप्रधानाः शब्दश्च ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः । अथेन्द्रि-

---

निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव । परोक्षं तु यावतांशेन सूक्ष्मार्थं न जानाति तावतांशेन चित्तखेदकारणं भवति । खेदश्च दुःख, ततो दुःखजनकत्वादिन्द्रियज्ञानं हेयमिति ॥ ५५ ॥ अथ चक्षुरादीन्द्रियज्ञानं रूपादिस्वविषयमपि युगपन्न जानाति तेन कारणेन हेयमिति निश्चिनोति— **फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति** स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः पुद्गला मूर्ता भवन्ति । ते च विषयाः । केषाम् । **अक्खाणं** स्पर्शनादीन्द्रियाणां **ते अक्खा** तान्यक्षाणीन्द्रियाणि कर्तृणि **जुगवं ते णेव गेण्हंति** युगपत्तान् स्वकीयविषयानपि न गृह्णन्ति न जानन्तीति । अथ-

---

आत्माके यह परोक्षज्ञान है । यह परोक्षज्ञान मूर्तिवन्त द्रव्येंद्रियके आधीन है, मूर्तीक पदार्थोंको जानता है, अतिशयकर चचल है, अनंतज्ञानकी महिमासे गिरा हुआ है, अत्यंत विकल है, महा-मोह-मल्लकी सहायतासे पर-परिणतिमे प्रवर्तता है, पद पद (जगह जगह) पर विवादरूप, उलाहना देने योग्य है, वास्तवमे स्तुति करने योग्य नही है, निंद्य है, इसीलिये हेय है ॥५५॥ आगे इन्द्रियज्ञान यद्यपि अपने जानने योग्य मूर्तीक पदार्थोंको जानता है, तो भी एक ही बार नही जानता, इसलिये हेय है, ऐसा कहते हैं— [अक्षाणां] पाँचो इन्द्रियोके [स्पर्शः] स्पर्श [रसः] रस [च गन्धः] और गंध [वर्णः] रूप [च] तथा [शब्दः] शब्द ये पांच विषय [पुद्गलाः] पुद्गलमयी [भवन्ति] हैं । अर्थात् पाँच इद्रियाँ उक्त स्पर्शादि पाँचो विषयोको जानती हैं, परंतु [तानि अक्षाणि] वे इन्द्रियाँ [तान्] उन पाँचो विषयोको [युगपत्] एक ही बार [नैव] नही [गृह्णन्ति] ग्रहण करती । **भावार्थ**—ये स्पर्शनादि पाँचो इन्द्रियाँ अपने अपने स्पर्शादि विषयोको ग्रहण करती हैं, परंतु एक ही समय ग्रहण नही कर सकती । अर्थात् जिस समय जिह्वा इन्द्रिय रसका अनुभव करती है, उस समय अन्य श्रोत्रादि इद्रियोका कार्य नही होता । **सारांश**—एक इद्रियका जब कार्य होता है, तब दूसरीका बन्द रहता है, क्योंकि अंतरंगमें जो क्षायोपशमिकज्ञान है, उसकी शक्ति क्रमसे प्रवर्तती है । जैसे काकके दोनो नेत्रोकी पूतली एक ही होती है, परंतु वह पूतली ऐसी चचल है, कि लोगोको यह मालूम पडता है, जो दोनो नेत्रोमे जुदी जुदी पूतली हैं । यथार्थमे वह एक ही है, जिस समय वह जिस नेत्रसे देखता है, उस समय उसी नेत्रमे आ जाती

यैर्युगपत्तेऽपि न गृह्यन्ते, तथाविधक्षयोपशमनशक्तेरसंभवात् । इन्द्रियाणां हि क्षयोपशमसंज्ञिकायाः परिच्छेद्याः शक्तेरन्तरङ्गायाः काकाक्षितारकवत् क्रमप्रवृत्तिवशादनेकतः प्रकाशयितुमसमर्थत्वात्सत्स्वपि द्रव्येन्द्रियद्वारेषु न यौगपद्येन निखिलेन्द्रियार्थावबोधः सिद्ध्येत्, परोक्षत्वात् ॥५६॥

अथेन्द्रियज्ञानं न प्रत्यक्षं भवतीति निश्चिनोति—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा ।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥५७॥

परद्रव्यं तान्यक्षाणि नैव स्वभाव इत्यात्मनो भणितानि ।
उपलब्ध तै कथ प्रत्यक्षमात्मनो भवति ॥५७॥

आत्मानमेव केवलं प्रतिनियतं केवलज्ञानं प्रत्यक्षं, इदं तु व्यतिरिक्तास्तित्व-

---

मत्राभिप्राय —यथा सर्वप्रकारोपादेयभूतस्यानन्तसुखस्योपादानकारणभूत केवलज्ञान युगपत्समस्त वस्तु जानत्सत् जीवस्य सुखकारण भवति तथेदमिन्द्रियज्ञान स्वकीयविषयेऽपि युगपत्परिज्ञानाभावात्सुखकारण न भवति ॥ ५६ ॥ अथेन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष न भवतीति व्यवस्थापयति—**परदव्वं ते अक्खा** तानि प्रसिद्धान्यक्षाणीन्द्रियाणि परद्रव्य भवन्ति। कस्य। आत्मन **णेव सहावो ति अप्पणो भणिदा** योऽसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव आत्मन सबन्धी तत्स्वभावानि निश्चयेन न भणितानीन्द्रियाणि । कस्मात् । भिन्नास्तित्वनिष्पन्नत्वात् । **उवलद्ध तेहि** उपलब्ध ज्ञात यत्पञ्चेन्द्रियविषयभूत वस्तु तैरिन्द्रियै **कधं पच्चक्खं अप्पणो** होदि तद्वस्तु कथ प्रत्यक्षं भवत्यात्मनो न कथमपीति । तथैव च नानामनोरथव्याप्तिविषये प्रतिपाद्यप्रतिपादकादिविकल्पजालरूपं यन्मनस्तदपीन्द्रियज्ञानवन्निश्चयेन परोक्षं भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् । सकलैकाखण्डप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमज्योति.कारणभूते स्वशुद्धात्मस्वरूपभावनासमुत्पन्नपरमाह्लादैकलक्षणसुखसवित्त्याकारपरिणति-

---

है, परतु एक बार दोनो नेत्रोसे नही देख सकता। यही दशा क्षायोपशमिकज्ञानकी है। यह ज्ञान स्पर्शादि पाँचो विषयोको एक ही बार जाननेमे असमर्थ है। जिस समय जिस इन्द्रियरूप द्वारमे जाननेरूप प्रवृत्ति करता है, उस समय उसी द्वारमे रहता है, अन्य द्रव्येन्द्रिय द्वारमे नही। इस कारण एक ही काल सब इन्द्रियोसे ज्ञान नही होता। इसी लिये इन्द्रियज्ञान परोक्ष है, पराधीन है, और हेय है ॥ ५६ ॥ आगे इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नही है, ऐसा निश्चित करते है—[**आत्मन.**] आत्माका [**स्वभावः**] चेतनास्वभाव [**नैव**] उन इन्द्रियोमे [**नैव**] नही है, [**इति**] इसलिये [**तानि अक्षाणि**] वे स्पर्शनादि इन्द्रियाँ [**परद्रव्य**] अन्य पुद्गलद्रव्य [**भणितानि**] कही गई है। [**तै.**] उन इन्द्रियोसे [**उपलब्धं**] प्राप्त हुए (जाने हुए) पदार्थ [**आत्मन**] आत्माके [**कथ**] कैसे [**प्रत्यक्ष**] प्रत्यक्ष [**भवति**] होवे ? कभी नही होवें। **भावार्थ**—आत्मा चैतन्यस्वरूप है, और द्रव्येन्द्रियाँ जडस्वरूप है। इन इन्द्रियोके द्वारा जाना हुआ पदार्थ प्रयत्क्ष नही हो सकता, क्योकि पराधीनतासे रहित आत्माके आधीन जो ज्ञान है, उसे ही प्रत्यक्ष कहते है, और यह इन्द्रियज्ञान पुद्गलकी इंद्रियोंके द्वारा उनके आधीन होकर पदार्थको जानता है, इस कारण परोक्ष है तथा पराधीन है।

योगितया परद्रव्यतामुपगतैरात्मनः स्वभावतां मनागप्यसंस्पृशद्भिरिन्द्रियैरुपलभ्योपजन्यमानं नैवात्मनः प्रत्यक्षं भवितुमर्हति ॥५७॥

अथ परोक्षप्रत्यक्षलक्षणमुपलक्षयति—

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमट्ठेसु ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥

यत्परतो विज्ञानं तत्तु परोक्षमिति भणितमर्थेषु ।
यदि केवलेन ज्ञातं भवति हि जीवेन प्रत्यक्षम् ॥५८॥

यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धेः संस्कारादालोकादेर्वा निमित्ततामुपगतात् स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदनं तत् परतः प्रादुर्भवत्परोक्षमित्यालक्ष्यते । यत्पुनरन्तःकरणमिन्द्रियं परोपदेशमुपलब्धिसंस्कारमालोकादिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभावमेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्वद्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत् केवलादेवात्मनः संभूतत्वात् प्रत्यक्ष-

---

रूपे रागादिविकल्पोपाधिरहिते स्वसंवेदनज्ञाने भावना कर्तव्या इत्यभिप्रायः ॥ ५७ ॥ अथ पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणं कथयति—**जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदं** यत्परतः सकाशाद्विज्ञानं परिज्ञानं भवति तत्पुनः परोक्षमिति भणितम् । केषु विषयेषु । **अट्ठेसु** ज्ञेयपदार्थेषु **जदि केवलेण णादं हवदि हि** यदि केवलेनासहायेन ज्ञातं भवति हि स्फुटम् । केन कर्तृभूतेन । **जीवेण** जीवेन तर्हि **पच्चक्खं** प्रत्यक्षं भवतीति । अतो विस्तरः —इन्द्रियमनःपरोपदेशावलोकादिबहिरङ्गनिमित्तभूतात्तथैव च ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितार्थग्रहणशक्तिरूपाया उपलब्धेरर्थावधारणरूपसंस्काराच्चान्तरङ्गकारणभूतात्सकाशादुत्पद्यते यद्विज्ञानं तत्पराधीनत्वात्परोक्षमित्युच्यते । यदि पुनः पूर्वोक्तसमस्तपरद्रव्यमनपेक्ष्य केवलाच्छुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मनः सकाशात्समुत्पद्यते ततोऽक्षनामानमात्मानं

ऐसे ज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं कह सकते ॥५७॥ आगे परोक्ष और प्रत्यक्षका लक्षण दिखाते हैं—[**यत्**] जो [**परतः**] परकी सहायतासे [**अर्थेषु**] पदार्थोंमें [**विज्ञानं**] विशेष ज्ञान उत्पन्न होवे, [**तत्**] वह [**परोक्षं**] परोक्ष है, [**इति भणितं**] ऐसा कहा है । [**तु**] परंतु [**यदि**] जो [**केवलेन**] परकी सहायता विना अपने आप ही [**जीवेन**] आत्माकर [**हि**] निश्चयसे [**ज्ञातं**] जाना जावे, [**तदा**] तो वह [**प्रत्यक्षं**] प्रत्यक्षज्ञान [**भवति**] है । **भावार्थ**—जो ज्ञान मनसे, पाँच इंद्रियोंसे, परोपदेशसे, क्षयोपशमसे, पूर्वके अभ्याससे और सूर्यादिकके प्रकाशसे उत्पन्न होता है, उसे परोक्षज्ञान कहते हैं, क्योंकि यह ज्ञान इन्द्रियादिक परद्रव्य स्वरूप निमित्तोंसे उत्पन्न होता है, और परजनित होनेसे पराधीन है । परंतु जो ज्ञान, मन इन्द्रियादिक परद्रव्योंकी सहायताके विना केवल आत्माकी ही सहायतासे उत्पन्न होता है, तथा एक ही समयमें सब द्रव्य पर्यायोंको जानता है, उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह केवल आत्माके आधीन है, यही महा प्रत्यक्षज्ञान आत्मीकस्वाभाविक

मित्यालक्ष्यते । इह हि सहजसौख्यसाधनीभूतमिदमेव महाप्रत्यक्षमभिप्रेतमिति ॥५८॥

अथैतदेव प्रत्यक्षं पारमार्थिकसौख्यत्वेनोपक्षिपति—

जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं ।
रहियं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणियं ॥५९॥

जातं स्वयं समस्तं ज्ञानमनन्तार्थविस्तृत विमलम् ।
रहितं तु अवग्रहादिभि सुखमिति ऐकान्तिकं भणितम् ॥५९॥

स्वयं जातत्वात्, समष्तत्वात्, अनन्तार्थविस्तृतत्वात्, विमलत्वात्, अवग्रहादिरहितत्वाच्च प्रत्यक्षं ज्ञान सुखमैकान्तिकमिति निश्चीयते । अनाकुलत्वैकलक्षणत्वात्सौख्यस्य, यतो हि परतो जायमानं पराधीनतया असमस्तमितरद्वारावरणेन कतिपयार्थप्रवृत्तमितरार्थबुभुत्सया समलमसम्यगवबोधेन अवग्रहादिसहितं, क्रमकृतार्थग्रहणखेदेन परोक्षं ज्ञानमत्यन्तमाकुल भवति । ततो न तत् परमार्थतः सौख्यम् । इद तु पुनरनादिज्ञानसामान्यस्वभावस्योपरि महाविकाशेनाभिव्याप्य स्वत एव व्यवस्थितत्वात्स्वयं जायमानमात्माधीनतया, समस्तात्मप्रदेशान् परमसमक्षज्ञानोपयोगी-

---

प्रतीत्योत्पद्यमानत्वात्प्रत्यक्ष भवतीति सूत्राभिप्राय॰ ॥५८॥ एव हेयभूतेन्द्रियज्ञानकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन तृतीयस्थल गतम् । अथाभेदनयेन पञ्चविशेपणविशिष्ट केवलज्ञानमेव सुखमिति प्रतिपादयति—**जादं** जातम् उत्पन्नम् । किं कर्तृ । **णाणं** केवलज्ञानम् । कथ जातम् । **सय** स्वयमेव । पुनरपि किंविशिष्टम् । **समत्तं** परिपूर्णम् । पुनरपि किंरूपम् । **अणंतत्थवित्थडं** अनन्तार्थविस्तीर्णम् । पुन. कीदृशम् । **विमलं** सशयादिमलरहितम् । पुनरपि कीदृक् । **रहिय तु ओग्गहाविहिं** अवग्रहादिरहित चेति । एव पञ्चविशेषणविशिष्ट यत्केवलज्ञान **सुहं ति एगतिय भणियं** तत्सुख भणितम् । कथभूतम् । ऐकान्तिक नियमेनेति । तथाहि—परनिरपेक्षत्वेन चिदानन्दैकस्वभाव निजशुद्धात्मानमुपादानकारण कृत्वा समुत्पद्यमानत्वात्स्वय जायमान सत्सर्वशुद्धात्मप्रदेशाधारत्वेनोत्पन्नत्वात्समस्त

सुखका साधन माना है ॥५८॥ आगे यही अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान निश्चयसुख है, ऐसा अभेद दिखाते हैं—[**स्वयं जात**] अपने आपसे ही उत्पन्न [**समस्त**] सपूर्ण [**अनन्तार्थविस्तृतं**] सब पदार्थोंमे फैला हुआ [**विमल**] निर्मल [**तु**] और [**अवग्रहादिभि रहितं**] अवग्रह, ईहा आदिसे रहित [**ज्ञान**] ऐसा ज्ञान [**ऐकान्तिक सुखं**] निश्चय सुख है, [**इति भणित**] इस प्रकार सर्वज्ञने कहा है। **भावार्थ**—जिसमे आकुलता न हो, वही सुख है । यह अतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान आकुलता रहित है, इसलिये सुखरूप है । यह परोक्षज्ञान पराधीन है, क्योकि परसे (द्रव्येन्द्रियसे) उत्पन्न है । असपूर्ण है । क्योकि आवरण सहित है । सब पदार्थोंको नही जाननेसे सबमे विस्ताररूप नही हैं, सकुचित हैं, सशयादिक सहित होनेसे मल सहित है, निर्मल नही है, क्रमवर्ती है, क्योकि अवग्रह ईहादि युक्त है, और खेद (आकुलता) सहित होनेसे निराकुल नही है, इसलिये परोक्षज्ञान सुखरूप नही है, और यह अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान पराधीनता रहित एक निज शुद्धात्माके कारणको पाकर उत्पन्न हुआ है, इसलिये आपसे ही उत्पन्न है, आवरण रहित होनेसे अपने आत्माके सब प्रदेशोमे अपनी अनंत शक्ति सहित

भूयाभिव्याप्य व्यवस्थितत्वात्समन्तम् अशेषद्वारापावरणेन, प्रसभं निपीतसमस्तवस्तुज्ञेयाकारं परमं वैश्वरूप्यमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादनन्तार्थविस्तृत समस्तार्थाबुभुत्सया, सकलशक्तिप्रतिबन्धककर्मसामान्यनिःक्रान्ततया परिस्पष्टप्रकाशभास्वर स्वभावमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वाद्विमलं सम्यगवबोधेन, युगपत्समर्पितत्रैसमयिकात्मस्वरूप लोकालोकमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादवग्रहादिरहितं क्रमकृतार्थग्रहणखेदाभावेन प्रत्यक्षं ज्ञानमनाकुलं भवति । ततस्तत्पारमार्थिक खलु सौख्यम् ॥५९॥

अथ केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य सभवादैकान्तिकसुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे—

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥६०॥

यत्केवलमिति ज्ञान यत्सौख्य परिणामश्च स चैव ।
खेदस्तस्य न भणितो यस्मात् घातीनि क्षयं यातानि ॥६०॥

अत्र को हि नाम खेदः कश्च परिणामः कश्च केवलसुखयोर्व्यतिरेकः, यतः केवलस्यैकाकान्तिकसुखत्व न स्यात् । खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नाम केवल परि-

---

सर्वज्ञानाविभागपरिच्छेदपरिपूर्णं सत् समस्तावरणक्षयेनोत्पन्नत्वात्समस्तज्ञेयपदार्थग्राहकत्वेन विस्तीर्णं सत् सशयविमोहविभ्रमरहितत्वेन सूक्ष्मादिपदार्थपरिच्छित्तिविपयेऽत्यन्तविशदत्वाद्विमल सत् क्रमकरणव्यवधानजनितखेदाभावादवग्रहादिरहित च सत्, यदेव पञ्चविशेषणविशिष्ट क्षायिकज्ञान तदनाकुलत्वलक्षणपरमानन्दैकरूपपारमार्थिकसुखात्सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयेनाभिन्नत्वात्पारमार्थिकसुख भण्यते । इत्यभिप्राय ॥५९॥ अथानन्तपदार्थपरिच्छेदनात्केवलज्ञानेऽपि भेदोऽस्तीति पूर्वपक्षे सति परिहारमाह—**ज केवल ति णाण त सोक्ख** यत्केवलमिति ज्ञान तत्सौख्य भवति, तस्मात् **खेदो तस्स ण भणिदो** तस्य केवलज्ञानस्य खेदो दु ख न भणितम् । तदपि कस्मात् । **जम्हा घादी खय जादा** यस्मान्मोहादिघातिकर्माणि क्षय गतानि । तर्हि तस्यानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामो दु ख-

---

है, इसलिये सम्पूर्ण है, अपनी ज्ञायकशक्तिके वलसे समस्त ज्ञेयाकारोको मानो पिया ही है, इस कारण सब पदार्थोंमे विस्तीर्ण है, अनन्त शक्तिको बाधा करनेवाले कर्मोंके क्षयसे सशय, विमोह, विभ्रम दोष रहित सकल सूक्ष्मादि पदार्थोंको स्पष्ट (प्रगट) जानता है, इसलिये निर्मल है, और अतीत, अनागत, वर्तमानकालरूप लोकालोकको एक ही बार जानता है, इसलिये अक्रमवर्ती है, खेदयुक्त नही है, निराकुल है, इस कारण प्रत्यक्षज्ञान ही अतीन्द्रियसुख है, ऐसा जानना ॥५९॥ आगे केवलज्ञानीको सवके जाननेसे खेद उत्पन्न होता होगा, इस प्रकारके तर्कका निषेध करनेको कहते हैं—[**यत्**] जो [**केवल इति**] केवल ऐसे नामवाला [**ज्ञानं**] ज्ञान है, [**तत्**] वह [**सौख्य**] अनाकुल सुख है, [**च**] और [**स एव**] वही सुख [**परिणाम**] सवके जाननेरूप परिणाम है। [**तस्य**] उस केवलज्ञानके [**खेद**] आकुलभाव [**न भणितः**] नही कहा है, [**यस्मात्**] क्योकि [**घातीनि**] ज्ञानावरणादि चार घातियाकर्म [**क्षय**] नाशको [**जातानि**] प्राप्त हुए हैं । **भावार्थ**—मोहकर्मके उदयसे यह आत्मा मतवाला-सा होकर

णाममात्रम् । घातिकर्माणि हि महामोहोत्पादकत्वादुन्मत्तकवदतस्मिंस्तद्बुद्धिमाधाय परिच्छेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यतः परिणामयन्ति, ततस्तानि तस्य प्रत्यर्थं परिणम्य परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते । तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेदः । यतश्च त्रिसमयावच्छिन्नसकलपदार्थपरिच्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूतं चित्रभित्तिस्थानीयमनन्तस्वरूपं स्वयमेव परिणमत्केवलमेव परिणामः, ततः कुतोऽन्यः परिणामो यद्द्वारेण खेदस्यात्मलाभः । यतश्च समस्तस्वभावप्रतिघाताभावात्समुल्लसितनिरङ्कुशानन्तशक्तितया सकलं त्रैकालिकं लोकालोकाकारमभिव्याप्य कूटस्थत्वेनात्यन्तनिःप्रकम्पं व्यवस्थितत्वादनाकुलतां सौख्यलक्षणभूतामात्मनोऽव्यतिरिक्तां बिभ्राणं केवलमेव सौख्यम् । ततः कुतः केवलसुखयोर्व्यतिरेकः । अतः सर्वथा केवलं सुखमैकान्तिकमनुमोदनीयम् ॥६०॥

कारणं भविष्यति । नैवम् । **परिणमं च सो चेव** तस्य केवलज्ञानस्य संबन्धी परिणामश्च स एव सुखरूप एवेति । इदानीं विस्तरः —ज्ञानदर्शनावरणोदये सति युगपदर्थान् ज्ञातुमशक्यत्वात् क्रमकरणव्यवधानग्रहणे खेदो भवति, आवरणद्वयाभावे सति युगपद्ग्रहणे केवलज्ञानस्य खेदो नास्तीति सुखमेव । तथैव तस्य भगवतो जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिसमर्थमखण्डैकरूपं प्रत्यक्षपरिच्छित्तिमयं स्वरूपं परिणमत्सत् केवलज्ञानमेव परिणामो न च केवलज्ञानाद्भिन्नपरिणामोऽस्ति येन खेदो भविष्यति । अथवा परिणामविषये द्वितीयव्याख्यानं क्रियते—युगपदनन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामेऽपि वीर्यान्तरायनिरवशेषक्षयादनन्तवीर्यत्वात् खेदकारणं नास्ति, तथैव च शुद्धात्मसर्वप्रदेशेषु समरसीभावेन परिणममानानां सहजशुद्धानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादपरिणतिरूपामात्मनः सकाशादभिन्नामनाकुलतां प्रति खेदो नास्ति । संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयेनाभेदरूपेण परिणममानं केवलज्ञानमेव सुखं भण्यते । ततः स्थितमेतत्केवलज्ञानाद्भिन्नं सुखं नास्ति । तत एव केवलज्ञाने खेदो न संभवतीति ॥ ६० ॥ अथ पुनरपि केवलज्ञानस्य सुखस्वरूपतां प्रकारान्तरेण दृढयति—

असत्य वस्तुमे सत् बुद्धिको धारता हुआ ज्ञेय पदार्थोंमे परिणमन करता है, जिससे कि वे घातियाकर्म इसे इन्द्रियो के आधीन करके पदार्थके जाननेरूप परिणमाते खेदके कारण होते है । इससे सिद्ध हुआ, कि घातियाकर्मोंके होनेपर आत्माके जो अशुद्ध ज्ञानपरिणाम है, वे खेदके कारण हैं—अर्थात् ज्ञानको खेदके कारण घातियाकर्म हैं । परतु जहा इन घातियाकर्मोंका अभाव है, वहा केवलज्ञानावस्थामे खेद नही हो सकता, क्योंकि "कारणके अभावसे कार्यका भी अभाव हो जाता है" ऐसा न्याय है । एक ही समय त्रिकालवर्ती सब ज्ञेयोको जाननेमे समर्थ चित्र विचित्र भीतकी तरह अनन्तस्वरूप परिणाम है, वह केवलज्ञान परिणाम है । इस स्वाधीन परिणाममे खेदके उत्पन्न होनेकी सभावना कैसे हो सकती है? ज्ञान स्वभावके घातनेवाले कर्मोका नाश होनेसे ज्ञानकी अनतशक्ति प्रगट होती है, उससे समस्त लोकालोकके आकारको व्याप्त कर कूटस्थ अवस्थासे, अत्यत निश्चल तथा आत्मासे, अभिन्न अनन्तसुखरूप अनाकुलता सहित केवलज्ञान ही सुख है, ज्ञान औरसुखमे कोई भेद नही है । इस कारण सब तरहसे निश्चयकर केवलज्ञानको ही सुख मानना योग्य है ॥६०॥ आगे फिर भी केवलज्ञानको सुखरूप दिखाते हैं—[अर्थान्तगतं] पदार्थोंके पारको प्राप्त हुआ [ज्ञानं] केवलज्ञान

अथ पुनरपि केवलस्य सुखस्वरूपतां निरूपयन्नुपसंहरति—

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी ।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं हि तं लद्धं ॥६१॥

ज्ञानमर्थान्तगत लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टि ।
नष्टमनिष्ट सर्वमिष्ट पुनर्यद्धि तल्लब्धम् ॥६१॥

स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम् । आत्मनो हि दृशिज्ञप्ती स्वभावः तयोर्लोकालोकविस्तृतत्वेनार्थान्तगतत्वेन च स्वच्छन्दविजृम्भितत्वाद्भवति प्रतिघाताभावः । ततस्तद्धेतुकं सौख्यमभेदविवक्षायां केवलस्य स्वरूपम् । किंच केवल सौख्यमेव, सर्वानिष्टप्रहाणात् । सर्वेष्टोपलम्भाच्च । यतो हि केवलावस्थायां सुखप्रतिपत्तिविपक्षभूतस्य दुःखस्य साधनतामुपगतमज्ञानमखिलमेव प्रणश्यति, सुखस्य साधनीभूतं तु परिपूर्णं ज्ञानमुपजायेत । ततः केवलमेव सौख्यमित्यल प्रपञ्चेन ॥६१॥

णाणं अत्थतगय ज्ञान केवलज्ञानमर्थान्तिगत ज्ञेयान्तप्राप्त **लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी** लोकालोकयोर्विस्तृता दृष्टि केवलदर्शनम् । **णट्ठमणिट्ठ सव्व** अनिष्ट दु खमज्ञान च तत्सर्वं नष्ट **इट्ठ पुण जं हि तं लद्ध** इष्ट पुनर्यद् ज्ञान सुख च हि स्फुट तत्सर्वं लब्धमिति । तद्यथा–स्वभावप्रतिघाताभावहेतुक सुख भवति । स्वभावो हि केवलज्ञानदर्शनद्वय, तयो प्रतिघात आवरणद्वय तस्याभाव केवलिना, तत कारणात्स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकमक्षयानन्तसुख भवति । यतश्च परमानन्दैकलक्षणसुखप्रतिपक्षभूतमाकुलत्वोत्पादकमनिष्ट दु खमज्ञान च नष्ट, यतश्च पूर्वोक्तलक्षणसुखाविनाभूत त्रैलोक्योदरविवरवर्तिसमस्तपदार्थयुग पत्प्रकाशकमिष्ट ज्ञान च लब्ध, ततो ज्ञायते केवलिना

है । [तु] तथा [**लोका लोकेषु**] लोक और अलोकमे [**विस्तृता**] फेला हुआ [**दृष्टि**] केवलदर्शन है, जब [**सर्वं अनिष्ट** [सब दु खदायक अज्ञान [**नष्ट**] नाश हुआ [**पुन**] तो फिर [**यत्**] जो [**इष्टं**] सुखका देनेवाला ज्ञान है, [**तत्**] वह [**लब्ध**] प्राप्त हुआ ही । **भावार्थ**—जो आत्माके स्वभावका घात करता है, उसे दुख कहते है, और उस घातनेवालेका नाश वह सुख है। आत्माके स्वभाव ज्ञान और दर्शन हैं । सो जबतक इन ज्ञान दर्शनरूप स्वभावोके घातनेवाले आवरण रहते हैं, तबतक सब जानने और देखनेकी स्वच्छन्दता नही रहती, यही आत्माके दु ख है । घातक आवरणके नाश होनेपर ज्ञान दर्शनसे सबका जानना और देखना होता है । यही स्वच्छदतासे निराबाध (निराकुल) सुख है । इसलिये अनन्तज्ञान दर्शन सुखके कारण हैं, और अभेदकी विवक्षासे (कहनेकी इच्छासे) जो केवलज्ञान है, वही आत्मीक सुख है, क्योकि केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है । आत्माके दु खका कारण अनिष्टस्वरूप अज्ञान है, वह तो केवलअवस्थामे नाशको प्राप्त होता है, और सुखका कारण इष्टस्वरूप जो सबका जाननारूप ज्ञान है, वह प्रगट होता है । साराश यह है, कि

अथ केवलिनामेव पारमार्थिकसुखमिति श्रद्धापयति—

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं ।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ।। ६२ ।।

न श्रद्दधति सौख्यं सुखेषु परममिति विगतघातिनाम् ।
श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छन्ति ।। ६२ ।।

इह खलु स्वभावप्रतिघातादाकुलत्वाच्च मोहनीयादिकर्मजालशालिना सुखाभासेऽप्यपारमार्थिकी सुखमिति रूढिः । केवलिनां तु भगवतां प्रक्षीणघातिकर्मणां स्वभावप्रतिघाताभावादनाकुलत्वाच्च यथोदितस्य हेतोर्लक्षणस्य च सद्भावात्पारमार्थिकं सुखमिति श्रद्धेयम् । न किलैवं येषां श्रद्धानमस्ति ते खलु मोक्षसुखसुधापानदूरवर्तिनो मृगतृष्णाम्भोभारमेवाभव्याः पश्यन्ति । ये पुनरिदमिदानीमेव वचः प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजन समासन्नभव्याः भवन्ति । ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते

ज्ञानमेव सुखमित्यभिप्राय. ।। ६१ ।। अथ पारमार्थिकसुख केवलिनामेव, संसारिणा ये मन्यन्ते तेऽभव्या इति निरूपयति—**णो सद्दहंति** नैव श्रद्दधति न मन्यन्ते । किम् । **सोक्खं** निर्विकारपरमाह्लादैकसुखम् । कथभूत न मन्यन्ते । **सुहेसु परमं ति** सुखेषु मध्ये तदेव परमसुखम् । केषा सबन्धि यत्सुखम् । **विगदघादीण** विगतघातिकर्मणा केवलिनाम् । किं कृत्वापि न मन्यन्ते । **सुणिदूण** 'जाद सयं समत्तं' इत्यादिपूर्वोक्तगाथात्रयकथितप्रकारेण श्रुत्वापि **ते अभव्वा** ते अभव्या ते हि जीवा वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्यभावादभव्या भण्यन्ते, न पुन. सर्वथा **भव्वा वा तं पडिच्छंति** ये वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्तिपरिणतास्तिष्ठन्ति ते तदनन्तसुखमिदानी मन्यन्ते । ये च सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्या भाविकाले परिणमिष्यन्ति ते च दूरभव्या अग्रे श्रद्धान कुर्युरिति । अयमत्रार्थ'—मारणार्थं तलवरगृहीततस्करस्य मरणमिव यद्यपीन्द्रियसुखभिष्टं न भवति, तथापि तलवरस्थानीयचारित्रमोहोदयेन मोहित सन्निरुपरागस्वात्मोत्यसुखमलभमान. सन् सरागसम्यग्दृष्टिरात्मनिन्दादिपरिणतो हेयरूपेण तदनुभवति । ये पुनर्वीतरागसम्यग्दृष्टयः शुद्धोपयोगिनस्तेषा, मत्स्याना स्थलगमनमिवाग्निप्रवेश इव वा निर्विकारशुद्धात्मसुखाच्च्यवनमपि दु ख प्रतिभाति । तथा चोक्तम्—"समसुखशीलितमनसा च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामा. । स्थलमपि दहति

केवलज्ञान ही सुख है, अधिक कहने से क्या ? ।। ६१ ।। अब केवलीके ही पारमार्थिक अतीन्द्रियसुख है, ऐसा निश्चय करते हैं—[**विगतघातिनां**] जिनके घातियाकर्मोंका क्षय हो गया है, ऐसे केवली भगवानके [**सुखेषु परमं सौख्यं**] अन्य सब सुखोमे उत्कृष्ट अतीद्रिय सुख है, [**इति श्रुत्वा**] ऐसा सुनकर [**ये**] जो कोई पुरुष [**न हि श्रद्दधति**] विश्वास नही करते, [**ते**] वे पुरुष [**अभव्या**] सम्यक्त्वरूप परिणतिसे रहित अभव्य हैं । [**वा**] और जो पुरुष [**तत्**] केवलीके उस अतीद्रिय सुखको [**प्रतिच्छन्ति**] मानते हैं, [**'ते' भव्या**] वे भव्य हैं, अर्थात् सम्यक्त्व परिणामकर सहित हैं । **भावार्थ**—सम्यग्दृष्टि जीव ससारके सुखोंको सुखाभास समझते हैं, और इद्रियसुखोको रूढिसे सुख मानते हैं । परतु यथार्थमे केवलीके सुखको ही सुख मानते है,

तु दूरभव्या इति ॥६२॥

अथ परोक्षज्ञानिनामपारमार्थिकमिन्द्रियसुखं विचारयति—

मणुयासुरामरिंदा अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ६३ ॥

मनुजासुरामरेन्द्रा अभिद्रुता इन्द्रियैः सहजैः ।
असहमानास्तद्दुःखं रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ६३ ॥

अमीषां प्राणिनां हि प्रत्यक्षज्ञानाभावात्परोक्षज्ञानमुपसर्पतां तत्सामग्रीभूतेषु स्वरसत एवेन्द्रियेषु मैत्री प्रवर्तते । अथ तेषां तेषु मैत्रीमुपगतानामुदीर्णमहामोहकालानलकवलितानां तप्तायोगोलानामिवात्यन्तमुपात्ततृष्णानां तद्दुःखवेगमसहमानानां व्याधिसात्म्यतामुपगतेषु रम्येषु विषयेषु रतिरुपजायते । ततो व्याधिस्थानीयत्वादिन्द्रियाणां व्याधिसात्म्यसमत्वाद्विषयाणां च न छद्मस्थानां पारमार्थिकं सौख्यम् ॥६३॥

ज्ञषाणा किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गारा" ॥ ६२ ॥ एवमभेदनयेन केवलज्ञानमेव सुखं भण्यते इति कथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन चतुर्थस्थलं गतम् । अथ संसारिणामिन्द्रियज्ञानसाधकमिन्द्रियसुखं विचारयति—**मणुआसुरामरिंदा** मनुजासुरामरेन्द्राः । कथंभूताः । **अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं** अभिद्रुताः कदर्थिता दुःखिताः । कैः इन्द्रियैः सहजैः । **असहंता तं दुक्खं** तद्दुःखोद्रेकमसहमानाः सन्तः । **रमंति विसएसु रम्मेसु** रमन्ति विषयेषु रम्याभासेषु इति । अथ विस्तरः—मनुजादयो जीवा अमूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखास्वादमलभमानाः सन्तः मूर्तेन्द्रियज्ञानसुखनिमित्तं पञ्चेन्द्रियेषु मैत्रीं कुर्वन्ति । ततश्च तप्तलोहगोलकानामुदकाकर्षणमिव विषयेषु तीव्रतृष्णा जायते । तां तृष्णामसहमाना विषयाननुभवन्ति इति । ततो ज्ञायते पञ्चेन्द्रियाणि व्याधिस्थानीयानि, विषयाश्च तत्प्रतीकारौषधस्थानीया इति संसारिणां वास्तवं सुखं नास्ति ॥ ६३ ॥ अथ यावदिन्द्रियव्यापारस्तावद्दुःखमेवेति कथयति—**जेसिं विसयेसु रदी** येषां निर्विषयातीन्द्रियपरमात्मस्वरूपविपरीतेषु विषयेषु

क्योंकि उनके घातियाकर्मोंके नाश होनेसे अनाकुलता प्रगट होती है, और आकुलता रहित सुख ही पारमार्थिक (निश्चयसे) सुख है। जो अज्ञानी आत्मीक सुखके आस्वाद लेनेवाले नहीं हैं, वे मृग-तृष्णाकी तरह अजलमें जलबुद्धि करके इंद्रियाधीन सुखको सुख मानते हैं ॥ ६२ ॥ अब परोक्षज्ञानियोंके इंद्रियाधीन सुख है, परमार्थसुख नहीं है, ऐसा कहते हैं—[**सहजैः**] स्वाभाविक व्याधिरूप [**इन्द्रियैः**] इंद्रियोंसे [**अभिद्रुताः**] पीडित [**मनुजासुरामरेन्द्राः**] मनुष्य, असुर, (पातालवासीदेव) और देवोंके (स्वर्गवासीदेवोंके) इन्द्र अर्थात् स्वामी [**तत् दुःखं**] उस इंद्रियजनित दुःखको [**असहमानाः**] सहन करनेमें असमर्थ होते हुए [**रम्येषु विषयेषु**] रमणीक इंद्रियजनित सुखोंमें [**रमन्ति**] क्रीडा करते हैं। **भावार्थ**—संसारी जीवोंके प्रत्यक्षज्ञानके अभावसे परोक्षज्ञान है। जो कि इंद्रियोंके आधीन है, और तप्त लोहेके गोलेके समान महा-मोहरूप कालाग्निसे ग्रसित तीव्र तृष्णा सहित है। जैसे व्याधिसे पीडित होकर रोगी औषध सेवन करता है, उसी प्रकार इंद्रियरूप व्याधिसे दुःखी होकर यह जीव इन्द्रियोंके स्पर्श रसादि विषयरूप औषधका सेवन

अथ यावदिन्द्रियाणि तावत्स्वभावादेव दुःखमेवं वितर्कयति—

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ ६४ ॥

येषा विषयेषु रतिस्तेषा दु ख विजानीहि स्वाभावम् ।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥ ६४ ॥

येषां जीवदवस्थानि हतकानीन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुःखम् । किंतु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेरवलोकनात् । अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्श इव, शफरस्य बडिशामिषस्वाद इव, इन्दिरस्य संकोचसंमुखारविन्दामोद इव, पतङ्गस्य प्रदीपार्चीरूप इव, कुरङ्गस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः । यदि पुनर्न तेषां दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगम्येत तदोपशान्तशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्रसंरम्भस्य च वटाचूर्णावचूर्णनमिव, विनष्टकर्ण-

---

रति **तेसिं दुक्ख वियाण सब्भाव** तेषा बहिर्मुखजीवाना निजशुद्धात्मद्रव्यसवित्तिसमुत्पन्ननिरुपाधिपारमार्थिकसुखविपरीत स्वभावेनैव दु खमस्तीति विजानीहि । कस्मादिति चेत् । पञ्चेन्द्रियविषयेषु रतेरवलोकनात् **जइ त ण हि सब्भाव** यदि तद्दु ख स्वभावेन नास्ति हि स्फुट **वावारो णत्थि विसयत्थ** तर्हि विषयार्थं व्यापारो नास्ति न घटते । व्याधिस्थानामौषधेष्विव विषयार्थं

करता है । इससे सिद्ध हुआ, कि परोक्षज्ञानी अत्यत दु खी है, उनके आत्मीक निश्चयसुख नही है ॥ ६३ ॥ आगे कहते हैं, कि जबतक इन्द्रियां हैं, तबतक स्वाभाविक दु ख ही है—[**येषां**] जिन जीवोकी [**विषयेषु**] इन्द्रिय विषयोमे [**रति**] प्रीति है, [**तेषा**] उनके [**दुःखं**] दु ख [**स्वाभाव**] स्वभावसे ही [**विजानीहि**] जानो । क्योकि [**यदि**] जो [**तत्**] वह इन्द्रियजन्य दु ख [**हि**] निश्चयसे [**स्वभावं**] सहज ही से उत्पन्न हुआ [**न**] न होता, तो [**विषयार्थं**] विषयोके सेवनेके लिये [**व्यापार**] इन्द्रियोकी प्रवृत्ति भी [**नास्ति**] नही होती । **भावार्थ**—जिन जीवोके इन्द्रियां जीवित है, उनके अन्य (दूसरी) उपाधियोसे कोई दु ख नही है, सहजसे ये ही महान् दु'ख हैं, क्योकि इन्द्रियाँ अपने विषयोको चाहती हैं, और विषयोकी चाहसे आत्माको दु ख उत्पन्न होता प्रत्यक्ष देखा जाता है । जैसे—हाथी स्पर्शन इन्द्रियके विषयसे पीडित होकर कुट्टिनी (कपटिनी) हथिनीके वशमे पडके पकडा जाता है । रसना इन्द्रियके विषयसे पीडित होकर मछली बडिश (लोहेका काँटा) के मासके चाखनेके लोभसे प्राण खो देती है । भौरा घ्राण इन्द्रियके विषयसे सताया हुआ संकुचित (मुँदे) हुए कमलमे गधके लोभसे कैद होकर दु खी होता है । पतङ्ग जीव नेत्र इन्द्रियके विषयसे पीडित हुआ दीपकमे जल मरता है, और हरिन श्रोत्र इन्द्रियके विषयवश वीणाकी आवाजके वशीभूत हो, व्याधाके हाथसे पकडा जाता है । यदि इन्द्रियाँ दु खरूप न होती, तो विषयको इच्छा भी नही होती, क्योकि शीतज्वरके दूर होनेपर अग्निके सेककी आवश्यकता नही रहती, दाहज्वरके न रहनेपर काजी-सेवन व्यर्थ होता है, इसी प्रकार नेत्र-पीड़ाकी निवृत्ति होने पर खपरियाके सग मिश्री आदि औषध, कर्णशूल रोगके नाश

शूलस्य वत्समूत्रपूरणमिव, रूढव्रणस्यालेपनदानमिव, विषयव्यापारो न दृश्येत। दृश्यते चासौ। ततः स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदवस्थेन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः ॥६४॥

अथ मुक्तात्मसुखप्रसिद्धये शरीरस्य सुखसाधनतां प्रतिहन्ति—

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥ ६५ ॥

प्राप्येष्टान् विषयान् स्पर्शैः समाश्रितान् स्वभावेन।
परिणममान आत्मा स्वयमेव सुखं न भवति देहः ॥ ६५ ॥

अस्य खल्वात्मनः सशरीरावस्थायामपि न शरीरं सुखसाधनतामापद्यमानं पश्यामः, यतस्तदापि पीनोन्मत्तकरसैरिव प्रकृष्टमोहवशवर्तिभिरिन्द्रियैरिमेऽस्माकमिष्टा इति क्रमेण विषयानभिपतद्भिरसमीचीनवृत्तितामनुभवन्नुपरुद्धशक्तिसारेणापि ज्ञानदर्शनवीर्यात्मकेन निश्चयकारणतामुपागतेन स्वभावेन परिणममानः स्वयमेवाय-

---

व्यापारो दृश्यते चेत्तत एव ज्ञायते दुःखमस्तीत्यभिप्रायः ॥ ६४ ॥ एवं परमार्थेनेन्द्रियसुखस्य दुःखस्थापनार्थं गाथाद्वयं गतम्। अथ मुक्तात्मनां शरीराभावेऽपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं शरीरं सुखकारणं न स्यादिति व्यक्तीकरोति—**पप्पा** प्राप्य। कान्। **इट्ठे विसये** इष्टपञ्चेन्द्रियविषयान्। कथंभूतान्। **फासेहिं समस्सिदे** स्पर्शनादीन्द्रियरहितशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणैः स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैः समाश्रितान् सम्यक् प्राप्यान् ग्राह्यान्, इत्थंभूतान् विषयान् प्राप्य। स कः। **अप्पा** आत्मा कर्ता। किंविशिष्टः। **सहावेण परिणममाणो** अनन्तसुखोपादानभूतशुद्धात्मस्वभावविपरीतेनाशुद्धसुखोपादानभूतेनाशुद्धात्मस्वभावेन परिणममानः। इत्थंभूतः सन् **सयमेव सुहं** स्वयमेवेन्द्रियसुखं भवति परिणमति। **ण हवदि देहो** देहः पुनरचेतनत्वात्सुखं न भवतीति। अयमत्रार्थः—कर्मावृतसंसारिजीवानां यदिन्द्रियसुखं तत्रापि जीव उपादानकारणं न च देहः,

---

होनेपर बकरेका मूत्र आदि, व्रण (घाव) रोगके अच्छे होनेपर आलेपन (पट्टी) आदि औषधियाँ निष्प्रयोजन होती हैं, उसी प्रकार जो इन्द्रियाँ दुःखरूप न होवें, तो विषयोकी चाह भी न होवे। परंतु इच्छा देखी जाती है, जो कि रोगके समान है, और उसकी निवृत्तिके लिये विषय—भोग औषध तुल्य हैं। सारांश यह हुआ, कि परोक्षज्ञानी इन्द्रियाधीन स्वभावसे ही दुःखी हैं ॥ ६४ ॥ अब कहते है, कि मुक्तात्माओंको शरीरके बिना भी सुख है, इसलिये शरीर सुखका कारण नहीं है—[**स्पर्शैः**] स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियोंसे [**समाश्रितान्**] भलेप्रकार आश्रित [**इष्टान् विषयान्**] प्यारे भोगोंको [**प्राप्य**] पाकर [**स्वभावेन**] अशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावसे [**परिणममानः आत्मा**] परिणमन करता हुआ आत्मा [**स्वयमेव**] आप ही [**सुखं**] इन्द्रिय-सुखस्वरूप [**भवति**] है, [**देहः**] शरीर [**'सुखं'**] सुखरूप [**न**] नहीं है। **भावार्थ—**इस आत्माके शरीर अवस्थाके होते भी हम यह नहीं देखते हैं, कि सुखका कारण शरीर है। क्योंकि यह आत्मा मोह प्रवृत्तिसे मदोन्मत्त इन्द्रियोंके वशमें पड़कर निंदनीय अवस्थाको धारण करता हुआ अशुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य, स्वभावरूप परिणमन करता है, और उन

मात्मा सुखतामापद्यते । शरीरं त्वचेतनत्वादेव सुखत्वपरिणतेर्निश्चयकारणतामनुपागच्छन्न जातु सुखतासुपढौकत इति ॥६५॥

अथैतदेव दृढयति—

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा ।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥ ६६ ॥

एकान्तेन हि देह सुखं न देहिन करोति स्वर्गे वा ।
विषयवशेन तु सौख्य दु खं वा भवति स्वयमात्मा ॥ ६६ ॥

अयमत्र सिद्धान्तो यद्दिव्यवैक्रियिकत्वेऽपि शरीर न खलु सुखाय कल्प्येतेतीष्टानामनिष्टानां वा विषयाणां वशेन सुख वा दुःखं वा स्वयमेवात्मा स्यात् ॥६६॥

अथात्मनः स्वयमेव सुखपरिणामशक्तियोगित्वाद्विषयाणामकिंचित्करत्वं द्योतयति—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥ ६७ ॥

देहकर्मरहितमुक्तात्मना पुनर्यदनन्तातीन्द्रियसुख तत्र विशेषेणात्मैव कारणमिति ॥ ६५ ॥ अथ मनुष्यशरीर मा भवतु, देवशरीर दिव्य तत्किल सुखकारण भविष्यतीत्याशङ्का निराकरोति—**एगतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि** एकान्तेन हि स्फुट देह कर्ता सुख न करोति । कस्य । देहिन ससारिजीवस्य । क्व । **सग्गे वा** आस्ता तावन्मनुष्याणा मनुष्यदेहः सुख न करोति, स्वर्गे वा योऽसौ दिव्यो देवदेह सोऽप्युपचार विहाय सुख न करोति । **विसयवसेण दु सोक्खं दुक्ख वा हवदि सयमादा** किंतु निश्चयेन निर्विषयामूर्तस्वाभाविकसदानन्दैकसुखस्वभावोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशाद्विषयाधीनत्वेन परिणम्य सासारिकसुख दु ख वा स्वयमात्मैव भवति, न च देह इत्यभिप्राय ॥६६ ॥ एव मुक्तात्मना देहाभावेऽपि सुखमस्तीति परिज्ञानार्थं ससारिणामपि देह सुखकारण न भवतीतिकथनरूपेण गाथाद्वय गतम् । अथात्मन स्वयमेव सुखस्वभावत्वान्निश्चयेन यथा देह सुखकारण न भवति

विषयोमे आप ही सुख मान लेता है । शरीर जड है, इसलिए सुखरूप कार्यका उपादान कारण अचेतन शरीर कभी नही हो सकता । साराश यह है, कि ससार अवस्थामे भी शरोर सुखका कारण नही है, आत्मा ही सुखका कारण है ॥६५ ॥ आगे "ससार अवस्थामे भी आत्मा ही सुखका कारण है" इसी बातको फिर दृढ करते है—[**एकान्तेन**] सब तरहसे [**हि**] निश्चय कर [**देह**] शरीर [**देहिनः**] देहधारी आत्माको [**स्वर्गे वा**] स्वर्गमे भी [**सुख**] सुखरूप [**न करोति**] नही करता [**तु**] किंतु [**विशयवशेन**] विषयो के आधोन होकर [**आत्मा स्वय**] यह आत्मा आप ही [**सौख्य वा दु'ख**] सुखरूप अथवा दु.खरूप [**भवति**] होता है । **भावार्थ**—सब गतियोमे स्वर्गगति उत्कृष्ट है, परतु उसमे भी उत्तम वैक्रियकशरीर सुखका कारण नही है, औरोकी तो बात क्या है । क्योकि इस आत्माका एक ऐसा स्वभाव है कि वह इष्ट अनिष्ट पदार्थोके वश होकर आप ही सुख दु खकी कल्पना कर लेता है । यथार्थमे शरीर सुख दु खका कारण नही है ॥ ६६ ॥ अब कहते है, कि आत्माका स्वभाव ही सुख है, इसलिए इन्द्रियोके विषय भी सुखक कारण नही हैं—[**यदि**] जो [**जनस्य**] चोर आदि जीवकी

तिमिरहरा यदि दृष्टिर्जनस्य दीपेन नास्ति कर्तव्यम् ।
तथा सौख्यं स्वयमात्मा विषया किं तत्र कुर्वन्ति ॥ ६७ ॥

यथा हि केषांचिन्नक्तचराणां चक्षुषः स्वयमेव तिमिरविकरणशक्तियोगित्वान्न तदपाकरणप्रवणेन प्रदीपप्रकाशादिना कार्यं, एवमस्यात्मनः संसारे मुक्तौ वा स्वयमेव सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मुधाध्यास्यमाना अपि विषयाः किं हि नाम कुर्युः ॥६७॥

अथात्मनः सुखस्वभावत्वं दृष्टान्तेन दृढयति—

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो ॥ ६८ ॥

स्वयमेव यथादित्यस्तेजः उष्णश्च देवता नभसि ।
सिद्धोऽपि तथा ज्ञानं सुखं च लोके तथा देवः ॥ ६८ ॥

यथा खलु नभसि कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव प्रभाकरः प्रभूतप्रभाभार भास्वर-

---

तथा विषया अपीति प्रतिपादयति—**जइ** यदि **दिट्ठी** नक्तचरजनस्य दृष्टिः **तिमिरहरा** अन्धकारहरा भवति **जणस्स** जनस्य **दीवेण णत्थि कायव्वं** दीपेन नास्ति कर्तव्यं तस्य प्रदीपादीनां यथा प्रयोजनं नास्ति **तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति** तथा निर्विषयामूर्तसर्वप्रदेशाह्लादकसहजानन्दैकलक्षणसुखस्वभावो निश्चयेनात्मैव, तत्र मुक्तौ संसारे वा विषयाः किं कुर्वन्ति न किमपीति भावः ॥ ६७ ॥ अथात्मनः सुखस्वभावत्वं ज्ञानस्वभावं च पुनरपि दृष्टान्तेन दृढयति—**सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि** कारणान्तरं निरपेक्ष्य स्वयमेव यथादित्यः स्वपरप्रकाशरूपं तेजो भवति, तथैव च स्वयमेवोष्णो भवति, तथा चाज्ञानिजनानां देवता भवति । क्व स्थितः । नभसि

[दृष्टिः] देखनेकी शक्ति [तिमिरहरा] अंधकारके दूर करनेवाली हो [तदा] तो उसे [दीपेन] दीपकसे [कर्तव्यं] कुछ कार्य करना [नास्ति] नहीं है, [तथा] उसी प्रकार [आत्मा] जीव [स्वयं] आपही [सौख्यं] सुखस्वरूप है [तत्र] वहाँ [विषयाः] इन्द्रियोंके विषय [किं कुर्वन्ति] क्या करते हैं ? कुछ भी नहीं । भावार्थ—जैसे सिंह, सर्प, राक्षस, चोर, आदि रात्रिमें विचरनेवाले जीव अंधेरेमें भी पदार्थोंको अच्छी तरह देख सकते हैं— उनकी दृष्टि अंधकारमें भी प्रकाश करती है, अन्य दीपक आदि प्रकाश-करनेवाले सहायक कारणोंकी अपेक्षा नहीं रखती, इसी प्रकार आत्मा आपही सुखस्वभाववाला है, उसके सुखानुभव करनेमें विषय बिना कारण नहीं हो सकते । विषयोंसे सुख अज्ञानी जनोंने व्यर्थ मान रखा है, यह मानना मोहका विलास है—मिथ्या भ्रम है । इससे यह कथन सिद्ध हुआ, कि जैसे शरीर सुखका कारण नहीं है, वैसे इन्द्रियोंके विषय भी सुखके कारण नहीं हैं ॥ ६७ ॥ अब आत्माके ज्ञान-सुख दृष्टान्तसे दृढ करते हैं—[यथा] जैसे [नभसि] आकाशमें [आदित्यः] सूर्य [स्वयमेव] आप ही अन्य कारणोंके बिना [तेजः] बहुत प्रभाके समूहसे प्रकाशरूप है, [उष्णः] तप्तायमान लोहपिंडकी तरह हमेशा गरम है, [च] और [देवता] देवगतिनामकर्मके उदयसे देव

स्वरूपविकस्वरप्रकाशशालितया तेजः। यथा च कादाचित्कौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवन्नित्यमेवौष्ण्यपरिणामापन्नत्वादुष्णः। यथा च देवगतिनामकर्मोदयानुवृत्तिवशवर्तिस्वभावतया देवः। तथैव लोके कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थनिर्वितथानन्तशक्तिसहजसंवेदनतादात्म्यात् ज्ञानं, तथैव चात्मतृप्तिसमुपजातपरिनिर्वृतिप्रवर्तितानाकुलत्वसुस्थितत्वात् सौख्यं, तथैव चासन्नात्मतत्त्वोपलम्भलब्धवर्णजनमानसशिलास्तम्भोत्कीर्णसमुदीर्णद्युतिस्तुतियोगादिव्यात्मस्वरूपत्वाद्देवः। ततोऽस्यात्मनः सुखसाधनाभासैर्विषयैः पर्याप्तम् ॥६८॥ इति आनन्द-

---

आकाशे **सिद्धो वि तहा णाण सुह च** सिद्धोऽपि भगवास्तथैव कारणान्तर निरपेक्ष्य स्वभावेनैव स्वपरप्रकाशकं केवलज्ञान, तथैव परमतृप्तिरूपमनाकुलत्वलक्षण सुखम्। क्व। **लोगे** जगति **तहा देवो** निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुन्दरानन्दस्यन्दिसुखामृतपानपिपासिताना गणधरदेवादिपरमयोगिना देवेन्द्रादीना चासन्नभव्याना मनसि निरन्तर परमाराध्य, तथैवानन्तज्ञानादिगुणस्तवनेन स्तुत्य च यद्दिव्यमात्मस्वरूप तत्स्वभावत्वात्तथैव देवश्चेति। ततो ज्ञायते मुक्तात्मना विषयैरपि प्रयोजन नास्तीति ॥ ६८ ॥ एव स्वभावेनैव सुखस्वभावत्वाद्विषया अपि मुक्तात्मना सुखकारण न भवन्तीतिकथनरूपेण गाथाद्वय गतम्। अथेदानी **श्रीकुन्दकुन्दाचार्य** देवाः पूर्वोक्तलक्षणानन्तसुखाधारभूत सर्वज्ञ वस्तुस्तवेन नमस्कुर्वन्ति।

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइय माहप्प जस्स सो अरिहो ॥ * ३ ॥

तेजो दिट्ठी णाण इड्ढी सोक्ख तहेव ईसरिय तिहुवणपहाणदइयं तेजः प्रभामण्डल, जगत्त्रयकालत्रयवस्तुगतयुगपत्सामान्यास्तित्वग्राहक केवलदर्शन, तथैव समस्तविशेषास्तित्वग्राहक केवलज्ञान, ऋद्धिशब्देन समवसरणादिलक्षणा विभूतिः, सुखशब्देनाव्याबाधानन्तसुख, तत्पदाभिलाषेण इन्द्रादयोऽपि भृत्यत्व कुर्वन्तीत्येव लक्षणमैश्वर्यं, त्रिभुवनाधीशानामपि वल्लभत्व दैव भण्यते **माहप्पं जस्स सो अरिहो** इत्थभूत माहात्म्य यस्य सोऽर्हन् भण्यते। इति वस्तुस्तवनरूपेण नमस्कार कृतवन्त ॥ ३ ॥

पदवीको धारण करनेवाला है। **[तथा]** वैसे ही **[लोके]** इस जगत्मे **[सिद्धः अपि]** शुद्धात्मा भी **[ज्ञान]** ज्ञानस्वरूप है, **[सुखं]** सुखस्वरूप है, **[च]** और **[देवः]** देव अर्थात् पूज्य है। **भावार्थ**—जिस प्रकार सूर्य अपने सहज स्वभावसे ही अन्य कारणोके बिना तेजवान् है, उष्ण है, और देवता है, उसी प्रकार यह भगवान् आत्मा अन्य कारणोके बिना सहजसे सिद्ध अपने-परके प्रकाश करनेवाले अनत शक्तिमय चैतन्यप्रकाशसे ज्ञानस्वरूप है, अपनी तृप्तिरूप अनाकुल स्थिरता से सुखरूप है, और इसी प्रकार आत्माके रसके आस्वादी कोई एक सम्यग्दृष्टि निकटभव्य चतुरजन हैं, उनके चित्तरूपी पत्थरके स्तभ (खभे) मे सिद्धस्वरूप चित्रित होनेसे पूज्य तथा स्तुति योग्य देव है। साराश—आत्मा स्वभावसे ही ज्ञान सुख और पूज्य इन गुणोकर सहित है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि सुखके कारण जो इद्रियोके विषय कहे जाते हैं उनसे आत्माको सुख नही होता, वह आप ही सुखस्वभावरूप है ॥ ६८ ॥ इस प्रकार **अतीन्द्रियसुखाधिकार** पूर्ण हुआ। आगे इस

प्रपञ्चः । इतः शुभपरिणामाधिकारप्रारम्भः ।

अथेन्द्रियसुखस्वरूपविचारमुपक्रममाणस्तत्साधनस्वरूपमुपन्यस्यति—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु ।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ।। ६९ ।।

देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु ।
उपवासादिषु रक्त शुभोपयोगात्मक आत्मा ।। ६९ ।।

अथ तस्यैव भगवत सिद्धावस्थाया गुणस्तवनरूपेण नमस्कार कुर्वन्ति—

त गुणदो अधिगवर अविच्छिद मणुवदेवपदिभावं
अपुणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्ध ।। *४ ।।

पणमामि नमस्करोमि **पुणो पुणो** पुन पुन । कम् । **तं सिद्धं** परमागमप्रसिद्ध सिद्धम् । कथभूतम् । **गुणदो अधिगवरं** अव्याबाधानन्तसुखादिगुणैरधिकतर समधिकतरगुणम् । पुनरपि कथभूतम् । **अविच्छिद मणुवदेवपदिभावं** यथा पूर्वमर्हदवस्थाया मनुजदेवेन्द्रादय समवशरणे समागत्य नमस्कुर्वन्ति तेन प्रभुत्व भवति, तदतिक्रान्तत्वादतिक्रान्तमनुजदेवपतिभावम् । पुनश्च किं विशिष्टम् । **अपुणब्भावणिबद्ध** द्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारभवाद्विलक्षणशुद्धबुद्धैकस्वभावनिजात्मोपलम्भलक्षणो योऽसौ मोक्षस्तस्याधीनत्वादपुनर्भावनिबद्धमिति भाव ।। ४ ।। एव नमस्कारमुख्यत्वेन गाथाद्वय गतम् । इति गाथाष्टकेन पञ्चमस्थल ज्ञातव्यम् । एवमष्टादशगाथाभि स्थलपञ्चकेन सुखप्रपञ्चनामान्तराधिकारो गत । इति पूर्वोक्तप्रकारेण 'एस सुरासुर' इत्यादि चतुर्दशगाथाभि पीठिका गता, तदनन्तरं सप्तगाथाभि सामान्यसर्वज्ञसिद्धि, तदनन्तर त्रयस्त्रिंशद्गाथाभि ज्ञानप्रपञ्च, तदनन्तरमष्टादशगाथाभि सुखप्रपञ्च इति समुदायेन द्वासप्ततिगाथाभिरन्तराधिकारचतुष्टयेन **शुद्धोपयोगाधिकारः** समाप्त ।। इति ऊर्ध्वं पञ्चविंशतिगाथापर्यन्त ज्ञानकण्ठिकाचातुष्टयाभिधानोऽधिकार प्रारभ्यते, तत्र पञ्चविंशतिगाथामध्ये प्रथम तावच्छुभाशुभविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'देवदजदिगुरु' इत्यादि दशगाथापर्यन्त प्रथमज्ञानकण्ठिका कथ्यते । तदनन्तरमात्मात्मस्वरूपपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'चत्ता पावारभ' इत्यादि सप्तगाथापर्यंन्त द्वितीयज्ञानकण्ठिका, अथानन्तर द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'दव्वादीएसु' इत्यादि गाथाषट्कपर्यन्त तृतीयज्ञानकण्ठिका । तदनन्तर स्वपरतत्त्वपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'णाणप्पग' इयादि गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्ठिका । इति चतुष्टयाभिधानाधिकारे समुदायपातनिका । अथेदानी प्रथमज्ञानकण्ठिकाया स्वतन्त्रव्याख्यानेन गाथाचतुष्टय, तदनन्तर पुण्य जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयतीति कथनरूपेण

अधिकारमे इद्रियजनित सुखका विचार किया जावेगा, उसमे भी पहले इद्रियसुखका कारण शुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं—[**यः**] जो आत्मा [**देवतायतिगुरुपूजासु**] देव, यति, तथा गुरुकी पूजा मे [**च**] और [**दाने**] दानमे [**वा**] अथवा [**सुशीलेषु**] गुणव्रत, महाव्रत, आदि उत्तम शीलो [स्वभावो मे], [**उपवासादिषु**] आहार आदिके त्यागोमे [**एव**] निश्चयसे [**रक्त**] लवलीन है, [**'स' आत्मा**] वह जीव [**शुभोपयोगात्मक**] शुभोपयोगी अर्थात् शुभ परिणामवाला है।

यदायमात्मा दुःखस्य साधनीभूतां द्वेषरूपामिन्द्रियार्थानुरागरूपां चाशुभोपयोगभूमिकामतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादानशीलोपवासप्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनीभूतां शुभोपयोगभूमिकामधिरूढोऽभिलप्येत ॥६९॥

अथ शुभोपयोगसाध्यत्वेनेन्द्रियसुखमाख्याति—

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इंदियं विविहं ॥ ७० ॥

युक्तः शुभेन आत्मा तिर्यग्वा मानुषो वा देवो वा ।
भूतस्तावत्कालं लभते सुखमैन्द्रियं विविधम् ॥ ७० ॥

अयमात्मेन्द्रियसुखसाधनीभूतस्य शुभोपयोगस्य सामर्थ्यात्तदधिष्ठानभूतानां तिर्यग्मानुषदेवत्वभूमिकानामन्यतमां भूमिकामवाप्य यावत्कालमवतिष्ठते, तावत्काल-

---

गाथाचतुष्टय, तदनन्तरमुपसहाररूपेण गाथाद्वय, इति स्थलत्रयपर्यन्त क्रमेण व्याख्यान क्रियते । तद्यथा—अथ यद्यपि पूर्वं गाथाषट्केनेन्द्रियसुखस्वरूप भणित तथापि पुनरपि तदेव विस्तरेण कथयन् सन् तत्साधक शुभोपयोग प्रतिपादयति, अथवा द्वितीयपातनिका—पीठिकाया यच्छुभोपयोगस्वरूप सूचितं तस्येदानीमिन्द्रियसुखविशेषविचारप्रस्तावे तत्साधकत्वेन विशेषविवरण करोति— **देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु** देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु **उववासादिसु रत्तो** तथैवोपवासादिषु च रक्त आसक्त' **अप्पा** जीव **सुहोवओगप्पगो** शुभोपयोगात्मको भण्यते इति । तथाहि–देवता निर्दोषिपरमात्मा, इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूप-प्रयत्नपरो यतिः, स्वय भेदाभेदरत्नत्रयाराधकस्तदर्थिना भव्याना जिनदीक्षादायको गुरुः, पूर्वोक्तदेवतायतिगुरूणा तत्प्रतिबिम्बादीना च यथासभव द्रव्यभावरूपा पूजा, आहारादिचतुर्विधदान च आचारादिकथितशीलव्रतानि तथैवोपवासा जिनगुणसपत्त्यादिविधिविशेषाश्च। एतेषु शुभानुष्ठानेषु योऽसौ रतः द्वेषरूपे विषयानुरागे चाशुभानुष्ठाने विरत', स जीवः शुभोपयोगी भवतीति सूत्रार्थः ॥ ६९ ॥ अथ पूर्वोक्तशुभोपयोगेन साध्यमिन्द्रियसुखं कथयति—**सुहेण जुत्तो आदा** यथा निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन युक्तो मुक्तो भूत्वाऽय जीवोऽनन्तकालमतीन्द्रियसुख लभते, तथा पूर्वसूत्रोक्तलक्षणशुभोपयोगेन युक्त परिणतोऽयमात्मा **तिरियो वा माणुसो व देवो वा भूदो** तिर्यग्मनुष्यदेवरूपो भूत्वा

भावार्थ—जो जीव धर्ममे अनुराग (प्रीति) रखते है, उन्हे इन्द्रियसुखकी साधनेवाली शुभोपयोगरूपी भूमि मे प्रवर्तमान कहते हैं ॥ ६९ ॥ आगे शुभोपयोगसे इन्द्रियसुख होता है, ऐसा कहते हैं—[**शुभेन युक्त**] शुभोपयोगकर सहित [**आत्मा**] जीव [**तिर्यक्**] उत्तम तिर्यंच [**वा**] अथवा [**मानुषः**] उत्तम मनुष्य [**वा**] अथवा [**देव**] उत्तम देव [**भूत**] होता हुआ [**तावत्काल**] उतने कालतक, अर्थात् तिर्यंच आदिकी जितनी स्थिति है, उतने समयतक, [**विविधं**] नाना प्रकारके [**ऐन्द्रियं सुखं**] इन्द्रियजनित सुखोको [**लभते**] पाता है । **भावार्थ**—यह जीव शुभ परिणामोसे तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन तीन गतियोमे उत्पन्न होता है, वहांपर,

मनेकप्रकारमिन्द्रियसुखं समासादयतीति ॥७०॥

अथैवमिन्द्रियसुखमुत्क्षिप्य दुःखत्वे प्रक्षिपति—

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ७१ ॥

सौख्यं स्वभावसिद्धं नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे ।
ते देहवेदनार्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ७१ ॥

इन्द्रियसुखभाजनेषु हि प्रधाना दिवौकसः, तेषामपि स्वाभाविकं न खलु सुखमस्ति प्रत्युत तेषां स्वाभाविकं दुःखमेवावलोक्यते । यतस्ते पञ्चेन्द्रियात्मकशरीर-

---

तावदि कालं तावत्कालं स्वकीयायुःपर्यन्तं **लहदि सुहं इंदियं विविहं** इन्द्रियजं विविधं सुखं लभते, इति सूत्राभिप्रायः ॥ ७० ॥ अथ पूर्वोक्तमिन्द्रियसुखं निश्चयनयेन दुःखमेवेत्युपदिशति—**सोक्खं सहावसिद्धं** रागाद्युपाधिरहितं चिदानन्दैकस्वभावेनोपादानकारणभूतेन सिद्धमुत्पन्नं यत्स्वाभाविकसुखं तत्स्वभावसिद्धं भण्यते । तच्च **णत्थि सुराणं पि** आस्तां मनुष्यादीनां सुखं देवेन्द्रादीनामपि नास्ति **सिद्धमुवदेसे** इति सिद्धमुपदिष्टमुपदेशे परमागमे । **ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु** तथाभूतसुखाभावात्ते देवादयो देहवेदनार्ताः पीडिताः कदर्थिताः सन्तो रमन्ते विषयेषु रम्याभासेष्विति । अथ विस्तरः—अधोभागे सप्तनरकस्थानीयमहाजगरप्रसारितमुखे, कोणचतुष्के तु क्रोधमानमायालोभस्थानीयसर्पचतुष्कप्रसारितवदने देहस्थानीयमहान्धकूपे पतितः सन् कश्चित् पुरुषविशेषः, संसारस्थानीयमहारण्ये मिथ्यात्वादिकुमार्गे नष्टः पतितः सन् मृत्युस्थानीयहस्तिभयेनायुष्कर्मस्थानीये साटिकविशेषे शुक्लकृष्णपक्षस्थानीयशुक्लकृष्णमूषकद्वयछेद्यमानमूले व्याधिस्थानीयमधुमक्षिकावेष्टिते लग्नस्तेनैव हस्तिना हन्यमाने सति विषयसुखस्थानीयमधुबिन्दुसुस्वादेन यथा सुखं मन्यते,

---

अपनी-अपनी कालकी स्थिति तक अनेक तरहके इद्रियजनित सुखोको भोगता है ॥ ७० ॥ आगे कहते हैं, कि इद्रियजनित सुख यथार्थमे दुःख ही हैं—[**सुराणामपि**] देवोके भी [**स्वभावसिद्ध सौख्य**] आत्माके निज स्वभावसे उत्पन्न अतीद्रिय सुख [**नास्ति**] नही है, [**'इति'**] इसप्रकार [**उपदेशे**] भगवानके परमागममे [**सिद्ध**] अच्छी तरह युक्तिसे कहा है। [**यतः**] क्योकि [**ते**] वे देव [**देहवेदनार्ता**] पचेन्द्रियस्वरूप शरीरकी पीडासे दुःखी हुए [**रम्येषु विषयेषु**] रमणीक इद्रिय विषयोमे [**रमन्ति**] क्रीडा करते हैं । **भावार्थ**—सब सासारिक सुखोमे अणिमादि आठ ऋद्धि सहित देवोके सुख प्रधान हैं, परंतु वे यथार्थ आत्मीक—सुख नही हैं, स्वाभाविक दुःख ही हैं, क्योकि जब पचेन्द्रियरूप पिशाच उनके शरीरमे पीडा उत्पन्न करता है, तब ही वे देव मनोज्ञ विषयोमे गिर पडते हैं। अर्थात् जिस प्रकार कोई पुरुष किसी वस्तु विशेषसे पीडित होकर पर्वतसे पड कर मरता है, इसी प्रकार इद्रियजनित दुःखोंसे पीड़ित होकर उनके विषयोमे यह आत्मा रमण (मौज) करता है। इसलिये इंद्रिय-

पिशाचपीडया परवशा भृगुप्रपातस्थानीयान्मनोज्ञविषयानभिपतन्ति ॥७१॥

अथैवमिन्द्रियसुखस्य दुःखतायां युक्त्यावतारितायामिन्द्रियसुखसाधनीभूतपुण्यनिर्वर्तकशुभोपयोगस्य दुःखसाधनीभूतपापनिर्वर्तकाशुभोपयोगविशेषादविशेषत्वमवतारयति---

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं ।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥ ७२ ॥

नरनारकतिर्यक्सुरा भजन्ति यदि देहसंभवं दु खम् ।
कथ स शुभो वाऽशुभ उपयोगो भवति जीवानाम् ॥७२॥

यदि शुभोपयोगजन्यसमुदीर्णपुण्यसंपदस्त्रिदशादयोऽशुभोपयोगजन्यपर्यागतपातकापदो वा नारकादयश्च, उभयेऽपि स्वाभाविकसुखाभावादविशेषेण पञ्चेन्द्रियात्मशरीरप्रत्ययं दुःखमेवानुभवन्ति । ततः परमार्थतः शुभाशुभोपयोगयोः पृथक्त्वव्यवस्था नावतिष्ठते ॥७२॥

अथ शुभोपयोगजन्यं फलवत्पुण्यं विशेषेण दूषणार्थमभ्युपगम्योत्थापयति---

---

तथा ससारसुखम् । पूर्वोक्तमोक्षसुख तु तद्विपरीतमिति तात्पर्यम् ॥ ७१ ॥ अथ पूर्वोक्तप्रकारेण शुभोपयोगसाध्यस्येन्द्रियसुखस्य निश्चयेन दु खत्व ज्ञात्वा तत्साधकशुभोपयोगस्याप्यशुभोपयोगेन सह समानत्व व्यवस्थापयति---**णरणारयतिरियसुरा भजति जदि देहसभव दुक्खं** सहजातीन्द्रियामूर्तसदानन्दैकलक्षण वास्तवसुखमेव सुखमलभमाना सन्तो नरनारकतिर्यक्सुरा यदि चेदविशेषेण पूर्वोक्तपरमार्थसुखाद्विलक्षण पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरोत्पन्न निश्चयनयेन दु खमेव भजन्ते सेवन्ते **किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाण** व्यवहारेण विशेषेऽपि निश्चयेन स प्रसिद्ध शुद्धोपयोगाद्विलक्षण शुभाशुभोपयोग कथ भिन्नत्वं लभते, न कथमपीति भाव ॥ ७२ ॥ एव स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन प्रथमस्थल गतम् । अथ पुण्यानि देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिपद प्रयच्छन्ति इति पूर्वं प्रशसा करोति ।

जनित सुख दु खरूप ही हैं । अज्ञानबुद्धिसे सुखरूप मालूम पडते है, एक दु खके ही सुख और दु ख ये दोनो भेद हैं ॥ ७१ ॥ आगे इद्रिय---सुखका साधक पुण्यका हेतु शुभोपयोग और दु खका साधन पापका कारण अशुभोपयोग इन दोनोमे समानपना दिखाते हैं---**[यदि]** जो **[नरनारकतिर्यक्सुरा.]** मनुष्य, नारकी, तिर्यंच (पशु) तथा देव, ये चारो गतिके जीव **[देहसंभव दु ख]** शरीरसे उत्पन्न हुई पीडाको **[भजन्ति]** भोगते है, **[तदा]** तो **[जीवानां]** जीवोके **[स उपयोग]** वह चैतन्यरूप परिणाम **[शुभ]** अच्छा **[वा]** अथवा **[अशुभः]** बुरा **[कथ भवति]** कैसे हो सकता है ? **भावार्थ**---शुभोपयोगका फल देवनाओकी सपदा है, और अशुभोपयोगका नारकादिकी आपदा है, परतु इन दोनोमे आत्मीक-सुख नही है इसलिए इन दोनो स्थानोमे दु ख ही है । साराश यह है, कि जो परमार्थदृष्टिसे विचारा जावे, तो शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनोमे कुछ भेद नही है । कार्यकी समानता होनेसे कारणकी भी समानता है ॥ ७२ ॥ आगे शुभोपयोगसे उत्पन्न हुए फलवान् पुण्यको विशेषपनेसे दूपणके लिये दिखलाकर निषेध करते है---**[सुखिता इव]** सुखियोके समान **[अभिरता]** लवलीन

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ।। ७३ ।।

कुलिशायुधचक्रधरा शुभोपयोगात्मकैः भोगैः ।
देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति सुखिता इवाभिरताः ।। ७३ ।।

यतो हि शक्राश्चक्रिणश्च स्वच्छोपगतैर्भोगैः शरीरादीन् पुष्णन्तस्तेषु दुष्टशोणित इव जलौकसोऽत्यन्तमासक्ताः सुखिता इव प्रतिभासन्ते । ततः शुभोपयोगजन्यानि फलवन्ति पुण्यान्यवलोक्यन्ते ।।७३।।

अथैवमभ्युपगतानां पुण्यानां दुःखबीजहेतुत्वमुद्भावयति—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ।। ७४ ।।

यदि सन्ति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि ।
जनयन्ति विषयतृष्णां जीवानां देवतान्तानाम् ।। ७४ ।।

यदि नामैवं शुभोपयोगपरिणामकृतसमुत्पत्तीन्यनेकप्रकाराणि पुण्यानि विद्यन्ते

किमर्थम् । तत्फलाधारेणाग्रे तृष्णोत्पत्तिरूपदुःखदर्शनार्थं देवेन्द्राश्चक्रवर्तिनश्च कर्तारः शुभोपयोगजन्यभोगैः कृत्वा विकुर्वणारूपेण देहपरिवारादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति । कथंभूताः सन्तः । सुखिता इवाभिरता आसक्ता इति । अथमत्रार्थः—यत्परमातिशयतृप्तिसमुत्पादकं विषयतृष्णाविच्छित्तिकारकं च स्वाभाविकसुखं तदलभमाना दुष्टशोणिते जलयूका इवासक्ताः सुखाभासेन देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति । ततो ज्ञायते तेषां स्वाभाविकं सुखं नास्तीति ।। ७३ ।। अथ पुण्यानि जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयन्तीति प्रतिपादयति—**जदि संति हि पुण्णाणि य** यदि चेन्निश्चयेन पुण्यपापरहितपरमात्मनो विपरीतानि पुण्यानि सन्ति । पुनरपि किंविशिष्टानि । **परिणामसमुब्भवाणि** निर्विकारस्वसंवित्तिविलक्षणशुभपरिणामसमुद्भवानि **विविहाणि** स्वकीयानन्तभेदेन बहुविधानि । तदा तानि किं

हुए [**कुलिशायुधचक्रधरा**] वज्रायुधधारी इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदिक [**शुभोपयोगात्मकैः**] शुभ उपयोगसे उत्पन्न हुए [**भोगैः**] भोगों से [**देहादीनां**] शरीर इन्द्रियादिकोंकी [**वृद्धिं**] बढ़ती [**कुर्वन्ति**] करते हैं । **भावार्थ**—यद्यपि शुभोपयोगसे इन्द्र, चक्रवर्ती आदि विशेष फल मिलते हैं, परंतु वे इंद्रादिक मनोवांछित भोगोंसे शरीरादिका पोषण ही करते हैं, सुखी नहीं हैं, सुखीसे देखनेमें आते हैं । जैसे जोंक विकारवाले लोहूको बड़ी प्रीतिसे पीती हैं, और उसीमें सुख मानती है, परंतु यथार्थमें वह पीना दुःखका कारण है । इसी प्रकार वे इन्द्र वगैरह भी तृष्णासे सुख मान रहे हैं ।। ७३ ।। आगे शुभोपयोगजनित पुण्यको भी दुःखका कारण प्रगट दिखलाते हैं—[**यदि**] जो [**हि**] निश्चयसे [**विविधानि**] नानाप्रकारके [**पुण्यानि**] पुण्य [**परिणामसमुद्भवानि**] शुभोपयोगरूप परिणामोंसे उत्पन्न [**सन्ति**] हैं । [**तदा**] तो वे [**देवतान्तानां**] स्वर्गवासी देवोंतक [**जीवानां**]

इत्यभ्युपगम्यते, तदा तानि सुधाशनानामप्यवधि कृत्वा समस्तसंसारिणां विषयतृष्णामवश्यमेव समुत्पादयन्ति। न खलु तृष्णामन्तरेण दुष्टशोणित इव जलूकाना समस्तससारिणां विषयेषु प्रवृत्तिरवलोक्यते, अवलोक्यते च सा। ततोऽस्तु पुण्यानां तृष्णायतनत्वमबाधितमेव ॥७४॥

अथ पुण्यस्य दुःखबीजविजयमाघोपयति—

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥ ७५ ॥

ते पुनरुदीर्णतृष्णा दु खितास्तृष्णाभिर्विषयसौख्यानि।
इच्छन्त्यनुभवन्ति च आमरणं दु खसतप्ता. ॥ ७५ ॥

अथ ते पुनस्त्रिदशावसानाः कृत्स्नससारिणः समुदीर्णतृष्णाः पुण्यनिर्वर्तिताभिरपि तृष्णाभिर्दुःखबीजतयाऽत्यन्तदुःखिताः सन्तो मृगतृष्णाभ्य इवाम्भांसि विषयेभ्यः सौख्यान्यभिलषन्ति। तद्दुःखसतापवेगमसहमाना अनुभवन्ति च विषयान्

कुर्वन्ति। जणयति विसयतण्ह जनयन्ति। काम्। विषयतृष्णाम्। केषाम्। जीवाण देवदताणं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धप्रभृतिनानामनोरथहयरूपविकल्पजालरहितपरमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरूपा सर्वात्मप्रदेशेषु परमाह्लादोत्पत्तिभूतामेकाकारपरमसमरसीभावरूपा विषयाकाङ्क्षाग्निजनितपरमदाहविनाशिका स्वरूपतृप्तिमलभमानाना देवेन्द्रप्रभृतिवहिर्मुखससारिजीवानामिति। इदमत्र तात्पर्यम्—यदि तथाविधा विषयतृष्णा नास्ति तर्हि दुष्टशोणिते जलयूका इव कथं ते विषयेषु प्रवृत्ति कुर्वन्ति। कुर्वन्ति चेत् पुण्यानि तृष्णोत्पादकत्वेन दु खकारणानि इति ज्ञायन्ते ॥ ७४ ॥ अथ पुण्यानि दु.खकारणानीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति—ते पुण उदिण्णतण्हा सहजशुद्धात्मतृप्तेरभावात्ते निखिलससारिजीवा पुनरुदीर्णतृष्णा. सन्त दुहिदा तण्हाहिं स्वसवित्तिसमुत्पन्नपारमार्थिकसुखाभावात्पूर्वोक्ततृष्णाभिर्दुःखिताः सन्त। किं कुर्वन्ति। विसयसोक्खाणि इच्छंति निर्विषयपरमात्मसुखाद्विलक्षणानि विषयसुखानि इच्छन्ति। न केवल-

---

सब ससारी जीवोंके [विषयतृष्णा] विषयोंकी अत्यत अभिलाषाको [जनयन्ति] उत्पन्न करते हैं। **भावार्थ**—यदि शुभोपयोगसे अनेक तरहके पुण्य उत्पन्न होते है, तो भले ही उत्पन्न होवो, कुछ विशेषता नहीं है, क्योंकि वे पुण्य देवताओंसे लेकर सब संसारी जीवोंको तृष्णा उपजाते हैं, और जहां तृष्णा हैं, वहां ही दु ख है, क्योंकि तृष्णाके बिना इन्द्रियोंके रूपादि विषयोंमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। जैसे जोंक (जलका जतुविशेष) तृष्णाके बिना विकाररूपन (खराब) रुधिरका पान नहीं करती, इसी प्रकार ससारी जीवोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति तृष्णाके बिना नहीं होती। इस कारण पुण्य तृष्णाका घर है ॥७४॥ आगे पुण्यको दु खका बीज प्रगट करते हैं—[पुन.] उसके बाद [उदीर्णतृष्णाः] उठी है, तृष्णा जिनके तथा [तृष्णाभि दु.खिता] अत्यंत अभिलाषासे पीड़ित और [दु.खसतप्ता] दुःखोंसे संतापमान [ते] वे देवों पर्यंत सब संसारी जीव [विषयसौख्यानि] इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न सुखोंको [आमरण] मरण पर्यंत [इच्छन्ति] चाहते हैं, [च] और

जलयूका इव, तावद्यावत् क्षयं यान्ति । यथा हि जलयूकास्तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमत समाक्रम्यमाणा दुष्टकीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्च प्रलयात् क्लिश्यन्ते । एवममी अपि पुण्यशालिनः पापशालिन इव तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा विषयानभिलषन्तस्तानेवानुभवन्तश्च प्रलयात् क्लिश्यन्ते । अतः पुण्यानि सुखाभासस्य दुःखस्यैव साधनानि स्युः ॥७५॥

अथ पुनरपि पुण्यजन्यस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वमुद्द्योतयति—

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥ ७६ ॥

सपर बाधासहितं विच्छिन्न बन्धकारण विषमम् ।
यदिन्द्रियैर्लब्धं तत्सौख्य दु खमेव तथा ॥ ७६ ॥

सपरत्वात् बाधासहितत्वात् विच्छिन्नत्वात् बन्धकारणत्वात् विषमत्वाच्च पुण्यजन्यमपीन्द्रियसुख दुःखमेव स्यात् । सपरं हि सत् परप्रत्ययत्वात् पराधीनतया,

---

मिच्छन्ति **अणुभवति य** अनुभवन्ति च । किं पर्यन्तम् । **आमरण** मरणपर्यन्तम् । कथभूता । **दुक्खसतत्ता** दु खसतप्ता इति । अयमत्रार्थ —यथा तृष्णोद्रेकेण प्रेरिता जलौकस कीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चामरण दु खिता भवन्ति, तथा निजशुद्धात्मसवित्तिपराङ्मुखा जीवा अपि मृगतृष्णाम्भ्योऽभासीव विषयानभिलषन्तस्तथैवानुभवन्तश्चामरण दु खिता भवन्ति । तत एतदायात तृष्णातङ्कोत्पादकत्वेन पुण्यानि वस्तुतो दु खकारणानि इति ॥ ७५ ॥ अथ पुनरपि पुण्योत्पन्नस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दु खत्व प्रकाशयति—**सपरं** सह परद्रव्यापेक्षया वर्तते सपर भवतीन्द्रियसुख, पारमार्थिकसुख, तु परद्रव्यनिरपेक्षत्वादात्माधीन भवति । **बाधासहिय** तीव्रक्षुधातृष्णाद्यनेकबाधासहितत्वाद्बाधासहितमिन्द्रियसुख, निजात्मसुख तु पूर्वोक्तसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाधम् । **विच्छिण्णं** प्रतिपक्षभूतासातोदयेन सहित्वाद्विच्छिन्न सान्तरित भवतीन्द्रियसुख, अतीन्द्रिय-

---

[अनुभवन्ति] भोगते हैं । **भावार्थ**—मृग-तृष्णासे जलकी अभिलाषाकी नाईं ससारी जीव पुण्यजनित तृष्णाओमे सुख चाहते है । उस तृष्णासे उत्पन्न हुए दु ख सतापको सह नही सकते हैं, इसलिये बारवार विषयोको मरण पर्यन्त भोगते हैं । जैसे जोक विकारवाले खूनको तृष्णावश क्रमसे तबतक पीती है, जबतक कि नाशको प्राप्त नही होती, इसी प्रकार पापी जीवोकी तरह ये पुण्यवन्त भी तृष्णाबीजसे बढे हुए दु खरूप अकुरके वश क्रमसे विषयोको चाहते हैं, बारम्बार भोगते हैं, और क्लेशयुक्त होते हैं, जबतक कि मर नही जाते । इसलिये पुण्य सुखाभासरूप दु खके कारण हैं, सब प्रकारसे त्यागने योग्य हैं ।।७५।। आगे फिर भी पुण्यजनित इद्रिय-सुखोको बहुत प्रकारसे दु खरूप कहते है—**[यत्]** जो **[इन्द्रियैः]** पाच इद्रियोसे **[लब्ध]** प्राप्त हुआ **[सौख्य]** सुख है, **[तत्]** सो **[तथा]** ऐसे सुखकी तरह **[दु खमेव]** दु खरूप ही है, क्योकि जो सुख **[सपर]** पराधीन है, **[बाधासहित]** क्षुधा, तृषादि बाधा युक्त है, **[विच्छिन्नं]** असाताके उदयसे विनाश होनेवाला है, **[बन्धकारण]** कर्मबधका कारण है, क्योकि जहाँ इद्रियसुख होता है, वहाँ अवश्य रागादिक

बाधासहितं हि सदशनोदन्यादिभिस्तृष्णाव्यक्तिभिरुपेतत्वात् अत्यन्ताकुलतया, विच्छिन्नं हि सदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदयप्रवृत्ततयाऽनुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया, बन्धकारणं हि सद्विषयोपभोगमार्गानुलग्नरागादिदोषसेनानुसारसंगच्छमानघनकर्मपांसुपटलत्वादुदर्कदुःसहतया, विषमं हि सदभिवृद्धिपरिहाणिपरिणतत्वादत्यन्तविसंस्थुलतया च दुःखमेव भवति । अथैवं पुण्यमपि पापवद्दुःखसाधनमायातम् ॥७६॥

अथ पुण्यपापयोरविशेषत्वं निश्चिन्वन्नुपसंहरति—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७७ ॥

न हि मन्यते य एवं नास्ति विशेष इति पुण्यपापयो ।
हिण्डति घोरमपार ससार मोहसछन्न· ॥ ७७ ॥

एवमुक्तक्रमेण शुभाशुभोपयोगद्वैतमिव सुखदुःखद्वैतमिव च न खलु परमार्थतः पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते, उभयत्राप्यनात्मधर्मत्वाविशेषत्वात् । यस्तु पुनरनयोः

सुख तु प्रतिपक्षभूतासातोदयाभावान्निरन्तरम् । बन्धकारणं दृष्टाश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षाप्रभृत्यनेकापध्यानवशेन भाविनरकादिदुःखोत्पादककर्मबन्धोत्पादकत्वाद्बन्धकारणमिन्द्रियसुख, अतीन्द्रियसुख तु सर्वापध्यानरहितत्वादबन्धकारणम् । विसमं विगत शम परमोपशमो यत्र तद्विषममतृप्तिकर हानिवृद्धिसहितत्वाद्वा विषम, अतीन्द्रियसुख तु परमतृप्तिकर हानिवृद्धिरहितम् । ज इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा यदिन्द्रियर्लब्धं समारसुख तत्सुख यथा पूर्वोक्तपञ्चविशेषणविशिष्ट भवति तथैव दु.खमेवेत्यभिप्राय. ॥ ७६ ॥ एव पुण्यानि जीवस्य तृष्णोत्पादकत्वेन दु खकारणानि भवन्तीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टय गतम् । अथ निश्चयेन पुण्यपापयोर्विशेषो नास्तीति कथयन् पुण्यपापयोर्व्याख्यानमुपसहरति—ण हि **मण्णदि जो एवं** न हि मन्यते य एवम् । किम् । **णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाण** पुण्यपापयोर्निश्चयेन विशेषो नास्ति । स किं करोति । **हिंडदि घोरमपार ससार** हिण्डति भ्रमति । कम् । संसारम् । कथभूतम् ।

दोषोकी सेना होती है । उसीके अनुमार अवश्य कर्म-धूलि लगती है, और वह सुख [**विषम**] विषम अर्थात् चपलपनेसे हानि वृद्धिरूप है । **भावार्थ**—सासारिक सुख और दु ख वास्तवमे दोनो एक ही है क्योकि जिस प्रकार सुख पराधीन, वाधा सहित, विनाशीक, वन्धकारक तथा विषम इन पाँच विशेषणोसे युक्त है, उसी प्रकार दु ख भी पराधीन आदि विशेषणो सहित है, और इस सुखका कारण पुण्य भी पापकी तरह दु खका कारण है । इसी कारण सुख-दु खकी नाईं पुण्य पापमे भी कोई भेद नही है ॥७६॥ आगे पुण्यपापमे कोई भेद नही है, ऐसा निश्चय करके इस कथनका सकोचकरते है—[**पुण्यपापयोः**] पुण्य और पाप इन दोनोमे [**विशेष**] भेद [**नास्ति**] नही है, [**इति**] ऐसा [**एव**] इस प्रकार [**य**] जो पुरुष [**न हि**] नही [**मन्यते**] मानता है, [**'स'**] वह [**मोहसछन्न**] मोह से आच्छादित होता हुआ [**घोरं**] भयानक और [**अपारं**] जिसका पार नही [**संसार**] ऐसे ससारमे [**हिण्डति**] भ्रमण करता है । **भावार्थ**—जैसे निश्चयसे शुभ और

कल्याणकालायसनिगलयोरिवाहङ्कारिक विशेषमभिमन्यमानोऽहमिन्द्रपदादिसंपदां निदानमिति निर्भरतरं धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृत-शुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शारीरं दुःखमेवानुभवति ॥ ७७ ॥

अथैवमवधारितशुभाशुभोपयोगाविशेषः समस्तमपि रागद्वेषद्वैतमपहासयन्नशेष-दुःखक्षयाय सुनिश्चितमनाः शुद्धोपयोगमधिवसति—

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा ।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥ ७८ ॥

एव विदितर्थो यो द्रव्येपु न रागमेति द्वेष वा ।
उपयोगविशुद्धः स क्षपयति देहोद्भव दु खम् ॥ ७८ ॥

यो हि नाम शुभानामशुभानां च भावानामविशेषदर्शनेन सम्यक्परिच्छिन्नवस्तु-स्वरूपः स्वपरविभागावस्थितेषु समग्रेषु ससमग्रपर्यायेषु द्रव्येषु राग द्वेषं चाशेषमेव

घोरम् अपार चाभव्यापेक्षया । कथभूत मोहसंछण्णो मोहप्रच्छादित इति । तथाहि—द्रव्यपुण्य-पापयोर्व्यवहारेण भेद , भावपुण्यपापयोस्तत्फलभूतसुखदु खयोश्चाशुद्धनिश्चयेन भेद , शुद्धनिश्चयेन तु शुद्धात्मनोऽभिन्नत्वाद्भेदो नास्ति । एव शुद्धनयेन पुण्यपापयोरभेद योऽसौ न मन्यते स देवेन्द्र-चक्रवर्तिबलदेववासुदेवकामदेवादिपदनिमित्त निदानबन्धेन पुण्यमिच्छन्निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वविपरीत-दर्शनचारित्रमोहप्रच्छादित सुवर्णलोहनिगडद्वयसमानपुण्यपापद्वयबद्ध सन् ससाररहितशुद्धात्मनो विपरीत ससार भ्रमतीत्यर्थ ॥ ७७ ॥ अथैव शुभाशुभयो समानत्वपरिज्ञानेन निश्चित-शुद्धात्मतत्त्वः सन् दु खक्षयाय शुद्धोपयोगानुष्ठान स्वीकरोति—एवं विदिदत्थो जो एव चिदानन्दैकस्वभाव परमात्मतत्त्वमेवोपादेयमन्यदशेष हेयमिति हेयोपादेयपरिज्ञानेन विदितार्थ-तत्त्वो भूत्वा य दव्वेसु ण रागमेदि दोस वा निजशुद्धात्मद्रव्यादन्येषु शुभाशुभसर्वद्रव्येषु राग द्वेष वा न

अशुभमे भेद नही है, तथा सुख दु खमे भेद नही है, इसी प्रकार यथार्थ दृष्टिसे पुण्य पापमे भी भेद नही है । दोनोमे आत्म-धर्मका अभाव है । जो कोई पुरुष अहकार बुद्धिसे पुण्य और पापमे भेद मानता है, तथा सोने लोहेको बेडियोके समान अहमिन्द्र, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि सपदाओके कारण अच्छी तरहसे धर्मानुरागका अवलम्बन करता (सहायता लेता) है, वह पुरुष सराग भावो द्वारा शुद्धोपयोग शक्तिसे रहित हुआ जबतक ससारमे है, तबतक शरीरादि सबधी दु खोका भोगनेवाला होता है ॥ ७७ ॥ आगे कहते है, कि जो पुरुष शुभ अशुभोपयोगमे एकता मानकर समस्त राग द्वेषो-को दूर करता है, वह सपूर्ण दु खोके नाश होनेके निमित्त निश्चल चित्त होकर शुद्धोपयोगको अगीकार करता है—[एव] इस प्रकार [विदितार्थं] पदार्थके स्वरूपको जाननेवाला [य] जो पुरुष [द्रव्येषु] परद्रव्योमे [राग] प्रीतिभाव [वा] अथवा [द्वेष] द्वेप भावको [न] नही [एति] प्राप्त होता है, [सः] वह [उपयोगविशुद्धः] उपयोगसे निर्मल अर्थात् शुद्धोपयोगी हुआ [देहोद्भव दु ख] शरीरसे उत्पन्न हुए दु खको [क्षपयति] नष्ट करता है । भावार्थ—जो पुरुष शुभ (पुण्यरूप) तथा अशुभ

परिवर्जयति स किलैकान्तेनोपयोगविशुद्धतया परित्यक्तपरद्रव्यालम्बनोऽग्निरिवायःपिण्डादननुष्ठितायःसारः प्रचण्डघनघातस्थानीयं शारीरं दुःखं क्षपयति, ततो ममायमेवैकः शरणं शुद्धोपयोगः ॥ ७८ ॥

अथ यदि सर्वसावद्ययोगमतीत्य चरित्रमुपस्थितोऽपि शुभोपयोगानुवृत्तिवशतया मोहादीन्नोन्मूलयामि, ततः कुतो मे शुद्धात्मलाभ इति सर्वारम्भेणोत्तिष्ठते—

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥७९॥

त्यक्त्वा पापारम्भं समुत्थितो वा शुभे चरित्रे ।
न जहाति यदि मोहादीन्न लभते स आत्मक शुद्धम् ॥७९॥

यः खलु समस्तसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणं परमसामायिकं नाम चारित्रं प्रतिज्ञायापि शुभोपयोगवृत्त्याटकाभिसारिकयैवाभिसार्यमाणो न मोहवाहिनीविधेय-

---

गच्छति **उवओगविसुद्धो सो** रागादिरहितशुद्धात्मानुभूतिलक्षणेन शुद्धोपयोगेन विशुद्ध. सन् स **खवेदि देहुब्भवं दुक्खं** तप्तलोहपिण्डस्थानीयदेहादुद्भूवं, अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षण परमाकुलत्वोत्पादक लोहपिण्डरहितोऽग्निरिव घनघातपरपरास्थानीयदेहरहितो भूत्वा शारीर दु ख क्षपयतीत्यभिप्राय ॥ ७८ ॥ एवमुपसहाररूपेण तृतीयस्थले गाथाद्वय गतम् । इति शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थं गाथादशकपर्यन्त स्थलत्रयसमुदायेन प्रथमज्ञानकण्ठिका समाप्ता । अथ शुभाशुभोपयोगनिवृत्तिलक्षणशुद्धोपयोगेन मोक्षो भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम् । अत्र तु द्वितीयज्ञानकण्ठिकाप्रारम्भे शुद्धोपयोगाभावे शुद्धात्मान न लभते, इति तमेवार्थं व्यतिरेकरूपेण दृढयति—**चत्ता पावारंभं** पूर्वं गृहवासादिरूप पापारम्भ त्यक्त्वा **समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि** सम्यगुपस्थितो वा पुन । क्व । शुभचरित्रे । **ण जहदि जदि मोहादी** न त्यजति यदि चेन्मोहरागद्वेषान् **ण लहदि सो अप्पग सुद्धं** न लभते स आत्मान शुद्धमिति । इतो विस्तर —कोऽपि मोक्षार्थी परमोपेक्षालक्षण परमसामायिक

भावो को एकरूप जानकर अपने स्वरूपमे स्थिर होके परद्रव्योमे राग द्वेष भाव छोड देता है, वह पुरुष, शरीरसबधी दु खोका नाश करता है । जैसे—लोह-पिंडमे प्रवेश नही की हुई अग्नि घनकी चोट नही सहती है, उसी प्रकार शुद्धोपयोगी दु खको नही सहता है । इसलिये आचार्य कहते हैं, कि मुझको एक शुद्धोपयोगकी ही शरण प्राप्त होओ, जिससे कि दु खस्वरूप ससारका अभाव होवे ॥ ७८ ॥ आगे कहते है, कि मै समस्त पापयोगोको छोडकर चारित्रको प्राप्त हुआ हूँ, यदि मै शुभोपयोगके वश होकर मोहको दूर न करूँगा, तो मेरे शुद्धात्मका लाभ कहाँसे होगा ? इसलिये मोहके नाश करनेको उद्यमी हूँ ।—[**पापारम्भं**] पापका कारण आरम्भको [**त्यक्त्वा**] छोड़कर [**वा**] अथवा [**शुभे चरित्रे**] शुभ आचरणमे [**समुत्थितः**] प्रवर्तता हुआ ['य'] जो पुरुष [**यदि**] यदि [**मोहादीन्**] मोह, राग, द्वेषादिकोको [**न जहाति**] नही छोडता है, ['तदा'] तो [**स.**] वह पुरुष [**शुद्ध आत्मकं**] शुद्ध अर्थात् कमकलक रहित शुद्ध जीवद्रव्यको [**न लभते**] नही पाता । **भावार्थ**—जो पुरुष सव पाप

तामवकिरति स किल समासन्नमहादुःखसंकटः कथमात्मानमविप्लुत लभते । अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम् ।। ७९ ।।

अथ कथं मया विजेतव्या मोहवाहिनीत्युपायमालोचयति—

पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चाद्विषयसुखसाधकशुभोपयोगपरिणत्या मोहितान्तरङ्ग सन् निर्विकल्पसमाधिलक्षण-पूर्वोक्तसामायिकचारित्राभावे सति निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतान् मोहादीन्न त्यजति यदि चेत्तर्हि जिनसिद्धसदृश निजशुद्धात्मान न लभत इति सूत्रार्थ ॥ ७९ ॥ अथ शुद्धोपयोगाभावे यादृश जिनसिद्धस्वरूप न लभते तमेव कथयति—

तवसजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गकरो ।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो ॥ * ५ ॥

तवसजमप्पसिद्धो समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपन विजयन तप, बहिरङ्गेन्द्रियप्राणसयमबलेन स्वशुद्धात्मनि सयमनात्समरसीभावेन परिणमन सयम, ताभ्या प्रसिद्धो जातस्तप सयमप्रसिद्ध, **सुद्धो** क्षुधाद्यष्टादशदोषरहित **सग्गापवग्गमग्गकरो** स्वर्ग प्रसिद्ध केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयलक्षणोऽपवर्गो मोक्षस्तयोर्मार्ग करोत्युपदिशति स्वर्गापवर्गमार्गकर, **अमरासुरिंदमहिदो** तत्पदाभिलाषिभिरमरासुरेन्द्रैर्महित पूजितोऽमरासुरेन्द्रमहित **देवो सो** स एव गुणविशिष्टोऽर्हन् देवो भवति । **लोयसिहरत्थो** स एव भगवान् लोकाग्रशिखरस्थः सन् सिद्धो भवतीति जिनसिद्धस्वरूप ज्ञातव्यम् ॥ ५ ॥ अथ तमित्थभूत निर्दोषिपरमात्मान ये श्रद्दधति मन्यन्ते तेऽक्षयसुख लभन्त इति प्रज्ञापयति—

त देवदेवदेव जदिवरवसह गुरुं तिलोयस्स ।
पणमति जे मणुस्सा ते सोक्ख अक्खय जति ॥ * ६ ॥

त देवदेवदेव देवदेवा सौधर्मेन्द्रप्रभृतयस्तेषा देव आराध्यो देवदेवदेवस्त देवदेवदेव, **जदिवरवसह** जितेन्द्रियत्वेन निजशुद्धात्मनि यत्नपरास्ते यतयस्तेषा वरा गणधरदेवादयस्तेभ्योऽपि वृषभ प्रधानो यतिवरवृषभस्त यतिवरवृषभं, **गुरु तिलोयस्स** अनन्तज्ञानादिगुरुगुणैस्त्रैलोक्यस्यापि गुरुस्त त्रिलोकगुरु **पणमति जे मणुस्सा** तमित्थभूत भगवन्त ये मनुष्यादयो द्रव्यभावनमस्काराभ्या प्रणमन्त्याराधयन्ति ते **सोक्ख अक्खय जति** ते तदाराधनाफलेन परम्परयाऽक्षयानन्तसौख्य यान्ति लभन्त इति सूत्रार्थ ॥ ६ ॥ अथ 'चत्ता पावारभ' इत्यादि सूत्रेण यदुक्त शुद्धोपयोगाभावे मोहादिविनाशो न भवति, मोहादिविनाशाभावेन शुद्धात्मलाभो न भवति तदर्थमेवेदानीमुपाय समालोचयति—**जो जाणदि** अरहत य कर्ता जानाति । कम् । अर्हन्तम् । कै कृत्वा । **दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं** द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वै **सो जाणदि अप्पाण** स पुरुषोऽर्हत्परिज्ञानात्पश्चादात्मान जानाति **मोहो खलु जादि तस्स लयं** तत आत्मपरिज्ञानात्तस्य मोहो दर्शनमोहो लय विनाश

क्रियाओको छोडकर परम सामायिक नाम चारित्रकी प्रतिज्ञा करके शुभोपयोग क्रियारूप मोह-ठगकी खोटी स्त्रीके वशमे हो जाता है, वह मोहकी सेनाको नही जीत सकता, और उसके समीप अनेक दु ख सकट है, इसलिये निर्मल आत्माको नही पाता । इसी कारण मैंने मोहसेनाके जीतनेको कमर बांधी है ॥ ७९ ॥ आगे मुझसे मोहकी सेना कैसे जीती जावे, ऐसे उपायका

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

यो जानात्यर्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः ।
स जानात्यात्मान मोह खलु याति तस्य लयम् ॥८०॥

यो ही नामार्हन्त द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति स खल्वात्मान परिच्छिनत्ति, उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात् । अर्हतोऽपि पाककाष्ठागतकार्तस्वरस्येव परिस्पष्टमात्मरूप, ततस्तत्परिच्छेदे सर्वात्मपरिच्छेदः । तत्रान्वयो द्रव्य, अन्वयविशेषणं गुणः, अन्वयव्यतिरेकाः पर्यायाः । तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकमपि स्वमनसा समयमुत्पश्यन्ति । यश्चेतनोऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्यं, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषण स गुणः, ये चैकसमयमात्रावधृतकालपरिमाणतया परस्परपरावृत्ता अन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाश्चिद्विवर्तनग्रन्थय इति यावत् । अथैवमस्य त्रिकालमप्येककालमाकलयतो मुक्ताफलानीव प्रलम्बे प्रालम्बे चिद्विवर्ताश्चेतन एव संक्षिप्य विशेषणविशेष्यत्ववासनान्तर्धानाद्धवलिमानमिव प्रालम्बे चेतन एव चैतन्यमन्तर्हित

क्षय यातीति । तद्यथा—केवलज्ञानादयो विशेषगुणा, अस्तित्वादय सामान्यगुणा., परमौदारिकशरीराकारेण यदात्मप्रदेशानामवस्थान स व्यञ्जनपर्याय , अगुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षण प्रवर्तमाना अर्थपर्याया , एवलक्षणगुणपर्यायाधारभूतममूर्तमसख्यातप्रदेश शुद्धचैतन्यान्वयरूप द्रव्य चेति, इत्थभूत द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं पूर्वमर्हदाभिधाने परमात्मनि ज्ञात्वा पश्चान्निश्चयनयेन तदेवागमसारपदभूतयाऽध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मभावनाभिमुखरूपेण सविकल्पस्वसवेदज्ञानेन तथैवागमभाषयाधःप्रवृत्तिकरणानिवृत्तिकरणसज्ञदर्शनमोहक्षपणसमर्थपरिणामविशेषबलेन पश्चादात्मनि योजयति ।

विचार करते है—[य] जो पुरुष [द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः] द्रव्य गुण पर्यायोसे [अर्हन्त] पूज्य वीतरागदेवको [जानाति] जानता है, [स] वह पुरुष [आत्मान] अपने स्वरूपको [जानाति] जानता है । और [खलु] निश्चयकर [तस्य] उसीका [मोह] मोहकर्म [लय] नाशको [याति] प्राप्त होता है । **भावार्थ**—जैसे पिछली आँचका पकाया हुआ सोना निर्मल होता है, उसी प्रकार अरहतका स्वरूप है, और निश्चयकर जैसा अरहतका स्वरूप है, वैसा ही आत्माका शुद्ध स्वरूप है । इसलिये अर्हंतके जाननेसे आत्मा जाना जाता है । गुणपर्यायोके आधारको द्रव्य कहते हैं, तथा द्रव्यके ज्ञानादिक विशेषणोको गुण कहते हैं, और एक समय मात्र कालके प्रमाणसे चैतन्यादिके परिणति भेदोको पर्याय कहते हैं । प्रथम ही अरहतके द्रव्य, गुण, पर्याय अपने मनमे अवधारण करे, पीछे आपको इन गुणपर्यायोसे जाने, और उसके बाद निज स्वरूपको अभेदरूप अनुभवे इस आत्माके त्रिकाल सवधी पर्याय एक कालमे अनुभवन करे । जैसे हारमे मोती पोये जाते हैं, वहाँ भेद नही करते हैं, तैसे ही आत्मामे चित्पर्यायका अभेद करे, जैसे हारमे उज्ज्वल गुणका भेद नही करते हैं, तैसे ही आत्मामे चेतना गुणको गोपन करे, जैसे पहिरनेवाला पुरुष अभेदरूप हारकी शोभाके सुखको वेदता है, वैसे ही केवलज्ञानसे अभेदरूप आत्मीक-सुखको वेदे । ऐसी अवस्थाके होनेपर अगले-अगले समयोमे

विधाय केवल प्रालम्बमिव केवलमात्मान परिच्छिन्दतस्तदुत्तरोत्तरक्षणीयमानकर्तृ-कर्मक्रियाविभागतया निःक्रियं चिन्मात्र भावमधिगतस्य जातस्य मणेरिवाकम्पवृत्त-निर्मलालोकस्यावश्यमेव निराश्रयतया मोहतमः प्रलीयते। यद्येवं लब्धो मया मोह-वाहिनीविजयोपायः ॥ ८० ॥

अथैव प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८१॥

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवांस्तत्त्वमात्मनः सम्यक्।
जहाति यदि रागद्वेषौ स आत्मान लभते शुद्धम् ॥८१॥

एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्यापि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति। यदि पुनः पुनरपि तावनुवर्तते

तदनन्तरमविकल्पस्वरूपे प्राप्ते, यथा पर्यायस्थानीयमुक्ताफलानि गुणस्थानीय धवलत्व चाभेदनयेन हार एव, तथा पूर्वोक्तद्रव्यगुणापर्याया अभेदनयेनात्मैवेति भावयतो दर्शनमोहान्धकार प्रलीयते। इति भावार्थ ॥ ८० ॥ अथ प्रमादोत्पादकचारित्रमोहसज्ञश्चौरोऽस्तीति मत्वाऽऽप्तपरिज्ञानादुपलब्धस्य शुद्धात्मचिन्तामणे रक्षणार्थं जागर्तीति कथयति—**जीवो** जीव कर्ता। किंविशिष्ट। **ववगदमोहो** शुद्धात्मतत्त्वरुचिप्रतिबन्धकविनाशितदर्शनमोह। पुनरपि किंविशिष्ट **उवलद्धो** उपलब्धवान् ज्ञात-वान्। किम्। **तच्च** परमानन्दैकस्वभावात्मतत्त्वम्। कस्य सबन्धि। **अप्पणो** निजशुद्धात्मन। कथम्। **सम्म** सम्यक् सशयादिरहितत्वेन **जहदि जदि रागदोसे** शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्र-प्रतिबन्धकौ चारित्रमोहसज्ञौ रागद्वेषौ यदि त्यजति **सो अप्पाण लहदि सुद्ध** स एवमेदरत्नत्रयपरिणतो जीव शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मान लभते मुक्तो भवतीति। किंच पूर्वं ज्ञानकण्ठिकाया 'उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भव दुक्ख' इत्युक्तम, अत्र तु 'चय (जह) दि जदि रागदोसे सो अप्पाण

कर्ता, कर्म, क्रियाका भेद क्षीण होता है, तभी क्रिया रहित चैतन्य स्वभावको प्राप्त होता है। जैसे चोखे (खरे) रत्नका अकप निर्मल प्रकाश है, तैसे ही चैतन्य-प्रकाश जब निर्मल निश्चल होता है, तब आश्रयके विना मोहरूपी अधकारका अवश्य ही नाश होता है। आचार्य महाराज कहते हैं, जो इस भाँति स्वरूपकी प्राप्ति होती है, तो मैंने मोहकी सेनाके जीतनेका उपाय पाया ॥ ८० ॥ आगे कहते हैं, कि यद्यपि मैंने स्वरूप-चितामणि पाया है, तो भी प्रमादरूप चोर अभी मौजूद है, इसलिए सावधान होकर मैं जागता हूँ—[**व्यपगतमोह**] जिससे मोह दूर हो गया है, ऐसा [**जीव**] आत्मा [**आत्मन**] आत्माका [**सम्यक् तत्व**] यथार्थ स्वरूप [**उपलब्धवान्**] प्राप्त करता हुआ [**यदि**] जो [**रागद्वेषौ**] राग द्वेषरूप प्रमाद भाव [**जहाति**] त्याग देवे, [**तदा**] तो [**स**] वह जीव [**शुद्ध आत्मान**] निर्मल निज स्वरूपको [**लभते**] प्राप्त होवे। भावार्थ—जो कोई भव्यजीव पूर्व कहे हुए उपायसे मोहका नाश करे, आत्म-तत्त्वरूप चितामणि-रत्नको पावे, और पानेके पश्चात् राग

तदा प्रमादतन्त्रतया लुण्ठितशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भचिन्तारत्नोऽन्तस्ताम्यति । अतो मया रागद्वेषनिषेधायात्यन्तं जागरितव्यम् ।। ८१ ।।

अथायमेवैको भगवद्भि स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसः पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ।।८२।।

सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशा ।
कृत्वा तथोपदेश निर्वृतास्ते नमस्तेभ्य ।।८२।।

यतः खल्वतीतकालानुभूतक्रमप्रवृत्तयः समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थंकराः प्रकारान्तरस्यासंभवादसंभावितद्वैतेनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपण कर्मांशानां स्वयमनुभूय, परमाप्ततया परेषामप्यायत्यामिदानीत्वे वा मुमुक्षूणां तथैव तदुपदिश्य निःश्रेयसम-

---

लहदि सुद्ध' इति भणितम्, उभयत्र मोक्षोऽस्ति । को विशेष' । प्रत्युत्तरमाह्-तत्र-शुभाशुभयोर्निश्चयेन समानत्वं ज्ञात्वा पश्चाच्छुद्धे शुभरहिते निजस्वरूपे स्थित्वा मोक्ष लभते, तेन कारणेन शुभाशुभमूढत्व-निरासार्थं ज्ञानकण्ठिका भण्यते । अत्र तु द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूप ज्ञात्वा पश्चात्तद्रूपे स्वशुद्धात्मनि स्थित्वा मोक्षं प्राप्नोति, तत कारणादियमाप्तात्ममूढत्वनिरासार्थं ज्ञानकण्ठिका इत्येतावान् विशेष ।। ८१ ।। अथ पूर्वं द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूप विज्ञाय पश्चात्तथाभूते स्वात्मनि स्थित्वा सर्वेऽप्यर्हन्तो मोक्ष गता इति स्वमनमि निश्चय करोति—**सव्वे वि य अरहंता** सर्वेऽपि चार्हन्त **तेण विधाणेण** द्रव्यगुणपर्यायै' पूर्वमर्हत्परिज्ञानात्पश्चात्तथाभूतस्वात्मावस्थानरूपेण तेन पूर्वोक्तप्रव रेण **खविदकम्मंसा** क्षपितकर्मांशा विनाशितकर्मभेदा भूत्वा **किच्चा तधोवदेस** अहो भव्या अयमेव निश्चयरत्नत्रयात्मक-शुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षमार्गो नान्य इत्युपदेश कृत्वा **णिव्वादा** निर्वृता अक्षयानन्तसुखेन तृप्ता जाता , **ते** ते भगवन्त. । **णमो तेसिं** एव मोक्षमार्गनिश्चय कृत्वा **श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवास्तस्मै**

द्वेष रूप प्रमादके वश न होवे, तो शुद्धात्माका अनुभव कर सके, और यदि राग द्वेषके वशीभूत होवे, तो प्रमादरूप चोर से शुद्धात्म अनुभवरूप चिन्तामणि-रत्नको लुटाके पीछे अन्त करणमे (चित्तमे) अत्यन्त दु ख पावे । इसलिए रागद्वेष के विनाशके निमित्त मुझको सावधान होके जागृत ही रहना चाहिये ।। ८१ ।। आगे कहते हैं, कि भगवन्तदेवने ही आप अनुभव कर यही एक मोक्ष-मार्ग दिखाया है, ऐसी बुद्धिकी स्थापना करते हैं-**[तेन विधानेन]** तिस पूवकथित विधान से **[क्षपितकर्मांशा]** जिन्होने कर्मोके अश विनाश किये है, ऐसे **[ते सर्वे अर्हन्त अपि]** वे सब भगवन्त तीर्थंकरदेव भी **[तथा]** उसी प्रकार **[उपदेश कृत्वा]** उपदेश करके **[निर्वृत्ता.]** मोक्षको प्राप्त हुए । **[तेभ्य]** उन अरहत देवोको **[नमः]** मेरा नमस्कार होवे । **भावार्थ**—भगवान् तीर्थंकरदेवने पहले अरहतका स्वरूप, द्रव्य, गुण, पर्यायसे जाना, पीछे उसी प्रकार अपने स्वरूपका अनुभव करके समस्त कर्मोका नाश किया, और उसी प्रकार भव्यजीवोको उपदेश दिया, कि यही मोक्ष-मार्ग है, अन्य नही है ।

ध्याश्रिताः। ततो नान्यद्वर्त्मनिर्वाणस्येत्यवधार्यते। अलमथवा प्रलपितेन। व्यवस्थिता मतिर्मम, नमो भगवद्भ्यः॥ ८२॥

अथ शुद्धात्मलाभपरिपन्थिनो मोहस्य स्वभाव भूमिकाश्च विभावयति—

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा॥८३॥

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति।
क्षुभ्यति तेनावच्छन्नः प्राप्य रागं वा द्वेष वा॥८३॥

यो हि द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढो भावः स खलु मोहः तेनावच्छन्नात्मरूपः सन्नयमात्मा परद्रव्यमा-

---

निजशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपमोक्षमार्गाय तदुपदेशकेभ्योऽर्हद्भ्यश्च तदुभयस्वरूपाभिलाषिण सन्तो 'नमोस्तु तेभ्य' इत्यनेन पदेन नमस्कार कुर्वन्तीत्यभिप्राय॥ ८२॥ अथ रत्नत्रयाराधका एव पुरुषा दानपूजागुणप्रशसानमस्कारार्हा भवन्ति नान्या इति कथयति—

दसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था।
पूजासक्कारारिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं॥ ७॥

दसणसुद्धा निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वसाधकेन मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धा **पुरिसा** पुरुषा जीवा। पुनरपि कथभूता। **णाणपहाणा** निरुपमस्वसवेदनज्ञानसाधकेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमाभ्यासलक्षणज्ञानेन प्रधाना समर्था प्रौढज्ञानप्रधाना। पुनश्च कथभूता। **समग्गचरियत्था** निर्विकारनिश्चलात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रसाधकेनाचारादिशास्त्रकथितमूलोत्तरगुणानुष्ठानादिरूपेण चारित्रेण समग्रा परिपूर्णा समग्रचारित्रस्था **पूजासक्कारारिहा** द्रव्यभावलक्षणपूजा गुणप्रशसा सत्कारस्तयोरर्हा योग्या भवन्ति। **दाणस्स य हि** दानस्य च हि स्फुट **ते** ते पूर्वोक्तरत्नत्रयाधारा **णमो तेसिं** नमस्तेभ्य इति नमस्कारस्यापि त एव योग्या॥ ७॥ एवमाप्तात्मस्वरूपविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथासप्तकेन द्वितीयज्ञानकण्ठिका गता। अथ शुद्धात्मोपलम्भप्रतिपक्षभूतमोहस्य

तथा आज पचमकाल(कलियुग) मे भी वही उपदेश चला आता है। इसलिए अब बहुत कहाँ तक कहे, श्रीभगवन्त वीतरागदेव बडे ही उपकारी हैं, उनको तीनो काल नमस्कार होवे॥ ८२॥ आगे शुद्धात्माके लाभका घातक मोहके स्वभावको और भूमिकाको कहते हैं–**[जीवस्य]** आत्माका **[द्रव्यादिकेषु]** द्रव्य, गुण, पर्यायमे जो **[मूढ भाव]** विपरीत अज्ञानभाव है, सो **[मोहः इति]** मोह ऐसा नाम **[भवति]** होता है अर्थात् जिस भावसे यह जीव धतूरा खानेवाले पुरुषके समान द्रव्य, गुण, पर्यायोको यथार्थ नही जानता है, और न श्रद्धान करता है, उस भावको 'मोह' कहते हैं। **[तेन]** उस दर्शन मोह करके **[अवच्छन्न.]** आच्छादित जो यह जीव है, सो **[राग वा द्वेष वा]** रागभाव अथवा द्वेषभाव को **[प्राप्य]** पाकर **[क्षुभ्यति]** क्षोभ पाता है। अर्थात् इस दर्शनमोहके उदयसे परद्रव्योको अपना द्रव्य मानता है, परगुणको आत्मगुण मानता है, और पर पर्यायको आत्म-

त्मद्रव्यत्वेन परगुणमात्मगुणतया परपर्यायानात्मपर्यायभावेन प्रतिपद्यमानः, प्ररूढदृढतरसंस्कारतया परद्रव्यमेवाहरहरुपाददानो दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेनाद्वैतेऽपि प्रवर्तितद्वैतो रुचितारुचितेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य प्रचुरतराम्भोभाररयाहतः सेतुबन्ध इव द्वेधा विदीर्यमाणो नितरां क्षोभमुपैति । अतो मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः ॥ ८३ ॥

अथानिष्टकार्यकारणत्वमभिधाय त्रिभूमिकस्यापि मोहस्य क्षयमासूत्रयति—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥८४॥

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य ।
जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते संक्षपयितव्या ॥८४॥

एवमस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिनिमीलितस्य मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिण-

---

स्वरूप भेदाश्च प्रतिपादयति—**दव्वादिएसु** शुद्धात्मादिद्रव्येषु, तेषा द्रव्याणामनन्तज्ञानाद्यस्तित्वादिविशेषसामान्यलक्षणगुणेषु, शुद्धात्मपरिणतिलक्षणसिद्धत्वादिपर्यायेषु च यथासभव पूर्वोपवर्णितेषु वक्ष्यमाणेषु च **मूढो भावो** एतेषु पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायेषु विपरीताभिनिवेशरूपेण तत्त्वसशयजनको मूढो भाव **जीवस्स हवदि मोहो त्ति** इत्थभूतो भावो जीवस्य दर्शनमोह इति भवति । **खुभदि तेणुच्छण्णो** तेन दर्शनमोहेनावच्छन्नो झम्पित सन्नक्षुभितात्मतत्त्वविपरीतेन क्षोभेण क्षोभ स्वरूपचलन विपर्यय गच्छति । किं कृत्वा । **पप्पा राग व दोस वा** निर्विकारशुद्धात्मनो विपरीतमिष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरूप चारित्रमोहसज्ञ रागद्वेष वा प्राप्य चेति । अनेन किमुक्त भवति । मोहो दर्शनमोहो रागद्वेषद्वय चारित्रमोहश्चेति त्रिभूमिको मोह इति ॥ ८३ ॥ अथ दुःखहेतुभूतबन्धस्य कारणभूता रागद्वेषमोहा निर्मूलनीया इत्याघोषयति—**मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स** मोहरागद्वेषपरिणतस्य मोहादिरहितपरमात्मस्वरूपपरिणतिच्युतस्य बहिर्मुखजीवस्य **जायदि विविहो बधो** शुद्धोपयोगलक्षणो भावमोक्षस्तद्बलेन जीवप्रदेशकर्मप्रदेशा-

---

पर्याय जानके अगीकार करता है । **भावार्थ**—यह जीव अनादि अविद्यामे उत्पन्न हुआ जो परमे आत्म-सस्कार है, उससे सदाकाल परद्रव्यको अगीकार करता है, इद्रियोके वश होकर इष्ट अनिष्ट पदार्थोमे राग द्वेष भावोसे द्वैतभावको प्राप्त होता है । यद्यपि ससारके सर्व विषय एक सरीखे हैं, तो भी राग द्वेषरूप भावोसे उसे भले बुरे लगते हैं । जैसे किसी नदीका बँधा हुआ पुल पानीके अत्यत प्रवाहसे भग होकर दो खडोमे बँट जाता है, उसी प्रकार यह आत्मा मोहके तीव्र उदयसे राग द्वेष भावरूप परिणमन करके द्वैतभावको धारण करता हुआ अत्यन्त आकुल रहता है । इस कारण एक मोहके राग, द्वेष, और मोह ये तीन भेद जानना चाहिये ॥ ८३ ॥ आगे कहते हैं, कि यह मोह अनिष्ट कार्य करनेका कारण है, इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार मोहका क्षय करना योग्य है—[**मोहेन**] मोहभावसे [**वा रागेण**] अथवा रागभावसे [**वा**] अथवा [**द्वेषेण**] दुष्ट भावसे [**परिणतस्य जीवस्य**] परिणमते हुए जीवके [**विविध**] [**बन्ध.**] अनेक प्रकार कर्मबध [**जायते**] उत्पन्न होता है, [**तस्मात्**] इसलिये [**ते**] वे

तस्य तृणपटलावच्छन्नगर्तसंगतस्य करेणुकुट्टनीगात्रासक्तस्य प्रतिद्विरददर्शनोद्धत-प्रविधावितस्य च सिन्धुरस्येव भवति नाम नानाविधो बन्धः । ततोऽमी अनिष्टकार्य-कारिणो मुमुक्षुणा मोहरागद्वेषाः सम्यग्निर्मूलकाषं कषित्वा क्षपणीयाः ॥ ८४ ॥

अथामी अमीभिर्लिङ्गैरुपलभ्योद्भवन्त एव निशुम्भनीया इति विभावयति—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य मणुवतिरिएसु ।
विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥८५॥

अर्थे अयथाग्रहणं करुणाभावश्च तिर्यङ्मनुजेषु ।
विषयेषु च प्रसङ्गो मोहस्यैतानि लिङ्गानि ॥८५॥

अर्थानामयाथातथ्यप्रतिपत्त्या तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्ध्या च

नामत्यन्तविश्लेषो द्रव्यमोक्ष , इत्थभूतद्रव्यभावमोक्षाद्विलक्षण सर्वप्रकारोपादेयभूतस्वाभाविकसुख-विपरीतस्य नारकादिदु खस्य कारणभूतो विविधवन्धो जायते । **तम्हा ते खवइदव्वा** यतो रागद्वेष-मोहपरिणतस्य जीवस्येत्थभूतो वन्धो भवति ततो रागादिरहितशुद्धात्मध्यानेन ते रागद्वेषमोहा. सम्यक् क्षपयितव्या इति तात्पर्यम् ॥ ८४॥ अथ स्वकीयस्वकीयलिङ्गै रागद्वेषमोहान् ज्ञात्वा यथासभव त एव विनाशयितव्या इत्युपदिशति- अट्ठे **अजधागहणं** शुद्धात्मादिपदार्थे यथास्वरूपस्थितेऽपि विपरीता-भिनिवेशरूपेणायथाग्रहण **करुणाभावो य** शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षासयमाद्विपरीत करुणाभावो दयापरिणामश्च, अथवा व्यवहारेण करुणाया अभाव । केषु विषयेषु । **मणुवतिरिएसु** । मनुष्यतिर्यग्जीवेषु

राग, द्वेष, और मोहभाव [**सक्षपयितव्या.**] मूल सत्तासे क्षय करने योग्य हैं । **भावार्थ**—जीव-के राग, द्वेष मोह, इन तीनो भावोसे ज्ञानावरणादि अनेक कर्मवन्ध होते हैं, इसलिए इन तीनो भावोका नाश करना चाहिए। जैसे जगलका मदान्मत्त हस्ती [हाथी] मोहसे अज्ञानी होकर सिखलाई हुई कुट्टिनी हस्तिनीको अत्यन्त प्रेमभावके वश होकर आलिंगन करता है, तथा द्वेष भावसे अन्य हस्तियोको उस हस्तिनीके पास आते देख लडनेको सामने दौडता है और तृष्णा-दिकसे आच्छादित [ढँके हुए] गड्ढेमे पडकर पकडनेवाले पुरुषोसे नाना प्रकारसे बांधा जाता है। इसी तरह इस जीवके भी मोह, राग, द्वेष भावोसे अनेक प्रकार कर्मबन्ध होता है। इसलिए मोक्षकी इच्छा करनेवालेको अनिष्ट कायके कारणरूप मोहादि तीनो भाव मूलमत्तासे ही सर्व प्रकार क्षय करना चाहिए ॥ ८४ ॥ आगे कहते हैं कि, ऊपर कहे तीनो भाव इन लक्षणोसे उत्पन्न होते देखकर नाश करना चाहिये—[**अर्थे**] पदार्थोमे [**अयथाग्रहण**] जैसेका तैसा ग्रहण नही करना, अर्थात् अन्यका अन्य जानना [**च**] तथा [**तिर्यङ्मनुजेषु**] तिर्यंच और मनुष्योमे [**करुणाभाव**] ममतासे दयारूप भाव [**च**] और [**विषयेषु**] ससारके इष्ट अनिष्ट पदार्थोमे [**प्रसग**] लगना [**एतानि**] इतने [**मोहस्य**] मोहके [**लिङ्गानि**] चिह्न हैं ॥ **भावार्थ**—मोहके तीन भेद हैं—दर्शनमोह, राग, और द्वेष। पदार्थोंको औरका और जानना, तथा मनुष्य तिर्यंचोमे ममत्वबुद्धिसे दया होना, ये तो दर्शनमोहके चिह्न हैं। इष्ट-

मोहमभीष्टविषयप्रसंगेन रागमनभीष्टविषयाप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिर्लिङ्गैरधिगम्य क्रममिति सभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः ॥८५॥

अथ मोहक्षपणोपायान्तरमालोचयति—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥८६॥

जिनशास्त्रादर्थान् प्रत्यक्षादिभिर्बुध्यमानस्य नियमात् ।
क्षीयते मोहोपचय तस्मात् शास्त्र समध्येतव्यम् ॥८६॥

यत्किल द्रव्यगुणपर्यायस्वभावेनार्हतो ज्ञानादात्मनस्तथा ज्ञानं मोहक्षपणोपायत्वेन प्राक् प्रतिपन्नम् । तत् खलूपायान्तरमिदमपेक्षते । इदं हि विहितप्रथमभूमिकासंक्रमणस्य सर्वज्ञोपज्ञतया सर्वतोऽप्यबाधितं शाब्द प्रमाणमाक्रम्य क्रीडतस्तत्संस्कार-

---

इति दर्शनमोहचिह्नम् । **विसएसु य प्पसगो** निर्विषयसुखास्वादरहितबहिरात्मजीवाना मनोज्ञामनोज्ञविषयेषु च योऽसौ प्रकर्षेण सङ्ग मसर्गस्त दृष्ट्वा प्रीत्यप्रीतिलिङ्गाभ्या चारित्रमोहसज्ञौ रागद्वेषौ च ज्ञायेते विवेकिभि , ततस्तत्परिज्ञानानन्तरमेव निर्विकारस्वशुद्धात्मभावनया रागद्वेषमोहा निहन्तव्या इति सूत्रार्थ ॥ ८५ ॥ अथ द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानाभावे मोहो भवतीति यदुक्त पूर्वं तदर्थमागमाभ्यास कारयति । अथवा द्रव्यगुणत्वपर्यायत्वैरर्हत्परिज्ञानादात्मपरिज्ञान भवतीति यदुक्त तदात्मपरिज्ञानमिममागमाभ्यासमपेक्षत इति पातनिकाद्वय मनसि धृत्वा सूत्रमिद प्रतिपादयति—**जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहि बुज्झदो णियमा** जिनशास्त्रात्सकाशाच्छुद्धात्मादिपदार्थान् प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्बुध्यमानस्य जानतो जीवस्य नियमान्निश्चयात् । किं फल भवति । **खीयदि मोहोवचयो** दुरभिनिवेशसस्कारकारी मोहोपचय **खीयदि** क्षीयते प्रलीयते क्षय याति । **तम्हा सत्थ समधिदव्व** तस्माच्छास्त्र सम्यगध्येतव्य पठनीयमिति । तद्यथा—वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशास्त्रात् 'एगो मे सस्सदो अप्पा' इत्यादि परमात्मोपदेशकश्रुतज्ञानेन तावदात्मान जानीते कश्चिद्भव्य , तदनन्तर विशिष्टाभ्यासवशेन

विषयोमे प्रीति, यह रागका चिह्न है, और अनिष्ट (अप्रिय) पदार्थोंमे क्रूर दृष्टि यह द्वेषका लक्षण है। इन तीन चिह्नो (लक्षणो) से मोहको उत्पन्न होते हुए देखकर उसका नाश अवश्य ही करना चाहिए ॥ ८५ ॥ आगे मोहका क्षय करनेके लिए अन्य उपायका विचार करते हैं—(**प्रत्यक्षादिभि**) प्रत्यक्ष, परोक्ष, प्रमाण ज्ञानो करके (**जिनशास्त्रात्**) वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत आगमसे (**अर्थान्**) पदार्थोंको (**बुध्यमानस्य**) जाननेवाले पुरुषके (**नियमात्**) नियमसे (**मोहोपचयः**) मोहका समूह अर्थात् विपरीतज्ञान व श्रद्धान (**क्षीयते**) नाशको प्राप्त होता है, (**तस्मात्**) इसलिये (**शास्त्र**) जिनागमको (**समध्येतव्य**) अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिये । **भावार्थ**—पहले मोहके नाश करनेका उपाय, अर्हंतके द्रव्य, गुण, पर्यायके जाननेसे आत्माका ज्ञान होना बतलाया है, परतु वह उपाय दूसरे उपायको भी चाहता है, क्योकि अर्हंतके द्रव्य, गुण पर्यायका ज्ञान जिनागमके बिना नही होता। इसलिये जिनागम मोहके नाशमे एक बलवान् उपाय है, जिन्

स्फुटीकृतविशिष्टसंवेदनशक्तिसंपदः सहृदयविद्वज्जनचित्तानन्दप्रकाशदात्रानन्दोद्भेददायिना [सहृदयहृदयानन्दोद्भेददायिना] प्रत्यक्षेणान्येन वा तदविरोधिना प्रमाणजातेन तत्त्वतः समस्तमपि वस्तुजातं परिच्छिन्दतः क्षीयत एवातत्त्वाभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः । अतो हि मोहक्षपणे परमं शब्दब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् ॥८६॥

अथ कथं जैनेन्द्रे शब्दब्रह्मणि किलार्थानां व्यवस्थितिरिति वितर्कयति—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया ।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ॥८७॥

द्रव्याणि गुणास्तेषां पर्याया अर्थसंज्ञया भणिताः ।
तेषु गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेशः ॥८७॥

द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानाभेदेन अर्थाः, तत्र गुणपर्यायान् इयृति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्था द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयृति

परमसमाधिकाले रागादिविकल्परहितमानसप्रत्यक्षेण च तमेवात्मानं परिच्छिन्दन्ति । तथैवानुमानेन वा । तथाहि—अत्रैव देहे निश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मास्ति । कस्माद्धेतोः । निर्विकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात् सुखादिवत् इति, तथैवान्येऽपि पदार्थाः यथासंभवमागमाभ्यासबलोत्पन्नप्रत्यक्षेणानुमानेन वा ज्ञायन्ते । ततो मोक्षार्थिना भव्येनागमाभ्यासः कर्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ८६ ॥ अथ द्रव्यगुणपर्यायाणामर्थसंज्ञां कथयति —दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया द्रव्याणि गुणास्तेषां द्रव्याणां पर्यायाश्च त्रयोऽप्यर्थसंज्ञया भणिताः कथिताः अर्थसंज्ञा भवन्तीत्यर्थः । तेसु तेषु त्रिषु द्रव्यगुणपर्यायेषु मध्ये गुणपज्जयाणं अप्पा गुणपर्यायाणां संबन्धी आत्मा स्वभावः । कः इति

भव्यजीवोंने पहले ही ज्ञान—भूमिकामें गमन किया है, वे कुनयोंसे अखंडित जिनप्रणीत आगमको प्रमाण करके क्रीडा करते हैं । जिनागमके बलसे उनके आत्म-ज्ञान-शक्तिरूप संपदा प्रगट होती है । तथा प्रत्यक्ष परोक्ष ज्ञानसे सब वस्तुओंके ज्ञाता द्रष्टा होते हैं, और तभी उनके यथार्थ ज्ञानसे मोहका नाश होता है । इसलिए मोहनाशके उपायोंमें शास्त्ररूप शब्द-ब्रह्मकी सेवा करना योग्य है । भावश्रुत ज्ञानके बलसे दृढ परिणाम करके आगम-पाठका अभ्यास करना, यह बडा उपाय है ॥ ८६ ॥ अब कहते हैं, कि जिन-भगवानके कहे हुए शब्द-ब्रह्ममें सब पदार्थोंके कथनकी यथार्थ स्थिति है—(द्रव्याणि) गुण पर्यायोंके आधाररूप सब द्रव्य (तेषां) उन द्रव्योंके (गुणाः) सहभावी गुण और (पर्यायाः) क्रमवर्ती पर्याय (अर्थसंज्ञया) 'अर्थ' ऐसे नामसे (भणिताः) कहे हैं । (तेषु) उन गुण पर्यायोंमें (गुणपर्यायाणां) गुण पर्यायोंका (आत्मा) सर्वस्व (द्रव्य) द्रव्य है । (इति) ऐसा (उपदेशः) भगवानका उपदेश है । **भावार्थ**—द्रव्य, गुण, पर्याय, इन तीनोंका 'अर्थ' ऐसा नाम है । क्योंकि समय-समय अपने गुण पर्यायोंके प्रति प्राप्त होते हैं, अथवा गुण पर्यायों करके अपने स्वरूपको प्राप्त होते हैं, इसलिये द्रव्योंका नाम 'अर्थ' है । 'अर्थ' शब्दका अर्थ गमन अथवा

द्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणाः, द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयूति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्था पर्यायाः । यथा हि सुवर्णं पीततादीन् गुणान् कुण्डलादींश्च पर्यायानियूत् तैरर्यमाणं वा अर्थो द्रव्यस्थानीयं, यथा च सुवर्णमाश्रयत्वेनेयूतस्तेनाश्रयभूतेनार्यमाणा वा अर्था पीततादयो गुणा, यथा च सुवर्णं क्रमपरिणामेनेयूतः तेन क्रमपरिणामेनार्यमाणा वा अर्थाः कुण्डलादयः पर्याया । एवमन्यत्रापि । यथा चैतेषु सुवर्णपीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायेषु पीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां सुवर्णादपृथग्भावात्सुवर्णमेवात्मा तथा च तेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु गुणपर्यायाणां द्रव्यादपृथग्भावाद्द्रव्यमेवात्मा ॥८७॥

अथैवं मोहक्षपणोपायभूतजिनेश्वरोपदेशलाभेऽपि पुरुषकारोऽर्थक्रियाकारीति पौरुष व्यापारयति--

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥८८॥

पृष्टे । दव्व त्ति उवदेसो द्रव्यमेव स्वभाव इत्युपदेश, अथवा द्रव्यस्य क स्वभाव इति पृष्टे गुणपर्यायाणामात्मा एव स्वभाव इति । अथ विस्तर --अनन्तज्ञानसुखादिगुणान् तथैवामूर्तत्वातीन्द्रियत्वसिद्धत्वादिपर्यायाश्च इयर्ति गच्छति परिणमत्याश्रयति येन कारणेन तस्मादर्थो भण्यते । किम् । शुद्धात्मद्रव्यम् । तच्छुद्धात्मद्रव्यमाधारभूतमियर्ति गच्छन्ति परिणमन्त्याश्रयन्ति येन कारणेन ततोऽर्था भण्यन्ते । के ते । ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्याया. । ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्यायाणामात्मा स्वभाव । क इति पृष्टे शुद्धात्मद्रव्यमेव स्वभाव, अथवा शुद्धात्मद्रव्यस्य क. स्वभाव इति पृष्टे पूर्वोक्तगुणपर्याया एव। एव शेषद्रव्यगुणपर्यायाणामप्यर्थसज्ञा बोद्धव्येत्यर्थ ॥ ८७ ॥ अथ दुर्लभजैनोपदेश लब्ध्वापि य एव मोहरागद्वेषान्निहन्ति स एवाशेषदु.खक्षय प्राप्नोतीत्यावेदयति--य एव मोहरागद्वेषान्निहन्ति । किं कृत्वा । उपलभ्य प्राप्य। कम् । जैनोपदेशम् । स सर्वदु खमोक्ष प्राप्नोति । केन । स्तोककालेनेति । तद्यथा--एकेन्द्रिय-

---

प्राप्त होता है, क्योकि आधारभूत द्रव्यको प्राप्त होता है, अथवा द्रव्य करके प्राप्त किया जाता है, इसलिये गुणोका नाम 'अर्थ' है, और क्रमसे परिणमन करके द्रव्यको प्राप्त होते है, अथवा द्रव्य करके अपने स्वरूपको प्राप्त होते हैं, इसलिए पर्यायोका नाम 'अर्थ' है। जैसे--सोना अपने पीत आदि गुणोको और कुडलादि पर्यायो (अवस्थाओ) को प्राप्त होता है, अथवा गुणपर्यायोसे सुवर्णपनेको प्राप्त होता है, इसलिए सोनेको अर्थ कहते हैं, और जैसे आधारभूत सोनेको पीतत्वादि गुण प्राप्त होते हैं, अथवा सोनेसे प्राप्त होते हैं, इस कारण पीतत्वादि गुणोको अर्थ कहते हैं और जैसे क्रम परिणामसे कुडलादि पर्याय सोनेको प्राप्त होते हैं, अथवा सोनेसे प्राप्त होते है, इसलिए कुडलादि पर्यायोको अर्थ कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य, गुण, पर्यायोका नाम अर्थ है। तथा जैसे सुवर्ण, पीतत्वादि गुण और कु डलादि पर्यायोमे पीतत्वादि गुण और कुंडलादि पर्यायोका सोनेसे जुदापना नहीं है, इसलिए सुवर्ण अपने गुणपर्यायोका सर्वस्व है, आधार है, उसी प्रकार द्रव्य, गुण, पर्यायोमे गुण-

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम् ।
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥८८॥

इह हि द्राघीयसि सदाजवंजवपथे कथमप्यमुं समुपलभ्यापि जैनेश्वरं निशिततरवारिधारापथस्थानीयमुपदेशं य एव मोहरागद्वेषाणामुपरि दृढतरं निपातयति स एव निखिलदुःखपरिमोक्षं क्षिप्रमेवाप्नोति, नापरो व्यापारः करवालपाणिरिव । अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि ॥८८॥

अथ स्वपरविवेकसिद्धेरेव मोहक्षपणं भवतीति स्वपरविभागसिद्धये प्रयतते--

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥८९॥

ज्ञानात्मकमात्मानं परं च द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम् ।
जानाति यदि निश्चयतो यः स मोहक्षयं करोति ॥८९॥

विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियादिदुर्लभपरम्परया जैनोपदेशं प्राप्य मोहरागद्वेषविलक्षणं निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षणं निश्चयसम्यक्त्वज्ञानद्वयाविनाभूतं वीतरागचारित्रसंज्ञं निशितखड्गं य एव मोहरागद्वेषशत्रूणामुपरि दृढतरं पातयति स एव पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणसुखविलक्षणानां दुःखानां क्षयं करोतीत्यर्थः ॥८८॥ एवं द्रव्यगुणपर्यायविषये मूढत्वनिराकरणार्थं गाथाषट्केन तृतीयज्ञानकण्ठिका गता । अथ स्वपरात्मयोर्भेदज्ञानात् मोहक्षयो भवतीति प्रज्ञापयति-**णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं जाणदि जदि** ज्ञानात्मकमात्मानं जानाति यदि। कथंभूतम् । स्वकीयशुद्धचैतन्यद्रव्यत्वेनाभिसंबद्धं, न केवलमात्मानम् । परं च यथोचितचेतनाचेतनपरकीयद्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम् । कस्मात् ।

पर्यायोको द्रव्यसे पृथक्पना नहीं है, इसलिए द्रव्य अपने गुणपर्यायोंका सर्वस्व है, आधार है, अर्थात् द्रव्यका गुणपर्यायोंसे अभेद है ॥८७॥ आगे यद्यपि मोहके नाश करनेका उपाय जिनेश्वरका उपदेश है, परन्तु उसके लाभमें भी पुरुषार्थ करना कार्यकारी है, इसलिए उद्यमको दिखलाते हैं--(**य**) जो पुरुष (**जैन उपदेशं**) वीतराग प्रणीत आत्मधर्मके उपदेशको (**उपलभ्य**) पाकर (**मोहरागद्वेषान्**) मोह, राग, और द्वेषभावोंको (**निहन्ति**) घात करता है, (**स**) वह (**अचिरेण कालेन**) बहुत थोड़े समयसे (**सर्वदुःखमोक्षं**) सपूर्ण दुःखोंसे भिन्न (जुदा) अवस्थाको (**प्राप्नोति**) पाता है । **भावार्थ**--इस अनादि संसारमें किसी एक प्रकारसे तलवारकी धारके समान जिनप्रणीत उपदेशको पाकर, जो मोह, राग, द्वेषरूप शत्रुओंको मारता है, वह जीव शीघ्र ही सब दुःखोंसे मुक्त होकर (छूटकर) सुखी होता है । जैसे कि सुभट तलवारसे शत्रुओंको मारकर सुखसे बैठता है । इसलिए मैं सब तरह उद्यमी होकर मोहके नाश करनेको पुरुषार्थमें सावधान हुआ बैठा हूँ ॥८८॥ अब स्वपरभेदके विज्ञानकी सिद्धिसे ही मोहका नाश होता है, इसलिए स्व तथा परके भेदकी सिद्धिके लिए प्रयत्न करते हैं--(**य**) जो जीव (**यदि**) यदि (**निश्चयत**) निश्चयसे (**ज्ञानात्मकं**) ज्ञानस्वरूप (**आत्मानं**) परमात्माको (**द्रव्यत्वेन**) अपने द्रव्य स्वरूपसे (**अभिसंबद्धं**) संयुक्त

य एव स्वकीयेन चैतन्यात्मकेन द्रव्यत्वेनाभिसबद्धमात्मानं परं च परकीयेन यथोचितेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमेव निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेकः सकलं मोहं क्षपयति । अतः स्वपरविवेकाय प्रयतोऽस्मि ॥८९॥

अथ सर्वथा स्वपरविवेकसिद्धिरागमतो विधातव्येत्युपसंहरति--

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥९०॥

तस्माज्जिनमार्गाद्गुणैरात्मान पर च द्रव्येषु ।
अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा ॥९०॥

इह खल्वागमनिगदितेष्वनन्तेषु गुणेषु कैश्चिद्गुणैरन्ययोगव्यवच्छेदकतयासाधारणतामुपादाय विशेषणतामुपगतैरनन्तायां द्रव्यसंततौ स्वपरविवेकमुपगच्छन्तु मोहप्रहाणप्रवणबुद्धयो लब्धवर्णाः । तथाहि--यदिदं सदकारणतया स्वतः सिद्धमन्तर्बहिर्मुखप्रकाशशालितया स्वपरपरिच्छेदकं मदीयं मम नाम चैतन्यमहमनेन तेन समानजातीयमसमानजातीयं वा द्रव्यमन्यदपहाय ममात्मन्येव वर्तमानेनात्मीयमात्मानं सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यं जानामि । एवं पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणैर्द्रव्यमन्यदपहाय

णिच्छयदो निश्चयत· निश्चयनयानुकूल भेदज्ञानमाश्रित्य । जो य. कर्ता सो स मोहक्खय कुणदि निर्मोहपरमानन्दैकस्वभावशुद्धात्मनो विपरीतस्य मोहस्य क्षय करोतीति सूत्रार्थं ॥ ८९ ॥ अथ पूर्वसूत्रे यदुक्त स्वपरभेदविज्ञान तदागमत सिद्धयतीति प्रतिपादयति--तम्हा जिणमग्गादो यस्मादेव भणित पूर्वं स्वपरभेदविज्ञानाद् मोहक्षयो भवति, तस्मात्कारणाज्जिनमार्गाज्जिनागमात् गुणेहिं गुणै आदं आत्मान, न केवलमात्मान परं च परद्रव्य च । केषु मध्ये । दव्वेसु शुद्धात्मादिषड्द्रव्यमध्येषु अभिगच्छदु अभिगच्छतु जानातु यदि । किम् । णिम्मोहं इच्छदि जदि निर्मोहभाव-

(**जानाति**) जानता है, (**च**) और (**पर**) पर अर्थात् पुद्गलादि अचेतनको जड स्वरूप कर आत्मासे भिन्न अपने अचेतन द्रव्य स्वरूप सयुक्त जानता है, (**सः**) वह जीव (**मोहक्षयं**) मोहका क्षय (**करोति**) करता है । **भावार्थ**--जो जीव अपने चैतन्य स्वभावकर आपको परस्वभावसे भिन्न जानते हैं, और परको जड स्वभावसे पर (अन्य) जानते हैं, वे जीव स्वपरविवेकी है, और वे ही भेदविज्ञानी मोहका क्षय करते हैं । इसलिये मै स्वपर विवेकके निमित्त प्रयत्न (उद्योग) करता हूँ ॥ ८९ ॥ अब स्वपर विवेककी सब प्रकार सिद्धि जिनभगवान् प्रणीत आगमसे करनी चाहिये, ऐसा कहकर इस कथनका सक्षेप करते हैं--(**तस्मात्**) इसलिये (**यदि**) जो (**आत्मा**) यह जीव (**आत्मन**) आपको (**निर्मोह**) मोह रहित वीतराग भावरूप (**इच्छति**) चाहता है, तो (**जिनमार्गात्**) वीतरागदेव कथित आगमसे (**गुणै**) विशेष गुणोके द्वारा (**द्रव्येषु**) छह द्रव्योमेसे (**आत्मान**) आपको (**च**) और (**परं**) अन्य द्रव्योको (**अभिगच्छतु**) जाने । **भावार्थ**--द्रव्योके गुण दो प्रकारके है, एक सामान्य और दूसरे विशेष । इनमेसे सामान्य गुणोके द्वारा द्रव्योका भेद नही हो सकता, इसलिये बुद्धिमान् पुरुषोको

तस्मिन्नेव च वर्तमानैः सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यमाकाशं धर्ममधर्मं कालं पुद्गलमात्मान्तरं च निश्चिनोमि। ततो नाहमाकाश न धर्मो नाधर्मो न च कालो न पुद्गलो नात्मान्तर च भवामि, यतोऽमीष्वेकापवरकप्रबोधिनानेकदीपप्रकाशेष्विव संभूयावस्थितेष्वपि मच्चैतन्य स्वरूपादप्रच्युतमेव मां पृथगवगमयति। एवमस्य निश्चितस्वपरविवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहाङ्कुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात् ॥९०॥

अथ जिनोदितार्थश्रद्धानमन्तरेण धर्मलाभो न भवतीति प्रतर्कयति—

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो त्तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥९१॥

सत्तासबद्धानेतान् सविशेषान् यो हि नैव श्रामण्ये।
श्रद्दधाति न स श्रमणः ततो धर्मो न सभवति ॥९१॥

यो हि नामैतानि सादृश्यास्तित्वेन सामान्यमनुव्रजन्त्यपि स्वरूपास्तित्वेनाश्लि-

---

मिच्छति यदि चेत्। स क। अप्पा आत्मा। कस्य सवन्धित्वेन अप्पणो आत्मन इति। तथाहि— यदिद मम चैतन्य स्वपरप्रकाशक तेनाह कर्ता शुद्धज्ञानदर्शनभाव स्वकीयमात्मान जानामि, पर च पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूप शेषजीवान्तरं च पररूपेण जानामि, तत कारणादेकापवरकप्रबोधितानेकप्रदीपप्रकाशेष्वेव सभूयावस्थितेष्वपि सर्वद्रव्येषु मम सहजशुद्धचिदानन्दैकस्वभावस्य केनापि सह मोहो नास्तीत्यभिप्राय ॥९०॥ एव स्वपरपरिज्ञानविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्ठिका गता। इति पञ्चविंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकार

चाहिये, कि विशेष गुणोके द्वारा अनन्त द्रव्यकी सततिमे अपना और परका भेद करें। इस कारण अब उस स्व पर भेदका प्रकार कहते हैं—इस अनादिनिधन, किसीसे उत्पन्न नही हुए, अन्तर बाहिर देदीप्यमान, स्व परके जाननेवाले अपने चैतन्य गुणसे अन्य जीव द्रव्य तथा अजीव द्रव्य इनको जुदा करके मैं आप विषे तीनो काल अविनाशी अपने स्वरूपको जानता हूँ, और आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल, तथा अन्य जीव, जो हैं, उनके भेद भिन्न भिन्न (जुदा जुदा) विशेष लक्षणोसे अपने अपने मे तीन काल अविनाशी ऐसे इनके स्वरूपको भी मैं जानता हूँ। इसलिये मैं आकाश नही हूँ, धर्म नही हूँ, अधर्म नही हूँ, काल नही हूँ, पुद्गल नही हूँ, और अन्य जीव भी नही हूँ। मैं जो हूँ, सो हूँ। जैसे एक सुरमे अनेक दीपक जलानेसे उन सबका प्रकाश उस घरमें एक जगह मिला हुआ रहता है, इसी प्रकार ये छह द्रव्य एक क्षेत्रमे रहते हैं, परतु मेरा द्रव्य इन सबसे भिन्न है। जैसे सब दीपकोका प्रकाश देखनेसे तो मिला हुआ सा दिखाई देता है, परतु सूक्ष्म दृष्टिसे विचारपूर्वक देखा जावे, तो जो जिस दीपकाका प्रकाश है, वह उसीका है। इसी प्रकार यह मेरा चैतन्य स्वरूप मुझको सबसे पृथक् दिखलाता है। इस प्रकार स्व पर विवेकवाले आत्माके फिर मोहरूपी अकुरकी उत्पत्ति नही होती ॥९०॥ अब कहते हैं, कि वीतरागदेव कथित पदार्थोंकी श्रद्धाके बिना इस जीवको आत्म-धर्मका लाभ नही होता—[य] जो जीव [हि] निश्चयसे [श्रामण्ये] यति अवस्थामे [सत्तासंबद्धान्] सत्ता भावसे सामान्य अस्तिपने सहित और

ष्टविशेषाणि द्रव्याणि स्वपरावच्छेदेनापरिच्छिन्दन्नश्रद्दधानो वा एवमेव श्रामण्येनात्मानं दमयति स खलु न नाम श्रमणः। यतस्ततोऽपरिच्छिन्नरेणुकनककणिकाविशेषाद्धूलिधावकात्कनकलाभ इव निरुपरागात्मतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो न संभूतिमनुभवति ॥९१॥ अथ 'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इति प्रतिज्ञाय 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो' इति साम्यस्य धर्मत्वं निश्चित्य 'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं तम्हा' इति यदात्मनो धर्मत्वमासूत्रयितुमुपक्रान्तं, यत्प्रसिद्धये च 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो पावदि णिव्वाणसुहं' इति निर्वाणसुखसाधनशुद्धोपयोगोऽधिकर्तुमारब्धः, शुभाशुभोपयोगौ च विरोधिनौ निर्ध्वस्तौ, शुद्धोपयोगस्वरूपं चोपवर्णितं, तत्प्रसादजौ चात्मनो ज्ञानानन्दौ सहजौ समुद्द्योतयता संवेदनस्वरूपं सुखस्वरूपं च प्रपञ्चितम्।

समासः। अथ निर्दोषिपरमात्मप्रणीतपदार्थश्रद्धानमन्तरेण श्रमणो न भवति, तस्माच्छुद्धोपयोगलक्षणधर्मोऽपि न संभवतीति निश्चिनोति—सत्तासंबद्धे महासत्तासंबन्धेन सहितान् एदे एतान् पूर्वोक्तशुद्धजीवादिपदार्थान्। पुनरपि किंविशिष्टान्। सविसेसे विशेषसत्तावान्तरसत्तास्वकीयस्वरूपसत्ता तया सहितान् जो हि णेव सामण्णे सद्दहदि य कर्ता द्रव्यश्रामण्ये स्थितोऽपि न श्रद्धत्ते हि स्फुटं ण सो समणो निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वपूर्वकपरमसामायिकसंयमलक्षणश्रामण्याभावात्स श्रमणो न भवति। इत्थंभूतभावश्रामण्याभावात् तत्तो धम्मो ण संभवदि तस्मात्पूर्वोक्तद्रव्यश्रमणात्सकाशान्निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणधर्मोऽपि न संभवतीति सूत्रार्थः ॥९१॥ अथ 'उवसंपयामि सम्मं' इत्यादि नमस्कारगाथायां यत्प्रतिज्ञातं, तदनन्तरं 'चारित्तं खलु धम्मो' इत्यादिसूत्रेण चारित्रस्य धर्मत्व

(सविशेषान्) अपने विशेष अस्तित्व सहित (एतान्) इन छह द्रव्योंको (नैव श्रद्दधाति) नहीं श्रद्धान करता, (सः) वह जीव (श्रमणः) मुनि (न) नहीं है, और (ततः) उस द्रव्यलिंगी (बाह्य भेषधारी) मुनिसे (धर्मः) शुद्धोपयोगरूप आत्मीक—धर्म (न संभवति) नहीं हो सकता। भावार्थ—अस्तित्व दो प्रकारका है, एक सामान्य अस्तित्व, दूसरा विशेष अस्तित्व। जैसे वृक्ष जातिसे वृक्ष एक हैं, आम-निम्बादि भेदोंसे पृथक् २ हैं इसी प्रकार द्रव्य सामान्य अस्तित्वसे एक है, विशेष अस्तित्वसे एक है, विशेष अस्तित्वसे अपने जुदा जुदा स्वरूप सहित है। इन सामान्य विशेष भाव संयुक्त द्रव्योंको जो जीव मुनि अवस्था धारण करके नहीं जानता है, और स्व पर भेद सहित श्रद्धान नहीं करता है, वह यति नहीं है। सम्यक्त्व भावके बिना द्रव्यलिंग अवस्थाको धारण करके व्यर्थ ही खेदखिन्न होता है, क्योंकि इस अवस्थासे आत्मीक धर्मकी संभावना नहीं है। जैसे धूलका धोनेवाला न्यारिया यदि सोनेकी कणिकाओंको पहचाननेवाला नहीं होवे, तो वह कितना भी कष्ट क्यों न उठावे, परंतु उसे सुवर्णकी प्राप्ति नहीं होती, इसी प्रकार सामायिक क्रियामें कितना ही खेद क्यों न करे, परंतु द्रव्योंके स्व पर भेदके बिना जो निज आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिरूप धर्म इस जीवके उत्पन्न नहीं होता ॥ ९१ ॥ पूर्व ही आचार्यने "उवसंपयामि सम्मं" इत्यादि गाथासे साम्यभाव मोक्षका

तदधुना कथं कथमपि शुद्धोपयोगप्रसादेन प्रसाध्य परनिस्पृहतामात्मतृप्तां पारमेश्वरीप्रवृत्तिमभ्युपगतः कृतकृत्यतामवाप्य नितान्तमनाकुलो भूत्वा प्रलीनभेदवासनोन्मेषः स्वयं साक्षाद्धर्म एवास्मीत्यवतिष्ठते—

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥९२॥

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते।
अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषितः श्रमणः ॥९२॥

यदयं स्वयमात्मा धर्मो भवति स खलु मनोरथ एव, तस्य त्वेका बहिर्मोहदृष्टिरेव विहन्त्री। सा चागमकौशलेनात्मज्ञानेन च निहता, नात्र मम पुनर्भावमापत्स्यते। ततो वीतरागचरित्रसूत्रितावतारो ममायमात्मा स्वयं धर्मो भूत्वा निरस्त-

---

व्यवस्थापितम्। अथ 'परिणमदि जेण दव्व' इत्यादिसूत्रेणात्मनो धर्मत्व भणितमित्यादि। तत्सर्वं शुद्धोपयोगप्रसादात्प्रसाध्येदानी निश्चयरत्नत्रयपरिणत आत्मैव धर्म इत्यवतिष्ठते। अथवा द्वितीयपातनिका—सम्यक्त्वाभावे श्रमणो न भवति तस्मात् श्रमणाद्धर्मोऽपि न भवति, तर्हि कथ श्रमणो भवति, इति पृष्टे प्रत्युत्तर प्रयच्छन् ज्ञानाधिकारमुपसहरति—**जो णिहदमोहदिट्ठी** तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणव्यवहारसम्यक्त्वोत्पन्नेन निजशुद्धात्मरुचिरूपेण निश्चयसम्यक्त्वेन परिणतत्वान्निहतमोहदृष्टिर्विध्वसितदर्शनमोहो य। पुनश्च किंरूप। **आगमकुसलो** निर्दोषिपरमात्मप्रणीतपरमागमाभ्यासेन निरूपाधिस्वसवेदनज्ञानकुशलत्वादागमकुशल आगमप्रवीण। पुनश्च किंरूप। **विरागचरियम्हि अब्भुट्ठिदो** व्रतसमितिगुप्त्यादिबहिरङ्गचारित्रानुष्ठानवशेन स्वशुद्धात्मनि निश्चलपरिणतिरूपवीतरागचारित्रपरिणतत्वात् परमवीतरागचारित्रे सम्यगभ्युत्थित उद्यत। पुनरपि कथभूत। **महप्पा** मोक्षलक्षणमहार्थसाधकत्वेन महात्मा **धम्मो त्ति विसेसिदो समणो** जीवितमरणलाभालाभादिसमता-

---

कारण अगीकार किया था, और "चारित्त खलु धम्मो" आदि गाथासे साम्यभाव ही शुद्धोपयोगरूप धर्म है, ऐसा कहकर "परिणमदि जेण दव्व" इस गाथासे साम्यभावसे आत्माकी एकता बतलाई थी। इसके पश्चात् साम्यधर्मकी सिद्धि होनेके लिए "धम्मेण परिणदप्पा" इससे मोक्ष-सुखका कारण शुद्धोपयोगके अधिकारका आरभ किया था। उसमे शुद्धोपयोग भलीभाँति दिखलाया, और उसके प्रतिपक्षी ससारके कारण शुभाशुभोपयोगको मूलसे नाश करके शुद्धोपयोगके प्रसादसे उत्पन्न हुए अतीन्द्रियज्ञान सुखोका स्वरूप कहा। अब मै शुद्धोपयोगके प्रसादसे परभावोसे भिन्न, आत्मीकभावोकर पूर्ण उत्कृष्ट परमात्मा-दशाको प्राप्त, कृतकृत्य और अत्यत आकुलता रहित होकर ससार-भेद-वासनासे मुक्त आपमे साक्षात् धर्मस्वरूप होकर स्थित होता हूँ—(य) जो (**निहतमोहदृष्टि**) दर्शनमोहका घात करनेवाला अर्थात् सम्यग्दृष्टि है तथा (**आगमकुशल**) जिन प्रणीत सिद्धान्तमें प्रवीण अर्थात् सम्यग्ज्ञानी है, और (**विरागचारित्रे**) रागभाव रहित चारित्रमे (**अभ्युत्थित**) सावधान

समस्तप्रत्यूहतया नित्यमेव निष्कम्प एवावतिष्ठते। अलमतिविस्तरेण ॥९२॥ स्वस्ति स्याद्वादमुद्रिताय जैनेन्द्राय शब्दब्रह्मणे। स्वस्ति तन्मूलायात्मतत्त्वोपलम्भाय च, यत्प्रसादादुद्ग्रन्थितो झगित्येवासंसारबद्धो मोहग्रन्थिः। स्वस्ति च परमवीतराग-चारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः ॥

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसं ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ॥

भावनापरिणतात्मा स श्रमण एवाभेदनयेन धर्म इति विशेषितो मोहक्षोभविहीनात्मपरिणामरूपो निश्चयधर्मो भणित इत्यर्थ ॥ ९२ ॥ अथैवभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतमहातपोधनस्य योऽसौ भक्ति करोति तस्य फल दर्शयति—

जो त विट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं।
वंदणणमसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ॥ *८ ॥

जो त विट्ठा तुट्ठो यो भव्यवरपुण्डरीको निरुपरागशुद्धात्मोपलम्भलक्षणनिश्चयधर्मपरिणत पूर्वसूत्रोक्त मुनीश्वर दृष्ट्वा तुष्टो निर्भरगुणानुरागेण सतुष्ट सन्। किं करोति। **अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कार** अभ्युत्थान कृत्वा मोक्षसाधकसम्यक्त्वादिगुणाना सत्कार प्रशंसा करोति **वदणणमसणादिहि तत्तो सो धम्ममादियदि** 'तवसिद्धे णयसिद्धे' इत्यादि वन्दना भण्यते, नमोऽस्त्विति नमस्कारो भण्यते, तत्प्रभृतिभक्तिविशेषैः तस्माद्यतिवरात्स भव्य पुण्यमादत्ते पुण्य गृह्णाति इत्यर्थ ॥ ८ ॥ अथ तेन पुण्येन भवान्तरे किं फल भवतीति प्रतिपादयति—

तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा।
विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति ॥ *९ ॥ (१०१)[1]

तेण णरा व तिरिच्छा तेन पूर्वोक्तपुण्येनात्र वर्तमानभवे नरा वा तिर्यञ्चो वा **देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा** भवान्तरे दैवी वा मानुषी वा गति प्राप्य **विहविस्सरियेहिं सया सपुण्णमणोरहा होंति** राजाधिराजरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रादिपरिपूर्णविभूतिर्विभवो भण्यते, आज्ञाफलमैश्वर्यं भण्यते, ताभ्या विभवैश्वर्याभ्या सपूर्णमनोरथा भवन्तीति। तदेव पुण्य भोगादिनिदानरहितत्वेन यदि सम्य-

---

है, तथा [**महात्मा**] श्रेष्ठ मोक्षपदार्थके साधनोमे प्रधान है। [**स श्रमणः**] वह मुनीश्वर [**धर्म इति**] धर्म है, ऐसा [**विशेषित**] विशेष लक्षणोसे कहा गया है। **भावार्थ**—यह आत्मा वीतरागभावरूप परिणमन करके साक्षात् आप ही धर्मरूप है। इस आत्माकी घातक जो एक मोहदृष्टि है, वह तो आगम-कुशलता और आत्म ज्ञानसे विनाशको प्राप्त हुई है, इस कारण मेरे फिर उत्पन्न होनेवाली

---

१ इस टीकामें १०१ गाथाकी रचना है, और दूसरी श्रीप्रभाचन्द्रजीकृत सरोजभास्करटीकामे भी १०१ ही का वर्णन हैं। श्रीमदमृतचन्द्राचार्यने ९ गाथाओका व्याख्यान नहीं किया, न मालूम क्या कारण है। बुद्धिमान् इस बातका विचार कर लेवें। इसी तरह आगे भी कुछ गाथायें ऐसी हैं, कि क्षेपककी तरह टीकाकारने छोड दिये है।

निश्चित्यात्मन्यधिकृतमिति ज्ञानतत्त्वं यथावत्
तत्सिद्ध्यर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः ।
सर्वानर्थान् कलयति गुणद्रव्यपर्याययुक्त्या
प्रादुर्भूतिर्न भवति तथा जातु मोहाङ्कुरस्य ॥

इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापनो नाम प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥१॥

क्त्वपूर्वकं भवति तर्हि तेन परंपरया मोक्षं लभत इति भावार्थः ॥ ९ ॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तप्रकारेण 'एस सुरासुरमणुसिंदवंदिय' इतीमां गाथामादिं कृत्वा द्वासप्ततिगाथाभिः शुद्धोपयोगाधिकारः, तदनन्तरं 'देवदजदिगुरुपूजासु' इत्यादि पञ्चविंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः, ततश्च 'सत्तासंबद्धेदे' इत्यादि सम्यक्त्वकथनरूपेण प्रथमा गाथा, रत्नत्रयाधारपुरुषस्य धर्मः संभवतीति 'जो णिहदमोहदिट्ठी' इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयम्, तस्य निश्चयधर्मसंज्ञतपोधनस्य योऽसौ भक्तिं करोति तत्फलकथनेन 'जो तं दिट्ठा' इत्यादि गाथाद्वयम्। इत्यधिकारद्वयेन पृथग्भूतगाथाचतुष्टयसहितेनैकोत्तरशतगाथाभिर्ज्ञानतत्त्वप्रतिपादकनामा प्रथमो महाधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥

नहीं है। इसलिये वीतरागचारित्रसे यह मेरा आत्मा धर्मरूप होकर सब शत्रुओंसे रहित सदाकाल ही निश्चल स्थित है। अधिक कहनेसे क्या 'स्यात्' पद-गर्भित जिनप्रणीत शब्द ब्रह्म जयवंत होओ, जिसके प्रसादसे आत्म-तत्त्वकी प्राप्ति हुई, और उस आत्म-तत्त्वकी प्राप्तिसे अनादिकालकी मोह-रूपी गाँठ छूटकर परम वीतरागचारित्र प्राप्त हुआ, इसीलिये शुद्धोपयोग संयम भी जयवंत होवे, जिसके प्रसादसे यह आत्मा आप धर्मरूप हुआ ॥

इति श्रीपांडेहेमराजकृत श्रीप्रवचनसार सिद्धान्तकी बालावबोध भाषाटीकामें
ज्ञानतत्त्वका अधिकार पूर्ण हुआ ॥ १ ॥

■

२

ज्ञेयतत्त्वाधिकारः

■

अथ ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनं, तत्र पदार्थस्य सम्यग्द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

इत ऊर्ध्वं 'सत्तासबद्धेदे' इत्यादि गाथासूत्रेण पूर्वं सक्षेपेण यद्व्याख्यात सम्यग्दर्शन तस्येदानी विषयभूतपदार्थव्याख्यानद्वारेण त्रयोदशाधिकशतप्रमितगाथापर्यन्त विस्तरव्याख्यान करोति । अथवा द्वितीयपातनिका—पूर्वं यद्व्याख्यात ज्ञान तस्य ज्ञेयभूतपदार्थान् कथयति । तत्र त्रयोदशाधिकशत-गाथासु मध्ये प्रथमस्तावत् 'तम्हा तस्स णमाइ' इमा गाथामादि कृत्वा पाठक्रमेण पञ्चत्रिंशद्गाथा-पर्यन्त सामान्यज्ञेयव्याख्यान, तदनन्तरं 'दव्व जीवमजीव' इत्याद्येकोनविंशतिगाथापर्यन्त विशेष-ज्ञेयव्याख्यान, अथानन्तर 'सपदेसेहिं समग्गो लोगो' इत्यादि गाथाष्टकपर्यन्त सामान्यभेदभावना, ततश्च 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकपञ्चाशद्गाथापर्यन्त विशेषभेदभावना चेति द्वितीयमहा-धिकारे समुदायपातनिक । अथेदानी सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये प्रथमा नमस्कारगाथा, द्वितीया द्रव्यगुणपर्यायव्याख्यानगाथा, तृतीया स्वसमयपरसमयनिरूपणगाथा, चतुर्थी द्रव्यस्य सत्तादिलक्षण-त्रयसूचनगाथा चेति पीठिकाभिधाने प्रथमस्थले स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयम् । तदनन्तरं 'सब्भावो हि सहावो' इत्यादिगाथाचतुष्टयपर्यन्त सत्तालक्षणव्याख्यानमुख्यत्वं तदनन्तर 'ण भवो भगविहीणो' इत्यादिगाथात्रयपर्यन्तमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणकथनमुख्यता, ततश्च 'पाडुब्भवदि य अण्णो' इत्यादि-गाथाद्वयेन द्रव्यपर्यायनिरूपणमुख्यता । अथानन्तर 'ण हवदि जदि सद्दव्व' इत्यादि गाथाचतुष्टयेन सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये युक्ति कथयति, तदनन्तर 'जो खलु दव्वसहावो' इत्यादि सत्ताद्रव्ययोर्गुण-गुणिकथनेन प्रथमगाथा, द्रव्येण सह गुणपर्याययोरभेदमुख्यत्वेन 'णत्थि गुणो त्ति य कोई' इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वय, तदनन्तर द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकनयेन सदुत्पादो भवति, पर्यायार्थिक-नयेनासदित्यादिकथनरूपेण 'एवविह' इतिप्रभृति गाथाचतुष्टय, ततश्च 'अत्थि त्ति य' इत्याद्येकसूत्रेण नयसप्तभङ्गीव्याख्यानमिति समुदायेन चतुर्विंशतिगाथाभिरष्टभि. स्थलैर्द्रव्यनिर्णय करोति । तद्यथा—अथ सम्यक्त्व कथयति—

तम्हा तस्स णमाइ किच्चा णिच्च पि तम्मणो होज्ज ।
वोच्छामि सगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगम ॥*१॥

तम्हा तस्स णमाइ किच्चा यस्मात्सम्यक्त्व विना श्रमणो न भवति तस्मात्कारणात्तस्य सम्यक्-चारित्रयुक्तस्य पूर्वोक्तपोधनस्य नमस्या नमस्क्रिया नमस्कार कृत्वा **णिच्च पि तम्मणो होज्ज** नित्यमपि तद्गतमना भूत्वा **वोच्छामि** वक्ष्याम्यह कर्ता **सगहादो** संग्रहात्संक्षेपात्सक्षेपात्सकाशात् । किम् । **परमट्ठविणिच्छयाधिगम** परमार्थविनिश्चयाधिगम सम्यक्त्वमिति परमार्थविनिश्चयाधिगमशब्देन सम्यक्त्व कथ भण्यत इति चेत्—परमोऽर्थः परमार्थ शुद्धबुद्धैकस्वभाव परमात्मा, परमार्थस्य विशेषेण सशयादिरहितत्वेन निश्चय परमार्थनिश्चयरूपोऽधिगम शङ्काद्यष्टदोषरहितश्च य

आगे ज्ञेयतत्त्वका कथन करते हुए उसमे भी पहले पदार्थोंको द्रव्य, गुण, पर्याय, स्वरूप कहते

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥१॥

अर्थ खलु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि ।
तैस्तु पुन पर्याया पर्ययमूढा हि परसमया ॥१॥

इह हि किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमयः । द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारविशेषात्मकैरभिनिर्वृत्तत्वाद्गुणात्मकानि । पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि । तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः । स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च । तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि । गुणद्वारेणायतानैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्यायः । सोऽपि द्विविधः स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च । तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः, विभावपर्यायो नाम रूपादीना ज्ञानादीना वा स्वपरप्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः । अथेद दृष्टान्तन द्रढयति—यथैव हि सर्व एव पटोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन चाभिनिर्वर्त्य-

---

परमार्थतोऽर्थावबाधो यस्मात्सम्यक्त्वात्तत् परमार्थविनिश्चयाधिगमम् । अथवा परमार्थविनिश्चयोऽनेकान्तात्मकपदार्थसमूहस्तस्याधिगमो यस्मादिति ॥१॥ अथ पदार्थस्य द्रव्यगुणपर्यायस्वरूप निरूपयति—**अत्थो खलु दव्वमओ** अर्थो ज्ञानविषयभूत पदार्थ खलु स्फुट द्रव्यमयो भवति । कस्मात् । तिर्यक्सामान्योर्ध्वतासामान्यलक्षणेन द्रव्येण निष्पन्नत्वात् । तिर्यक्सामान्योर्ध्वतासामान्यलक्षण कथ्यते—एककाले नानाव्यक्तिगतोऽन्वयस्तिर्यक्सामान्य भण्यते, तत्र

है—[खलु] निश्चयसे [अर्थ] ज्ञेयपदार्थ [**द्रव्यमयः**] सामान्य स्वरूप वस्तुमय है [तु] तथा [**द्रव्याणि**] समस्त द्रव्य [**गुणात्मकानि**] अनन्तगुण स्वरूप [**भणितानि**] कहे हैं । [पुन] और [तै] उन द्रव्य गुणोके परिणमन करनेसे [**पर्याया**] पर्याय हैं, अर्थात् द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय ये दो भेद सहित पर्याय हैं, और [**पर्ययमूढा**] अशुद्ध पर्यायोमे मूढ अर्थात् आत्मबुद्धिसे पर्यायको ही द्रव्य माननेवाले अज्ञानी [हि] निश्चयकर [**परसमया.**] मिथ्यादृष्टि हैं । **भावार्थ**—जितने ज्ञेयपदार्थ हैं, वे समस्त गुण पर्याय सहित है, इसलिये द्रव्य एक आधारभूत अनन्तगुणस्वरूप है । गुणका नाम **विस्तार** है, और पर्यायका नाम **आयत** है । विस्तार चौडाईको कहते हैं, और आयत लम्बाईको कहते है । गुण चौडाईरूप अविनाशी सदा सहभूत (साथ रहनेवाले) हैं, और पर्याय लम्बाईरूप है जिसस कि अतीत अनागत वर्तमान कालमे क्रमवर्ती हैं । पर्यायके दो भेद हैं—एक

मानस्तन्मय एव, तथैव हि सर्व एव पदार्थोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन च द्रव्यनाम्नाभिनिर्वर्त्यमानो द्रव्यमय एव। यथैव च पटेऽवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव, तथैव च पदार्थेष्ववस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा द्रव्यनामा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव। यथैव चानेकपटात्मको द्विपटिका त्रिपटिकेति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकपुद्गलात्मको द्वचणुकस्त्र्यणुक इति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः। यथैव चानेककौशेयककार्पासमयपटात्मको द्विपटिकात्रिपटिकेत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकजीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः। यथैव च क्वचित्पटे स्थूलात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण कालक्रमप्रवृत्तेन नानाविधेन परिणमनान्नानात्वनाप्रतिपत्तिर्गुणात्मकः स्वभावपर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु सूक्ष्मात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमय-

---

दृष्टान्तो यथा—नानासिद्धजीवेषु सिद्धोऽयं सिद्धोऽयमित्यनुगताकार सिद्धजातिप्रत्यय.। नानाकालेष्वेकव्यक्तिगतोऽन्वय ऊर्ध्वतासामान्य भण्यते। तत्र दृष्टान्तः यथा—य एव केवलज्ञानोत्पत्तिलक्षणे मुक्तात्मा द्वितीयादिलक्षणेष्वपि स एवेतिप्रतीति, अथवा नानागोशरीरेषु गौरयं गौरयमिति गोजातिप्रतीतिस्तिर्यक्सामान्यम्। यथैव चैकस्मिन पुरुषे बालकुमाराद्यवस्थासु स एवाय देवदत्त इति प्रत्यय ऊर्ध्वतासामान्यम्। **दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि** द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि, अन्वयिनो गुणा अथवा सहभुवो गुणा इति गुणलक्षणम्। यथा अनन्तज्ञानसुखादिविशेषगुणेभ्यस्तथैवागुरुलघुकादिसामान्यगुणेभ्यश्चाभिन्नत्वाद्गुणात्मक भवति सिद्धजीवद्रव्य, तथैव स्वकीयविशेषसामान्यगुणेभ्य सकाशादभिन्नत्वात् सर्वद्रव्याणि गुणात्म-

---

द्रव्यपर्याय और दूसरे गुणपर्याय। इनमेसे अशुद्ध द्रव्यपर्यायका लक्षण कहते है--अनेक द्रव्य मिलकर जो एक पर्यायका होता है, सो **द्रव्यपर्याय** है यह द्रव्यपर्याय दो प्रकार है, एक समान जातीय, दूसरा असमान जातीय। समान जातीय जैसे—अनेक जातिके पुद्गलरूप द्वयणुक त्र्यणुक आदि, और असमान जातीय जैसे—जीव पुद्गल मिलकर देव मनुष्यादि पर्याय, और भिन्न जातीय द्रव्य के सयोगसे गुणकी परिणतिरूप गुणपर्याय होती है, सो भी दो प्रकार है, एक स्वभाव गुणपर्याय, दूसरी विभाव गुणपर्याय। स्वभाव गुणपर्याय वह है, जो समस्त द्रव्य अपने अपने अगुरुलघुगुणोसे समय समय षट्गुणी हानि वृद्धिरूप परिणमन करें, और विभावगुण पर्याय वह है, जो वर्णादि गुण पुद्गलस्कधोमे ज्ञानादि गुण जीवमे पुद्गलके सयोगके पहले आगामी दशामे हीनाधिक होकर परिणमन कर। आगे इसीको उदाहरणसे दृढ करते है—जैसे वस्त्र शुक्लादि गुणोसे अपनी परिणतिरूप पर्याय सिद्ध है, इसीलिए गुणपर्यायमय वस्त्र है। इसी प्रकार द्रव्य गुणपर्यायमय है, और जैसे वस्त्र शुक्लादि गुण पर्यायोसे जुदा नही है, इसी प्रकार द्रव्य गुण पर्यायोसे जुदा नही है। जैसे वस्त्रके दो तीन पाट मिलकर समानजातीय पर्याय होना है, उसी प्रकार पुद्गलके द्वयणुक त्र्यणुकादि अनेक समानजातीय पर्याय होते हैं। जैसे वस्त्रके रेशम कपासके दो तीन पाट मिलके असमान जातीय द्रव्यपर्याय होता है, उसी प्रकार जीव पुद्गल मिलकर देव मनुष्यादि असमान जातीय द्रव्यपर्याय होते है। और जैसे किसी वस्त्रमे स्थूल अपने अगुरुलघुगुण

समुदीयमाणषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः गुणात्मकः स्वभावपर्यायः। यथैव च पटे रूपादीनां स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मको विभावपर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मको विभावपर्यायः। इय हि सर्वपदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी, न पुनरितरा। यतो हि बहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्ब्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षण मोहमुपगच्छन्तः परसमया भवन्ति ॥१॥

अथानुषङ्गिकीमिमामेव स्वसमयपरसमयव्यवस्थां प्रतिष्ठाप्योपसंहरति—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥२॥

कानि भवन्ति। **तेहिं पुणो पज्जाया** त पूर्वोक्तलक्षणैर्द्रव्यगुणैश्च पर्याया भवन्ति, व्यतिरेकिण पर्याया अथवा क्रमभुव पर्याया इति पर्यायलक्षणम्। यथैकस्मिन् मुक्तात्मद्रव्ये किंचिदूनचरमशरीराकारगतिमार्गणविलक्षणसिद्धगतिपर्याय तथाऽगुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपा साधारणस्वभावगुणपर्यायाश्च, तथा सर्वद्रव्येषु स्वभावद्रव्यपर्याया स्वजातीयविभावद्रव्यपर्यायाश्च, तथैवस्वभावविभावगुणपर्यायाश्च 'जेसिं अत्थिसहाओ, इत्यादिगाथाया, तथैव 'भावा जीवादीया' इत्यादिगाथाया च **पञ्चास्तिकाये** पूर्वं कथितक्रमेण यथासम्भव ज्ञातव्या। **पज्जयमूढा हि परसमया** यस्मादित्थभूतद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानमूढा अथवा नारकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति। तस्मादिय पारमेश्वरी द्रव्यगुणपर्यायव्याख्या समीचीना भद्रा भवतीत्यभिप्राय ॥ १ ॥ अथ प्रसगायाता परसमयस्वसमयव्यवस्था कथयति—**जे पज्जयेसु णिरदा जीवा** ये पर्यायेषु निरता जीवा **परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा** ते परसमया इति निर्दिष्टा कथिता।

द्वारा कालके क्रमसे नाना प्रकारसे परिणमन होनेसे एक अनेकता लिये शुक्लादि गुणोका गुण स्वरूप स्वभावपर्याय है, उसी प्रकार सभी द्रव्योमे सूक्ष्म अपने अपने अगुरुलघुगुणोंसे समय-समय षट्गुणी हानि वृद्धिसे नाना स्वभावगुणपर्याय हैं। और जैसे वस्त्रमे अन्य द्रव्यके सयोगसे वर्णादि गुणोकी कृष्ण पीततादि भेदोसे पूर्व उत्तर अवस्थामे हीन अधिकरूप विभावगुणपर्याय होते हैं, उसी प्रकार पुद्गलमे वर्णादि गुणोकी तथा आत्मामे ज्ञानादि गुणोकी परसयोगसे पूर्व उत्तर (पहली-आगेकी) अवस्थामे हीन अधिक विभागुणपर्याय हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्योंके गुणपर्यायोको भगवानकी वाणी ही दिखलानेमे समर्थ है, अन्यमती नही दिखा सकते। क्योंकि वे सब एक नयका ही अवलम्बन लेते हैं और एक नयसे सब द्रव्य, गुण, पर्यायके स्वरूप नही कहे जा सकते। ऐसे अनेक जीव अशुद्ध पर्याय मात्रका अवलम्बन करते हुए मिथ्या मोहको प्राप्त होकर परसमयी होते है ॥ १॥ अब इस व्याख्यानका सयोग पाकर स्वसमय तथा परसमयका स्वरूप प्रगट करते हैं—(**ये जीवा**) जो अज्ञानी ससारी जीव (**पर्यायेषु**) मनुष्यादि पर्यायोमे (**निरता**) लवलीन हैं, वे (**परसमयिका.**) परसमयमे रागयुक्त हैं, (**इति(**

ये पर्यायेषु निरता जीवाः परसमयिका इति निर्दिष्टा ।
आत्मस्वभावे स्थितास्ते स्वकसमया मन्तव्याः ॥२॥

ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीयद्रव्यपर्यायं सकलाविद्यानामेकमूलमुपगता यथोदितात्मस्वभावसंभावनक्लीबास्तस्मिन्नेवाशक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममैवेतन्मनुष्यशरीरमित्यहङ्कारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा सगतत्वात्परसमया जायन्ते । ये तु पुनरसंकीर्णद्रव्यगुणपर्यायसुस्थितं भगवन्तमात्मनः स्वभावं सकलविद्यानामेकमूलमुपगम्य यथोदितात्मस्वभावसंभावनसमर्थतया पर्यायमात्राशक्तिमत्यस्यात्मनः स्वभाव एव स्थितिमासूत्रयन्ति, ते खलु सहजविजृम्भितानेकान्तदृष्टिप्रक्षपितसमस्तैकान्तदृष्टिपरिग्रहग्रहा मनुष्यादिगतिषु तद्विग्रहेषु चाविहिताहङ्कारममकारा अनेकापवरकसचारितरत्नप्रदीपमिवैकरूपमेवात्मानमुपलभमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रमात्मव्यवहारमुररीकृत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यव-

---

तथाहि--मनुष्यादिपर्यायरूपोऽहमित्यहङ्कारो भण्यते, मनुष्यादिशरीर तच्छरीराधारोत्पन्नपञ्चेन्द्रियविषयसुखस्वरूप च ममेति ममकारो भण्यते, ताभ्या परिणता ममकाराहकाररहितपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतेश्च्युता ये ते कर्मोदयजनितपरपर्यायनिरतत्वात्परसमया मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते । **आदसहावम्मि ठिदा** ये पुनरात्मस्वरूपे स्थितास्ते **सगसमया मुणेदव्वा** स्वसमया मन्तव्या ज्ञातव्या

ऐसा [**निर्दिष्टा**] भगवतदेवने दिखाया है । और जो सम्यग्दृष्टि जीव [**आत्मस्वभावे**] अपने ज्ञानदर्शन स्वभावमे [**स्थिताः**] मौजूद है, [**ते**] वे [**स्वकसमया**] स्वसमयमे रत [**ज्ञातव्याः**] जानने योग्य हैं । **भावार्थ**--जो जीव सब अविद्याओका एक मूलकारण जीव पुद्गल स्वरूप असमान जातिवाले द्रव्यपर्यायको प्राप्त हुए है, और आत्म-स्वभावकी भावनामे नपुसकके समान अशक्ति (निर्बलपने) को धारण करते है, वे निश्चय करके निरर्गल एकान्तदृष्टि ही हैं । 'मै मनुष्य हूँ, यह मेरा शरीर है' इस प्रकार नाना अहकार ममकारभावोसे विपरीत ज्ञानी हुए अविचलित चेतना-विलासरूप आत्म-व्यवहारसे च्युत होकर समस्त निंद्य क्रिया-समूहके अगीकार करनेसे पुत्र स्त्री मित्रादि मनुष्य-व्यवहारको आश्रय करके रागी द्वेषी होते है, और परद्रव्यकर्मोसे मिलते हैं, इस कारण परसमयरत होते हैं । और जो जीव अपने द्रव्यगुणपर्यायोकी अभिन्नतासे स्थिर हैं, समस्त विद्याओके मूलभूत भगवत आत्माके स्वभावको प्राप्त हुए है, आत्मस्वभावकी भावनासे पर्यायरत नही हैं, और आत्म-स्वभावमे ही स्थिरता बढाते है, वे जीव स्वाभाविक अनेकान्तदृष्टिसे एकात दृष्टिरूप परिग्रहको दूर करनेवाले है । मनुष्यादि गतियोमे शरीरसबधी अहकार ममकारभावोसे रहित हैं । जैसे अनेक गृहोमे सचार करनेवाला रत्नदीपक एक है, उसी प्रकार एकरूप आत्माको प्राप्त हुए हैं । अचलित चैतन्य-विलासरूप आत्मव्यवहारको अगीकार करते है । असमीचीन क्रियाओके मूलकारण मनुष्य-व्यवहारके आश्रित नही होते;

हारमनाश्रयन्तो विश्रान्तरागद्वेषोन्मेषतया परममौदासीन्यमवलम्बमाना निरस्तसमस्तपरद्रव्यसंगतितया स्वद्रव्येणैव केवलेन संगतत्वात्स्वसमया जायन्ते। अतः स्वसमय एवात्मनस्तत्त्वम् ॥२॥

अथ द्रव्यलक्षणमुपलक्षयति--

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥३॥

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसयुक्तम्।
गुणवच्च सपर्याय यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ॥३॥

इह खलु यदनारब्धस्वभावभेदमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण गुणपर्यायद्वयेन च यल्लक्ष्यते तद्द्रव्यम्। तत्र हि द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वय, अस्तित्वं हि वक्ष्यति द्विविध, स्वरूपास्तित्व सादृश्यास्तित्वं चेति। तत्रोत्पादः प्रादुर्भावः, व्ययः प्रच्यवन, ध्रौव्यमवस्थितिः। गुणा विस्तारविशेषाः, ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात्। तत्रास्तित्व नास्तित्वमेकत्वमन्यत्व द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्व सप्रदेशत्वमप्रदेशत्व मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्व भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणाः। अवगाहहेतुत्वं गति-

---

इति। तद्यथा—अनेकापवरकमचारितैकरत्नप्रदीप इवानेकशरीरेष्वप्येकोऽहमिति दृढसस्कारेण निजशुद्धात्मनि स्थिता ये ते कर्मोदयजनितपर्यायपरिणतिरहितत्वात्स्वसमया भवन्तीत्यर्थ ॥ २ ॥ अथ द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रय सूचयति—**अपरिच्चत्तसहावेण** अपरित्यक्तस्वभावमस्तित्वेन सहाभिन्न **उप्पादव्वयधुवत्तसजुत्त** उत्पादव्ययध्रौव्यै सह सयुक्त **गुणव च सपज्जाय** गुणवत्पर्यायसहित च **ज** यदित्थभूत सत्तादिलक्षणत्रयसयुक्त **त दव्वं ति वुच्चति** त द्रव्यमिति ब्रुवन्ति सर्वज्ञा। इद द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च सह लक्ष्यलक्षणभेदे अपि सति सत्ताभेद न गच्छति। तर्हि किं करोति। स्वरूपतयैव तथाविधत्वमवलम्बते। कोऽर्थ। उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप गुणपर्याय

रागद्वेषके अभावसे परम उदासीन हैं, और समस्त परद्रव्योकी सगति दूर करके केवल स्वद्रव्यमे प्राप्त हुए हैं, इसी कारण स्वसमय है। स्वसमय आत्मस्वभाव है। आत्मस्वभावमे जो लीन

रहते हैं वे धन्य हैं ॥२॥ अब द्रव्यका लक्षण कहते है—**(यत्)** जो **(अपरित्यक्तस्वभावेन)** नही छोडे हुए अपने अस्तित्व स्वभावसे **(उत्पादव्ययध्रुवत्वसबद्ध)** उत्पाद, व्यय, तथा ध्रौव्य सयुक्त है। **(च)** और **(गुणवत्)** अनतगुणात्मक है, **(सपर्याय)** पर्यायसहित है, **(तत्)** उसे **(द्रव्य इति)** द्रव्य ऐसा **(ब्रुवन्ति)** कहते हैं,। **भावार्थ**—जो अपने अस्तित्वसे किसीसे उत्पन्न नही हुआ होवे, उसे द्रव्य कहते हैं। अस्तित्व दो प्रकारका है—एकस्वरूपास्तित्व और दूसरा सामान्यास्तित्व, इन दोनो अस्तित्वोका वर्णन आगे करेंगे। यहाँ द्रव्यके लक्षण दो हैं, सो बतलाते हैं, एक उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, और दूसरा गुणपर्याय। उत्पाद उत्पन्न होनेको, व्यय विनाश होनेको, और ध्रौव्य स्थिर रहनेको कहते हैं। गुण दो प्रकारका है, एक सामान्यगुण दूसरा विशेषगुण। अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायित्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व.

निमित्तता स्थितिकारणत्व वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेषगुणाः। पर्याया आयतविशेषाः, ते पूर्वमेवोक्ताश्चतुर्विधाः। न च तैरुत्पादादिभिर्गुणपर्यायैर्वा सह द्रव्यं लक्ष्यलक्षणभेदेऽपि स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव द्रव्यस्य तथाविधत्वादुत्तरीयवत्। यथा खलूत्तरीयमुपात्तमलिनावस्थं प्रक्षालितममलावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथा द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थ समुचितबहिरङ्गसाधनसन्निधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानं स्वरूपकर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनान्तरङ्गसाधनतामुपागतेनानुगृहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। यथा च तदेवोत्तरीयममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथा तदेव द्रव्यमप्युत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। यथैव च तदेवोत्तरीयमेककालमम-

---

रूपं गुणपर्यायरूप च परिणमति शुद्धात्मवदेव। तथाहि—केवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे शुद्धात्मरूपपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशे सति शुद्धात्मोपलम्भव्यक्तिरूपकायसमयसारस्योत्पाद. कारणसमयसारस्य व्ययस्तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्य च। तथानन्तज्ञानादिगुणाः, गतिमार्गणाविपक्षभूतसिद्धगति., इन्द्रियमार्गणाविपक्षभूतातीन्द्रियत्वादिलक्षणा शुद्धपर्यायाश्च भवन्तीति। यथा शुद्धसत्तया सहाभिन्न परमात्मद्रव्यं पूर्वोक्तोत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च सह सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि सति तै सह सत्तादिभेदं न करोति, स्वरूपत एव तथाविधित्वमवलम्बते। तथाविधित्व कोऽर्थ । उत्पादव्ययध्रौव्यगुणपर्यायस्वरूपेण परिणमन्ति,

---

सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्यगुण है। अवगाहहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिहेतुत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्त्व, चेतनत्व, इत्यादि विशेषगुण हैं। द्रव्यगुणकी परिणतिके भेदको पर्याय कहते है। इन उत्पाद व्यय ध्रौव्य गुणपर्यायोसे द्रव्य लक्षित होता (पहिचाना जाता) है, इसलिए द्रव्य 'लक्ष्य' है। और जिनसे लक्षित होता है, वे लक्षण हैं, इसलिए उत्पाद व्ययादि 'लक्षण' हैं। लक्ष्य लक्षण भेदसे यद्यपि इनमे भेद है, तथापि स्वरूपसे द्रव्यमे भेद नही है, अर्थात् स्वरूपसे लक्ष्य लक्षण एक ही है। जैसे—कोई वस्त्र पहले मलिन था, पीछेसे धोकर उज्ज्वल किया, तब उज्ज्वलता से उत्पन्न हुआ कहलाया। परन्तु उस वस्त्रका उत्पादसे पृथक्‌पना नही है, क्योकि पूर्ववस्त्र ही उज्ज्वलभावसे परिणत हुआ है। इसी प्रकार बहिरग—अतरंग निमित्त पाकर द्रव्य एक पर्यायसे उत्पन्न होता है, परन्तु उत्पादसे जुदा नही है, स्वरूपसे ही उस पर्यायरूप परिणमन करता है। वही वस्त्र उज्ज्वलावस्थासे तो उत्पन्न हुआ है, और मलिनपर्याय से व्यय (नाश) को प्राप्त हुआ है, परन्तु उस व्ययसे वस्त्र पृथक् नही है, क्योंकि आप ही मलिनभावके नाशरूप परिणत हुआ है। इसी प्रकार द्रव्य

लावस्थयोत्पद्यमानं मलिनव्यवस्थया व्ययमानमवस्थायिन्योत्तरीयत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्ब्यमान ध्रौव्येण लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमप्येककालमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्या द्रव्यत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्ब्यमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीय विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमपि विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयमायतविशेषात्मकैः पर्यायवर्तिभिस्तन्तुभिर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमप्यायतविशेषात्मकैः पर्यायैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते ॥ ३ ॥

अथ क्रमेणास्तित्वं द्विविधमभिदधाति तत्रेदं स्वरूपास्तित्वाभिधानम्—

तथा सर्वद्रव्याणि स्वकीयस्वकीययथोचितोत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव गुणपर्यायैश्च सह यद्यपि सञ्ज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भेद कुर्वन्ति तथापि सत्तास्वरूपेण भेद न कुर्वन्ति, स्वभावत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथाविधत्व कोऽर्थः । उत्पादव्ययादिस्वरूपेण परिणमन्ति । अथवा यथा वस्त्र निर्मलपर्यायेणोत्पन्न मलिनपर्यायेण विनष्ट तदुभयाधारभूतवस्त्ररूपेण ध्रुवमविनश्वर, तथैव शुक्लवर्णादिगुणनवजीर्णादिपर्यायसहित च सत् तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव च स्वकीयगुणपर्यायै सह सञ्ज्ञादिभेदेऽपि सति सत्तारूपेण भेदं न करोति । तर्हि किं करोति । स्वरूपत एवोत्पादादिरूपेण परिणमति, तथा सर्वद्रव्याणीत्यभिप्राय ॥ ३ ॥ एव नमस्कारगाथा द्रव्यगुण पर्यायकथनगाथा स्वसमयपरसमयनिरूपणगाथा सत्तादिलक्षणत्रयसूचनगाथा चेति स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन पीठिकाभिधानं प्रथमस्थल गतम् । अथ प्रथम तावत्स्वरूपास्तित्व प्रतिपा-

---

आगामी पर्यायसे तो उत्पद्यमान है, और प्रथम अवस्थासे नष्ट होता है, परन्तु उस व्ययसे पृथक् नही है, व्ययस्वरूप परिणत हुआ है । और वही वस्त्र जैसे एक ही समयमे निर्मल अवस्थाकी अपेक्षासे तो उत्पद्यमान है, मलिनावस्थाकी अपेक्षासे व्यय (नाश) वाला है, और वस्त्रपने की अपेक्षा ध्रुव है, परन्तु ध्रुवपनेसे स्वरूपभेदको धारण नही करता है, आप ही उस स्वरूप परिणमता है । इसी प्रकार द्रव्य हरएक समयमें उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता है, पूर्व अवस्थासे विनाशको प्राप्त होता है, और द्रव्यपने स्वभावसे ध्रुव रहता है, ध्रुवपनेसे पृथक् नही रहता, आप ही ध्रौव्यको अवलम्बन करता है । और इसी प्रकार जैसे वही वस्त्र उज्ज्वल कोमलादि गुणोकी अपेक्षा देखते हैं, तो वह उन गुणोसे भिन्न भेद धारण नही करता, स्वरूपसे गुणात्मक है, इसी तरह प्रत्येक द्रव्य निज गुणोसे भिन्न नही है, स्वरूपसे ही गुणात्मक है, ऐसा देखते हैं । जैसे वस्त्र ततुरूप पर्यायोसे देखा जाता है, परन्तु उन पर्यायोसे जुदा नही है, स्वरूपसे ही उनरूप

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सह पज्जएहिं चित्तेहिं ।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥ ४ ॥

सद्भावो हि स्वभावो गुणैः सह पर्ययैश्चित्रैः ।
द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः ॥ ४ ॥

अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततया हेतुकयैकरूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद्विभावधर्मवैलक्षण्याच्च भावभाववद्भावान्नानात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद्द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत् । तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणां न प्रत्येकं परिसमाप्यते । यतो हि परस्परसाधितसिद्धियुक्तत्वात्तेषामस्तित्वमेकमेव, कार्तस्वरवत् यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण पीतादिगुणानां कुण्डलादिपर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरा-

---

दयति—सहावो हि स्वभावः स्वरूपं भवति हि स्फुटम् । कः कर्ता । सब्भावो सद्भावः शुद्धसत्ता शुद्धास्तित्वम् । कस्य स्वभावो भवति दव्वस्स मुक्तात्मद्रव्यस्य तच्च स्वरूपास्तित्वं यथा मुक्तात्मनः सकाशात्पृथग्भूतानां पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां शेषजीवानां च भिन्नं भवति न च तथा कैः सह । गुणेहि सह पज्जएहि केवलज्ञानादिगुणैः किंचिदूनचरमशरीराकारादिस्वकीयपर्यायैश्च सह । कथंभूतैः । चित्तेहिं सिद्धगतित्वमतीन्द्रियत्वमकायत्वमयोगत्वमवेदत्वमित्यादिबहुभेदभिन्नैः केवलगुणपर्यायैः सह भिन्नं भवति । उप्पादव्वयधुवत्तेहिं शुद्धात्मप्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्योत्पादो रागादिविकल्परहितपरमसमाधिरूपमोक्षमार्गपर्यायस्य व्ययस्तथा मोक्षमार्गाधारभूतान्वयद्रव्यत्वलक्षणं ध्रौव्यं चेत्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह भिन्नं न भवति । कथम् । सव्वकालं सर्वकालपर्यन्तं यथा भवति । कस्मात्तैः सह भिन्नं न भवतीति चेत् । यतः कारणाद्गुणपर्यायोऽस्तित्वेनोत्पादव्ययध्रौ-

---

है, इसी प्रकार द्रव्य निज पर्यायोंसे देखते हैं, परन्तु स्वरूपसे ही पर्यायपनेको अवलम्बन करता है इस तरह द्रव्यका उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षण और गुणपर्यायलक्षण जानने योग्य है ॥ ३ ॥ अब दो प्रकारके अस्तित्वमेंसे पहले से स्वरूपास्तित्वको दिखलाते हैं—(गुणैः) अपने गुणों करके (चित्रैः सह पर्यायैः) नाना प्रकारकी अपनी पर्यायों करके और (उत्पादव्ययध्रुवत्वैः) उत्पाद, व्यय, तथा ध्रौव्यकरके (द्रव्यस्य) गुणपर्यायस्वरूप द्रव्यका (सर्वकालं) तीनों कालमें (सद्भावः) अस्तित्व है, वही (हि) निश्चय करके (स्वभावः) मूलभूत स्वभाव है। भावार्थ—निश्चय करके अस्तित्व ही द्रव्यका स्वभाव है, क्योंकि अस्तित्व किसी अन्य निमित्तसे उत्पन्न नहीं हुआ है। अनादि अनंत एकरूप प्रवृत्तिसे अविनाशी है। विभावभावरूप नहीं, किन्तु स्वाभाविकभाव है। और गुणगुणीके भेदसे यद्यपि द्रव्यसे अस्तित्वगुण पृथक् कहा जाता है, परंतु वह प्रदेशभेदके विना द्रव्यसे एकरूप है। एक द्रव्यसे दूसरे द्रव्यकी नाईं पृथक् नहीं है, क्योंकि द्रव्यके अस्तित्वसे गुणपर्यायोंका अस्तित्व है, और गुणपर्यायोंके अस्तित्वसे द्रव्यका अस्तित्व है। यह कथन नीचे लिखे हुए सोनेके दृष्टांतसे समझाते हैं। जैसे—पीततादि गुण तथा कुंडलादिपर्याय जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा सोनेसे पृथक् नहीं हैं, उनका कर्ता, साधन और आधार सोना है, क्योंकि सोनेके अस्तित्वसे ही उनका अस्तित्व है। जो सोना न होवे, तो पीततादि गुण तथा कुंडलादिपर्यायें भी न होवें। सोना

स्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा पीततादिगुणेभ्यः कुण्डलादिपर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादित यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा गुणेभ्यः पर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानाप्रवृत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्व स स्वभावः । किं च—यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूप-

---

व्यास्तित्वेन च कर्तृभूतेन शुद्धात्मद्रव्यास्तित्व साध्यते, शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वेन च गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्व साध्यत इति । तद्यथा—यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावै सुवर्णादभिन्नाना पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणा संबन्धि यदस्तित्व स एव सुवर्णस्य सद्भाव , तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावै परमात्मद्रव्यादभिन्नाना केवलज्ञानादिगुणकिंचिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायाणा सबन्धि यदस्तित्व स एव मुक्तात्मद्रव्यस्य सद्भाव । यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायेभ्य सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सबन्धि यदस्तित्व स एव पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणा स्वभावो भवति, तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावै केवलज्ञानादिगुणकिंचिदूनचरमशरीराकारपर्यायेभ्यः सकाशादभिन्नस्य मुक्तात्मद्रव्यस्य सबन्धि यदस्तित्व स एव केवलज्ञानादिगुणकिंचिदूनचरमशरीराकारपर्यायाणा स्वभावो ज्ञातव्य । अथेदानीमुत्पादव्ययध्रौव्याणामपि द्रव्येण सहाभिन्नास्तित्व

स्वभाववत है, और वे स्वभाव हैं। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोकी अपेक्षा द्रव्यसे अभिन्न जो उसके गुणपर्याय हैं, उनका कर्ता साधन, और आधार द्रव्य हैं, क्योकि द्रव्यके अस्तित्वमे ही गुणपर्यायोका अस्तित्व है। जो द्रव्य न होवे, तो गुणपर्याय भी न होवें। द्रव्य स्वभाववत है, और गुणपर्याय स्वभाव हैं। और जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोसे, पीततादि गुण तथा कुडलादि पर्यायोसे अपृथक्भूत (जो जुदे नही) सोनेके कर्म पीततादि गुण तथा कुंडलादि पर्याय हैं, इसलिए पीततादि गुण और कुडलादि पर्यायोंके अस्तित्वसे सोनेका अस्तित्व है। यदि पीततादिगुण तथा कुडलादि पर्यायें न हो, तो सोना भी न होवे। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोसे गुणपर्यायोसे अपृथग्भूत द्रव्यके कर्म गुणपर्याय हैं, इसलिए गुणपर्यायोके अस्तित्वसे द्रव्यका अस्तित्व है। जो गुणपर्यायें न हों, तो द्रव्य भी न होवे। और जैसे—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंसे सोनेसे अपृथग्भूत ऐसा जो कंकणका उत्पाद, कुडलका व्यय तथा पीतत्वादिका ध्रौव्य इन तीन भावोका

मुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीततताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्व द्रव्यस्य स स्वभावः। यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्व स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादित यदस्तित्वं स स्वभावः ॥ ४ ॥

कथ्यते। यथा स्वकीयद्रव्यादिचतुष्टयेन सुवर्णादभिन्नाना कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायविनाशसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणा सम्बन्धि यदस्तित्व स एव सुवर्णसद्भाव, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन परमात्मद्रव्यादभिन्नाना मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणा संबन्धि यदस्तित्व स एव मुक्तात्मद्रव्यस्वभाव'। यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायव्ययसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्येभ्यः सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सबन्धि यदस्तित्व स एव कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणा सद्भाव, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्येभ्य' सकाशादभिन्नस्य परमात्मद्रव्यस्य संबन्धि यदस्तित्वं स एव मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणा स्वभाव इति। एव यथा मुक्तात्मद्रव्यस्य स्वकीयगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यै. सह स्वरूपास्तित्वाभिधानमवान्तरास्तित्वमभिन्न

कर्ता, साधन, और आधार सोना है, इसलिए सोनेके अस्तित्वसे इनका अस्तित्व है, क्योकि जो सोना न होवे, तो कंकणका उत्पाद, कुडलका व्यय और पीतत्वादिका ध्रौव्य, ये तीन भाव भी न होवें। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावो करके द्रव्यसे अपृथग्भूत ऐसे जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीन भावोका कर्ता, साधन तथा आधार द्रव्य है, इसलिए द्रव्यके अस्तित्वसे उत्पादादिका अस्तित्व है। जो द्रव्य न होवे तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीन भाव न होवें। और जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोकर ककणादि पर्यायका उत्पाद, कुडलादिका व्यय, पीतत्वादिका ध्रौव्य, इन तीन भावोसे अपृथग्भूत जो सोना है, उसके कर्ता, साधन और आधार ककणादि उत्पाद, कुण्डलादि व्यय, पीतत्वादि ध्रौव्य, ये तीन भाव हैं, इसलिए इन तीन भावोके अस्तित्वसे सोने का अस्तित्व है। यदि ये तीन भाव न होवें, तो सोना भी न होवे। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावो करके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे अपृथग्भूत द्रव्यके कर्ता, साधन और आधार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, ये तीन भाव हैं, क्योकि इन तीनोके अस्तित्वसे द्रव्यका अस्तित्व है। यदि ये तीन

इदं तु सादृश्यास्तित्वाभिधानमस्तीति कथयति—

इह विविहलक्खणाणं लक्खमणमेगं सदिति सव्वगयं ।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥ ५ ॥

इह विविधलक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम् ।
उपदिशता खलु धर्मं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ॥ ५ ॥

इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्य वृत्तेन प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्चं प्रवृत्य वृत्तं प्रतिद्रव्यमासूत्रितं सीमानं भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूतं सादृश्यास्तित्वमेकं खल्ववबोद्धव्यम् । एवं सदित्यभिधानं सदिति परिच्छेदनं च सर्वार्थपरामर्शि स्यात् । यदि पुनरिदमेव न स्यात्तदा किंचित्सदिति किंचिदसदिति किंचित्सच्चासच्चेति किंचिदवाच्यमिति च स्यात् । तत्तु विप्रतिषिद्धमेवाप्रसाध्यं चैतदनोकहवत् । यथा हि बहूनां बहुविधानामनोकहानामात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्व-

---

व्यवस्थापितं, तथैव समस्तशेषद्रव्याणामपि व्यवस्थापनीयमित्यर्थः ॥ ४ ॥ अथ सादृश्यास्तित्वशब्दाभिधेयां महासत्तां प्रज्ञापयति— इह विविहलक्खणाणं इह लोके प्रत्येकसत्ताभिधानेन स्वरूपास्तित्वेन विविधलक्षणानां भिन्नलक्षणानां चेतनाचेतनमूर्तामूर्तपदार्थानां लक्खणमेगं तु एकमखण्डलक्षणं भवति । किं कर्तृ सदिति सर्वं सदिति महासत्तारूपम् । किंविशिष्टम् । सव्वगयं संकरव्यतिकरपरिहाररूपस्वजात्यविरोधेन शुद्धसंग्रहनयेन सर्वगतं सर्वपदार्थव्यापकम् । इदं केनोक्तम् । उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं धर्मं वस्तुस्वभावसंग्रहमुपदिशता खलु स्फुटं

भाव न होवें, तो द्रव्य भी न होवे । इससे यह बात सिद्ध हुई कि द्रव्य, गुण और पर्यायोंका अस्तित्व एक है । और जो द्रव्य है, सो अपने गुण पर्यायस्वरूपको लिये हुए है, अन्य द्रव्यसे कभी नहीं मिलता । इसीको स्वरूपास्तित्व कहते हैं ॥ ४ ॥ आगे सादृश्यास्तित्व बतलाते हैं— [इह] इस लोकमें [धर्मं उपदिशता] वस्तुके स्वभावका उपदेश देनेवाले [जिणवरवृषभेण] गणधरादिदेवोंमें श्रेष्ठ श्रीवीतराग सर्वज्ञदेवने [प्रज्ञप्तं] ऐसा कहा है, कि [विविधलक्षणानां] नाना प्रकारके लक्षणोंवाले अपने स्वरूपास्तित्वसे जुदा जुदा द्रव्योंका [सत् इति] 'सत्' ऐसा [सर्वगतं] सब द्रव्योंमें पानेवाला [एकं लक्षणं] एक लक्षण है । **भावार्थ**—स्वरूपास्तित्व विशेष लक्षणरूप है, क्योंकि वह द्रव्योंकी विचित्रताका विस्तार करता है । तथा अन्य द्रव्यसे भेद करके प्रत्येक द्रव्यकी मर्यादा करता है । और 'सत्' ऐसा जो सादृश्यास्तित्व है, सो द्रव्योंमें भेद नहीं करता है, सब द्रव्योंमें प्रवर्तता है, प्रत्येक द्रव्यकी मर्यादाको दूर करता है, और सर्वगत है, इसलिए सामान्यलक्षणरूप है । 'सत्' शब्द सब पदार्थोंका ज्ञान कराता है, क्योंकि यदि ऐसा न माने, तो कुछ पदार्थ सत् हो, कुछ असत् हो, और कुछ अवक्तव्य हो, परन्तु ऐसा नहीं है, सम्पूर्ण पदार्थ सत्रूप ही है, असदादिरूप नहीं हैं । जैसे—वृक्ष अपने अपने स्वरूपास्तित्वसे, आम, नीमादि भेदोंसे अनेक प्रकारके हैं, और सादृश्यास्तित्वसे वृक्ष जातिकी अपेक्षा एक हैं । इसी प्रकार

रूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं, सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति। तथा बहूनां बहुविधाना द्रव्याणामात्मीयात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्व, सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितमेकत्व तिरयति। यथा च तेषामनोकहानां सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तत्वावष्टम्भेनोत्तिष्ठान्नानात्वमुच्चकास्ति, तथा सर्वद्रव्याणामपि सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठ न्नानात्वमुच्चकास्ति।५।

अथ द्रव्यैर्द्रव्यान्तरस्यारम्भं द्रव्यादर्थान्तरत्वं च सत्तायाः प्रतिहन्ति—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ॥ ६॥

द्रव्यं स्वभावसिद्धं सदिति जिनास्तत्त्वत समाख्यातवन्त ।
सिद्ध तथा आगमतो नेच्छति य स हि परसमय ॥ ६॥

जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तमिति। तद्यथा—यथा सर्वे मुक्तात्मन सन्तीत्युक्ते सति परमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादभरितावस्थलोकाकाशप्रमितशुद्धासख्येयात्मप्रदेशैस्तथा किंचिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायैश्च सकरव्यतिकरपरिहाररूपजातिभेदेन भिन्नानामपि सर्वेषा सिद्धजीवाना ग्रहण भवति, तथा 'सर्वं सत्' इत्युक्ते सग्रहनयेन सर्वपदार्थाना ग्रहण भवति। अथवा सेनेय वनमिदमित्युक्ते अश्वहस्त्यादिपदार्थाना निम्बाम्रादिवृक्षाणा स्वकीयस्वकीयजातिभेदभिन्नाना युगपद्ग्रहण भवति, तथा सर्वं सदित्युक्ते सति सादृश्यसत्ताभिधानेन महासत्तारूपेण शुद्धसग्रहनयेन सर्वपदार्थाना स्वजात्यविरोधेन ग्रहण भवतीत्यर्थ ॥ ५॥ अथ यथा द्रव्य स्वभावसिद्ध तथा सदसदपि स्वभावत एवेत्याख्याति—**दव्वं सहावसिद्धं** द्रव्य परमात्मद्रव्य स्वभावसिद्धं भवति। कस्मात्। अनाद्यनन्तेन परहेतुनिरपेक्षेण स्वत सिद्धेन केवलज्ञानादिगुणाधारभूतेन सदानन्दैकरूप-

---

द्रव्य अपने अपने स्वरूपास्तित्वसे ६ प्रकार हैं, और सादृश्यास्तित्वसे सत्‌की अपेक्षा सब एक हैं। सत्‌के कहनेमे छहो द्रव्य गर्भित हो जाते है। जैसे जब वृक्षोमे स्वरूपास्तित्वसे भेद करते हैं, तब सादृश्यास्तित्वरूप वृक्षकी जातिकी एकता मिट जाती है, और जब सादृश्यास्तित्वरूप वृक्षजातिकी एकता करते हैं, तब स्वरूपास्तित्वसे उत्पन्न नाना प्रकारके भेद मिट जाते हैं, इसी प्रकार द्रव्योमे स्वरूपास्तित्वकी अपेक्षा सत्‌रूप एकता मिट जाती है, और सादृश्यास्तित्वकी अपेक्षा नाना प्रकारके भेद मिट जाते हैं। भगवान्‌का मत अनेकान्त है, जिस पक्षकी विवक्षा (कहनेकी इच्छा) करते हैं, वह पक्ष मुख्य होता है, और जिस पक्षकी विवक्षा नही करते है, वह पक्ष गौण होता है। अनेकान्तसे नय सम्पूर्ण प्रमाण हैं, विवक्षाकी अपेक्षा मुख्य गौण हैं ॥ ५॥ आगे द्रव्योंसे अन्य द्रव्यकी उत्पत्तिका निषेध करते हैं, और द्रव्यसे सत्ताकी जुदाईका निषेध करते हैं— [द्रव्यं] गुणपर्यायरूप वस्तु [स्वभावसिद्ध] अपने स्वभावसे निष्पन्न है। और वह [सत् इति] सत्तास्वरूप है, ऐसा [जिनाः] जिनभगवान् [तत्त्वतः] स्वरूपसे [समाख्यातवन्त.] भले

न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भः, सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात् । स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात् । अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते । गुणपर्यायात्मानमात्मनः स्वभावमेव मूलसाधनमुपादाय स्वयमेव सिद्धसिद्धिमद्भूतं वर्तते । यत्तु द्रव्यैरारभ्यते न तद्द्रव्यान्तरं कादाचित्कत्वात् स पर्यायः द्व्यणुकादिवन्मनुष्यादिवच्च । द्रव्यं पुनरनवधि त्रिसमयावस्थायि न तथा स्यात् । अथैवं यथा सिद्धं स्वभावत एव द्रव्यं तथा सदित्यपि तत्स्वभावत एव सिद्धमित्यवधार्यताम् । सत्तात्मना (त्मनः) स्वभावेन निष्पन्ननिष्पत्तिमद्भावयुक्तत्वात् । न च द्रव्यादर्थान्तरभूता सत्तोपपत्तिमभिप्रपद्यते, यतस्तत्समवायात्तत्सदिति स्यात् । सतः सत्तायाश्च न तावद्युतसिद्धत्वेनार्थान्तरत्वं, तयोर्दण्डदण्डिवद्युतसिद्धत्वस्यादर्शनात् । अयुतसिद्धत्वेनापि न तदुपपद्यते । इहेदमितिप्रतीतेरुपपद्यत इति चेत् किंनिबन्धना हीहेदमिति प्रतीतिः । भेदनिबन्धनेति चेत् को नाम भेदः । प्रादेशिकः, अताद्भाविको वा । न तावत्प्रादेशिकः, पूर्वमेव युतसिद्धत्वस्यापसारणात् । अताद्भाविकश्चेत् उपपन्न एव यद्द्रव्यं तन्न गुण इति वचनात् । अयं तु न खल्वेकान्तेनेहेदमितिप्रतीतेर्निबन्धनं, स्वयमेवोन्म-

---

सुखसुधारसपरमसमरसीभावपरिणतसर्वशुद्धात्मप्रदेशभरितावस्थेन शुद्धोपादानभूतेन स्वकीयस्वभावेन निष्पन्नत्वात् । यच्च स्वभावसिद्धं न भवति तद् द्रव्यमपि न भवति । द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धपर्यायवत् मनुष्यादिजीवपर्यायवच्च । सदिति यथा स्वभावतः सिद्धं तद्द्रव्यं तथा सदिति सत्तालक्षणमपि स्वभावत एव भवति, न च भिन्नसत्तासमवायात् । अथवा यथा द्रव्यं स्वभावतः सिद्धं तथा तस्य योऽसौ सत्तागुणः सोऽपि स्वभावसिद्ध एव । कस्मादिति चेत । सत्ताद्रव्ययोः सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि दण्डदण्डिवद्भिन्नप्रदेशाभावात् । इदं के कथितवन्तः **जिणा तच्चदो समक्खादा**

प्रकार कहते हैं । [यः] जो पुरुष [आगमतः] शास्त्रसे [तथा सिद्धं] उक्त प्रकार सिद्ध (न इच्छति) नही मानता है, (हि) निश्चयकरके (सः) वह [परसमयः] मिथ्यादृष्टि है। **भावार्थ**—द्रव्य अनादिनिधन है, वह किसीका कारण पाके उत्पन्न नहीं हुआ है, इस कारण स्वयसिद्ध है । अपने गुण पर्याय स्वरूपको मूलसाधन अगीकार करके आप ही सिद्ध है। और जो द्रव्योसे उत्पन्न होते हैं, वे कोई अन्य द्रव्य नही, पर्याय होते हैं, परन्तु पर्याय स्थायी नही होते—नाशवान होते हैं, । जैसे परमाणुओसे द्व्यणुकादि स्कध तथा जीव पुद्गलसे मनुष्यादि होते हैं। ये सब द्रव्यके पर्याय हैं, कोई नवीन द्रव्य नही हैं । इससे सिद्ध हुआ, कि द्रव्य त्रिकालिक स्वयसिद्ध है, वही सत्ता स्वरूप है । जैसे द्रव्य स्वभावसिद्ध है, वैसे ही सत्ता स्वभावसिद्ध है । परतु सत्ता द्रव्यसे कोई जुदी वस्तु नही है, सत्ता गुण है, और द्रव्य गुणी है । इस सत्ता गुणके सबधसे द्रव्य 'सत्' कहा जाता है । सत्ता और द्रव्यमे यद्यपि गुणगुणीके भेदसे भेद है, तो भी जैसे दड और दडीपुरुषमे भेद है, वैसा भेद नही है। भेद दो प्रकारका है—एक प्रदेशभेद और दूसरा गुणगुणीभेद। इनमेसे सत्ता और द्रव्यमे प्रदेश भेद तो है नही, जैसे कि दड और दडीमे होता है, क्योकि सत्ताके और द्रव्यके जुदा जुदा प्रदेश नही हैं, गुणगुणीभेद है, क्योकि जो द्रव्य है, सो गुण नहीं है, और जो गुण है, सो द्रव्य नही है। इस प्रकार सज्ञा सख्या लक्षणादिसे भेद कहते हैं। द्रव्य-सत्तामे सर्वथा भेद नहीं

ग्ननिमग्नत्वात् । तथाहि–तदेव पर्यायेणार्प्यते द्रव्यं तदेव गुणवदिदं द्रव्यमयमस्य गुणः, शुभ्रमिदमुत्तरीयमयमस्य शुभ्रो गुण इत्यादिवदताद्भाविको भेद उन्मज्जति । यदा तु द्रव्येणार्प्यते द्रव्यं तदास्तमितसमस्तगुणवासनोन्मेषस्य तथाविधं द्रव्यमेव शुभ्रमुत्तरीयमित्यादिवत्प्रपश्यतः समूल एवाताद्भाविको भेदो निमज्जति । एवं हि भेदे निमज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिर्निमज्जति । तस्यां निमज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वं निमज्जति । ततः समस्तमपि द्रव्यमेवैकं भूत्वावतिष्ठते । यदा तु भेद उन्मज्जति, तस्मिन्नुन्मज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिरुन्मज्जति । तस्यामुन्मज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वमुन्मज्जति । तदापि तत्पर्यायत्वेनोन्मज्जज्जलराशेर्जलकल्लोल इव द्रव्यान्न व्यतिरिक्तं स्यात् । एवं सति स्वयमेव सद्द्रव्यं भवति । यस्त्वेवं नेच्छति स खलु परसमय एव द्रष्टव्यः ॥ ६ ॥

अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेऽपि सद्द्रव्य भवतीति विभावयति—

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो ।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥ ७ ॥

सदवस्थित स्वभावे द्रव्य द्रव्यस्य यो हि परिणामः ।
अर्थेषु स स्वभाव स्थितिसभवनाशसबद्ध ॥ ७ ॥

जिना कर्तार तत्त्वत सम्यगाख्यातवन्त कथितवन्त **सिद्धं तह आगमदो** सतानापेक्षया द्रव्यार्थिकनयेनानादिनिधनागमादपि तथा सिद्ध **णेच्छदि जो सो हि परसमओ** नेच्छति न मन्यते य इदं वस्तुस्वरूप स हि स्फुट परसमयो मिथ्यादृष्टिर्भवति । एवं यथा परमात्मद्रव्य स्वभावत सिद्धमवबोद्धव्यं तथा सर्वद्रव्याणीति । अत्र द्रव्य केनापि पुरुषेण न क्रियते । सत्तागुणोऽपि द्रव्याद्भिन्नो नास्तीत्यभिप्राय. ॥ ६ ॥ अथोत्पादव्ययध्रौव्यत्वे सति सत्तैव द्रव्य भवतीति प्रज्ञापयति–**सद-**

हैं कथंचित्प्रकार भेद है, किसी एक प्रकारसे अभेद है। इस भेदाभेदको द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयके भेदसे दिखलाते है–जब पर्यायार्थिकनयसे द्रव्यका कथन करते हैं, तब द्रव्य गुणवाला है, यह उसका गुण है । जैसे वस्त्र द्रव्य है, यह उसका उज्ज्वलपना गुण है । इस प्रकार गुणगुणी भेद प्रगट होता है। और जब द्रव्यार्थिकनयसे द्रव्यका कथन करते हैं, तब समस्त गुणभेदकी वासना मिट जाती है, एक द्रव्य ही रहता है, गुणगुणी भेद नष्ट हो जाता है। और इस प्रकार भेदके नष्ट होनेसे गुणगुणी भेदरूप ज्ञान भी नष्ट होता है, तथा ज्ञानके नष्ट होनेसे वस्तु अभेदभावसे एकरूप होकर ठहरती है। पर्याय कथनसे जब द्रव्यमे भेद उछलते है तब उसके निमित्त से भेदरूप ज्ञान प्रगट होता है, और उस भेदरूप ज्ञानके उछलनेसे गुणोका भेद उछलता है । जिस तरह समुद्रमे उछलते हुए जलके कल्लोल समुद्रसे जुदे नही हैं, उसी प्रकार पर्याय कथनसे द्रव्यसे ये भेद जुदे नही है। इससे सिद्ध हुआ, द्रव्यसे सत्तागुण पृथक् नही है, द्रव्य उस स्वरूप ही है। गुणगुणीके भेदसे भेद है, स्वरूपसे भेद नही है। जो ऐसा नही मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टी हैं ॥ ६ ॥ आगे कहते हैं कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यके होनेपर ही

इह हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति द्रव्यम् । स्वभावस्तु द्रव्यस्य ध्रौव्योत्पादोच्छेदैक्यात्मकपरिणामः यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्यापि विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशाः, तथैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनैकस्यापि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः । यथा च प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनो विष्कम्भक्रमः, तथा परिणामानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनः प्रवाहक्रमः । यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति, तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च सभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मान धारयन्ति । तथैव च य एव हि पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्त स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयातदुभयात्मक इति । तथैव य एव हि पूर्वपरिणामोच्छेदात्मकः प्रवाहसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयातदुभयात्मक इति एवमस्य स्वभावत एव त्रिलक्षणायां परिणामपद्धतौ दुर्ललितस्य स्वभावानतिक्रमात्त्रिलक्षणमेव सत्त्व-

---

वट्ठिदं सहावे दव्वं द्रव्य मुक्तात्मद्रव्य भवति । किं कर्तृ । सदिति शुद्धचेतनान्वयरूपमस्तित्वम् । किंविशिष्टम् । अवस्थितम् । क्व । स्वभावे । स्वभाव कथयति—**दव्वस्स जो हि परिणामो** तस्य परमात्मद्रव्यस्य सबन्धी हि स्फुट य परिणाम । केषु विषयेषु । अत्थेसु परमात्मपदार्थस्य धर्मत्वादभेदनयेनार्था भण्यन्ते । के ते । केवलज्ञानादिगुणा सिद्धत्वादिपर्यायाश्च, तेष्वर्थेषु विषयेषु योऽसौ परिणाम । **सो सहावो** केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायरूपस्तस्य परमात्मद्रव्यस्य स्वभावो भवति । स च कथभूत. । **ठिदिसंभवणाससबद्धो** स्वात्मप्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्य सभवस्तस्मिन्नेव क्षणे परमागमभाषयैकत्ववितर्कविचारद्वितीयशुक्लध्यानसज्ञस्य शुद्धोपादानभूतस्य समस्तरागादि-

---

सत् द्रव्य होता है—[**स्वभावे**] अपनी परिणतिमे [**अवस्थित**] ठहरा हुआ जो [**सत्**] सत्तारूप वस्तु सो [**द्रव्यं**] द्रव्य है । और [**द्रव्यस्य**] द्रव्यका [**अर्थेषु**] गुणपर्यायोमें [**य**] जो [**स्थितिसभवनाशसबद्ध**] ध्रौव्य, उत्पाद, और व्यय सहित [**परिणामः**] परिणाम है, [**सः**] वह [**हि**] [**स्वभाव**] स्वभाव है । **भावार्थ**—द्रव्यके गुणपर्यायरूप परिणमनेको स्वभाव कहते हैं और वह स्वभाव उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित है । जैसे एक द्रव्यके चौडाईरूप सूक्ष्मप्रदेश अनेक हैं, उसी प्रकार समस्त द्रव्योकी परिणतिके प्रवाहक्रमसे लम्बाईरूप सूक्ष्मपरिणाम भी अनेक हैं । द्रव्योकी चौडाई प्रदेश हैं । और लम्बाई परिणति हैं । प्रदेश सदाकाल स्थायी हैं, इसी कारण चौडाई है, और परिणति प्रवाहरूप क्रमसे है, इसीलिये लम्बाई है । जैसे द्रव्यके प्रदेश पृथक् पृथक् हैं, उसी प्रकार तीन कालसम्बन्धी परिणाम भी जुदे जुदे हैं । और जैसे वे प्रदेश अपने अपने स्थानोमें अपने पूर्व पूर्व प्रदेशोकी अपेक्षा उत्पन्न हैं, उत्तर उत्तर (आगे आगेके) प्रदेशोकी अपेक्षा व्यय हैं । एक द्रव्य सम्पूर्ण प्रदेशोंमे है, इस अपेक्षासे न उत्पन्न होते हैं, न नाश होते है, ध्रुव हैं ।

मनुमोदनीयम् । मुक्ताफलदामवत् । यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति, तथैव हि परिग्रहीतनित्यवृत्तिनिवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेष्ववसरेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात्पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति ॥ ७ ॥

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्पराविनाभावं द्रढयति—

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥ ८ ॥

न भवो भङ्गविहीनो भङ्गो वा नास्ति संभवविहीन. ।
उत्पादोऽपि च भङ्गो न विना ध्रौव्येणार्थेण ॥ ८ ॥

न खलु सर्गः संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः सर्गसंहारमन्तरेण । य एव हि सर्गः स एव संहारः, य

विकल्पोपाधिरहितस्वसवेदनज्ञानपर्यायस्य नाशस्तस्मिन्नेव समये तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यस्य स्थितिरित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण सबन्धो भवतीति । एवमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेणैकसमये यद्यपि पर्यायार्थिकनयेन परमात्मद्रव्यं परिणत, तथापि द्रव्यार्थिकनयेन सत्तालक्षणमेव भवति । त्रिलक्षणमपि सत्सत्तालक्षण कथ भण्यत इति तेत् "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" इति वचनात् । यथेद परमात्मद्रव्यमेकसमयेनोत्पादव्ययध्रौव्ये परिणतमेव सत्तालक्षण भण्यते तथा सर्वद्रव्याणीत्यर्थं ॥ ७ ॥ एव स्वरूपसत्तारूपेण, प्रथमगाथा, महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्य स्वत सिद्ध तथा सत्तागुणोऽपीति कथनेन तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेऽपि सत्तैव द्रव्य भण्यत इति

इसी कारण प्रदेश उत्पाद, व्यय और ध्रुवताको धारण किये हुए हैं। इसी प्रकार परिणाम अपने कालमे पूर्व उत्तर परिणामोकी अपेक्षा उत्पाद व्ययरूप है, सदा एक परिणतिप्रवाहकी अपेक्षा ध्रुव है, इस कारण परिणाम भी उत्पाद-व्यय-ध्रुवता सयुक्त है । जो परिणाम है, वही स्वभाव है, और द्रव्य स्वभावके साथ है, इसी कारण द्रव्य भी पूर्वोक्त तीन लक्षण-युक्त है । जैसे मोतियोकी मालामे अपनी प्रभासे शोभायमान जो मोती हैं, वे पहले-पहले मोतियोकी अपेक्षा आगे आगेके मोती उत्पादरूप है, पिछले पिछले व्ययरूप हैं, और सबमे सूत एक है, इस अपेक्षासे ध्रुव हैं । इसी प्रकार द्रव्यमें उत्तर परिणामोकी अपेक्षा उत्पाद, पूर्वपरिणामोकी अपेक्षा व्यय और द्रव्य प्रवाहकी अपेक्षा ध्रौव्य है । इस तरह द्रव्य तीन लक्षण सहित है ॥ ७ ॥ अब कहते हैं, कि उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य ये आपसमे पृथक् नही हैं, एक ही हैं—[भङ्गविहीन'] व्यय रहित [भव] उत्पाद [न] नही होता, [वा] तथा [संभवविहीन.] उत्पाद रहित [भङ्ग'] व्यय [नास्ति] नही होता, [च] और [उत्पादः] उत्पाद [अपि] तथा [भङ्ग] व्यय ये

एव संहारः स एव सर्गः, यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्ग संहाराविति । तथाहि—य एव कुम्भस्य सर्गः स एव मृत्पिण्डस्य संहारः, भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनावभासनात् । य एव च मृत्पिण्डस्य संहारः, स एव कुम्भस्य सर्गः, अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात् । यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैव मृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात् । यैव च मृत्तिकाया स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात् । यदि पुन र्नेदमेवमिष्येत तदान्यः सर्गोऽन्यः संहारः अन्या स्थितिरित्यायाति । तथा सति हि केवलं सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा । तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत् । असदुत्पादे वा

कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यतया द्वितीयस्थलं गतम् । अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्परसापेक्षत्वं दर्शयति—**ण भवो भंगविहीणो** निर्दोषपरमात्मरुचिरूपसम्यक्त्वपर्यायस्य भव उत्पादः तद्विपरीतमिथ्यात्वपर्यायस्य भङ्गं विना न भवति । कस्मात् । उपादानकारणाभावात्, मृत्पिण्डभङ्गाभावे घटोत्पाद इव । द्वितीयं च कारणं मिथ्यात्वपर्यायभङ्गस्य सम्यक्त्वपर्यायरूपेण प्रतिभासनात् । तदपि कस्मात् । "भावान्तरस्वभावरूपो भवत्यभाव" इति वचनात् । घटोत्पादरूपेण मृत्पिण्डभङ्ग इव । यदि पुनर्मिथ्यात्वपर्यायभङ्गस्य सम्यक्त्वोपादानकारणभूतस्याभावेऽपि शुद्धात्मानुभूतिरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादो भवति, तर्ह्युपादानकारणरहितानां खपुष्पादीनामप्युत्पादो भवतु । न च तथा । **भंगो वा णत्थि संभवविहीणो** परद्रव्योपादेयरूपमिथ्यात्वस्य भङ्गो नास्ति । कथंभूतः । पूर्वोक्तसम्यक्त्वपर्यायसंभवरहितः । कस्मादिति चेत् । भङ्गकारणाभावात् घटोत्पादाभावे मृत्पिण्डस्येव । द्वितीयं च कारणं सम्यक्त्वपर्यायोत्पादस्य मिथ्यात्वपर्यायाभावरूपेण दर्शनात् ।

दोनों [**विना ध्रौव्येण अर्थेन**] नित्य स्थिररूप पदार्थके विना [**न**] नहीं होते । **भावार्थ**—उत्पाद व्ययके बिना नहीं होता, व्यय उत्पादके विना नहीं होता, उत्पाद और व्यय ये दोनों ध्रौव्यके विना नहीं होते, तथा ध्रौव्य उत्पाद व्ययके विना नहीं होता । इस कारण जो उत्पाद है, वही व्यय है, जो व्यय है, वही उत्पाद है, जो उत्पाद व्यय है, वही ध्रुवता है । इस कथनको दृष्टान्तसे दिखाते हैं—जैसे जो घडेका उत्पाद है, वही मिट्टीके पिंडका व्यय (नाश) है, क्योंकि एक पर्यायका उत्पाद (उत्पन्न होना) दूसरे पर्यायके नाशसे होता है । जो घडे और पिंडका उत्पाद और व्यय है वही मिट्टीकी ध्रुवता है, क्योंकि पर्यायके विना द्रव्यकी स्थिति देखनेमें नहीं आती । जो माटीकी ध्रुवता है, वही घडे और पिंडका उत्पाद-व्यय है, क्योंकि द्रव्यकी थिरताके विना पर्याय हो नहीं सकते । इस कारण ये तीनों एक हैं । ऐसा न मानें, तो वस्तुका स्वभाव तीन लक्षणवाला सिद्ध नहीं हो सकता । जो केवल उत्पाद ही माना जाय, तो दो दोष लगते हैं—एक तो कार्यकी उत्पत्ति न होवे, दूसरे असत्का उत्पाद हो जाय । यही दिखाते हैं—घडेका जो उत्पाद है वह मृत्पिण्डके व्ययसे है, यदि केवल उत्पाद ही माना जावे, व्यय न मानें, तो उत्पादके कारणके अभावसे घडेकी उत्पत्ति ही न हो सके, और जिस तरह घट-कार्य नहीं हो सकता, वैसे सब पदार्थ भी उत्पन्न नहीं हो सकते । यह पहला दूषण है । दूसरा दोष दिखाते हैं—जो ध्रुवपना सहित वस्तुके विना उत्पाद

व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात् । तथा केवलं संहरमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा । तत्र मृत्पिण्डस्यासहरणौ सर्वेषामेव भावानामसहरणिरेव भवेत् । सदुच्छेदे वा संविदादीनामप्युच्छेदः स्यात् । तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा । तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत् । क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्व स्यात् । तत उत्तरोत्तरव्यतिरेकाणां सर्गेण पूर्वपूर्वव्यतिरेकाणां संहारेणान्वयस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्योतमाननिर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छनं द्रव्यमवश्यमनुमन्तव्यम् ॥ ८ ॥

अथोत्पादादीनां द्रव्यादनर्थान्तरत्वं सहरति—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥ ९ ॥

तदपि कस्मात् । पर्यायस्य पर्यायान्तराभावरूपत्वाद, घटपर्यायस्य मृत्पिण्डाभावरूपेणेव । यदि पुन सम्यक्त्वोत्पादनिरपेक्षो भवति मिथ्यात्वपर्यायाभावस्तह्यभाव एव न स्यात् । कस्मात् । अभावकारणाभावादिति, घटोत्पादाभावे मृत्पिण्डाभावस्य इव । **उप्पादो वि य भगो ण विणा दव्वेण अत्थेण** परमात्मरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादस्तद्विपरीतमिथ्यात्वस्य भङ्गो वा नास्ति । क विना। तदुभयाधारभूतपरमात्मरूपद्रव्यपदार्थं विना । कस्मात् । द्रव्याभावे व्ययोत्पादाभावान्मृत्तिकाद्रव्याभावे घटोत्पादमृत्पिण्डभङ्गाभावादिति । यथा सम्यक्त्वमिथ्यात्वपर्यायद्वये परस्परसापेक्षमुत्पादादित्रय दर्शित तथा सर्वद्रव्यपर्यायेषु द्रष्टव्यमित्यर्थ ॥ ८ ॥ अथोत्पादव्ययध्रौव्याणि

हो सके, तो असत् वस्तुका उत्पाद हो जाना चाहिए, ऐसा होनेपर आकाशके फूल भी उत्पन्न होने लगेंगे । और जो केवल व्यय ही मानेंगे, तो भी दो दूषण आवेंगे । एक तो नाश ही का अभाव हो जावेगा, क्योकि मृत्पिडका नाश घड़ेके उत्पन्न होनेसे है, अर्थात् यदि केवल नाश ही मानेंगे, तो नाशका अभाव सिद्ध होगा, क्योकि नाश उत्पादके विना नही होता । दूसरे, सत्का नाश होवेगा, और सत्के नाश होनेसे ज्ञानादिकका भी नाश होकर धारणा न होगी । और केवल ध्रुवके 'नाश माननेसे भी दो दूषण लगते हैं । एक तो पर्यायका नाश होता है, दूसरे, अनित्यको नित्यपना होता है । जो पर्यायका नाश होगा, तो पर्याय के विना द्रव्यका अस्तित्व नही है, इसलिए द्रव्यके नाशका प्रसग आता है, जैसे मृत्तिकाका पिंड घटादि पर्यायोके विना नही होता । और जो अनित्यको नित्यत्व होगा, तो मनकी गतिको भी नित्यता होगी । इसलिए इन सब कारणोसे यह बात सिद्ध हुई, कि केवल एकके माननेसे वस्तु सिद्ध नही होती है । इसलिए आगामी पर्यायका उत्पाद, पूर्व पर्यायका व्यय, मूलवस्तुकी स्थिरता, इन तीनोकी एकतासे ही द्रव्यका लक्षण निर्विघ्न सधता है ॥ ८ ॥

आगे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनो भावोको द्रव्यसे अभेदरूप सिद्ध करते हैं—[**उत्पादस्थितिभङ्गा**] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य [**पर्यायेषु**] द्रव्यके पर्यायोमे [**विद्यन्ते**] रहते हैं, और [**हि**] निश्चयकरके वे [**पर्यायाः**] पर्याय [**द्रव्ये**] द्रव्यमे [**सन्ति**] रहते हैं । [**तस्मात्**] इस कारणसे

उत्पादस्थितिभङ्गा विद्यन्ते पर्यायेषु पर्याया ।
द्रव्य हि सन्ति नियत तस्माद्द्रव्य भवति सर्वम् ॥ ९ ॥

उत्पादव्ययध्रौव्याणि हि पर्यायानालम्बन्ते, ते पुनः पर्याया द्रव्यमालम्बन्ते। ततः समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं न पुनर्द्रव्यान्तरम्। द्रव्यं हि तावत्पर्यायैरालम्ब्यते। समुदायिनः समुदायात्मकत्वात् पादपवत्। यथा हि समुदायी पादपः स्कन्धमूलशाखा-समुदायात्मकः स्कन्धमूलशाखाभिरालम्बित एव प्रतिभाति, तथा समुदायि द्रव्यं पर्यायसमुदायात्मक पर्यायैरालम्बितमेव प्रतिभाति। पर्यायास्तूत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्ते उत्पादव्ययध्रौव्याणामशधर्मत्वात् बीजाङ्कुरपादपवत्। यथा किलांशिनः पादपस्य बीजाङ्कुरपादपत्वलक्षणास्त्रयोऽशा भङ्गोत्पावध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति, तथांशिनो द्रव्यस्योच्छिद्यमानोत्पद्यमानावतिष्ठमानभावलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति। यदि पुनर्भङ्गोत्पाद-ध्रौव्याणि द्रव्यस्यैवेष्यन्ते तदा समग्रमेव विप्लवते। तथाहि भङ्गे तावत् क्षणभङ्गकटा-क्षितानामेकक्षण एव सर्वद्रव्याणां सहरणाद्द्रव्यशून्यतावतारः समुच्छेदो वा। उत्पादे

द्रव्येण सह परस्पराधाराधेयभावत्वादन्वयद्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यमेव भवतीत्युपदिशति—**उप्पाद-ट्ठिदिभगा** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वनिर्विकारस्वसवेदनज्ञानरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे स्वसंवेदनज्ञानविलक्षणाज्ञानपर्यायरूपेण भङ्ग, तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपेण स्थितिरित्यु-क्तलक्षणास्त्रयो भङ्गा. कर्तार **विज्जते** विद्यन्ते तिष्ठन्ति। केषु। **पज्जएसु** सम्यक्त्वपूर्वकनिर्विकार-स्वसंवेदनज्ञानपर्याये तावदुत्पादस्तिष्ठति स्वसवेदनज्ञानपर्यायरूपेण भङ्गस्तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वा-वस्थारूपपर्यायेण ध्रौव्य चेत्युक्तलक्षणस्वकीयस्वकीयपर्यायेषु **पज्जाया दव्व हि सति** ते चोक्तलक्षण-ज्ञानाज्ञानतदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्याया हि स्फुट द्रव्य सन्ति **णियद** निश्चित प्रदेशाभेदेऽपि स्वकीयस्वकीयसज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेन **तम्हा दव्व हवदि सव्व** यतो निश्चयाधाराधेयभावेन तिष्ठ-न्त्युत्पादादयस्तस्मात्कारणादुत्पादादित्रय स्वसवेदनज्ञानादिपर्यायत्रय चान्वयद्रव्यार्थिकनयेन सर्वं द्रव्यं

[नियतं] यह निश्चय है, कि **[सर्वं]** उत्पादादि सब **[द्रव्यं]** द्रव्य ही **[भवति]** हैं, जुदे नहीं हैं। **भावार्थ**—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यभाव पर्यायके आश्रित हैं और वे पर्याय द्रव्यके आधार हैं. पृथक् नहीं हैं, क्योंकि द्रव्य पर्यायात्मक है। जैसे वृक्ष स्कध (पिंड), शाखा और मूलादिरूप है, परन्तु ये स्कध-मूल-शाखादि वृक्षसे जुदा पदार्थ नहीं हैं, इसी प्रकार उत्पादादिकसे द्रव्य पृथक् नहीं है, एक ही है। द्रव्य अशी है, और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अश हैं। जैसे वृक्ष अशी है, बीज अकुर वृक्षत्व अश हैं। ये तीनों अंश उत्पाद-व्यय और ध्रुवपनेको लिये हुए हैं, बीजका नाश अकुरका उत्पाद और वृक्षत्वका ध्रुवपना है। इसी प्रकार अशी द्रव्यके उत्पद्यमान विनाशिक और स्थिरतारूप—ये तीन पर्यायरूप अश हैं, सो उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वसे सयुत हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रुवभाव पर्यायोमे होते हैं। जो द्रव्यमे होवें, तो सबका ही नाश हो जावे। इसीको स्पष्ट रीतिसे दिखाते हैं— जो द्रव्यका नाश होवे, तो सब शून्य हो जावे, जो द्रव्यका उत्पाद होवे, तो समय समयमे एक एक द्रव्यके

तु प्रतिसमयोत्पादमुद्रितानां प्रत्येकं द्रव्याणामानन्त्यमसदुत्पादो वा। ध्रौव्ये तु क्रमभुवां भावानामभावाद्द्रव्यस्याभावः क्षणिकत्वं वा। अत उत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्तां पर्यायाः पर्यायैश्च द्रव्यमालम्ब्यतां, येन समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं भवति ॥ ९ ॥

अथोत्पादादीनां क्षणभेदमुदस्य द्रव्यत्वं द्योतयति—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥ १० ॥

समवेतं खलु द्रव्यं संभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः।
एकस्मिन् चैव समये तस्माद्द्रव्यं खलु तत्त्रियम् ॥ १० ॥

इह हि यो नाम वस्तुनो जन्मक्षणः सः जन्मनैव व्याप्तत्वात् स्थितिक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च स्थितिक्षणः स खलूभयोरन्तरालदुर्ललितत्वाज्जन्मक्षणो नाश-

---

भवति। पूर्वोक्तोत्पादादित्रयस्य तथैव स्वसंवेदनज्ञानादिपर्यायत्रयस्य चानुगताकारेणान्वयरूपेण यदाधारभूतं तदन्वयद्रव्यं भण्यते, तद्विषयो यस्य स भवत्यन्वयद्रव्यार्थिकनय यथेद ज्ञानाज्ञानपर्यायद्वये भङ्गत्रय व्याख्यात तथापि सर्वद्रव्यपर्यायेषु यथासभवं ज्ञातव्यमित्यभिप्राय ॥ ९ ॥ अथोत्पादादीना पुनरपि प्रकारान्तरेण द्रव्येण सहाभेद समर्थयति समयभेद च निराकरोति—**समवेद खलु दव्व** समवेतमेकीभूतमभिन्न भवति खलु स्फुटम्। किम्। आत्मद्रव्यम्। कै सह **सभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहि** सम्यक्त्वज्ञानपूर्वकनिश्चलनिर्विकारनिजात्मानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रपर्यायेणोत्पाद तथैव

उत्पन्न होनेसे अनन्त द्रव्य हो जावें, और जो द्रव्य ध्रुव होवे, तो पर्यायका नाश होवे, और पर्यायके नाशसे द्रव्यका भी नाश हो जावे। इसलिये उत्पादादि द्रव्यके आश्रित नही है, पर्यायके आश्रित हैं। पर्याय उत्पन्न भी होते है, नष्ट भी होते हैं, और वस्तुकी अपेक्षा स्थिर भी रहते है। इस कारण वे पर्यायमे हैं, पर्याय द्रव्यसे जुदे नही है, द्रव्य ही है। पर्यायकी अपेक्षा द्रव्योमे उत्पादादिक तीन भाव जानना चाहिये ॥ ९ ॥ आगे इन उत्पादादिकोमे समय भेद नही है, एक ही समयमे द्रव्यसे अभेदरूप होते हैं, यह प्रगट करते है—[द्रव्य] वस्तु [सभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नामक भावोसे [खलु] निश्चयकर [समवेतं] एकमेक है, जुदी नही है, [च] और वह [एकस्मिन एव समये] एक ही समयमे उनसे अभेदरूप परिणमन करती है। [तस्मात्] इस कारण [खलु] निश्चयकरके [तत् त्रितयं] वह उत्पादादिकत्रिक [द्रव्य] द्रव्यस्वरूप है—एक ही है। **भावार्थ—** यहां कोई वितर्क करे, कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक समयवर्ती हैं—यह सिद्धान्त ठीक नही है, इन तीनोका समय जुदा जुदा है, क्योकि जो समय उत्पादका है, वह उत्पाद ही से व्याप्त है, वह ध्रौव्य-व्ययका समय नही है। जो ध्रौव्यका समय है, वह उत्पाद-व्ययके मध्य है, इससे भी जुदा ही समय है। और जो नाशका समय है, उस समय उत्पाद-ध्रौव्य नही हो सकते। इस कारण यह समय भी पृथक् है। इस प्रकार इनके समय पृथक् पृथक् सभव होते हैं, सो इस कुतर्कका समाधान आचार्य महाराज इस प्रकार करते हैं कि, "जो द्रव्य आप ही उत्पन्न होता, आप ही स्थिर होता, आप

क्षणश्च न भवति । यश्च नाशक्षणः स तूत्पाद्यावस्थाय च नश्यतो जन्मक्षण स्थितिक्षणश्च न भवति । इत्युत्पादादीना वितर्क्यमाणः क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति, अवतरत्येवं यदि द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यते आत्मनैवावतिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते। तत्तु नाभ्युपगतम् । पर्यायाणामेवोत्पादादयः कुतः क्षणभेदः । तथाहि—यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसस्कारसनिधौ य एव वर्धमानस्य जन्मक्षणः स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृत्तिकात्वस्य स्थितिक्षणः । तथा अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनारोप्यमाणसस्कारसनिधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षणः स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षणः । यथा च वर्धमानमृत्पिण्डमृत्तिकात्वेषु प्रत्येकवर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिन्यां मृत्तिकाया सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते, तथा उत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिनि द्रव्ये सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते । यथैव च वर्धमानपिण्डमृत्तिकात्ववर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि मृत्तिकैव न वस्त्वन्तरं, तथैवोत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्ववर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यमेव न खल्वर्थान्तरम् ॥ १० ॥

रागादिपरद्रव्यैकत्वपरिणतिरूपचारित्रपर्यायेण नाशस्तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्यायेण स्थितिरित्युक्तलक्षणसज्ञित्वोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह । तर्हि किं बौद्धमतवद्भिन्नभिन्नसमये त्रय भविष्यति । नैवम् । **एक्कम्मि चेव समये** अङ्गुलिद्रव्यस्य वक्रपर्यायवत्ससारिजीवस्य मरणकाले ऋजुगतिवत् क्षीणकषायचरमसमये केवलज्ञानोत्पत्तिवदयोगिचरमसमये मोक्षवच्चेत्येकस्मिन्समय एव । तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेणैकसमये भङ्गत्रयेण परिणमति तस्मात्सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशानामभेदात्त्रयमपि खु स्फुटं द्रव्यं भवति । यथेद चारित्राचारित्रपर्याय-

---

ही नष्ट होता, तो अवश्य ही तीन समय होते, परतु ऐसा नही है" । पर्यायसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते हैं, इस कारण एक ही समयमे सधते है । जैसे दड, चक्र, सूत, कुभकारादिके निमित्तसे घटके उत्पन्न होनेका जो समय है, वही मृत्पिण्डके नाशका समय है, और इन दोनो अवस्थाओमे मृत्तिका अपने स्वभावको नही छोडती है, इसलिये उसी समय ध्रुवपना भी है । इसी प्रकार अतरग-बहिरग कारणोके होनेपर आगामी पर्यायके उत्पन्न होनेका जो समय है, वही पूर्व पर्यायके नाशका समय है, और इन दोनो अवस्थाओमे द्रव्य अपने स्वभावको छोडता नही है, इसलिये उसी समय ध्रुव है । जैसे मृत्तिका द्रव्यमे घट, मृत्पिड और मृत्तिकाभाव इन पर्यायोंसे एक ही समयमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं, उसी प्रकार पर्यायोके द्वारा द्रव्यमे भी जानना चाहिये । पूर्व पर्यायका नाश, उत्तर पर्यायका उत्पाद, और द्रव्यतासे ध्रुवना, ये तीन भाव एक ही समयमे सधते हैं । हाँ, यदि द्रव्य ही उपजता, विनशता, तो एक समय अवश्य ही नही सधता, परतु पर्यायकी अपेक्षा अच्छी तरह सधते हैं, कोई शका नही रहती । और जैसे घट, मृत्पिड, मृत्तिकाभावरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मृत्तिकासे जुदे पदार्थ नही हैं, मृतिकारूप ही हैं, उसी प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये द्रव्यसे जुदा नही

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्यनेकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥११॥

प्रादुर्भवति चान्य पर्याय· पर्यायो व्येति अन्यः ।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्यं नैव प्रणष्टं नोत्पन्नम् ॥११॥

इह हि यथा किलैकस्त्र्यणुकः समानजातीयोऽनेकद्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यश्चतुरणुकः प्रजायते, ते तु त्रयश्चत्वारो वा पुद्गला अविनष्टानुत्पन्ना एवावतिष्ठन्ते । तथा सर्वेऽपि समानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च । समानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते । यथा चैको मनुष्यत्वलक्षणोऽसमानजातीयो विनश्यत्यन्यस्त्रिदशत्वलक्षणः प्रजायते तौ च जीवपुद्गलौ अविनष्टानुत्पन्नावेवातिष्ठेते, तथा सर्वे-

---

द्वये भङ्गत्रयमभेदेन दर्शितं तथा सर्वद्रव्यपर्यायेष्ववबोद्धव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥ एवमुत्पादव्ययध्रौव्यरूप लक्षणव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयेण तृतीयस्थल गतम् । अथ द्रव्यपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्याणि दर्शयति— **पाडुब्भवदि य** प्रादुर्भवति च जायते **अण्णो** अन्य. कश्चिदपूर्वानन्तज्ञानसुखादिगुणास्पदभूत शाश्वतिक । स क । **पज्जाओ** परमात्मावाप्तिरूप. स्वभावद्रव्यपर्याय. **पज्जओ वयदि अण्णो** पर्यायो व्येति विनश्यति । कथभूत । अन्यः पूर्वोक्तमोक्षपर्यायाद्भिन्नो निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपस्यैव मोक्षपर्यायस्योपादानकारणभूत । कस्य सबन्धी पर्याय । **दव्वस्स** परमात्मद्रव्यस्य । **त पि दव्व** तदपि परमात्मद्रव्य **णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं** शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नैव नष्ट न चोत्पन्नम् । अथवा ससारिजीवापेक्षया देवादिरूपो विभावद्रव्यपर्यायो जायते मनुष्यादिरूपो विनश्यति तदेव जीवद्रव्य निश्चयेन न चोत्पन्न न च विनष्ट, पुद्गलद्रव्य वा द्व्यणुकादिस्कन्धरूपस्वजातीयविभावद्रव्यपर्यायाणा विनाशोत्पादेऽपि निश्चयेन न चोत्पन्न न च विनष्टमिति । तत स्थित

हैं, द्रव्यस्वरूप ही हैं ॥ १० ॥ आगे अनेक द्रव्योके संयोगसे जो पर्याय होते हैं, उनके द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका निरूपण करते हैं—[द्रव्यस्य] समान जातिवाले द्रव्यका [अन्य. पर्याय] अन्य पर्याय [प्रादुर्भवति] उत्पन्न होता है, [च] और [अन्य पर्यायः] दूसरा पर्याय [व्येति] विनष्ट होता है, [तदपि] तो भी [द्रव्य] समान तथा असमानजातीय द्रव्य [नैव प्रणष्ट] न तो नष्ट ही हुआ है, और [न उत्पन्न] और न उत्पन्न हुआ है, द्रव्यपनेसे ध्रुव है । **भावार्थ**—सयोगवाले द्रव्यपर्याय दो प्रकारके हैं, एक समानजातीय और दूसरे असमानजातीय । जैसे तीन परमाणुओका समानजातीय स्कंध (पिंड) पर्याय नष्ट होता है, और चार परमाणुओका स्कन्ध उत्पन्न होता है, परंतु परमाणुओसे न उत्पन्न होता है, और न नष्ट होता है, ध्रुव है । इसी प्रकार सब जातिके द्रव्यपर्याय उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप जानना चाहिये । और जैसे जीव पुद्गलके सयोगसे असमान जातिका मनुष्यरूप द्रव्यपर्याय नष्ट होता है, और देवरूप द्रव्यपर्याय उत्पन्न होता है, परतु द्रव्यत्वकी अपेक्षासे जीव-पुद्गल न उत्पन्न होते हैं, और न नष्ट होते हैं, और ध्रुव हैं, इसी प्रकार और

ऽप्यसमानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च असमानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते । एवमात्मना ध्रुवाणि द्रव्यपर्यायद्वारेणोत्पादव्ययीभूतान्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्याणि भवन्ति ॥११॥

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं ।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति ॥१२॥

परिणमति स्वयं द्रव्यं गुणतश्च गुणान्तर सदविशिष्टम् ।
तस्माद्गुणपर्याया भणिता पुन. द्रव्यमेवेति ॥१२॥

एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः, गुणपर्यायाणामेकद्रव्यत्वात् । एकद्रव्यत्व हि तेषां सहकारफलवत् । यथा किल सहकारफलं स्वयमेव हरितभावात् पाण्डुभाव परिणमत्पूर्वोत्तरप्रवृत्तहरितपाण्डुभावाभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं हरितपाण्डुभावाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव वस्तु न वस्त्वन्तरं, तथा द्रव्यं स्वयमेव पूर्वावस्थावस्थितगुणादुत्तरा-

---

यत कारणादुत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण द्रव्यपर्यायाणा विनाशोत्पादेऽपि द्रव्यस्य विनाशो नास्ति, तत' कारणाद् द्रव्यपर्याया अपि द्रव्यलक्षण भवन्तीत्यभिप्राय ॥११॥ अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यादिगुणपर्यायमुख्यत्वेन प्रतिपादयति—**परिणमदि सय दव्व** परिणमति स्वय स्वयमेवोपादानकारणभूत जीवद्रव्य कर्तृ । कं परिणमति । **गुणदो य गुणतर** निरुपमरागस्वसवेदनगुणात्केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतात्सकाशात्सकलविमलकेवलज्ञानगुणान्तरम् । कथभूत सत्परिणमति । **सदविसिट्ठ** स्वकीयस्वरूपत्वाच्चिद्रूपास्तित्वादविशिष्टमभिन्नम् । **तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति** तस्मात् कारणान्न केवल पूर्वसूत्रोदिता. द्रव्यपर्याया द्रव्य भवन्ति, गुणरूपपर्याया गुणपर्याया भण्यन्ते तेऽपि द्रव्यमेव भवन्ति । अथवा ससारिजीवद्रव्य मतिस्मृत्यादिविभावगुण त्यक्त्वा श्रुतज्ञानादिविभाव-

---

भी असमानजातीय द्रव्यपर्यायोंको उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप जानना चाहिये । 'द्रव्य' पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद-व्ययस्वरूप है, और द्रव्यपनेकी अपेक्षा ध्रुवरूप है । उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, ये तीनों द्रव्यसे अभेदरूप हैं, इसलिये द्रव्य ही हैं, अन्य वस्तुरूप नहीं हैं ॥११॥ आगे एक द्रव्यपर्याय-द्वारसे उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य दिखलाते हैं—[**सदविशिष्ट**] अपने स्वरूपास्तित्वसे अभिन्न [**द्रव्य**] सत्तारूप वस्तु [**स्वय**] आप ही [**गुणत**] एक गुणसे [**गुणान्तर**] अन्यगुणरूप [**परिणमति**] परिणमन करती है । [**तस्मात्**] इस कारण [**च पुन.**] फिर [**गुणपर्याया**] गुणोंके पर्याय [**द्रव्यमेव**] द्रव्य ही हैं [**इति भणिता**] ऐसा भगवान्‌ने कहा है । **भावार्थ**—एक द्रव्यके जो पर्याय हैं, वे गुणपर्याय हैं । जैसे आमका जो फल हरे गुणरूप परिणमन करता है, वही अन्यकालमे पीतभावरूपमें परिणम जाता है, परंतु वह आम अन्य द्रव्य नहीं हो जाता, गुणरूप परिणमनसे भेद युक्त होता है । इसी प्रकार द्रव्य पूर्व अवस्थामे रहनेवाले गुणसे अन्य अवस्थाके गुणरूप परिणमन करता है, परन्तु उक्त पूर्व-उत्तर अवस्थासे द्रव्य अन्यरूप नहीं होता, गुणके परिणमनसे भेद होता है,

वस्थावस्थितगुणं परिणमत्पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां ताभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं पूर्वोत्तरावस्थितगुणाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव द्रव्यं न द्रव्यान्तरम् । यथैव चोत्पद्यमानं पाण्डुभावेन, व्ययमानं हरितभावेनावतिष्ठमानं सहकारफलत्वेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकवस्तुपर्यायद्वारेण सहकारफलं तथैवोत्पद्यमानमुत्तरावस्थावस्थितगुणेन, व्ययमान पूर्वावस्थावस्थितगुणेनावतिष्ठमानं द्रव्यत्वगुणेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण द्रव्यं भवति ॥१२॥

अथ सत्ताद्रव्ययोरनर्थान्तरत्वेन युक्तिमुपन्यस्यति—

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुवं हवदि तं कहं दव्वं ।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥१३॥

न भवति यदि सद्द्रव्यमसद्ध्रुवं भवति तत्कथं द्रव्यम् ।
भवति पुनरन्यद्वा तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ॥१३॥

यदि हि द्रव्यं स्वरूपत एव सन्न स्यात्तदा द्वितयी गतिः असद्वा भवति, सत्तातः पृथग्वा

गुणान्तरं परिणमति, पुद्गलद्रव्यं वा पूर्वोक्तशुक्लवर्णादिगुणं त्यक्त्वा रक्तादिगुणान्तरं परिणमति हरितगुणं त्यक्त्वा पाण्डुरगुणान्तरमाम्रफलमिवेति भावार्थः ॥१२॥ एवं स्वभावविभावरूपा द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च नयविभागेन द्रव्यलक्षणं भवन्ति इति कथनमुख्यतया गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतम् । अथ सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये पुनरपि प्रकारान्तरेण युक्तिं दर्शयति—**ण हवदि जदि सद्दव्वं** परमचैतन्यप्रकाशरूपेण स्वरूपेण स्वरूपसत्तास्तित्वगुणेन यदि चेत् सन्न भवति । किं कर्तृ । परमात्मद्रव्यं तदा **असद्धुवं होदि** असदविद्यमानं भवति ध्रुवं निश्चितम् । अविद्यमानं सत् **तं कहं दव्वं** तत्परमात्मद्रव्यं कथं भवति । किंतु नैव । स च प्रत्यक्षविरोधः । कस्मात् । स्वसंवेदनज्ञानेन गम्यमानत्वात् । अथाविचारितरमणीयन्यायेन सत्तागुणाभावेऽप्यस्तीति चेत् तत्र विचार्यते—यदि केवलज्ञानदर्शनगुणाविनाभूतस्वकीयस्वरूपास्तित्वात्पृथग्भूता तिष्ठति तदा स्वरूपास्तित्वं नास्ति स्वरूपा-

---

द्रव्य तो दोनो अवस्थाओमे एक ही है । और जैसे आम पीलेपनेसे उत्पन्न होता है, हरेपनसे नष्ट होता है, तथा आम्रपनेसे ध्रुव है, परंतु ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक द्रव्यपर्यायरूप आमसे जुदे नही है, आम ही हैं । इसी प्रकार द्रव्य उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता है, पूर्व अवस्थासे नष्ट होता है, तथा द्रव्यपनेसे ध्रुव है, परतु ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक द्रव्यपर्यायके द्वारा द्रव्यसे जुदे नही हैं, द्रव्य ही हैं । ये गुणपर्यायमे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जानने चाहिये ॥१२॥ आगे सत्ता और द्रव्यका अभेद दिखलाते हैं—[यदि] जो [द्रव्य] गुणपर्यायात्मक वस्तु [सत्] अस्तित्वरूप [न भवति] नही हो [तदा] तो [ध्रुव] ध्रुव अर्थात् निश्चित सत्तारूप वस्तु [असत्] अवस्तुरूप [भवति] हो जावे, तथा [तत्] वह सत्ता रहित वस्तु [द्रव्य] द्रव्य स्वरूप [कथ] कैसे [भवति] होवे, [वा] अथवा [पुन] फिर [अन्यत्] सत्तासे भिन्न द्रव्य [भवति] होवे । [तस्मात्] इस कारण [द्रव्यं] द्रव्य [स्वय सत्ता] आप ही सत्तास्वरूप है, भेद नही है । भावार्थ—जो द्रव्य सत्तारूप न होवे, तो दोष आते हैं । या तो द्रव्य असत् होता है, या सत्तासे जुदा होता है ।

भवति । तत्रासद्भवद्ध्रौव्यस्यासंभवादात्मानमधारयद्द्रव्यमेवास्तं गच्छेत् । सत्तातः पृथग्भवत् सत्तामन्तरेणात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामेवास्तं गमयेत् । स्वरूपतस्तु सद्भवद्ध्रौव्यस्य संभवादात्मानं धारयद्द्रव्यमुद्गच्छेत् । सत्तातोऽपृथग्भूत्वा चात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामुद्गमयेत् । ततः स्वयमेव द्रव्यं सत्त्वेनाभ्युपगन्तव्यं, भावभाववतोरपृथक्त्वेनानन्यत्वात् ॥१३॥

अथ पृथक्त्वान्यत्वलक्षणमुन्मुद्रयति—

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स ।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ॥१४॥

स्तित्वाभावे द्रव्यमपि नास्ति । अथवा स्वकीयस्वरूपास्तित्वात्संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशरूपेणाभिन्नं तिष्ठति तदा समतमेव । अत्रावसरे सौगतमतानुसारी कश्चिदाह—सिद्धपर्यायसत्तारूपेण शुद्धात्मद्रव्यमुपचारेणास्ति, न च मुख्यवृत्त्येति । परिहारमाह–सिद्धपर्यायोपादानकारणभूतपरमात्मद्रव्याभावे सिद्धपर्यायसत्तैव न संभवति वृक्षाभावे फलमिव । अत्र प्रस्तावे नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—**हवदि पुणो अण्णं वा** तत्परमात्मद्रव्यं भवति पुनः किंतु सत्तायाः सकाशादन्यद्भिन्नं भवति पश्चात्सत्तासमवायात्सद्भवति । आचार्याः परिहारमाहुः–सत्तासमवायात्पूर्वं द्रव्यं सदसद्वा, यदि सत्तदा सत्तासमवायो वृथा पूर्वमेवास्तित्वं तिष्ठति, अथासत्तर्हि खपुष्पवदविद्यमानद्रव्येण सह कथं सत्तासमवायं करोति, करोतीति चेत्तर्हि खपुष्पेणापि सह सत्ताकर्तृ समवायं करोतु, न च तथा । **तम्हा दव्वं सयं सत्ता** तस्मादभेदनयेन शुद्धचैतन्यस्वरूपसत्तैव परमात्मद्रव्यं भवतीति । यथेदं परमात्मद्रव्येण सह शुद्धचेतनासत्ताया अभेदव्याख्यानं कृतं तथा सर्वेषां चेतनद्रव्याणां स्वकीयस्वकीयसत्तया सहाभेदव्याख्यानं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥१३॥

अथ पृथक्त्वलक्षणं किमन्यत्वलक्षणं च किमिति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—**पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तं** पृथक्त्वं भवति पृथक्त्वाभिधानो भवति । किंविशिष्टम् । प्रकर्षेण विभक्तप्रदेशत्वं भिन्नप्रदेशत्वम् ।

परंतु जो द्रव्य असत् होगा, तो सत्ताके बिना ध्रुव नहीं होगा, जिससे कि द्रव्यके नाशका प्रसंग आ जावेगा । और यदि सत्तासे द्रव्य पृथक् हो, तो द्रव्य सत्ताके बिना भी अपने स्वरूपको धारण करे, जिससे कि सत्ताका कुछ प्रयोजन ही न रहे, क्योंकि सत्ताका कार्य यही है, कि द्रव्यके स्वरूपका अस्तित्व करे, सो यदि द्रव्य ही अपने स्वरूपको जुदा धारण करेगा, तो सत्ताका फिर प्रयोजन ही क्या रहेगा ? इस न्यायसे सत्ताका नाश होगा । परंतु जो द्रव्य सत्तारूप होगा, तो द्रव्य ध्रुव होगा, जिसके होनेसे द्रव्यका नाश न होगा । यदि सत्तासे द्रव्य पृथक् नहीं होगा, तो द्रव्य अपने स्वरूपको धारण करता हुआ, सत्ताके प्रयोजनको प्रगट करेगा, और सत्ताका नाश न होगा । इसलिये द्रव्य सत्रूप है । द्रव्य गुणी है, सत्ता गुण है । गुण-गुणीमें प्रदेश-भेद नहीं है, एक ही हैं ॥१३॥

सिद्धान्तमें भेद दो प्रकारके हैं, एक पृथक्त्व दूसरा अन्यत्व । आगे इन दोनोंका लक्षण कहते हैं— [हि] निश्चयसे [वीरस्य] महावीर भगवान्‌का [इति] ऐसा [शासनं] उपदेश है, कि

प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासन हि वीरस्य ।
अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवत् भवति कथमेकम् ॥१४॥

प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम् । तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्न संभाव्यते, गुणगुणिनोः प्रविभक्तप्रदेशत्वाभावात् शुक्लोत्तरीयवत् । तथाहि—यथा य एव शुक्लस्य गुणस्य प्रदेशास्त एवोत्तरीयस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः, तथा य एव सत्ताया गुणस्य प्रदेशास्त एव द्रव्यस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः । एवमपि तयोरन्यत्वमस्ति तल्लक्षणसद्भावात् । अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं, तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात् शुक्लोत्तरीयवदेव । तथाहि—यथा यः किलैकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवति, न खलु तदखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, यच्च किलाखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, न खलु स एकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवतीति तयोस्तद्भाव-

---

किवत् । दण्डदण्डिवत् । इत्थभूत पृथक्त्व शुद्धात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोर्न घटते, कस्माद्धेतोर्भिन्नप्रदेशाभावात् । कयोरिव । शुक्लवस्त्रशुक्लगुणयोरिव **इदि सासण हि वीरस्स** इति शासनमुपदेश आज्ञेति । कस्य । वीरस्य वीराभिधानान्तिमतीर्थंकरपरमदेवस्य । **अण्णत्त** तथापि प्रदेशाभेदेऽपि मुक्तात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोरन्यत्व भिन्नत्वं भवति । कथभूतम् । **अतब्भावो** अतद्भावरूप सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदस्वभावम् । यथा प्रदेशरूपेणाभेदस्तथा सज्ञादिलक्षणरूपेणाप्यभेदो भवतु को दोष इति चेत् । नेवम् । **ण तब्भवं होदि** तन्मुक्तात्मद्रव्य शुद्धात्मसत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदेऽपि सज्ञादि-

---

[**प्रविभक्तप्रदेशत्वं**] जिसमे द्रव्यके प्रदेश अत्यन्त भिन्न हो, वह [**पृथक्त्व**] **पृथक्त्व** नामका भेद है। और [**अतद्भाव**] प्रदेशभेदके विना सज्ञा, संख्या, लक्षणादिसे जो गुण-गुणी-भेद है, सो [**अन्यत्वं**] **अन्यत्व** है। परंतु सत्ता और द्रव्य [**तद्भव**] उसी भाव अर्थात् एक ही स्वरूप [**न भवति**] नही है, फिर [**कथ एक**] दोनो एक कैसे हो सकते हैं ? नही हो सकते । **भावार्थ**—जिस प्रकार दड और दडीमे प्रदेश-भेद है, उस प्रकारके प्रदेश-भेदको **पृथक्त्व** कहते हैं। यह 'पृथक्त्व' सत्तामे नही हैं, क्योकि सत्ता और द्रव्यमे प्रदेश-भेद नही है । जैसे वस्त्र और उसके शुक्ल गुणमे प्रदेश-भेद नही है, अभेद है । उसी प्रकार सत्ता और द्रव्यमे अभेद है, परतु सज्ञा, सख्या, लक्षणादिके भेदसे जो द्रव्यका स्वरूप है, वह सत्ताका स्वरूप नही है, और जो सत्ताका स्वरूप है, वह द्रव्यका स्वरूप नही है । इस प्रकारके गुण-गुणी भेदको **अन्यत्व** कहते हैं । यह अन्यत्व भेद सत्ता और द्रव्यमे रहता है । यहाँ प्रश्न होता है कि, जैसे सत्ता और द्रव्यसे प्रदेश-भेद नही है, वैसे ही सत्ता-द्रव्यमे स्वरूप भेद भी नही है, फिर अन्यत्व-भेदके कहनेकी क्या आवश्यकता है ? सो इसका समाधान यह है, कि 'सत्ता और द्रव्यमे स्वरूप-भेद नही है, एक ही भाव है', ऐसा कहना बन नही सकता, क्योकि सत्ता और द्रव्यमे सज्ञा, सख्या, लक्षणादिसे स्वरूप-भेद अवश्य ही है, फिर दोनो एक कैसे हो सकते हैं ? अन्यत्व-भेद मानना ही पड़ेगा । जैसे वस्त्र और शुक्ल गुणमे अन्यत्व-भेद है, उसी

स्याभावः । तथा या किलाश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा सत्ता भवति, न खलु तदनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदित विशेष्यं विधीयमान वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्य भवति यत्तु किलनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुण-समुदितं विशेष्य विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति, न खलु साश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषण विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवतीति तयोस्तद्भावस्याभाव. । अत एव च सत्ताद्रव्ययोः कथंचिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्वं न शङ्कनीयं, तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम् । यत्तु न तद्भवद्विभाव्यते तत्कथमेक स्यात् । अपि तु गुणगुणिरूपेणानेकमेवेत्यर्थः ॥१४॥

अथातद्भावमुदाहृत्य प्रथयति—

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो ।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥१५॥

रूपेण तन्मय न भवति कथमेगं तन्मयत्र हि किलैकत्वलक्षण सज्ञादिरूपेण तन्मय त्वभावमेकत्व किंतु नानात्ममेव । यथेद मुक्तात्वद्रव्ये प्रदेशाभेदेऽपि सज्ञादिरूपेण नानात्व कथित तथैव सर्वद्रव्याणा स्वकीयस्वकीयस्वरूपास्तित्वगुणेन सह ज्ञातव्यमित्यर्थ ॥१४॥ अथातद्भाव विशेषेण विस्तार्य कथयति—सद्दव्व सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो सद् द्रव्य सश्च गुण सश्चैव पर्याय इति सत्तागुणस्य द्रव्यगुणपर्यायेषु विस्तार । तथाहि—यथामुक्ताफलहारे सत्तागुण-

---

प्रकार सत्ता और द्रव्यमे है, क्योकि वस्त्रमे जो शुक्ल गुण है, सो एक नेत्र इंद्रियके द्वारा ग्रहण होता है, अन्य नासिकादि इद्रियोके द्वारा नही होता, इस कारण वह शुक्ल गुण वस्त्र नही है। और जो वस्त्र है, सो नेत्र इद्रियके सिवाय अन्य नासिकादि इद्रियोसे भी जाना जाता है, इस कारण वह वस्त्र शुक्ल गुण नही है । शुक्ल गुणको एक नेत्र इद्रियसे जानते हैं, और वस्त्रको नासिकादि अन्य सब इद्रियोसे जानते हैं। इसलिये यह सिद्ध है, कि वस्त्र और शुक्ल गुणमे अन्यत्व अवश्य ही है । जो भेद न होता, तो जैसे नेत्र इद्रियसे शुक्ल गुणका ज्ञान हुआ था, वैसे ही स्पर्श रस गधरूप वस्त्रका भी ज्ञान होता, परतु ऐसा नही है । इस कारण इद्रिय-भेदसे भेद अवश्य ही है । इसी प्रकार सत्ता और द्रव्यमे अन्यत्व भेद है । सत्ता द्रव्यके आश्रय रहती है, अन्य गुण रहित एक गुणरूप है, और द्रव्यके अनत विशेषणोमे एक अपने भेदको दिखाती है, तथा एक पर्याय-रूप है, और द्रव्य है, सो किसीके आधार नही रहता है, अनत गुण सहित है, अनेक विशेषणोंसे विशेष्य है, और अनेक पर्यायोवाला है । इसी कारण सत्ता और द्रव्यमें सज्ञा, सख्या, लक्षणादि भेदसे अवश्य अन्यत्व-भेद है । जो सत्ताका स्वरूप है, वह द्रव्यका नही है, और जो द्रव्यका स्वरूप है, वह सत्ताका नही है। इस प्रकार गुण-गुणी-भेद है, परतु प्रदेश-भेद नही है ॥१४॥ आगे अन्यत्वका लक्षण विशेषतासे दिखलाते हैं,—[सत् द्रव्य] सत्तारूप द्रव्य है, [च] और [सत् गुण] सत्तारूप गुण है, [च] तथा [सत् एव पर्याय] सत्तारूप ही पर्याय है, [इति] इस प्रकार सत्ताका [विस्तारः] विस्तार है। और [खलु] निश्चय करके [य] जो [तस्य] उस सत्ता-द्रव्य-गुण

सद्द्रव्यं सच्च गुण. सच्चैव च पर्याय इति विस्तार ।
यः खलु तस्याभाव स तदभावोऽतद्भावः ॥ १५ ॥

यथा खल्वेकं मुक्ताफलस्रग्दाम, हार इति सूत्रमिति मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकं द्रव्यं द्रव्यमिति गुण इति पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चैकस्य मुक्ताफलस्रग्दाम्नः शुक्लो गुणः शुक्लो हारः शुक्लं सूत्रं शुक्लं मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकस्य द्रव्यस्य सत्तागुणः सद्द्रव्यं सद्गुणः सत्पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चैकस्मिन् मुक्ताफलस्रग्दाम्नि यः शुक्लो गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफल स न शुक्लो गुण इतीतरेतरस्य

स्थानीयो योऽसौ शुक्लगुण स प्रदेशाभेदेन किं किं भण्यते। शुक्लो हार इति शुक्ल सूत्रमिति शुक्लं मुक्ताफलमिति भण्यते, यश्च हार सूत्र मुक्ताफल वा तैस्त्रिभि प्रदेशाभेदेन शुक्लो गुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदम्। तद्भावस्येति कोऽर्थ । हारसूत्रमुक्ताफलाना शुक्लगुणेन सह तन्मयत्व प्रदेशाभिन्नत्वमिति तथा मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ शुद्धसत्तागुण स प्रदेशाभेदेन कि कि भण्यते सत्तालक्षण परमात्मपदार्थ इति, सत्तालक्षण. केवलज्ञानादिगुण इति सत्तालक्षण सिद्धपर्याय इति भण्यते। यश्च परमात्मपदार्थ केवलज्ञानादिगुण सिद्धत्वपर्याय इति तैश्च त्रिभि शुद्धसत्तागुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदम्। तद्भावस्येति कोऽर्थ । परमात्मपदार्थकेवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वपर्यायाणा शुद्धसत्तागुणेन सज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशैस्तन्मयत्वमपि **जो खलु तस्स अभावो** यस्तस्य पूर्वोकलक्षणतद्भावस्य खलु स्फुट सज्ञादिभेदविवक्षायामभाव **सो तदभावो** स पूर्वोक्तलक्षणस्तदभावो भण्यते। स च तदभाव किं भण्यते। **अतब्भावो** तदभावस्तन्मयत्वम्। किंचातद्भाव. सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थ.। तद्यथा—यथा मुक्ताफलहारे योऽसौ शुक्लगुणस्तद्वाचकेन शुक्लमित्यक्षरद्वयेन हारो वाच्यो न भवति सूत्र वा मुक्ताफल वा, हारसूत्रमुक्ताफलशब्दैश्च शुक्लगुणो वाच्यो न भवति। एव परस्पर प्रदेशाभेदेऽपि याऽसौ सज्ञादिभेद स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तद्भावो भण्यते। स च तद्भावः पुनरपि किं भण्यते। अतद्भाव सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इति। तथा मुक्तजीवे योऽसौ शुद्धसत्तागुणस्तद्वाचकेन सत्ताशब्देन मुक्तजीवो वाच्यो न भवति केवलज्ञानादिगुणो वा सिद्धपर्यायो वा मुक्तजीवकेवलज्ञानादिगुणसिद्धपर्यायैश्व शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवति। इत्येत्व परस्पर प्रदेशभेदेऽपि योऽसौ सज्ञादिभेद सस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्त-

---

पर्यायकी एकताका [**अभाव**] परस्परमे अभाव है, [**स.**] वह [**तदभावः**] उस एकताका अभाव [**अतद्भाव.**] अन्यत्व नामा भेद है। **भावार्थ**—जैसे एक मोतीकी माला हार, सूत्र और मोती इन भेदोसे तीन प्रकार है, उसी प्रकार एक द्रव्य, द्रव्य गुण और पर्याय-भेदोसे तीन प्रकार है। और जैसे एक मोतीकी मालाका शुक्ल (सफेद) गुण, श्वेत हार, श्वेत सूत, और श्वेत मोती, इन भेदोसे तीन प्रकार है, उसी प्रकारसे द्रव्यका एक सत्ता गुण, सत् द्रव्य, सत् गुण और सत्पर्याय इन भेदोसे तीन प्रकार है। यह सत्ताका विस्तार है। और जैसे एक मोतीकी मालामे भेदविवक्षासे जो श्वेत गुण है, सो हार नही है, सूत नही है, और मोती नही है। तथा जो हार सूत मोती हैं, वे श्वेत गुण नही हैं, ऐसा परस्पर भेद है, उसी प्रकार एक द्रव्यमे जो सत्ता गुण है, वह द्रव्य

यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः । तथैकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुणस्तन्न द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः ॥ १५ ॥

अथ सर्वथाभावलक्षणत्वमतद्भावस्य निषेधयति—

जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो ।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥ १६ ॥

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योऽपि गुणः स न तत्त्वमर्थात् ।
एष ह्यतद्भावो नैव अभाव इति निर्दिष्टः ॥ १६ ॥

एकस्मिन्द्रव्ये यद्द्रव्यं गुणो न तद्भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भवतीत्येवं यद्द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भावः । एतावतैवान्यत्वव्यवहारसिद्धेर्न पुनर्द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येवंलक्षणोऽभावोऽत-

---

द्भावो भण्यते । न च तदभावः पुनरपि किं भण्यते । अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थः । यथात्र शुद्धात्मनि शुद्धसत्तागुणेन सहाभेदः स्थापितस्तथा यथासंभवं सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्य इत्यभिप्रायः ॥१५॥ अथ गुणगुणिनोः प्रदेशभेदनिषेधेन तमेव संज्ञादिभेदरूपमतद्भावं दृढयति— जं दव्वं तं ण गुणो यद्द्रव्यं स न गुणः यन्मुक्तजीवद्रव्यं स शुद्धः सत् गुणो न भवति । मुक्तजीवद्रव्यशब्देन शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवतीत्यर्थः । जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो योऽपि गुणः स न तत्त्वं द्रव्यमर्थतः परमार्थतः, यः शुद्धसत्तागुणः स मुक्तात्मद्रव्यं न भवति । शुद्धसत्ताशब्देन मुक्तात्मद्रव्यं वाच्यं न भवतीत्यर्थः । एसो हि अतब्भावो एष उक्तलक्षणो हि स्फुटमतद्भावः । उक्तलक्षण इति कोऽर्थः । गुणगुणिनोः संज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावः णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो

नहीं, गुण नही, और पर्याय नही है, तथा जो द्रव्य गुणपर्याय हैं, सो सत्ता नही है, ऐसा आपसमे भेद है। सारांश यह है, कि सत्ताके स्वरूपका अभाव द्रव्य, गुण, पर्यायोमे है, और द्रव्य, गुण, पर्यायके स्वरूपका अभाव सत्तामे है। इस प्रकार गुण-गुणी-भेद है, प्रदेश-भेद नही है। यही अन्यत्व नामक भेद है ॥१५॥ आगे सर्वथा अभावरूप गुण-गुणी-भेदका निषेध करते हैं—[यद्] जो [द्रव्यं] द्रव्य है, [तत्] सो [गुणः न] गुण नहीं है, और [यः] जो [अपि] निश्चयसे [गुणः] गुण है, [सः] वह [अर्थात्] स्वरूपके भेदसे [तत्त्वं न] द्रव्य नही है। [एषः हि] यह गुण-गुणी भेदरूप ही [अतद्भावः] स्वरूपभेद है, [अभाव] सर्वथा अभाव [नैव] निश्चयसे नही है। [इति] ऐसा [निर्दिष्टः] सर्वज्ञदेवने दिखाया है। भावार्थ—एक द्रव्यमे जो द्रव्य है, वह गुण नही है, और जो गुण है, वह द्रव्य नही है। इस प्रकार जो द्रव्यका गुणरूप न होना है, वह अन्यत्वभेद व्यवहारसे कहा जाता है, न कि द्रव्यका अभाव गुण, और गुणका अभाव द्रव्य ऐसा सर्वथा अभावरूप भेद, क्योकि इस तरहका अभाव माननेसे द्रव्यका अनेकपना होना, १ (द्रव्य–गुणो) का

द्भावः, एवं सत्येकद्रव्यस्यानेकत्वमुभयशून्यत्वमपोहरूपत्वं वा स्यात्। तथाहि—तथा खलु चेतनद्रव्यस्याभावोऽचेतनद्रव्यमचेतनद्रव्यस्याभावश्चेतनद्रव्यमिति तयोरनेकत्व, तथा द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येकस्यापि द्रव्यस्यानेकत्वं स्यात्। यथा सुवर्णस्याभावे सुवर्णत्वस्याभावः सुवर्णत्वस्याभावे सुवर्णस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं, तथा द्रव्यस्याभावे गुणस्याभावो गुणस्याभावे द्रव्यस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं स्यात्। यथा पटाभावमात्रमेव घटो घटाभावमात्रमेव पट इत्युभयोरपोहरूपत्वं तथा द्रव्याभावमात्रमेव गुणो गुणाभावमात्रमेव द्रव्यमित्यत्राप्यपोहरूपत्वं स्यात्। ततो द्रव्यगुणयोरेकत्वमशून्यत्वमनपोहत्वं चेच्छता यथोदित एवातद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः ॥ १६ ॥

अथ सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावं साधयति—

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठिदं सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसोयं ॥ १७ ॥

नैवाभाव इति निर्दिष्ट । नैव अभाव इति कोऽर्थः। यथा सत्तावाचकशब्देन मुक्तात्मद्रव्यं वाच्य न भवति तथा यदि सत्ताप्रदेशैरपि सत्तागुणात्सकाशाद्भिन्न भवति तदा यथा जीवप्रदेशेभ्यः पुद्गलद्रव्य भिन्न सद्द्रव्यान्तर भवति तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो मुक्तजीवद्रव्य सत्तागुणाद्भिन्नं सत्पृथग्द्रव्यान्तर प्राप्नोति। एव किं सिद्धम्। सत्तागुणरूप पृथग्द्रव्यं मुक्तात्मद्रव्य च पृथगिति द्रव्यद्वयं जात, न च तथा। द्वितीय च दूषण प्राप्नोति—यथा सुवर्णत्वगुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णस्याभावस्तथैव सुवर्णप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णत्वगुणस्याप्यभाव', तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य मुक्तजीवद्रव्यस्याभावस्तथैव मुक्तजीवद्रव्यप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सत्तागुणस्याप्यभाव इत्युभयशून्यत्व प्राप्नोनि। यथेद मुक्तजीवद्रव्ये सञ्ज्ञादिभेदभिन्नस्यातद्भावस्तस्य सत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदव्याख्यान कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासभव ज्ञातव्यमित्यर्थ ॥ १६ ॥ एव द्रव्यस्यास्तित्वकथन-

---

नाश होना २, और अपोहरूपत्व दोषका प्रसग, ३ इस प्रकार तीन दोष उपस्थित होते हैं। वे इस प्रकार हैं कि—जैसे जीवका अभाव अजीव है, और अजीवका अभाव जीव है, इसलिये इन दोनोमे अनेकत्व है, उसी प्रकार द्रव्यका अभाव गुण, और गुणका अभाव द्रव्य माननेसे एकत्वके अनेकत्व द्रव्यका प्रसग आवेगा १। जैसे सोनेके अभावसे सोनेके गुणका अभाव होता है, और सोनेके गुणके अभावसे सोनेका नाश सिद्ध होता है, उसी तरह द्रव्यके अभावसे गुणका अभाव होगा, और फिर गुणके अभावसे द्रव्यका अभाव हो जावेगा। इस प्रकार दोनोके नाशका प्रसग आवेगा २। तीसरे, जैसे घटका अभावमात्र पट है, और पटका अभावमात्र घट है, इन दोनोमे किसीका रूप किसीमे नही है, उसी प्रकार द्रव्यका अभावमात्र गुण होगा, और गुणका अभावमात्र द्रव्य होगा, इस तरह अपोहरूपत्व दोषका प्रसंग आवेगा ३। इसलिये जो द्रव्य-गुणकी एकता चाहते हैं, दोनोका नाश नही चाहते है, और अपोहरूपत्व दोषसे जुदा रहना चाहते हैं, उन्हे भगवान् वीतरागदेवने जो गुण-गुणीमे व्यवहारसे अन्यत्वभेद दिखलाया है, उसे अगीकार करना चाहिये, सर्वथा अभावरूप मानना योग्य नही है ॥ १६ ॥ आगे सत्ता और द्रव्यका गुण-गुणी-भाव दिखलाते है—[यः] जो

य खलु द्रव्यस्वभाव परिणाम स गुण सदविशिष्ट ।
सदवस्थित स्वभावे द्रव्यमिति जिनोपदेशोऽयम् ॥ १७ ॥

द्रव्यं हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति प्राक् प्रतिपादितम् । स्वभावस्तु द्रव्यस्य परिणामोऽभिहितः । य एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः, स एव सदविशिष्टो गुण इतीह साध्यते । यदेव हि द्रव्यस्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वं द्रव्यप्रधाननिर्देशात्सदिति संशब्द्यते तदविशिष्टगुणभूत एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटिसमयस्पर्शिन्याः प्रतिक्षण तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद्द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणामः । स त्वस्तित्वभूतद्रव्यवृत्त्यात्मकत्वात्सदविशिष्टो द्रव्यविधायिको गुण एवेति सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावः सिद्ध्यति ॥ १७ ॥

रूपेण प्रथमगाथा पृथक्त्वलक्षणातद्भावविधानान्यत्वलक्षणयो कथनेन द्वितीया सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया तस्यैव दृढीकरणार्थं च चतुर्थी द्रव्यगुणयोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन पञ्चमस्थल गतम् । अथ सत्ता गुणो भवति द्रव्यं च गुणी भवतीति प्रतिपादयति—**जो खलु दव्वसहावो परिणामो** य खलु स्फुट द्रव्यस्य स्वभावभूत परिणाम पञ्चेन्द्रियविषयानुभवरूपमनोव्यापारोत्पन्नसमस्तमनोरथरूपविकल्पजालाभावे सति यश्चिदानन्दैकानुभूतिरूप स्वस्थभावस्तस्योत्पाद, पूर्वोक्तविकल्पजालविनाशो व्यय, तदुभयाधारभूत जीवत्व ध्रौव्यमित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकजीवद्रव्यस्य स्वभावभूतो योऽसौ परिणाम **सो गुणो** स गुणो भवति स परिणाम । कथभूत सन्गुणो भवति । **सदविसिट्ठो** सतोऽस्तित्वादविशिष्टोऽभिन्नस्तदुत्पादादित्रय तिष्ठत्यस्तित्व चैक तिष्ठत्यस्तित्वेन सह कथमभिन्नो भवतीतिचेत् । "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" इति वचनात् । एव सति सत्तैव गुणो भवतीत्यर्थ । इति गुणव्याख्यान गतम् । **सदवट्ठिद सहावे दव्व त्ति** सदवस्थित स्वभावे द्रव्यमिति । द्रव्य परमात्मद्रव्य भवति । किं कर्तृ । सदिति । केन । अभेदनयेन । कथ भूतम् । सत् अवस्थितम् । क्व । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्वभावे । **जिणोवदेसोयं** अय जिनोपदेश इति 'सदवट्ठिद सहावे दव्व दव्वस्स जो हु परिणामो' इत्यादिपूर्वसूत्रे यदुक्त तदेवेद व्याख्यानम्, गुणकथन पुनरधिकमिति तात्पर्यम् । यथेद जीवद्रव्ये गुण-गुणिनोर्व्याख्यान कृत तथा सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति ॥ १७ ॥

[**खलु**] निश्चयसे [**द्रव्यस्वभाव**] द्रव्यका स्वभावभूत [**परिणाम**] उत्पाद, व्यय, ध्रुवरूप त्रिकाल सबधी परिणाम है, [**सः**] वह [**सदविशिष्टः**] सत्तासे अभिन्न अस्तित्वरूप [**गुण**] गुण है। और [**स्वभावे**] अस्तित्वरूप सत्ता-स्वभावमे [**अवस्थितं द्रव्य**] तिष्ठता हुआ द्रव्य [**सत्**] सत्ता कहलाता है, [**इति**] इस प्रकार [**अयं**] यह [**जिनोपदेश**] जिनभगवान्का उपदेश है। **भावार्थ**—द्रव्यका जो अस्तित्वरूप स्वभावभूत परिणाम है, उसको सत्ता नामका गुण कहते हैं। यह अस्तित्वरूप सत्तागुण द्रव्यसे अभिन्न द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है। और यह सत्ता गुण द्रव्यमे प्रधान है। सत्तामे द्रव्य स्थित रहता है। इसी कारण सत्ता गुणकी प्रधानतासे द्रव्यको सत् कहते है, और इस सत्ता गुणसे सत्स्वरूप गुणी द्रव्य जाना जाता है। इस कारण सत्ता गुण है, और द्रव्य गुणी है ॥ १७ ॥

अथ गुणगुणिनोर्नानात्वमुपहन्ति—

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं ।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ १८ ॥

नास्ति गुण इति वा कश्चित् पर्याय इतीह या विना द्रव्यम् ।
द्रव्यत्व पुनर्भावस्तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ॥ १८ ॥

न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा पर्याय इति बा कश्चिदपि स्यात् । यथा सुवर्णात्पृथग्भूतं तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलादिकत्वमिति वा । अथ तस्य तु द्रव्यस्य स्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वाख्यं यद्द्रव्यत्वं स खलु तद्भावाख्यो गुण एव भवन् किं हि द्रव्यात्पृथग्भूतत्वेन वर्तते । न वर्तत एव । तर्हि द्रव्यं सत्तास्तु, स्वयमेव ॥१८॥

अथ द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयोरविरोधं साधयति—

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं ।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि ॥ १९ ॥

अथ गुणपर्यायाभ्या द्रव्यस्याभेद दर्शयति—**णत्थि** नास्ति न विद्यते । स क । **गुणो त्ति व कोई** गुण इति कश्चित् । न केवल गुण **पज्जाओ त्तीह** वा पर्यायो वेतीह । कथम् । **विणा** विना । किं विना । **दव्वं** द्रव्यमिदानी द्रव्य कथ्यते **दव्वत्तं पुण भावो** द्रव्यत्वमस्तित्वम् । तत्पुन किं भण्यते । भाव । कोऽर्थ । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसद्भाव **तम्हा दव्वं सयं सत्ता** तस्मादभेदनयेन सत्ता स्वयमेव द्रव्य भवतीति । तद्यथा—मुक्तात्मद्रव्ये परमावाप्तिरूपो मोक्षपर्याय केवलज्ञानादिरूपो गुणसमूहश्च येन कारणेन तदुद्वयमपि परमात्मद्रव्य विना नास्ति न विद्यते । कस्मात्प्रदेशाभेदादिति उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकशुद्धसत्तारूप मुक्तात्मद्रव्य भवति । तस्मादभेदेन सत्तैव द्रव्यमित्यर्थ । यथा मुक्तात्मद्रव्ये गुणपर्यायाभ्या सहाभेदव्याख्यान कृतं तथा यथासभव सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति ॥१८॥ एव गुणगुणिव्याख्यानरूपेण प्रथमगाथा द्रव्यस्य गुणपर्यायाभ्या सह भेदो नास्तीति कथनरूपेण द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयेन षष्ठस्थल गतम् ॥ अथ द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्या

आगे गुण-गुणीका भेद दूर करते हैं—[इह] इस जगत्मे [द्रव्य विना] द्रव्यके विना [गुण इति] गुण ऐसा [वा] अथवा [पर्यायः इति] पर्याय ऐसा [कश्चित्] कोई पदार्थ [नास्ति] नही है । [पुन] और [द्रव्यत्व] द्रव्यका अस्तित्व [भाव] उसका स्वभावभूत गुण है, [तस्मात्] इसलिये [द्रव्यं] द्रव्य [स्वय] आप ही [सत्ता] अस्तित्वरूप सत्ता है । **भावार्थ**—ऐसा कोई गुण नही है, जो द्रव्यके विना पृथक् रहता हो, इसी प्रकार ऐसा कोई पर्याय भी नही है, जो द्रव्यसे पृथक् हो। द्रव्य ही मे गुण और पर्याय होते है, द्रव्यसे पृथक् कोई पदार्थ नही है । अत गुणपर्याय द्रव्यसे अभेदरूप हैं। जैसे सोनेसे पीतत्वादि गुण, कुडलादि पर्याय पृथक् नही पाये जाते, उसी प्रकार द्रव्यसे गुणपर्याय पृथक् नही हैं, और सत्ता है, सो वस्तुसे अभिन्न उसका गुण है । इस कारण अस्तित्वरूप सत्ता गुण द्रव्यके पृथक् नही है, द्रव्य स्वय सत्तास्वरूप है ॥ १८ ॥ आगे द्रव्यके द्रव्यार्थिक—पर्यायार्थिकनयकी

एवंविधं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्याम् ।
सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भावं सदा लभते ॥ १९ ॥

एवमेतद्यथोदितप्रकारसाकल्याकलङ्कलाञ्छनमनादिनिधनं सत्स्वभावे प्रादुर्भावमास्कन्दति द्रव्यम् । स तु प्रादुर्भावो द्रव्यस्य द्रव्याभिधेयतायां सद्भावनिबद्ध एव स्यात् । पर्यायाभिधेयतायां त्वसद्भावनिबद्ध एव । तथाहि—यदा द्रव्यमेवाभिधीयते न पर्यायास्तदा प्रभवावसानवर्जिताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्द्रव्यनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः प्रभवावसानलाञ्छनाः क्रमप्रवृत्ताः पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवत् । तथाहि—यदा हेमैवाभिधीयते नाङ्गदादयः पर्यायास्तदा हेमसमानजीविताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिरङ्गदादिपर्यायसमानजीविताः क्रमप्रवृत्ता अङ्गदादि-

---

सदुत्पादासदुत्पादौ दर्शयति—**एवंविहसब्भावे** एवंविधसद्भावे सत्तालक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं गुणपर्यायलक्षणं द्रव्यं चेत्येवंविधपूर्वोक्तसद्भावे, अथ **एवंविह सहावे** इति पाठान्तरम् । तत्रैवंविधं पूर्वोक्तलक्षणं स्वकीयसद्भावे स्थितम् । किम् । **दव्वं** द्रव्यं कर्तृ । किं करोति । **सदा लभदि** सदा सर्वकालं लभते । किं कर्मतापन्नम् । **पादुब्भावं** प्रादुर्भावमुत्पादम् । कथंभूतम् । **सदसब्भावणिबद्धं** सद्भावनिबद्धमसद्भावनिबद्धं च । काभ्यां कृत्वा । **दव्वत्थपज्जयत्थेहिं** द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यामिति । तथाहि—यथा यदा काले द्रव्यार्थिकनयेन विवक्षा क्रियते यदेव कटकपर्याये सुवर्णं तदेव कङ्कणपर्याये नान्यदिति, तदा काले सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः । कस्मादिति चेत् । द्रव्यस्य द्रव्यरूपेणा-

---

विवक्षासे 'सत् उत्पाद' और 'असत् उत्पाद' ऐसा दो प्रकारका उत्पाद होता है, सो उन दोनोंका अविरोध दिखलाते हैं—[**एवंविधं**] इस प्रकारसे [**द्रव्यं**] द्रव्य [**स्वभावे**] स्वभावमें [**द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां**] द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयोंकी विवक्षासे [**सदसद्भावनिबद्धं**] सत् और असत् इन दो भावोंसे संयुक्त [**प्रादुर्भावं**] उत्पादको [**सदा**] हमेशा [**लभते**] प्राप्त होता है । **भावार्थ**—अनादि अनंत द्रव्य अपने परिणाम स्वभावमें निरंतर उत्पन्न होता है, इसको 'उत्पाद' कहते हैं । इसे जब द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे कहते हैं, तब यों कहते हैं, कि द्रव्य जो जो पर्याय धारण करता है, उन उन पर्यायोंमें वही द्रव्य उत्पन्न होता है, जो पूर्वमें था, इसका नाम 'सद्भावउत्पाद' है । और जब पर्यायकी अपेक्षासे कहते हैं, तब यों कहते हैं कि द्रव्य जो जो पर्याय धारण करता है, उन उन पर्यायोंमें वही द्रव्य अवस्थाके पलटनेसे अन्य कहा जाता है, इसका नाम 'असद्भावउत्पाद' है । इन दोनों प्रकारके उत्पादको नीचे लिखे दृष्टान्तसे समझना चाहिये । जैसे—सोना अपने अविनाशी पीत स्निग्ध (चिकने) गुरुत्वादि गुणोंसे नाना कंकण कुंडलादि पर्यायोंको प्राप्त होता है । जो यहांपर द्रव्यार्थिकनयसे विचार करें, तो कंकण कुंडलादि जितने पर्याय हैं, उन सबमें वही सोना उत्पन्न होता है, जो कि पहले था, न कि दूसरा । यह सोनेका सद्भावउत्पाद है । और जो उन्हीं कंकण कुंडलादि पर्यायोंमें सोनेको पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे कहें, तो जितने कंकण कुंडलादि पर्याय हैं, सबके सब क्रम लिये हुए हैं । इस कारण ऐसा कहा जावेगा, कि

पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो हेम्नः सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः। यदा तु पर्याया एवाभिधीयन्ते न द्रव्यं तदा प्रभवावसानलाञ्छनाभिः क्रमप्रवृत्ताभिः पर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिः प्रभवावसानवर्जिता यौगपद्यप्रवृत्ता द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तीः संक्रामतो द्रव्यस्यासद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवदेव। तथाहि—यदाङ्गदादिपर्याया एवाभिधीयन्ते न हेम तदाङ्गदादिपर्यायसमानजीविताभिः क्रमप्रवृत्ताभिरङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिर्हेमसमानजीविता यौगपद्यप्रवृत्ता हेमनिष्पादिका अन्वयशक्तीः संक्रामतो हेम्नोऽसद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः अथ पर्यायाभिधेयतायामप्यसदुत्पत्तौ पर्यायनिष्पादिकास्तास्ता व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाः पर्यायान् द्रवीकुर्युः, तथाङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिस्ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिर्यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाभिरङ्गदादिपर्याया अपि हेमीक्रियेरन्। द्रव्याभिधेयतायामपि सदुत्पत्तौ द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तयः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्त-

---

विनष्टत्वात्। यदा पुन पर्यायविवक्षा क्रियते कटकपर्यायात् सकाशादन्यो य कङ्कणपर्याय सुवर्णसंबन्धी स एव न भवति। तदा पुनरसदुत्पाद कस्मादिति चेत्। पूर्वपर्यायस्य विनष्टत्वात्। तथा यदा द्रव्यार्थिकनयविवक्षा क्रियते य एव पूर्वं गृहस्थावस्थायामेवमेव गृहव्यापार कृतवान् पश्चाज्जिनदीक्षा गृहीत्वा स एवेदानी रामादिकेवलीपुरुषो निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमात्मध्यानेनानन्तसुखामृततृप्तो जात., न चान्य इति। तथा सद्भावनिबद्ध एवोत्पाद। कस्मादिति चेत्। पुरुषत्वेनाविनष्टत्वात्। यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते। पूर्वं सरागावस्थाया. सकाशादन्योऽय भरतसगररामपाण्डवादिकेवलिपुरुषाणा सबन्धी निरुपमरागपरमात्मपर्याय स एव न भवति। तदा पुनरसद्भाव-

---

कंकण उत्पन्न हुआ, कुडल उत्पन्न हुआ, मुद्रिका (अँगूठी) उत्पन्न हुई। ऐसा दूसरा दूसरा उत्पाद होता है, अर्थात् जो पूर्वमे नही था, वह उत्पन्न होता है, यह असद्भावउत्पाद है। इसी प्रकार द्रव्य अपने अविनाशी गुणोसे युक्त रहकर अनेक पर्याय धारण करता है। सो उसे यदि द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे कहते है, तो जितने पर्याय हैं, उन सब पर्यायोमे वही द्रव्य उत्पन्न होता है, जो पहले था, अन्य नही। यह सत्उत्पाद है। और यदि पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे कहते हैं, तो जितने पर्याय उत्पन्न होते हैं, वे सब अन्य अन्य ही हैं। पहले जो थे, वे नही हैं–यह असत् उत्पाद है। और जैसे पर्यायार्थिकको विवक्षामे जो असत्रूप कंकण कुडलादि पर्याय उत्पन्न होते हैं, उनके उत्पन्न करनेवाली जो सुवर्णमे शक्ति है, वह कंकण कुडलादि पर्यायोको सुवर्ण द्रव्य करती है। सोनाकी पर्याय भी सोना ही है, क्योकि पर्यायसे द्रव्य अभिन्न है। इसी प्रकार पर्याय विवक्षामे द्रव्यके जो असद्रूप पर्याय हैं, उनको उत्पन्न करनेवाली शक्ति जो द्रव्यमे है, वह पर्यायको द्रव्य करती है। जिस द्रव्यके जो पर्याय हैं, वे उसी द्रव्यरूप है, क्योकि पर्यायसे द्रव्य अभिन्न है। इसलिये पर्याय और द्रव्य दो वस्तु नही है, जो पर्याय है, वही द्रव्य है। और द्रव्यार्थिककी विवक्षासे जैसे सोना अपनी पीततादि शक्तियोसे कंकण कुडलादि पर्यायोमे उत्पन्न होता है, सो सोना ही कंकण कुंडलादि पर्यायमात्र होता है। अर्थात् जो सोना है, वही कंकण कुडलादि

द्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्यायीकुर्युः । तथा हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः क्रमवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्नाभिर्हेमाङ्गदादिपर्यायमात्री क्रियेत । ततो द्रव्यार्थादेशात्सदुत्पादः, पर्यायार्थादेशादसत् इत्यनवद्यम् ।। १९ ।।

अथ सदुत्पादमनन्यत्वेन निश्चिनोति—

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो ।
किं दव्वत्तं पजहदि ण चयदि अण्णो कहं हवदि ।। २० ।।

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुन ।
कि द्रव्यत्व प्रजहाति न त्यजत्यन्य कथ भवति ।। २० ।।

द्रव्यं हि तावद्द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिं नित्यमप्यपरित्यजद्भवति सदेव । यस्तु द्रव्यस्य पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्तेः प्रादुर्भावः तस्मिन्नपि द्रव्यत्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात् द्रव्यमनन्यदेव । ततोऽनन्यत्वेन निश्चीयते द्रव्यस्य सदुत्पादः ।

निबद्ध एवोत्पाद । कस्मादिति चेत् । पूर्वपर्यायादन्यत्वादिति । यथेद जीवद्रव्ये सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यान कृत तथा सर्वद्रव्येषु यथासभव ज्ञातव्यमिति ।। १९ ।। अथ पूर्वोक्तमेव सदुत्पाद द्रव्यादभिन्नत्वेन विवृणोति—**जीवो** जीव कर्ता **भव** भवन् परिणमन् सन् **भविस्सदि** भविष्यति तावत् । किं किं भविष्यति । निर्विकारशुद्धोपयोगविलक्षणाभ्या शुभाशुभोपयोगाभ्या परिणम्य **णरोऽमरो वा परो** नरो देव , परस्तिर्यङ्नारकरूपो वा निर्विकारशुद्धोपयोगेन सिद्धो वा भविष्यति **भवीय पुणो** एव पूर्वोक्तप्रकारेण पुनर्भूत्वापि । अथवा द्वितीयव्याख्यानम् । भवन् वर्तमानकालापेक्षया भविष्यति भाविकालापेक्षया भूत्वा भूतकालापेक्षया चेति कालत्रये चैव भूत्वापि **किं दव्वत्त पजहदि** किं द्रव्यत्व

पर्याय हैं, उसी प्रकार द्रव्य अपनी शक्तियोंसे अपने पर्यायोंमे क्रमसे उत्पन्न होता है। जब जो पर्याय धारण करता है, तब उसी पर्यायमात्र होता है, अर्थात् जो द्रव्य है, वही पर्याय है। इसलिये सिद्ध हुआ कि असत्उत्पादमे जो पर्याय है, वे द्रव्य ही हैं, और सदुत्पादमे जो द्रव्य है, सो पर्याय ही हैं। द्रव्य और पर्याय आपसमे अभेदरूप हैं, परतु नयके भेदसे भेदरूप हैं ।। १९ ।। आगे सदुत्पाद को पर्यायसे अभेदरूप बतलाते हैं—[जीव] आत्मा [भवन्] द्रव्यस्वभावरूप परिणमन करता हुआ [नर] मनुष्य वा [अमर] देव [वा] अथवा [पर.] अन्य अर्थात् नारकी, तिर्यंच, सिद्ध इन सब पर्यायरूप [भविष्यति] होवेगा, [पुन] और [भूत्वा] पर्यायस्वरूप होकर [किं] क्या [द्रव्यत्व] अपनी द्रव्यत्वशक्तिको [प्रजहाति] छोड सकता, है ? कभी नही, और जब [न जहत्] अपने द्रव्यत्वस्वभावको नही छोड सकता तो [अन्य कथ भवति] अन्य स्वरूप कैसे हो सकता है ? कदापि नही हो सकता। **भावार्थ**—यह जीवद्रव्य नारकी, तिर्यंच, देवता, मनुष्य, सिद्ध इन सबकी अनत पर्यायोको धारण करता है। यद्यपि यह जीव पर्यायोसे अनेक स्वरूप हो गया है, तो भी अपने द्रव्यपने स्वभावको नही छोडता है। और जब अनेक पर्यायोंके धारण करनेपर भी अपनी द्रव्यत्व-शक्तिको

तथाहि—जीवो द्रव्यं भवन्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वानामन्यतमेन पर्यायेण द्रव्यस्य पर्यायदुर्ललितवृत्तित्वादवश्यमेव भविष्यति । स हि भूत्वा च तेन किं द्रव्यभूतामन्वयशक्तिमुज्झति, नोज्झति । यदि नोज्झति कथमन्यो नाम स्यात्, येन प्रकटितत्रिकोटिसत्ताकः स एव न स्यात् ॥ २० ॥

अथासदुत्पादमन्यत्वेन निश्चिनोति—

मणुवो ण हवदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि ॥ २१ ॥

मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा ।
एवमभवन्ननन्यभावं कथं लभते ॥ २१ ॥

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव । यश्च पर्यायाणां द्रव्यत्वभूतयान्वयशक्त्यानुस्यूतः क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः तस्मिन्पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः पूर्वमसत्त्वात्पर्याया अन्य एव । ततः पर्यायाणामन्यत्वेन निश्चीयते पर्यायस्वरूपकर्तृकरणाधिकरणभूतत्वेन

परित्यजति **ण चयदि** द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यत्व न त्यजति द्रव्यादिभन्नो न भवति । **अण्णो कह हवदि** अन्यो भिन्न कथ भवति । किंतु द्रव्यान्वयशक्तिरूपेण सद्भावनिबद्धोत्पादः स एवेति द्रव्यादभिन्न इति भावार्थ. ॥ २० ॥ अथ द्रव्यस्यासदुत्पाद पूर्वपर्यायादन्यत्वेन निश्चिनोति—**मणुवो ण हवदि देवो** आकुलत्वोत्पादकमनुज देवादिविभावपर्यायविलक्षणमनाकुलत्वरूपस्वभावपरिणतिलक्षण परमात्मद्रव्य यद्यपि निश्चयेन मनुष्यपर्याये देवपर्याये च समान तथापि मनुजो देवो न भवति । कस्माद्देवपर्यायकाले मनुष्यपर्यायस्यानुपलम्भात् । **देवो वा माणुसो व सिद्धो वा** देवो वा मनुष्यो न भवति स्वात्मोपलब्धिरूपसिद्धपर्यायो वा न भवति । कस्मात् । पर्यायाणा परस्पर भिन्नकाल-

---

नही छोडता, तो अन्यरूप कभी नही हो सकता, जो नारकी था, वही तिर्यंच पर्यायमे है, वही मनुष्य हो जाता है, वही देवता तथा सिद्ध आदि पर्यायरूप हो जाता है । इन सब अवस्थाओमे अविनाशी द्रव्य वही एक है, दूसरा नही । इसलिये सत्‌उत्पादकी अपेक्षा सब पर्यायोमे वही अविनाशी वस्तु है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २० ॥ आगे असत्‌उत्पादको अन्यरूपसे दिखाते हैं—**[मनुजः]** जो मनुष्य है, वह **[देव]** देव **[वा]** अथवा **[देव]** देव है, वह **[मानुषः]** मनुष्य **[वा]** अथवा **[सिद्ध]** सिद्ध अर्थात् मोक्ष-पर्यायरूप **[न भवति]** नही हो सकता, **[एवं अभवन्]** इस प्रकार नही होता हुआ **[अनन्यभाव]** अभिन्नपनेको **[कथं]** किस तरह **[लभते]** प्राप्त हो सकता है ? **भावार्थ**—जो देव मनुष्यादि पर्याय है, वे सब एक कालमे नही होते, किंतु जुदा जुदा समयमे होते हैं। जिस समय देव-पर्याय है उस समय मनुष्यादि पर्याय नही है, एक ही पर्याय हो सकती है । इस कारण जो एक पर्याय होती है, वह अन्यरूप नही हो सकती । सब जुदा जुदा ही पर्याय होते हैं । इसलिये पर्यायका कर्त्ता, करण, द्रव्य, आधार है, सो द्रव्य पर्यायसे जुदा नही है, पर्यायके पलटनेसे द्रव्य भी व्यवहारसे अन्य कहा जाता है । जैसे-मनुष्य पर्यायरूप जीव देव-पर्यायरूप वा

पर्यायेभ्यो पृथग्भूतस्य द्रव्यस्यासदुत्पादः । तथाहि–न हि मनुजस्त्रिदशो वा सिद्धो वा स्यात्, न हि त्रिदशो मनुजो वा सिद्धो वा स्यात् । एवमसन् कथमनन्यो नाम स्यात् येनान्य एव न स्यात् । येन च निष्पद्यमानमनुजादिपर्यायं जायमानवलयादि विकारं काञ्चनमिव जीवद्रव्यमपि प्रतिपदमन्यन्न स्यात् ॥ २१ ॥

अथैकद्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वविप्रतिषेधमुद्धुनोति—

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥२२॥

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्य तत्पर्यायार्थिकेन पुनः ।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ॥ २२ ॥

सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रम सामान्य-विशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकं चेति । तत्र पर्यायार्थिक-मेकान्तनिमीलित विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकति-

---

त्वात्, सुवर्णद्रव्ये कुण्डलादिपर्यायाणामिव । एव अहोज्जमाणो एवमभवन्सन् अणण्णभाव कधं लहदि अनन्यभावमेकत्व कथ लभते, न कथमपि । तत एतावदायाति असद्भावनिबद्धोत्पाद पूर्व-पर्यायाद्भिन्नो भवतीति ॥ २१ ॥ अथैकद्रव्यस्य पर्यायैस्सहानन्यत्वाभिधानमेकत्वमन्यत्वाभिधान-मनेकत्व च नयविभागेन दर्शयति, अथवा पूर्वोक्तसद्भावनिबद्धासद्भावमुत्पादद्वय प्रकारान्तरेण समर्थयति—हवदि भवति । किं कर्तृ । सव्व दव्व सर्वं विवक्षिताविवक्षितजीवद्रव्यम् । किं विशिष्ट भवति । अणण्ण अनन्यमभिन्नमेक तन्मयमिति । केन सह । तेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवरूपविभावपर्याय-समूहेन केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयशक्तिरूपसिद्धपर्यायेण च । केन कृत्वा । दव्वट्ठिएण शुद्धान्वयद्रव्यार्थिक-

---

सिद्ध-पर्यायरूप नही होता, और देव-पर्यायरूप जीव मनुष्य-पर्यायरूप वा सिद्ध-पर्याय रूप नही होता, इस तरह पर्यायके भेदसे द्रव्य भी अन्य कहा जाता है । इस कारण पर्यायार्थिकनयसे द्रव्य अन्यरूप अवश्य करना चाहिये । जैसे सोना ककण कुडलादि पर्यायोके भेदसे 'ककणका सोना,' 'कुडलका सोना,' इस रीतिसे अन्य अन्यरूप कहा जाता है, उसी प्रकार मनुष्यजीव, देवजीव, सिद्धजीव इस तरह अन्य अन्य रूप कहनेमे आता है । इस कारण असत्उत्पादमे द्रव्यको अन्यरूप कहना चाहिये, यह सिद्ध हुआ ॥ २१ ॥ आगे एक द्रव्यके अन्यत्व, अनन्यत्व ये दो भेद हैं, वे परस्पर विरोधी एक जगह किस तरह रह सकते हैं ? इसका समाधान आचार्य महाराज करते हैं—[द्रव्यार्थिकेन] द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे [तत् सर्वं] वह समस्त वस्तु [अनन्यत्] अन्य नही है, वही है, अर्थात् नर नारकादि पर्यायोमे वही एक द्रव्य रहता है [पुनः] और [पर्याया-र्थिकेन] पर्यायार्थिकनयकी विवक्षासे [अन्यत्] अन्यरूप द्रव्य होता है, अर्थात नर नारक आदि पर्यायोसे जुदा जुदा कहा जाता है। क्योकि [तत्काल] नर नारकादि पर्यायोंके होनेके समय वह द्रव्य [तन्मयत्वात्] उस पर्यायस्वरूप ही हो जाता है। **भावार्थ**—वस्तु सामान्य, विशेषरूप दो प्रकारसे है । इन दोनोके देखनेवाले हैं, उनके दो नेत्र कहे हैं—एक तो द्रव्यार्थिक,

यंङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यमेकमवलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्वं जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं [विधाय] केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानामन्यदन्यत्प्रतिभाति। द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनानन्यत्वात् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत्। यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायेषु व्यवस्थित जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते। तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकन, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनम्। ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वमनन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते॥ २२॥

अथ सर्वविप्रतिषेधनिषेधिकां सप्तभङ्गीमवतारयति--

नयेन। कस्मात्। कुण्डलादिपर्यायेषु सुवर्णस्येव भेदाभावात् **त पज्जयट्ठिएण पुणो** तद् द्रव्य पर्यायार्थिकनयेन पुन. अन्यद्भिन्नमनेक पर्यायैः सह पृथग्भवति। कस्मादिति चेत्। **तक्काले तम्मयत्तादो** तृणाग्निकाष्ठाग्निपत्राग्निवत् स्वकीयपर्यायै सह तत्काले तन्मयत्वादिति। एतावता विमुक्त भवति। द्रव्यार्थिकनयेन यदा वस्तुपरीक्षा क्रियते तदा पर्यायसतानरूपेण सर्वं पर्यायकदम्बक द्रव्यमेव प्रतिभाति। यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते तदा द्रव्यमपि पर्यायरूपेण भिन्नं भिन्नं प्रतिभाति। यदा च परस्परसापेक्षया नयद्वयेन युगपत्समीक्ष्यते, तदैकत्वमनेकत्वं च युगपत्प्रतिभातीति। यथेद जीवद्रव्ये व्याख्यान कृत तथा सर्वद्रव्येषु यथासभवं ज्ञातव्यमित्यर्थ.॥ २२॥ एव सदुत्पादकथनेन प्रथमा सदुत्पादविशेषविवरणरूपेण द्वितीया तथैवासदुत्पादविशेषविवरणरूपेण

दूसरा पर्यायार्थिक। इन दोनो नेत्रोमेसे जो पर्यायार्थिक नेत्रको सर्वथा बद करके एक द्रव्यार्थिक नेत्रसे ही देखे, तब नारक, तियँच, मनुष्य, देव, सिद्ध पर्यायोमे स्थित जो सामान्य एक जीव उसके देखनेवाले पुरुषोको सब जगह जीव ही प्रतिभासता (दीखता) है, भेद नही मालूम होता। और जब द्रव्यार्थिक नेत्रको सर्वथा बद कर एक पर्यायार्थिक नेत्रसे ही देखा जावे, तब जीवद्रव्यमे नर नारकादि पर्यायोके देखनेवाले पुरुषोको नर नारकादि पर्याय जुदा जुदा मालूम होते है। जिस कालमे जो पर्याय होता है, उस पर्यायमे जीव उसी स्वरूप परिणमता है। जैसे कि आग, गोबरके छाने-कडे, तृण पत्ता, काठ आदि अनेक ईंधनके आकार हो जाती है, उसी प्रकार जीव भी अनेक पर्यायोको धारण करता हुआ अनेक आकाररूप हो जाता है। तथा जब द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोनो ही नेत्रोंसे इधर उधर सब जगह देखा जाय, तो एक ही समय नर नारकादि पर्यायोमे वही एक द्रव्य देखनेमे आता है, और अन्य अन्य रूप भी दीखता है। इस कारण एक नयरूप नेत्रसे देखना एक अगका देखना है, तथा दो नयरूप नेत्रोसे देखना सब अगोका देखना कहा जाता है। इसलिये सर्वांग द्रव्यके देखनेमे अन्यरूप और अनन्यरूप—इस तरह दो स्वरूप कहनेका निषेध नहा हो सकता॥ २२॥ अब सब तरहके विरोधोको दूर

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ।। २३ ।।

अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनर्द्रव्यम् ।
पर्यायेण तु केनापि तदुभयमादिष्टमन्यद्वा ।। २३ ।।

स्यादस्त्येव १ स्यान्नास्त्येव २ स्यादवक्तव्यमेव ३ स्यादस्तिनास्त्येव ४ स्यादस्त्यवक्तव्यमेव ५ स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव ६ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव ७, स्वरूपेण १ पररूपेण २ स्वपररूपयौगपद्येन ३ स्वपररूपक्रमेण ४ स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ५ पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ६ स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैरादिश्यमानस्य स्वरूपेण सतः, पररूपेणासतः, स्वपररूपाभ्यां युगपद्वक्तुमशक्यस्य, स्वपररूपाभ्यां क्रमेण

तृतीया द्रव्यपर्याययोरेकत्वानेकत्वप्रतिपादनेन चतुर्थीति सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन सप्तमस्थलं गतम् । अथ समस्तदुर्नयैकान्तरूपविवादनिषेधिका नयसप्तभङ्गी विस्तारयदि—**अत्थि त्ति य** स्यादस्त्येव । स्यादिति कोऽर्थः कथंचित्कोऽर्थः । विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन तच्चतुष्टय शुद्धजीवविषये कथ्यते । शुद्धगुणपर्यायाधारभूत शुद्धात्मद्रव्य द्रव्य भण्यते, लोकाकाशप्रमिता शुद्धासख्येयप्रदेशा क्षेत्र भण्यते, वर्तमानशुद्धपर्यायरूपपरिणतो वर्तमानसमय कालो भण्यते, शुद्धचैतन्य भावश्चेत्युक्तलक्षणद्रव्यादिचतुष्टयेन इति प्रथमभङ्ग १ । **णत्थि त्ति य** स्यान्नास्त्येव स्यादिति कोऽर्थः । कथचिद्विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयेन **हवदि** भवति २ । कथभूतम् । **अवत्तव्वमिदि** स्यादवक्तव्यमेव ३ स्यादिति कोऽर्थः । कथचिद्विवक्षितप्रकारेण युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति, स्यादस्त्येवावक्तव्य, स्यान्नास्त्येवावक्तव्य, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम् । **पुणो** पुन इत्थंभूतम् । किं भवति । **दव्व** परमात्मद्रव्य कर्तृ । पुनरपि कथभूत भवति । **तदुभय** स्यादस्तिनास्त्येव । स्यादिति कोऽर्थः कथचिद्विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन ४ । कथभूत सदित्यमित्थं भवति । **आदिट्ठ** आदिष्ट विवक्षित सत् । केन कृत्वा । **पज्जायेण दु** पर्यायेण तु प्रश्नोत्तररूपनयविभागेन तु । कथभूतेन ।

करनेवाली सप्तभङ्गी वाणीको कहते हैं—**[द्रव्य]** जो वस्तु है, वह **[केनचित्पर्यायेण]** किसी एक पर्यायसे **[अस्तीति]** अस्तिरूप **[भवति]** है, **[च]** और किसी एक पर्यायसे **[नास्तीति]** वही द्रव्य नास्तिरूप है, **[च]** तथा **[अवक्तव्य इति]** किसी एक प्रकारसे वचनगोचर नही है, **[तु पुन]** और **[तत् उभय]** किसी एक पर्यायसे वही द्रव्य अस्तिनास्तिरूप है, **[वा]** अथवा किसी एक पर्यायसे **[अन्यत्]** अन्य तीन भंगस्वरूप **[आदिष्ट]** कहा गया है। **भावार्थ—** द्रव्यकी सिद्धि सप्तभगोसे होती है, वे इस प्रकार हैं—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव, इस तरह अपने चतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य **अस्तिरूप है** १, परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा **नास्तिरूप है** २, एक कालमे 'अस्ति नास्ति' कह नही सकते, इस कारण वह **अवक्तव्य है** ३, क्रमसे वचनद्वारा **अस्तिनास्तिरूप** है ४, तथा द्रव्यमे **स्यात् अस्त्यवक्तव्य** चौथा भग है, क्योकि किसी एक प्रकार स्वचतुष्टयसे अस्तिरूप होता हुआ भी एक ही कालमे स्वपरचतुष्टयसे वचनद्वारा कहा

सतोऽसतश्च, स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां सतो वक्तुमशक्यस्य च, पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यामसतो वक्तुमशक्यस्य च, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैः सतोऽसतो वक्तुमशक्यस्य चानन्तधर्मणो द्रव्यस्यैकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभङ्गिकैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति ।। २३ ।।

अथ निर्धार्यमाणत्वेनोदाहरणीकृतस्य जीवस्य मनुष्यादिपर्यायाणां क्रियाफलत्वेनान्यत्वं द्योतयति—

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता ।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ।।२४।।

केण वि केनापि विवक्षितेन नैगमादिनयरूपेण **अण्ण वा** अन्यद्वा सयोगभङ्गत्रयरूपेण । तत्कथ्यते—स्यादस्त्येवावक्तव्यं स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ५ । स्यान्नास्त्येवावक्तव्य परद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ६ । स्यादस्तिनास्त्येवावक्तव्य क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ७ । पूर्वं **पञ्चास्तिकाये** स्यादस्तीत्यादिप्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभङ्गी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकारग्रहण तन्नयसप्तभङ्गीज्ञापनार्थमिति भावार्थ । यथेदं सप्तभङ्गीव्याख्यान शुद्धात्मद्रव्ये दर्शित तथा यथासभव सर्वपदार्थेषु द्रष्टव्यमिति ।। २३ ।। एवं नयसप्तभङ्गी व्याख्यानगाथयाष्टमस्थल गतम् । एव पूर्वोक्तप्रकारेण प्रथमा नमस्कारगाथा, द्रव्यगुणपर्यायकथनरूपेण द्वितीया, स्वसमयपरसमयप्रतिपादनेन तृतीया, द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयसूचनरूपेण चतुर्थीति स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन पीठिकास्थलम् । तदनन्तरमवान्तरसत्ताकथनरूपेण प्रथमा, महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्य स्वभावसिद्ध तथा सत्तागुणोऽपीति कथनरूपेण तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेऽपि सत्तैव द्रव्यं भवतीति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यता । तदनन्तरमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणविवरणमुख्यत्वेन गाथात्रय, तदनन्तर द्रव्यपर्यायकथनेन गुणपर्यायकथनेन च गाथाद्वयं, ततश्च द्रव्यस्यास्तित्वस्थापनारूपेण प्रथमा,

---

नही जाता ५, और कथचित् प्रकार परचतुष्टयसे नास्तिरूप हुआ भी एक ही समय स्वपरचतुष्टयकर वचनगोचर न होनेसे **स्यान्नास्त्यवक्तव्य** है ६, और किसी एक प्रकार स्वरूपसे अस्तिरूप-पररूपसे नास्तिरूप होता हुआ भी एक ही समयमे स्वपररूपकर वचनसे कह नही सकते, इस कारण **स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य** भगरूप है ७ ।। इस प्रकार अनतगुणात्मक द्रव्य सप्तभगसे सिद्ध हुआ । विधिनिषेधकी मुख्यता—गौणता करके यह सप्तभगी वाणी 'स्यात्' पदरूप सत्यमत्रसे एकातरूप खोटे नयरूपी विष-मोहको दूर करती है ।। २३ ।। आगे जीवके जो ये असद्भूत मनुष्यादि पर्याय दिखलाये हैं, वे मोह-क्रियाके फल हैं, इस कारण वस्तु स्वभावसे जुदा हैं, ऐसा दिखलाते हैं—[एषः] यह पर्याय टकोत्कीर्ण अविनाशी है, [इति] ऐसा [कश्चित्] नर नारकादि पर्यायोमे कोई भी पर्याय [नास्ति] नही है । और [स्वभावनिवृत्ता] रागादि अशुद्ध परिणतिरूप विभाव स्वभावकर उत्पन्न

एष इति नास्ति कश्चिन्न नास्ति क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता ।
क्रिया हि नास्त्यफला धर्मो यदि नि फल परमः ।। २४ ।।

इह हि ससारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधिसंनिधिप्रत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति । ततस्तस्य मनुष्यादिपर्यायेषु च न कश्चनाप्येष एवेति टङ्कोत्कीर्णोऽस्ति, तेषां पूर्वपूर्वोपमर्दप्रवृत्तक्रियाफलत्वेनोत्तरोत्तरोपमर्द्यमानत्वात् फलमभिलष्येत वा मोहसवलनाविलयनात् क्रियायाः । क्रिया हि तावच्चेतनस्य

पृथक्त्वलक्षणस्यातद्भावाभिधानत्वलक्षणस्य च कथनरूपेण द्वितीया, सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया, तस्यैव दृढीकरणार्थं चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यता । तदनन्तर सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिकथनेन प्रथमा, गुणपर्यायाणा द्रव्येण सहाभेदकथनेन द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयम् । तदनन्तर द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयो सामान्यव्याख्यानेन विशेषव्याख्यानेन च गाथाचतुष्टय, ततश्च सप्तभङ्गीकथनेन गाथैका चेति समुदायेन चतुर्विंशतिगाथाभिरष्टभि स्थलै सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये सामान्यद्रव्यप्ररूपण समाप्तम् । अत. पर तत्रैव सामान्यद्रव्यनिर्णयमध्ये सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्त व्याख्यान करोति । तत्र क्रमेण पञ्च स्थानानि भवन्ति । प्रथमस्तावद्वार्तिकव्याख्यानाभिप्रायेण सांख्यैकान्तनिराकरण, अथवा शुद्धनिश्चयनयेन कर्मफल भवति, न च शुद्धात्मस्वरूपमिति तस्यैवाधिकारसूत्रस्य विवरणार्थं 'कम्म णामसमक्ख' इत्यादि पाठक्रमेण गाथाचतुष्टयं, तत पर रागादिपरिणाम एव द्रव्यकर्मकारणत्वाद्भावकर्म भण्यत इति परिणाममुख्यत्वेन 'अदा कम्ममलिमसो' इत्यादिसूत्रद्वय, तदनन्तर कर्मफलचेतना कर्मचेतना ज्ञानचेतनेति त्रिविधचेतनाप्रतिपादनरूपेण 'परिणमदि चेदणाए' इत्यादिसूत्रद्वय, तदनन्तर शुद्धात्मभेदभावनाफल कथयन् सन् 'कत्ता करण' इत्याद्येकसूत्रेणोपसहरति । एव भेदभावनाधिकारे स्थलपञ्चकेन समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ नरकादिपर्याया कर्माधीनत्वेन विनश्वरत्वादिति शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्वरूप न भवतीति भेदभावना कथयति— **एसो त्ति णत्थि कोई** टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मद्रव्यवत्ससारे मनुष्यादिपर्यायेषु मध्ये सर्वदैवैक एकरूप एव नित्य कोऽपि नास्ति । तर्हि मनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तिका ससारक्रिया

हुई जो [क्रिया] जीवकी अशुद्ध कर्तव्यता [नास्ति न] वह नहीं है, ऐसा भी नहीं, अर्थात् क्रिया तो अवश्य है । [यदि] जो [परमः धर्म.] उत्कृष्ट वीतराग भाव [निष्फल] नर नारकादि पर्यायरूप फलकरके रहित है, तो [हि] निश्चयसे [क्रिया] रागादि परणमनरूप क्रिया [अफला] फल रहित [नास्ति] नहीं है, अर्थात् क्रिया फलवती है । **भावार्थ**—ससारमे कोई पर्याय नित्य नहीं है । यहाँ कोई यह कहे, कि नर नारकादि पर्याय नित्य नही मानोगे, तो रागादि परिणतिरूप क्रिया भी नहीं हो सकती ? ऐसा कहना ठीक नहीं हैं, क्योंकि आत्मा अनादि कालसे पुद्गलकर्मके निमित्तसे नानारूप परणमन करता है, इस कारण रागादि परिणतिरूप क्रिया है । उसी क्रियाके फल नर नारकादि पर्याय है, तथा पूर्व पर्याय आगेकी पर्यायसे विनाशीक हैं । जैसे स्निग्ध रूखे गुणोकर

पूर्वोत्तरदशाविशिष्टचैतन्यपरिणामात्मिका । सा पुनरणोरण्वन्तरसंगतस्य परिणतिरिवात्मनो मोहसंवलितस्य द्व्यणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्य निष्पादकत्वात्सफलैव । सैव मोहसंवलनविलयने पुनरणोरुच्छिन्नाण्वन्तरसंगमस्य परिणतिरिव द्व्यणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्यानिष्पादकत्वात् परमद्रव्यस्वभावभूततया परमधर्माख्या भवत्यफलैव ॥ २४ ॥

अथ मनुष्यादिपर्यायाणां जीवस्य क्रियाफलत्वं व्यनक्ति—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥ २५ ॥

सापि न भविष्यति । **ण णत्थि किरिया** न नास्ति क्रिया मिथ्यात्वरागादिपरिणति ससार' कर्मेति यावत् इति पर्यायनामचतुष्टयरूपा क्रियास्त्येव । सा च कथभूता । **सभावणिव्वत्ता** शुद्धात्मस्वभावाद्विपरीतापि नरनारकादिविभावपर्यायस्वभावेन निर्वृत्ता । तर्हि किं निष्फला भविष्यति । **किरिया हि णत्थि अफला** क्रिया हि नास्त्यफला सा मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपा क्रिया यद्यप्यनन्तसुखादिगुणात्मकमोक्षकार्यं प्रति निष्फला तथापि नानादु'खदायकस्वकीयकार्यभूतमनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तकत्वात्सफलेति मनुष्यादिपर्यायनिष्पत्तिरेवास्या फलम् । कथ ज्ञायत इति चेत् । **धम्मो जदि णिप्फलो परमो** धर्मो यदि निष्फल. परम. नीरागपरमात्मोपलम्भपरिणतिरूप. आगमभाषया परमयथाख्यातचारित्ररूपो वा योऽसौ परमो धर्म., स केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकत्वात्सफलोऽपि नरनारकादिपर्यायकारणभूत ज्ञानावरणादिकर्मबन्ध नोत्पादयति, तत कारणान्निष्फल । ततो ज्ञायते नरनारकादिससारकार्यं मिथ्यात्वरागादिक्रियाया फलमिति । अथवास्य सूत्रस्य द्वितीयव्याख्यान क्रियते—यथा शुद्धनयेन रागादिविभावेन परिणमत्यय जोवस्तथैवाशुद्धनयेनापि न परिणमतीति यदुक्त साख्येन तन्निराकृतम् । कथमिति चेत् । अशुद्धनयेन मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणतजीवाना नरनारकादिपर्यायपरिणतिदर्शनादिति । एवं प्रथमस्थले सूत्रगाथा गना ॥ २४ ॥ अथ मनुष्यादिपर्याया कर्मजनिता इति विशेषेण व्यक्तीकरोति—**कम्म** कर्मरहितपरमात्मनो विलक्षण कर्म कर्तृ । किंविशिष्टम् । **णामसमक्ख** निर्नामनि-

---

परिणत हुई परमाणुओकी क्रिया द्व्यणुकादि स्कधरूप कार्यको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार मोहसे मिली हुई आत्माकी क्रिया अवश्य ही मनुष्यादि पर्यायोको उत्पन्न करती है, इस कारण क्रिया फलवती समझना चाहिये । दूसरा प्रमाण फलवती क्रिया होनेमे यह है, कि वीतरागभाव नरनारकादि पर्यायरूप फलरहित है, तो ऊपरसे यह बात सिद्ध ही है, कि रागादि परिणतिरूप क्रिया नर नारकादि पर्यायरूप फलवाली है । जैसे बधयोग्य-स्निग्धरूक्ष-भावरहित परमाणु द्व्यणुकादि बधको नही उत्पन्न कर सकते, उसी तरह परम वीतरागभाव मनुष्यादि पर्यायोको कारण नही है । इसलिये यह साराश निकला, कि मोहसे मिली हुई क्रिया संसारका कारण है । मोह रहित क्रिया वस्तुका स्वभाव है, वही परमधर्मरूप है, तथा ससारका नाश इसी क्रियासे होता है ॥ २४ ॥ आगे जीवके मनुष्यादि पर्याय क्रियाके फल हैं, ऐसा दिखाते हैं—**[अथ]** इसके बाद जो **[नामसमाख्य]** नामकर्म सज्ञावाला **[कर्म]** नर नारकादिरूप नामकर्म है,

कर्म नामसमाख्यं स्वभावमथात्मनः स्वभावेन ।
अभिभूय नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं करोति ॥२५॥

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म, तत्कार्यभूता मनुष्यादिपर्याया जीवस्य क्रियाया मूलकारणभूतायाः प्रवृत्तत्वात् क्रियाफलमेव स्युः । क्रियाऽभावे पुद्गलानां कर्मत्वाभावात्तत्कार्यभूतानां तेषामभावात् । अथ कथं ते कर्मणः कार्यभावमायान्ति, कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणत्वात् तु प्रदीपवत् । तथाहि—यथा खलु ज्योतिःस्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योतिःकार्यं तथा कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्मकार्यम् ॥ २५ ॥

अथ कुतो मनुष्यादिपर्यायेषु जीवस्य स्वभावाभिभवो भवतीति निर्धारयति—

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता ।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥ २६ ॥

गोत्रमुक्तात्मनो विपरीतं नामेति सम्यगाख्या संज्ञा यस्य तद्भवति नामसमाख्यं नामकर्मेत्यर्थः । सभावं शुद्धबुद्धैकपरमात्मस्वभावं अह अथ अप्पणो सहावेण आत्मीयेन ज्ञानावरणादिस्वकीयस्वभावेन करणभूतेन अभिभूय तिरस्कृत्य प्रच्छाद्य तं पूर्वोक्तमात्मस्वभावम् । पश्चात् किं करोति । णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि नरतिर्यग्नारकसुररूपं करोतीति । अयमत्रार्थः—यथाग्निः कर्ता तैलस्वभावं कर्मतापन्नमभिभूय तिरस्कृत्य वर्त्याधारेण दीपशिखारूपेण परिणमयति, तथा कर्माग्निः कर्ता तैलस्थानीयं शुद्धात्मस्वभावं तिरस्कृत्य वर्तिस्थानीयशरीराधारेण दीपशिखास्थानीयनरनारकादिपर्यायरूपेण परिणमयति । ततो ज्ञायते मनुष्यादिपर्याया निश्चयनयेन कर्मजनिता इति ॥२५॥ अथ नरनारकादिपर्यायेषु कथं जीवस्य स्वभावाभिभवो जातस्तत्र किं जीवाभाव इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं

वह [स्वभावेन] अपने नर नारकादि गतिरूप परिणमन स्वभावसे [आत्मनः] जीवके [स्वभावं] शुद्ध निष्क्रिय परिणामको [अभिभूय] आच्छादित करके जीवको [नरं] मनुष्य [तिर्यञ्चं] तिर्यंच [नैरयिकं] नारकी [वा] अथवा [सुरं] देव [करोति] इन चारो गतियोरूप करता है । **भावार्थ**—रागादि परिणतिरूप क्रिया आत्मासे होती है, इसलिये इस क्रियाका नाम 'भावकर्म' है । उसके निमित्तको पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणमन करता है, इस कारण पुद्गलको भी कर्म कहते है । उस कर्मके फल मनुष्यादि पर्याय हैं । वास्तवमें देखा जाय, तो जीवकी जो रागादिरूप क्रिया है, उसीकी मुख्यतासे इन मनुष्यादि पर्यायोकी प्रवृत्ति होती है, इसी लिये ये पर्याय क्रियाके फल कहे गये हैं । यदि रागादि क्रिया न हो, तो पुद्गल कर्मरूप परिणमन नही कर सकता, कर्मरूप परिणमन न होनेसे नर नारकादि पर्याय भी नही हो सकते । जैसे दीपक अग्निस्वभावसे तेल स्वभावको दूर करके प्रकाशरूप कार्य करता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म जीव-स्वभावको घातकर मनुष्यादि पर्यायरूप नाना प्रकारके कायको करता है ॥ २५ ॥ आगे निश्चयसे मनुष्यादि पर्यायोमे जीवके स्वभावका नाश कदापि नही होता, ऐसा दिखाते हैं—[नरनारकतिर्यक्सुराः] मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव [जीवाः] इस प्रकार चार गतियोस्वरूप जीव [खलु]

नरनारकतिर्यक्सुरा जीवा खलु नामकर्मनिर्वृत्ता ।
न हि ते लब्धस्वभावा परिणममाना स्वकर्माणि ॥ २६ ॥

अमी मनुष्यादयः पर्याया नामकर्मनिर्वृत्ताः सन्ति तावत् । न पुनरेतावतापि तत्र जीवस्य स्वभावाभिभवोऽस्ति । यथा कनकबद्धमाणिक्यकङ्कणेषु माणिक्यस्य । यत्तत्र नैव जीवस्वभावमुपलभते तत् स्वकर्मपरिणमनात् पयःपूरवत् । यथा खलु पयःपूरः प्रदेशस्वादाभ्यां पिचुमन्दचन्दनादिवनराजी परिणमन्न द्रव्यत्वस्वादुत्वस्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरुपरागविशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते ॥ २६ ॥

अथ जीवस्य द्रव्यत्वेनावस्थितत्वेऽपि पर्यायैरनवस्थितत्व द्योतयति—

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई ।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा ॥ २७ ॥

ददाति—**णरणारयतिरियसुरा जीवा** नरनारकतिर्यक्सुरनामानो जीवा सन्ति तावत् । **खलु** स्फुटम् । कथभूता । **णामकम्मणिव्वत्ता** नरनारकादिस्वकीयनामकर्मणा निर्वृत्ता **ण हि ते लद्धसहावा** किंतु यथा माणिक्यबद्धसुवर्णकङ्कणेषु माणिक्यस्य हि मुख्यता नास्ति, तथा ते जीवाश्चिदानन्दैकशुद्धात्मस्वभावमलभमानाः सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति, तेन कारणेन स्वभावाभिभवो भण्यते, न च जीवाभाव. । कथभूता सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति । **परिणममाणा सकम्माणि** स्वकीयोदयागतकर्माणि सुखदु खरूपेण परिणममाना इति । अयमत्रार्थ —यथा वृक्षसेचनविषये जलप्रवाहश्चन्दनादिवनराजिरूपेण परिणत सन्स्वकीयकोमलशीतलनिर्मलस्वभाव न लभते, तथाय जीवोऽपि वृक्षस्थानीयकर्मोदयपरिणतः सन्परमाह्लादैकलक्षणसुखामृतास्वादनैर्मल्यादिस्वकीयगुणसमूह न लभत इति ॥ २६ ॥ अथ जीवस्य द्रव्येण नित्यत्वेऽपि पर्यायेण विनश्वरत्व दर्शयति—**जायदि णेव ण णस्सदि** जायते नैव न नश्यति द्रव्यार्थिकनयेन । क्व । **खणभगसमुब्भवे**

निश्चयसे [**नामकर्मनिर्वृत्ता**] नामकर्मसे रचे गये हैं, [**हि**] इसी प्रकारसे [**ते**] वे जीव [**स्वकर्माणि**] अपने अपने उपार्जित कर्मोंरूप [**परिणममाना**] परणमन करते हुए [**लब्धस्वभावा न**] चिदानद स्वभावको नही प्राप्त होते । **भावार्थ**—ये मनुष्यादि पर्याय नामकर्मसे उत्पन्न होते हे, परंतु इनसे जीवके स्वभावका नाश नही होता । जैसे—सोनेमे जडा हुआ माणिक रत्नका नाश नही होता है, उसी प्रकार जीवका भी नाश नही होता । किंतु उन पर्यायोमे अपने अपने कर्मोके परिणमनसे यह जीव अपने चिदानद शुद्ध स्वभावको नही पाता है । जैसे जलका प्रवाह वनमे अपने प्रदेशो और स्वादसे नीम चदनादि वृक्षरूप होके परिणमन करता है, वहांपर वह जल अपने द्रव्यस्वभाव और स्वाद स्वभावको नही पाता, उसी प्रकार यह आत्मा भी जब अपने प्रदेश और भावोसे कर्मरूप होके परिणमता है, तब यही अमूर्तित्व और वीतराग चिदानद स्वभावको नही पाता । इसलिये यह सिद्ध हुआ, कि यह जीव परिणमनके दोषसे अनेकरूप हो जाता है, लेकिन उसके स्वभावका नाश नही होता ॥ २६ ॥ आगे जीव यद्यपि द्रव्यपनेसे एक अवस्यारूप है,

जायते नैव न नश्यति क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कश्चित् ।
यो हि भवः स विलयः संभवविलयाविति तौ नाना ॥ २७ ॥

इह तावन्न कश्चिज्जायते न म्रियते च । अथ च मनुष्यदेवतिर्यङ्नारकात्मको जीवलोकः प्रतिक्षणपरिणामित्वादुत्सङ्गितक्षणभङ्गोत्पादः । न च विप्रतिषिद्धमेतत्, संभवविलययोरेकत्वनानात्वाभ्याम् । यदा खलु भङ्गोत्पादयोरेकत्वं तदा पूर्वपक्षः, यदा तु नानात्वं तदोत्तरः । तथाहि—यथा य एव घटस्तदेव कुण्डमित्युक्ते घटकुण्डस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूता मृत्तिका संभवति, तथा य एव संभवः स एव विलय इत्युक्ते संभवविलयस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यं संभवति । ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने च य एव संभवः स एव विलय इति कृत्वा तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यवज्जीवद्रव्यं संभाव्यत एव । ततः सर्वदा

जणे कोई क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कोऽपि । क्षणं क्षणं प्रति भङ्गसमुद्भवो यत्र संभवति क्षणभङ्गसमुद्भवस्तस्मिन्क्षणभङ्गसमुद्भवे विनश्वरे पर्यायार्थिकनयेन जने लोके जगति कश्चिदपि, तस्मान्नैव जायते न चोत्पद्यत इति हेतुं वदति जो हि भवो सो विलओ द्रव्यार्थिकनयेन यो हि भवः स एव विलयो यतः कारणात् । तथाहि मुक्तात्मना य एव सकलविमलकेवलज्ञानादिरूपेण मोक्षपर्यायेण भव उत्पादः स एव निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायेण विलयो विनाशस्तौ च मोक्षपर्यायमोक्षमार्गपर्यायौ कार्यकारणरूपेण भिन्नौ, तदुभयाधारभूतं यत्परमात्मद्रव्यं तदेव मृत्पिण्डघटाधार-

---

तो भी पर्यायोसे अनवस्थित (नानारूप) है, ऐसा प्रगट करते हैं—[क्षणभङ्गसमुद्भवे] समय समय विनाश होनेवाले [जने] इस जीवलोकमे [कश्चित्] कोई भी जीव [नैव जायते] न तो उत्पन्न होता है, [न नश्यति] और न नष्ट होता है । [यः] जो द्रव्य [हि] निश्चयसे [भवः] उत्पत्तिरूप है, [सः] वही वस्तु [विलयः] नाशरूप है । [इति] इसलिये [तौ] वे [संभवविलयौ] उत्पाद और नाश ये दोनो पर्याय [नाना] भेद लिये हुए हैं भावार्थ—इस विनाशीक संसारमें जो द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय, तो न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है, और न विनाशको प्राप्त होती है, इस कारण द्रव्यार्थिकनयसे उत्पाद और व्यय इन दोनो अवस्थाओमे द्रव्य एक नित्य ही है, पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा उत्पाद, व्यय जुदा जुदा है । इस तरह उत्पाद और व्ययमे एकता और अनेकता ये दो भेद होते है । जो द्रव्यत्वकर देखा जाय, तो एकता है, और पर्यायार्थिकसे अनेकता देखनेमें आती है । यही दृष्टातसे दिखाते हैं—जैसे जो घडा है, वही कूडा है, ऐसा कहनेसे घड़े और कूड़ेमें एकता नही हो सकती, इस कारण उन दो स्वरूपोका आधार मिट्टीकी जो अपेक्षा ली जावे, तो एकता हो सकती है, उसी प्रकार उत्पाद, व्ययमे भी द्रव्यपनेसे दोनोका आधार ध्रौव्य द्रव्य आता है । इसलिये जीवके देवादि पर्यायके उत्पाद होनेपर और मनुष्यादि पर्यायके विनाश होने पर जो उत्पन्न होता है, वही विनाश पाता है, इन दोनो अवस्थाओका आधार ध्रौव्य जीवद्रव्य ही सिद्ध होता है । इस कारण जीव द्रव्य हमेशा द्रव्यपनेसे टंकोत्कीर्ण रहता है । इस तरह सब अवस्थाओमें एकता सिद्ध हुई । अब भेद दिखाते हैं—जैसे घड़ा अन्य है, और कूड़ा अन्य ही है, ऐसा कहनेपर

द्रव्यत्वेन जीवष्टङ्कोत्कीर्णोऽवतिष्ठते। अपि च यथाऽन्यो घटोऽन्यत्कुण्डमित्युक्ते तदुभयाधारभूताया मृत्तिकाया अन्यत्वासंभवात् घटकुण्डस्वरूपे संभवतः, तथान्यः संभवोऽन्यो विलय इत्युक्ते तदुभयाधारभूतस्य ध्रौव्यास्यान्यत्वासंभवात्संभवविलयस्वरूपे संभवतः। ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने चान्यः संभवोऽन्यो विलय इति कृत्वा संभवविलयवन्तौ देवादिमनुष्यादिपर्यायौ संभाव्येते। ततः प्रतिक्षण पर्यायैर्जीवोऽनवस्थितः॥ २७॥

अथ जीवस्यानवस्थितत्वहेतुमुद्द्योतयति—

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स॥ २८॥

तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति संसारे।
संसार पुन' क्रिया संसारतो द्रव्यस्य॥ २८॥

यतः खलु जीवो द्रव्यत्वेनावस्थितोऽपि पर्यायैरनवस्थितः, ततः प्रतीयते न कश्चिदपि संसारे स्वभावेनावस्थित इति। यच्चात्राऽनवस्थितत्वं तत्र संसार एव

भूतमृत्तिकाद्रव्यवत् मनुष्यपर्यायदेवपर्यायाधारभूतससारिजीवद्रव्यवद्वा। क्षणभङ्गसमुद्भवे हेतु कथ्यते। संभवविलय त्ति ते णाणा मभवविलयौ द्वाविति तौ नाना भिन्नौ यत कारणात्तत. पर्यायार्थिकनयेन भङ्गोत्पादौ। तथाहि—य एव पूर्वोक्तमोक्षपर्यायस्योत्पादो मोक्षमार्गपर्यायस्य विनाशस्तावेव भिन्नौ न च तदाधारभूतपरमात्मद्रव्यमिति। ततो ज्ञायते द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायरूपेण विनाशोऽस्तीति॥ २७॥ अथ विनश्वरत्वे कारणमुपन्यस्यति, अथवा प्रथमस्थलेऽधिकारसूत्रेण मनुष्यादिपर्यायाणा कर्मजनितत्वेन यद्विनश्वरत्व सूचित तदेव गाथात्रयेण विशेषेण व्याख्यातमिदानी तस्योपसंहारमाह—तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति तस्मान्नास्ति कश्चित्स्वभावसमवस्थित इति। यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेण मनुष्यादिपर्यायाणा विनश्वरत्वव्याख्यान कृत तस्मादेव ज्ञायते परमानन्दैकलक्षणपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतशुद्धात्मस्वभाववदवस्थितो नित्य कोऽपि

जो उन दोनोका आधार मृत्तिकाकी अपेक्षा लें, तो भेद हो नही सकता, इसलिये यहां घट-कुंड पर्यायोंके भेदसे ही भेद हो सकता है, उसी प्रकार अन्य ही उत्पन्न होता है, और दूसरा ही नाशको पाता है, ऐसा कहनेपर यदि इन दोनोका आधार द्रव्य लिया जाय, तो भेद बनता ही नही है, इस कारण उत्पाद और व्यय पर्यायके भेदसे ही भेद होता है। इसलिये देवादि पर्यायोके उत्पन्न होनेपर और मनुष्यादि पर्यायोंके विनाश होनसे अन्य ही उत्पन्न होता है, और दूसरा ही विनाश पाता है, ऐसा भेद देव मनुष्यादि पर्यायोसे कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ, कि समय समयमें पर्यायोंसे ही जीव अनवस्थित—अस्थिर है॥ २७॥ आगे जीवके अथिर भाव दिखलाते हैं— [तस्मात् तु] इस पूर्वोक्त रीतिसे [संसारे] संसारमे [कश्चित्] कोई भी वस्तु [स्वभावसमवस्थितः] स्वभावसे थिर है, [इति] ऐसा [नास्ति] नही है, [पुनः] और जो [संसरतो द्रव्यस्य] चारो गतियोंमें भटकनेवाले जीवद्रव्यकी [क्रिया] अन्य अन्य अवस्थारूप परिणति है, वही [संसारः]

हेतुः । तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वात् स्वरूपेणैव तथाविधत्वात् । अथ यस्तु परिणममानस्य द्रव्यस्य पूर्वोत्तरदशापरित्यागोपादानात्मकः क्रियाख्यः परिणामस्तत्संसारस्य स्वरूपम् ॥ २८ ॥

अथ परिणामात्मके संसारे कुतः पुद्गलश्लेषो येन तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वमित्यत्र समाधानमुपवर्णयति—

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥ २९ ॥

आत्मा कर्ममलीमस परिणामं लभते कर्मसयुक्तम् ।
तत शिलष्यति कर्म तस्मात् कर्म तु परिणाम ॥ २९ ॥

यो हि नाम संसारनामायमात्मनस्तथाविधः परिणामः स एव द्रव्यकर्मश्लेषहेतुः । अथ तथाविधपरिणामस्यापि को हेतुः, द्रव्यकर्म हेतुः तस्य, द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वेनेवोपलम्भात् । एवं सतीतरेतराश्रयदोषः । न हि । अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभि-

---

नास्ति । क्व । संसारे निस्संसारशुद्धात्मनो विपरीते संसारे । ससारस्वरूप कथयति—संसारो पुण किरिया ससार पुनः क्रिया निष्क्रियनिर्विकल्पशुद्धात्मपरिणतेर्विसदृशा मनुष्यादिविभावपर्यायपरिणतिरूपा क्रिया ससारस्वरूपम् । सा च कस्य भवति । संसरमाणस्स जीवस्स विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमुक्तात्मनो विलक्षणस्य ससरत परिभ्रमतः संसारिजीवस्येति । तत. स्थित मनुष्यादिपर्यायात्मक ससार एव विनश्वरत्वे कारणमिति ॥ २८ ॥ एव शुद्धात्मनो भिन्नाना कर्मजनितमनुष्यादिपर्यायाणा विनश्वरत्वकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन द्वितीयस्थल गतम् । अथ ससारस्य कारण ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तस्य तु कारण मिथ्यात्वरागादिपरिणाम इत्यावेदयति—आदा निर्दोषिपरमात्मा निश्चलेन शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशात् कम्ममलिमसो कर्ममली-

---

ससार है । **भावार्थ**—यह जीव द्रव्यपनेसे यद्यपि टकोत्कीर्ण थिररूप है, तो भी पर्यायोसे अथिर है, इसलिये संसारमे, मनुष्यादिरूप कोई भी पर्याय अविनाशी नहीं है, स्वभाव हीसे सब अथिररूप हैं, और चारो गतियोमें भ्रमण करते हुए जीवका पूर्व अवस्थाको त्यागके आगेकी अवस्थाका जो ग्रहण करना है, वही ससारका स्वरूप है ॥ २८ ॥ आगे कहते हैं, कि अशुद्ध परिणतिरूप ससारमे पुद्गलका सबध किस तरह हुआ ? जिससे कि मनुष्यादि पर्याय होते हैं—(**आत्मा**) यह जीव (**कर्ममलीमस.**) पुद्गलकर्मोसे अनादिकालसे मलिन हुआ (**कर्मसयुक्त**) मिथ्यात्व रागादिरूप कर्म सहित (**परिणाम**) अशुद्ध विभाव (विकार) रूप परिणामको (**लभते**) पाता है, (**तत.**) और उस रागादिरूप विभाव परिणामसे (**कर्म**) पुद्गलीक द्रव्यकर्म (**शिलष्यति**) जीवके प्रदेशोमे आकर बधको प्राप्त होता है । (**तु**) और (**तस्मात्**) इसी कारणसे (**परिणामः**) रागादि विभाव परिणाम (**कर्म**) पुद्गलीक-बधको कारणरूप भावकर्म है । **भावार्थ**—जो आत्माके रागादिरूप अशुद्ध परिणाम हैं, वे द्रव्य कर्मबधके कारण हैं, और रागादि विभावपरिणामका कारण द्रव्यकर्म है, क्योकि द्रव्यकर्मके उदय होनेसे भावकर्म होता है । यहांपर कोई यह प्रश्न करे, कि ऐसा होनेसे इतरेतराश्रय दोष

संबद्धस्यात्मनः प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात् । एवं कार्यकारणभूतनवपुराणद्रव्यकर्मत्वादात्मनस्तथाविधपरिणामो द्रव्यकर्मैव । तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात् ।। २९ ।।

अथ परमार्थादात्मनो द्रव्यकर्माकर्तृत्वमुद्द्योतयति—

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया ।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ।।३०।।

परिणाम स्वयमात्मा सा पुन क्रियेति भवति जीवमयी ।
क्रिया कर्मेति मता तस्मात्कर्मणो न तु कर्ता ।। ३० ।।

आत्मपरिणामो हि तावत्स्वयमात्मैव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात् । यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा जीवमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां

मसो भवति । तथा भवन्सन् किं करोति । **परिणाम लहदि** परिणाम लभते । कथंभूतम् । **कम्मसजुत्त** कर्मरहितपरमात्मनो विसदृशकर्मसयुक्त मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणाम **तत्तो सिलिसदि कम्म** तत परिणामात् शिलष्यति बध्नाति । किम् । कर्म । यदि पुनर्निर्मलविवेकज्योति परिणामेन परिणमति तदा तु कर्म मुञ्चति **तम्हा कम्मं तु परिणामो** तस्मात् कर्म तु परिणाम । यस्माद्रागादिपरिणामेन कर्म बध्नाति, तस्माद्रागादिविकल्परूपो भावकर्मस्थानीय सरागपरिणाम एव कर्मकारणत्वादुपचारेण कर्मेति भण्यते । तत स्थित रागादिपरिणाम कर्मबन्धकारणमिति ।। २९ ।। अथात्मा निश्चयेन स्वकीयपरिणामस्यैव कर्ता न च द्रव्यकर्मण इति प्रतिपादयति । अथवा द्वितीयपातनिका—शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धनयेन यथैवाकर्ता तथैवाशुद्धनयेनापि साख्येन तदुक्त तन्निषेधार्थमात्मनो बन्धमोक्षसिद्धयर्थं कथचित्परिणामित्व व्यवस्थापयतीति पातनिकाद्वय मनसि सप्रधार्य सूत्रमिद निरूपयति—**परिणामो सयमादा** परिणाम स्वयमात्मा आत्मपरिणाम-

---

आता है, क्योकि रागादि विभावपरिणामोसे द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्मसे विभावपरिणाम होते है ? इसका उत्तर इस प्रकार है, कि—यह आत्मा अनादिकालसे द्रव्यकर्मोकर बँधा हुआ है, इस कारण पूर्व बधे द्रव्यकर्म उस रागादि विभावपरिणामके कारण होते हैं, और विभावपरिणाम नवीन द्रव्यकर्मके कारण होते है, इसलिये एक दूसरेके आश्रयरूप इतरेतराश्रय दोष नही हो सकता । इस तरह नवीन प्राचीन कर्मका भेद होनेसे कार्य कारणभाव सिद्ध होता है । आत्मा नियमसे अपने विभावरूप रागादि भावकर्मोका कर्ता है, और व्यवहारसे द्रव्यकर्मोका भी कर्ता कहा जाता है ।। २९ ।। आगे निश्चयनयसे 'आत्मा द्रव्यकर्मका अकर्ता है' यह कहते है—(**परिणामः**) जो आत्माका परिणाम है, वह (**स्वय**) आप (**आत्मा**) जीव ही है, (**पुन**) और (**क्रिया**) वह परिणामरूप क्रिया (**जीवमयी**) जीवकर की जाती है, इससे जीवमयी (**इति**) ऐसी (**भवति**) होती है, अर्थात् कही जाती है । (**क्रिया**) जो क्रिया है, वही (**कर्म इति**) 'कर्म' ऐसी सँज्ञासे (**मता**) मानी गई है, (**तस्मात्**) इस कारण आत्मा (**कर्मण**) द्रव्यकर्मका (**न तु कर्ता**) करनेवाला नही है ।। **भावार्थ**—परिणामी अपने परिणामका कर्ता होता है, क्योकि परिणामी

परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात् । या च क्रिया सा पुनरात्मना स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म । ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामो हि तावत्स्वयं पुद्गल एव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात् । यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा पुद्गलमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात् । या च क्रिया सा पुनः पुद्गलेन स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म । ततस्तस्य परमार्थात् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता, न त्वात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः । तत आत्मात्मस्वरूपेण परिणमति न पुद्गलस्वरूपेण परिणमति ।। ३० ।।

अथ किं तत्स्वरूपं येनात्मा परिणमतीति तदावेदयति—

स्तावदात्मैव । कस्मात्परिणामपरिणामिनोस्तन्मयत्वात् । सा पुण किरिय त्ति होदि सा पुनः क्रियेति भवति स च परिणामः क्रिया परिणतिरिति भवति । कथंभूता । जीवमया जीवेन निर्वृत्तत्वाज्जीवमयी किरिया कम्म त्ति मदा जीवेन स्वतन्त्रेण स्वाधीनेन शुद्धाशुद्धोपादानकारणभूतेन प्राप्यत्वात्सा क्रिया कर्मेति मता समता । कर्मशब्देनात्र यदेव चिद्रूपं जीवादभिन्नं भावकर्मसंज्ञं निश्चयकर्म तदेव ग्राह्यम् । तस्यैव कर्ता जीवः तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता तस्माद् द्रव्यकर्मणो न कर्तेति । अत्रैतदायाति—यद्यपि कथंचित् परिणामित्वे सति जीवस्य कर्तृत्वं जातं तथापि निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता पुद्गलकर्मणां व्यवहारेणेति । तत्र तु यदा शुद्धोपादानकारणरूपेण शुद्धोपयोगेन परिणमति तदा मोक्षं साधयति, अशुद्धोपादानकारणेन तु बन्धमिति । पुद्गलोऽपि जीववन्निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता जीवपरिणामानां व्यवहारेणेति ।।३०।। एवं रागादिपरि-

---

और परिणामका आपसमें भेद नहीं है, इसलिये जो जीवका परिणाम है, वह जीव ही हुआ । और जो परिणाम है, वह आत्माकी क्रिया होनेसे जीवमयी क्रिया कही जाती है, क्योंकि जिस द्रव्यकी जो परिणामरूप क्रिया है, उससे द्रव्य तन्मय है, इस कारण जीव भी तन्मय होनेसे जीवमयी क्रिया कहलाई । जो क्रिया है, वह आत्माने स्वाधीन होकर की है, इसलिये उसी क्रियाको कर्म कहते हैं । इससे यह सारांश निकला कि आत्माके रागादि विभाव परिणाम आत्माकी क्रिया (कार्रवाई) है, उस क्रियासे जीव तन्मय हो जाता है, ये ही जीवके भावकर्म हैं । इसलिये निश्चयसे आत्मा अपने भावकर्मोंका कर्ता है । जब आत्मा अपने भावकर्मोंका कर्ता है, तब तो पुद्गल परिणामरूप द्रव्यकर्मका कर्ता कभी नहीं हो सकता है ? यदि कोई ऐसा प्रश्न करे, कि द्रव्यकर्मका कर्ता कौन है ? तो उसका उत्तर यह है, कि पुद्गलका जो परिणाम वह पुद्गल ही है, और परिणामी अपने परिणामोंका कर्ता है, परिणाम—परिणामी एक ही हैं । जो पुद्गलपरिणाम है, वही पुद्गलमयी क्रिया है, क्योंकि सब द्रव्योंकी परिणामरूप क्रियाको तन्मयपना सिद्ध है । जो क्रिया है, वह कर्म है । पुद्गलने भी स्वाधीन होकर की है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि पुद्गल अपने द्रव्यकर्मरूप परिणामोंका कर्ता है, परंतु जीवके भावकर्मरूप परिणामोंका कर्ता नहीं है । इस कारण पुद्गल आत्म-स्वरूप परिणमन नहीं करनेसे ही द्रव्यकर्मका कर्ता नहीं हो सकता ।।३०।। आगे जिस

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा ।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ।। ३१ ।।

परिणमति चेतनया आत्मा पुनः चेतना त्रिधाभिमता ।
सा पुनः ज्ञाने कर्मणि फले वा कर्मणो भणिता ।। ३१ ।।

यतो हि नाम चैतन्यमात्मनः स्वधर्मव्यापकत्वं, ततश्चेतनैवात्मनः स्वरूपं तया खल्वात्मा परिणमति । यः कश्चनाप्यात्मनः परिणामः स सर्वोऽपि चेतनां नातिवर्तत इति तात्पर्यम् । चेतना पुनर्ज्ञानकर्मकर्मफलत्वेन त्रेधा । तत्र ज्ञानपरिणतिर्ज्ञानचेतना, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतना ।। ३१ ।।

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपमुपवर्णयति—

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं ।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ।। ३२ ।।

ज्ञानमर्थविकल्पः कर्म जीवेन यत्समारब्धम् ।
तदनेकविधं भणितं फलमिति सौख्यं वा दुःखं वा ।। ३२ ।।

णामा कर्मबन्धकारणं तेषामेव कर्ता जीव इतिकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतम् । अथ येन परिणामेनात्मा परिणमति तं परिणामं कथयति—**परिणमदि चेदणाए आदा** परिणमति चेतनया करणभूतया । स कः । आत्मा । यः कोऽप्यात्मनः शुद्धाशुद्धपरिणामः स सर्वोऽपि चेतनां न त्यजति इत्यभिप्रायः । **पुण चेदणा तिधाभिमदा सा** सा चेतना पुनस्त्रिधाभिमता । कुत्र कुत्र । **णाणे** ज्ञानविषये **कम्मे** कर्मविषये **फलम्मि वा** फले वा । कस्य फले । **कम्मणो** कर्मणः । **भणिदा** भणिता कथितेति । ज्ञानपरिणतिः ज्ञानचेतना अग्रे वक्ष्यमाणा, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतनेति भावार्थः ।। ३१ ।। अथ ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण त्रिधा चेतना विशेषेण विचारयति—**णाणं अट्ठवियप्पं** ज्ञानं मत्यादिभेदेनाष्टविकल्पं भवति । अथवा पाठान्तरं **णाणं अट्ठवियप्पो** ज्ञानमर्थविकल्पः तथाह्यर्थः परमात्मादिपदार्थः अनन्तज्ञानसुखादिरूपोऽहमिति, रागा-

---

स्वरूप आत्मा परिणमन करता है, उसीको कहते हैं—(**आत्मा**) जीव (**चेतनया**) चेतना स्वभावसे (**परिणमति**) परिणमन करता है, (**पुनः**) और (**सा चेतना**) वह चैतन्यपरिणति (**अभिमता**) सर्वज्ञदेवकर मानी हुई (**ज्ञाने**) ज्ञानपरिणतिमें (**कर्मणि**) कर्मपरिणतिमें (**कर्मणः फले**) कर्मकी फल-परिणतिमें (**त्रिधा**) तीन तरहकी (**भणिता**) कही गई है। **भावार्थ**—जीवका स्वरूप चेतना है, इस कारण जीवके परिणाम भी चेतनाको छोडते नहीं, इसलिये जीव चेतनभावोंसे परिणमन करता है। वह चेतना ज्ञानचेतना १, कर्मचेतना २, कर्मफलचेतना ३, इस तरह तीन प्रकारकी जिनेन्द्रदेवने कही है ।।३१।। आगे इस तीन तरहकी चेतनाका स्वरूप कहते हैं—(**अर्थविकल्पः**) स्वपरका भेद लिये हुए जीवादिक पदार्थोंको भेद सहित तदाकार जानना, वह (**ज्ञानं**) ज्ञानभाव है, अर्थात् आत्माका ज्ञानभावरूप परिणमना, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं, और (**जीवेन**) आत्माने (**यत् समारब्धं**) अपने

अर्थविकल्पस्तावत् ज्ञानम् । तत्र कः खल्वर्थः, स्वपरविभागेनावस्थितं विश्वं, विकल्पस्तदाकारावभासनम् । यस्तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदवभासमानस्वपराकारार्थविकल्पस्तद् ज्ञानम् । क्रियमाणमात्मना कर्म, क्रियमाणः खल्वात्मना प्रतिक्षणं तेन तेन भावेन भवता यः सद्भावः स एव कर्मात्मना प्राप्यत्वात् । तत्त्वेकविधमपि द्रव्यकर्मोपाधिसंनिधिसद्भावासद्भावाभ्यामनेकविधम् । तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुखदुःख तत्कर्मफलम् । तत्र यद् द्रव्यकर्मोपाधिसानिध्यसद्भावात्कर्म तस्य फलमनाकुलत्वलक्षण प्रकृतिभूत सौख्यं, यत्तु द्रव्यकर्मोपाधिसानिध्यासद्भावात्कर्म तस्य फलं सौख्यलक्षणाभावाद्विकृतिभूतं दुःखम् । एव ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपनिश्चयः ॥३२॥

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यात्मत्वेन निश्चिनोति—

द्याश्रवास्तु मत्तो भिन्ना इति स्वपराकारावभासेनादर्श इवार्थपरिच्छित्तिसमर्थो विकल्प विकल्पलक्षणमुच्यते । स एव ज्ञान ज्ञानचेतनेति । **कम्मं जीवेण जं समारद्धं** कर्म जीवेन यत्समारब्ध बुद्धिपूर्वकमनोवचनकायव्यापाररूपेण जीवेन यत्सम्यक्कर्तुमारब्ध तत्कर्म भण्यते । सैव कर्मचेतनेति **तमणेगविध भणिद** तच्च कर्म शुभाशुभशुद्धोपयोगभेदेनानेकविध त्रिविध भणितमिदानी फलचेतना कथ्यते—**फल ति सोक्ख व दुक्ख वा** फलमिति सुख दु ख वा विषयानुरागरूप यदशुभोपयोगलक्षण कर्म तस्य फलमाकुलत्वोत्पादक नारकादिदु ख, यच्च धर्मानुरागरूप शुभोपयोगलक्षण कर्म तस्य फल चक्रवर्त्यादिपञ्चेन्द्रियभोगानुभवरूपं, तच्चाशुद्धनिश्चयेन सुखमप्याकुलोत्पादकत्वात् शुद्धनिश्चयेन दु खमेव । यच्च रागादिविकल्परहितशुद्धोपयोगपरिणतिरूप कर्म तस्य फलमनाकुलत्वोत्पादक परमानन्दैकरूपसुखामृतमिति । एव ज्ञानकर्मकर्मफलचेतनास्वरूप ज्ञातव्यम् ॥ ३२ ॥ अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यभेदनयेनात्मैव भवतीति प्रज्ञापयति—**अप्पा परिणामप्पा** आत्मा भवति ।

कर्तव्यसे समय समयमें जो भाव किये हैं, **(तत्कर्म)** यह भावरूप कर्म है, **(अनेकविध)** वह शुभादिकके भेदसे अनेक प्रकार है, उसीको कर्मचेतना कहते हैं। **(वा)** और **(सौख्य)** सुखरूप **(वा)** अथवा **(दु ख)** दु खरूप **(फल)** उस कर्मका फल है **(इति भणित)** ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। **भावार्थ**—जैसे दर्पण तदाकाररूप हुआ भेद सहित घटपटादि पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करता है, उसी प्रकार ज्ञान एक ही कालमे स्वपर पदार्थोंको प्रगट करता है । इस तरह ज्ञानभावरूप आत्माके परिणमनको ज्ञानचेतना कहते हैं। जो समय समयमे पुद्गलकर्मके निमित्तसे जैसे जैसे परिणाम करता है, उन परिणामोंको भावकर्म अथवा कर्मचेतना कहते हैं। वह कर्म पुद्गलके निमित्तसे ही शुभ अशुभरूप अनेक भेदोवाला हो जाता है, और शुभ द्रव्यकर्मके संबधसे जो आत्माके साताका उदय होना, वह अनाकुलरूप इद्रियाधीन सुखरूप कर्मफल है, तथा जो अशुभ द्रव्यकर्मके सबधसे असाताका उदय होना, वह सुखभावसे रहित विकाररूप दु.खनामा कर्मफल है। इस प्रकार कर्मफलके वेदनेरूप जो आत्माका परिणमन वह कर्मफल चेतना है। ऐसे ज्ञानचेतना १ कर्मचेतना २ कर्मफलचेतना ३ ये तीन भेद चेतनाके कहे गये हैं ॥ ३२ ॥ आगे ज्ञान-कर्म-कर्मफल ये अभेद नयसे आत्मा ही है, ऐसा दिखलाते हैं—**(आत्मा)** जीव **(परिणामात्मा)** परिणाम

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी ।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ।। ३३ ।।

आत्मा परिणामात्मा परिणामो ज्ञानकर्मफलभावी ।
तस्मात् ज्ञान कर्म फलं चात्मा मन्तव्य· ।। ३३ ।।

आत्मा हि तावत्परिणामात्मैवं, परिणामः स्वयमात्मेति स्वयमुक्तत्वात् । परिणामस्तु चेतनात्मकत्वेन ज्ञानं कर्म कर्मफलं वा भवितु शीलः, तन्मयत्वाच्चेतनायाः । ततो ज्ञानं कर्म कर्मफलं चात्मैव । एवं हि शुद्धद्रव्यनिरूपणायां परद्रव्यसंपर्कासभवात्पर्यायाणां द्रव्यान्तःप्रलयाच्च शुद्धद्रव्य एवात्मावतिष्ठते ।। ३३ ।।

अथैवमात्मनो ज्ञेयतामापन्नस्याशुद्धत्वनिश्चयात् ज्ञानतत्त्वासिद्धौ शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भो भवतीति तमभिनन्दन् द्रव्यसामान्यवर्णनामुपसंहरति—

कथभूत । परिणामात्मा परिणामस्वभाव· । कस्मादिति चेत् 'परिणामो सयमादा' इनि पूर्वं स्वयमेव भणितत्वात् । परिणाम. कथ्यते **परिणामो णाणकम्मफलभावी** परिणामो भवति । किंविशिष्टः । ज्ञानकर्मफलभावी ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण भवितु शील इत्यर्थ । **तम्हा** तस्मादेव तस्मात्कारणात् । **णाणं** पूर्वसूत्रोक्ता ज्ञानचेतना । **कम्म** तत्रैवोक्तलक्षणा कर्मचेतना । **फलं च** पूर्वोक्तलक्षणफलचेतना च । **अदा मुणेदव्वो** इय चेतना त्रिविधाप्यभेदनयेनात्मैव मन्तव्यो ज्ञातव्य इति । एतावता किमुक्त भवति । त्रिविधचेतनापरिणामेन परिणामी सन्नात्मा किं करोति । निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धपरिणामेन मोक्ष साधयति, शुभाशुभाभ्या पुनर्बन्धमपि ।। ३३ ।। एव त्रिविधचेतनाकथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थलम् । अथ सामान्यज्ञेयाधिकारसमाप्तौ पूर्वोक्तभेदभावनाया.

स्वभाववाला है, [**परिणामः**] और परिणाम [**ज्ञानकर्मफलभावी**] ज्ञानरूप-कर्मरूप-कर्मफलरूप होनेको समर्थ है । [**तस्मात्**] इस कारण [**ज्ञान**] ज्ञान [**कर्म**] कर्मपरिणाम [**च**] और [**फल**] कर्मफल परिणाम ये ही [**आत्मा**] जीवस्वरूप [**मन्तव्यः**] जानने चाहिये । **भावार्थ**—आत्मा परिणाम स्वभाववाला सदाकालसे है। वह परिणाम ज्ञानपरिणाम-कर्मपरिणाम-कर्मफलपरिणाम, इस तरह तीन भेद सहित है । परिणाम और परिणामोमे एकता होनेसे परिणामसे जुदा आत्मा नही है. इसलिये अभेदनयकी अपेक्षासे तीन परिणामोरूप आत्मा ही है । अशुद्ध द्रव्यके कथनकी अपेक्षा तो कर्मपरिणाम और कर्मफलपरिणामसे एकता है, फल तथा जब शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा ली जावे, तब आत्माके परद्रव्यका सबध होना, असंभव है. इस कारण वहाँ अशुद्ध परिणामोका होना कह नही सकते । इसी लिये शुद्ध द्रव्यके कथनमे शुद्ध पर्याय भी द्रव्यके ही अदर लीन हो जाते हैं, भेदभाव नही रहता, और उस अवस्थामे शुद्ध द्रव्य एक ज्ञायकमात्र हुआ स्थित रहता है ।। ३३ ।। आगे इस जीवके शुद्ध स्वभावका निश्चय होनेसे ज्ञानभावकी सिद्धि होती है, तब स्वज्ञेयरूप आत्माके शुद्धस्वरूपका लाभ होता है, ऐसा कहते हुए द्रव्यके सामान्य कथनको

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ३४ ॥

कर्ता करण कर्म कर्मफलं चात्मेति निश्चित श्रमण ।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मानं लभते शुद्धम् ॥ ३४ ॥

यो हि नामैव कर्तारं करणं कर्म कर्मफलं चात्मानमेव निश्चित्य न खलु परद्रव्यं परिणमति स एव विश्रान्तपरद्रव्यसंपर्कं द्रव्यान्तःप्रलीनपर्यायं च शुद्धमात्मानमुपलभते, न पुनरन्यः। तथाहि—यदा नामानादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधिप्रधावितोपरागरञ्जितात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिप्रधावितोपरागरञ्जितात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव परारोपितविकारोऽहमासं ससारी तदपि न नाम मम कोऽप्यासीत् तदाप्यहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्ता, स अहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन साधकतमः करणमासम्। अहमेक एवोपरक्तचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मासम्। अहमेक एव चोपरक्तचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यं सौख्यं विपर्यस्तलक्षण दुःखाख्य कर्मफलमासम्। इदानीं पुनरनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिध्वंसविस्फुरितसुविशु-

---

शुद्धात्मप्राप्तिरूप फल दर्शयति—**कत्ता** स्वतन्त्र स्वाधीन कर्ता साधको निष्पादकोऽस्मि भवामि। स क। **अप्प त्ति** आत्मेति। आत्मेति कोऽर्थ। अहमिति। कथभूत। एक। कस्या साधकः। निर्मलात्मानुभूते। किंविशिष्ट। निर्विकारपरमचैतन्यपरिणामेन परिणत सन् **करणं** अतिशयेन साधक साधकतम करणमुपकरण करणकारकमहमेक एवास्मि भवामि। कस्या साधक। सहजशुद्धपरमात्मानुभूते। केन कृत्वा। रागादिविकल्परहितस्वसवेदनज्ञानपरिणतिबलेन **कम्म** शुद्धबुद्धैक-

---

पूर्ण करते हैं—[**कर्ता**] कामका करनेवाला [**करणं**] जिससे किया जाय, ऐसा मुख्य कारण [**कर्म**] जो किया जाय वह कर्म [**च**] और [**फल**] कर्मका फल ये चारो [**आत्मा इति**] आत्मा ही हैं, ऐसा [**निश्चित**] निश्चय करनेवाला [**श्रमण**] भेदविज्ञानी मुनि [**यदि**] जो [**अन्यत्**] परद्रव्यरूप [**नैव**] नही [**परिणमति**] परिणमन करता है, [**तदा**] तभी [**शुद्ध आत्मान**] शुद्ध अर्थात् कर्मोपाधिरहित शुद्ध चिदानदरूप आत्माको [**लभते**] पाता है। **भावार्थ**—जब यह जीव परद्रव्यके सबधसे आत्माको जुदा जुदा जानकर शुद्ध कर्ता, शुद्ध करण, शुद्ध कम, शुद्ध फल, इन चारो भेदोंसे आत्माको अभेदरूप समझता है, इनसे एकताका निश्चयकर किसी कालमे भी परद्रव्यसे एकपना मानके परिणमन नही करता, वही जीव अभेदरूप ज्ञायकमात्र अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है। इसी कथनको विशेषतासे दिखाते हैं—जैसे लाल पुष्पके सयोगसे स्फटिकमणिमे राग-विकार उत्पन्न हो जाता है, उसी तरह अनादि कालसे पुद्गलकर्मके बधनरूप उपाधिके सबधसे जिसके रागवृत्ति उत्पन्न हुई है, ऐसा मैं परकृत विकारसहित पूर्व ही अज्ञान दशामे ससारी था, उस समयमे भी मेरा अन्य द्रव्य कोई भी नही सबधी था, ऐसी अवस्थामे भी अकेला ही मैं अपनी भूलसे सराग चैतन्यभाव कर कर्ता हुआ। मै ही एक सराग चैतन्यभावकर अज्ञान भावका मुख्य कारण हुआ, इससे करण भी मैं ही

द्धसहजात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव विश्रान्तपरारोपितविकारोऽहमेकान्तेनास्मि मुमुक्षुः, इदानीमपि न नाम मम कोऽप्यस्ति, इदानीमप्यहमेक इव सुविशुद्धचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्स्वभावेन साधकतमः करणमस्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावेनात्मनाप्राप्यः कर्मास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यमनाकुलत्वलक्षणं सौख्याख्यं कर्मफलमस्मि। एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः परमाणोरिवैकत्वप्रभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते। परमाणुरिव भावितैकत्वश्च परेण नो संपृच्यते। ततः परद्रव्यासंपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति। कर्तृकरणकर्मकर्मफलानि चात्मत्वेन भावयन् पर्यायैर्न संकीर्यते, ततः पर्यायासंकीर्णत्वाच्च सुविशुद्धो भवतीति ॥ ३४ ॥

द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मा
सामान्यमज्जितसमस्तविशेषजात ।
इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मी-
लुण्टाक उत्कटविवेकविविक्ततत्त्वः ॥

स्वभावेन परमात्मना प्राप्यं व्याप्यमहमेक एव कर्मकारकमस्मि। फल च शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मन. साध्य निष्पाद्य निजशुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादपरिणतिरूपमहमेक एव फल चास्मि **णिच्छिदो** एवमुक्तप्रकारेण निश्चितमति सन् **समणो** सुखदु खजीवितमरणशत्रुमित्रादिसमताभावनापरिणत श्रमण' परममुनि. **परिणमदि णेव अण्ण** जदि परिणमति नैवान्यं रागादिपरिणाम यदि चेत् **अप्पाणं लहदि सुद्ध** तदा-

---

कहलाया। मैं ही एक सराग चैतन्यपरिणति स्वभावसे अपने अशुद्ध भावको प्राप्त हुआ, इसलिये कर्म मैं ही हुआ। तथा मैं ही एक सराग चैतन्यभावसे उत्पन्न और आतमीक-सुखसे उलटा ऐसा दु खरूप कर्मफल हुआ, इस कारण अज्ञान दशामे भी मैं इन चारो भेदोंसे अभेदरूप परिणत हुआ, और अब ज्ञान दशामे जैसे रक्त पुष्पके सयोगके छूट जानेसे स्फटिकमणि निर्मल स्वाभाविक शुद्ध हो जाता है, वैसे मैं भी सर्वथा प्रकृतियोके विकारसे रहित हुआ, निर्मल मोक्षमार्गमे प्रवर्तता हूँ, तो अब भी मेरा कोई नही, अब मै ही एक निर्मल चैतन्यभावसे स्वाधीन कर्त्ता हूँ, मैं ही एक निर्मल चैतन्य भावकर शुद्ध स्वभावका अतिशयसे साधनेवाला करण हूँ, मैं ही एक निर्मल चैतन्य परिणमन स्वभावसे शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता हूँ, इसलिये कर्म हूँ, और मैं ही एक निर्मल चैतन्यस्वभावकर उत्पन्न आकुलता रहित आत्मीक-सुखरूप कर्मफल हूँ, इसलिये ज्ञानदशामे भी मैं ही अकेला हुआ, इन चारो भेदोसे अभेदरूप परिणमन करता हूँ, दूसरा कोई भी नही। इस प्रकार इस जीवके बंधपद्धति और मोक्ष-पद्धतिके होनेपर भी एक आत्म-स्वरूपकी भावना (चिंतवन) से परद्रव्यरूप परिणति किसी समय भी नही हो सकती। जैसे एक भावरूप परिणत हुए परमाणुका अन्य परमाणुके साथ संयोग नही होता, उसी तरह आत्माका भी परद्रव्यके साथ संबंध नही होता है, इसलिये अशुद्ध पर्यायोंसे भी संबंध नही होता। इस तरह

इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः ।
संचिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ॥

द्रव्यसामान्यविज्ञाननिम्नं कृत्वेति मानसम् । तद्विशेषपरिज्ञानप्राग्भारः क्रियते-ऽधुना ॥ इति द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनम् ।

अथ द्रव्यविशेषप्रज्ञापनं तत्र द्रव्यस्य जीवाजीवत्वविशेषं निश्चिनोति—

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवजोगमओ ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं ॥ ३५ ॥

द्रव्यं जीवोऽजीवो जीवः पुनश्चेतनोपयोगमयः ।
पुद्गलद्रव्यप्रमुखोऽचेतनो भवति चाजीवः ॥ ३५ ॥

इह हि द्रव्यमेकत्वनिबन्धनभूतं द्रव्यत्वसामान्यमनुज्झदेव तदधिरूढविशेषलक्षण-

---

त्मानं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितत्वेन शुद्धं शुद्धबुद्धैकस्वभावं लभते प्राप्नोति इत्यभिप्रायो भगवतां श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-देवानाम् ॥ ३४ ॥ एवमेकसूत्रेण पञ्चमस्थलं गतम् । इति सामान्यज्ञेयाधिकार-मध्ये स्थलपञ्चकेन भेदभावना गता । इत्युक्तप्रकारेण 'तम्हा तस्स णमाइं' इत्यादि पञ्चत्रिंशत्सूत्रैः सामान्यज्ञेयाधिकारव्याख्यानं समाप्तम् । इतः ऊर्ध्वमेकोनविंशतिगाथाभिर्जीवाजीवद्रव्यादिविवरण-रूपेण विशेषज्ञेयव्याख्यानं करोति । तत्राष्टस्थानानि भवन्ति । तेष्वादौ जीवाजीवत्वकथनेन प्रथम-गाथा, लोकालोकत्वकथनेन द्वितीया, सक्रियनिःक्रियत्वव्याख्यानेन तृतीया चेति । 'दव्वं जीवमजीवं' इत्यादिगाथात्रयेण प्रथमस्थलम्, तदनन्तरं ज्ञानादिविशेषगुणानां स्वरूपकथनेन 'लिंगेहिं जेहिं' इत्यादिगाथाद्वयेन द्वितीयस्थलम् । अथानन्तरं स्वकीयस्वकीयगुणोपलक्षितद्रव्याणां निर्णयार्थं 'वण्ण-रस' इत्यादिगाथात्रयेण तृतीयस्थलम् । अथ पञ्चास्तिकायकथनमुख्यत्वेन 'जीवा पोग्गलकाया' इत्यादिगाथाद्वयेन चतुर्थस्थलम् । अतः परं द्रव्याणां लोकाकाशमाधार इति कथनेन प्रथमा, यदेवा-काशद्रव्यस्य प्रदेशलक्षणं तदेव शेषाणामिति कथनरूपेण द्वितीया चेति, 'लोगालोगेसु' इत्यादिसूत्र-द्वयेन पञ्चमस्थलम् । तदनन्तरं कालद्रव्यस्याप्रदेशत्वस्थापनरूपेण प्रथमा, समयरूपः पर्यायकालः

ज्ञानी निर्मल होता है । इसी कारण अन्य द्रव्योंसे भिन्न स्वरूप कर्ता, करण, कर्म, फल आदि सब भेदोंसे रहित अभेदरूप शुद्ध नयकर मोहका विनाशक ऐसा प्रकाशरूप ज्ञानतत्त्व इस जीवके शोभा पाता है । **साराश**—जब इस जीवके पर वस्तुमे परिणति मिट जाती है, और कर्ता कर्म भेदरूप भ्रम (अज्ञान) का नाश होता है, तभी शुद्ध स्वरूपको पाकर ज्ञानमात्र निर्मल आत्मीक-प्रकाशमे साहजिक महिमा सहित सदा मुक्त हुआ ही तिष्ठता है ॥ ३४ ॥ इस प्रकार **द्रव्यका सामान्यवर्णन** पूर्ण हुआ ।

आगे द्रव्य विशेषका कहना आरभ करते हुए पहले द्रव्यके 'जीव और अजीव' ऐसे दो भेद दिख-लाते हैं—[द्रव्यं] सत्तारूप वस्तु [जीवः अजीवः] जीव अजीव इस तरह दो भेदरूप है, [पुनः] और

सद्भावादन्योन्यव्यवच्छेदेन जीवाजीवत्वविशेषमुपढौकते । तत्र जीवस्यात्मद्रव्यमेवैका व्यक्तिः । अजीवस्य पुनः पुद्गलद्रव्यं धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं कालद्रव्यमाकाशद्रव्यं चेति पञ्च व्यक्तयः । विशेषलक्षणं जीवस्य चेतनोपयोगमयत्वं, अजीवस्य पुनरचेतनत्वम् । तत्र यत्र स्वधर्मव्यापकत्वात्स्वरूपत्वेन द्योतमानयानपायिन्या भगवत्या संवित्तिरूपया चेतनया तत्परिणामलक्षणेन द्रव्यवृत्तिरूपेणोपयोगेन च निर्वृत्तत्वमवतीर्णं प्रतिभाति स जीवः । यत्र पुनरुपयोगसहचरिताया यथोदितलक्षणायाश्चेतनाया अभावाद्बहिरन्तश्चाचेतनत्वमवतीर्णं प्रतिभाति सोऽजीवः ।। ३५ ।।

अथ लोकालोकत्वविशेषं निश्चिनोति—

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ।। ३६ ।।

पुद्गलजीवनिबद्धो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य' ।
वर्तते आकाशे यो लोक स सर्वकाले तु ।। ३६ ।।

कालाणुरूपो द्रव्यकाल इति कथनरूपेण द्वितीया चेति 'समओ दु अप्पदेसो' इत्यादिगाथाद्वयेन षष्ठस्थलम् । अथ प्रदेशलक्षणकथनेन प्रथमा, तदनन्तर तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयस्वरूपकथनेन द्वितीया चेति, 'आयासमणुणिविट्ठ' इत्यादिसूत्रद्वयेन सप्तमस्थलम् । तदनन्तर कालाणुरूपद्रव्यकालस्थापनरूपेण 'उप्पादो पद्धसो' इत्यादिगाथात्रयेणाष्टमस्थलमिति विशेषज्ञेयाधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा— अथ जीवाजीवलक्षणमावेदयति—**दव्व जीवमजीवं** द्रव्य जीवाजीवलक्षण भवति । **जीवो पुण चेदणो** जीव' पुनश्चेतन स्वत सिद्धया बहिरङ्गकारणनिरपेक्षया बहिरन्तश्च प्रकाशमानया नित्यरूपया निश्चयेन परमशुद्धचेतनया व्यवहारेण पुनरशुद्धचेतनया च युक्तत्वाच्चेतनो भवति । पुनरपि किंविशिष्ट' । **उवजोगमओ** उपयोगमय' अखण्डैकप्रतिभासमयेन सर्वविशुद्धेन केवलज्ञानदर्शनलक्षणेनार्थग्रहणव्यापाररूपेण निश्चयनयेनेत्थभूतशुद्धोपयोगेन, व्यवहारेण पुनर्मतिज्ञानाद्यशुद्धोपयोगेन च निर्वृत्तत्वान्निष्पन्नत्वादुपयोगमय. **पोग्गलदव्वप्पमुह अचेदणं हवदि अज्जीव** पुद्गलद्रव्यप्रमुखमचेतन भवत्यजीवद्रव्य पुद्गलधर्माधर्माकाशकालसज्ञं द्रव्यपञ्चक पूर्वोक्तलक्षणचेतनाया उपयोगस्य चाभावादजीवमचेतनं भवतीत्यर्थ ।। ३५ ।। अथ लोकालोकरूपेणाकाशपदार्थस्य द्वैविध्यमाख्याति—**पोग्गलजीवणिबद्धो** अणुस्कन्धभेदभिन्ना पुद्गलास्तावत्तथैव मूर्तातीन्द्रियज्ञानमयत्व-

---

इन दोनोमेसे [जीव] जीवद्रव्य [**चेतनोपयोगमय'**] चेतना और ज्ञानदर्शनोपयोगमयी है, [**पुद्गलद्रव्यप्रमुख**] तथा पुद्गल द्रव्यको आदि लेकर पांच द्रव्य [**अचेतनः**] चेतना रहित अर्थात् जड़स्वरूप [**अजीवः**] अजीव द्रव्य होता है । **भावार्थ**—द्रव्यके दो भेद हैं, एक जीव, दूसरा अजीव । इन दोनोमे जीवद्रव्य एक प्रकारका ही है । अजीवके पुद्गल १, धर्म २, अधर्म ३, आकाश ४, काल ५, इस तरह पांच भेद हैं । जीवका लक्षण चेतना और उपयोग है । जो स्वरूपसे सदाकाल प्रकाशमान् है, अविनाशी है, पूज्य है, जीवका सर्व धन है, जाननामात्र है, उसे चेतना कहते हैं । उसी चेतनाका परिणाम पदार्थके जानने देखनेरूप व्यवहारसे प्रवृत्त होता है, वह ज्ञानदर्शनरूप उपयोग है ।।३५।। आगे लोक और अलोक इस तरह दो भेद दिखलाते हैं—[**य'**] जो क्षेत्र [**आकाशे**] अनंत आकाशमे

अस्ति हि द्रव्य लोकालोकत्वेन विशेषविशिष्टं स्वलक्षणसद्भावात् । स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्व, अलोकस्य पुनः केवलाकाशात्मकत्वम् । तत्र सर्वद्रव्यव्यापिनि परममहत्याकाशे यत्र यावति जीवपुद्गलौ गतिस्थितिधर्माणौ गति-स्थिती आस्कन्दतस्तद्गतिस्थितिनिबन्धनभूतौ च धर्मोऽधर्मावभिव्याप्यावस्थितौ, सर्व-द्रव्यवर्तनानिमित्तभूतश्च कालो नित्यदुर्ललितस्तत्तावदाकाशं शेषाण्यशेषाणि द्रव्याणि चेत्यमीषा समवाय आत्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य स लोकः । तत्र यावति पुनराकाशे जीवपुद्गलयोर्गतिस्थिती न सभवतो धर्माधर्मौ नावस्थितौ न कालो दुर्ललितस्ताव-त्केवलमाकाशमात्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य सोऽलोकः ॥ ३६ ॥

अथ क्रियाभावतद्भावविशेष निश्चिनोति—

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स ।
परिणामदो जायंते संघादादो व भेदादो ॥ ३७ ॥

उत्पादस्थितिभङ्गा पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य ।
परिणामाज्जायन्ते सघाताद्वा भेदात् ॥ ३७ ॥

क्रियाभाववत्वेन केवलभाववत्त्वेन च द्रव्यस्यास्ति विशेषः । तत्र भाववन्तौ

निर्विकारपरमानन्दैकसुखमयत्वादिलक्षणा जीवाश्चेत्यभूतजीवपुद्गलैर्निबद्ध सबद्धो भृत पुद्गल-जीवनिबद्ध धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो धर्माधर्मास्तिकायौ च कालश्च धर्माधर्मास्तिकायकाला-स्तैराढ्यो भृतो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य जो य एतेषा पञ्चानामित्थभूतसमुदायो राशि समूह वट्टदि वर्तते । कस्मिन् । आगासे अनन्तानन्ताकाशद्रव्यस्य मध्यवर्तिनि लोकाकाशे सो लोगो स पूर्वोक्तपञ्चाना समुदायस्तदाधारभूत लोकाकाश चेति षड्द्रव्यसमूहो लोको भवति । क्व सव्वकाले दु सवकाले तु तद्बहिर्भूतमनन्तानन्ताकाशमलोक इत्यभिप्राय. ॥ ३६ ॥ अथ द्रव्याणा सक्रियनि.-क्रियत्वन भेद दर्शयतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु जीवपुद्गलयोरर्थव्यञ्जनपर्यायौ द्वौ, शेषद्रव्याणा तु मुख्यवृत्त्यार्थपर्याय इति व्यवस्थापयति—जायते जायन्ते । के कर्तार । उप्पादट्ठिदिभगा उत्पाद-

---

[पुद्गलजीवनिबद्ध] पुद्गल और जीवकर सयुक्त है, और [धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य] धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और काल इनसे भरा हुआ है, [स तु] वही क्षेत्र [सर्वकाले] अतीत, अनागत, वर्तमान, तीनो कालोमे [लोकः] 'लोक' ऐसे नामसे कहा जाता है । भावार्थ–आकाशद्रव्यके लोक और अलोक ऐसे दो भेद हैं । अनंत सर्वव्यापी उस आकाशमे जितना आकाश पुद्गल, जीव, धर्म, अधर्म, कालद्रव्य, इनसे घिरा हुआ है, उसे लोकाकाश कहते हैं, और केवल आकाश ही है, अन्य ५ द्रव्य नही रहते, वह अलोकाकाश कहा जाता है ॥ ३६ ॥ आगे छह द्रव्योमेसे क्रियावाले कितने द्रव्य हैं, और भाववाले कितने हैं, ऐसा भेद दिखलाते हैं—[पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य] पुद्गल और जीव इन दोनोकी गति स्थिति परिणतिरूप लोकके [उत्पादस्थितिभङ्गाः] उत्पत्ति, ध्रुवपना, विनाश [परिणामा] ऐसे तीन परिणाम [सघातात्] मिलनेसे [वा] अथवा [भेदात्] बिछुडनेसे

क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ परिणामाद्भेदसंघाताभ्यां चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात्। शेषद्रव्याणि तु भाववन्त्येव परिणामादेवोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वादिति निश्चयः। तत्र परिणाममात्रलक्षणो भावः, परिस्पन्दनलक्षणा क्रिया। तत्र सर्वाण्यपि द्रव्याणि परिणामस्वभावत्वात् परिणामेनोपात्तान्वयव्यतिरेकाण्यवतिष्ठमानोत्पद्यमानभज्यमानानि भाववन्ति भवन्ति। पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन भिन्नाः संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति। तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति ॥ ३७ ॥

स्थितिभङ्गा। कस्य संबन्धिन। लोगस्स लोकस्य। किंविशिष्टस्य। पोग्गलजीवप्पगस्स पुद्गलजीवात्मकस्य पुद्गलजीवावित्युपलक्षणं षड्द्रव्यात्मकस्य। कस्मात्सकाशात् जायन्ते। परिणामादो परिणामात् एकसमयवर्तिनोऽर्थपर्यायात् संघादादो व भेदादो न केवलमर्थपर्यायात्सकाशाज्जायन्ते जीवपुद्गलानामुत्पादादय सघाताद्वा भेदाद्वा व्यञ्जनपर्यायादित्यर्थ। तथाहि—धर्माधर्माकाशकालाना मुख्यवृत्त्यैकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया एव जीवपुद्गलानामर्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायाश्च। कथमिति चेत्। प्रतिसमयपरिणतिरूपा अर्थपर्याया भण्यन्ते। यदा जीवोऽनेन शरीरेण सह भेदवियोग त्यागं कृत्वा भवान्तरशरीरेण सह सघात मेलापकं करोति तदा विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति, तस्मादेव भवान्तमसक्रमणात्सक्रियत्व भण्यते पुद्गलानाम्। तथैव विवक्षितस्कन्धविघटनात्सक्रियत्वेन स्कन्धान्तरसयोगे सति विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति। मुक्तजीवाना तु निश्चयरत्नत्रयलक्षणेन परमकारणसमयसारसज्ञेन निश्चयमोक्षमार्गवलेनायोगिचरमसमये नखकेशान्विहाय परमौदारिकशरीरस्य विलीयमानरूपेण विनाशे सति केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिलक्षणेन परमकार्यसमयसाररूपेण स्वभावव्यञ्जनपर्यायेण कृत्वा योऽसावुत्पाद स भेदादेव भवति न सघातात्। कस्मादिति चेत्। शरीरान्तरेण सह सवन्धाभावादिति भावार्थ ॥ ३७ ॥ एवं जीवाजीवत्वलोकालोकत्वसक्रियनिःक्रियत्वकथनक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रय गतम्। अथ ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदमावेदयति—

[जायन्ते] होते हैं। भावार्थ—क्रिया और भाव इन दोनोसे द्रव्यमे भेद हो जाता है। उन द्रव्योमेसे पुद्गल और जीव क्रियावन्त है, और भाववन्त भी है, इससे अन्य द्रव्य केवल भाववाले ही हैं। क्रियाका चिह्न हलना चलना है, और भावका लक्षण परिणमनमात्र है। परिणमनरूप भावसे सब द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रुवता सहित है, इस कारण हर एक समयमे पर्यायसे पर्यायातर अर्थात् एक पर्यायसे दूसरे पर्यायरूप द्रव्य होते हैं, और क्रिया केवल जीव—पुद्गल ही मे होती है। पुद्गलका हलन चलन स्वभाव है, इस कारण स्कधसे मिलते भी हैं, और विछुडते भी है। इसलिये मिलने और विछुडनेकी अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रुवपने सहित हैं, क्रियावाले हैं। इसी तरह जीव भी कर्मके सयोगसे हलन चलनरूप होता हुआ नवीन कर्म नोकर्मरूप पुद्गलसे मिलता है, और पुराने कर्म नोकर्म पुद्गलोसे विछुड जाता है, इस कारण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित हुआ क्रियावाला है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य तो क्रियावान् भी हैं, और भाववाले भी हैं। तथा धर्मादिक चार द्रव्य केवल भाववन्त (परिणामवाले) ही

अथ द्रव्यविशेषो गुणविशेषादिति प्रज्ञापयति—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं ।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥ ३८ ॥

लिङ्गैर्यैर्द्रव्य जीवोऽजीवश्च भवति विज्ञातम् ।
तेऽतद्भावविशिष्टा मूर्तामूर्ता गुणा ज्ञेया ॥ ३८ ॥

द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानैर्लिङ्ग्यते गम्यते द्रव्यमेतैरिति लिङ्गानि गुणाः । ते च यद्द्रव्यं भवति न तद्गुणा भवन्ति, ये गुणा भवन्ति ते न द्रव्य भवतीति द्रव्यादतद्भावेन विशिष्टाः सन्तो लिङ्गलिङ्गिप्रसिद्धौ तल्लिङ्गत्वमुपढौकन्ते । अथ ते द्रव्यस्य जीवोऽयमजीवोऽयमित्यादिविशेषमुत्पादयन्ति, स्वयमपि तद्भावविशिष्टत्वेनोपात्तविशेषत्वात् । यतो हि यस्य यस्य द्रव्यस्य यो यः स्वभावस्तस्य तस्य तेन तेन विशिष्टत्वात्तेषामस्ति विशेषः । अत एव च मूर्तानाममूर्तानां च द्रव्याणां मूर्तत्वेनामूर्तत्वेन च तद्भावेन विशिष्टत्वादिमे मूर्ता गुणा इमे अमूर्ता

लिंगेहि जेहि लिङ्गैर्यैः सहजशुद्धपरमचैतन्यविलासरूपैस्तथैवाचेतनैर्जडरूपैर्वा लिङ्गैश्चिह्नैर्विशेषगुणैर्यैः करणभूतैर्जीवेन कर्तृभूतेन **हवदि विण्णादं** विशेषेण ज्ञात भवति । किं कर्मतापन्नम् । **दव्व** द्रव्यम् । कथभूतम् । **जीवमजीव च** जीवद्रव्यमजीवद्रव्य च **ते मुत्तामुत्ता गुणा णेया** ते तानि पूर्वोक्तचेतनाचेतनलिङ्गानि मूर्तामूर्तगुणा ज्ञेया ज्ञातव्या । ते च कथभूता । **अतब्भावविसिठ्ठा** अतद्भावविशिष्टा । तद्यथा–शुद्धजीवद्रव्ये ये केवलज्ञानादिगुणास्तेषा शुद्धजीवप्रदेशैः सह यदेकत्वमभिन्नत्व तन्मयत्व स तद्भावो भण्यते, तेषामेव गुणाना तै प्रदेशैः सह यदा संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद क्रियते तदा पुनरतद्भावो भण्यते, तेनातद्भावेन सज्ञादिभेदरूपेण स्वकीयस्वकीयद्रव्येण सह विशिष्टा भिन्ना इति, द्वितीयव्याख्यानेन पुन स्वकीयद्रव्येण सह सद्भावेन तन्मयत्वेनान्यद्रव्यादिविशिष्टा

हैं ॥ ३७ ॥ आगे गुणोके भेदसे ही द्रव्योमे भेद है, ऐसा दिखलाते हैं—[यैलिंङ्गैः] जिन चिह्नोसे [जीव] जीव [च] और [अजीवः] अजीव [द्रव्यं] द्रव्य [ज्ञात भवति] जाना जाता है, [ते] वे चिह्न (लक्षण) [तद्भावविशिष्टा] द्रव्योके स्वरूपकी विशेषता लिये हुए [मूर्तामूर्ता गुणा] मूर्तीक और अमूर्तीक गुण [ज्ञेया] जानने चाहिये । भावार्थ—जो अपने द्रव्यके आधार रहें, उन्हे गुण कहते हैं । वे गुण द्रव्यके चिह्न हैं । द्रव्यका स्वरूप गुणोसे जाना जाता है, इस कारण द्रव्य लक्ष्य है, गुण लक्षण है । लक्ष्य-लक्षण दोनोमे कथचित् भेद भी है, और किसी प्रकारसे अभेद भी है । यही दिखलाते हैं, जो द्रव्य है, वह गुण नही है, जो गुण है, वह द्रव्य नही है, ऐसा जो गुण-गुणी भेद कहा जावे, तो भेद है, और यदि वस्तुका स्वरूप विचारा जाय, तो लक्ष्य-लक्षणमें भेद ही नही है, क्योकि प्रदेश-भेद नही है, एक हो है । जो जिस द्रव्यका स्वभाव है, वह अपनी अपनी विशेषताको लिये हुये है, इस कारण मूर्तीक द्रव्यके मूर्तीक गुण होते हैं, और अमूर्तीकके अमूर्तीक गुण होते हैं । एक पुद्गल द्रव्य मूर्तीक है, और जीव, धर्म, अधर्म आकाश–काल, ये पांच द्रव्य अमूर्तीक हैं,

इति तेषां विशेषो निश्चेयः ॥ ३८ ॥

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबन्धमाख्याति—

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा ।

दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥ ३९ ॥

मूर्ता इन्द्रियग्राह्याः पुद्‌गलद्रव्यात्मका अनेकविधा ।

द्रव्याणाममूर्तानां गुणा अमूर्ता ज्ञातव्या ॥ ३९ ॥

मूर्तानां गुणानामिन्द्रियग्राह्यत्वं लक्षणम् । अमूर्तानां तदेव विपर्यस्तम् । ते च मूर्ताः पुद्‌गलद्रव्यस्य, तस्यैवेकस्य मूर्तत्वात् । अमूर्ताः शेषद्रव्याणां, पुद्‌गलादन्येषां सर्वेषामप्यमूर्तत्वात् ॥ ३९ ॥

अथ मूर्तस्य पुद्‌गलद्रव्यस्य गुणान् गृणाति—

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो ।

पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥ ४० ॥

भिन्ना इत्यभिप्राय ॥३८॥ एव गुणभेदेन द्रव्यभेदो ज्ञातव्य । अथ मूर्तामूर्तगुणाना लक्षण सबन्ध च निरूपयति—**मुत्ता इदियगेज्झा** मूर्ता गुणा इन्द्रियग्राह्या भवन्ति, अमूर्ता पुनरिन्द्रियविषया न भवन्ति इति मूर्तामूर्तगुणानामिन्द्रियनिन्द्रियविषयत्वलक्षणमुक्तम् । इदानी मूर्तगुणा कस्य सबन्धिनो भवन्तीति संबन्ध कथयति **पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा** मूर्तगुणा पुद्‌गलद्रव्यात्मका अनेकविधा भवन्ति पुद्‌गलद्रव्यसबन्धिनो भवन्तीत्यर्थ । अमूर्तगुणाना सबन्ध प्रतिपादयति **दव्वाणममुत्ताण** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृतीनाममूर्तद्रव्याणा सबन्धिनो भवन्ति । ते के गुणा । **अमुत्ता** अमूर्ता गुणा केवलज्ञानादय इत्यर्थ । इति मूर्तामूर्तगुणाना लक्षणसबन्धौ ज्ञातव्यौ ॥ ३९ ॥ एव ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदो भवतीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वय गतम् । अथ मूर्तपुद्‌गलद्रव्यस्य गुणानावेदयति—**वण्णरसगधफासा विज्जते पोग्गलस्स** वर्णरसस्पर्शगन्धा विद्यन्ते ।

ऐसा निश्चयसे जानना चाहिये ॥ ३८ ॥ आगे मूर्त-अमूर्तका लक्षण-सबध कहते हैं—[**मूर्ताः**] जो मूर्त गुण हैं, वे [**इन्द्रियग्राह्याः**] इन्द्रियोसे ग्रहण किये जाते हैं, और वे [**पुद्‌गलद्रव्यात्मकाः**] पुद्‌गलद्रव्यके ही हैं, तथा [**अनेकविधाः**] वर्णादिक भेदोसे अनेक तरहके है । [**अमूर्तानां द्रव्याणां**] और जो अमूर्तीक द्रव्योके [**गुणाः**] गुण है, वे [**अमूर्ताः**] अमूर्तीक [**ज्ञातव्याः**] जानने चाहिये । **भावार्थ—** मूर्तीक गुण इन्द्रियोसे जाने जाते है, अमूर्तीक गुण इन्द्रियोसे नही जाने जाते । इन्द्रियोसे जानना, यह तो मूर्तीकका लक्षण हुआ, और जो पुद्‌गलके है, यह पुद्‌गलके साथ उन मूर्तीक गुणोका सबध बतलाया । इसी प्रकार इन्द्रियोंसे ग्रहण नही होना, ये अमूर्तका लक्षण हुआ, तथा अमूर्तीक द्रव्यके हैं, यह अमूर्तीक द्रव्यके साथ उन अमूर्तीक गुणोका सबध दिखलाया । इसतरह मूर्त और अमूर्त गुणोका लक्षण और सबध कहा गया है ॥ ३९ ॥ आगे मूर्त पुद्‌गलद्रव्यके गुणोको कहते हैं—[**सूक्ष्मात् पृथिवीपर्यन्तस्य**] परमाणुसे लेकर महास्कध पृथिवी पर्यंत [**पुद्‌गलद्रव्यस्य**] ऐसे पुद्‌गलद्रव्यमे [**वर्णरसगन्धस्पर्शाः**] रूप ५, रस ५, गध २, स्पर्श ८ ये चार प्रकारके गुण

वर्णरसगन्धस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मत्वात् ।
पृथिवीपर्यन्तस्य च शब्द स पुद्गलश्चित्र ॥ ४० ॥

इन्द्रियग्राह्याः किल स्पर्शरसगन्धवर्णास्तद्विषयत्वात्, ते चेन्द्रियग्राह्यत्वव्यक्तिशक्तिवशात् गृह्यमाणा अगृह्यमाणाश्च आ एकद्रव्यात्मकसूक्ष्मपर्यायात्परमाणोः, आ अनेकद्रव्यात्मकस्थूलपर्यायात्पृथिवीस्कन्धाच्च सकलस्यापि पुद्गलस्याविशेषेण विशेषगुणत्वेन विद्यन्ते । ते च मूर्तत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन्तः पुद्गलमधिगमयन्ति । शब्दस्यापीन्द्रियग्राह्यत्वाद्गुणत्व न खल्वाशङ्कनीयं, तस्य वैचित्र्यप्रपञ्चितवैश्व-

---

कस्य । पुद्गलस्य । कथभूता । **सुहुमादो पुढवीपरियतस्स य** "पुढवी जल च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू । छव्विहभेय भणिय पोग्गलदव्व जिणवरेहिं ॥" इति गाथाकथितक्रमेण परमाणुलक्षणसूक्ष्मस्वरूपादे पृथ्वीस्कन्धलक्षणस्थूलस्वरूपपर्यन्तस्य च । तथाहि–यथानन्तज्ञानादिचतुष्टयं विशेषलक्षणभूत यथासभव मर्वजीवेषु साधारण तथा वर्णादिचतुष्टय विशेषलक्षणभूत यथासभव सर्वपुद्गलेषु साधारणम् । यथैव चानन्तज्ञानादिचतुष्टय मुक्तजीवेऽतीन्द्रियविषयज्ञानमनुमानगम्यमा-

---

[विद्यन्ते] मौजूद हैं, **[च]** और जो **[शब्द·]** शब्द है, **[स]** वह **[पौद्गलश्चित्रः]** भाषा ध्वनि आदिके भेदसे अनेक प्रकारवाला पुद्गलका पर्याय है । **भावार्थ**—पुद्गलद्रव्य सूक्ष्मसूक्ष्म १, सूक्ष्म २, सूक्ष्मस्थूल ३, स्थूलसूक्ष्म ४, स्थूल ५, स्थूलस्थूल ६ छह प्रकारका कहा गया है। उनमेसे परमाणु सूक्ष्मसे सूक्ष्म है १, कार्माण (कर्म होने योग्य) वर्गणा सूक्ष्म हैं २, स्पर्श, रस, गध, शब्द ये सूक्ष्मस्थूल हैं, क्योकि नेत्र-इन्द्रियसे नही देखे जाते, इसलिये सूक्ष्म हैं, तथा चार इद्रियोसे जाने जाते हैं, इसलिये स्थूल भी हैं ३, छाया (परछांई) स्थूलसूक्ष्म है, क्योकि नेत्रसे देखनेमे आती है, इसलिये स्थूल है, तथा हाथसे ग्रहण नही की जाती, इसलिये सूक्ष्म भी है ४, जल, तैल आदिक स्थूल हैं, क्योकि छेदन भेदन करनेमे फिर उसी समय मिल जाते हैं ६, पृथिवी, पर्वत, काठ वगैर स्थूलस्थूल हैं । इस प्रकार भेदोसे पुद्गल द्रव्य अनेक प्रकार है। ये स्पर्शादि चारो गुण इन्द्रियोसे जाने जाते हैं । यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि परमाणु कार्मणवर्गणादिकमे भी ये चार गुण हैं, वे अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे वहाँ रहनेपर इन्द्रियोसे प्रत्यक्ष ही नही हो सकते, तो इनको इन्द्रिय-ग्राह्य किस तरह कहते हो ? इसका समाधान यह है, कि परमाणु आदि पुद्गल यद्यपि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नही हैं, तो भी उनमे इद्रिय ग्रहण योग्य शक्ति अवश्य मौजूद है, जब स्कधके सबध होनेसे स्थूलपना धारण करते हैं, तव इद्रियोंसे प्रत्यक्ष नियमकर होते हैं । इस कारण व्यक्ति-शक्तिकी अपेक्षा ग्रहण किये जावें, अथवा नही किये जावें, परतु इन्द्रिय-ग्रहण योग्य अवश्य हैं । सभी छह प्रकारके पुद्गलोके स्पर्शादि चार गुण नियमसे पाये जाते हैं, अमूर्त द्रव्यके ये चारो नही पाये जाते, इसीलिये ये गुण पुद्गलके चिह्न हैं । शब्द भी कर्ण-इन्द्रियसे ग्रहण किया जाता है, परतु वह पुद्गलकी पर्याय है, गुण नही है, क्योकि अनेक पुद्गलस्कधोके सयोगसे उत्पन्न होता है, इसलिये पर्याय है । जो कोई अन्यवादी शब्दको आकाशद्रव्यका गुण मानते हैं, उनका कहना अप्रमाण है, क्योकि आकाशद्रव्य अमूर्तीक है, इसलिये इद्रिय-प्रत्यक्ष नही होता, और कर्ण-इन्द्रियसे ग्रहण किया जाता है । नियम ऐसा है,

रूपस्याप्यनेकद्रव्यात्मकपुद्गलपर्यायत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात् । गुणत्वे वा न तावदमूर्तद्रव्यगुणः शब्दः गुणगुणिनोरविभक्तप्रदेशत्वेनैकवेदनवेद्यत्वादमूर्तद्रव्यस्यापि श्रवणेन्द्रियविषयत्वापत्तेः । पर्यायलक्षणेनोत्खातगुणलक्षणत्वान्मूर्तद्रव्यगुणोऽपि न भवति । पर्यायलक्षणं हि कादाचित्कत्वं गुणलक्षणं तु नित्यत्वम् । ततः कादाचित्कत्वोत्खातनित्यत्वस्य न शब्दस्यास्ति गुणत्वम् । यत्तु तत्र नित्यत्वं तत्तदारम्भकपुद्गलानां तद्गुणानां च स्पर्शादीनामेव न शब्दपर्यायस्येति दृढतरं ग्राह्यम् । न च पुद्गलपर्यायत्वे शब्दस्य पृथिवीस्कन्धस्येव स्पर्शनादीन्द्रियविषयत्वम् । अपां घ्राणेन्द्रिया-

---

गमगम्य च, तथा शुद्धपरमाणुद्रव्ये वर्णादिचतुष्टयमप्यतीन्द्रियज्ञानविषयमनुमानगम्यमागमगम्यं च । यथा वानन्तचतुष्टयस्य संसारिजीवे रागादिस्नेहनिमित्तेन कर्मबन्धवशादशुद्धत्वं भवति तथा वर्णादिचतुष्टयस्यापि स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तेन द्व्यणुकादिबन्धावस्थायामशुद्धत्वम् । यथा वानन्तज्ञानादिचतुष्टयस्य रागादिस्नेहरहितशुद्धात्मध्यानेन शुद्धत्व भवति तथा वर्णादिचतुष्टयस्यापि स्निग्धगुणाभावे बन्धनेऽसति परमाणुपुद्गलावस्थायां शुद्धत्वमिति । **सद्दो सो पोग्गलो** यस्तु शब्दः स पौद्गल. यथा जीवस्य नरनारकादिविभावपर्यायाः तथायं शब्दः पुद्गलस्य विभावपर्यायो न च

कि जिसका कारण इंद्रिय-ग्रहण योग्य न हो, उसका कार्य भी इन्द्रिय-ग्रहण योग्य नही हो सकता । यदि शब्द इन्द्रियसे ग्राह्य है, तो अमूर्त आकाश भी कर्ण-इन्द्रियसे ग्राह्य होना चाहिये । शब्द गुण है, गुण-गुणीके प्रदेश कभी जुदे होते नही है, इस कारण शब्दके ग्रहण होनेसे आकाश भी अवश्य कर्ण-इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होना चाहिये, परतु वह आकाश तो कभी इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता नही है, इसलिये शब्द आकाशका गुण कदापि नही हो सकता। यहांपर भी कोई ऐसी तर्क करे, कि पुद्गलद्रव्य मूर्तीक है, उसका ही गुण शब्द हो जाना चाहिये, पुद्गलकी पर्याय क्यो कहते हो ? इसका समाधान इस तरह है, कि पर्यायका लक्षण अनित्य है, और गुणका लक्षण नित्य है । यदि शब्द पुद्गलका गुण कहा जावे, तो पुद्गल हमेशा शब्दरूप ही प्राप्त होना चाहिये, परतु ऐसा नही है । जब स्कधोका सयोग होता है, तब शब्द होता है, इसलिये पर्याय ही है, गुण नही है, ऐसा निश्चयकर जानना । यदि कोई यह कहे, कि जैसे भूमि पुद्गलकी पर्याय है, वह स्पर्शनादि चार इन्द्रियोंसे ग्रहण की जाती है, उसी प्रकार शब्द भी चार इन्द्रियोसे प्रत्यक्ष होना चाहिये, एक कर्ण-इन्द्रियसे ही प्रत्यक्ष क्यो कहते हो ? उसका उत्तर इस तरहसे है, कि जल पुद्गलकी पर्याय है, वह नासिका-इन्द्रियसे प्रत्यक्ष नही होता, अग्नि नासिका और जीभ इन दोनोसे ग्रहण नहीं होती। पवन नासिका जीभ और नेत्र इन तीनोसे ग्रहण नही होता, इस कारण 'जिस इंद्रियका जो विषय है उस इंद्रियसे वही ग्रहण किया जाता है, ऐसा नियम तो है, परंतु ऐसा नही, कि जो पुद्गलकी पर्याय है, वह सभी इंद्रियोंसे ग्रहण होनी चाहिये' । इस कारण शब्द केवल कर्णेन्द्रियसे ही ग्रहण किया जाता है, शेष चार इंद्रियोमे ग्राह्य नही है । यदि यहांपर कोई अन्यवादी ऐसी तर्कणा करे, कि—जलमे गध गुण नही होनेसे नासिका जलको नही ग्रहण करती । अग्निमे गंध, रस, इन दोनो गुणोके न होनेसे नासिका जीभ ये दोनो उसको ग्रहण नही कर सकती । पवनमे गंध, रस, रूप, इन तीनोके न होनेसे नासिका जीभ, नेत्र, उसको ग्रहण नहीं करते हैं ? इस तर्कका समाधान इस तरहसे है, कि ऐसा कोई पुद्गल नहीं है, जो कि स्पर्शादि चार गुणोमेसे एक या दो या तीन

विषयत्वात्, ज्योतिषो घ्राणरसनेन्द्रियाविषयत्वात्, मरुतो घ्राणरसनचक्षुरिन्द्रियाविषयत्वाच्च । न चागन्धागन्धरसागन्धरसवर्णाः, एवमप्ज्योतिर्मारुतः, सर्वपुद्गलानां स्पर्शादिचतुष्कोपेतत्वाभ्युपगमात् । व्यक्तस्पर्शादिचतुष्काणां च चन्द्रकान्तारणियवानामारम्भकैरेव पुद्गलैरव्यक्तगन्धाव्यक्तगन्धरसाव्यक्तगन्धरसवर्णानामब्ज्योतिरुदरमरुतामारम्भदर्शनात् । न च क्वचित्कस्यचित् गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वं कादाचित्कपरिणामवैचित्र्यप्रत्ययं नित्यद्रव्यस्वभावप्रतिघाताय । ततोऽस्तु शब्दः पुद्गलपर्याय एवेति ॥ ४० ॥

अथामूर्तानां शेषद्रव्याणां गुणान् गृणाति—

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं ।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥ ४१ ॥

कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो ।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाण ॥ ४२ ॥ जुगलं ।

गुणः । कस्मात् । गुणस्याविनश्वरत्वात् अयं च विनश्वरो । नैयायिकमतानुसारी कश्चिद्वदत्याकाशगुणोऽयं शब्दः । परिहारमाह—आकाशगुणत्वे सत्यमूर्तो भवति । अमूर्तश्च श्रवणेन्द्रियविषयो न भवति, दृश्यते च श्रवणेन्द्रियविषयत्वम् । शेषेन्द्रियविषयः कस्मान्न भवतीति चेत्—अन्येन्द्रियविषयोऽन्येन्द्रियस्य न भवति वस्तुस्वभावादेव रसादिविषयवत् । पुनरपि कथंभूतः । **चित्तो** चित्रः भाषात्मकाभाषात्मकरूपेण प्रायोगिकवैश्रसिकरूपेण च नानाप्रकारः । तच्च "सद्दो खधप्पभवो" इत्यादि गाथायां **पञ्चास्तिकाये** व्याख्यातं तिष्ठत्यत्रालं प्रसंगेन ॥ ४० ॥ अथाकाशाद्यमूर्तद्रव्याणां विशेषगुणान्प्रतिपादयति—आकाशस्यावगाहहेतुत्वं, धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वं धर्मेतरद्रव्यस्य तु पुनः

गुणोको धारण करे, क्योंकि सभी पुद्गलोमें चार गुण अवश्य होते हैं। इसका कारण यह है, गुणोमें कमतीपना नहीं होता है, ऐसी सर्वज्ञकी आज्ञा है । इसलिये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, इनमें स्पर्शादिक चारों गुण होते हैं, ऐसा जानना चाहिये । केवल मुख्य गौणका भेद है, वह इस प्रकार है—पृथिवीमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, ये चारों गुण प्रगट पाये जाते हैं, जलमें गंधकी गौणता है, अग्निमें गंध, रस, इन दोनोंकी गौणता है, पवनमें गंध, रस, वर्ण, इन तीनोंकी गौणता है। इसलिये सभी पुद्गलोमें चारों गुण होते हैं। इस बातकी सिद्धिके लिये दूसरी युक्ति भी दिखलाते हैं—चंद्रकांतमणि (पाषाण) पृथिवीकायसे जल झडता है, जलसे पृथ्वीकाय मोती उत्पन्न होते हैं, अरणी लकडीसे अग्नि उत्पन्न होती है, जौ नामक अन्नके खानेसे पेटमें वायु हो जाता है । इस कारण पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके पुद्गलोमें भेद नहीं है, केवल परिणमनके भेदसे भेद है । इससे सिद्ध हुआ, कि सभी पुद्गलोमें स्पर्शादि चार गुण पाये जाते हैं ॥ ४० ॥ आगे अमूर्तीक पांच द्रव्योंके गुणोंको कहते हैं—[**आकाशस्य**] आकाश द्रव्यका [**अवगाह**] एक ही समय सब द्रव्योंको जगह देनेका कारण ऐसा अवगाहनामा विशेष गुण है, [**तु**] और [**धर्मस्य**] धर्मद्रव्यका [**गमनहेतुत्व**]

आकाशस्यावगाहो धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम् ।
धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुणः पुनः स्थानकारणता ॥ ४१ ॥
कालस्य वर्तना स्यात् गुण उपयोग इति आत्मनो भणितः ।
ज्ञेया संक्षेपाद्गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम् ॥ ४२ ॥ युगलम् ।

विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य, सकृत्सर्वेषां गमनपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गमनहेतुत्वं धर्मस्य, सकृत्सर्वेषां स्थानपरिणामिनां जीवपुद्गलानां स्थानहेतुत्वमधर्मस्य, अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्याय समयवृत्तिहेतुत्वं कालस्य, चैतन्यपरिणामो जीवस्य । एवममूर्तानां विशेषगुणसंक्षेपाधिगमे लिङ्गम् । तत्रैककालमेव सकलद्रव्यसाधारणावगाहसंपादनमसर्वगतत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवदाकाशमधिगमयति । तथैकवारमेव गतिपरिणतसमस्तजीव पुद्गलानामालोकाद्ग-

---

स्थानकारणतागुणो भवतीति प्रथमगाथा गता । कालस्य वर्तना स्याद्गुण ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयमित्यात्मनो गुणो भणित । एव सक्षेपादमूर्तद्रव्याणा गुणा ज्ञेया इति । तथाहि—सर्वद्रव्याणा साधारणमवगाहहेतुत्व विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसभवत्सदाकाश निश्चिनोति । गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारण गमनहेतुत्व विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसभवत्सद्धर्मद्रव्य निश्चिनोति । तथैव च स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारण स्थितिहेतुत्व विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसभवदधर्मद्रव्य निश्चिनोति । सर्वद्रव्याणा युगपत्पर्यायपरिणतिहेतुत्व विशेष-

---

जीव पुद्गलोके गमनका कारण ऐसा गतिहेतुत्वनामा विशेष गुण है, [पुन] और [**धर्मेतरद्रव्यस्य**] अधर्मद्रव्यका [**गुणः**] विशेष गुण [**स्थानकारणता**] एक ही समय स्थितिभावको परिणत हुए जीव पुद्गलोको स्थितिका कारणपना है । [**कालस्य**] कालद्रव्यका [**वर्तना**] सभी द्रव्योके समय समय परिणमनकी प्रवृत्तिका कारण ऐसा वर्तना नामका गुण [**स्यात्**] है, [**आत्मन गुण**] जीवद्रव्यका विशेष गुण [**उपयोग. इति भणितः**] चेतना परिणाम है, ऐसा भगवान्ने कहा है । [**हि**] निश्चयसे [**एते गुणाः**] पहले कहे जो विशेष गुण हैं, वे [**सक्षेपात्**] विस्तार न करके थोडेमे ही [**मूर्तिप्रहीणाना**] मूर्तिरहित जो पाँच द्रव्य हैं, उनके [**ज्ञेया**] जानना चाहिये । **भावार्थ**—अवगाहननामा गुण आकाशद्रव्यका ही चिह्न है, क्योकि अन्य पाँच द्रव्य है, वे सर्व व्यापक नही है, आकाश द्रव्य ही सर्वगत (सबमे फैला हुआ) है, इस कारण पाँच द्रव्योका अवगाह गुण नही हो सकता, और आकाश सबका भाजन है, क्योकि सब द्रव्य इसीमे रहते हैं, इससे इस आकाशका अवगाह चिह्न है, वह गुण होता हुआ आकाशके अस्तिपने (मौजूदगी) को दिखाता है । जीव पुद्गलकी गतिको सहायता करनेवाला गतिहेतुत्वनामा गुण धर्मद्रव्यका ही चिह्न है, अन्य पाँच द्रव्योका बन नही सकता, क्योकि कालद्रव्य पुद्गल प्रदेशी है, इससे कालपुद्गलका गुण नही हो सकता । जो द्रव्य अखडरूप लोक प्रमाण हो, वही पुद्गलकी सब जगह गतिमे सहायता कर सकता है, और समुद्घातके विना जीवद्रव्य लोकके असख्यातवें भागमे रहता है, इससे जीवद्रव्यका भी गुण नही हो सकता, और आकाशद्रव्य लोकालोकतक है । यदि आकाशका गुण हो, तो जीव पुद्गल अलोकमे गमन कर सकते हैं, सो ऐसा है नही इस कारण आकाशका भी गुण नही है,

मनहेतुत्वमप्रदेशत्वाकालपुद्गलयोः समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य विरुद्धकार्यहेतुत्वादधर्मस्यासंभवद्धर्ममधिगमयति। तथैकवारमेव स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकात्स्थानहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य, लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य, विरुद्धकार्यहेतुत्वाद्धर्मस्य चासंभवदधर्ममधिगमयति। तथा अशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कारणान्तरसाध्यत्वात्समयविशिष्टाया वृत्तेः स्वतस्तेषामसंभवत्कालमधिगमयति। तथा चैतन्यपरिणामश्चेतनत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन् जीवमधिगमयति। एवं गुणविशेषाद्द्रव्यविशेषोऽधिगन्तव्यः ॥ ४१-४२ ॥

अथ द्रव्याणां प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वविशेषं प्रज्ञापयति—

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥ ४३ ॥

गुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्कालद्रव्यं निश्चिनोति। सर्वजीवसाधारण सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वय विशेषगुणत्वादेवान्याचेतनपञ्चद्रव्याणामसंभवत्सच्छुद्धबुद्धैकस्वभाव परमात्मद्रव्य निश्चिनोति। अयमत्रार्थः—यद्यपि पञ्च द्रव्याणि जीवस्योपकार कुर्वन्ति तथापि तानि दु खकारणान्येवेति ज्ञात्वा यदि वाक्षयानन्तसुखादिकारणं विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभाव परमात्मद्रव्य तदेव मनसा ध्येय वचसा वक्तव्य कायेन तत्साधकमनुष्ठान च कर्तव्यमिति ॥ ४१-४२ ॥ एव कस्य द्रव्यस्य

अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलकी स्थितिको सहायता देनेवाला है, उसको गति सहायता विरुद्ध पड़ती है, इस कारण अधर्मद्रव्यका भी गुण नही हो सकता। इसलिये यह गतिहेतु गुण एक धर्मद्रव्य ही को प्रगट दिखलाता है। उसी प्रकार एक ही बार स्थितिभावको परिणत हुए जीवपुद्गलोंको स्थितिका हेतु होना, ऐसा स्थितिहेतुत्व गुण एक अधर्मद्रव्यका ही है, क्योंकि कालपुद्गल अप्रदेशी और खड हैं, इसलिये इन दोनोका गुण नही हो सकता, और जीवद्रव्य समुद्घातके विना लोकप्रमाण होता ही नही, इससे जीवका भी गुण नही बन सकता, आकाशद्रव्य लोकालोक प्रमाण है, सो यदि आकाशका गुण माना जावे, तो अलोकमे भी जीवपुद्गलकी स्थिति होनी चाहिये, इसलिये आकाशका भी गुण नही सिद्ध हुआ। इस कारण स्थितिहेतुत्वनामा गुण अधर्मद्रव्यके ही अस्तिपनेको प्रगट करता है। तथा समस्त द्रव्योके पर्यायोको समय समयमे पलटानेका कारण वर्तनाहेतुत्वनामा गुण कालद्रव्यका है, क्योंकि अन्य पांच द्रव्योसे समय-पर्यायकी उत्पत्ति नही होती। इस कारण पाँच द्रव्योका वर्तनाहेतुत्व गुण नही हैं, वह गुण केवल कालके ही अस्तित्वको कहता है। उसी प्रकार चेतना गुण जीवका ही है, क्योंकि अन्य पाँच द्रव्य अचेतन हैं, इसलिये उनका न होकर जीवका ही चिह्न होता हुआ जीवको प्रगट दिखलाता है। इस तरह गुणोके भेदसे द्रव्यका भेद जानना चाहिये ॥ ४१-४२ ॥ आगे छह द्रव्योमे प्रदेशी और अप्रदेशीपनेके भेदको दिखलाते हैं—[जीवाः] जीवद्रव्य [पुद्गलकायाः] पुद्गल स्कंध [पुनः] और

जीवा पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम् ।
स्वप्रदेशैरसख्या न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य ।। ४३ ।।

प्रदेशवन्ति हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानि अनेकप्रदेशवत्त्वात् । अप्रदेशः कालाणुः प्रदेशमात्रत्वात् । अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशापरित्यागाज्जीवस्य द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानवधारितप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य, सकललोकव्याप्यसख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वात् धर्मस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादेवाधर्मस्य, सर्वव्याप्यनन्तप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादाकाशस्य च प्रदेशवत्त्वम् । कालाणोस्तु द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्पर्यायेण तु परस्परसंपर्कासभवादप्रदेशत्वमेवास्ति । ततः कालद्रव्य-

---

के विशेषगुणा भवन्तीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रय गतम् । अथ कालद्रव्य विहाय जीवादिपञ्चद्रव्याणामस्तिकायत्व व्याख्याति—**जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो व आगासं** जीवा पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम् । **सपदेसेहिं असखा** । एते पञ्चास्तिकाया किंविशिष्टा. । स्वप्रदेशैरसख्येया । अत्रासख्येयप्रदेशशब्देन प्रदेशबहुत्वं ग्राह्यम् । तच्च यथासभव योजनीयम् । तस्य तावत्ससारावस्थाया विस्तारोपसहारयोरपि प्रदीपवत्प्रदेशाना हानिवृद्धयारभावाद्व्यवहारेण देहमात्रेऽपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशत्वम् । धर्माधर्मयो पुनरवस्थितरूपेण लोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशत्वम् । स्कन्धाकारपरिणतपुद्गलाना तु सख्येयासख्येयानन्तप्रदेशत्वम् । किंतु पुद्गलव्याख्यानेन प्रदेशशब्देन परमाणवो ग्राह्या, न च क्षेत्रप्रदेशा । कस्मात्पुद्गलानामनन्तप्रदेशक्षेत्रेऽवस्थानाभावादिति । परमाणोर्व्यक्तिरूपेणैकप्रदेशत्व शक्तिरूपेणोपचारेण वहुप्रदेशत्व च । आकाशस्यानन्ता इति । **णत्थि पदेस त्ति कालस्स** न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य । कस्माद्द्रव्यरूपेणैकप्रदेशत्वात् परस्परसंबन्धाभावात्पर्यायरूपेणापीति ॥ ४३ ॥

[धर्माधर्मौ] धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य **[च]** और **[आकाश]** आकाशद्रव्य ये पाँच द्रव्य **[प्रदेशैः]** प्रदेशोसे **[असख्याता]** गणना रहित हैं, अर्थात् कोई असख्यात प्रदेशी हैं, कोई अनत प्रदेशी है, **[कालस्य]** कालद्रव्यके **[प्रदेशा]** अनेक प्रदेश **[न सति]** नही हैं, **[इति]** इस प्रकार भगवान्ने कहा है, अर्थात् कालद्रव्य प्रदेशमात्र होनेसे अप्रदेशी है । **भावार्थ**—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, ये पांच द्रव्य अनेक प्रदेशवाले हैं, इस कारण प्रदेशी कहे जाते हैं । उनमे जीवद्रव्य तो लोकाकाशके प्रमाण असख्यात प्रदेशवाला है, संकोच विस्तार स्वभाव होनेपर भी असख्यात प्रदेशोसे कम बढ़ नही हो सकता, पुद्गलद्रव्य परमाणुद्रव्यसे तो प्रदेशमात्र है, इसलिये अप्रदेशी भी है, परतु परमाणुमे मिलनेकी शक्ति होनेसे दो परमाणुसे लेकर सख्यात-असख्यात-अनंत परमाणुओके स्कंधतक प्रदेशभेद होनेके कारण सख्यातप्रदेशी असख्यातप्रदेशी अनंतप्रदेशी जानना चाहिये । व्यवहारनयसे धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य लोकाकाश प्रमाण है, इस कारण असख्यात प्रदेशी हैं । आकाशद्रव्य सर्वव्यापक होनेसे अनंतप्रदेशी है । काल अणुद्रव्य होनेसे प्रदेशमात्र है, इसलिये अप्रदेशी है, और उस कालाणुमे आपसमे मिल जानेकी शक्ति न होनेसे पुद्गल परमाणुकी तरह उपचारसे भी प्रदेशी

मप्रदेश शेषद्रव्याणि प्रदेशवन्ति ॥ ४३ ॥

अथ कामी प्रदेशिनोऽप्रदेशाश्चावस्थिता इति प्रज्ञापयति—

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो ।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥ ४४ ॥

लोकालोकयोर्नभो धर्माधर्माभ्यामाततो लोक ।
शेषौ प्रतीत्य कालो जीवा पुन पुद्गला शेषौ ॥ ४४ ॥

आकाशं हि तावत् लोकालोकयोरपि षड्द्रव्यसमवायासमवाययोरविभागेन वृत्तत्वात् । धर्माधर्मौ सर्वत्र लोके तन्निमित्तगमनस्थानानां जीवपुद्गलानां लोकाद्बहिस्तदेकदेशे च गमनस्थानासंभवात् । कालोऽपि लोके जीवपुद्गलपरिणामव्यज्यमानसमयादिपर्यायत्वात्, स तु लोकैकप्रदेश एवाप्रदेशत्वात् । जीवपुद्गलौ तु युक्तित

अथ तमेवार्थं द्रढयति—

एदाणि पचदव्वाणि उज्झियकाल तु अत्थिकाय त्ति ।
भण्णते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्त ॥ *२ ॥

एदाणि पंचदव्वाणि एतानि पूर्वसूत्रोक्तानि जीवादिषड्द्रव्याण्येव **उज्झिय काल तु** कालद्रव्य विहाय **अत्थिकाय त्ति भण्णते** अस्तिकाया पञ्चास्तिकाया इति भण्यन्ते **काया पुण** काया कायशब्देन पुन । किं भण्यते । **बहुप्पदेसाण पचयत्त** बहुप्रदेशाना सवन्धि प्रचयत्व समूह इति । अत्र पञ्चास्तिकायमध्ये जोवास्तिकाय उपादेयस्तत्रापि पञ्चपरमेष्ठिपर्यायावस्था तस्यामप्यर्हत्सिद्धावस्था तत्रापि सिद्धावस्था । वस्तुतस्तु रागादिसमस्तविकल्पजालपरिहारकाले सिद्धजीवसदृशा स्वकीयशुद्धात्मावस्थेति भावार्थ ॥ २ ॥ एव पञ्चास्तिकायसंक्षेपसूचनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वय गतम् । अथ द्रव्याणा लोकाकाशेऽवस्थानमाख्याति—**लोगालोगेसु णभो** लोकालोकयोरधिकरणभूतयोर्णभ आकाश तिष्ठति **धम्माधम्मेहि आददो लोगो** धर्माधर्मास्तिकायाभ्यामाततो व्याप्तो भृतो लोक । किं कृत्वा । **सेसे पडुच्च** शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्याश्रित्य । अयमत्रार्थ —जीवपुद्गलौ तावल्लोके तिष्ठतस्तयोर्गतिस्थित्यो कारणभूतौ धर्माधर्मावपि लोके । **कालो** कालोऽपि शेषौ

नहीं हो सकता । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि पाँच द्रव्य प्रदेशवाले हैं, और कालद्रव्य केवल अप्रदेशी है ॥ ४३ ॥ आगे प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य किस तरह रहते हैं ? इस बातको कहते हैं— [**लोकालोकयो**] लोक और अलोकमें [**नभ**] आकाशद्रव्य रहता है, [**धर्माधर्माभ्या**] धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यसे [**लोक आतत.**] लोकाकाश व्याप्त है, अर्थात् धर्म और अधर्म ये दोनो द्रव्य लोकाकाशमे फैल रहे हैं, [**शेषौ प्रतीत्य**] जीव पुद्गल द्रव्यको प्रतीतिसे [**काल**] कालद्रव्य तिष्ठ रहा है । [**शेषा. जोवा.**] बाकी रहे जीवद्रव्य [**पुन**] और [**पुद्गला:**] पुद्गलद्रव्य ये दोनो लोकाकाशमे हैं । **भावार्थ**—आकाशद्रव्य सब जगह है, क्योकि सबका भाजन (रहनेका ठिकाना) है, इसलिये लोकालोकमे है । धर्म अधर्मद्रव्य लोकमे हैं, इनके निमित्तसे ही जीव पुद्गलकी गति स्थिति लोकसे बाहर एक प्रदेशमे भी नहीं होती, लोकमे ही होती है । कालद्रव्यका समयादि पर्याय, जीव पुद्गल-

एव लोके षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वाल्लोकस्य । किंतु जीवस्य प्रदेशसंवर्तविस्तारधर्मत्वात् पुद्गलस्य बन्धहेतुभूतस्निग्धरूक्षगुणधर्मत्वाच्च तदेकदेशसर्वलोकनियमो नास्ति कालजीवपुद्गलानामित्येकद्रव्यापेक्षया एकदेश अनेकद्रव्यापेक्षया पुनरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक एवेति ॥ ४४ ॥

अथ प्रदेशवत्त्वाप्रदेशत्वसंभवप्रकारमात्रं सूत्रयति—

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं ।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥ ४५ ॥

यथा ते नभ.प्रदेशास्तथा प्रदेशा भवन्ति शेषाणाम् ।
अप्रदेश परमाणुस्तेन प्रदेशोद्भवो भणितः ॥ ४५ ॥

जीवपुद्गलौ प्रतीत्य लोके । कस्मादिति चेत् । जीवपुद्गलाभ्या नवजीर्णपरिणतया व्यज्जमानसमयघटिकादिपर्यायत्वात् । शेषशब्देन किं भण्यते । **जीवा पुण पुग्गला सेसा** जीवा पुद्गलाश्च पुन. शेषा भण्यन्त इति । अयमत्र भाव —यथा सिद्धा भगवन्तो यद्यपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितशुद्धासख्येयप्रदेशे केवलज्ञानादिगुणाधारभूते स्वकोयस्वकीयभावे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण मोक्षशिलाया तिष्ठन्तीति भण्यन्ते । तथा सर्वे पदार्था यद्यपि निश्चयेन स्वकीयस्वकीयस्वरूपे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण लोकाकाशे तिष्ठन्तीति । अत्र यद्यप्यनन्तजावद्रव्येभ्योऽनन्तगुणपुद्गलास्तिष्ठन्ति तथाप्येकदोपप्रकाशे बहुदोपप्रकाशवद्विशिष्टावगाहशक्तियोगेनासख्येयप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थान न विरुध्यते ॥ ४४ ॥ अथ यदेवाकाशस्य परमाणुव्याप्तक्षेत्र प्रदेशलक्षणमुक्त शेषद्रव्यप्रदेशाना तदेवेति सूचतति—**जध ते णभप्पदेसा** यथा ते प्रसिद्धा परमाणुव्याप्तक्षेत्रप्रमाणाकाशप्रदेशाः

के परिणमन करनेसे ही प्रगट होता है, इस कारण कालद्रव्य भी लोकमे ही है। रहे जीव पुद्गल ये लोकमे प्रगट दीखते हो हैं, जीवके सकोच विस्तार शक्ति होनेसे वह लोकपरिमाण भी है। पुद्गलके बधका कारण स्निग्ध (चिकना) रूक्ष (रूखा) गुण परिणमन होनेसे यह भी सब लोकप्रमाण है। इस कारण ये दोनो द्रव्य लोकके एकप्रदेश (हिस्से) मे भी हैं, और सब लोकमे भी रहते हैं। तथा कालद्रव्य, जीवद्रव्य और पुद्गल अनेक द्रव्य हैं, इनकी अपेक्षा जो देखा जाय, तो सब लोक भरा हुआ है। जैसे काजल वगैर रखनेकी कजरौटी अजन वगैर से भरी रहतो है, उसी प्रकार अनेक द्रव्यको अपेक्षा इन तोन द्रव्योसे सब लोक भरा हुआ है ॥ ४४ ॥ आगे इन द्रव्योके प्रदेशपनेके कथनका सभव होना दिखलाते हैं—**[यथा]** जैसे **[ते]** वे एक परमाणु बराबर कहे गये जो **[नभःप्रदेशा]** आकाशके प्रदेश हैं, वे जैसे परमाणुओके मापसे अनत गिने जाते हैं, **[तथा]** उसी प्रकार **[शेषाणा]** शेष धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, एकजोवद्रव्य, इनके भी **[प्रदेशा.]** प्रदेश परमाणुरूप गजसे मापे हुये **[भवति]** होते है, अर्थात् मापे जाते हैं, **[परमाणु.]** अविभागी पुद्गल-परमाणु **[अप्रदेश]** दो आदि प्रदेशोसे रहित है, अर्थात् प्रदेशमात्र है, **[तेन]** उस परमाणुसे **[प्रदेशोद्भव]** प्रदेशोकी उत्पत्ति **[भणित]** कही गई है। **भावार्थ**—सबसे सूक्ष्म (छोटा) अविभागी परमाणु होता है, वह परमाणु जितनी जगह रोके, उतनी जगहका नाम.

सूत्रयिष्यते हि स्वयमाकाशस्य प्रदेशलक्षणमेकाणुव्याप्यत्वमिति। इह तु यथाकाशस्य प्रदेशास्तथा शेषद्रव्याणामिति प्रदेशलक्षणप्रकारैकत्वमासूत्र्यते। ततो यथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानस्याकाशस्यानन्तांशत्वादनन्तप्रदेशत्वं तथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानानां धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयांशत्वात् प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशत्वम्। यथा चावस्थितप्रमाणयोर्धर्माधर्मयोस्तथा संवर्तविस्ताराभ्यामनवस्थितप्रमाणस्यापि शुष्कार्द्रत्वाभ्यां चर्मण इव जीवस्य स्वांशाल्पबहुत्वाभावादसंख्येयप्रदेशत्वमेव। अमूर्तसंवर्तविस्तारसिद्धिश्च स्थूलकृशशिशुकुमारशरीरव्यापित्वादस्ति स्वसंवेदनसाध्यैव। पुद्गलस्य तु द्रव्येणैकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वे यथोदिते सत्यपि द्विप्रदेशाद्युद्भवहेतुभूततथाविधस्निग्धरूक्षगुणपरिणामशक्तिस्वभावात्प्रदेशोद्भवत्वमस्ति। ततः पर्यायेणानेकप्रदेशत्वस्यापि संभवात् द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वमपि न्याय्यं पुद्गलस्य॥ ४५॥

अथ कालाणोरप्रदेशत्वमेवेति नियमयति—

समओ दु अप्पदेशो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स॥ ४६॥

तथप्पदेसा हवंति सेसाणं तेनैवाकाशप्रदेशप्रमाणेन प्रदेशा भवन्ति। केषाम्। शुद्धबुद्धैकस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृतिशेषद्रव्याणाम्। अपदेसो परमाणू अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो योऽसौ पुद्गलपरमाणुः तेण पदेसुब्भवो भणिदो तेन परमाणुना प्रदेशस्योद्भव उत्पत्तिर्भणिता। परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशो भवति। तदग्रे विस्तरेण कथयति इह तु सूचितमेव॥४५॥ एवं पञ्चमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वयं गतम्। अथ कालद्रव्यस्य द्वितीयादिप्रदेशरहितत्वेनाप्रदेशत्वं व्यवस्थापयति—समओ समय-

---

प्रदेश है। इस तरह आकाशके अनंत प्रदेश होते हैं। उसी प्रकार प्रदेशसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, और एक जीवद्रव्यका माप किया जावे, तो असंख्यात असंख्यात प्रदेशी हैं, उनमें भी धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य सदा ही स्थिररूप है, तथा जीवद्रव्य संसारमें संकोच विस्तारकर अथिर है, जैसे सूखा और गीला चर्म अनवस्थित है, तो भी अपने प्रदेशोंसे कम ज्यादा नहीं होता। इस प्रकार असंख्यातप्रदेशी है। यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि आत्मा अमूर्त है, उसके संकोच विस्तार किस तरह हो सकता है? तो उसका उत्तर यह है, कि जैसे कोई पुरुष मोटा है, वह क्षीण हो जाता है, और कोई क्षीणसे मोटा हो जाता है, इस दशामें उस पुरुषके शरीरके मोटे वा क्षीण होनेके साथमें ही आत्माके प्रदेश भी संकोच और विस्तारको प्राप्त होते हैं, और जैसे बालक जब जवान होता है, तब आत्माके प्रदेश भी विस्ताररूप हो जाते हैं, इस कारण आत्माके संकोच विस्तार अच्छी तरह अनुभवमें आते हैं, संदेह नहीं रहता। पुद्गलद्रव्य परमाणुकी अपेक्षा यद्यपि एक प्रदेशी है, तो भी द्व्यणुकादि होनेकी इसमें मिलन-शक्ति है, इसलिये द्व्यणुक वगैरह स्कंध (समूहरूप) पर्यायोंकी अपेक्षा संख्यात, असंख्यात, अनंतप्रदेशी पुद्गलद्रव्य है॥ ४५॥ आगे कालाणुको अप्रदेशी दिखलाते हैं—[तु] और [समयः] कालद्रव्य [अप्रदेशः] प्रदेशसे रहित है, अर्थात् प्रदेशमात्र है, [सः] वह कालाणु [आकाशद्रव्यस्य]

समयस्त्वप्रदेश· प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य ।
व्यतिपतत स वर्तते प्रदेशमाकाशद्रव्यस्य ॥ ४६ ॥

अप्रदेश एव समयो द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात् न च तस्य पुद्गलस्येव पर्यायेणाप्यनेकप्रदेशत्वं यतस्तस्य निरन्तरं प्रस्तारविस्तृतप्रदेशमात्रासंख्येयद्रव्यत्वेऽपि परस्परसंपर्कासंभवादेकैकमाकाशप्रदेशमभिव्याप्य तस्थुषः प्रदेशमात्रस्य परमाणोस्तदभिव्याप्तमेकमाकाशप्रदेशं मन्दगतया व्यतिपतत एव वृत्तिः ॥ ४६ ॥

अथ कालपदार्थस्य द्रव्यपर्यायौ प्रज्ञापयति—

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो ।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥ ४७ ॥

व्यतिपततस्तं देशं तत्समः समयस्तत. पर· पूर्वः ।
योऽर्थ स काल. समय उत्पन्नप्रध्वंसी ॥ ४७ ॥

पर्यायस्योपादानकारणत्वात्समय कालाणु. । दु पुन । स च कथभूत· । **अप्पदेसो** अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो भवति । स च किं करोति । **सो वट्टदि** स पूर्वोक्तकालाणुः परमाणोर्गतिपरिणतेः सहकारित्वेन वर्तते । कस्य सवन्धी योऽसौ परमाणु । **पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स** प्रदेशमात्रपुद्गलजातिरूपपरमाणुद्रव्यस्य । किं कुर्वत । **वदिवददो** व्यतिपततो मन्दगतया गच्छत । कं प्रति । **पदेसं** कालाणुव्याप्तमेकप्रदेशम् । कस्य सवन्धिनम् । **आगासदव्वस्स** आकाशद्रव्यस्येति । तथाहि—कालाणुरप्रदेशो भवति । कस्मात् । द्रव्येणैकप्रदेशत्वात् । अथवा यथा स्नेहगुणेन पुद्गलाना परस्परबन्धो भवति तथाविधबन्धाभावात्पर्यायेणापि । अयमत्रार्थ.—यस्मात्पुद्गलपरमाणोरेकप्रदेशगमनपर्यन्त सहकारित्व करोति न चाधिक तस्मादेव ज्ञायते सोऽप्येकप्रदेश इति ॥ ४६ ॥ अथ पूर्वोक्तकालपदार्थस्य पर्यायस्वरूप द्रव्यस्वरूप च प्रतिपादयति—**वदिवददो** तस्य पूर्वसूत्रोदितपुद्गलपरमाणोर्व्यतिपततो मन्दगतया गच्छत । कं कर्मतापन्नम् । **त देस** त पूर्वगाथोदित कालाणुव्याप्तमाकाशप्रदेशम् । **तस्सम** तेन कालाणुव्याप्तैकप्रदेशपुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन सम समान. सदृश-

---

आकाशद्रव्यके [**प्रदेश**] निर्विभागक्षेत्ररूप प्रदेशमे [**व्यतिपतत**] मद गतिसे गमन करनेवाला [**प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य**] तथा एक प्रदेशरूप ऐसे पुद्गलजातिरूप परमाणुके निमित्तसे [**वर्तते**] समय-पर्यायकी प्रगटतासे प्रवर्तता है । **भावार्थ**—लोकाकाशके असख्यात प्रदेश हैं, और एक एक प्रदेशमे एक एक कालाणु ठहरा हुआ है, वह जुदा जुदा थिरता लिये हुए रत्नोकी राशिकी तरह आपसमे मिलनेरूप शक्तिसे रहित है, इस प्रकार वे असख्यात हैं। जब पुद्गल-परमाणु आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमे मद गतिसे जाता है, तब पुद्गल-परमाणुकी गतिसे उस आकाशमे तिष्टे हुए कालाणुका समयरूप पर्याय प्रगट होता है, और एक कालाणु एक प्रदेशमात्र होनेसे ही अप्रदेशी है ॥४६॥ आगे काल पदार्थके द्रव्य और पर्याय दिखाते हैं—[**त देश**] जो आकाशका एक प्रदेश है, उसमे [**व्यतिपततः**] मद गमनसे जानेवाले पुद्गल-परमाणुको [**तत्सम**]

यो हि येन प्रदेशमात्रेण कालपदार्थेनाकाशस्य प्रदेशोऽभिव्याप्तस्तं प्रदेशं मन्दगत्यातिक्रमतः परमाणोस्तत्प्रदेशमात्रातिक्रमणपरिमाणेन तेन समो यः कालपदार्थसूक्ष्मवृत्तिरूपसमयः स तस्य कालपदार्थस्य पर्यायस्ततः एवंविधात्पर्यायात्पूर्वोत्तरवृत्तिवृत्तत्वेन व्यञ्जितनित्यत्वो योऽर्थः तत्तु द्रव्यम् । एवमनुत्पन्नाविध्वस्तो द्रव्यसमयः, उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमयः । अनंशः समयोऽयमाकाशप्रदेशस्यानंशत्वान्यथानुपपत्तेः । न चैकसमयेन परमाणोरालोकान्तगमनेऽपि समयस्य सांशत्वं विशिष्टगतिपरिणामा-

---

स्तत्सम **समओ** कालाणुद्रव्यस्य सूक्ष्मपर्यायभूत समयो व्यवहारकालो भवतीति पर्यायव्याख्यान गतम् । **तदो परो पुव्वो** तस्मात्पूर्वोक्तसमयरूपकालपर्यायात्परो भाविकाले पूर्वमतीतकाले च **जो अत्थो** य पूर्वपर्यायेष्वन्वयरूपेण दत्तपदार्थो द्रव्य **सो कालो** स काल कालपदार्थो भवतीति द्रव्यव्याख्यानम् । **समओ उप्पण्णपद्धसी** स पूर्वोक्तसमयपर्यायो यद्यपि पूर्वापरसमयसंतानापेक्षया सख्येयासख्येयानन्तसमयो भवति, तथापि वर्तमानसमय प्रत्युत्पन्नप्रध्वसी । यस्तु पूर्वोक्तद्रव्यकालः स त्रिकालस्थायित्वेन नित्य इति । एव कालस्य पर्यायस्वरूप द्रव्यस्वरूप च ज्ञातव्यम् ।। अथवानेन गाथाद्वयेन समयरूपव्यवहारकालव्याख्यान क्रियते निश्चयकालव्याख्यान तु 'उप्पादो पद्धसो' इत्यादि गाथात्रयेणाग्रे करोति । तद्यथा । **समओ** परमार्थकालस्य पर्यायभूतसमय । **अवप्पदेसो** अपगतप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो निरंश इत्यर्थः । कथ निरश इति चेत् । **पदेसमेत्तस्स दवियजादस्स** प्रदेशमात्रपुद्गलद्रव्यस्य सबन्धी योऽसौ परमाणु. **वदिवादादो वट्टदि** व्यतिपातात् मन्दगतिगमनात्सकाशात्स परमाणुस्तावद्गमनरूपेण वर्तते । क प्रति । **पदेसमागासदवियस्स** विवक्षितैकाकाशप्रदेश

जितना कुछ सूक्ष्मकाल लगे, उस समान कालपदार्थ [**समयः**] समयनामा पर्याय कहा जाता है। [**ततः**] उस पर्यायसे [**परः पूर्वं**] आगे तथा पहले [**यः**] जो नित्यभूत [**अर्थः**] पदार्थ है, [**सः**] वह [**कालः**] कालनामा द्रव्य है । **भावार्थ**—एक आकाशके प्रदेशमे जो कालाणु है, वह दूसरे प्रदेशमे रहनेवाले कालाणुसे कदापि नही मिलता, इस कारण जब पुद्गल-परमाणु एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश (जगह) मे जाता है, तब पहले प्रदेशमे रहनेवाले कालाणुसे दूसरे प्रदेशवर्ति कालाणुमे भेद है, संयोग नही है, क्योंकि उसमें मिलन-शक्तिका अभाव है । इस कारण सूक्ष्म कालका समय नामका पर्याय पुद्गलकी मद गतिसे प्रगट जाना जाता है । जो कालाणु भिन्न नही होते, तथा उनमे मिलनेकी शक्ति होती तो समय-पर्याय कभी नही होता । अखड एक द्रव्यके परिणमनसे तथा कालाणुके भिन्न होनेसे समय-भेद होता है । पुद्गल-परमाणु एक कालाणुसे दूसरे कालाणुमे जब जाता है, वहाँ भेद होता है । इसी लिये कालद्रव्यका समय-पर्याय पुद्गल-परमाणुकी मद गतिसे प्रगट होता है । और जो समय-पर्यायके उत्पन्न होनेसे न तो उत्पन्न होता है, न विनाश पाता है, आगे पीछे सदा नित्य है, वह कालाणु द्रव्यसमय है । तथा पर्याय-समय विनाशीक है, कालाणुरूप द्रव्य-समय नित्य है । पर्याय-समयसे अन्य कोई भी सूक्ष्म काल नही है, इस कारण समय निरंशी है, अर्थात् फिर उसका भेद नही होता, और जो समयके भी अश (भाग) किये जावें, तो सूक्ष्म आकाशके प्रदेशोके भी अश हो जायँगे, परतु प्रदेश तो सबसे सूक्ष्म क्षेत्र है,

द्विशिष्टावगाहपरिणामवत् । तथाहि—यथा विशिष्टावगाहपरिणामादेकपरमाणुपरिमाणोऽनन्तपरमाणुस्कन्धः परमाणोरनंशत्वात् पुनरप्यनन्तांशत्वं न साधयति तथा विशिष्टगतिपरिणामादेककालाणुव्याप्तैकाकाशप्रदेशातिक्रमणपरिमाणावच्छिन्नैकसमयेनैकस्माल्लोकान्ताद्द्वितीयं लोकान्तमाक्रामतः परमाणोरसंख्येयाः कालाणवः समयस्यानंशत्वादसंख्येयांशत्वं न साधयन्ति ॥ ४७ ॥

अथाकाशस्य प्रदेशलक्षणं सूत्रयति—

प्रति । इति प्रथमगाथाव्याख्यानम् । **वविवददो त देस** स परमाणुस्तमाकाशप्रदेशं यदा व्यतिपतितोऽतिक्रान्तो भवति **तस्सम समओ** तेन पुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन सम. समान समयो भवतीति निरंशत्वमिति वर्तमानसमयो व्याख्यातः । इदानी पूर्वपरसमयौ कथयति—**तदो परो पुव्वो** तस्मात्पूर्वोक्तवर्तमानसमयात्परो भावी कोऽपि समयो भविष्यति पूर्वमपि कोऽपि गत **अत्थो जो** एव य समयत्रयरूपोऽर्थः **सो कालो** मोऽतीतानागतवर्तमानरूपेण त्रिविधव्यवहारकालो भण्यते । **समओ उप्पण्णपद्धसी** तेषु त्रिषु मध्ये योऽसौ वर्तमान स उत्पन्नप्रध्वसी अतीतानागतौ तु सख्येयासख्येयानन्तसमयावित्यर्थ । एवमुक्तलक्षणे काले विद्यमानेऽपि परमात्मतत्त्वमलभमानोऽतीतानन्तकाले संसारसागरे भ्रमितोऽय जीवो यतस्तत कारणात्तदेव निजपरमात्मतत्त्व सर्वप्रकारोपादेयरूपेण श्रद्धेय, स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ज्ञातव्यमाहारभयमैथुनपरिग्रहसज्ञास्वरूपप्रभृतिसमस्तरागादिविभावत्यागेन ध्येयमिति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥ एव कालव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथाद्वय गतम् । अथ पूर्वं यत्सूचित प्रदेशस्वरूप तदिदानी विवृणोति—**आगासमणुणिविट्ठ** आकाशम् अणुनिविष्टं

उसमे अशोकी कल्पना किस तरह हो सकती है ? कदापि नही हो सकती । उसी तरह समय भी सूक्ष्म काल है, इसमे भी अश कल्पना नही हो सकती । यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि पुद्गल-परमाणु एक समयमे शीघ्र गतिसे जाकर लोकके अग्रभागतक पहुँचता है, उस अवस्थामे चौदह राजूतक श्रेणीबद्ध जितने आकाश-प्रदेशोमे कालाणु है, उन सबको स्पर्श करता है, इसलिये एकसमयमे गमन करनेसे जितने आकाश-प्रदेशोंमे कालाणु है, उतने ही समयके अश भेद होने चाहिये ? इसका उत्तर यह है, कि परमाणुमे कोई एक गतिपरिणामकी विशेषता है, इस कारण बहुत शीघ्र चालसे १४ राजू चला जाता है, परतु समयके अश नही होते हैं, समय तो अत्यत सूक्ष्म काल है । जैसे एक परमाणुके प्रमाण आकाश-प्रदेश है, उसमे अनत परमाणुओका स्कध रहता है, वहाँपर प्रदेशके अनत अंश नही होते, क्योकि परमाणु निरश है, उसमे दूसरा अश सिद्ध नही होता । इस कारण उस आकाशके प्रदेशमे कोई एक ऐसी अवगाह-शक्ति है, जो उसमे एक परमाणुके बराबर अनत परमाणु स्कध (समूह) रहते हैं, लेकिन अनंत परमाणुओंसे उस प्रदेशके अनंत अश नही हो जाते, यह कोई अवगाह-शक्तिकी ही विशेषता है । उसी तरह गतिपरिणामकी विशेषतासे एक समयमे परमाणु लोकके अंततक चला जाता है, वहाँ असख्यात कालाणुओको उल्लघन करनेपर भी समयके असख्यात अश सिद्ध नही होते । समय तो अंशरूप ही है, उससे दूसरे अश किस तरह हो सकते हैं ? कदापि भी नही ॥ ४७ ॥ आगे आकाशके प्रदेशका लक्षण

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं ।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कादि तं देदुमवगासं ॥ ४८ ॥

आकाशमणुनिविष्टमाकाशप्रदेशसंज्ञया भणितम् ।
सर्वेषां चाणूनां शक्नोति तद्दातुमवकाशम् ॥ ४८ ॥

आकाशस्यैकाणुव्याप्योऽंशः किलाकाशप्रदेशः, स खल्वेकोऽपि शेषपञ्चद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कन्धानां चावकाशदानसमर्थः । अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्यंशकल्पनमाकाशस्य, सर्वेषामणूनामवकाशदानस्यान्यथानुपपत्तेः । यदि पुनराकाशस्यांशा न स्युरिति मतिस्तदाङ्गुलीयुगलं नभसि प्रसार्य निरूप्यतां किमेकं क्षेत्रं किमनेकम् । एकं चेत्किमभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन किं वा भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन । अभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् येनांशेनैकस्या अङ्गुलेः क्षेत्रं तेनांशेनेतरस्या इत्यन्यतरांशाभावः । एवं द्व्याद्यंशानामभावादाकाशस्य परमाणोरिव प्रदेशमात्रत्वम् । भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमाया-

---

पुद्गलपरमाणुव्याप्तम् । **आगासपदेससण्णया भणिदं** आकाशप्रदेशसंज्ञया भणितं कथितम् । **सव्वेसिं च अणूणं** सर्वेषामणूनां चकारात्सूक्ष्मस्कन्धानां च **सक्कदि तं देदुमवगासं** शक्नोति स आकाशप्रदेशो दातुमवकाशम् । तस्याकाशप्रदेशस्य यदीत्थंभूतमवकाशदानसामर्थ्यं न भवति तदानन्तानन्तो जीवराशिस्तस्मादप्यनन्तगुणपुद्गलराशिश्चासंख्येयप्रदेशलोके कथमवकाशं लभते । तच्च विस्तरेण पूर्वं भणितमेव । अथ मतम्–अखण्डाकाशद्रव्यस्य प्रदेशविभागः कथं घटते । परिहारमाह–चिदानन्दैकस्वभावनिजात्मतत्त्वपरमैकाग्र्यलक्षणसमाधिसंजातनिर्विकाराह्लादैकरूपसुखसुधारसा-

---

कहते हैं—[**अणुनिविष्टं**] परमाणुसे व्याप्त (रोका गया) जो [**आकाशं**] आकाशद्रव्य है, वह [**आकाशप्रदेशसंज्ञया**] आकाशका प्रदेश ऐसे नामसे [**भणितं**] भगवन्तदेवने कहा है [**तत्**] वह आकाशका एक प्रदेश [**सर्वेषां**] अन्य सब द्रव्योंके प्रदेशोंको [**च**] और [**अणूनां**] परमसूक्ष्मपनेको परिणत हुए ऐसे अनंत पुद्गलस्कंधोंको [**अवकाशं**] जगह [**दातुं**] देनेको [**शक्नोति**] समर्थ है। **भावार्थ**—जितने आकाशको एक परमाणु रोककर स्थित हो, उतना आकाशनामा प्रदेश है। इससे सूक्ष्म क्षेत्र कोई भी नहीं है, जैसा कि यह प्रदेश सूक्ष्म है, इसमें अन्य अंशोंकी कल्पना नहीं होती। तथा उस सूक्ष्म आकाशके प्रदेशमें जगह देनेकी ऐसी ही शक्ति है, कि पाँच द्रव्योंके भी प्रदेश रहते हैं, और अनंत पुद्गल-परमाणु तथा अनंत पुद्गल-स्कंध भी रहते हैं। यह आकाशमें अवगाह (जगह) देनेकी कोई एक ऐसी ही अतिशय महिमायुक्त शक्ति है। यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि आकाशद्रव्य तो अखंड एक वस्तु है, उसमें प्रदेशरूप अंश कल्पना कैसे हो सकती है ? उसका समाधान इस तरहसे है, कि निर्विभाग एक वस्तुमें भी अंश कल्पना बन सकती है। यदि ऐसा कहो, कि किस तरहसे होती है ? तो पहले अपने हाथको अँगुली आकाशमें रक्खो, अब बतलाओ, कि दो अँगुलियोंका एक क्षेत्र है, कि दो क्षेत्र ? यदि कहो कि एक क्षेत्र है, तो यह प्रश्न उठता है, कि क्या

तम् । अनेकं चेत् किं सविभागानेकद्रव्यत्वेन किं वाऽविभागैकद्रव्यत्वेन । सविभागानेकद्रव्यत्वेन चेत् एकद्रव्यस्याकाशस्यानन्तद्रव्यत्वं, अविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम् ॥ ४८ ॥

अथ तिर्यगूर्ध्वप्रचयावावेदयति—

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य ।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ॥ ४९ ॥

एको वा द्वौ बहव संख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च ।
द्रव्याणा च प्रदेशा सन्ति हि समया इति कालस्य ॥ ४९ ॥

प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचयः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः । तत्राकाशस्यावस्थितानन्तप्रदेशत्वाद्धर्माधर्मयोरवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वाज्जीवस्यानवस्थितासंख्ये-

---

स्वादतृप्तमुनियुगलस्यावस्थितक्षेत्र किमेकमनेक वा । यद्येक तर्हि द्वयोरप्येकत्व प्राप्नोति न च तथा । भिन्न चेत्तदा अखण्डस्यप्याकाशद्रव्यप्रदेशविभागो न विरुध्यत इत्यर्थ ॥ ४८ ॥ अथ तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयौ निरूपयति—**एक्को व दुगे बहुगा सखातीदा तदो अणता य** एको वा द्वौ बहव. सख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च । **दव्वाणं च पदेसा सति हि** कालद्रव्य विहाय पञ्चद्रव्याणा संबन्धिन एते प्रदेशा यथासभव सन्ति हि स्फुटम् । **समय त्ति कालस्स** कालस्य पुन. पूर्वोक्तसख्योपेता समया सन्तीति । तद्यथा—एकाकारपरमसमरसीभावपरिणतपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतभरितावस्थाना केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपानन्तगुणाधारभूताना लोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयप्रदेशाना मुक्तात्मपदार्थे

वह अखड एक आकाशकी अपेक्षा एक क्षेत्र है ? यदि ऐसा मानो, तब तो ठीक है, और जो दो अँगुलियोकी भिन्नतासे दो अश आकाशके कल्पना करनेपर उनकी अपेक्षा भी एक क्षेत्र कहोगे, तो जिस अशकर एक अँगुलीका क्षेत्र है, उसी अशका दूसरी अगुलीका भी क्षेत्र है, ऐसा माननेसे अन्य अशोका अभाव हो जायगा । इसी तरह दो आदि आकाशके अनेक अशोकर भिन्न भिन्न ही अनेक अश मानोगे, तो आकाश अनत हो जावेंगे, और जो एक आकाशके अनेक अश मानोगे, तो एक अखड आकाशमे अशकल्पना सिद्ध ही है ॥ ४८ ॥ आगे तिर्यक्प्रचय, ऊर्ध्वप्रचय इन दोनोका लक्षण कहते हैं—[**द्रव्याणा प्रदेशाः**] कालद्रव्यके विना पाँच द्रव्योके निर्विभाग अशरूप प्रदेश [**एकः**] एक [**वा**] अथवा [**द्वौ बहवः**] दो अथवा बहुत सख्याते [**च**] और [**सख्यातीताः**] असख्यात [**च**] तथा [**ततः**] उसके बाद [**अनताः**] अनत इस तरह यथायोग्य [**सन्ति**] सदाकाल रहते हैं, [**कालस्य**] कालद्रव्यका [**समय इति**] समय पर्यायरूप एक प्रदेश [**हि**] निश्चयकर जानना चाहिये । **भावार्थ**—जिन द्रव्योके बहुत प्रदेश होवें, उन्हे तिर्यक्प्रचय कहते हैं, क्योकि प्रदेशोके समूहका नाम तिर्यक्प्रचय है । अनेक समयोका नाम ऊर्ध्वप्रचय है । सो यह ऊर्ध्वप्रचय सब द्रव्योके होता है, क्योकि अतीत, अनागत, वर्तमान, कालके अनेक समयोमे सब द्रव्य परिणमन करते हैं । तिर्यक्प्रचय एक कालद्रव्यके विना सबके जानना चाहिये । आकाशद्रव्यके निश्चल

यप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य द्रव्येणानेकप्रदेशत्वशक्तियुक्तैकप्रदेशत्वात्पर्यायेण द्विबहुप्रदेशत्वाच्चास्ति तिर्यक्प्रचयः । न पुनः कालस्य शक्त्या, व्यक्त्या चैकप्रदेशत्वात् । ऊर्ध्वप्रचयस्तु त्रिकोटिस्पर्शित्वेन सांशत्वाद्द्रव्यवृत्तेः सर्वद्रव्याणामनिवारित एव । अयं तु विशेषः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणामूर्ध्वप्रचयः समयप्रचयः एव कालस्योर्ध्वप्रचयः । शेषद्रव्याणां वृत्तेर्हि समयादर्थान्तरभूतत्वादस्तिसमयविशिष्टत्वम् । कालवृत्तेस्तु स्वतः समयभूतत्वात्तन्नास्ति ॥ ४९ ॥

अथ कालपदार्थोर्ध्वप्रचयनिरन्वयत्वमुपहन्ति—

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्हि ।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥ ५० ॥

योऽसौ प्रचय समूह समुदायो राशि स । किं किं भण्यते । तिर्यक्प्रचया तिर्यक्सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति अक्रमानेकान्त इति च भण्यते । स च प्रदेशप्रचयलक्षणस्तिर्यक्प्रचयो यथा मुक्तात्मद्रव्ये भणितस्तथा काल विहाय स्वकीयस्वकीयप्रदेशसख्यानुसारेण शेषद्रव्याणा स भवतीति तिर्यक्प्रचयो व्याख्यात. । प्रतिसमयवर्तिना पूर्वोत्तरपर्यायाणां मुक्ताफलमालावत्सतान ऊर्ध्वप्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति क्रमानेकान्त इति च भण्यते । स च सर्वद्रव्याणां भवति । किंतु पञ्चद्रव्याणा सबन्धी पूर्वापरपर्यायसतानरूपो योऽसावूर्ध्वताप्रचयस्तस्य स्वकीयस्वकीयद्रव्यमुपादानकारणम् । कालस्तु प्रतिसमय सहकारिकारण भवति । यस्तु कालस्य समयसन्तानरूप ऊर्ध्वताप्रचयस्तस्य काल एवोपादानकारण सहकारिकारणं च । कस्मात् । कालस्य भिन्नसमयाभावात्पर्याया एव समया भवन्तीत्यभिप्राय ॥ ४९ ॥ एव सप्तमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वयं गतम् । अथ समयसतानरूपस्योर्ध्वप्रचयस्यान्वयिरूपेणाधारभूत कालद्रव्य व्यवस्थापयति—उप्पादो

अनत प्रदेश हैं, धर्म और अधर्म इन द्रव्योके निश्चल असख्यात प्रदेश हैं, जीवके सकोच विस्तारकी अपेक्षा अथिर असख्यात प्रदेश हैं, पुद्गलके यद्यपि द्रव्यपनेसे एक प्रदेश है, तो भी मिलन-शक्तिरूप पर्यायकी अपेक्षा दोसे लेकर सख्यात, असख्यात, अनतप्रदेश जानने, कालद्रव्य एकप्रदेशमात्र है, इसमे कालाणुओकी आपसमे मिलन-शक्ति नही हैं । इस कारण पांच द्रव्योके बहुत प्रदेश होनेसे तिर्यक्प्रचय है, काल प्रदेशमात्र है, इसलिये उसके तिर्यक् प्रचय नही है । ऊर्ध्वप्रचय तो सब द्रव्योंके है, क्योकि सभी द्रव्य समय समयमे परिणमन करते हैं । यहांपर इतना विशेष जानना, कि पांच द्रव्योका जो ऊर्ध्वप्रचय है, वह कालके ऊर्ध्वप्रचयसे जाना जाता है, क्योकि कालद्रव्य सब द्रव्योकी परिणति होनेको सहायक है । इस कारण कालके समय-पर्यायसे सब द्रव्योकी परिणतिका भेद गिना जाता है । इसी लिये कालके ऊर्ध्वप्रचयसे अन्य पांच द्रव्योका ऊर्ध्वप्रचयरूप भेद गिन लेना । कालका ऊर्ध्वप्रचय अन्यसे नही, क्योकि कालकी परिणतिका भेद काल ही के समयपर्यायसे गिननेमे आता है । इस कारण कालके ऊर्ध्वप्रचयको निमित्त व उपादानकारण आप काल ही जानना । अन्य पांच द्रव्य अपने ऊर्ध्वप्रचयको उपादानकारण हैं, कालका ऊर्ध्वप्रचय उस जगह निमित्तकारण है ॥ ४९ ॥ आगे कहते हैं, कि यद्यपि समय-सतानरूप ऊर्ध्वप्रचयसे कालपदार्थ

उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि यस्यैकसमये ।
समयस्य सोऽपि समय. स्वभावसमवस्थितो भवति ॥ ५० ॥

समयो हि समयपदार्थस्य वृत्त्यंशः, तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः, परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात् । तौ यदि वृत्त्यंशस्यैव किं यौगपद्येन किं क्रमेण, यौगपद्येन चेत् नास्ति यौगपद्यं, सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात्, क्रमेण चेत् नास्ति क्रमः, वृत्त्यंशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात् । ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः, स च समयपदार्थ एव । तस्य खल्वेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे समुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः । यो हि यस्य वृत्तिमतो यस्मिन् वृत्त्यंशे तद्वृत्त्यंशविशिष्टत्वेनोत्पादः स एव तस्यैव वृत्तिमतस्तस्मिन्नेव वृत्त्यंशे पूर्ववृत्त्यंशविशिष्टत्वेन

पद्धंसो विज्जवि जदि उत्पाद प्रध्वसो विद्यते यदि चेत् । कस्य । **जस्स** यस्य कालाणो. । क्व **एकसमयम्हि** एकसमये वर्तमानसमये । **समयस्स** समयोत्पादकत्वात्समय कालाणुस्तस्य **सो वि समओ** सोऽपि कालाणु **सभावसमट्ठाविदो हवदि** स्वभावसमवस्थितो भवति । पूर्वोक्तमुत्पादप्रध्वसद्वय तदाधारभूतं कालाणुद्रव्यरूपं ध्रौव्यमिति त्रयात्मकस्वभावसत्तास्तित्वमिति यावत् । तत्र सम्यगवस्थित. स्वभाव समवस्थितो भवति । तथाहि—यथाङ्गुलिद्रव्ये यस्मिन्नेव वर्तमानक्षणे वक्रपरिणामस्योत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवाङ्गुलिद्रव्यस्य पूर्वर्जुपर्यायेण प्रध्वसस्तदाधारभूताङ्गुलिद्रव्येन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धि. । अथवा स्वस्वभावरूपसुखेनोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवात्मद्रव्यस्य पूर्वानुभूताकुलत्वदु ख-

---

उत्पन्न होता है, तथा विनाश पाता है, तो भी द्रव्यपनेसे ध्रुव है—[**यस्य समयस्य**] जिस कालाणुरूप द्रव्यसमयका [**एकसमये**] एक ही अति सूक्ष्म कालसमयमे [**यदि**] यदि [**उत्पाद.**] उत्पन्न होना, [**प्रध्वंस·**] विनाश होना [**विद्यते**] प्रवर्तता है, तो]**सोपि**] वह भी [**समयः**] कालपदार्थ [**स्वभावसमवस्थित.**] अविनाशी स्वभावमे स्थिररूप [**भवति**] होता है। **भावार्थ**—कालपदार्थका समयपर्याय है, उसमे पूर्वपर्यायका नाश और उत्तरपर्यायका उत्पाद अवश्य होता है, क्योकि पुद्गलपरमाणु पूर्वकालाणुको छोडकर आगेके कालाणुके समीप मद गतिसे जाता है, वहाँ समयपर्याय उत्पन्न होता है। इस कारण पूर्वका नाश और आगेकी पर्यायकी उत्पत्ति एक समय होती है। यहाँपर कोई प्रश्न करे, कि कालद्रव्यमे उत्पाद—व्यय होना क्यो कहते हो, समयपर्यायको ही उत्पाद व्यय सहित होना मान लेना चाहिये ? तो इसका समाधान इस तरहसे है, कि—जो समयपर्यायका ही उत्पाद व्यय माना जावे, तो एक समयमे उत्पाद व्यय नही बन सकते, क्योकि उत्पाद—व्यय ये दोनो प्रकाश अधकारकी तरह आपसमे विरोधी हैं। इस कारण एकपर्याय समयका उत्पाद—व्यय एक कालमे किस तरह हो सकता है ? नही हो सकता। यदि ऐसा कहो, "कि एकसमयमे क्रमसे समयपर्यायका उत्पाद व्यय होता है," तो ऐसा भी ठीक नही मालूम होता, क्योकि समय अत्यत सूक्ष्म है, उसमे क्रमसे भेद हो ही नही सकता। इसी लिये एक समयमे समयपर्यायका उत्पाद व्यय नही सभव होता है। कालाणुरूप द्रव्यसमयको अगीकार करनेसे उत्पाद व्यय एक ही समयमे अच्छी तरह सिद्ध होते है। इस कारण कालाणुरूप द्रव्यसमय ही

प्रध्वंसः । यद्येवमुत्पादव्ययावेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे संभवतः समयपदार्थस्य कथं नाम निरन्वयत्वं, यतः पूर्वोत्तरवृत्त्यंशविशिष्टत्वाभ्यां युगपदुपात्तप्रध्वंसोत्पादस्यापि स्वभावेनाप्रध्वस्तानुत्पन्नत्वादवस्थितत्वमेव न भवेत् । एवमेकस्मिन् वृत्त्यंशे समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं सिद्धम् ॥ ५० ॥

अथ सर्ववृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं साधयति—

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा ।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥ ५१ ॥

एकस्मिन् सन्ति समये संभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः ।
समयस्य सर्वकालं एष हि कालाणुसद्भावः ॥ ५१ ॥

अस्ति हि समस्तेष्वपि वृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वमेकस्मिन् वृत्त्यंशे

रूपेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः । अथवा मोक्षपर्यायरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे रत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायरूपेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः । तथा वर्तमानसमयरूपपर्यायेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैव कालाणुद्रव्यस्य पूर्वसमयरूपपर्यायेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारभूताङ्गुलिद्रव्यस्थानीयेन कालाणुद्रव्यरूपेण ध्रौव्यमिति कालद्रव्यसिद्धिरित्यर्थः ॥ ५० ॥ अथ पूर्वोक्तप्रकारेण यथा वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वं स्थापितं तथा सर्वसमयेष्वस्तीति निश्चिनोति—**एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा** एकस्मिन्समये सन्ति विद्यन्ते । के । संभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः धर्माः स्वभावा इति यावत् । कस्य संबन्धिनः । **समयस्स** समयरूपपर्यायस्योत्पादकत्वात् । समयः कालाणुस्तस्य **सव्वकालं** यद्येकस्मिन् वर्तमानसमये सर्वदा तथैव **एस हि कालाणुसब्भावो** एषः प्रत्यक्षीभूतो हि स्फुट-

---

अविनाशी ध्रुवद्रव्य स्वीकार करना चाहिये । उस द्रव्यकालाणुके एक समयमे पूर्वसमयपर्यायका नाश और उत्तरसमयपर्यायका उत्पाद होता है, तथा द्रव्यपने ध्रौव्य है । इस प्रकार द्रव्यके ध्रौव्य माननेसे एक समयमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अच्छी तरह सिद्ध होते हैं । यदि कालाणुद्रव्य न माना जावे, तो ये उत्पादादि तीनो भाव सिद्ध नही हो सकते । जैसे हाथको उँगली टेढी करनेसे उस उँगलीके पूर्व सीधे पर्यायका नाश होता है, वक्र (टेढा) पर्यायका उत्पाद होता है, और अंगुलीपने ध्रौव्य है, उसी प्रकार कालद्रव्यके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य जानने चाहिये ॥ ५० ॥ आगे सब समयपर्यायोमे कालपदार्थके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध होते है, ऐसा कहते हैं—[एकस्मिन् समये] एक समयपर्यायमे [समयस्य] कालाणुरूप कालपदार्थके [संभवस्थितिनाशसंज्ञिता] उत्पाद, स्थिति, नाश नामके [अर्था] तीनो भाव [सन्ति] प्रवर्तते हैं. [एष हि] यह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप ही [कालाणुसद्भाव] कालद्रव्यका अस्तित्व [सर्वकाल] सदाकाल रहता है । भावार्थ—एक ही समय कालपदार्थके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनो भाव होते हैं, और जैसे कालद्रव्य एकसमयमे

तस्य दर्शनात्, उपपत्तिमच्चैतत् विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः । अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्धयति सद्भावः । यदि विशेषसामान्यास्तित्वे सिद्धयतस्तदा त अस्तित्वमन्तरेण न सिद्धयतः कथंचिदपि ॥ ५१ ॥

अथ कालपदार्थस्यास्तित्वान्यथानुपपत्त्या प्रदेशमात्रत्वं साधयति—

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं तु तच्चदो णादुं ।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥ ५२ ॥

यस्य न सन्ति प्रदेशाः प्रदेशमात्रं तु तत्त्वतो ज्ञातुम् ।
शून्य जानीहि तमर्थमर्थान्तरभूतमस्तित्वात् ॥ ५२ ॥

अस्तित्वं हि तावदुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मिका वृत्तिः । न खलु सा प्रदेशमन्तरेण

मुत्पादव्ययध्रौव्यात्मककालाणुसद्भाव इति । तद्यथा—यथा पूर्वमेकसमयोत्पादप्रध्वंसाधारेणाङ्गुलिद्रव्यादिदृष्टान्तेन वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्व स्थापितं तथा सर्वसमयेषु ज्ञातव्यमिति । अत्र यद्यप्यतीतानन्तकाले दुर्लभाया सर्वप्रकारोपादेयभूताया सिद्धगते काललब्धिरूपेण वहिरङ्गसहकारी भवति कालस्तथापि निश्चयनयेन निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसमस्तपरद्रव्येच्छानिरोधलक्षणरूपा तपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादनकारण न च कालस्तेन कारणेन स हेय इति भावार्थ ॥ ५१ ॥ अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकास्तित्वावष्टम्भेन कालस्यैकप्रदेशत्व साधयति—**जस्स ण संति** यस्य पदार्थस्य न सन्ति न विद्यन्ते । के । **पदेसा** प्रदेशा **पदेसमेत्तं तु** प्रदेशमात्रमेकप्रदेशमाण पुनस्तद्वस्तु **तच्चदो णादुं** तत्त्वतः पदार्थतो

उत्पाद, व्यय, ध्रुवरूप परिणमन करता है, उसी प्रकार सब समयोंमे भी परिणमता है । कालाणुद्रव्य तो ध्रुव रहता है, परन्तु पूर्वसमयका नाश और आगेके समयका उत्पाद होता है । इस तरह ये तीनो भाव सदैव सिद्ध होते हैं ॥ ५१ ॥ आगे कालपदार्थ प्रदेशमात्र कालाणुरूप न होवे, तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप अस्तित्व भी नही बन सकता, यह सिद्ध करते है—**[यस्य]** जिस द्रव्यके **[प्रदेशा]** क्षेत्रके निर्विभाग अनेक अश **[न सन्ति]** नही है, **[च]** और **[प्रदेशमात्र]** एक प्रदेशमात्र भी **[तत्त्वत]** स्वरूपसे **[ज्ञातुं]** जाननेको **['न']** नही है, तो **[तं अर्थं]** उस द्रव्यको **[शून्यं]** अस्तित्व रहित अर्थात् अवस्तुभूत **[जानीहि]** तुम जानो । **भावार्थ**—पदार्थका अस्तित्व उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे होता है । इसलिये वह अस्तित्व जो द्रव्यके प्रदेश न होवें, तो नही होता । यदि कालद्रव्यका एकप्रदेश भी न माना जावे, तो उस कालपदार्थका मूलसे नाश हो जावेगा । यदि कोई ऐसा कहे, कि समयपर्याय ही मानो, प्रदेशमात्र कालाणुद्रव्य माननेकी कोई आवश्यकता नही है । तो उससे यह पूँछना है, कि, पर्यायवाले ध्रौव्यके विना समयपर्याय किस तरह हो सकता है ? जो ऐसा कहो, कि द्रव्य विना ही समयपर्याय उत्पन्न होता है, तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी एकता एक काल किस तरह हो सकती है ? जो ऐसा मानो, "कि अनादिअनंत निरंतर अनेक समयपर्याय अंशोकी परपरामे पूर्व पूर्व समय अशका नाश होता है, अगले अशका उत्पाद है, परपरा सतान द्रव्यपनेमे ध्रौव्य है । इस तरह द्रव्य बिना ही ये तीनो भाव सध सकते

सूत्र्यमाणा कालस्य संभवति, यतः प्रदेशाभावे वृत्तिमदभावः। स तु शून्य एव, अस्तित्वसंज्ञाया वृत्तेरर्थान्तरभूतत्वात्। न च वृत्तिरेव केवला कालो भवितुमर्हति, वृत्तेर्हि वृत्तिमन्तमन्तरेणानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा कथमुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मकत्वम्। अनाद्यन्तनिरन्तरानेकांशवशीकृतैकात्मकत्वेन पूर्वपूर्वांशप्रध्वंसादुत्तरोत्तरांशोत्पादादेकात्मध्रौव्यादिति चेत्। नैवम्। यस्मिन्नंशे प्रध्वंसो यस्मिंश्चोत्पादस्तयोः सह प्रवृत्त्यभावात् कुतस्त्यमैक्यम्। तथा प्रध्वस्तांशस्य सर्वथास्तमितत्वादुत्पद्यमानांशस्य वा संभवितात्मलाभत्वात्प्रध्वंसोत्पादैक्यवर्तिध्रौव्यमेव कुतस्त्यम्। एवं सति नश्यति त्रैलक्षण्यं, उल्लसति क्षणभङ्गः, अस्तमुपैति नित्यं द्रव्यं, उदीर्यन्ते क्षणक्षयिणो भावाः। ततस्तत्त्वविप्लवभयात्कश्चिदवश्यमाश्रयो भूतो वृत्तेर्वृत्तिमाननुसर्तव्यः। स तु प्रदेश एवाप्रदेशस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वासिद्धेः। एवं सप्रदेशत्वे हि कालस्य कुत एकद्रव्यनिबन्धनं लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वं नाभ्युपगम्येत।

ज्ञातुं शक्यते। **सुण्णं जाण तमत्थं** यस्यैकोऽपि प्रदेशो नास्ति तमर्थं पदार्थं शून्यं जानीहि हे शिष्य, कस्माच्छून्यमिति चेत्। **अत्थंतरभूद** एकप्रदेशाभावे सत्यर्थान्तरभूतं भिन्नं भवति यत कारणात्। कस्याः सकाशाद्भिन्नम्। **अत्थीदो** उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसत्ताया इति। तथाहि—कालपदार्थस्य तावत्पूर्वसूत्रोदितप्रकारेणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमस्तित्वं विद्यते तच्चास्तित्वं प्रदेशं विना न घटते। यश्च प्रदेशवान् स कालपदार्थ इति। अथ मतं कालद्रव्याभावोऽप्युत्पादव्ययध्रौव्यत्वं घटते। नैवम्। अङ्गुलिद्रव्याभावे वर्तमानवक्रपर्यायोत्पादो भूतऋजुपर्यायस्य विनाशस्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यम्। कस्य भविष्यति। न कस्यापि। तथा कालद्रव्याभावे वर्तमानसमयरूपोत्पादो भूतसमयरूपो विनाशस्त-

हैं," तो ऐसा माननेसे तीनों भाव एक समयमें सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि जिस अंशका नाश है, उसका नाश ही है, और जिसका उत्पाद है वह, उत्पादरूप ही है। उत्पाद व्यय एकमें किस तरह होसकते हैं, और ध्रौव्य भी कहाँ रह सकता है, और ऐसा माननेपर इन भावोंके नाश होनेका प्रसंग आता है, तथा **बौद्धधर्मका** प्रवेश होता है। ऐसा होनेसे नित्यपनेका अभाव हो जायगा, और द्रव्य क्षणविनाशी होने लगेगा, इत्यादि अनेक दोष आ जावेंगे। इस कारण समयपर्यायका आधारभूत प्रदेशमात्र कालद्रव्य अवश्य स्वीकार करना चाहिये। प्रदेशमात्र द्रव्यमें एक ही समय अच्छी तरह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सध जाते हैं। जो कोई ऐसा कहे "कि कालद्रव्यके जब प्रदेशकी स्थापना की, तो असंख्यात कालाणुओंको भिन्न माननेकी क्या आवश्यकता है? एक अखंड लोकपरिमाण द्रव्य मानलेना चाहिये। उसीसे समय उत्पन्न हो सकता है", तो उसका समाधान यह है, कि जो अखंड कालद्रव्य होवे, तो समयपर्याय उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि पुद्गलपरमाणु जब एक कालाणुको छोड़कर दूसरे कालाणुप्रति मंदगतिसे जाता है, तब उस जगह दोनों कालाणु जुदा जुदा होनेसे समयका भेद होता है। जो एक अखंड लोकपरिमाण कालद्रव्य होवे, तो समयपर्यायकी सिद्धि किस तरह हो सकती है? यदि कहो, "कि कालद्रव्य लोकपरिमाण असंख्यातप्रदेशी है, उसके एकप्रदेशसे दूसरे प्रदेश प्रति जब पुद्गलपरमाणु जायगा, तब समयपर्यायकी सिद्धि हो जायगी," तो उसका उत्तर यह है, कि ऐसा कहनेसे बड़ा भारी दोष आवेगा। वह इस प्रकार है—एक अखंड

पर्यायसमयाप्रसिद्धेः । प्रदेशमात्रं हि द्रव्यसमयमतिक्रामतः परमाणोः पर्यायसमयः प्रसिद्धयति । लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वे तु द्रव्यसमयस्य कुतस्त्या तत्सिद्धिः । लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशैकद्रव्यत्वेऽपि तस्यैकप्रदेशमतिक्रामतः परमाणोस्तत्सिद्धिरिति चेन्नैवं, एकदेशवृत्तेः सर्ववृत्तित्वविरोधात् । सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य यः सूक्ष्मो वृत्त्यंशः स समयो न तु तदेकदेशस्य, तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वप्रसंगाच्च । तथाहि—प्रथममेकेन प्रदेशेन वर्तते ततोऽन्येन ततोऽप्यन्तरेणेति तिर्यक्प्रचयोऽप्यूर्ध्वप्रचयीभूय प्रदेशमात्रं द्रव्यमवस्थापयति । ततस्तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वमनिच्छता प्रथममेव प्रदेशमात्रं कालद्रव्यं व्यवस्थापयितव्यम् ॥ ५२ ॥

अथैवं ज्ञेयतत्त्वमुक्त्वा ज्ञानज्ञेयविभागेनात्मानं निश्चिन्वन्नात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय व्यवहारजीवत्वहेतुमालोचयति—

दुभयाधारभूत ध्रौव्यम् । कस्य भविष्यति । न कस्यापि । एव सत्येतदायाति—अन्यस्य भङ्गोऽन्यस्योत्पादोऽन्यस्य ध्रौव्यमिति सर्वं वस्तुस्वरूप विप्लवते । तस्माद्वस्तुविप्लवभयादुत्पादव्ययध्रौव्याणा कोऽप्येक आधारभूतोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्य । स चैकप्रदेशरूप कालाणुपदार्थ एवेति । अत्रातीतानन्तकाले ये केचन सिद्धसुखभाजन जाता, भाविकाल चात्मोपादानसिद्ध स्वयमतिशयवदित्यादिविशेषेण विशिष्टसिद्धसुखस्य भाजन भविष्यन्ति ते सर्वेऽपि काललब्धिवशेनैव । तथापि तत्र निजपरमात्मोपादेयरुचिरूप वीतरागचारित्राविनाभूतं यन्निश्चयसम्यक्त्व तस्यैव मुख्यत्व, न च कालस्य, तेन स हेय इति । तथा चोक्तम्—"किं पलविएण वहुणा जे सिद्धा णरवरा गया काले । सिज्झिहहिं जे वि भविया त जाणह सम्ममाहप्प ॥" ॥ ५२ ॥ एव निश्चयकालव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थले गाथात्रय गतम् । इति पूर्वोक्तप्रकारेण 'द्रव्वं जीवमजीव' इत्याद्येकोनविंशतिगाथाभि स्थलाष्टकेन विशेषज्ञेया-

---

कालद्रव्यके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश प्रति जानेसे समयपर्यायका भेद नही होता, क्योकि अखडद्रव्यसे एकप्रदेशमे समयपर्यायके होनेपर सभी जगह समयपर्याय है । कालकी एकतासे समयका भेद नही हो सकता । इसलिये ऐसा है, कि सबसे सूक्ष्म कालपर्याय समय है । वह कालाणुके भिन्न भिन्नपनेसे सिद्ध होता है, एकतासे नही । कालके अखड माननेसे और भी दोष आता है, कालके तिर्यक्प्रचय नही है, ऊर्ध्वप्रचय है । जो कालको असख्यात प्रदेशी माना जावे, तो कालके तिर्यक्प्रचय होना चाहिये, वही तिर्यक् उर्ध्वप्रचय हो जावेगा । वह इस तरहसे है—असख्यात प्रदेशी काल प्रथम एक प्रदेशकर प्रवृत्त होता है । इससे आगे अन्य प्रदेशसे प्रवृत्त होता है, उससे भी आगे अन्य प्रदेशसे प्रवृत्त होता है, इस तरह क्रमसे असख्यात प्रदेशोसे प्रवृत्त होवे, तो तिर्यक्प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय हो जावेगा । एक एक प्रदेशमे कालद्रव्यको क्रमसे प्रवृत्त होनेसे कालद्रव्य भी प्रदेशमात्र ही स्थित (सिद्ध) होता है । इस कारण जो पुरुष तिर्यक्प्रचयमे ऊर्ध्वप्रचयका दोष नही चाहते है, वे पहले ही प्रदेशमात्र कालद्रव्यको मानें, जिससे कि कालद्रव्यकी सिद्धि अच्छी तरह होवे ॥ ५२ ॥ इस तरह पूर्वोक्त विशेषज्ञेयतत्त्वका वर्णन किया । आगे ज्ञान-ज्ञेयसे आत्माका

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो ।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्केण संबद्धो ॥ ५३ ॥

स्वप्रदेशैः समग्रो लोकोऽर्थैर्निष्ठितो नित्यः ।
यस्तं जानाति जीवः प्राणचतुष्केन संबद्धः ॥ ५३ ॥

एवमाकाशपदार्थादाकालपदार्थाच्च समस्तैरेव संभावितप्रदेशसद्भावैः पदार्थैः समग्र एव यः समाप्तिं नीतो लोकस्तं खलु तदन्तःपातित्वेऽप्यचिन्त्यस्वपरपरिच्छेदशक्तिसंपदा जीव एव जानीते न त्वितरः । एवं शेषद्रव्याणि ज्ञेयमेव, जीवद्रव्यं तु ज्ञेयं ज्ञानं चेति ज्ञानज्ञेयविभागः । अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे

धिकारः समाप्तः ॥ अतः परं शुद्धजीवस्य द्रव्यभावप्राणैः सह भेदनिमित्तं 'सपदेसेहिं समग्गो' इत्यादि यथाक्रमेण गाथाष्टकपर्यन्तं सामान्यभेदभावनाव्याख्यानं करोति । तद्यथा । अथ ज्ञानज्ञेयज्ञापनार्थं तथैवात्मनः प्राणचतुष्केन सह भेदभावनार्थं वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—लोगो लोको भवति । कथंभूतः । णिट्ठिदो निष्ठितः समाप्तिं नीतो भृतो वा । कैः कर्तृभूतैः । अट्ठेहिं सहजशुद्धबुद्धैकस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतयो येऽर्थास्तैः । पुनरपि किंविशिष्टः । सपदेसेहिं समग्गो स्वकीयप्रदेशैः समग्रः परिपूर्णः । अथवा पदार्थैः कथंभूतैः । सप्रदेशैः प्रदेशसहितैः । पुनरपि किंविशिष्टो लोकः । णिच्चो द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः लोकाकाशापेक्षया वा । अथवा नित्यो न केनापि पुरुषविशेषेण कृतः जो तं जाणदि यः कर्ता तं ज्ञेयभूतलोकं जानाति जीवो स जीवपदार्थो भवति । एतावता किमुक्तं भवति योऽसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो जीवः स ज्ञानं ज्ञेयश्च भण्यते । शेषपदार्थास्तु ज्ञेया एवेति ज्ञातृज्ञेयविभागः । पुनरपि किंविशिष्टो जीवः । पाणचदुक्केण संबद्धो यद्यपि निश्चयेन स्वतःसिद्धपरमचैतन्यस्वभावेन निश्चयप्राणेन जीवति तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशादायुराद्यशुद्धप्राण-

---

निश्चय करके उसको समस्त परभावोंसे जुदा दिखलानेके लिये व्यवहार जीवपनेका कारण कहते हैं—[सप्रदेशैः] अपने अपने प्रदेशोंसे संयुक्त [अर्थैः] सब पदार्थोंसे [समग्रः] भरा हुआ ऐसा जो [लोकः] यह तीन लोक है, वह [नित्यः] अनादिअनंत [निष्ठितः] निश्चल ठहरा हुआ है, [तं] उस द्रव्यस्वरूप लोकको [यः] जो द्रव्य जानता है, [सः] वह द्रव्य [जीवः] चेतनालक्षणवाला जीवनामा जानना चाहिये । वह जीवद्रव्य [प्राणचतुष्काभिसंबद्धः] इंद्रिय, बल, आयु, उच्छ्वास इन चार प्राणोंसे युक्त है । भावार्थ—यह लोक छह द्रव्योंसे रचित है, और सदाकाल अविनाशी है, तथा इस लोकमें छह द्रव्योंमेंसे अचिंत्यशक्ति और अपना-परका जाननेवाला एक जीवद्रव्य ही है, दूसरा कोई नहीं । इससे यह बात सिद्ध हुई कि अन्य पाँच द्रव्य तो ज्ञेय हैं, और जीवद्रव्य ज्ञान भी है, तथा ज्ञेय भी है, ऐसे ज्ञान-ज्ञेयका भेद जानना । और यद्यपि यह जीव वस्तुस्वरूपसे स्वाभाविक उत्पन्न ज्ञानादि शक्ति सहित तीनोंकाल अविनाशी टंकोत्कीर्ण है, तो भी संसार-अवस्थामें अनादि पुद्गलके संयोगसे दूषित हुआ चार प्राणोंसे संबंध रखता है । वे चार प्राण व्यवहारजीवके कारण हैं । इन चार प्राणोंसे इस जीवका भेद करने योग्य है, जिससे कि यह जीव साहजिक (स्वाभाविक)

सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसंश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति ॥ ५३ ॥

अथ के प्राणा इत्यावेदयति—

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य ।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ ५४ ॥

इन्द्रियप्राणश्च तथा बलप्राणस्तथा चायु प्राणश्च ।
आनपानप्राणो जीवाना भवन्ति प्राणास्ते ॥ ५४ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रपञ्चकमिन्द्रियप्राणाः, कायवाङ्मनस्त्रयं बलप्राणाः, भवधारणनिमित्तमायुःप्राणः । उदञ्चनन्यञ्चनात्मको मरुदानप्रानप्राणाः ॥ ५४ ॥

अथ प्राणानां निरुक्त्या जीवत्वहेतुत्वं पौद्गलिकत्वं च सूत्रयति—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो ते पाणा पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥ ५५ ॥

चतुष्केनापि सबद्धः सन् जीवति । तच्च शुद्धनयेन जीवस्वरूप न भवतीति भेदभावना ज्ञातव्येत्यभिप्राय. ॥ ५३ ॥ अथेन्द्रियादिप्राणचतुष्कस्वरूप प्रतिपादयति—अतीन्द्रियानन्तसुखाभावादात्मनो विलक्षण इन्द्रियप्राण , मनोवाक्कायव्यापाररहितात्परमात्मद्रव्याद्विसदृशो बलप्राण., अनाद्यनन्तस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विपरीत साद्यन्त आयु प्राण , उच्छ्वासनिश्वासजनितखेदरहिताच्छुद्धात्मतत्त्वात्प्रतिपक्षभूत आनपानप्राण । एवमायुरिन्द्रियबलोच्छ्वासरूपेणाभेदनयेन जीवाना सबन्धिनश्चत्वार प्राणा भवन्ति । ते च शुद्धनयेन जीवाद्भिन्ना भावयितव्या इति ॥ ५४ ॥ अथ त एव प्राणा भेदनयेन दशविधा भवन्तीत्यावेदयति—

पंच वि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥ *३ ॥

इन्द्रियप्राण. पञ्चविध , त्रिधा बलप्राणः, पुनश्चैक आनपानप्राण , आयु.प्राण. । इति भेदेन दश

अपने निश्चय स्वभावको प्राप्त हो जावे ॥ ५३ ॥ आगे व्यवहारजीवके कारण जो प्राण कहे, उन्हीको कहते है—[इन्द्रियप्राणः] पांच इन्द्रियप्राण [च तथा] और इसीतरह [बलप्राणः] तीन बलप्राण [च तथा] और इसी प्रकार [आयु प्राण.] आयुप्राण [च] और [आनपानप्राणा] उश्वास निश्वास नामा प्राण [ते] ये सब [प्राणाः] १० प्राण [जीवाना] जीवोके होते हैं ॥ **भावार्थ**—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, कर्ण ये पाँच इन्द्रियप्राण, कायबल १, वचनबल २, मनोबल ३, ये तीन बलप्राण, मनुष्यादि पर्यायकी स्थितिका हेतु आयु प्राण और श्वासोछ्वासप्राण, इस प्रकार दस विशेषप्राण है, और चार सामान्य प्राण सभा जीवोके होते हैं ॥ ५४ ॥ आगे इन प्राणोको व्यवहार जीवके कारण कहते हुए पुद्गलीक है, ऐसा दिखाते है—[यः] जो चैतन्यस्वरूप आत्मा [हि] निश्चयसे

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवित. पूर्वम् ।
स जीव ते प्राणा. पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ता. ॥ ५५ ॥

प्राणसामान्येन जीवति जीविष्यति जीवितवांश्च पूर्वमिति जीवः । एवमनादिसंतानप्रवर्तमानतया त्रिसमयावस्थत्वात्प्राणसामान्यं जीवस्य जीवत्वहेतुरस्त्येव । तथापि तन्न जीवस्य स्वभावत्वमवाप्नोति पुद्गलद्रव्यनिर्वृत्तत्वात् ॥ ५५ ॥

अथ प्राणानां पौद्गलिकत्वं साधयति--

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभुंजदि कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥ ५६ ॥

जीव प्राणनिबद्धो बद्धो मोहादिकै. कर्मभि ।
उपभुङ्क्ते कर्मफल बध्यतेऽन्यै· कर्मभि· ॥ ५६ ॥

यतो मोहादिभिः पौद्गलिककर्मभिर्बद्धत्वाज्जीवः प्राणनिबद्धो भवति । यतश्च

प्राणास्तेऽपि चिदानन्दैकस्वभावात्परमात्मनो निश्चयेन भिन्ना ज्ञातव्या इत्यभिप्राय ॥ ३ ॥ अथप्राणशब्दव्युत्पत्त्या जीवस्य जीवत्व प्राणाना पुद्गलस्वरूपत्व च निरूपयति—**पाणेहिं चदुहिं जीवदि** यद्यपि निश्चयेन सत्ताचैतन्यसुखबोधादिशुद्धभावप्राणैर्जीवति तथापि व्यवहारेण वर्तमानकाले द्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिरशुद्धप्राणैर्जीवति **जीवस्सदि** जीविष्यति भाविकाले **जो हि जीविदो** यो हि स्फुटं जीवित **पुव्व** पूर्वकाले **सो जीवो** स जीवो भवति **ते पाणा** ते पूर्वोक्ता प्राणा **पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता** उदयागतपुद्गलकर्मणा निर्वृत्ता निष्पन्ना इति । तत एव कारणात्पुद्गलद्रव्यविपरीतादनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्याद्यनन्तगुणस्वभावात्परमात्मतत्वाद्भिन्ना भावयितव्या इति भाव ॥ ५५ ॥ अथ प्राणाना यत्पूर्वसूत्रोदित पौद्गलिकत्व तदेव दर्शयति—**जीवो पाणणिबद्धो** जीव कर्ता चतुर्भि. प्राणैर्निबद्ध सबद्धो भवति । कथभूत. सन् । **बद्धो** शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षादिविलक्षणैर्बद्ध ।

[**चतुर्भि प्राणै**] पहले कहे हुए इंद्रियादि चार प्राणोसे [**जीवति**] जीता है, [**जीविष्यति**] जीवेगा, [**पूर्वं जीवितः**] पहले जीता था, [**स**] वह [**जीव**] जीवद्रव्य है, [**पुन**] और [**प्राणा·**] चारों प्राण [**पुद्गलद्रव्यै**] पुद्गलद्रव्यसे [**निर्वृत्ता**] रचे गये हैं। **भावार्थ**—यद्यपि यह जीव निश्चयसे आत्मीक निजलक्षणरूप सुख, सत्ता, अवबोध, चैतन्यरूप प्राणोकर सदा अविनाशी जीवित है, तो भी ससार-अवस्थामे अनादिकालसे परद्रव्यसतानके सबधसे तीनकालवर्ती चारो गतिके पर्यायोमे जीवितव्यके कारण व्यवहार प्राणोसे जीवित कहा गया है। वास्तवमे ये चारो प्राण आत्माके निजस्वरूप नही है, पुद्गलद्रव्यसे रचित हैं। इसलिये परभावरूप ही हैं ॥ ५५ ॥ आगे प्राणोको पुद्गलीक दिखलाते हैं—[**मोहादिकै कर्मभि**] मोह, राग, द्वेष, भाव, आदि पुद्गलीक अनेक कर्मोंसे [**बद्ध**] बँधा हुआ [**जीव**] आत्मा [**प्राणनिबद्ध**] चार प्राणोसे बँधा है, और उन प्राणोंके सबधसे ही [**कर्मफल**] उदय अवस्थाको प्राप्त हुए कर्मोंके फलको [**उपभुञ्जान**] भोगता हुआ [**अन्यै· कर्मभिः**] अन्य नवीन ज्ञानावरणादि कर्मोंसे [**बध्यते**] बँधता है। **भावार्थ**—यह आत्मा राग, द्वेष,

प्राणनिबद्धत्वात्पौद्गलिककर्मफलमुपभुञ्जानः पुनरप्यन्यैः पौद्गलिककर्मभिर्बध्यते। ततः पौद्गलिककर्मकार्यत्वात्पौद्गलिककर्मकारणत्वाच्च पौद्गलिका एव प्राणा निश्चीयन्ते ॥ ५६ ॥

अथ प्राणानां पौद्गलिककर्मकारणत्वमुन्मीलयति—

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥ ५६ ॥

प्राणाबाध जीवो मोहप्रद्वेषाभ्या करोति जीवयो. ।
यदि स भवति हि बन्धो ज्ञानावरणादिकर्मभि ॥ ५७ ॥

प्राणैर्हि तावज्जीवः कर्मफलमुपभुङ्क्ते, तदुपभुञ्जानो मोहप्रद्वेषावाप्नोति ताभ्यां

कैर्बद्ध' । **मोहादिएहिं कम्मेहिं** मोहनीयादिकर्मभिर्बद्धस्ततो ज्ञायते मोहादिकर्मभिर्बद्ध सन् प्राणनिबद्धो भवति, न च कर्मबन्धरहित इति। तत एव ज्ञायते प्राणा पुद्गलकर्मोदयजनिता इति। तथाविध' सन् किंकरोति । **उवभुंजदि कम्मफल** परमसमाधिसमुत्पन्ननित्यानन्दैकलक्षणसुखामृतभोजनमलभमानः सन् कटुकविषसमानमपि कर्मफलमुपभुङ्क्ते । **बज्झदि अण्णेहि कम्मेहिं** तत्कर्मफलमुपभुञ्जान सन्नय जीव कर्मरहितात्मनो विसदृशैरन्यकर्मभिर्नवतरकर्मभिर्बध्यते। यत कारणात्कर्मफलं भुञ्जानो नवतरकर्माणि बध्नाति, ततो ज्ञायते प्राणा नवतरपुद्गलकर्मणा कारणभूता इति ॥ ५६ ॥ अथ प्राणा नवतरपुद्गलकर्मबन्धस्य कारण भवन्तीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति— **पाणाबाध** आयुरादिप्राणाना बाधा पीडा **कुणदि** करोति। स क । **जीवो** जीव । काभ्या कृत्वा **मोहपदेसेहिं** सकलविमलकेवलज्ञानप्रदीपेन मोहान्धकारविनाशकात्परमात्मनो विपरीताभ्या मोहप्रद्वेषाभ्याम् । केषा प्राणबाधा करोति। **जीवाण** एकेन्द्रियप्रमुखजीवानाम् । **जदि** यदि चेत् **सो हवदि बधो** तदा स्वात्मोपलम्भप्राप्तिरूपान्मोक्षाद्विपरीतो मूलोत्तरप्रकृत्यादिभेदभिन्न स परमागमप्रसिद्धा

मोह, भावोकर परिणमन करनेसे ही पुद्गलीक चार प्राणोको धारण करता है, और यह पुद्गलीक मोहादिक भावोंसे बँधा हुआ प्राणोसे बद्ध होता है। इस कारण इन प्राणोका कारण पुद्गलद्रव्य है। कारणके समान ही कार्य होता है, इसलिये ये प्राण भी पुद्गलीक है, और इन प्राणोकर उदयको प्राप्त हुए कर्मोंके भोगसे नवीन पुद्गलीककर्म बँधते हैं, इस कारण ये प्राण पुद्गलके कारण हैं। इस तरह भी प्राण पुद्गलीक जानने। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि ये प्राण पुद्गलसे उत्पन्न हुए हैं, और पुद्गलको उत्पन्न भी करते है, इसलिये पुद्गली है ॥ ५६ ॥ आगे नूतन पुद्गलीककर्मके कारण प्राण है, ऐसा दिखलाते है—[**यदि**] यदि [**स**] वह प्राणसयुक्त [**जीव**] ससारी आत्मा [**मोहप्रद्वेषाभ्यां**] राग, द्वेष, भावोसे [**जीवयो**] स्वजीव तथा परजीवोके [**प्राणाबाध**] प्राणोका घात [**करोति**] करता है, [**तदा**] तब [**हि**] निश्चयसे इसके [**ज्ञानावरणादिकर्मभि**] ज्ञानावरणादि आठ कर्मोसे [**बन्ध**] प्रकृति स्थित्यादिरूप बध [**भवति**] होता है। **भावार्थ**—यह जीव प्राणोकर कर्मफलको भोगता है, और उस फलको भोगता हुआ इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमे राग, द्वेष करता है, उन

स्वजीवपरजीवयोः प्राणाबाधं विदधाति । तदा कदाचित्परस्य द्रव्यप्राणानाबाध्य कदाचिदनाबाध्य स्वस्य भावप्राणानुपरक्तत्वेन बाधमानो ज्ञानावरणादीनि कर्माणि बध्नाति । एवं प्राणाः पौद्गलिककर्मकारणतामुपयान्ति ॥ ५७ ॥

अथ पुद्गलप्राणसंततिप्रवृत्तिहेतुमन्तरङ्गमासूत्रयति—

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे ।
ण चयदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥ ५८ ॥

आत्मा कर्ममलीमसो धारयति प्राणान् पुनः पुनरन्यान् ।
न त्यजति यावन्ममत्वं देहप्रधानेषु विषयेषु ॥ ५८ ॥

योऽयमात्मनः पौद्गलिकप्राणानां संतानेन प्रवृत्तिः तस्या अनादिपौद्गलकर्ममूलं, शरीरादिममत्वरूपमुपरक्तत्वमन्तरङ्गो हेतुः ॥ ५८ ॥

हि स्फुटं बन्धो भवति । कैः कृत्वा । णाणावरणादिकम्मेहिं ज्ञानावरणादिकर्मभिरिति । ततो ज्ञायते प्राणाः पुद्गलकर्मबन्धकारणं भवन्तीति । अयमत्रार्थः—यथा कोऽपि तप्तलोहपिण्डेन परं हन्तुकामः सन् पूर्वं तावदात्मानमेव हन्ति पश्चादन्यघाते नियमो नास्ति, तथायमज्ञानी जीवोऽपि तप्तलोहपिण्डस्थानीयमोहादिपरिणामेन परिणतः सन् पूर्वं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्वरूपं स्वकीयशुद्धप्राणं हन्ति पश्चादुत्तरकाले परप्राणघाते नियमो नास्तीति ॥ ५७ ॥ अथेन्द्रियादिप्राणोत्पत्तेरन्तरङ्गहेतुमुपदिशति—**आदा कम्ममलिमसो** अयमात्मा स्वभावेन भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेनात्यन्तनिर्मलोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशान्मलीमसो भवति । तथाभूतः सन् किं करोति । **धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे** धारयति प्राणान् पुनः पुनः अन्यान्नवतरान् । यावत्किम् । **ण चयदि जाव ममत्तं** निःस्नेहचिच्चमत्कारपरिणतेर्विपरीतां ममतां यावत्कालं न त्यजति । केषु विषयेषु । **देहपधाणेसु विसयेसु** देहविषयरहितपरमचैतन्यप्रकाशपरिणतेः प्रतिपक्षभूतेषु देहप्रधानेषु पञ्चेन्द्रियविषयेष्विति । ततः स्थितमेतत् इन्द्रियादिप्राणोत्पत्तेर्देहादिममत्वमेवान्तरङ्गकारणमिति ॥ ५८ ॥

राग, द्वेष, भावोंसे अपने ज्ञानप्राणका नाश करता है, तथा अन्य जीवोंके द्रव्यप्राणोंका घात करता है। जब यह राग, द्वेष, भावोंसे परिणमन करता है, तब अन्य जीवके द्रव्यप्राणोंका घात होवे, अथवा न होवे, परंतु आप तो अवश्य रागी द्वेषी हुआ अपना घात कर लेता है। दूसरी बात यह है, कि जब यह जीव रागी द्वेषी होता है, तब अनेक तरहके बंध करता है, और प्राणोंके संबंधसे पुद्गलीक बंधको करता है। इसलिये ये प्राण पुद्गलीक कर्मके कारण हैं ॥ ५७ ॥ आगे इन प्राणोंकी संतानकी उत्पत्तिका अंतरंग कारण बतलाते हैं—**[कर्ममलीमसः]** अनादिकालसे लेकर कर्मोंकर मैला जो **(आत्मा)** जीवद्रव्य है, वह **(तावत्)** तबतक **(पुनः पुनः)** बारबार **(अन्यान्)** दूसरे नवीन **(प्राणान्)** प्राणोंको **(धारयति)** धारण करता है, **(यावत्)** जबतक कि **(देहप्रधानेषु)** शरीर है, मुख्य जिनमें ऐसे **(विषयेषु)** संसार, शरीर, भोग, आदिक विषयोंमें **(ममता)** ममत्व बुद्धिको **(न त्यजति)** नहीं छोड़ देता। **भावार्थ**—जबतक इस जीवके शरीरादिमें से ममत्वबुद्धि नहीं छूटती, तबतक

अथ पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तिहेतुमन्तरङ्गं ग्राहयति—

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥ ५९ ॥

य इन्द्रियादिविजयी भूत्वोपयोगमात्मकं ध्यायति ।
कर्मभिः स न रज्यते कथं तं प्राणा अनुचरन्ति ॥ ५९ ॥

पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तेरन्तरङ्गो हेतुर्हि पौद्गलिककर्ममूलस्योपरक्तत्वस्याभावः । स तु समस्तेन्द्रियादिपरद्रव्यानुविजयिनो भूत्वा समस्तोपाश्रयानुवृत्तिव्यावृत्तस्य स्फटिकमणेरिवात्यन्तविशुद्धमुपयोगमात्रमात्मानं सुनिश्चलं केवलमधिवसतः स्यात् । इदमत्र तात्पर्यम्—आत्मनोऽत्यन्तविभक्तसिद्धये व्यवहारजीवत्वहेतवः पुद्गलप्राणा एवमुच्छेत्तव्याः ॥ ५९ ॥

अथ पुनरस्यात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वसिद्धये गतिविशिष्टव्यवहारजीवत्वहेतुपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अथेन्द्रियादिप्राणानामभ्यन्तरविनाशकारणमावेदयति—**जो इंदियादिविजई भवीय** यः कर्तातीन्द्रियात्मोत्थसुखामृतसंतोषबलेन जितेन्द्रियत्वेन नि.कषायनिर्मलानुभूतिबलेन कषायजयेन पञ्चेन्द्रियादिविजयीभूत्वा **उवओगमप्पग झादि** केवलज्ञानदर्शनोपयोग निजात्मान ध्यायति **कम्मेहिं सो ण रंजदि** कर्मभिश्चिच्चमत्कारादात्मन प्रतिबन्धकैर्ज्ञानावरणादिकर्मभि स न रज्यते न बध्यते । **किह तं पाणा अणुचरति** कर्मबन्धाभावे सति त पुरुष प्राणा कर्तार कथमनुचरन्ति कथमाश्रयन्ति । न कथमपीति । ततो ज्ञायते कषायेन्द्रियविजय एव पञ्चेद्रियादिप्राणाना विनाशकारणमिति ॥ ५९ ॥ एव 'सपदेसेहिं समग्गो' इत्यादिगाथाष्टकेन सामान्यभेदभावनाधिकार. समाप्त. । अथानन्तरमेकपञ्चाशद्गाथापर्यन्त विशेषभेदभावनाधिकार. कथ्यते । तत्र विशेषान्तराधिकारचतुष्टय

चतुर्गतिरूप ससारके कारण प्राणोको धारण करता है । इस कारण प्राणोका अतरग कारण जो ममता भाव है, वह सब तरहसे त्यागने योग्य है ॥ ५८ ॥ आगे इन पुद्गलीक प्राणोकी संतानके नाशका अतरग कारण कहते हैं—[य] जो पुरुष [**इन्द्रियादिविजयीभूत्वा**] इद्रिय कषाय अव्रतादिक विषयोको जीतनेवाला होकर [**आत्मकं**] अपने [**उपयोगं**] समस्त परभावोसे भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूपका [**ध्यायति**] एकाग्र चित्त होकर अनुभव करता है, [**स**] वह भेदविज्ञानी [**कर्मभिः**] समस्त शुभाशुभकर्मोसे [**न रज्यते**] रागी नही होता, [**तं**] उस महात्माको [**प्राणा.**] ससारसतानके कारण पुद्गलीक प्राण [**कथं**] किस तरह [**अनुचरन्ति**] सबद्ध कर सकते है ? किसी तरहसे भी नही । **भावार्थ**—पुद्गल-सतानके अभावका कारण एक वीतरागभाव है । जैसे स्फटिकमणिकी शुद्धताका कारण उसके समीप काली पीली हरी आदि वस्तुका अभाव है, उसी तरह यह आत्मा सकल इद्रिय विकारोसे रहित होकर निज स्वरूपमे थिर होनेसे शुद्धस्वरूपको प्राप्त होता है, उसके बाद फिर प्राणधारणरूप दूसरा जन्म नही धारण करता । इसलिये इष्ट अनिष्ट पदार्थमे रागभाव त्यागना योग्य है ॥ ५९ ॥ आगे फिर परभावोसे जुदा आत्माको दिखलानेके लिये व्यवहारजीवके चार गतियोके पर्यायोका स्वरूप कहते हैं—[**अस्तित्वनिश्चितस्य**] अपने सहज स्वभावरूप स्वरूपके

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥ ६० ॥

अस्तित्वनिश्चितस्य ह्यर्थस्यार्थान्तरे सभूत ।
अर्थ पर्याय स संस्थानादिप्रभेदै ॥ ६० ॥

स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया सभावितात्मलाभोऽर्थोऽनेकद्रव्यात्मकः पर्यायः। स खलु पुद्गलस्य पुद्गलान्तर इव जीवस्य पुद्गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमानः संभाव्यत एव। उपपन्नश्चैवंविधः पर्यायः। अनेकद्रव्यसंयोगात्मत्वेन केवलजीवव्यतिरेकमात्रस्यैकद्रव्यपर्यायस्यास्खलितस्यान्तरवभासनात् ॥ ६० ॥

भवति। तेषु चतुर्षु मध्ये शुभाद्युपयोगत्रयमुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्त प्रथमविशेषान्तराधिकार प्रारभ्यते। तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति। तस्मिन्नादौ नरादिपर्यायै सह शुद्धात्मस्वरूपस्य पृथक्त्वपरिज्ञानार्थं 'अस्थित्तणिच्छदस्स हि' इत्यादि यथाक्रमेण गाथात्रयम्। [1]तदनन्तर तेषा संयोगकारण 'अप्पा उवओगप्पा' इत्यादि गाथाद्वयम्। तदनन्तर शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन 'जो जाणादि जिणिंदे' इत्यादि गाथात्रयम्। तदनन्तर कायवाङ्मनसा शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेण 'णाहं देहो' इत्यादि गाथात्रयम्। एवमेकादशगाथाभि प्रथमविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा—अथ पुनरपि शुद्धात्मनो विशेषभेदभावनार्थं नरनारकादिपर्यायरूपं व्यवहारजीवत्वहेतु दर्शयति—**अत्थित्तणिच्छिदस्स हि** चिदानन्दैकलक्षणस्वरूपास्तित्वेन निश्चितस्य ज्ञानस्य हि स्फुटम्। कस्य। **अत्थस्स** परमात्मपदार्थस्य **अत्थतरम्मि** शुद्धात्मार्थादन्यस्मिन् ज्ञानावरणादिकर्मरूपे अर्थान्तरे **सभूदो** सजात उत्पन्न **अत्थो** यो नरनारकादिरूपोऽर्थ। **पज्जाओ सो** निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिलक्षणस्वभावव्यञ्जनपर्यायादन्यादृश. सन् विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति। स इत्थंभूतपर्यायो जीवस्य। कै कृत्वा जात.। **सठाणादिप्पभेदेहि** सस्थानादिरहितपरमात्मद्रव्यविलक्षणैः

अस्तित्वकर निश्चल जो [**अर्थस्य**] जीवपदार्थ है, उसके [**हि**] निश्चयसे [**यः**] जो [**अर्थान्तरे संभूत**] अन्य पदार्थ पुद्गलद्रव्यके सयोगसे उत्पन्न हुआ, [**अर्थ**] जो अनेक द्रव्यस्वरूप पदार्थ है, [**स**] वह संयोगजनित भाव [**सस्थानादिप्रभेदै.**] सस्थान सहननादिके भेदोसे [**पर्याय**] नर नारक आदि विभाव (विकार) पर्याय हैं। **भावार्थ**—जीवके पुद्गलके सयोगसे नर नारकादि विभावपर्याय उत्पन्न होते है। वे पर्याय व्यवहार जीवके कारण हैं, सर्वथा विनाशवान् हैं, तथा त्यागने योग्य हैं, और जो जीवके पुद्गल-सयोगसे भिन्न असख्यातप्रदेशी अंतरंगमे प्रकाशमान नित्य अखडित ज्ञान दर्शनादिपर्याय हैं, वे उपादेय (ग्रहण करने योग्य) हैं ॥ ६० ॥ आगे द्रव्यपर्यायके भेद दिखलाते हैं—

---

[1] पुस्तकान्तरे तदनन्तरं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन 'अप्पा उवओगप्पा' इत्यादिसूत्रद्वय, तदन्तर शरीरवाङ्मनसा सवधित्वेन शुद्धात्मन कर्तृकरणादिनिषेधकथनमुख्यत्वेन 'णाहं देहो' इत्यादि गाथात्रयम्, तत. पर तस्यैवोपयोगत्रयस्य विशेषव्याख्यानार्थं 'जो जाणादि जिणिंदे' इत्यादि गाथात्रयम्।

अथ पर्यायव्यक्तीर्दर्शयति—

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा ।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥ ६१ ॥

नरनारकतिर्यक्सुरा सस्थानादिभिरन्यथा जाता ।
पर्याया जोवानामुदयादिभिर्नामकर्मण. ॥ ६१ ॥

नारकस्तिर्यङ्मनुष्यो देव इति किल पर्याया जीवानाम् । ते खलु नामकर्मपुद्गलविपाककारणत्वेनानेकद्रव्यसयोगात्मकत्वात् कुकूलाङ्गारादिपर्याया जातवेदसः क्षोभखिल्वसंस्थानादिभिरिव संस्थानादिभिरन्यथैव भूता भवन्ति ॥ ६१ ॥

अथात्मनोऽन्यद्रव्यसंकीर्णत्वेऽप्यर्थनिश्चायकमस्तित्वं स्वपरविभागहेतुत्वेनोद्द्योतयति—

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं ।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥ ६२ ॥

त सद्भावनिबद्ध द्रव्यस्वभावं त्रिधा समाख्यातम् ।
जानाति य सविकल्प न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये ॥ ६२ ॥

सस्थानसहननशरीरादिप्रभेदैरिति ॥ ६० ॥ अथ तानेव पर्यायभेदान् व्यक्तीकरोति—**णरणारयतिरियसुरा** नरनारकतिर्यग्देवरूपा अवस्थाविशेषा । **सठाणादीहि अण्णहा जादा** सस्थानादिभिरन्यथा जाता , मनुष्यभवे यत्समचतुरस्रादिसस्थानमौदारिकशरीरादिक च तदपेक्षया भवान्तरेऽन्यद्विसदृश सस्थानादिक भवति । तेन कारणेन ते नरनारकादिपर्याया अन्यथा जाता भिन्ना भण्यन्ते । न च शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मद्रव्यत्वेन । कस्मात् । तृणकाष्ठपत्राकारादिभेदभिन्नस्याग्नेरिव स्वरूप तदेव । **पज्जाया जीवाणं** ते च नरनारकादयो जीवाना विभावव्यञ्जनपर्याया भण्यन्ते । के कृत्वा । **उदयादिहि णामकम्मस्स** उदयादिभिर्नामकर्मणो निर्दोषपरमात्मशब्दवाच्यान्निर्णामनिर्गोत्रादिलक्षणाच्छुद्धात्मद्रव्यादन्यादृशैर्नामकर्मजनितैर्बन्धोदयोदीरणादिभिरिति । यत एव ते कर्मोदयजनितास्ततो ज्ञायन्ते शुद्धात्मस्वरूप न सभवन्तीति ॥ ६१ ॥ अथ स्वरूपास्तित्वलक्षण परमात्मद्रव्य योऽसौ जानाति स परद्रव्ये मोह न करोतीति प्रकाशयति—**जाणदि** जानाति **जो** य. कर्ता ।

[हि] निश्चयसे [जीवाना] ससारी जीवोके [**नरनारकतिर्यक्सुरा पर्याया**] मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देवपर्याय हैं, वे [**नामकर्मण उदयात्**] पुद्गलविपाकी नामकर्मके उदयसे [**सस्थानादिभिः**] सस्थान, सहनन, स्पर्श, रसादिके भेदोंसे [**अन्यथा जाताः**] स्वभावपर्यायसे भिन्न विभावस्वरूप उत्पन्न होते हैं । **भावार्थ**—जैसे अग्नि, गोबरके छानेसे तथा लकडी, तृण इत्यादि अनेक प्रकारके ईंधनके सयोगसे उत्पन्न अनेक तरहके आकारोसे विभाव (विकार) रूप पर्याय सहित होती है, उसी तरह इस जीवके पुद्गलके सयोगसे देवादिक नाना विकार उत्पन्न होते है ॥ ६१ ॥ आगे यद्यपि परद्रव्योसे आत्मा मिला हुआ है, तो भी स्वपरभेदके निमित्त स्वरूपास्तित्वको दिखलाते हैं—[**य**] जो पुरुष [त] उस पूर्वकथित [**सद्भावनिबद्ध**] द्रव्यके स्वरूपास्तित्वकर सयुक्त और

यत्खलु स्वलक्षणभूतं स्वरूपास्तित्वमर्थनिश्चायकमाख्यातं स खलु द्रव्यस्य स्वभाव एव, सद्भावनिबद्धत्वाद्द्रव्यस्वभावस्य । यथासौ द्रव्यस्वभावो द्रव्यगुणपर्यायत्वेन स्थित्युत्पादव्ययत्वेन च त्रितयीं विकल्पभूमिकामधिरूढः परिज्ञायमानः परद्रव्ये मोहमपोह्य स्वपरविभागहेतुर्भवति ततः स्वरूपास्तित्वमेव स्वपरविभागसिद्धये प्रतिपदमवधार्यम् । तथा हि—यच्चेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं यश्चेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो यश्चेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिना चेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेन चेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वं यस्य नु स्वभावोऽहं स खल्वयमन्यः । यच्चाचेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्य योऽचेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो योऽचेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मक, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिनाचेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेनाचेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वम् । यस्य तु स्वभावः पुद्गलस्य स खल्वयमन्यः नास्ति । मे मोहोऽस्ति स्वपरविभागः ॥ ६२ ॥

कम् । तं पूर्वोक्तं दव्वसहावं परमात्मद्रव्यस्वभावम् । किंविशिष्टम् । सब्भावणिबद्धं स्वभाव स्वरूपसत्ता तत्र निबद्धमाधीनं तन्मयं सद्भावनिबद्धम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । तिहा समक्खादं त्रिधा समाख्यातं कथितम् । केवलज्ञानादयो गुणा सिद्धत्वादिविशुद्धपर्यायास्तदुभयाधारभूतं परमात्मद्रव्यं द्रव्यत्वमित्युक्तलक्षणत्रयात्मकं तथैव शुद्धोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयात्मकं च यत्पूर्वोक्तं स्वरूपास्तित्वं तेन कृत्वा त्रिधा सम्यगाख्यातं कथितं प्रतिपादितम् । पुनरपि कथंभूतं आत्मस्वभावम् । सवियप्पं सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनं पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायरूपेण सभेदम् । इत्थंभूतमात्मस्वभावं जानाति, ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये स तु भेदज्ञानी विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमात्मतत्त्वं देहरागादिपरद्रव्ये मोहं न गच्छतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥ एवं नरनारकादिपर्यायैः सह

[त्रिधा समाख्यातं] द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ऐसे तीन प्रकार कहे हुए [द्रव्यस्वभाव] द्रव्यके निज लक्षणको [सविकल्प] भेद सहित [जानाति] जानता है, [स] वह भेदविज्ञानी [अन्यद्रव्ये] अपनेसे भिन्न अचेतनद्रव्योमे [न मुह्यति] मोहको नही प्राप्त होता । भावार्थ—जो पुरुष द्रव्य, गुण, पर्याय, भेदोंसे तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन भेदोसे स्वरूप और पररूपको अच्छी तरह जानता है, वह स्वरूपास्तित्वका जाननेवाला स्वपरका ज्ञायक ही होता है। परपदार्थमे रागी, द्वेषी, तथा मोही नही होता । इसी स्वपर भेदको विशेषतासे दिखाते हैं—जो जीव काललब्धि (अच्छी होनहार) पाकर दर्शनमोहका उपशम अथवा क्षय करता है, उसी जीवको ऐसा भेद-विज्ञान होता है, कि जो चैतन्यवस्तुरूप द्रव्य है, चैतन्य परिणतिरूप पर्याय है, और जो चैतन्यरूप गुण है, वह मेरा स्वरूप है। यही मेरा स्वरूप अपने चैतन्यपरिणामसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यता लिये हुए अपने स्वरूपास्तित्वसे सयुक्त है । तथा जो यह मुझसे पर है, वह अचेतनद्रव्य है । वह अचेतनद्रव्य अपने अचेतनत्व गुण सहित है, अपने अचेतनपर्यायस्वरूप परिणमता है, और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको लिये हुए अपने स्वरूपास्तित्व सयुक्त है, इस कारण मेरे स्वरूपसे भिन्न पुद्गलका विकार जो यह मोह है, वह मेरा स्वरूप नही है, यह मुझे विश्वास है । इस प्रकार ज्ञानीके स्व

अथात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय परद्रव्यसंयोगकारणस्वरूपमालोचयति—

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो ।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥ ६३ ॥

आत्मा उपयोगात्मा उपयोगो ज्ञानदर्शनं भणितः ।
सोऽपि शुभोऽशुभो वा उपयोग आत्मनो भवति ॥ ६३ ॥

आत्मनो हि परद्रव्यसंयोगकारणमुपयोगविशेषः, उपयोगो हि तावदात्मनः स्वभावश्चैतन्यानुविधायिपरिणामत्वात् । स तु ज्ञानं दर्शनं च साकारनिराकारत्वेनोभयरूपत्वाच्चैतन्यस्य । अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन । तत्र शुद्धो निरुपरागः, अशुद्धः सोपरागः । स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च ॥ ६३ ॥

अथात्र क उपयोगः परद्रव्यसंयोगकारणमित्यावेदयति—

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥ ६४ ॥

परमात्मनो विशेषभेदकथनरूपेण प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम् । अथात्मनः पूर्वोक्तप्रकारेण नरनारकादिपर्यायैः सह भिन्नत्वपरिज्ञानं जातं, तावदिदानीं तेषां संयोगकारणं कथ्यते—अप्पा आत्मा भवति । कथंभूतः । उवओगप्पा चैतन्यानुविधायी योऽसावुपयोगस्तेन निर्वृत्तत्वादुपयोगात्मा । उवओगो णाणदंसणं भणिदो स चोपयोगः सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनमिति भणितः सो वि सुहो सोऽपि ज्ञानदर्शनोपयोगधर्मानुरागरूपः शुभः असुहो विषयानुरागरूपो द्वेषमोहरूपश्चाशुभः । वाशब्देन शुभाशुभानुरागरहितत्वेन शुद्धः । उवओगो अप्पणो हवदि इत्थंभूतस्त्रिलक्षण उपयोग आत्मनः संबन्धी भवतीत्यर्थः ॥६३॥ अथोपयोगस्तावन्नरकादिपर्यायकारणभूतस्य कर्मरूपस्य परद्रव्यस्य संयोग-

---

और परका भेद होता है ॥ ६२ ॥ आगे सब प्रकारसे आत्माको भिन्न करनेके लिये परद्रव्यके संयोगका कारण दिखलाते है—[आत्मा] जीवद्रव्य [उपयोगात्मा] चेतना स्वरूप है, [उपयोगः] वह चेतना परिणाम [ज्ञानदर्शनं] जानना देखनास्वरूप दो भेद [भणितः] कहा गया है, [सः] वह ज्ञान दर्शनरूप दो प्रकार [आत्मनः] आत्माका [उपयोगः] चैतन्य परिणाम [हि] निश्चयसे [शुभः] शुभरूप [वा] अथवा [अशुभः] अशुभरूप [भवति] होता है । भावार्थ—जीवके साथ पौद्गलीक वर्गणाओंके बंधका कारण अशुद्ध चेतनास्वरूप उपयोग है, वह उपयोग आत्माका ज्ञान दर्शनरूप चैतन्यपरिणाम है । उनमें सामान्यचेतना 'दर्शन' है, और 'ज्ञान' विशेषचेतना है । यह ज्ञान, दर्शनरूप उपयोग शुद्ध अशुद्ध ऐसे दो प्रकारका है । जो वीतरागउपयोग है, वह तो 'शुद्धोपयोग' है, और जो सरागउपयोग है, वह 'अशुद्धोपयोग' है । यह अशुद्धोपयोग भी विशुद्ध (मंद कषाय) और संक्लेश (तीव्र कषाय) के भेदसे दो प्रकारका है । विशुद्धरूप 'शुभोपयोग' है, और संक्लेशरूप 'अशुभोपयोग' है, ॥६३॥ आगे शुभोपयोग अशुभोपयोग इन दोनोंमें परद्रव्यके संबंधका कारण

उपयोगो यदि हि शुभ पुण्य जीवस्य संचयं याति ।
अशुभो वा तथा पापं तयोरभावे न चयोऽस्ति ।। ६४ ।।

उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः । स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्तद्वैविध्यः । पुण्यपापत्वेनोपात्तद्वैविध्यस्य परद्रव्यस्य सयोगकारणत्वेन निर्वर्तयति । यदा तु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभावः क्रियते तदा खलूपयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते । स पुनरकारणमेव परद्रव्यसंयोगस्य ॥ ६४ ॥

अथ शुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति—

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे ।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ।। ६५ ।।

कारण भवति । तावदिदानी कस्य कर्मण' क उपयोग कारण भवतीति विचारयति—**उवओगो जदि हि सुहो** उपयोगो यदि चेत् हि स्फुट शुभो भवति । **पुण्णं जीवस्स सचयं जादि** तदाकाले द्रव्यपुण्य कर्तृ जीवस्य सचयमुपचय वृद्धि यादि बध्यत इत्यर्थ । **असुहो वा तह पावं** अशुभोपयोगो वा तथा तेनैव प्रकारेण पुण्यवद् द्रव्यपाप सचय याति । **तेसिमभावे ण चयमत्थि** तयोरभावे न चयोऽस्ति । निर्दोषिनिजपरमात्मभावनारूपेण शुद्धोपयोगबलेन यदा तयोद्वयो शुभाशुभोपयोगयोरभाव क्रियते तदोभय सचय कर्मबन्धो नास्तीत्यर्थ ॥ ६४ ॥ एव शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयस्य सामान्यकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वय गतम् । अथ विशेषेण शुभोपयोगस्वरूप व्याख्याति-**जो जाणादि जिणिंदे** य कर्ता जानाति । कान् । अनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहितान् क्षुधाद्यष्टादशदोषरहिताश्च

बतलाते हैं । **[जीवस्य]** आत्माके **[यदि]** जो **[हि]** निश्चयकर **[शुभः]** दान पूजा आदि क्रिया शुभरूप **[उपयोग.]** चैतन्यविकारमय अशुद्ध परिणाम होता है, **[तदा]** उस समय **[पुण्यं]** साताको उत्पन्न करनेवाला पुण्यरूप पुद्गलपिंड **[संचयं]** इकट्ठा होकर आत्माके प्रदेशोमे बधपनेको **[याति]** प्राप्त होता है, **[वा]** अथवा **[अशुभ]** जिस समय आत्माके मिथ्यात्व विषय कषायादिरूप अशुभोपयोग होता है, तो **[तथा]** उसी प्रकार इकट्ठा होकर **[पापं]** असाताको करनेवाला पापरूप पुद्गलवर्गणाका पिंड आकर बँधता है । **[तयो]** उन शुभोपयोग अशुभोपयोग परिणामोंके **[अभावे]** नाश होनेपर **[चय]** परद्रव्यका सचयरूप बध **[न अस्ति]** नही होता है । **भावार्थ**—इस आत्माके शुभ अशुभरूप दोनो प्रकारका जो अशुद्धोपयोग है, वह बधका ही कारण है, उस अशुद्धोपयोगका अभाव होनेसे, तथा निर्मल शुद्धोपयोगभावरूप परिणमन करनेसे ही इसके परद्रव्यका सयोग नही होता । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि शुभ अशुभरूप अशुद्धोपयोग परद्रव्यके सयोगका कारण है, और शुद्धोपयोग मोक्षका कारण है ॥६४॥ आगे शुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं-**[य]** जो जीव **[जिनेन्द्रान्]** परमपूज्य देवाधिदेव परमेश्वर वीतराग जो अरहतदेव हैं, उनके स्वरूपको **[जानाति]** जानता है, **[सिद्धान्]** अष्टकर्मोपाधि रहित सिद्ध परमेष्ठियोको **[पश्यति]** ज्ञानदृष्टिसे देखता है, **[तथैव]** उसी

यो जानाति जिनेन्द्रान् पश्यति सिद्धास्तथैवानगारान् ।
जीवेषु सानुकम्प उपयोग. स शुभस्तस्य ॥ ६५ ॥

विशिष्टक्षयोपशमदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्‌गलानुवृत्तिपरत्वेन परिगृहीतशोभनोपरागत्वात् परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभ उपयोग ॥ ६५ ॥

अथाशुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति--

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥ ६६ ॥

विषयकषायावगाढो दु श्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्टियुत. ।
उग्र उन्मार्गपर उपयोगो यस्य सोऽशुभ ॥ ६६ ॥

जिनेन्द्रान् । **पेच्छदि सिद्धे** पश्यति । कान् । ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मरहितान्सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहिताश्च सिद्धान् **तहेव अणगारे** तथैवानगारान् । अनगारशब्दवाच्यान्निश्चयव्यवहारपञ्चाचारादियथोक्तलक्षणानाचार्योपाध्यायसाधून् । **जीवेसु साणुकंपो** त्रसस्थावरजीवेषु सानुकम्प सदयः **उवओगो सो सुहो** स इत्थभूत उपयोग. शुभो भण्यते । स च कस्य भवति । **तस्स** तस्य पूर्वोक्तलक्षणजीवस्येत्यभिप्राय. ॥ ६५ ॥ अथाशुभोपयोगस्वरूप निरूपयति—**विसयकसाओगाढो** विषयकषायावगाढ **दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो** दु.श्रुतिदुश्चितदुष्टगोष्ठीयुतः **उग्गो** उग्र. **उम्मग्गपरो** उन्मार्गपर **उवओगो** एव विशेषणचतुष्टययुक्त उपयोग परिणाम **जस्स** यस्य जीवस्य भवति **सो असुहो** स उपयोगस्त्वशुभोपयोगो भण्यते, अभेदेन पुरुषो वा । तथा हि—विषयकषायरहितशुद्धचैतन्यपरिणते प्रतिपक्षभूतो विषयकषायावगाढो विषयकषायपरिणत. । शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादिका श्रुति सुश्रुतिस्तद्विलक्षणा दु श्रुति मिथ्याशास्त्रश्रुतिर्वा । निश्चिन्तात्मध्यानपरिणत सुचित्त, तद्विनाशकं दुश्चित्तं, स्वपरनिमित्तेष्टकामभोगचिन्तापरिणत रागाद्यपध्यान वा । परमचैतन्यपरि-

---

प्रकार (**अनगारान्**) आचार्य उपाध्याय साधुओंको भी जानता है, देखता है, (**च**) और (**जीवे**) (**सानुकम्पः**) दयाभावयुक्त है, (**तस्य**) उस जीवके (**स**) वह (**शुभः**) शुभरूप (**उपयोगः**) चैतन्यविकाररूप परिणाम जानना चाहिये । **भावार्थ**—जिस जीवके दर्शनमोहनीय अथवा चारित्रमोहनीयकर्मकी विशेषतारूप क्षयोपशम अवस्था तो न हुई हो, और शुभरागका उदय हो, उस जीवके भक्तिपूर्वक पचपरमेष्ठीके देखने, जानने, श्रद्धाकरनेरूप परिणाम होवें, तथा सब जीवोमे दयाभाव हो, यही शुभोपयोगका लक्षण जानना चाहिये ॥ ६५ ॥ आगे अशुभोपयोगका स्वरूप कहते है— (**यस्य**) जिस जीवका (**उपयोगः**) अशुद्ध चैतन्य विकार परिणाम (**विषयकषायावगाढ**) इन्द्रिय विषय तथा क्रोधादि कषाय इनसे अत्यत गाढ हो, (**दु श्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठीयुत.**) मिथ्या शास्त्रोका सुनना, आर्त रौद्र अशुभ ध्यानरूप मन, पराई निंदा आदि चर्चा, इनमे उपयोग सहित हो, (**उग्र**) हिंसादि आचरणके करनेमे महा उद्यमी हो, और (**उन्मार्गपरः**) वीतराग सर्वज्ञकथित

विशिष्टोदयदशाविश्रान्तदर्शनज्ञानचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिगृहीताशोभनोपरागत्वात्परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुभ्योऽन्यत्रोन्मार्गश्रद्धाने विषयकषायदुःश्रवणदुराशयदुष्टसेवनोग्रताचरणे च प्रवृत्तोऽशुभोपयोगः ॥६६॥

अथ परद्रव्यसंयोगकारणविनाशमभ्यस्यति—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि ।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥ ६७ ॥

अशुभोपयोगरहित शुभोपयुक्तो न अन्यद्रव्ये ।
भवन्मध्यस्थोऽहं ज्ञानात्मकमात्मक ध्यायामि ॥ ६७ ॥

यो हि नामायं परद्रव्यसंयोगकारणत्वेनोपन्यस्तोऽशुद्ध उपयोगः स खलु मन्दतीव्रोदयदशाविश्रान्तपरद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वादेव प्रवर्तते न पुनरन्यस्मात् । ततोऽहमेष

णतेर्विनाशिका दुष्टगोष्ठी तत्प्रतिपक्षभूतकुशीलपुरुषगोष्ठी वा । इत्थंभूत दु श्रु तिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठीभिर्युतो दु श्रु तिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठीयुक्त परमोपशमभावपरिणतपरमचैतन्यस्वभावात्प्रतिकूल उग्र वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारमोक्षमार्गाद्विलक्षण उन्मार्गपर । इत्थभूतविशेषणचतुष्टयसहित उपयोग. परिणाम तत्परिणतपुरुषो वेत्यशुभोपयोगो भण्यत इत्यर्थं ॥ ६६ ॥ अथ शुभाशुभरहितशुद्धोपयोग प्ररूपयति—**असुहोवओगरहिदो** अशुभोपयोगरहितो भवामि । स क अहं अह कर्ता । पुनरपि कथभूत । **सुहोवजुत्तो ण** शुभोपयोगयुक्त परिणतो न भवामि । क्व विषयेऽसौ शुभोपयोगः **अण्णदवियम्हि** निजपरमात्मद्रव्यादन्यद्रव्ये । तर्हि कथभूतो भवामि । **होज्जं मज्झत्थो** जीवितमरण-

---

मार्गसे उलटा जो मिथ्यामार्ग उसमे सावधान हो, (**स**) वह परिणाम (**अशुभ**) अशुभोपयोग कहा है । **भावार्थ**—जब इस जीवके दर्शनमोह तथा चारित्रमोहका तीव्र उदय होता है, तब वह अशुभरागके ग्रहण करनेसे पंचपरमेष्ठीमे रुचि नही करता, मिथ्यामार्गका श्रद्धानी होकर विषयकषायोमे प्रवर्तता है, मिथ्या सिद्धातशास्त्रोको सुनता है, खोटे आचरण करता है, इत्यादि पापक्रियाओमें लीन होता है, इसीसे वह जीव अशुभोपयोगी कहा जाता है ॥ ६६ ॥ आगे परद्रव्य संयोगके कारण जो शुभ अशुभभाव हैं उनके नाश होनेका कारण दिखलाते हैं—(**अशुभोपयोगरहितः**) मिथ्यात्व, विषय, कषायादि रहित हुआ (**शुभोपयुक्तः न**) शुभोपयोगरूप भावोमे भी उपयोग नही करनेवाला (**अन्यद्रव्ये मध्यस्थो भवन्**) और शुभ अशुभ द्रव्य भावरूप पर भावोमें मध्यवर्ती हुआ अर्थात् दोनोको समान माननेवाला ऐसा जो (अह) स्वपरविवेकी मैं हूँ, सो (**ज्ञानात्मकं**) ज्ञानस्वरूप (**आत्मानं**) शुद्ध जीवद्रव्यको (**ध्यायामि**) परमसमरसीभावमे मग्न हुआ अनुभव करता हूँ । **भावार्थ**—यह जो परसंयोगका कारण शुभ अशुभरूप अशुद्ध उपयोग होता है, वह मोहनीयकर्मकी मद तीव्र दशाके आधीन होकर प्रवर्तता है, शुद्ध आत्मीक भावसे विपरीत (उलटा) है, परद्रव्यरूप है, इस कारण इन दोनो शुभ अशुभ भावोमे मेरी समान वुद्धि है, इसी लिये मैं मध्यस्थ हूँ, परद्रव्यको

सर्वस्मिन्नेव परद्रव्ये मध्यस्थो भवामि । एवं भवश्चाहं परद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वा शुद्धोपयोगेन निर्मुक्तो भूत्वा केवलस्वद्रव्यानुवृत्तिपरिग्रहात् प्रसिद्ध-शुद्धोपयोग उपयोगात्मनात्मन्येव नित्यं निश्चलमुपयुञ्जंस्तिष्ठामि । एष मे परद्रव्य-संयोगकारणविनाशाभ्यासः ॥ ६७ ॥

अथ शरीरादावपि परद्रव्ये माध्यस्थं प्रकटयति—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ६८ ॥

नाहं देहो न मनो न चैव वाणी न कारणं तेषाम् ।
कर्ता न न कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम् ॥ ६८ ॥

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति । सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । तथा हि—न खल्वहं शरीरवा-ङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि, तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्या-त्मनः स्वरूपं धारयन्ति । ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि । न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवन्ति भवन्ति । ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तमध्यस्थः । न

लाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादिविषये मध्यस्थो भवामि । इत्थंभूतः सन् किं करोमि । णाण-प्पगमप्पगं झाए ज्ञानात्मकमात्मानं ध्यायामि । ज्ञानेन निर्वृत्तज्ञानात्मकं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणा-त्मकं निजात्मानं शुद्धध्यानप्रतिपक्षभूतसमस्तमनोरथरूपचिन्ताजालत्यागेन ध्यायामीति शुद्धोपयोग-लक्षणं ज्ञातव्यम् ॥ ६७ ॥ एवं शुभाशुभशुद्धोपयोगविवरणरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम् । अथ देहमनोवचनविषयेऽत्यन्तमाध्यस्थ्यमुद्द्योतयति—णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी नाहं देहो न मनो न चैव वाणी । मनोवचनकायव्यापाररहितात्परमात्मद्रव्याद्भिन्नं यन्मनोवचनकायत्रयं निश्चयनयेन तन्नाहं भवामि । ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि । ण कारणं तेसिं न कारणं तेषाम् । निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतेर्यदुपादानकारणभूतमात्मद्रव्यं तद्वि-

---

अंगीकार नहीं करता हूँ, इस कारण मैं अशुद्धोपयोगसे रहित हुआ केवल स्वरूपकी प्रवृत्तिसे शुद्धोपयोगी होकर आत्मामें सदा काल निश्चल होकर तिष्ठता हूँ। यह जो मेरे आत्मलीन शुद्धो-पयोग वृत्ति है, वही परद्रव्यसंयोग कारणके विनाशका अभ्यास है, यही मोक्षमार्ग है, यही साक्षात् जीवन्मोक्ष है, और यही कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आस्रव, बंधभाव, दशासे रहित सिद्धस्वरूप शुद्धभाव है ॥ ६७ ॥ आगे शरीरादि परद्रव्यमें भी मध्यस्थ भाव दिखलाते हैं—(अहं) मैं जो शुद्धचिन्मात्र स्वपरविवेकी हूँ, सो (देहः न) शरीररूप नहीं हूँ, (मनो न) मनयोगरूप भी नहीं हूँ, (च) और (एव) निश्चयसे (वाणी न) वचनयोगरूप भी नहीं हूँ, (तेषां कारणं न) उन काय वचन मनका उपादान कारणरूप पुद्गलपिंड भी नहीं हूँ, (कर्ता न) उन तीन योगोंका कर्ता नहीं हूँ, अर्थात् मुझ कर्ताके विना ही वे योग पुद्गलपिंडकर किये जाते हैं, (कारयिता न) उन तीन योगोंका प्रेरक होकर करानेवाला नहीं हूँ, पुद्गलद्रव्य ही उनका कर्ता है, (कर्तॄणां) और उन योगोंके

च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तमध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकप्रयोजकम[र्थम]न्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तमध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरावाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः ॥ ६८ ॥

अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ ६९ ॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः ।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम् ॥ ६९ ॥

शरीरं च वाक् च मनश्च त्रीण्यपि परद्रव्यं पुद्गलद्रव्यात्मकत्वात् । पुद्गलद्रव्यत्वं तु तेषां पुद्गलद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितत्वात् । तथाविधपुद्गल-

---

लक्षणो मनोवचनकायानामुपादानकारणभूतः पुद्गलपिण्डो न भवामि । ततः कारणात्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि । **कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं** कर्ता न हि कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम् । स्वशुद्धात्मभावनाविषये यत्कृतकारितानुमतस्वरूपं तद्विलक्षणं यन्मनोवचनकायविषये कृतकारितानुमतस्वरूपं तन्नाहं भवामि । ततः कारणात्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मीति तात्पर्यम् ॥ ६८ ॥ अथ कायवाङ्मनसां शुद्धात्मस्वरूपात्परद्रव्यत्वं व्यवस्थापयति— **देहो य मणो वाणी पुग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा** देहश्च मनो वाणी तिस्रोऽपि पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः । कस्मात् । व्यवहारेण जीवेन सहैकत्वेऽपि निश्चयेन परमचैतन्यप्रकाशपरिणतेर्भिन्नत्वात् । पुद्गलद्रव्यं किं भण्यते । **पुग्गलदव्व हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं** पुद्गलद्रव्यं हि

करनेवाले पुद्गलपिंडोका (**अनुमन्ता**) अनुमोदनेवाला भी नहीं हूँ । मेरी अनुमोदनाके विना ही पुद्गलपिंड उन योगोका कर्ता है । इस कारण मैं परद्रव्यमे अत्यत मध्यस्थ हूँ । **भावार्थ**—स्वपर विवेकी जीव सब द्रव्योंके स्वरूपका जाननेवाला है, इस कारण इन तीन योगोको पुद्गलीक जानता है । इनमें कृत, कारित, अनुमोदना, भाव नही करता, परद्रव्यके भाव जानकर त्यागी होता है, स्वरूपमें निश्चल हुआ तिष्ठता है, और शुभ अशुभरूप अशुद्धोपयोगको विनाश करके निरास्रव हुआ शुद्धोपयोगी होता है ॥ ६८ ॥ आगे इन शरीर वचन मन तीनोको निश्चयकर परद्रव्य दिखलाते हैं—(**देहः**) शरीर (**मनः**) चित्त (**च**) और (**वाणी**) वचन ये तीनो योग (**पुद्गलद्रव्यात्मका**) पुद्गलद्रव्यरूप हैं, (**इति**) ऐसे (**निर्दिष्टाः**) वीतरागदेवने कहे हैं, (**पुनः**) और (**पुद्गलद्रव्य**) तीन योगरूप पुद्गलद्रव्य (**अपि**) निश्चयसे (**परमाणुद्रव्याणा**) सूक्ष्म अविभागी पुद्गलपरमाणुओका (**पिण्ड**) स्कधरूप (समूहरूप) पिंड है । **भावार्थ**—ये तीन योग निश्चयसे पुद्गलद्रव्यस्वरूप हैं । अनत परमाणु मिलकर एकरूप हुए विभावपर्याय ही हैं, इस कारण ये योग पुद्गलपर्याय

द्रव्यं त्वनेकपरमाणुद्रव्याणामेकपिण्डपर्यायेण परिणामः । अनेकपरमाणुद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वानामनेकत्वेऽपि कथंचिदेकत्वेनावभासनात् ॥ ६९ ॥

अथात्मनः परद्रव्यत्वाभावं परद्रव्यकर्तृत्वाभावं च साधयति—

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं ।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥ ७० ॥

नाहं पुद्गलमयो न ते मया पुद्गलाः कृता पिण्डम् ।
तस्माद्धि न देहोऽहं कर्ता वा तस्य देहस्य ॥ ७० ॥

यदेतत्प्रकरणनिर्धारितं पुद्गलात्मकमन्तर्नीतवाङ्मनो द्वैतं शरीरं नाम परद्रव्यं न तावदहमस्मि, ममापुद्गलमयस्य पुद्गलात्मकशरीरत्वविरोधात् । न चापि तस्य कारणद्वारेण कर्तृद्वारेण कर्तृप्रयोजनद्वारेण कर्त्रनुमन्तृद्वारेण वा शरीरस्य कर्ताहमस्मि, ममानेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामस्याकर्तुरनेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात् ॥ ७० ॥

स्फुट पुन पिण्ड समूहो भवति । केषाम् । परमाणुद्रव्याणामित्यर्थ ॥ ६९ ॥ अथात्मन. शरीररूपपरद्रव्यभाव तत्कर्तृत्वाभाव च निरूपयति—**णाहं पुग्गलमइओ** नाह पुद्गलमय **ण ते मया पुग्गला कया पिंडा** न च ते पुद्गला मया कृता पिण्डा । **तम्हा हि ण देहोऽह** तस्माद्देहो न भवाम्यह हि स्फुटं **कत्ता वा तस्स देहस्स** कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्यैति। अयमत्रार्थ —देहोऽह न भवामि । कस्मात् । अशरीरसहजशुद्धचैतन्यपरिणतत्वेन मम देहत्वविरोधात् । कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्य । तदपि कस्मात् । नि क्रियपरमचिज्ज्योति परिणतत्वेन मम देहकर्तृत्वविरोधादिति

हैं । यद्यपि योगरूप पुद्गलपर्यायमे अपने स्वरूपास्तित्वसे परमाणु जुदा जुदा है, तो भी, स्निग्ध रूक्ष गुणके बध परिणामकी अपेक्षासे एक पिंडरूप भासते (मालूम पड़ते) है ॥६९॥ आगे आत्माके परद्रव्यका अभाव और परद्रव्यके कर्तापनेका अभाव सिद्ध करते हैं—[**अहं**] मै शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु [**पुद्गलमय न**] अचेतन पुद्गलद्रव्यरूप नही हूँ, [**ते पुद्गलाः**] वे सूक्ष्मपरमाणुरूप पुद्गल [**मया**] स्वरूप गुप्त मुझ चैतन्यसे [**पिण्डं कृता न**] स्कधरूप नही किये गये हैं, अपनी शक्तिसे ही पिंडरूप हो जाते है । [**तस्मात्**] इस कारण [**हि**] निश्चयसे (**अह**) ज्ञानस्वरूप मैं (**देह**') पुद्गलविकार शरीरमयी (**न**) नही हूँ, मैं तो अमूर्त चैतन्य हूँ, (**वा**) अथवा (**तस्य देहस्य**) उस पुद्गलमयी देहका (**कर्ता 'न'**) उत्पन्न करनेवाला भी नही हूँ । **भावार्थ**—यह मन वचन सहित शरीर है, वह अवश्य पुद्गलीक ही है, इसमे कुछ भी संदेह नही, ऐसा मैंने निश्चय किया है । इस कारण मै इसका कृत, कारित, अनुमोद भावोसे कर्ता नही हूँ, क्योकि यह शरीर तो अनत परमाणुओका पिंड है, और मुझमे अनतपरमाणुरूप परिणमन शक्ति नही हैं, इसलिये मैं इस शरीरका कर्ता किस तरह हो सकता हूँ ? नही हो सकता । पुद्गलकी निज शक्तिसे वह पुद्गलपर्याय ही है, मुझमे और शरीरमे बड़ा भारी विरोध है । इस कारण मैं भिन्न द्रव्य हूँ ॥७०॥ आगे कहते हैं, कि परमाणुरूप

अथ कथं परमाणुद्रव्याणां पिण्डपर्यायपरिणतिरिति संदेहमपनुदति—

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥ ७१ ॥

अप्रदेश. परमाणु प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो यः।
स्निग्धो वा रूक्षो वा द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ॥ ७१ ॥

परमाणुर्हि द्व्यादिप्रदेशानामभावादप्रदेशः, एकप्रदेशसद्भावात्प्रदेशमात्रः, स्वयमनेकपरमाणुद्रव्यात्मकशब्दपर्यायव्यक्त्यसंभवादशब्दश्च। यतश्चतुःस्पर्शपञ्चरसद्विगन्धपञ्चवर्णानामविरोधेन सद्भावात् स्निग्धो वा रूक्षो वा स्यात्। तत एव तस्य पिण्डपर्यायपरिणतिरूपा द्विप्रदेशादित्वानुभूतिः। अथैवं स्निग्धरूक्षत्वं पिण्डत्वसाधनम् ॥ ७१ ॥

॥ ७० ॥ एवं कायवाङ्मनसा शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेण चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम्। इति पूर्वोक्तप्रकारेण 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकादशगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन प्रथमो विशेषान्तराधिकारः समाप्तः। अथ केवलपुद्गलमुख्यत्वेन नवगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र स्थलद्वयं भवति। परमाणूनां परस्परबन्धकथनार्थं 'अपदेसो परमाणू' इत्यादि प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनन्तरं स्कन्धानां बन्धमुख्यत्वेन 'दुपदेसादी खधा' इत्यादि द्वितीयस्थले गाथापञ्चकम्। एवं द्वितीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका। अथ यद्यात्मा पुद्गलानां पिण्डं न करोति तर्हि कथं पिण्डपर्यायपरिणतिरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—**अपदेसो** अप्रदेशः। स कः। **परमाणू** पुद्गलपरमाणुः। पुनरपि कथंभूतः। **पदेसमेत्तो य** द्वितीयादिप्रदेशाभावात् प्रदेशमात्रश्च। पुनश्च किंरूपः। **सयमसद्दो य** स्वयं व्यक्तिरूपेणाशब्दः। एवं विशेषणत्रयविशिष्टः सन् **णिद्धो वा लुक्खो वा** स्निग्धो वा रूक्षो वा यतः कारणात्संभवति ततः कारणात्। **दुपदेसादित्तमणुहवदि** द्विप्रदेशादिरूपं बन्धमनुभवतीति। तथाहि—यथायमात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावेन बन्धरहितोऽपि पश्चादशुद्धनयेन स्निग्धस्थानीयरागभावेन रूक्षस्थानीयद्वेषभावेन यदा परिणमति तदा परमागमकथितप्रकारेण बन्धमनुभवति। तथा परमाणुरपि स्वभावेन बन्धरहितोऽपि यदा बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणेन परिणतो

द्रव्योंके स्कंध पर्याय किस तरहसे होते हैं, इस संदेहको दूर करते हैं—(**परमाणुः**) जो सूक्ष्म अविभागी पुद्गलपरमाणु है, वह (**अप्रदेशः**) दो आदि प्रदेशोंसे रहित है, (**प्रदेशमात्रः**) एक प्रदेशमात्र है, (**च**) और (**स्वयं अशब्दः**) आप ही शब्द पर्याय रहित है, 'शब्द तो अनंत पुद्गलपरमाणुओंके स्कंधसे उत्पन्न होता है,' (**यत्**) इसी कारणसे यह परमाणु (**स्निग्धो वा**) चिकना परिणाम सहित हुआ, (**वा**) और रूक्ष (रूखा) परिणाम सहित भी हुआ, (**द्विप्रदेशादित्वं**) दो प्रदेशको आदि लेकर अनेकप्रदेश भावोंको (**अनुभवति**) प्राप्त होता है। **भावार्थ**—यह 'परमाणु' अविभागी प्रदेशमात्र है, और इसमें वर्णादि पांच गुण अविरोधी पाये जाते हैं, तथा प्रगट शब्द पर्याय रहित है, इस कारण यह शुद्ध परमाणु कहा जाता है। इसमें स्निग्ध रूक्ष गुण हैं, इन गुणोंके परिणमनेसे ही एक परमाणु दूसरे परमाणुसे मिल जाता है, इस कारण पिंडरूप स्कंधपर्याय हो जाता है, और वह अनेकप्रदेशी भी कहा जाता है ॥ ७१ ॥ आगे परमाणुओंमें स्निग्ध रूक्ष गुण किस तरहका है,

अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वं परमाणोरित्यावेदयति—

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥ ७२ ॥

एकोत्तरमेकाद्यणोः स्निग्धत्वं च रूक्षत्वम् ।
परिणामाद्भणितं यावदनन्तत्वमनुभवति ॥ ७२ ॥

परमाणोर्हि तावदस्ति परिणामः, तस्य वस्तुस्वभावत्वेनानतिक्रमात् । ततस्तु परिणामादुपात्तकादाचित्कवैचित्र्यं चित्रगुणयोगित्वात्परमाणोरेकाद्येकोत्तरानन्तावसानाविभागपरिच्छेदव्यापि स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं वा भवति ॥ ७२ ॥

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वात्पिण्डत्वमित्यावेदयति—

भवति तदा पुद्गलान्तरेण सह विभावपर्यायरूप बन्धमनुभवतीत्यर्थ ॥७१॥ अथ कीदृश तत्स्निग्ध रूक्षत्वमिति पृष्टे प्रत्युत्तर ददाति—**एगुत्तरमेगादी** एकोत्तरमेकादि । किम् । **णिद्धत्तण च लुक्खत्तं** स्निग्धत्वं रूक्षत्व च कर्मतापन्न **भणिद** भणित कथितम् । किंपर्यन्तम् । **जाव अणतत्तमणुभवदि** अनन्तत्वमनन्तपर्यन्त यावदनुभवति प्राप्नोति । कस्मात्सकाशात् । **परिणामादो** परिणतिविशेषात्परिणामित्वादित्यर्थ । कस्य सबन्धि । **अणुस्स** अणो पुद्गलपरमाणो । तथाहि—यथा जीवे जलाजागोमहिषीक्षीरे स्नेहवृद्धिवत्स्नेहस्थानीय रागत्व रूक्षस्थानीय द्वेषत्व बन्धकारणभूत जघन्यविशुद्धसंक्लेशस्थानीयमादिं कृत्वा परमागमकथितक्रमेणोत्कृष्टविशुद्धसक्लेशपर्यन्त वर्धतम् । तथा पुद्गलपरमाणुद्रव्येऽपि स्निग्धत्वं रूक्षत्व च बन्धकारणभूत पूर्वोक्तजलादितारतम्यशक्तिदृष्टान्तेनैकगुणसज्ञाजघन्यशक्तिमादिं कृत्वा गुणसज्ञेनाविभागपरिच्छेदद्वितीयनामाभिधेयेन शक्तिविशेषेण वर्धते । किं—पर्यन्तम् । यावदनन्तसख्यानम् । कस्मात् । पुद्गलद्रव्यस्य परिणामित्वात् परिणामस्य वस्तुस्वभावादेव निषेधितुमशक्यत्वादिति ॥ ७२ ॥ अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वगुणात् पिण्डो भवतीति प्रश्ने समाधान ददाति—**बज्झति हि** वध्यन्ते हि स्फुटम् । के । कर्मतापन्ना **अणुपरिणामा** अणु-

---

यह कहते हैं-(**अणो**) परमाणुके (**परिणामात्**) स्निग्ध, रूक्ष, गुणमे अनेक प्रकारकी परिणमन शक्ति होनेसे (**एकादि**) एकसे लेकर (**एकोत्तर**) एक एक बढता हुआ तबतक (**स्निग्धत्व**) चिक्कनभाव (**वा**) अथवा (**रूक्षत्वं**) रूक्षभाव (**भणितं**) कहा गया है । (**यावत्**) जबतक कि (**अनन्तत्वं**) अनत भेदोको (**अनुभवति**) प्राप्त हो जाता है **भावार्थ**—परमाणुमे स्निग्ध रूक्ष गुण हैं, उन गुणोकी अनत प्रकार परिणति होती है, इसलिये स्निग्ध रूक्ष गुणके अनत भेद हो जाते हैं। वे भेद इस तरहके होते हैं, कि जिनका दूसरा फिर अश नही होता, उन्हीका नाम **अविभागप्रतिच्छेद** भी कहा गया है । जैसे बकरी, गाय, भैंस, ऊँटनीके दूधमे अथवा घी वगैरहमे बढते बढते चिकनाईका भेद होता है, और जैसे धूलि, राख, रेत इत्यादि वस्तुओमे रूखापन अधिक अधिक होता है, उसी प्रकार स्निग्ध रूक्ष गुणके अनतभेद जानने चाहिये ॥ ७२ ॥ आगे किस तरहके स्निग्ध, रूक्ष, गुणके परिणमनसे बध होकर पिंड हो जाता है, यह दिखलाते हैं—(**अणुपरिणामाः**) परमाणुके

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥ ७३ ॥

स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामाः समा वा विषमा वा ।
समतो द्व्यधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीनाः ॥ ७३ ॥

समतो द्व्यधिकगुणाद्धि स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्युत्सर्गः, स्निग्धरूक्षद्व्यधिकगुणत्वस्य हि परिणामकत्वेन बन्धसाधनत्वात् । न खल्वेकगुणात् स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्यपवादः एकगुणस्निग्धरूक्षत्वस्य हि परिणम्यपरिणामकत्वाभावेन बन्धस्यासाधनत्वात् ॥ ७३ ॥

परिणामा । अणुपरिणामशब्देनात्र परिणामपरिणता अणवो गृह्यन्ते । कथंभूता । णिद्धा वा लुक्खा वा स्निग्धपरिणामपरिणता वा रूक्षपरिणामपरिणता वा । पुनरपि किंविशिष्टा समा व विसमा वा द्विशक्तिचतुःशक्तिषट्शक्त्यादिपरिणतानां सम इति संज्ञा । त्रिशक्तिपञ्चशक्तिसप्तशक्त्यादिपरिणतानां विषम इति संज्ञा । पुनश्च किंरूपा । समदो दुराधिगा जदि समतः समसंख्यानात्सकाशाद् द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिका यदि चेत् । कथं द्विगुणाधिकत्वमिति चेत् । एको द्विगुणस्तिष्ठति द्वितीयोऽपि द्विगुण इति द्वौ समसंख्यानौ तिष्ठतस्तावत् एकस्य विवक्षितद्विगुणस्य द्विगुणाधिकत्वे कृते सति स चतुर्गुणो भवति शक्तिचतुष्टयपरिणतो भवति । तस्य चतुर्गुणस्य पूर्वोक्तद्विगुणेन सह बन्धो भवतीति । तथैव द्वौ त्रिशक्तियुक्तौ तिष्ठतस्तावत् । तत्राप्येकस्य त्रिगुणशब्दाभिधेयस्य त्रिशक्तियुक्तस्य परमाणोः शक्तिद्वयमेलापके कृते सति पञ्चगुणत्वं भवति । तेन पञ्चगुणेन सह पूर्वोक्तत्रिगुणस्य बन्धो भवति । एवं द्वयोर्द्वयोः स्निग्धयोर्द्वयोर्द्वयोः रूक्षयोर्द्वयोर्द्वयोः स्निग्धरूक्षयोर्वा समयोः विषमयोश्च द्विगुणाधिकत्वे सति बन्धो भवतीत्यर्थः, किंतु विशेषोऽस्ति । आदिपरिहीणा आदिशब्देन जलस्थानीयं जघन्यस्निग्धत्वं वालुकास्थानीयं जघन्यरूक्षत्वं भण्यते ताभ्यां विहीना आदिपरिहीना बध्यन्ते । किं च—परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्वभावनारूपधर्मध्यानशुक्लध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्धशक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति जघन्यरूक्षशक्तिस्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जलवालुकयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति, तथा पुद्गलपरमाणोरपि जघन्यस्निग्धरूक्षशक्तिप्रस्तावे बन्धो न भवतीत्यभिप्रायः ॥ ७३ ॥ अथ तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति—गुणशब्दवाच्यशक्तिद्वय-

---

पर्यायभेद (स्निग्धा वा) स्निग्ध होवें, (वा) अथवा (रूक्षाः) रूखे होवें, (समा वा) दो चार छह इत्यादि अंशोंकी गिनती कर समान हों, (विषमा वा) अथवा तीन पांच सात इत्यादि अंशोंकर विषम हों, परंतु (यदि) जो (आदिपरिहीना.) जघन्य अंशसे रहित (समतः) गिनतीकी समानतासे (द्व्यधिका) दो अंश अधिक होवें, तब (बध्यन्ते) आपसमें बँधते हैं, अन्यरीतिसे नहीं । **भावार्थ—** स्निग्ध रूक्ष गुणमें अनंत अंश भेद हैं, परंतु एक परमाणु दूसरे परमाणुसे तब बँधता है, जब कि दो अंश अधिक स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणका परिणमन हो, क्योंकि दो ही अंशकी अधिकतासे बंध होनेकी योग्यता परमागममें दिखलाई है, अन्य प्रकारसे बंध नहीं होता, पूर्वोक्त परिणमनसे ही होता है । एक अंशरूप स्निग्ध रूक्ष भाव परिणत परमाणुसे बंध नहीं होता, क्योंकि अति जघन्यभावमें बंधपरिणाम होनेकी अयोग्यता है । इस कारण एक अंशकर बंध नहीं होता ॥ ७३ ॥

अथ परमाणूनां पिण्डत्वस्य यथोदितहेतुत्वमवधारयति--

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि ।

लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ।। ७४ ।।

स्निग्धत्वेन द्विगुणश्चतुर्गुणस्निग्धेन बन्धमनुभवति ।

रूक्षेण वा त्रिगुणितोऽणुर्बध्यते पञ्चगुणयुक्त ।। ७४ ।।

यथोदितहेतुकमेव परमाणूनां पिण्डत्वमवधार्यं द्विचतुर्गुणयोस्त्रिपञ्चगुणयोश्च द्वयोः स्निग्धयोः द्वयो रूक्षयोर्द्वयोः स्निग्धरूक्षयोर्वा परमाण्वोर्बन्धस्य प्रसिद्धेः । उक्तं च "णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला । णिद्ध लुक्खा य बज्झंति

युक्तस्य स्निग्धपरमाणोश्चतुर्गुण स्निग्धेन रूक्षेण वा समशब्दसञ्ज्ञेन तथैव त्रिशक्तियुक्तरूक्षस्य पञ्चगुणरूपेण स्निग्धेन वा विषमसञ्ज्ञेन द्विगुणाधिकत्वेन सति बन्धो भवतीति ज्ञातव्यम् । अथ तु विशेषः—परमानन्दैकलक्षणस्वसंवेदज्ञानबलेन हीयमानरागद्वेषत्वे सति पूर्वोक्तजलवालुकादृष्टान्तेन यथा जीवाना बन्धो न भवति तथा जघन्यस्निग्धरूक्षत्वगुणे सति परमाणूना चेति । तथा चोक्तम्-

---

आगे किस तरह बध होता है, यह दिखलाते है—[स्निग्धत्वेन] चिकनेपनेसे [द्विगुण] दो अशरूप परिणत परमाणु [चतुर्गुणस्निग्धेन] चार अशरूप परिणत हुए परमाणुसे [बंध] बध अवस्थाको [अनुभवति] प्राप्त होता है, [वा] अथवा [रूक्षेण] रूखेपनेसे [त्रिगुणितः] तीन अशरूप परिणत परमाणु [पञ्चगुणयुक्त] पाँच अशरूप परिणत हुए परमाणुसे संयुक्त हुआ [अनुबध्यते] बधको प्राप्त होता है । **भावार्थ**—एक परमाणुमे दो अश स्निग्ध हो, तथा दूसरे परमाणुमे चार अश हों, तो दोनो परमाणुओका आपसमे बध होता है। अथवा एकमे चार अश हो, तथा दूसरेमे छह अश हो, तो भी बध होता है । इस प्रकार अपने अनंत अश भेद तक दो अश अधिक स्निग्धतासे स्निग्ध परमाणुओका अथवा स्कधोका वंध जानना । तथा एक परमाणु तीन अश रूक्ष हो, और दूसरा परमाणु पाँच अश रूक्ष हो, तो दोनोका बध होता है, अथवा एक परमाणु पाँच अंश दूसरा सात अश हो, तो भी बध होता है । इस प्रकार अपने अश भेद तक दो अश अधिक रूक्षतासे रूक्ष परमाणुओका अथवा स्कधोका वंध जानना चाहिये । एक परमाणुमे दो अंश रूखेपनेके हैं, और दूसरे परमाणुमे चार अश स्निग्धताके है, तो भी बध होता है, इस प्रकार दो अश अधिक स्निग्ध रूक्ष गुणोके अशोसे भी परमाणु तथा स्कंधोका वंध जानना चाहिये। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि स्निग्धतासे दो अश अधिक स्निग्धताकर वंध होता है, तथा रूक्षतासे दो अश अधिक रूक्षताकर बध होता है, और रूक्षता स्निग्धतामे भी दो अश अधिक होनेसे बध होता है । जो दो परमाणुओमे अश बराबर हो, तो बध नही होता, और जो एक अश अधिक हो, तो भी बध होना सभव नही है, परतु जब दो अश अधिक हो, तभी वंध हो सकता है, दूसरी तरह बंध होनेकी योग्यता नही है । तथा जो एक अश चिकनाई अथवा रूखाई हो, तो भी बंध नही होता, क्योकि एक अश अति जघन्य है इस कारण बंध योग्य नही है । दो

रूवारूवी य पोग्गला ॥" "णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण। णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥" ॥ ७४ ॥

अथात्मनः पुद्गलपिण्डात्मकर्तृत्वाभावमवधारयति—

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥ ७५ ॥

द्विप्रदेशादय. स्कन्धा सूक्ष्मा वा बादरा. ससस्थाना.।
पृथिवीजलतेजोवायव स्वकपरिणामैर्जायन्ते ॥ ७५ ॥

एवममी समुपजायमाना द्विप्रदेशादयः स्कन्धा विशिष्टावगाहनशक्तिवशादुपात्तसौक्ष्म्यस्थौल्यविशेषा विशिष्टाकारधारणशक्तिवशाद्गृहीतविचित्रसंस्थानाः सन्तो

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिगेण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिगेण। णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बधो जघण्णवज्जे विसमे समे वा" ॥ ७४ ॥ एव पूर्वोक्तप्रकारेण स्निग्धरूक्षपरिणतपरमाणुस्वरूपकथनेन प्रथमगाथा। स्निग्धरूक्षगुणविवरणेन द्वितीया। स्निग्धरूक्षगुणाभ्या द्वयधिकत्वे सति बन्धकथनेन तृतीया। तस्यैव दृढीकरणेन चतुर्थी चेति परमाणूना परस्परबन्धव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टय गतम्। अथात्मा द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धाना कर्ता न भवतीत्युपदिशति—**जायन्ते** उत्पद्यन्ते। के कर्तार । **दुपदेसादी खंदा** द्विप्रदेशाद्यनन्ताणुपर्यन्त स्कन्धा जायन्ते। **पुढविजलतेउवाऊ** पृथ्वीजलतेजोवायव । कथभूता सन्त । **सुहुमा वा बादरा** सूक्ष्मा बादरा । पुनरपि किंविशिष्टा सन्त । **ससठाणा** यथासभव वृत्तचतुरस्रादिस्वकीयस्वकीयसंस्थानाकारयुक्ता.। के कृत्वा जायन्ते। **सगपरिणामेहिं** स्वकीयस्वकीयस्निग्धरूक्षपरिणामैरिति। अथ विस्तर —जीवा हि तावद्वस्तुतष्टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावा एव पश्चाद्व्यवहारेणानादिकर्मबन्धोपाधिवशेन शुद्धात्मस्वभावमलभमाना. सन्त पृथिव्यप्तेजोवातकायिकेषु समुत्पद्यन्ते, तथापि स्वकीयाभ्यन्तरसुखदु खा-

---

अंशसे लेकर आगे अनत भेदतक दो अश अधिक चिकनाई रूखाईके होवें, तब बध होता है, एक अशसे बंधका अभाव ही जानना। एक परमाणु एक अश चिकनाई अथवा रूखाईपनेसे परिणत हो, और दूसरा तीन अश चिकनाई अथवा तीन अश रूखापनेसे परिणत हो, तो भी बंध नहीं होता। यद्यपि यहांपर दो अ श अधिक भी है, तो भी बधकी योग्यता नही है, इस कारण एक अंशसे बध कभी नही होता ॥ ७४ ॥ आगे आत्माके पुद्गलपिंडके कर्तापनेका अभाव दिखलाते हैं—[**द्विप्रदेशादय स्कन्धा.**] दो प्रदेशको आदि लेकर परमाणुओंके स्कंध अर्थात् दो परमाणुओका स्कध, तीन परमाणुओका स्कध, इत्यादि अनत परमाणुओके खध पर्यंत जो स्कध हैं, वे सब [**स्वकपरिणामै**] अपने ही स्निग्ध रूक्ष गुणके परिणमनकी योग्यतासे [**जायन्ते**] उत्पन्न होते हैं, [**वा**] अथवा [**सूक्ष्मा बादरा**] सूक्ष्मजाति और स्थूलजातिके [**पृथ्वीजलतेजोवायव**] पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, ये भी स्निग्ध रूक्षभावके परिणमनसे पुद्गलात्मक स्कध पर्यायरूप उत्पन्न होते हैं। वे पुद्गलपर्याय [**ससस्थाना.**] तिकोने, चौकोने, गोलाकार, इत्यादि अनेक आकार सहित होते हैं। **भावार्थ**—दो परमाणुओके स्कधसे लेकर अनतानत परमाणुस्कध पर्यंत नानाप्रकार

यथास्वं स्पर्शादिचतुष्कस्याविर्भावतिरोभावस्वशक्तिवशमासाद्य पृथिव्यप्तेजोवायवः स्वपरिणामैरेव जायन्ते। अतोऽवधार्यते द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तपुद्गलानां न पिण्डकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥ ७५ ॥

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानेतृत्वाभावमवधारयति—

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥ ७६ ॥

अवगाढगाढनिचित पुद्गलकायैः सर्वतो लोक ।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चाप्रायोग्यैर्योग्यै ॥ ७६ ॥

यतो हि सूक्ष्मत्वपरिणतैर्बादरपरिणतैश्चानतिसूक्ष्मत्वस्थूलत्वात् कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिभिरतिसूक्ष्मस्थूलतया तदयोगिभिश्चावगाहविशिष्टत्वेन परस्परमबाध-

---

दिरूपपरिणतेरेवाशुद्धोपादानकारणं भवन्ति। न च पृथिव्यादिकायाकारपरिणते। कस्मादिति चेत्। तत्र स्कन्धानामेवोपादानकारणत्वादिति। ततो ज्ञायते पुद्गलपिण्डाना जीव कर्ता न भवतीति ॥ ७५ ॥ अथात्मा बन्धकाले बन्धयोग्यपुद्गलान् बहिर्भागान्नैवानयतीत्यावेदयति—**ओगाढगाढणिचिदो** अवगाह्यावगाह्यनैरन्तर्येण निचितो भृत । स क **लोगो** लोक । कथभूत । **सव्वदो** सर्वत सर्वप्रदेशेषु। कै कर्तृभूतै । **पुग्गलकायेहिं** पुद्गलकायै । किंविशिष्टै । **सुहुमेहि बादरेहि य** इन्द्रियाग्रहणयोग्यै सूक्ष्मैस्तद्ग्रहणयोग्यैर्बादरैश्च। पुनश्च कथभूतै । **अप्पाओग्गेहिं** अतिसूक्ष्मस्थूलत्वेन कर्मवर्गणायोग्यतारहितै । पुनश्च किंविशिष्टै । **जोग्गेहिं** अतिसूक्ष्मस्थूलत्वाभावात्कर्मवर्गणायोग्यैरिति। अयमत्रार्थ—निश्चयेन शुद्धस्वरूपैरपि व्यवहारेण कर्मोदयाधीनतया पृथिव्यादि-

---

आकारोको धारण किये हुए सूक्ष्म स्थूलरूप जो पुद्गलपर्याय होते हैं, तथा स्पर्श, रस, गध, वर्णकी मुख्यता वा गौणता लिये हुए पृथ्वी, जल, तेज, वायुरूप पिंड हैं, उन सब पर्यायोका कर्ता पुद्गलद्रव्य जानना चाहिये। इससे यह सिद्धात निकला, कि आत्मा—(पुरुष) पुद्गलपिंडका कर्ता नही है, पुद्गलद्रव्यमे ही पिंड होनेकी स्निग्धरूक्ष शक्ति है, इसलिये अपने परिणामसे वह अनेक प्रकार हो जाता है ॥ ७५ ॥ आगे आत्मा पुद्गलपिंडका प्रेरक भी नही है, यह निश्चय करते हैं—(**लोक**) असख्यप्रदेशी लोक (**सर्वतः**) सब जगह (**सूक्ष्मैः**) सूक्ष्मरूप (**च**) और (**बादरैः**) स्थूलरूप (**आत्मप्रायोग्यैः**) आत्माके ग्रहण करने योग्य (**योग्यैः**) कर्मरूप होने योग्य अथवा कर्मरूप न होने योग्य ऐसे (**पुद्गलकायैः**) पुद्गलद्रव्यके पिंडोसे (**अवगाढगाढनिचित**) अत्यत गाढ भर रहा है। **भावार्थ**—यह लोक सब जगह एक एक प्रदेशमे अनत अनत कार्माण (कर्म होने योग्य) वर्गणाओसे भरपूर है, अवगाहना शक्ति होनेसे कहीपर बाधा नही होती। इस कारण इस लोकमे सब जगह जीव ठहरे हुए हैं, और कर्मबधके योग्य पुद्गलवर्गणा भी सब जगह मौजूद हैं। जीवके जिस तरहके परिणाम होते हैं, उसी तरहका आत्माके कर्मबध होता है। ऐसा नही है, कि यह आत्मा आप किसी जगहसे प्रेरणा करके कार्माणवर्गणाओका बध करता हो। जिस जगह जीव है, उसी

मानैः स्वयमेव सर्वत एव पुद्गलकायैर्गाढं निचितो लोकः । ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानामानेता पुरुषोऽस्ति ॥ ७६ ॥

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्तृत्वाभावमवधारयति—

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥ ७७ ॥

कर्मत्वप्रायोग्या स्कन्धा जीवस्य परिणतिं प्राप्य ।
गच्छन्ति कर्मभाव न हि ते जीवेन परिणमिता ॥ ७७ ॥

यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाढजीवपरिणाममात्रं बहिरङ्गसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिन पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति । ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥ ७७ ॥

अथात्मनः कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्तृत्वाभावमवधारयति—

पञ्चसूक्ष्मस्थावरत्व प्राप्तैर्जीवैर्यथा लोको निरन्तर भृतस्तिष्ठति तथा पुद्गलैरपि । ततो ज्ञायते यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रे जीवस्तिष्ठति वन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठन्ति न च बहिर्भागाज्जीव आनयतीति ॥ ७६ ॥ अथ कर्मस्कन्धाना जीव उपादानकर्ता न भवतीति प्रज्ञापयति—**कम्मत्तणपाओग्गा खधा** कर्मत्वप्रायोग्या. स्कन्धा कर्तार. **जीवस्स परिणइ पप्पा** जीवस्य परिणतिं प्राप्य निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखामृतपरिणते प्रतिपक्षभूता जीवसबन्धिनी मिथ्यात्वरागादिपरिणतिं प्राप्य **गच्छंति कम्मभाव** गच्छन्ति परिणमन्ति । कम् । कर्मभाव ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्याय **ण हि ते जीवेण परिणमिदा** न हि नैव ते कर्मस्कन्धा जीवेनोपादानकर्तृभूतेन परिणमिता परिणतिं नीता इत्यर्थ । अनेन व्याख्यानेनैतदुक्त भवति कर्मस्कन्धाना निश्चयेन जीव. कर्ता न भवतीति ॥ ७७ ॥ अथ शरीराकारपरिणतपुद्गलपिण्डाना जीव कर्ता न भवतीत्युपदिशति—**ते ते कम्मत्तगदा** ते ते पूर्वसूत्रोदिता कर्मत्व गता द्रव्यकर्मपर्यायपरिणता **पोग्गलकाया**

जगह अनतवर्गणा हैं, वहाँपर ही आपसमे बध हो जाता है। इस कारण आत्मा पुद्गलपिंडका प्रेरक नहीं है ॥ ७६ ॥ आगे आत्माको पुद्गलपिंडरूप कर्मका अकर्ता दिखलाते हैं—(**कर्मत्वप्रायोग्या.**) अष्टकर्मरूप होनेयोग्य जो (**स्कन्धा**) पुद्गलवर्गणाओंके पिंड हैं, वे (**जीवस्य**) ससारी आत्माकी (**परिणतिं**) अशुद्ध परिणतिको (**प्राप्य**) पाकर (**कर्मभाव**) आठ कर्मरूप परिणामको (**गच्छन्ति**) प्राप्त होते हैं, (तु) परतु (ते) वे कर्मयोग्य बध (**जीवेन**) आत्माने (**न परिणमिताः**) नही परिणमाये हैं, अपनी शक्तिसे ही परिणत हुए हैं। **भावार्थ**—जिस क्षेत्रमे कार्माणवर्गणा हैं, उसी क्षेत्रमे जीव भी हैं। वे जीव अनादि बधके सयोगसे अशुद्ध भावोस्वरूप परिणमते हैं। उस अशुद्ध परिणामका बंधरूप वहिरग निमित्तकारण पाकर कर्मवर्गणा अपनी अतरग निजशक्तिसे आठ कर्मरूप परिणम जाती हैं। इस कारण यह आत्मा उनका परिणमानेवाला नहीं है, कार्माणवर्गणा अपने आप परिणमती है। इसी लिये 'उनका कर्ता आत्मा नही है' यह सिद्ध हुआ ॥ ७७ ॥ आगे आत्माको नोकर्मरूप शरीरका अकर्ता दिखलाते हैं—(ते ते) वे वे (**कर्मत्वगता**) द्रव्यकर्मरूप

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स ।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥ ७८ ॥

ते ते कर्मत्वगताः पुद्गलकाया पुनरपि जीवस्य ।
सजायन्ते देहा देहान्तरसंक्रमं प्राप्य ॥ ७८ ॥

ये ये नामामी यस्य जीवस्य परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य पुद्गलकायाः स्वयमेव कर्मत्वेन परिणमन्ति, अथ ते ते तस्य जीवस्यानादिसंतानप्रवृत्तिशरीरान्तरसंक्रान्तिमाश्रित्य स्वयमेव च शरीराणि जायन्ते । अतोऽवधार्यते न कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥ ७८ ॥

अथात्मनः शरीरत्वाभावमवधारयति--

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥ ७९ ॥

औदारिकश्च देहो देहो वैक्रियिकश्च तैजसः ।
आहारक कार्मण पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वे ॥ ७९ ॥

यतो ह्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि सर्वाण्यपि पुद्गल-

---

पुद्गलस्कन्धाः. **पुणो वि जीवस्स** पुनरपि भवान्तरेऽपि जीवस्य **सजायंते देहा** सजायन्ते सम्यग्जायन्ते देहा शरीराणीति । किं कृत्वा । **देहंतरसकमं पप्पा** देहान्तरसक्रम भवान्तर प्राप्य लब्ध्वेति । अनेन किमुक्तं भवति—औदारिकादिशरीरनामकर्मरहितपरमात्मानमलभमानेन जीवेन यान्युपार्जितान्यौदारिकादिशरीरनामकर्माणि तानि भवान्तरे प्राप्ते सत्युदयमागच्छन्ति तदुदयेन नोकर्मपुद्गला औदारिकादिशरीराकारेण स्वयमेव परिणमन्ति । ततः कारणादौदारिकादिकायाना जीवः कर्ता न भवतीति ॥ ७८ ॥ अथ शरीराणि जीवस्वरूप न भवन्तीति निश्चिनोति—**ओरलिओ य देहो** औदारिकश्च देहः **देहो वेउव्विओ य** देहो वैक्रियकश्च **तेजइओ** तैजसिकः **आहारय कम्मइओ** आहार कार्मणश्च **पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे** एते पञ्च देहा पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वेऽपि मम स्वरूप न

परिणत हुए **(पुद्गलकायाः)** कर्मवर्गणापिंड **(देहान्तरसक्रम प्राप्य)** अन्य पर्यायका संबध पाके **(पुनः)** फिर **(हि)** निश्चयसे **(जीवस्य)** आत्माके **(देहा)** शरीररूप **(संजायन्ते)** उत्पन्न होते है । **भावार्थ**—जीवके परिणामका निमित्त पाकर द्रव्यकर्मबधरूप जो पुद्गल हुए थे, वे ही अन्य पर्यायमे शरीराकार हो जाते हैं, और अपनी ही शक्तिसे द्रव्यकर्मका नोकर्मरूप शरीर फल हो जाता है । इस कारण नोकर्मका भी कर्ता पुद्गल ही है, आत्मा नही है ॥ ७८ ॥ आगे आत्माके पाँच शरीरोका अभाव दिखलाते है—**(औदारिक देह)** मनुष्य तिर्यंच सबधी औदारिकशरीर **(च)** और **(वैक्रियिक)** नारकी देवता सबधी वैक्रियिकशरीर **(च)** और **(तैजस)** शुभ अशुभ तैजसशरीर **(आहारक)** आहारक पुतलेका शरीर **(कार्मण.)** आठ कर्मरूप शरीर इस तरह ये पांच शरीर है, वे **(सर्वे)** सब ही **(पुद्गलद्रव्यात्मकाः)** पुद्गलद्रव्यमयी हैं । इसकारण पांच शरीर आत्मा

द्रव्यात्मकानि । ततोऽवधार्यते न शरीरं पुरुषोऽस्ति ॥ ७९ ॥

अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिसर्वपरद्रव्यविभागसाधनमसाधारणं स्वलक्षणमित्यावेदयति—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ८० ॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥ ८० ॥

आत्मनो हि रसरूपगन्धगुणाभावस्वभावत्वात्स्पर्शगुणव्यक्त्यभावस्वभावत्वात् शब्दपर्यायाभावस्वभावत्वात्तथा तन्मूलादलिङ्गग्राह्यत्वात्सर्वसंस्थानाभावस्वभावत्वाच्च पुद्गलद्रव्यविभागसाधनमरसत्वमरूपत्वमगन्धत्वमव्यक्तत्वमशब्दत्वमलिङ्गग्राह्यत्वमसंस्थानत्वं चास्ति । सकलपुद्गलापुद्गलाजीवद्रव्यविभागसाधनं तु चेतनागुणत्वमस्ति । तदेव च तस्य स्वजीवद्रव्यमात्राश्रितत्वेन स्वलक्षणतां बिभ्राणं शेषद्रव्यान्तरविभागं साधयति । अलिङ्गग्राह्य इति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्तं

भवन्ति । कस्मादिति चेत् । ममाशरीरचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन सर्वदैवाचेतनशरीरत्वविरोधादिति ॥ ७९ ॥ एवं पुद्गलस्कन्धानां बन्धव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयस्थले गाथापञ्चकं गतम् । इति 'अपदेसो परमाणू' इत्यादि गाथानवकेन परमाणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलानां पिण्डनिष्पत्तिव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयविशेषान्तराधिकारः समाप्तः । अथैकोनविंशतिगाथापर्यन्तं जीवस्य पुद्गलेन सह बन्धमुख्यतया व्याख्यानं करोति, तत्र षट् स्थलानि भवन्ति । तेष्वादौ 'अरसमरूव' इत्यादि शुद्धजीवव्याख्यानगाथैका 'मुत्तो रूवादि' इत्यादिपूर्वपक्षपरिहारमुख्यतया गाथाद्वयमिति प्रथमस्थले गाथात्रयम् । तदनन्तरं भावबन्धमुख्यत्वेन 'उवओगमओ' इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ परस्परं द्वयोः पुद्गलयोः बन्धः जीवस्य रागादिपरिणामेन सह बन्धो जीवपुद्गलयोर्बन्धश्चेति त्रिविधबन्धमुख्यत्वेन 'फासेहिं पुग्गलाणं' इत्यादि सूत्रद्वयम् । ततः परं निश्चयेन द्रव्यबन्धकारणत्वाद्रागादिपरिणाम एव बन्ध इति कथनमुख्यतया 'रत्तो बंधदि' इत्यादि गाथात्रयम् । अथ भेदभावनामुख्यत्वेन 'भणिदा पुढवी' इत्यादि सूत्रद्वयम् । तदनन्तरं जीवो रागादिपरिणामानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यत्वेन 'कुव्वं सहावमादा' इत्यादि षष्ठस्थले गाथासप्तकम् । यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र

नहीं है । आत्मा तो इनसे भिन्न स्वरूप है ॥ ७९ ॥ आगे जीवका शरीरादिक पर द्रव्योंसे भिन्न शुद्ध स्वरूप, जो कि अन्य द्रव्यमें नहीं पाया जावे, ऐसा लक्षण दिखलाते हैं—[त्वं] हे भव्य, तू [जीवं] शुद्धस्वरूप आत्माको [अरसं] ५ प्रकारके रससे रहित, [अरूपं] ५ वर्णोंसे रहित [अगन्धं] दो प्रकारके गंध गुण रहित, [अव्यक्तं] आठ प्रकारके स्पर्श गुण रहित, इसीसे अप्रगट [अशब्दं] शब्दपर्यायसे रहित स्वभाववाला [अलिङ्गग्रहणं] पुद्गलके चिह्नसे ग्रहण नहीं होनेवाला, [अनिर्दिष्टसंस्थानं] सब आकारोंसे रहित निराकार स्वभावयुक्त [चेतनागुणं] और ज्ञान दर्शन गुणवाला ऐसा शुद्ध निर्विकारद्रव्य जानना । **भावार्थ**—यह आत्मा अमूर्त स्वभाव होनेसे रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द संस्थानादिक पुद्गलीक भावोंसे रहित है, अपने चेतना गुण से धर्म, अधर्म, आकाश,

तद्बहुतरार्थप्रतिपत्तये । तथाहि—न लिङ्गैरिन्द्रियैर्ग्राहकतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येत्यतीन्द्रियज्ञानमयत्वस्य प्रतिपत्तिः । न लिङ्गैरिन्द्रियैर्ग्राह्यतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षाविषयत्वस्य । न लिङ्गादिन्द्रियगम्याद्धूमादग्नेरिव ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वकानुमानाविषयत्वस्य । न लिङ्गादेव परैः ग्रहण यस्येत्यनुमेयमात्रत्वाभावस्य । न लिङ्गादेव परेषां ग्रहण यस्येत्यनुमातृमात्रत्वाभावस्य । न लिङ्गात्स्वभावेन ग्रहणं यस्येति प्रत्यक्षज्ञातृत्वस्य । न लिङ्गेनोपयोगाख्यलक्षणेन ग्रहणं ज्ञेयार्थालम्बनं यस्येति बहिरर्थालम्बनज्ञानाभावस्य । न लिङ्गस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं स्वयमाहरणं यस्येत्यनाहार्यज्ञानत्वस्य । न लिङ्गस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं परेण हरणं यस्येत्याहार्यज्ञानत्वस्य । न लिङ्गे उपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं सूर्य इवोपरागो यस्येति शुद्धोपयोगस्वभावस्य । न लिङ्गादुपयोगाख्यलक्षणाद्ग्रहणं पौद्गलिककर्मादानं यस्येति द्रव्यकर्मासपृक्तत्वस्य । न लिङ्गेभ्य इन्द्रियेभ्यो ग्रहणं विषयाणामुपभोगो यस्येति विषयोपभोक्तृत्वाभावस्य । न लिङ्गात्मनो वेन्द्रियादि-

---

यथासभवमन्योऽप्यर्थो लभ्यत इति सर्वत्र ज्ञातव्य । एवमेकोनविंशतिगाथाभिस्तृतीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिपरद्रव्येभ्यो भिन्नमन्यद्रव्यासाधारणं स्वस्वरूपमिति प्रश्ने प्रत्युत्तर ददाति—**अरसमरूवमगध** रसरूपगन्धरहितत्वात्तथा चाव्याहार्यमाणास्पर्शरूपगन्धत्वाश्च **अव्वत्तं** अव्यक्तत्वात् **असद्द** अशब्दत्वात् **अलिंगग्गहणं** अलिङ्गग्रहणत्वात् **अणिद्दिट्ठसठाणं** अनिर्दिष्टसस्थानत्वाच्च **जाण जीव** जानीहि जीवम् । अरसमरूपमगन्धमस्पर्शमव्यक्तमशब्दमलिङ्गग्रहणमनिर्दिष्टसस्थानलक्षण च हे शिष्य, जीव जीवद्रव्य जानीहि । पुनरपि कथभूतम् । **चेदणागुण** समस्तपुद्गलादिभ्योऽचेतनेभ्यो भिन्न समस्तान्यद्रव्यासाधारण स्वकीयानन्तजीवजातिसाधारणश्च चेतनागुणो यस्य त चेतनागुण चालिङ्गग्राह्यमिति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्त तत्किमर्थमिति चेत् बहुतरार्थप्रतिपत्त्यर्थम् । तथाहि—लिङ्गमिन्द्रिय तेनार्थाना ग्रहण परिच्छेदन न करोति तेनालिङ्गग्रहणो भवति । तदपि कस्मात्स्वयमेवातीन्द्रियाखण्डज्ञानसहितत्वात् । तेनैव लिङ्गशब्दवाच्येन चक्षुरादीन्द्रियेणान्यजीवाना यस्य ग्रहण परिच्छेदन कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण उच्यते । तदपि कस्मात् । निर्विकारातीन्द्रियस्वसवेदनप्रत्यक्षज्ञान-

---

काल, इन चार अमूर्त द्रव्योंसे भी भिन्न है, स्वजीव सत्ताकी अपेक्षा अन्य जीव द्रव्यसे भी भिन्न है, अपने अस्तित्वकर सद्रूप वस्तुमात्र है, और यहाँपर अलिंगग्रहण विशेषण इसलिये कहा है, कि वह आत्मा किसी पुद्गलीक चिह्नसे ग्रहण नहीं किया जाता । इस विशेषण पदके अनेक अर्थ हैं, उनमेंसे कुछ थोडे दिखलाते हैं—लिंग नाम इन्द्रियोंका है, उन इन्द्रियोंसे यह आत्मा पदार्थोंका ग्रहण (ज्ञान) करनेवाला नहीं है, अतीन्द्रिय स्वभावसे पदार्थोंको जानता है, इसलिये अलिंगग्रहण है । अथवा इन्द्रियोंसे अन्य जीव भी इस आत्माका ग्रहण नहीं कर सकते, यह तो अतीन्द्रिय स्वसवेदन ज्ञानगम्य (अपने अनुभवगोचर) है, इसलिये भी अलिंगग्रहण है । जैसे धूम-धुए चिह्नको देखकर अग्निका ज्ञान करते हैं, वैसे अनुमान ज्ञानकर लिंग अर्थात् चिह्नकर यह आत्मा अन्य पदार्थोंका जाननेवाला नहीं है, यह तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञानसे जानता है, इस कारण भी

लक्षणाद्ग्रहणं जीवस्येति शुक्रार्तवानुविधायित्वाभावस्य। न लिङ्गस्य मेहनाकारस्य ग्रहणं यस्येति लौकिकसाधनमात्रत्वाभावस्य। न लिङ्गेनामेहनाकारेण ग्रहणं लोकव्याप्तिर्यस्येति कुहुकप्रसिद्धसाधनाकारलोकव्याप्तित्वाभावस्य। न लिङ्गानां स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानां ग्रहणं यस्येति स्त्रीपुन्नपुंसकद्रव्यभावाभावस्य। न लिङ्गानां धर्मध्वजानां ग्रहणं यस्येति बहिरङ्गयतिलिङ्गाभावस्य। न लिङ्गं गुणो ग्रहणमर्थावबोधो यस्येति गुणविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य। न लिङ्गं गुणपर्यायो ग्रहणमर्थावबोधविशेषो यस्येति पर्यायविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य। न लिङ्गं प्रत्यभिज्ञानहेतुर्ग्रहणमर्थावबोधसामान्यं यस्येति द्रव्यानालीढशुद्धपर्यायित्वस्य॥ ८०॥

अथ कथममूर्तस्यात्मनः स्निग्धरूक्षत्वाभावाद् बन्धो भवतीति पूर्वपक्षयति—

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं॥ ८१॥

मूर्तो रूपादिगुणो बध्यते स्पर्शैरन्योन्यैः।
तद्विपरीत आत्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्म॥ ८१॥

गम्यत्वात्। लिङ्गं धूमादि तेन धूमलिङ्गोद्भवानुमानेनाग्निवदनुमेयभूतपरपदार्थाना ग्रहण न करोति तेनालिङ्गग्रहण इति। तदपि कस्मात्। स्वयमेवालिङ्गोद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात्, तेनैव लिङ्गोद्भवानुमानेनाग्निग्रहणवत् परपुरुषाणा यस्यात्मनो ग्रहण परिज्ञान कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण इति। तदपि कस्मात्। अलिङ्गोद्भवातीन्द्रियज्ञानगम्यत्वात्। अथवा लिङ्गं चिह्नं लाञ्छन शिखाजटाधारणादि तेनार्थाना ग्रहण परिच्छेदन न करोति, तेनालिङ्गग्रहण इति। तदपि कस्मात्। स्वाभाविकाचिह्नोद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात्। तेनैव चिह्नोद्भवज्ञानेन परपुरुषाणा यस्यात्मनो ग्रहण परिज्ञान कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण इति। तदपि कस्मान्निरुपरागस्वसवेदनज्ञानगम्यत्वादिति। एवमलिङ्गग्रहणशब्दस्य व्याख्यानक्रमेण शुद्धजीवस्वरूप ज्ञातव्यमित्यभिप्रायः॥ ८०॥ अथामूर्तशुद्धात्मनो व्याख्याने कृते सत्यमूर्तजीवस्य मूर्तपुद्गलकर्मणा सह कथ बन्धो भवतीति पूर्वपक्ष करोति—**मुत्तो रूवादिगुणो** मूर्तो रूपरसगन्धस्पर्शवान् पुद्गलद्रव्यगुण **बज्झदि** अन्योन्य-

---

अलिंगग्रहण है। कोई भी जीव इंद्रियगम्य चिह्नसे इस आत्माका अनुमान नही कर सकता, अर्थात् इंद्रियज्ञान जनित अनुमानसे ग्रहण नही किया जासकता, इस कारण भी अलिंगग्रहण है। इत्यादि अलिंगग्रहण शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। यह शुद्ध आत्मा केवल अनुभवगम्य है, वचनसे नही कहा जासकता, कहनेसे अशुद्धताका प्रसग आता है। इसलिये शुद्ध जीवद्रव्य ज्ञानगम्य है। जो अनुभवी है, वे ही शातरसके स्वादको जानते हैं, इसका अन्य कथन है, वह व्यवहारमात्र है। जिनके काललब्धि निकट आगई है, वे ही व्यवहारमात्र शब्दब्रह्मका निमित्त पाकर स्वरूपमे लीन होते हैं। इस कारण अवाच्य शुद्ध जीवद्रव्य अनुभव योग्य ही है॥ ८०॥ आगे अमूर्त आत्माके स्निग्ध रूक्ष गुणका अभाव होनेसे बध किस तरह हो सकता है? ऐसा तर्क करते हैं-[**रूपादिगुण**] रूप, रस गध, स्पर्श गुणवाला [**मूर्त**] स्कध वा परमाणुरूप पुद्गलद्रव्य [**अन्योन्यै**] परस्पर [**स्पर्शैः**] स्निग्ध रूक्षरूप स्पर्शगुणसे [**बध्यते**] बधको प्राप्त होसकता है, [**तद्विपरीत**] पुद्गलके

मूर्तयोर्हि तावत्पुद्गलयो रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषादन्योन्यबन्धोऽवधार्यते एव । आत्मकर्मपुद्गलयोस्तु स कथमवधार्यते । मूर्तस्य कर्मपुद्गलस्य रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषसंभवेऽप्यमूर्तस्यात्मनो रूपादिगुणयुक्तत्वाभावेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषासंभावनया चैकाङ्गविकलत्वात् ॥ ८१ ॥

अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो बन्धो भवतीति सिद्धान्तयति—

रूवादिएहि रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥ ८२ ॥

रूपादिकै रहित: पश्यति जानाति रूपादीनि ।
द्रव्याणि गुणाश्च यथा तथा बन्धस्तेन जानीहि ॥ ८२ ॥

येन प्रकारेण रूपादिरहितो रूपीणि द्रव्याणि तद्गुणांश्च पश्यति जानाति च,

---

सश्लेषेण बध्यते बन्धमनुभवति, तत्र दोषो नास्ति । कैं कृत्वा । **फासेहि अण्णमण्णेहिं** स्निग्धरूक्षगुणलक्षणस्पर्शसयोगैं । किंविशिष्टै । अन्योन्यै परस्परनिमित्तै । **तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं** तद्विपरीतात्मा बध्नाति कथ पौद्गल कर्मेति । अय परमात्मा निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणस्थानीयद्वेषादिविभावपरिणामरहितत्वादमूर्तत्वाच्च पौद्गलकर्म कथं बध्नाति न कथमपीति पूर्वपक्ष ॥ ८१ ॥ अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो नयविभागेन बन्धो भवतीति प्रत्युत्तर ददाति—**रूवादिएहिं रहिदो** अमूर्तपरमचिज्ज्योति परिणतत्वेन तावदयमात्मा रूपादिरहित । तथाविध सन् किं करोति । **पेच्छदि जाणादि** मुक्तावस्थाया युगपत्परिच्छित्तिरूपसामान्यविशेषग्राहककेवलदर्शनज्ञानोपयोगेन यद्यपि तादात्म्यसबन्धो नास्ति तथापि ग्राह्यग्राहकलक्षणसबन्धेन पश्यति जानाति । कानि कर्मतापन्नानि । **रूवमादीणि दव्वाणि** रूप-

---

स्निग्ध, रूक्षगुण रहित (**आत्मा**) जीवद्रव्य (**पौद्गलिकं कर्म**) पुद्गलीक-कर्मवर्गणाओको (**कथ**) कैसे (**बध्नाति**) बांध सकता है ? **भावार्थ**—पुद्गलद्रव्य मूर्तीक है, वह अपने स्निग्ध रूक्ष गुणकर आपसमे बँधता है । आत्मा तो अमूर्तीक है, स्निग्ध, रूक्ष गुणसे रहित है, वह कर्मवर्गणासे किस तरह बँध सकता है ? यह बडा सशय है, कि एक तरफ तो स्निग्ध, रूक्ष गुण सहित कर्मवर्गणा और दूसरी तरफ स्निग्ध, रूक्ष गुण रहित आत्मा ये दोनो आपसमे किस तरह बधको प्राप्त हो सकते हैं ? ऐसा शिष्यका प्रश्न है ॥ ८१ ॥ आगे अमूर्त आत्माके भी बध होता है, ऐसा उत्तर दृष्टान्त द्वारा कहते है । (**रूपादिकैं रहितः**) रूपादिसे रहित यह आत्मा (**यथा**) जैसे (**रूपादीनि द्रव्याणि**) रूपादिगुणोवाले घट पटादिस्वरूप अनेक पुद्गलद्रव्योको (**च**) और (**गुणान्**) उन द्रव्योके रूपादिगुणोको (**जानाति**) जानता है, (**पश्यति**) देखता है, (**तथा**) उसी प्रकार (**तेन**) पुद्गलद्रव्यके साथ (**बन्ध**) आत्माका बंध (**जानीहि**) जानो । **भावार्थ**—आत्मा अमूर्तीक है, परतु मूर्तीकद्रव्यका देखने जाननेवाला है । देखना जानना इसका स्वभाव है, उस देखने जाननेसे ही मूर्तीकद्रव्यसे बध होता है, जो देखता जानता न होता, तो बध होता । जब देखता जानता है, तभी बध है । यही

तेनैव प्रकारेण रूपादिरहितो रूपिभिः कर्मपुद्गलैः किल बध्यते । अन्यथा कथममूर्तो मूर्तं पश्यति जानाति चेत्यत्रापि पर्यनुयोगस्यानिवार्यत्वात् । न चैतदत्यन्तदुर्घटत्वाद्दार्ष्टान्तिकीकृत, किंतु दृष्टान्तद्वारेणाबालगोपालप्रकटितम् । तथाहि—यथा बालकस्य गोपालकस्य वा पृथगवस्थित मृद्बलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतो जानतश्च न बलीवर्देन सहास्ति सबन्धः, विषयभावावस्थितबलीवर्दनिमित्तोपयोगाधिरूढबलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसंबन्धो बलीवर्दसंबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव, तथा किलात्मनो नीरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलैः सहास्ति संबन्धः, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढरागद्वेषादिभावसंबन्धः कर्मपुद्गलबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव ॥ ८२ ॥

रसगन्धस्पर्शसहितानि मूर्तद्रव्याणि । न केवल द्रव्याणि **गुणे य जधा** तद्गुणाश्च यथा । अथवा य कश्चित्ससारी जीवो विशेषभेदज्ञानरहित सन् काष्ठपाषाणाद्यचेतनजिनप्रतिमा दृष्ट्वा मदीयाराध्योऽयमिति मन्यते । यद्यपि तत्र सत्तावलोकदर्शनेन सह प्रतिमायास्तादात्म्यसवन्धो नास्ति तथापि परिच्छेद्यपरिच्छेदकलक्षणसवन्धोऽस्ति । यथा वा समवसरणे प्रत्यक्षजिनेश्वर दृष्ट्वा विशेषभेदज्ञानी मन्यते मदीयाराध्योऽयमिति । तत्रापि यद्यप्यवलोकनज्ञानस्य जिनेश्वरेण सह तादात्म्यसबन्धो नास्ति तथाप्याराध्याराधकसवन्धोऽस्ति । **तह बधो तेण जाणीहि** तथा बन्ध तेनैव दृष्टान्तेन जानीहि । अयमत्रार्थ —यद्यप्ययमात्मा निश्चयेनामूर्तस्तथाप्यनादिकर्मबन्धवशाद्व्यवहारेण मूर्त सन् द्रव्यबन्धनिमित्तभूत रागादिविकल्परूप भावबन्धोपयोग करोति । तस्मिन्सति मूर्तद्रव्यकर्मणा सह यद्यपि तादात्म्यसबन्धो नास्ति तथापि पूर्वोक्तदृष्टान्तेन सश्लेषबधोऽस्तीति नास्ति दोष ॥ ८२ ॥ एव शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा । मूर्तिरहितजीवस्य मूर्तकर्मणा

बात दृष्टान्तसे दिखलाते हैं—जैसे एक बालक मिट्टीके वलय (ककण) को अपना समझकर देखता है, जानता है, मानता है, परतु वह वलय उस बालकसे जुदा है, कुछ सबंध नही है, तो भी जो उस ककणको कोई तोड डाले, फोड डाले, अथवा लेजावे, तो वह बालक अति दु खी होता है, और इसी तरह ग्वालिया सच्चे ककणको अपना समझ कर देखता है, जानता है, मानता है, सच्चा वलय भी उस ग्वालियेसे जुदा है—उस वलयसे कुछ सबध नही है, तो भी उस सच्चे वलयको जो कोई तोड डाले, अथवा लेजावे, तो ग्वालिया भी अति दु खी होता है। इस जगह विचारना चाहिये, कि माटीका वलय और सच्चा वलय दोनो बाल गोपालसे जुदे हैं, उनके जानेसे-टूटने फूटनेसे बालक और ग्वालिया क्यो दु खी होते हैं। इससे यह बात विचारमे आती है, कि वे बाल गोपाल उन वलयोको अपना मानकर देखते हैं, जानते हैं। इस कारण अपने परिणामोंसे बँध रहे हैं, उनका ज्ञान वलयके निमित्तसे तदाकार परिणत हो रहा है। इसलिये परस्वरूप वलयोसे सबधका व्यवहार आजाता है। उसी प्रकार इस आत्माका पुद्गलसे कुछ सबध नही है, परतु अनादिकालसे लेकर एक क्षेत्रावगाहकर ठहरे हुए जो पुद्गल हैं, उनका निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ जो राग, द्वेष, मोहरूप अशुद्धोपयोग वही भावबध है, उसीसे आत्मा बँधा हुआ है, पुद्गलीक कर्मबंध व्यवहारमात्र है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि जो यह आत्मा परद्रव्यको रागी, द्वेषी, मोही, होकर देखता है, जानता है, वही अशुद्धोपयोगरूप परिणाम बधका

अथ भावबन्धस्वरूपं ज्ञापयति—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥ ८३ ॥

उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि ।
प्राप्य विविधान् विषयान् यो हि पुनस्तै सबन्धः ॥ ८३ ॥

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्पनिर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः । तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः परप्रत्ययैरपि मोहरागद्वेषैरुपरक्तात्मस्वभावत्वान्नीलपीतरक्तोपाश्रयप्रत्ययनीलपीतरक्तत्वैरुपरक्तस्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तद्भावद्वितीयत्वाद् बन्धो भवति ॥ ८३ ॥

अथ भावबन्धयुक्तिं द्रव्यबन्धस्वरूपं च प्रज्ञापयति—

सह कथ बन्धो भवतीति पूर्वपक्षरूपेण द्वितीया तत्परिहाररूपेण तृतीया चेति गाथात्रयेण प्रथमस्थलं गतम् । अथ रागद्वेषमोहलक्षण भावबन्धस्वरूपमाख्याति—**उवओगमओ जीवो** उपयोगमयो जीव., अय जीवो निश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तावत्तथाभूतोऽप्यनादिबन्धवशात्सोपाधिस्फटिकवत् परोपाधिभावेन परिणत सन् । किं करोति । **मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि** मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि द्वेष करोति । किं कृत्वा । पूर्वं **पप्पा** प्राप्य । कान् । **विविधे विसये** निर्विषयपरमात्मस्वरूपभावनाविपक्षभूतान्विविधपञ्चेन्द्रियविषयान् । **जो हि पुणो** य पुनरित्थभूतोऽस्ति जीवो हि स्फुट, **तेहिं सबधो** तै. सबद्धो भवति तै पूर्वोक्तरागद्वेषमोहै कर्तृभूतैर्मोहरागद्वेषरहितजीवस्य शुद्धपरिणामलक्षण परमधर्ममलभमान सन् स जीवो बद्धो भवतीति । अत्र योऽसौ रागद्वेषमोहपरिणाम. स एव भावबन्ध इत्यर्थ ॥ ८३ ॥ अथ भावबन्धयुक्ति द्रव्यबन्धस्वरूप च प्रतिपादयति—**भावेण जेण**

कारण है, और अपने ही अशुद्धपरिणामसे बध है ॥ ८२ ॥ आगे भावबधका स्वरूप दिखलाते है—[**य**] जो [**उपयोगमय**] ज्ञान दर्शनमयी [**जीवः**] आत्मा [**विविधान्**] अनेक तरहके [**विषयान्**] इष्ट अनिष्ट विषयोको [**प्राप्य**] पाकर [**मुह्यति**] मोही होता है, [**वा**] अथवा [**रज्यति**] रागी होता है, अथवा [**प्रद्वेष्टि**] द्वेषी होता है, [**स**] वह (**पुनः**) फिर (**तै**) उन राग, द्वेष, मोह भावोसे (**बद्ध**) बधा हुआ है । **भावार्थ**—यह संसारी जीव इद्रियोके विषयोमे उपयोगी होता हुआ राग, द्वेष, मोहभावको प्राप्त होता है। वे राग, द्वेष, मोहभाव परके निमित्तसे होते हैं। यद्यपि यह आत्मा एकभावस्वरूप है, परंतु राग, द्वेष, मोहभावके परिणमनसे द्वैतभावरूप हुआ है, इससे बध है । जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे एक श्वेतभावरूप है, परतु नील पीत रक्तवस्तुके सबधसे नील पीत रक्तरूप दूसरे परिणामको प्राप्त होता है, तदाकार सबधको धारण करता है, उसी प्रकार यह आत्मा परसंयोगसे राग, द्वेष, मोहभावरूप भावबधसे बँधता है ॥ ८३ ॥ आगे भावबधके अनुसार द्रव्यबधका स्वरूप दिखलाते हैं—(**जीवः**) आत्मा (**येन भावेन**) जिस राग, द्वेष, मोहभावकर (**विषये**) इंद्रियोके विषयमे (**आगतं**) आये हुए इष्ट अनिष्ट पदार्थको (**पश्यति**) देखता है,

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥ ८४ ॥

भावेन येन जीवः पश्यति जानात्यागतं विषये।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेशः ॥ ८४ ॥

अयमात्मा साकारनिराकारपरिच्छेदात्मकत्वात्परिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजातं येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेन पश्यति जानाति च ते नैवोपरज्यत एव। योऽयमुपरागः स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भावबन्धः। अथ पुनस्तेनैव पौद्गलिकं कर्म बध्यत एव, इत्येष भावप्रबन्धप्रत्ययो द्रव्यबन्धः ॥ ८४ ॥

अथ पुद्गलजीवतदुभयबन्धस्वरूपं ज्ञापयति—

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥ ८५ ॥

भावेन परिणामेन येन जीवो जीव कर्ता पेच्छदि जाणादि निर्विकल्पदर्शनपरिणामेन पश्यति सविकल्पज्ञानपरिणामेन जानाति। किं कर्मतापन्नं, आगदं विसये आगत प्राप्त किमपीष्टानिष्ट वस्तु पञ्चेन्द्रियविषये रज्जदि तेणेव पुणो रज्यते तेनैव पुन आदिमध्यान्तवर्जित रागादिदोषरहितं चिज्ज्योति स्वरूप निजात्मद्रव्यमरोचमानस्तथैवाजानन्सन् समस्तरागादिविकल्पपरिहारेण भावयश्च तेनैव पूर्वोक्तज्ञानदर्शनोपयोगेन रज्यते राग करोति इति भावबन्धयुक्तिः। बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो तेन भावबन्धेन नवतरद्रव्यकर्म बध्नातीति द्रव्यबन्धस्वरूप चेत्युपदेश ॥ ८४ ॥ एवं भावबन्धकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयस्थलं गतम्। अथ पूर्वनवतरपुद्गलद्रव्यकर्मणो परस्परबन्धो जीवस्य तु रागादिभावेन सह बन्धो जीवस्यैव नवतरद्रव्यकर्मणा सह चेति त्रिविधबन्धस्वरूप प्रज्ञापयति—फासेहि पुग्गलाण बधो स्पर्शै पुद्गलाना बन्ध पूर्वनवतरपुद्गलद्रव्यकर्मणोर्जीवगतरागा-

---

(जानाति) जानता है, (तेन एव) और उसी राग, द्वेष, मोहरूप परिणामकर (रज्यते) तदाकार हो लीन होजाता है (पुनः) फिर (तेनैव) उसी भावबधके निमित्तसे (कर्म) ज्ञानावरणादि आठ प्रकार द्रव्यकर्म (बध्यते) बँधते हैं, (इति उपदेशः) यह भगवन्तका उपदेश है। **भावार्थ**—यह आत्मा ज्ञान दर्शन स्वभाव सहित है। जब यह राग, द्वेष, मोहभावोसे ज्ञेयपदार्थको देखता है, जानता है, तब इसके चिद्विकाररूप राग, द्वेष, मोह परिणाम होते हैं। उन अशुद्धोपयोगरूप परिणामोका जो होना वही भावबध है। इसी भावकर्मके अनुसार द्रव्यकर्म बँधते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेवका उपदेश मनमे धारण करने योग्य है ॥ ८४ ॥ आगे पुद्गलकर्मका बध पुद्गलकर्मोसे होता है, जीवका बध अशुद्धरागादि भावोंसे होता है, और आत्मा पुद्गल इन दोनोका भी बध आपसमे होता है, ऐसा तीन तरहका बध दिखलाते हैं—(स्पर्शैः) यथायोग्य स्निग्ध, रूक्ष, स्पर्श, गुणोसे (पुद्गलानां) पुद्गलकर्मवर्गणाओका आपसमे (बन्धः) मिलकर एकपिंडरूप बंध होता है, (रागादिभिः) पर उपाधिसे उत्पन्न चिद्विकाररूप राग, द्वेष, मोह, परिणामोंसे (जीवस्य) आत्माका

स्पर्शैः पुद्गलानां बन्धो जीवस्य रागादिभिः ।
अन्योन्यस्यावगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः ॥ ८५ ॥

यस्तावदत्र कर्मणां स्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषैरेकत्वपरिणामः स केवलपुद्गलबन्धः । यस्तु जीवस्यौपाधिक मोहरागद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः । यः पुनः जीवकर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबन्धः ॥ ८५ ॥

अथ द्रव्यबन्धस्य भावबन्धहेतुकत्वमुज्जीवयति—

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया ।
पविसंति जहाजोगं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति ॥ ८६ ॥

सप्रदेशः स आत्मा तेषु प्रदेशेषु पुद्गलाः कायाः ।
प्रविशन्ति यथायोग्य तिष्ठन्ति हि यान्ति बध्यन्ते ॥ ८६ ॥

अयमात्मा लोककाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशः । अथ तेषु तस्य प्रदेशेषु

दिभावनिमित्तेन स्वकीयस्निग्धरूक्षोपादानकारणेन च परस्परस्पर्शसयोगेन योऽसौ बन्ध स पुद्गलबन्ध । **जीवस्स रागमादीहिं** जीवस्य रागादिभिर्निरुपरागपरमचैतन्यरूपनिजात्मतत्त्वभावनाच्युतस्य जीवस्य यद्रागादिभि सह परिणमन स जीवबन्ध इति । **अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो** अन्योन्यस्यावगाह पुद्गलजीवात्मको भणितः । निर्विकारस्वसवेदनज्ञानरहितत्वेन स्निग्ध रूक्षस्थानीयरागद्वेषपरि तजीवस्य बन्धयोग्यस्निग्धरूक्षपरिणामपरिणतपुद्गलस्य च योऽसौ परस्परावगाहलक्षण स इत्थ तबन्धो जीवपुद्गलबन्ध इति त्रिविधबन्धलक्षण ज्ञातव्यम् ॥ ८५ ॥ अथ बन्धो 'जीवस्य रागमादिहिं' पूर्वसूत्रे यदुक्त तदेव रागत्वं द्रव्यबन्धस्य कारणमिति विशेषेण समर्थयति—**सपदेसो सो अप्पा** स प्रसिद्धात्मा लोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशत्वात्तावत्सप्रदेश । **तेसु पदेसेसु पुग्गला काया** तेषु प्रदेशेषु कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलकाया कर्तार **पविसति** प्रविशन्ति । कथम् । **जहाजोग** मनोवचनकायवर्गणालम्बनवीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षण-

---

बध होता है, (**अन्योन्य**) परस्परमे परिणामोका निमित्त पाकर (**अवगाहः**) एक क्षेत्रमे जीवकर्मका बध होना (**पुद्गलजीवात्मकः**) वह पुद्गलकर्म और जीव इन दोनोका बध (**भणित**) कहा गया है ॥ **भावार्थ**—जब जीवके नवीन कर्मबध होता है, तब वह तीन जातिका होता है । जो जीवके प्रदेशोमे पूर्वबद्ध वर्गणा है, उनसे तो नूतन कर्मवर्गणा स्निग्ध रूक्ष भावकर बँधती हैं, और जो जीवके रागादि अशुद्धोपयोग होता है, उससे जीवबध होता है, तथा जीव और पुद्गलके परिणमनसे निमित्त नैमित्तिकभावकर जो दोनोका एकक्षेत्रावगाह है, वह आपसमे जीवपुद्गलका बध होता है, इस प्रकार तीन जातिका बध जानना चाहिये ॥ ८५ ॥ आगे द्रव्यबधका कारण भावबंध है, ऐसा दिखलाते हैं—(**स**) सो (**आत्मा**, यह आत्मा (**सप्रदेशः**) लोकप्रमाण असख्यात प्रदेशी है, (**तेषु प्रदेशेषु**) उन असख्यातप्रदेशोमे (**पुद्गला कायाः**) पुद्गलकर्मवर्गणापिंड (**यथायोग्यं**) मन, वचन, कायवर्गणाओकी सहायतासे जो आत्माके प्रदेशोका कंपरूप योगका परिणमन है, उसीके

कायवाङ्मनोवर्गणालम्बनः परिस्पन्दो यथा भवति तथा कर्मपुद्गलकायाः स्वयमेव परिस्पन्दवन्तः प्रविशन्त्यपि तिष्ठन्त्यपि [गच्छन्त्यपि] च । अस्ति चेज्जीवस्य मोह-रागद्वेषरूपो भावो बध्यन्तेऽपि च । ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य भावबन्धो हेतुः ॥८६॥

अथ द्रव्यबन्धहेतुत्वेन रागपरिणाममात्रस्य भावबन्धस्य निश्चयबन्धत्वं साधयति—

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ ८७ ॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते कर्मभी रागरहितात्मा ।
एष बन्धसमासो जीवाना जानीहि निश्चयतः ॥ ८७ ॥

यतो रागपरिणत एवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा बध्यते न वैराग्यपरिणतः, अभिनवेन द्रव्यकर्मणा रागपरिणतो न मुच्यते वैराग्यपरिणत एव, संस्पृश्यतैवाभिनवेन

योगानुसारेण यथायोग्यम् । न केवल प्रविशन्ति विष्ठुति हि प्रवेशानन्तरं स्वकीयस्थितिकालपर्यन्त तिष्ठन्ति हि स्फुटम् । न केवल तिष्ठन्ति जति स्वकीयोदयकाल प्राप्य फल दत्वा गच्छन्ति, वजन्ति केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षप्रतिपक्षभूतबन्धस्य कारण रागादिक लब्ध्वा पुन-रपि द्रव्यबन्धरूपेण बध्यन्ते च । अत एतदायात रागादिपरिणाम एव द्रव्यबन्धकारणमिति । अथवा द्वितीयव्याख्यानम्–प्रविशन्ति प्रदेशबन्धास्तिष्ठन्ति स्थितिबन्धा फल दत्वा गच्छन्त्यनुभागबन्धा बध्यन्ते प्रकृतिबन्धा इति ॥ ८६ ॥ एव त्रिविधबन्धमुख्यतया सूत्रद्वयेन तृतीयस्थल गतम् । अथ द्रव्यबन्धकारणत्वान्निश्चयेन रागादिविकल्परूपो भावबन्ध एव बन्ध इति प्रज्ञापयति—**रत्तो बधदि कम्मं** रक्तो बध्नाति कर्म । रक्त एव कर्म बध्नाति न च वैराग्यपरिणत **मुचदि कम्मेहि राग-**

अनुसार (**प्रविशन्ति**) जीवके प्रदेशोमे आके प्रवेश करते हैं, (**च**) और (**बध्यन्ते**) परस्परमे एक क्षेत्रावगाहकर बँधते हैं, तथा वे कर्मवर्गणापिड (**तिष्ठन्ति**) राग, द्वेष, मोह, भावके अनुसार अपनी स्थिति लेकर ठहरते हैं, उसके बाद (**यान्ति**) अपना फल देकर क्षय होजाते हैं। **भावार्थ**—जो पहले तो जीवके रागादि अशुद्धोपयोगरूप भावबध होता है, उसके बाद द्रव्यबध होता है। इस कारण द्रव्यबधका कारण भावबध जानना । प्रकृति और प्रदेशबध योगपरिणामसे होते हैं, स्थिति और अनुभागबध राग द्वेषरूप कषाय परिणामसे होते है ॥ ८६ ॥ आगे द्रव्यबधका कारण रागादि भाव है, इसलिये रागादि भावको ही निश्चयबंध दिखलाते हैं—(**रक्त**) जो जीव परद्रव्यमे रागी है, वही (**कर्म**) ज्ञानावरणादि कर्मोको (**बध्नाति**) बाँधता है, (**रागरहितात्मा**) और जो रागभावकर रहित है, वह (**कर्मभि**) सब कर्मकलकोसे (**मुच्यते**) मुक्त होता है। (**निश्चयत**) निश्चयनयकर (**जीवाना**) ससारी आत्माओके (**एष**) यह रागादि विभावरूप अशुद्धोपयोग ही भावबध है, ऐसा (**बन्धसमास**) बधका सक्षेप कथन (**जानीहि**) हे शिष्य, तू समझ । **भावार्थ**—जो जीव रागभावकर परिणमता है, वही नवीन द्रव्य कर्मकर बंधता है, और जो जीव वैराग्यस्वरूप परिणमन करता है, वह कर्मोसे नही बंधता । रागपरिणत जीव नूतनकर्मसे छूटता ही नही, और वैराग्यपरिणति-

द्रव्यकर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च न मुच्यते रागपरिणतः, मुच्यत एव संस्पृश्यतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसचितेन पुराणेन च वैराग्यपरिणतो न बध्यते। ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य साधकतमत्वाद्रागपरिणाम एव निश्चयेन बन्धः ॥ ८७ ॥

अथ परिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकतमरागविशिष्टत्वं सविशेष प्रकटयति—

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥ ८८ ॥

परिणामाद् बन्ध. परिणामो रागद्वेषमोहयुत ।
अशुभौ मोहप्रद्वेषौ शुभो वाशुभो भवति राग ॥ ८८ ॥

द्रव्यबन्धोऽस्ति तावद्विशिष्टपरिणामात्। विशिष्टत्वं तु परिणामस्य रागद्वेषमोहमयत्वेन। तत्र शुभाशुभत्वेन द्वैतानुवर्ति। तत्र मोहद्वेषमयत्वेनाशुभत्वं, राग-

---

रहिदप्पा मुच्यते कर्मभ्या रागरहितात्मा मुच्यत एव शुभाशुभकर्मभ्या रागरहितात्मा न च बध्यते **एसो बधसमासो** एव प्रत्यक्षीभूतो बन्धसक्षेप । **जीवाणं** जीवाना सबन्धी **जाण णिच्छयदो** जानीहि त्वं हे शिष्य, निश्चयतो निश्चयनयाभिप्रायेणेति । एव रागपरिणाम एव बन्धकारण ज्ञात्वा समस्तरागादिविकल्पजालत्यागेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वे निरन्तर भावना कर्तव्येति ॥८७॥ अथ जीवपरिणामस्य द्रव्यबन्धसाधक रागाद्युपाधिजनितभेद दर्शयति–**परिणामादो बधो** परिणामात्सकाशाद्बन्धो भवति । स च परिणाम. किंविशिष्ट । **परिणामो रागदोसमोहजुदो** वीतरागपरमात्मनो विलक्षणत्वेन परिणामो रागद्वेषमोहोपाधित्रयेण सयुक्त **असुहो मोहपदोसो** अशुभौ मोहप्रद्वेषौ परोपाधिजनितपरिणामत्रयमध्ये मोहप्रद्वेषद्वयमशुभम् । **सुहो व असुहो हवदि रागो** शुभोऽशुभो वा भवति राग । पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिरूप. शुभराग उच्यते, विषयकषायरूपश्चाशुभ इति । अय परिणाम सर्वोऽपि सोपाधित्वात् बन्धहेतुरिति ज्ञात्वा बन्ध शुभाशुभसमस्तरागद्वेष-

---

वाला नवीनकर्मोंसे छूट जाता है, तथा पुराने कर्मोंसे छूटता है। रागपरिणतिवाला जीव नवीन कर्मोंसे भी बँधता है, और पुराने कर्मोस भी पहलेका बँधा हुआ है। वैराग्यसे परिणत जीव बध अवस्थाके होनेपर भी अबध हो गया है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि द्रव्यबधका कारण रागादि अशुद्धोपयोग है, वही निश्यचबध है, द्रव्य उपचारमात्र है ॥ ८७ ॥ आगे द्रव्यबधका कारण जो परिणाम है, उसमे रागकी विशेषता दिखलाते हैं—[**परिणामात्**] अशुद्धोपयोगरूप परिणामसे [**बन्ध.**] पुद्गलकर्मवर्गणारूप द्रव्यबध होता है, [**परिणाम**] और वह परिणाम [**रागद्वेषमोहयुत**] राग, द्वेष, मोह, भावोकर सहित है। वह परिणाम शुभ और अशुभके भेदसे दो तरहका है, उनमेसे [**मोहप्रद्वेषौ**] मोहभाव और द्वेषभाव ये दोनो [**अशुभौ**] अशुभ हैं, और [**राग.**] रागभाव [**शुभ**] पचपरमेष्ठीकी भक्ति आदि स्वरूप शुभ है, [**वा**] और [**अशुभ**] विषयरतिरूप अशुभ भी है। **भावार्थ**—जो परिणाम राग, द्वेष, मोहकी विशेषता लिये हुए हो, वही परिणाम बधका कारण है, मोहसामान्य राग, द्वेष, मोहके भेदसे तीन प्रकारका है, उनमेसे द्वेष, मोह तो अशुभ भाव ही

मयत्वेन तु शुभत्वं चाशुभत्वं च। विशुद्धिसंक्लेशाङ्गत्वेन रागस्य द्वैविध्यात् भवति ॥ ८८ ॥

अथ विशिष्टपरिणामविशेषमविशिष्टपरिणामं च कारणे कार्यमुपचर्य कार्यत्वेन निर्दिशति—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥ ८९ ॥

शुभपरिणामः पुण्यमशुभः पापमिति भणितमन्येषु ।
परिणामोऽनन्यगतो दुःखक्षयकारणं समये ॥ ८९ ॥

द्विविधस्तावत्परिणामः परद्रव्यप्रवृत्तः स्वद्रव्यप्रवृत्तश्च । तत्र परद्रव्यप्रवृत्तः परोपरक्तत्वाद्विशिष्टपरिणामः, स्वद्रव्यप्रवृत्तस्तु परानुपरक्तत्वादविशिष्टपरिणामः ।

विनाशार्थं समस्तरागाद्युपाधिरहिते सहजानन्दैकलक्षणसुखामृतस्वभावे निजात्मद्रव्ये भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ ८८ ॥ अथ द्रव्यरूपपुण्यपापबन्धकारणत्वाच्छुभाशुभपरिणामयोः पुण्यपापसंज्ञां शुभाशुभरहितशुद्धोपयोगपरिणामस्य मोक्षकारणत्वं च कथयति—सुहपरिणामो पुण्णं द्रव्यपुण्यबन्धकारणत्वाच्छुभपरिणामः पुण्यं भण्यते असुहो पाव त्ति भणियं द्रव्यपापबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापं भण्यते। केषु विषयेषु योऽसौ शुभाशुभपरिणामः । अण्णेसु निजशुद्धात्मनः सकाशादन्येषु शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु परिणामो णण्णगदो परिणामो नान्यगतोऽनन्यगतः स्वस्वरूपस्थ इत्यर्थः । स इत्थंभूतः शुद्धोपयोगलक्षणः परिणामः दुक्खक्खयकारणं दुःखक्षयकारणं दुःखक्षयाभिधानमोक्षस्य कारणं भणिदो भणितः । क्व भणितः । समये परमागमे लब्धिकाले वा । किं च । मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभपरिणामो भवतीति पूर्वं भणितमस्ति, अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतसंज्ञगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभपरिणामश्च भणितः, अप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु तारतम्येन शुद्धोपयोगोऽपि भणितः । नयविवक्षायां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु पुनरशुद्धनिश्चयनयो भवत्येव । तत्राशुद्धनिश्चयमध्ये शुद्धोपयोगः कथं लभ्यत इति शिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति प्रत्युत्तरं ददाति—वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं शुभाशुभशुद्धद्रव्यालम्बनमुपयोगलक्षणं चेति तेन कारणेनाशुद्धनिश्चयमध्येऽपि शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधक-

---

हैं, और राग शुभ अशुभके भेदसे दो प्रकारका है। धर्मानुराग शुभ है, और विषयराग अशुभ भाव है। इस प्रकार ये शुभाशुभ दो तरहके परिणाम बंधके ही कारण हैं ॥ ८८ ॥ आगे बंधके कारणविशेष जो शुभाशुभपरिणाम हैं, उनको तथा मोक्षका कारण शुद्ध परिणामको कारणमें कार्यका उपचार करके कार्यरूपमें दिखलाते हैं—[अन्येषु] अपनी आत्मसत्तासे भिन्नरूप पंचपरमेष्ठी आदिकोंमें [यः] जो [शुभपरिणामः] भक्ति आदि प्रशस्तरागरूप परिणाम है, वह [पुण्यं] पुण्य है, और जो [अशुभः] परद्रव्यमें ममत्व विषयानुराग अप्रशस्त (खोटा) राग परिणाम है, वह [पापं] पाप है, [अनन्यगतः परिणामः] जो अन्यद्रव्यमें नहीं प्रवर्ते, ऐसा वीतराग शुद्धोपयोगरूप भाव है, वह [दुःखक्षयकारणं] दुःखके नाशका कारणरूप मोक्षस्वरूप है, [इति] ऐसा [समये] परमागममें [भणितं] कहा है। भावार्थ—परिणाम दो प्रकारका है, एक तो परद्रव्यमें प्रवर्तता है; दूसरा

तत्रोक्तौ द्वौ विशिष्टपरिणामस्य विशेषौ, शुभपरिणामोऽशुभपरिणामश्च । तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्यं, पापपुद्गलबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापम् । अविशिष्टपरिणामस्य तु शुद्धत्वेनैकत्वान्नास्ति विशेषः । स काले संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयकारणत्वात्संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयात्मको मोक्ष एव ॥ ८९ ॥

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्तिसिद्धये स्वपरविभागं दर्शयति—

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा ।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥ ९० ॥

त्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति नयलक्षणमुपयोगलक्षण च यथासंभव सर्वत्र ज्ञातव्यम् । अत्र योऽसौ रागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारणं भणित स शुद्धात्मद्रव्यलक्षणाद्ध्येयभूताच्छुद्धपरिणामिकभावादभेदप्रधानद्रव्यार्थिकनयेनाभिन्नोऽपि भेदप्रधानपर्यायार्थिकनयेन भिन्न । कस्मादिति चेत् । अयमेकदेशनिरावरणत्वेन क्षायोपशमिकखण्डज्ञानव्यक्तिरूप स च परिणामिक सकलावरणरहितत्वेनाखण्डज्ञानव्यक्तिरूप । अय तु सादिसान्तत्वेन विनश्वर , स च अनाद्यनन्तत्वेनाविनश्वरः । यदि पुनरेकान्तेनाभेदो भवति तर्हि घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डविनाशवद् ध्यानपर्यायविनाशे मोक्षे जाते सति ध्येयरूपपारिणामकस्यापि विनाशो भवतीत्यर्थ । तत एव ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानभावनारूपो न भवति । कस्मात् । ध्यानस्य विनश्वरत्वादिति ॥ ८९ ॥ एव द्रव्यबन्धकारणत्वात् मिथ्यात्वरागादिविकल्परूपो भाववन्ध एव निश्चयेन बन्ध इति कथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थलं गतम् । अथ जीवस्य स्वद्रव्यप्रवृत्तिपरद्रव्यनिवृत्तिनिमित्त षड्जीवनिकायैः सह भेदविज्ञान दर्शयति—**भणिदा पुढविप्पमुहा** भणिता परमागमे कथिता. पृथिवीप्रमुखाः । ते के । **जीवणिकाया** जीवसमूहा । अध अथ । कथभूताः **थावरा य तसा**

निजद्रव्यमे प्रवर्तता है । जो परद्रव्यमे प्रवर्तता है, वह बधकारणरूप विशेषता सहित है, इसलिये विशेष परिणाम कहा जाता है, और जो स्वरूपमे प्रवर्तता है, वह बध कारणविशेष रहित है, इस कारण अविशेष परिणाम कहा जाता है । विशेष परिणामके शुभ अशुभ ऐसे दो भेद हैं । जो पुण्यरूप पुद्गलबधका कारण है वह शुभपरिणाम हैं, और जो पापरूप पुद्गलोके बधका कारण है, उसे अशुभ परिणाम जानना चाहिये । ये शुभ अशुभ परिणाम पुण्य पाप भी कहे जाते है, वास्तवमे पुण्यादिकके कारण हैं, परतु कारणमे कार्यका उपचार होता है, उसकी अपेक्षा पुण्य पाप कहे जाते हैं । तथा जो अविशेष परिणाम है, वह शुद्ध एकभाव है, इसलिये उसमे भेद नही है, वह ससारमे दु खरूप पुद्गलक्षयका कारण है, और सकलकर्मक्षयलक्षण मोक्षका बीजभूत है । यहाँपर भी कारणमे कार्यके उपचारकी अपेक्षा यह शुद्धोपयोग मोक्षरूप ही जानना चाहिये ॥ ८९ ॥ आगे जीवकी स्वद्रव्यमे प्रवृत्ति और परद्रव्यसे निवृत्ति इस बातकी सिद्धिके लिये स्वपरभेद दिखलाते है—[अथ] इसके बाद [ये] जो [पृथिवीप्रमुखा.] पृथ्वीको आदि लेकर [जीवनिकायाः] जीवके छ. काय जो [स्थावरा] स्थावर [च] और [त्रसा] त्रस [भणिता] कहे गये हैं, [ते] वे सब भेद

भणिताः पृथिवीप्रमुखा जीवनिकाया अथ स्थावराश्च त्रसाः ।
अन्ये ते जीवाज्जीवोऽपि च तेभ्योऽन्य ॥ ९० ॥

य एते पृथिवीप्रभृतयः षड्जीवनिकायास्त्रसस्थावरभेदेनाभ्युपगम्यन्ते ते खल्वचेतनत्वादन्ये जीवात्, जीवोऽपि च चेतनत्वादन्यस्तेभ्यः । अत्र षड्जीवनिकायात्मनः परद्रव्यमेक एवात्मा स्वद्रव्यम् ॥ ९० ॥

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन स्वपरविभागज्ञानाज्ञाने अवधारयति–

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज ।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥ ९१ ॥

यो नैव जानात्येव परमात्मान स्वभावमासाद्य ।
कुरुतेऽध्यवसानमहं ममेदमिति मोहात् ॥ ९१ ॥

यो हि नाम नैवं प्रतिनियतचेतनाचेतनत्वस्वभावेन जीवपुद्गलयोः स्वपरविभागं

स्थावराश्च त्रसा । ते च किंविशिष्टा । **अण्णा ते** अन्ये भिन्नास्ते कस्मात् । **जीवादो** शुद्धबुद्धैकजीवस्वभावात् । **जीवो वि य तेहिंदो अण्णो** जीवोऽपि च तेभ्योऽन्य इति । तथा हि–टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जित त्रसस्थावरनामकर्म तदुदयजनितत्वादचेतनत्वाच्च त्रसस्थावरजीवनिकाया शुद्धचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्ना । जीवोऽपि च तेभ्यो विलक्षणत्वाद्भिन्न इति । अत्रैव भेदविज्ञाने जाते सति साक्षार्थी जीव. स्वद्रव्ये प्रवृत्ति परद्रव्ये निवृत्ति च करोतीति भावार्थः ॥ ९० ॥ अथैतदेव भेदविज्ञान प्रकारान्तरेण द्रढयति–**जो णवि जाणदि एव** य कर्ता नैव जानात्येव पूर्वोक्तप्रकारेण । कम् । पर षड्जीवनिकायादिपरद्रव्यं, **अप्पाण** निर्दोषिपरमात्मद्रव्यरूप निजात्मानम् । किं कृत्वा । **सहावमासेज्ज** शुद्धोपयोगलक्षणनिजशुद्धस्वभावमाश्रित्य **कीरदि अज्झवसाण** स पुरुष करोत्यध्यवसान परिणामम् । केन रूपेण । **अह**

[**जीवात् अन्ये**] चेतनालक्षण जीवसे अन्य अचेतन पुद्गलपिंडरूप हैं, [**च**] और [**जीवः अपि**] जीवद्रव्य भी निश्चयसे [**तेभ्यः**] उन त्रस स्थावररूप छह प्रकारके भेदोसे [**अन्य**] जुदा टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वरूप है । **भावार्थ**—जो कुछ कर्मजनित सामग्री है, वह सब परद्रव्यरूप है । उससे निवृत्त होकर निजद्रव्यमे ही प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥ ९० ॥ आगे जीवके स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति करनेसे भेदविज्ञान होता है, और परद्रव्यमे प्रवृत्ति करनेसे स्वपरभेदविज्ञानका अभाव होता है, यह दिखलाते हैं—[**य**] जो जीव [**एव**] पूर्वोक्त प्रकारसे अर्थात् चेतन और अचेतन स्वभावोका निश्चयकरके [**स्वभाव आसाद्य**] सच्चिदानंदरूप शुद्ध नित्य आत्मीकभावको उपादेयरूप अगीकार कर [**पर**] पुद्गलको [**आत्मान**] तथा जीवको स्व और परके भेदकर [**न जानाति**] नही जानता है, वह [**मोहात्**] राग, द्वेष, मोहसे (**अह इद**) मैं शरीरादिस्वरूप हूँ, (**मम इद**) मेरे ये शरीरादि हैं, (**इति**) ऐसा (**अध्यवसान**) मिथ्या परिणाम (**कुरुते**) करता है । **भावार्थ**—जो जीव स्वरूपको अगीकारकर

पश्यति स एवाहं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन परद्रव्यमध्यवस्यति मोहान्नान्यः । अतो जीवस्य परद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं स्वपरपरिच्छेदाभावमात्रमेव सामर्थ्यात्स्वद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं तदभावः ॥ ९१ ॥

अथात्मनः किं कर्मेति निरूपयति—

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स ।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ९२ ॥

कुर्वन् स्वभावमात्मा भवति हि कर्ता स्वकस्य भावस्य ।
पुद्गलद्रव्यमयाना न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥ ९२ ॥

आत्मा हि तावत्स्वं भावं करोति तस्य स्वधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्तिसंभवेनावश्यमेव कार्यत्वात् । स तं च स्वतन्त्रः कुर्वाणस्तस्य कर्तावश्यं स्यात्, क्रियमाणश्चात्मना स्वो भावस्तेनाप्यत्वात्तस्य कर्मावश्यं स्यात् । एवमात्मनः स्वपरिणामः

ममेदं ति अह ममेदमिति । ममकाराहकारादिरहितपरमात्मभावनाच्युतो भूत्वा परद्रव्य रागादिकमहमिति देहादिक ममेतिरूपेण । कस्मात् । **मोहादो** मोहाधीनत्वादिति । तत स्थितमेतत्स्वपरभेदविज्ञानबलेन स्वसवेदनज्ञानी जीव स्वद्रव्ये रतिं परद्रव्ये निवृत्ति करोतीति ॥ ९१ ॥ एव भेदभावनाकथनमुख्यतया सूत्रद्वयेन पञ्चमस्थल गतम् । अथात्मनो निश्चयेन रागादिस्वपरिणाम एव कर्म न च द्रव्यकर्मेति प्ररूपयति—**कुव्व सभाव** कुर्वन्स्वभावम्, अत्र स्वभावशब्देन यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो भण्यते, तथापि कर्मबन्धप्रस्तावे रागादिपरिणामोऽप्यशुद्धनिश्चयेन स्वभावो भण्यते । त स्वभाव कुर्वन् । स क । **आदा** आत्मा **हवदि हि कत्ता** कर्ता भवति हि स्फुटम् । कस्य । **सगस्स भावस्स** स्वकीयचिद्रूपस्वभावस्य रागादिपरिणामस्य तदेव तस्य रागादिपरिणामरूप निश्चयेन भावकर्म भण्यते । कस्मात् । तप्ताय पिण्डवत्तेनात्मना प्राप्यत्वाद्व्याप्यत्वादिति । **पोग्गलदव्व-**

स्वपरका भेद नही जानता है, वह भेदविज्ञानी नही है, और भेदविज्ञानी न होनेसे परद्रव्यमे अहकार ममकार करता है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि परद्रव्यमे प्रवृत्तिका कारण स्वपरभेदका नही जानना है, और स्वद्रव्यमे प्रवृत्तिका कारण स्वपरभेदका जानना है ॥ ९१ ॥ आगे आत्माका कर्म कौनसा है, ऐसा कहते हैं—[**आत्मा**] जीव [**स्वभाव**] अपने चेतनास्वरूपपरिणामको [**कुर्वन्**] करता हुआ [**स्वकस्य**] अपने [**भावस्य**] चेतनास्वरूपभावका [**कर्ता**] कर्ता (करनेवाला) [**हि**] निश्चयसे [**भवति**] होता है । [**तु**] और [**पुद्गलद्रव्यमयाना**] पुद्गलद्रव्यमयी [**सर्वभावाना**] सर्व द्रव्य कर्म शरीरादि भावोका [**कर्ता**] करनेवाला [**न**] नही है ॥ **भावार्थ**—जीवद्रव्य अपने परिणामका कर्ता है, क्योकि वे परिणाम जीवके स्वभाव हैं, जीवमे उस भावरूप होनेकी शक्ति है, इस कारण परिणाम कार्य है । उस कार्यको स्वाधीन होके करता हुआ आत्मा कर्ता होता है, और जो आत्माकर किया जावे, वह परिणामरूप कार्य सो आत्माका कर्म है । यही आत्माके परिणाम परिणामीभावरूप कर्ताकर्मभाव है । आत्मा द्रव्यकर्मादि पुद्गलीकभावोका कर्ता नही है, क्योकि वे परद्रव्यके स्वभाव हैं, आत्माके उन भावोरूप होनेकी शक्तिका अभाव है । इसलिये उन पुद्गलीकभावोका अकर्ता हुआ यह आत्मा अकर्ता है, क्योकि वे भाव आत्माकर नही किये जाते है, इसी

कर्म न त्वात्मा पुद्गलस्य भावान् करोति तेषां परधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्त्यसंभवेनाकार्यत्वात् स तानकुर्वाणो न तेषां कर्ता स्यात् अक्रियमाणाश्चात्मना ते न तस्य कर्म स्युः । एवमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म ॥ ९२ ॥

अथ कथमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म स्यादिति संदेहमपनुदति—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि ।
जीवो पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥ ९३ ॥

गृह्णाति नैव न मुञ्चति करोति न हि पुद्गलानि कर्माणि ।
जीव पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु ॥ ९३ ॥

न खल्वात्मनः पुद्गलपरिणामः कर्म परद्रव्योपादानहानशून्यत्वात्, यो हि यस्य परिणमयिता दृष्टः स तदुपादानहानशून्यो न दृष्टः, यथाग्निरयःपिण्डस्य । आत्मा तु तुल्यक्षेत्रवर्तित्वेऽपि परद्रव्योपादानहानशून्य एव । ततो न स पुद्गलानां कर्मभावेन परिणमयिता स्यात् ॥ ९३ ॥

मयाण ण दु कत्ता सव्वभावाण चिद्रूपात्मनो विलक्षणाना पुद्गलद्रव्यमयाना न तु कर्ता सर्वभावाना ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायाणामिति । ततो ज्ञायते जीवस्य रागादिस्वपरिणाम एव कर्म तस्यैव स कर्तेति ॥ ९२ ॥ अथात्मन कथ द्रव्यकर्मरूपपरिणाम कर्म न स्यादिति प्रश्नसमाधान ददाति— **गेण्हदि णेव ण मुचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि जीवो** यथा निर्विकल्पसमाधिरत परममुनि परभाव न गृह्णाति न मुञ्चति न च करोत्युपादानरूपेण लोहपिण्डो वाग्नि तथायमात्मा न च गृह्णाति न च मुञ्चति न च करोत्युपादानरूपेण पुद्गलकर्माणीति । किं कुर्वन्नपि । **पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु** क्षीरन्यायेन पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु । अनेन किमुक्त भवति–यथा सिद्धो भगवान् पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि परद्रव्यग्रहणमोचनकरणरहितस्तथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण ससारी जीवोऽपीति भावार्थ ॥ ९३ ॥ अथ यद्ययमात्मा पुद्गलकर्म न करोति

कारण वे आत्माके कर्म नही है । उन भावोंसे कर्ताकर्मभाव पुद्गलका ही है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि पुद्गलपरिणाम आत्माके कर्म नही हैं ॥९२॥ आगे आत्माका पुद्गलपरिणाम कर्म किस तरह नही है, यह सदेह दूर करते हैं—[जीव] आत्मा [सर्वकालेषु] सदाकाल [पुद्गलमध्ये] पुद्गलके बीचमे एक क्षेत्रावगाहकर [**प्रवर्तमान अपि**] मौजूद है, तो भी [**पुद्गलानि कर्माणि**] पुद्गलीक द्रव्यकर्मादिकोको [**नैव गृह्णाति**] न तो ग्रहण करता है, और [**न मुञ्चति**] न छोडता है, तथा [**हि**] निश्चयसे [**न करोति**] करता भी नही है । **भावार्थ**—पुद्गलीक परिणाम आत्माके नही हैं, क्योंकि आत्माके परद्रव्यका ग्रहण करना तथा छोडना नही है । जैसे कि अग्नि स्वभावसे लोहके पिंडको ग्रहण करती वा छोडती नही है । जो द्रव्य जिसका परिणमावनेवाला होता है, वही उसका ग्रहण करनेवाला वा छोडनेवाला होता है, ऐसा नियम है । आत्मा पुद्गलका परिणमावनेवाला नही है, इस कारण पुद्गलको न तो ग्रहण करता है, न छोडता है, और न करनेवाला कर्ता ही है । इसलिये यह सिद्ध हुआ, कि पुद्गलीकपरिणाम आत्माका नही हैं ॥ ९३ ॥ आगे आत्माका

अथात्मनः कुतस्तर्हि पुद्गलकर्मभिरुपादानं हानं चेति निरूपयति—

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स ।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ।। ९४ ।।

स इदानी कर्ता सन् स्वकपरिणामस्य द्रव्यजातस्य ।
आदीयते कदाचिद्विमुच्यते कर्मधूलिभि ।। ९४ ।।

सोऽयमात्मा परद्रव्योपादानहानशून्योऽपि सांप्रतं ससारावस्थायां निमित्तमात्रीकृतपरद्रव्यपरिणामस्य स्वपरिणाममात्रस्य द्रव्यत्वभूतत्ववात्केवलस्य कलयन् कर्तृत्वं तदेव तस्य स्वपरिणामं निमित्तमात्रीकृत्योपात्तकर्मपरिणामाभिः पुद्गलधूलीभिर्विशिष्टावगाहरूपेणोपादीयते कदाचिन्मुच्यते च ।। ९५ ।।

न च मुञ्चति तर्हि बन्ध कथ तर्हि मोक्षोऽपि कथमितिप्रश्ने प्रत्युत्तर ददाति—**स इदाणिं कत्ता स** स इदानी कर्ता सन् स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा इदानी कोऽर्थ एव पूर्वोक्तनयविभागेन कर्ता सन् । कस्य । **सगपरिणामस्स** निर्विकारनित्यानन्दैकलक्षणपरमसुखामृतव्यक्तिरूपकार्यसमयसारसाधकनिश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारविलक्षणस्य मिथ्यात्वरागादिविभावरूपस्य स्वकीयपरिणामस्य । पुनरपि किंविशिष्टस्य । **दव्वजादस्स** स्वकीयात्मद्रव्योपादानकारणजातस्य । **आदीयदे कदाई कम्मधुलीहिं** आदीयते बध्यते । काभि. । कर्मधूलीभि कर्तृभूताभि कदाचित्पूर्वोक्तविभावपरिणामकाले । न केवलमादीयते **विमुच्चदे** विशेषेण मुच्यते त्यज्यते ताभि कर्मधूलीभि कदाचित्पूर्वोक्तकारणसमयसारपरिणतिकाले । एतावता विमुक्तं भवति—अशुद्धपरिणामेन बध्यते शुद्धपरिणामेन मुच्यत इति ।। ९४ ।। अथ यथा द्रव्यकर्माणि निश्चयेन स्वयमेवोत्पद्यन्ते तथा ज्ञानावरणादि-

---

पुद्गलमयी कर्मोंसे ग्रहण त्याग किस तरह होता है, यह कहते हैं—[**स**] वह परद्रव्यके ग्रहण त्यागसे रहित आत्मा [**इदानीं**] अब ससार अवस्थामे परद्रव्यका निमित्त पाके [**द्रव्यजातस्य**] आत्मद्रव्यसे उत्पन्न हुए [**स्वकपरिणामस्य**] चेतनाके विकाररूप अशुद्ध अपने परिणामोका [**कर्ता सन्**] कर्ता होता हुआ [**कर्मधूलीभि**] उस अशुद्ध चेतनारूप आत्मपरिणामका ही निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत हुई पुद्गलकर्मरूप धूलिसे [**उपादीयते**] ग्रहण किया जाता है, और [**कदाचित्**] किसी कालमे अपना रस (फल) देकर [**विमुच्यते**] छोड दिया जाता है। **भावार्थ—** ससार अवस्थामे यह जीव परद्रव्य सयोगके निमित्तसे अशुद्धोपयोग भावोस्वरूप परिणमन करनेसे उनका कर्ता है, परिणमनकी अपेक्षा अशुद्धोपयोग भाव आत्माके परिणाम हैं, इस कारण उनका तो कर्ता हो सकता है, लेकिन पुद्गलकर्मका कर्ता नही होता। उस आत्माके अशुद्ध परिणामोका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य अपनी निजशक्तिसे ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करके आत्मासे एक क्षेत्रावगाह होके अपने आप बँधते हैं, फिर अपना रस (फल) देकर आप ही क्षयको प्राप्त होजाते है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि पुद्गलकर्मका आत्मा ग्रहण करनेवाला वा छोड़नेवाला नही है, पुद्गल ही पुद्गलको ग्रहण करता है, तथा छोड़ता है ।।९४।। [**यदा**] जिस समय [**आत्मा**] यह

अथ किंकृतं पुद्गलकर्मणां वैचित्र्यमिति निरूपयति—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ ९५ ॥

परिणमति यदात्मा शुभेऽशुभे रागद्वेषयुतः ।
तं प्रविशति कर्मरजो ज्ञानावरणादिभावैः ॥ ९५ ॥

अस्ति खल्वात्मनः शुभाशुभपरिणामकाले स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यकर्मपुद्गलपरिणामः नवघनाम्बुनो भूमिसंयोगपरिणामकाले समुपात्तवैचित्र्यान्यपुद्गलपरिणामवत् । तथाहि—यथा यदा नवघनाम्बुभूमिसंयोगेन परिणमति तदान्ये पुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैः शाद्वलशिलीन्ध्रशक्रगोपादिभावैः परिणमन्ते, तथा यदायमात्मा रागद्वेषवशीकृतः शुभाशुभभावेन परिणमति तदा अन्ये योगद्वारेण प्रविशन्तः कर्मपुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैर्ज्ञानावरणादिभावैः परिणमन्ते । अतः स्वभावकृतं कर्मणां वैचित्र्यं न पुनरात्मकृतम् ॥ ९५ ॥

अथैक एव आत्मा बन्ध इति विभावयति—

विचित्रभेदरूपेणापि स्वयमेव परिणमन्तीति कथयति—**परिणमदि जदा अप्पा** परिणमति यदात्मा समस्त शुभाशुभपरद्रव्यविषये परमोपेक्षालक्षण शुद्धोपयोगपरिणाम मुक्त्वा यदायमात्मा परिणमति । क्व । **सुहम्हि असुहम्हि** शुभेऽशुभे वा परिणामे । कथभूत सन् । **रागदोसजुदो** रागद्वेषयुक्त परिणत इत्यर्थ । **त पविसदि कम्मरय** तदा काले तत्प्रसिद्ध कर्मरज प्रविशति । के कृत्वा । **णाणावरणादिभावेहिं** भूमेर्मेघजलसयोगे सति यथाऽन्ये पुद्गला स्वयमेव हरितपल्लवादिभावै परिणमन्ति तथा स्वयमेव नानाभेदपरिणतैर्मूलोत्तरप्रकृतिरूपज्ञानावरणादिभावै पर्यायैरिति । ततो ज्ञायते ज्ञानावरणादिकर्मणामुत्पत्ति स्वयकृता तथा मूलोत्तरप्रकृतिरूपवैचित्र्यमपि, न च जीवकृतमिति ॥ ९५॥ अथ पूर्वोक्तज्ञानावरणादिप्रकृतीना जघन्योत्कृष्टानुभागस्वरूप प्रतिपादयति—

आत्मा (**रागद्वेषयुत**) राग द्वेष भावो सहित हुआ (**शुभे अशुभे**) शुभ अशुभ भावोंमे (**परिणमति**) परिणमन करता है, उसो समय (**ज्ञानावरणादिभावै**) ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप होकर (**तत्कर्मरज**) वह कर्मरूपो धूल (**प्रविशति**) इस आत्माके योगो द्वारा प्रवेश करती है। **भावार्थ**—जैसे वर्षाऋतुमे नवीन मेघोका जल जब भूमिके साथ सयोग करता है, तब उस मेघजलका निमित्त पाके अन्य पुद्गल आपसे ही निजशक्तिसे हरी दूब (घास) और हरे पीले आदि पत्ते, अकुर वगैरह भावोस्वरूप परिणमन करते हैं, उसी प्रकार जब यह आत्मा शुभ अशुभरूप राग, द्वेष, भावोसे परिणत होता है, तब इसके शुभाशुभभावोका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य अपने आप नाना प्रकार ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप परिणमता है। इस कारण यह सिद्धात हुआ, कि पुद्गलद्रव्य स्वभावसे हो कर्मोंकी विचित्रताका कर्ता है, आत्मा कर्ता नही हो सकता ॥ ९५ ॥ आगे अभेदनयकी विवक्षासे आत्माको एक बधस्वरूप दिखलाते हैं—(**स आत्मा**) वह ससारी जीव (**सप्रदेश**)

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥ ९६ ॥

सप्रदेशः स आत्मा कषायितो मोहरागद्वेषैः ।
कर्मरजोभिः श्लिष्टो बन्ध इति प्ररूपितः समये ॥ ९६ ॥

यथात्र सप्रदेशत्वे सति लोध्रादिभिः कषायितत्वात् मञ्जिष्ठरङ्गादिभिरुपश्लिष्ट-मेकं रक्तं दृष्टं वासः, तथात्मापि सप्रदेशत्वे सति काले मोहरागद्वेषैः कषायितत्वात्

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि ।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीण ॥ *४ ॥

अणुभागो अनुभागः फलदानशक्तिविशेषः भवतीति क्रियाध्याहारः । कथंभूतो भवति । **तिव्वो** तीव्रः प्रकृष्टः परमामृतसमानः । कासां संबन्धी । **सुहपयडीण** सद्वेद्यादिशुभप्रकृतीनाम् । कया कारणभूतया । **विसोही** तीव्रधर्मानुरागरूपविशुद्धया । **असुहाण संकिलेसम्मि** असद्वेद्याद्यशुभप्रकृतीनां तु मिथ्यात्वादिरूपतीव्रसंक्लेशे सति तीव्रो हालाहलविषसदृशो भवति । **विवरीदो दु जहण्णो** विपरीतस्तु जघन्यो गुडनिम्बरूपो भवति । जघन्यविशुद्धया जघन्यसंक्लेशेन च मध्यमविशुद्धया मध्यमसंक्लेशेन तु शुभाशुभप्रकृतीनां खण्डशर्करारूपः काञ्जीरविषरूपश्चेति । एवंविधो जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपोऽनुभागः कासां संबन्धी भवति । **सव्वपयडीण** मूलोत्तरप्रकृतिरहितनिजपरमानन्दैकस्वभावलक्षणसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्याद्भिन्नानां हेयभूतानां सर्वमूलोत्तरकर्मप्रकृतीनामिति कर्मशक्तिस्वरूपं ज्ञातव्यम् । अथाभेदनयेन बन्धकारणभूतरागादिपरिणतात्मैव बन्धो भण्यत इत्यावेदयति—**सपदेसो** लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशस्तावद्भवति **सो अप्पा** स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा । पुनरपि किंविशिष्टः । **कसायिदो** कषायितः परिणतो रञ्जितः । कैः । **मोहरागदोसेहिं** निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिबन्धिभिर्मोहरागद्वेषैः । पुनश्च किंरूपः । **कम्मरजेहिं सिलिट्ठो** कर्मरजोभिः श्लिष्टः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलरजोभिः संश्लिष्टो बद्धः । **बंधो त्ति परूविदो** अभेदेनात्मैव बन्ध इति प्ररूपितः । क्व । **समये** परमागमे । अत्रेदं भणितं भवति—यथा वस्त्रं लोध्रादिद्रव्यैः कषायितं रञ्जितं सन्मञ्जिष्ठादिरङ्गद्रव्येण रञ्जितं सदभेदेन रक्तमित्युच्यते तथा वस्त्रस्थानीय आत्मा लोध्रादिद्रव्यस्थानीयमोहरागद्वेषैः कषायितो रञ्जितः परिणतो मञ्जिष्ठास्थानीयकर्मपुद्गलैः संश्लिष्टः संबद्धः सन् भेदेऽप्यभेदोपचारलक्षणेनासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते । कस्मात् । अशुद्धद्रव्यनिरूपणार्थविषयत्वादसद्भूतव्यवहारनयस्येति ॥ ९६ ॥ **एसो बन्धसमासो**

लोकमात्र असंख्यात प्रदेशोंवाला होनेसे **[मोहरागद्वेषैः कषायितः]** मोह-राग-द्वेषरूप रंगसे कसैला हुआ **[कर्मरजोभिः]** ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपी धूली—समूहसे **[श्लिष्टः]** बँधा हुआ है, **[इति]** इस प्रकार **[समये]** जैनसिद्धान्तमें **[बंधः]** बंधरूप **[प्ररूपितः]** कहा गया है। **भावार्थ**—जैसे वस्त्र प्रदेशोंवाला होनेसे लोध फिटकरी आदिसे कसैला होता है, फिर वही वस्त्र मजीठादि रंगसे लाल होजाता है, उसी प्रकार यह आत्मा प्रदेशी है, इसलिये बंधके समयमें राग, द्वेष, मोहभावोंसे रंजित हुआ कसैला होता है, तब कर्मरूपी धूलिसे बंध अवस्थाको प्राप्त होता है। इस कारण राग, द्वेष, भावोंरूप परिणमन निश्चयबंध है, कर्मवर्गणारूप व्यवहारबंध है। निश्चयनय तो

कर्मरजोभिरुपश्लिष्ट एको बन्धो द्रष्टव्यः शुद्धद्रव्यविषयत्वान्निश्चयस्य ॥ ९६ ॥

अथ निश्चयव्यवहाराविरोधं दर्शयति—

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो ।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥ ९७ ॥

एष बन्धसमासो जीवाना निश्चयेन निर्दिष्ट. ।
अर्हद्भिर्यतीना व्यवहारोऽन्यथा भणितः ॥ ९७ ॥

रागपरिणाम एवात्मनः कर्म, स एव पुण्यपापद्वैतम् । रागादिपरिणामस्यैवात्मा कर्ता तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः । यस्तु पुद्गल-

---

एष बन्धसमास एष बहुधा पूर्वोक्तप्रकारो रागादिपरिणतिरूपो बन्धसक्षेप केषा सबन्धी । जीवाणं जीवानाम् । णिच्छयेण णिद्दिट्ठो निश्चयेन निर्दिष्टः कथित । कै कर्तृभूतै । अरहंतेहिं अर्हद्भि निर्दोषिपरमात्मभि । केषाम् । जदीण जितेन्द्रियत्वेन शुद्धात्मस्वरूपे यत्नपराणा गणधरदेवादियतीनाम् । ववहारो द्रव्यकर्मरूपव्यवहारबन्ध अण्णहा भणिदो निश्चयनयापेक्षयान्यथा व्यवहारनयेनेति भणित. । किंच रागादीनेवात्मा करोति तानेव भुङ्क्ते चेति निश्चयनयलक्षणमिदम् । अयं तु निश्चयनयो द्रव्यकर्मबन्धप्रतिपादकासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको विवक्षितनिश्चयनयस्तथैवाशुद्धनिश्चयश्च भण्यते । द्रव्यकर्माण्यात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्यशुद्धद्रव्यनिरूपणा-

---

केवल द्रव्यके परिणामको दिखलाता है, और व्यवहारनय अन्य द्रव्यके परिणामको दिखलाता है ॥ ९६ ॥ आगे निश्चय और व्यवहार इन दोनो नयोका आपसमे अविरोध दिखलाते हैं— [अर्हद्भि.] अर्हंतदेवने [जीवानां] ससारी जीवोका [एष.] पूर्वोक्त प्रकार यह रागपरिणाम ही [निश्चयेन] निश्चयसे बध है, ऐसा [बन्धसमास.] बधका सक्षेप कथन (साराश) [यतीनां] मुनीश्वरोको [निर्दिष्टः] दिखलाया है । [अन्यथा] इस निश्चयबधसे जुदा जो जीवोके एक क्षेत्रावगाहरूप द्रव्यकर्मबध है, वह [व्यवहार.] उपचारसे बध [भणित.] भगवतने कहा है। **भावार्थ**—जो पुण्य पाप स्वरूप आत्माका राग परिणाम है, वह उसका कर्म है, उसीका आत्मा कर्ता है, उस राग परिणामको अपने ही परिणमनसे ग्रहण करता है, और अपने ही से छोडता है। इस कारण यह शुद्ध द्रव्यका कहनेवाला निश्चयनय जानना । तथा जो द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म है, उसका वह कर्ता है, और ग्रहण करनेवाला तथा छोडनेवाला है, सो यह अशुद्ध द्रव्यका कहनेवाला व्यवहारनय है । इस प्रकार निश्चय व्यवहार नयसे शुद्धाशुद्धरूप बधका स्वरूप दो प्रकार दिखलाया है । परतु इतना विशेष है, कि निश्चय ग्रहण करने योग्य है, क्योकि वह केवल द्रव्यके परिणामको दिखलाता है, और साध्यरूप शुद्ध द्रव्यके शुद्ध स्वरूपको दिखलाता है। तथा व्यवहारनय परद्रव्यके परिणामको आत्मपरिणाम दिखलानेसे द्रव्यको अशुद्ध दिखलाता है, इस कारण ग्रहण योग्य नही है। यहांपर कोई प्रश्न करे, 'कि तुमने रागपरिणामको निश्चयबध कहा, और इसीको शुद्ध द्रव्यका कथन तथा ग्रहण योग्य कहा है, सो क्या कारण है ?' यह कथन

परिणाम आत्मनः कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः। उभावप्येतौ स्तः, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्। किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धद्योतको व्यवहारनयः ॥ ९७ ॥

अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एवेत्यावेदयति—

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥ ९८ ॥

न त्यजति यस्तु ममतामहं ममेदमिति देहद्रविणेषु।
स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम् ॥ ९८ ॥

यो हि नाम शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयनिरपेक्षोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक-

---

त्मकासद्भूतव्यवहारनयो भण्यते। इद नयद्वय तावदस्ति। किंत्वत्र निश्चयनय उपादेय. न चासद्भूतव्यवहार.। ननु रागादीनात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्येवलक्षणो निश्चयनयो व्याख्यात स कथमुपादेयो भवति। परिहारमाह—रागादीनेवात्मा करोति न च द्रव्यकर्मरागादय एव वन्धकारणमिति यदा जानाति जीवस्तदा रागद्वेषादिविकल्पजालत्यागेन रागादिविनाशार्थ निजशुद्धात्मान भावयति। ततश्च रागादिविनाशो भवति। रागादिविनाशे चात्मा शुद्धो भवति। तत परपरया शुद्धात्मसाधकत्वादयमशुद्धनयोऽप्युपचारेण शुद्धनयो भण्यते निश्चयनयो न भण्यते तथैवोपादेयो भण्यते इत्यभिप्राय ॥ ९७ ॥ एवमात्मा स्वपरिणामानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यतया गाथासप्तकेन षष्ठस्थल गतम्। इति 'अरसमरूव' इत्यादिगाथात्रयेण पूर्वं शुद्धात्मव्याख्याने कृते सति शिष्येण यदुक्तममूर्तस्यात्मनो मूर्तकर्मणा सह कथं वन्धो भवतीति तत्परिहारार्थं नयविभागेन वन्धसमर्थनमुख्यतयैकोनविंशतिगाथाभि स्थलषट्केन तृतीयविशेषान्तराधिकारः समाप्त। अतः पर द्वादशगाथापर्यन्त चतुर्भि स्थलं शुद्धात्मानुभूतिलक्षणविशेषभेदभावनारूपचूलिकाव्याख्यान करोति। तत्र शुद्धात्मनो भावनाप्रधानत्वेन 'ण चयदि जो दु ममत्ति' इत्यादिपाठक्रमेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनन्तर शुद्धात्मोपलम्भभावनाफलेन दर्शनमोहग्रन्थिविनाशस्तथैव चारित्रमोह-

---

ठीक नही है, क्योकि यह रागपरिणाम तो द्रव्यकी अशुद्धता करता है, वह ग्रहण योग्य कैसे होसकता है? तो इसका समाधान इस तरहसे है, कि रागपरिणाम तो आत्माकी अशुद्धताको ही करता है, इसमे कुछ भी सदेह नही, परतु इस जगह दूसरी विवक्षासे कथन किया गया है। वही दिखलाते हैं—यहापर शुद्ध द्रव्यका कथन एक द्रव्याश्रित परिणामकी अपेक्षासे जानना चाहिये, और अशुद्ध कथन अन्य द्रव्यका परिणाम अन्य द्रव्यमे लगाना जानना। तथा जो इस जगह बंधरूप निश्चयनय ग्रहण योग्य कहा है, सो इसलिये कि यह जीव अपने ही परिणामोसे अपनेको बंधा हुआ समझेगा, तो आप ही अपनेको छुडावेगा। इस कारण ऐसी समझ होनेके लिये ग्रहण योग्य कहा है, और जो अपनेको दूसरेसे बधा हुआ मानेगा, तो कभी छूटनेका उपाय नही करेगा।

एवं ज्ञानात्मानं दर्शनभूतमतीन्द्रियमहार्थम् ।
ध्रुवमचलमनालम्बं मन्येऽहमात्मकं शुद्धम् ॥ १०० ॥

आत्मनो हि शुद्ध आत्मैव सदहेतुकत्वेनानाद्यनन्तत्वात् स्वतः सिद्धत्वाच्च ध्रुवो न किंचनाप्यन्यत् शुद्धत्वं चात्मनः परद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चैकत्वात्। तच्च ज्ञानात्मकत्वाद्दर्शनभूतत्वादतीन्द्रियमहार्थत्वादचलत्वादनालम्बत्वाच्च । तत्र ज्ञानमेवात्मनि बिभ्रतः स्वयं दर्शनभूतस्य चातिशयपरद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा प्रतिनियतस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो [महतो] ऽर्थस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन

कर्ता । क कर्मतापन्नम् । अप्पग सहजपरमाह्लादैकलक्षणनिजात्मानम् । किंविशिष्टम् । सुद्ध रागादिसमस्तविभावरहितम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । धुव टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवमविनश्वरम् । पुनरपि कथंभूतम् । एवं णाणप्पाणं दंसणभूद एव बहुविधपूर्वोक्तप्रकारेणाखण्डैकज्ञानदर्शनात्मकम् । पुनश्च किंरूपम् । अइंदिय अतीन्द्रिय मूर्तविनश्वरानेकेन्द्रियरहितत्वेनामूर्ताविनश्वरैकातीन्द्रिय

ज्ञानस्वरूप है, [दर्शनभूत] दर्शनमयी है, [अतीन्द्रियमहार्थं] अपने अतीन्द्रिय स्वभावसे सबका ज्ञाता महान् पदार्थ है, [अचल] अपने स्वरूपमे निश्चल है, [अनालम्ब] परद्रव्यके आलबन (सहायता) से रहित स्वाधीन है । इस प्रकार शुद्ध टंकोत्कीर्ण आत्माको अविनाशी वस्तु मानता हूँ । **भावार्थ-** आत्मा किसी कारणसे उत्पन्न नही हुआ है, इसलिये अनादि, अनत, शुद्ध, स्वत सिद्ध, अविनाशी है, और दूसरी कोई भी वस्तु ध्रुव नही है । यह आत्मा अपने स्वभावकर एकस्वरूप है, इस कारण शुद्ध है । यह अपने ज्ञानदर्शन-गुणमयी है, इसके परद्रव्यसे जुदापना है, अपने धर्मसे जुदा नही है, इस कारण एक है । निश्चयसे एक स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्दरूप विषयोको ग्रहण करनेवाली जो पाँच इन्द्रियाँ हैं, उनको त्यागकर अपने अखड ज्ञानसे एक ही समय इन पाँच विषयोका ज्ञाता यह आत्मा महा पदार्थ है, इसलिये इस आत्माका पांच विषयरूप परद्रव्यसे जुदापना है, परतु इनके जाननेरूप स्वभावसे जुदापना नही है, इसलिये भी यह एकरूप है । इसी प्रकार यह आत्मा समय समय विनाशीक ज्ञेयपदार्थोंके ग्रहण करनेवाला और त्यागनेवाला नही है, अचल है, इस कारण इसके ज्ञेयपर्यायरूप परद्रव्यसे जुदापना है, 'उसके जाननेरूप भावसे जुदापना नही है, इसलिये भी एक है, और अन्य भाव सहित ज्ञेयपदार्थोंके अवलबनका अभाव है, यह आत्मा तो स्वाधीन है, इस कारण इसके ज्ञेयपदार्थोंसे भिन्नपना है, परतु इनके जाननेरूप भावसे जुदापना नही है, इससे भी एकरूप है । इस प्रकार अनेक परद्रव्योके भेदसे अपनी एकताको

चास्त्येकत्वम् । एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः, किमन्यैरध्वनीनाङ्गसंगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः ॥ १०० ॥

अथाध्रुवत्वादात्मनोऽन्यन्नोपलभनीयमित्युपदिशति—

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥ १०१ ॥

देहा वा द्रविणानि वा सुखदुःखे वाथ शत्रुमित्रजना ।
जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा ॥ १०१ ॥

आत्मनो हि परद्रव्याविभागेन परद्रव्योपरज्यमानस्वधर्मविभागेन चाशुद्धत्वनि-

---

न्द्रियस्वभावम् । पुनश्च कीदृगम् । **महत्थ** मोक्षलक्षणमहापुरुषार्थसाधकत्वान्महार्थम् । पुनरपि किस्वभावम् । **अचल** अतिचपलचञ्चलमनोवाक्कायव्यापाररहितत्वेन स्वस्वरूपे निश्चल स्थिरम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । **अणालबं** स्वाधीनद्रव्यत्वेन सालम्बन भरितावस्थमपि समस्तपराधीनपरद्रव्यालम्बनरहितत्वेन निरालम्बनमित्यर्थ ॥ १०० ॥ अथात्मन पृथग्भूत देहादिकमध्रुवत्वान्न भावनीयमित्याख्याति—**ण संति धुवा** ध्रुवा अविनश्वरा नित्या न सन्ति । कस्य । **जीवस्स** जीवस्य । के ते । **देहा वा दविणा वा** देहा वा द्रव्याणि वा सर्वप्रकारशुचीभूताद्देहरहितात्परमात्मनो विलक्षणा औदारिकादिपञ्चदेहास्तथैव च पञ्चेन्द्रियभोगोपभोगसाधकानि परद्रव्याणि च । न केवल देहादयो ध्रुवा न भवन्ति **सुहदुक्खा वा** निर्विकारपरमानन्दैकलक्षणस्वात्मोत्थसुखामृतविलक्षणानि सासारिकसुखदुःखानि वा । **अध** अहो भव्या **सत्तुमित्तजणा** शत्रुमित्रादिभावरहितादात्मनो भिन्ना शत्रुमित्रादिजनाश्च । यद्येतत् सर्वमध्रुवं तर्हि किं ध्रुवमिति चेत् । **धुवो** ध्रुवः शाश्वत । स क. । **अप्पा** निजात्मा । किंविशिष्ट. । **उवओगप्पगो** त्रैलोक्योदरविवरवर्तित्रिकाल-

---

नही छोडता है, इस कारण शुद्धनयसे शुद्ध चिन्मात्र वस्तु है, यही एक टकोत्कीर्ण ध्रुव है, और अंगीकार करने योग्य है। जैसे मार्गमे गमन करते हुए पथिक-जनोको अपने वृक्षोकी छाया विनाशीक और अध्रुव होती है, उसी प्रकार इस आत्माके परद्रव्यके सबधसे अनेक अध्रुवभाव उत्पन्न होते हैं, उनसे कुछ साध्य [इष्ट] की सिद्धि नही होती। इसलिये एक नित्यस्वरूप यही अवलंबन योग्य है, बाकी सब त्याज्य हैं ॥ १०० ॥ आगे कहते हैं, कि आत्मा ध्रुव है, इस कारण इसके सिवाय अन्य वस्तुको अंगीकार करना योग्य नही है—**[देहाः]** औदारिकादि पाँच शरीर **[वा]** अथवा **[द्रविणानि]** धन धान्यादिक **[वा]** अथवा **[सुखदुःखे]** इष्ट अनिष्ट पचेन्द्रिय विषयजन्य सुख दुःख **[वा अथ]** अथवा और **[शत्रुमित्रजनाः]** शत्रु मित्र आदिक लोक ये सभी सयोगजन्य पदार्थ **[जीवस्य]** आत्माके **[ध्रुवा]** अविनाशी **[न सन्ति]** नही है, केवल **[उपयोगात्मकः]** ज्ञान दर्शनस्वरूप **[आत्मा]** शुद्धजीव **[ध्रुव]** अविनाशी वस्तु है। **भावार्थ**—जो शरीरादिक भाव है, वे परद्रव्यसे तन्मयी हैं, आत्मासे भिन्न है, और अशुद्धताके कारण है। वे आत्माके कुछ नही लगते, विनाशीक हैं, और जो यह आत्मा है, वह अनादि अनत है, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट है, सदा

बन्धनं न किंचनाप्यन्यदसद्धेतुमत्त्वेनाद्यन्तत्वात्परतः सिद्धत्वाच्च ध्रुवमस्ति। ध्रुव उपयोगात्मा शुद्ध आत्मैव। अतोऽध्रुवं शरीरादिकमुपलभ्यमानमपि नोपलभे शुद्धात्मानमुपलभे ध्रुवम् ॥ १०१ ॥

अथैवं शुद्धात्मोपलम्भात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥ १०२ ॥

य एवं ज्ञात्वा ध्यायति परमात्मानं विशुद्धात्मा।
सागारोऽनगारः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम् ॥ १०२ ॥

अमुना यथोदितेन विधिना शुद्धात्मानं ध्रुवमधिगच्छतस्तस्मिन्नेव प्रवृत्तेः शुद्धात्मत्वं स्यात्। ततोऽनन्तशक्तिचिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानं

विषयसमस्तद्रव्यगुणपर्याययुगपत्परिच्छित्तिसमर्थकेवलज्ञानदर्शनोपयोगात्मक इति। एवमध्रुवत्वं ज्ञात्वा ध्रुवस्वभावे स्वात्मनि भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥ १०१ ॥ एवमशुद्धनयादशुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन प्रथमगाथा। शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन द्वितीया। ध्रुवत्वादात्मैव भावनीय इति प्रतिपादनेन तृतीया। आत्मनोऽन्यदध्रुवं न भावनीयमिति कथनेन चतुर्थी चेति शुद्धात्मव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्। अथैवं पूर्वोक्तप्रकारेण शुद्धात्मोपलम्भे सति किं फलं भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह—**झादि** ध्यायति **जो** यः कर्ता। कम्। **अप्पगं** निजात्मानम्। कथंभूतम्। **परं** परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वात्परमुत्कृष्टम्। किं कृत्वा पूर्वम्। **एवं जाणित्ता** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्वात्मोपलम्भलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा। कथंभूतः सन् ध्यायति। **विसुद्धप्पा** ख्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथजालरहितत्वेन विशुद्धात्मा सन्। पुनरपि कथंभूतः। **सागारोऽणागारो** सागारोऽनागारः। अथवा साकारानाकारः। सहाकारेण विकल्पेन वर्तते साकारो ज्ञानोपयोगः, अनाकारो निर्विकल्पो दर्शनोपयोगस्ताभ्यां युक्तः साकारानाकारः। अथवा साकारः सविकल्पो गृहस्थः अनाकारो निर्विकल्पस्तपोधनः अथवा सहाकारेण लिङ्गेन चिह्नेन वर्तते साकारो यतिः अनाकारश्चिह्नरहितो गृहस्थः। **खवेदि सो मोहदुग्गंठिं** य एवं गुणविशिष्टः क्षपयति स मोह-

---

सिद्धरूप है, ज्ञानदर्शनमयी है, और एक ध्रुव है। इस कारण मैं शरीरादि अध्रुव (विनाशीक) वस्तुको अंगीकार नहीं करता हूँ, शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता हूँ॥ १०१॥ आगे शुद्धात्माकी प्राप्तिसे क्या होता है, यह कहते हैं—**[यः]** जो **[सागारः]** अणुव्रती श्रावक तथा **[अनगारः]** मुनीश्वर **[एवं]** पूर्वोक्त रीतिसे **[ज्ञात्वा]** स्वरूपको ध्रुव जानकर **[परमात्मानं]** सबसे उत्कृष्ट शुद्धात्माको **[ध्यायति]** एकाग्रपनेसे चिंतवन करता है, **[सः]** वह **(विशुद्धात्मा)** निर्मल आत्मा होता हुआ **(मोहदुर्ग्रन्थिं)** मोहकी अनादि कालकी विपरीत बुद्धिरूपी गाँठको **(क्षपयति)** क्षीण (नष्ट) करता है। **भावार्थ**—जो पुरुष शुद्ध अविनाशी आत्माके स्वभावको प्राप्त होता है, अर्थात् उस स्वभावमें रमण करता है, उसके शुद्धात्मभाव प्रगट होता है, उसके बाद अनंत चैतन्य-शक्ति सहित परमात्माका जाननेरूप एकाग्र ध्यान होता है, इसलिये गृहस्थ अथवा मुनि यदि

स्यात्, ततः साकारोपयुक्तस्य चाविशेषेणैकाग्रचेतनप्रसिद्धेरासंसारबद्धदृढतरमोहदुर्ग्रन्थेरुद्ग्रन्थनं स्यात् । अतः शुद्धात्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिभेदः फलम् ॥ १०२ ॥

अथ मोहग्रन्थिभेदात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥ १०३ ॥

यो निहतमोहग्रन्थी रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा श्रामण्ये ।
भवन् समसुखदु ख स सौख्यमक्षयं लभते ॥ १०३ ॥

मोहग्रन्थिक्षपणाद्धि तन्मूलरागद्वेषक्षपणं ततः समसुखदुःखस्य परममाध्यस्थलक्षणे श्रामण्ये भवनं ततोऽनाकुलत्वलक्षणाक्षयसौख्यलाभः । अतो मोहग्रन्थिभेदादक्षयसौख्यं फलम् ॥ १०३ ॥

अथैकाग्र्यसचेतनलक्षणं ध्यानमशुद्धत्वमात्मनो नावहतीति निश्चिनोति—

दुर्ग्रन्थिम् । मोह एव दुर्ग्रन्थि शुद्धात्मरुचिप्रतिबन्धको दर्शनमोहस्तम् । तत स्थितमेतत्-आत्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिविनाश एव फलम् ॥ १०२ ॥ अथ दर्शनमोहग्रन्थिभेदात्किं भवतीति प्रश्ने समाधान ददाति—**जो णिहदमोहगंठी** य पूर्वसूत्रोक्तप्रकारेण निहतदर्शनमोहग्रन्थिर्भूत्वा **रागपदोसे खवीय** निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चरित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ क्षपयित्वा । क्व । **सामण्णे** स्वस्वभावलक्षणे श्रामण्ये । पुनरपि किं कृत्वा । **होज्जं** भूत्वा । किंविशिष्ट । **समसुहदुक्खो** निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमसुखानुभवेन सांसारिकसुखदु खोत्पन्नहर्षविषादरहितत्वात्समसुखदु ख । **सो सोक्खं अक्खयं लहदि** स एव गुणविशिष्टो भेदज्ञानी सौख्यमक्षय लभते । ततो ज्ञायते दर्शनमोहक्षयाच्चारित्रमोहसंज्ञरागद्वेषविनाशतश्च सुखदु खमाध्यस्थ्यलक्षणश्रामण्येऽवस्थान तेनाक्षयसुखलाभो भवतीति ॥ १०३ ॥ अथ निजशुद्धात्मैकाग्र्यलक्षणध्यानमात्मनोऽत्यन्तविशुद्धि करोतीत्यावेदयति-**जो खविदमोहकलुसो** य. क्षपितमोहकलुष

निश्चल होके स्वरूपको ध्यावे, तो अनादि बंधवाली मोहकी गाँठको खोल सकता है । इस कारण शुद्धात्माकी प्राप्तिका फल मोहकी गाँठका खुलना है ॥ १०२ ॥ आगे मोह-गाँठके खुलनेसे क्या होना है, यह कहते हैं—[**य**] जो पुरुष [**निहतमोहग्रन्थि**] मोहकी गाँठको दूर करता हुआ [**श्रामण्ये**] यति अवस्थासे [**रागद्वेषौ**] इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमे प्रीति अप्रीतिभावको [**क्षपयित्वा**] छोडकर [**समसुखदु ख**] सुख दु खमे समान दृष्टिवाला [**भवेत्**] होता है, [**स**] वह समबुद्धि पुरुष [**अक्षय सौख्यं**] अविनाशी अतीन्द्रिय आत्मीक मोक्ष—सुखको [**लभते**] पाता है । **भावार्थ**—इस मोहकी गाँठके खुलनेसे आत्माके राग द्वेषका नाश होता है, और जहाँ राग द्वेषका अभाव है, वही सुख दु खमे समान भाव होते हैं, तथा वहाँ ही आकुलता रहित स्वाधीन आत्मीक सुख अवश्य होता है । इस कारण मोहकी गाँठके खुलनेसे अविनाशीक सुख होनेरूप ही फल होता है ॥ १०३ ॥ आगे एकाग्रतासे निश्चल स्वरूपका अनुभव करनेवाला ध्यान आत्माकी अशुद्धताको दूर करता है, यह कहते हैं—[**य.**] जो पुरुष [**क्षपितमोहकलुष**] मोहरूप मैलको क्षय करता हुआ

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥ १०४ ॥

य क्षपितमोहकलुषो विषयविरक्तो मनो निरुध्य ।
समवस्थित स्वभावे स आत्मान भवति ध्याता ॥ १०४ ॥

आत्मनो हि परिक्षपितमोहकलुषस्य तन्मूलपरद्रव्यप्रवृत्त्यभावाद्विषयविरक्तत्व स्यात्, ततोऽधिकरणभूतद्रव्यान्तराभावादुदधिमध्यप्रवृत्तैकपोतपतत्रिण इव अनन्य-

---

मोहो दर्शनमोह कलुषञ्चारित्रमोह पूर्वसूत्रद्वयकथितक्रमेण क्षपितौ मोहकलुषौ येन स भवति क्षपितमोहकलुष । पुनरपि किंविशिष्ट । **विसयविरत्तो** मोहकलुषरहितस्वात्मसवित्तिसमुत्पन्न-सुधारसास्वादबलेन कलुषमोहोदयजनितविषयसुखाकाङ्क्षारहितत्वाद्विषयविरक्त । पुनरपि कथ-भूत । **समवट्ठिदो** सम्यगवस्थित । क्व । **सहावे** निजपरमात्मद्रव्ये स्वभावे । किं कृत्वा पूर्वम् । **मणो णिरुंभित्ता** विषयकषायोत्पन्नविकल्पजालरूप मनो निरुध्य निश्चल कृत्वा **सो अप्पाणं हवदि झादा** स एवगुणयुक्त पुरुष स्वात्मान भवति ध्याता । तेनैव शुद्धात्मध्यानेनात्यन्तिकी मुक्तिलक्षणा शुद्धि लभत इति । तत स्थितं शुद्धात्मध्यानाज्जीवो विशुद्धो भवतीति । किं च ध्यानेन किलात्मा शुद्धो जात तत्र विषये चतुर्विधव्याख्यान क्रियते । तथाहि—ध्यान ध्यानसतानस्तथैकध्यानचिन्ता ध्यानान्वयसूचनमिति । तत्रैकाग्र्यचिन्तानिरोधो **ध्यानम्** । तच्च शुद्धाशुद्धरूपेण द्विधा । अथ ध्यानसतान कथ्यते—यत्रान्तर्मुहूर्तपर्यन्त ध्यान तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तपर्यन्त तत्त्वचिन्ता पुनरप्यन्त-र्मुहूर्तपर्यन्त ध्यान पुनरपि तत चिन्तेति प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवदन्तर्मुहूर्तेऽन्तर्मुहूर्ते गते सति परावर्तनमस्ति स **ध्यानसतानो** भण्यते । स च धर्मध्यानसबन्धी । शुक्लध्यान पुनरुपशमश्रेणिक्षपक-श्रेण्यारोहणे भवति । तत्र चाल्पकालत्वात्परावर्तनरूपध्यानसतानो न घटते । इदानी ध्यानचिन्ता कथ्यते—यत्र ध्यानसन्तानवद्ध्यानपरावर्तो नास्ति ध्यानसबन्धिनी चिन्तास्ति तत्र यद्यपि क्वापि काले ध्यान करोति तथापि सा **ध्यानचिन्ता** भण्यते । अथ ध्यानान्वयसूचन कथ्यते—यत्र ध्यान-

---

तथा [**विषयविरक्त**] परद्रव्यरूप इष्ट अनिष्ट इन्द्रियोंके विषयोसे विरक्त हुआ [**मन निरुध्य**] चचल चित्तको वाह्य विषयोसे रोककर [**स्वभावे समवस्थित**] अपने अनत सहज चैतन्यस्वरूपमे [**सम-वस्थित**] एकाग्र निश्चलभावमे ठहरता है, [**स**] वह पुरुष [**आत्मानं**] टकोत्कीर्ण निज शुद्ध जीवद्रव्यका [**ध्याता**] ध्यान करनेवाला [**भवति**] होता है । **भावार्थ**—जब यह आत्मा निर्मोही होता है, तब मोहके आधीन जो परद्रव्यमे प्रवृत्ति है, उसका अभाव होता है, और परप्रवृत्तिके अभावसे इन्द्रियोंके विषयोमे वैराग्यभाव होता है, ऐसा होनेसे सहज ही मनका निरोध होता है। यह मन अत्यन्त चचल है । जब इद्रिय--विषयोसे वैराग्यभाव होता है, तब विषयरूप आधारके अभावसे अपने आप चचलपनेसे रहित होजाता है । जैसे समुद्रके मध्यमें जहाजका पक्षी उड उड़कर चारों दिशाओमे वृक्षादि आधारके अभाव होनेसे अन्य आश्रयके विना जहाजके ही ऊपर आप ही से निश्चल होकर तिष्ठता-ठहरता है, उसी प्रकार यह मन भी वैराग्यभावसे परद्रव्यरूप इन्द्रिय

शरणस्य मनसो निरोधः स्यात् । ततस्तन्मूलचञ्चलत्वविलयादनन्तसहजचैतन्यात्मनि स्वभावे समवस्थानं स्यात् । तत्तु स्वरूपप्रवृत्तानाकुलैकाग्रसचेतनत्वात् ध्यानमित्युपगीयते । अतः स्वभावावस्थानरूपत्वेन ध्यानमात्मनोऽनन्यत्वात् ध्यानमात्मैवेति [नाशुद्धत्वायेति] ॥ १०४ ॥

अथोपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमासूत्रयति—

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू ।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ॥ १०५ ॥

निहतघनघातिकर्मा प्रत्यक्षं सर्वभावतत्त्वज्ञः ।
ज्ञेयान्तगतः श्रमणो ध्यायति कमर्थमसंदेहः ॥ १०५ ॥

लोको हि मोहसद्भावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकसद्भावे च सतृष्णत्वादप्रत्यक्षार्थत्वानवच्छिन्नविषयत्वाभ्यां चाभिलषितं जिज्ञासितं संदिग्धं चार्थं ध्यायन् दृष्टः, भगवान्

सामग्रीभूता द्वादशानुप्रेक्षा अन्यद्वा ध्यानसंबन्धि संवेगवैराग्यवचनं वा व्याख्यानं तत् ध्यानान्वयसूचनमिति । अन्यथा वा चतुर्विधं ध्यानव्याख्यानं ध्याता ध्यानं फलं ध्येयमिति । अथवार्तरौद्रधर्म्यशुक्लविभेदेन चतुर्विधं ध्यानव्याख्यानं तदन्यत्र कथितमस्ति ॥ १०४ ॥ एवमात्मपरिज्ञानाद्दर्शनमोहक्षपणं भवतीति कथनरूपेण प्रथमगाथा, दर्शनमोहक्षयाच्चारित्रमोहक्षपणं भवतीति कथनेन द्वितीया, तदुभयक्षयेण मोक्षो भवतीति प्रतिपादनेन तृतीया चेत्यात्मोपलम्भफलकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम् । अथोपलब्धशुद्धात्मतत्त्वसकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमाक्षेपद्वारेण पूर्वपक्षं वा करोति—**णिहदघणघादिकम्मो** पूर्वसूत्रोदितनिश्चलनिजपरमात्मतत्त्वपरिणतिरूपशुद्धध्यानेन निहतघनघातिकर्मा । **पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू** प्रत्यक्षं यथा भवति तथा सर्वभावतत्त्वज्ञः सर्वपदार्थपरिज्ञातस्वरूपः. **णेयंतगदो** ज्ञेयान्तगतः ज्ञेयभूतपदार्थानां परिच्छित्तिरूपेण पारगतः । एवं विशेषणत्रयविशिष्टः **समणो** जीवितमरणादिसमभावपरिणतात्मस्वरूपः श्रमणो महाश्रमणः सर्वज्ञः **झादि कमट्ठं** ध्यायति कमर्थमिति प्रश्नः । अथवा कमर्थं ध्यायति न कमपीत्याक्षेपः । कथंभूतः सन् । **असंदेहो** असन्देहः संशयादिरहित इति । अयमत्रार्थः—यथा कोऽपि देवदत्तो विषयसुखनिमित्तं

विषय आधारके विना निराश्रय हुआ सहज ही निश्चल होता है, तब चचलताके अभावसे स्वरूपमे एकाग्र होता है, उस एकाग्रतासे अनन्त चैतन्यस्वरूपका स्वसवेदन (अनुभव) रूप ध्यान होता है, उस ध्यानसे आत्मा शुद्ध होता है। इस कारण ध्यान परम शुद्धताका कारण है ॥ १०४ ॥ आगे कहते है, कि जिन केवलीभगवानने शुद्ध स्वरूपको पाया है, उनके भी ध्यान कहा गया है, वे केवली क्या ध्यान करते है, ऐसा प्रश्न करते है—**[निहतघनघातिकर्मा]** जिन्होने अत्यंत दृढबद्ध घातियाकर्मोका नाश किया है, **[प्रत्यक्ष]** परोक्षतासे रहित साक्षात् **[सर्वभावतत्त्वज्ञः]** समस्तपदार्थोंके जाननेवाले **[ज्ञेयान्तगत]** जानने योग्य पदार्थोंके पारको प्राप्त **[असदेह]** सशय, विमोह, विभ्रमसे रहित ऐसे **[श्रमण]** महामुनि केवली **[कमर्थं]** किस पदार्थका **[ध्यायति]** ध्यान करते है। **भावार्थ**—इस संसारमे मोहकर्मके उदयसे ज्ञानके घातक कर्मके उदयसे ये ससारी जीव तृष्णावन्त

सर्वज्ञस्तु निहतघनघातिकर्मतया मोहाभावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकाभावे च निरस्ततृष्णत्वात्प्रत्यक्षसर्वभावतत्त्वज्ञेयान्तगतत्वाभ्यां च नाभिलषति न जिज्ञासति न संदिह्यति च कुतोऽभिलषितो जिज्ञासितः संदिग्धश्चार्थः । एवं सति किं ध्यायति ॥ १०५ ॥

अथैतदुपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी ध्यायतीत्युत्तरमासूत्रयति—

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो ।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥ १०६ ॥

सर्वाबाधवियुक्तः समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः ।
भूतोऽक्षातीतो ध्यायत्यनक्षः परं सौख्यम् ॥ १०६ ॥

अयमात्मा यदैव सहजसौख्यज्ञानबाधायतनानामसार्वदिक्कासकलपुरुषसौख्यज्ञानायतनानां चाक्षाणामभावात्स्वयमनक्षत्वेन वर्तते तदैव परेषामक्षातीतो भवन् निराबाधसहजसौख्यज्ञानत्वात् सर्वाबाधवियुक्तः, सार्वदिक्कसकलपुरुषसौख्यज्ञानपूर्ण-

विद्याराधनाध्यानं करोति यदा विद्या सिद्धा भवति तत्फलभूतं विषयसुखं च सिद्धं भवति तदाराधनाध्यानं न करोति, तथायं भगवानपि केवलज्ञानविद्यानिमित्तं च तत्फलभूतानन्तसुखनिमित्तं च पूर्वं छद्मस्थावस्थायां शुद्धात्मभावनारूपं ध्यानं कृतवान् इदानीं तद्ध्यानेन केवलज्ञानविद्या सिद्धा तत्फलभूतमनन्तसुखं च सिद्धम् । किमर्थं ध्यानं करोतीति प्रश्नः आक्षेपो वा, द्वितीयं च कारणं परोक्षेऽर्थे ध्यानं भवति भगवतः सर्वं प्रत्यक्षं कथं ध्यानमिति पूर्वपक्षद्वारेण गाथा गता ॥ १०५ ॥ अथात्र पूर्वपक्षे परिहारं ददाति झादि ध्यायति एकाकारसमरसीभावेन परिणमत्यनुभवति । स कः कर्ता । भगवान् । किं ध्यायति । सोक्खं सौख्यम् । किंविशिष्टम् । परं उत्कृष्टं सर्वात्मप्रदेशाह्लादकपरमानन्तसुखम् । कस्मिन्प्रस्तावे । यस्मिन्नेव क्षणे भूदो भूतः संजातः । किंविशिष्टः । अक्खातीदो अक्षातीतः इन्द्रियरहितः न केवलं स्वयमतीन्द्रियो जातः परेषां च अणक्खो अनक्षः इन्द्रियविषयो न भवतीत्यर्थः । पुनरपि किंविशिष्टः । सव्वाबाधविजुत्तो प्राकृतलक्षणबलेन बाधाशब्दस्य ह्रस्वत्वं सर्वाबाधावियुक्तः । आसमन्ताद्बाधा पीडा आबाधा सर्वाश्च ता आबाधाश्च सर्वाबाधास्ताभिर्वियुक्तो रहितः सर्वाबाधावियुक्तः । पुनश्च किंरूपः । समंतसव्व-

हैं, इसलिये इन जीवोंका सकल पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं होते, और सबके अंतःप्रविष्ट ज्ञान नहीं है, इस कारण वांछित अर्थका ध्यान करते हैं, इनके तो ध्यानका होना संभव है, परंतु केवलीभगवान् तो घातियाकर्म रहित हैं, समस्त पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवाले हैं, और सब पदार्थोंका प्रमाण (माप) करनेवाले हैं, इसलिये इन सर्वज्ञके कोई चीजकी इच्छा नहीं रही, और कुछ जानना भी बाकी न रहा, इस कारण केवलीभगवानके ध्यान कैसे होसकता है ? ऐसा शिष्यका प्रश्न है ॥ १०५ ॥ आगे इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं, कि यद्यपि स्वरूपको प्राप्त हुए हैं, तो भी केवली ध्यान करते हैं—[अक्षातीत] इन्द्रियोंसे रहित [भूत] हुए [अनक्ष] दूसरेको इन्द्रिय ज्ञानगम्य न होनेवाले, [सर्वाबाधवियुक्त] समस्त ज्ञानावरणादि घातियाकर्मोंसे रहित और [समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्य] सर्वांग परिपूर्ण आत्माके अनंतसुख और अनंतज्ञान इन दोनोंसे पूर्ण ऐसे केवली

त्वात्समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यश्च भवति। एवंभूतश्च सर्वाभिलाषजिज्ञासासंदेहासंभवेऽप्यपूर्वमनाकुलत्वलक्षणं परमसौख्यं ध्यायति। अनाकुलत्वसंगतैकाग्रसंचेतनमात्रेणावतिष्ठत इति यावत्। ईदृशमवस्थानं च सहजज्ञानानन्दस्वभावस्य सिद्धत्वस्य सिद्धिरेव ॥ १०६ ॥

अथायमेव शुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षस्य मार्ग इत्यवधारयति—

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥ १०७ ॥

सक्खसोक्खणाणड्ढो समन्तत सामस्त्येन स्पर्शनादिसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्य'। समन्तत सर्वात्मप्रदेशैर्वा स्पर्शनादिसर्वेन्द्रियाणा सबन्धित्वेन ये ज्ञानसौख्ये द्वे ताभ्यामाढ्य. परिपूर्ण इत्यर्थ'। तद्यथा—अयं भगवानेकदेशोद्भवसासारिकज्ञानसुखकारणभूतानि सर्वात्मप्रदेशोद्भवस्वाभाविकातीन्द्रियज्ञानसुखविनाशकानि च यानीन्द्रियाणि निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारबलेनातिक्रामति विनाशयति यदा तस्मिन्नेव क्षणे समस्तबाधारहित सन्नतीन्द्रियमनन्तमात्मोत्थसुखं ध्यायत्यनुभवति परिणमति। ततो ज्ञायते केवलिनामन्यच्चिन्तानिरोधलक्षणं ध्यान नास्ति किंत्विदमेव परमसुखानुभवनं वा ध्यानकार्यभूता कर्मनिर्जरा दृष्ट्वा ध्यानशब्देनोपचर्यते। यत्पुन सयोगिकेवलिनस्तृतीयशुक्लध्यानमयोगिकेवलिनश्चतुर्थशुक्लध्यान भवतीत्युक्त तदुपचारेण ज्ञातव्यमिति सूत्राभिप्राय. ॥१०६॥ एव केवली किं ध्यायतीति प्रश्नमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। परमसुखं ध्यायत्यनुभवतीति परिहारमुख्यत्वेन द्वितीया चेति ध्यानविषयपूर्वपक्षपरिहारद्वारेण तृतीयस्थले गाथाद्वय गतम्। अथायमेव निजशुद्धात्मोपलब्धिलक्षणमोक्षमार्गो नान्य इति विशेषेण समर्थयति—**जादा** उत्पन्ना.। कथभूता। **सिद्धा** सिद्धा सिद्धपरमेष्ठिनो मुक्तात्मान इत्यर्थ। के कर्तार। **जिणा** जिना अनगारकेवलिन।

भगवान् [**परं**] उत्कृष्ट [**सौख्यं**] आत्मीकसुखका [**ध्यायति**] चिंतवन अर्थात् एकाग्रतासे अनुभव करते हैं। **भावार्थ**—यह आत्मा जिस समय अनतज्ञान अनतसुखके आवरण करनेवाले एकदेशी ज्ञान सुखके हेतु इन्द्रियोके नाशसे अतीद्रिय दशाको प्राप्त होता है, तब बाधाओ (रुकावटो) से रहित हुआ अनतज्ञान अनतसुख सहित होता है, ऐसे केवली भगवानमे यद्यपि कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नही रही, और कुछ जाननेकी भी अभिलाषा नही रही, तथा कुछ सशय भी नही रहा, तो भी भगवान् एकाग्रतासे अपने अनत अनाकुल परमसुखको अनुभवते है। इस कारण उपचारसे 'ध्यान करता है' ऐसा कहते हैं। ध्यान करनेका फल यह है, कि पूर्वमे बँधे हुए कर्मोंकी निर्जरा होती है, और आगामी बधका परमसवर होता है, इस कारण केवलीभगवानके अपने अनतसुखका अनुभव करनेसे पूर्व कर्मोंकी निर्जरा होती है, आगेका सवर है, इसलिये उपचारमात्र केवलीके ध्यान है। इस प्रकार स्वाभाविक ज्ञानानन्दस्वरूप सिद्धत्वकी सिद्धि भगवानके ही है ॥ १०६ ॥ आगे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति ही मोक्षमार्ग है, निश्चय करते हैं—[**एव**] इस पूर्वोक्त प्रकारसे [**मार्गं**] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी शुद्धात्मप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्गके प्रति [**समुत्थिताः**] उद्यमी होके प्राप्त हुए जो [**जिनाः**] उसी भवसे मोक्ष जानेवाले सामान्य चरमशरीरी जीव [**जिनेन्द्राः**] अरहत पदके धारक

एवं जिना जिनेन्द्रा. सिद्धा मार्गं समुत्थिता श्रमणा' ।
जाता नमोऽस्तु तेभ्यस्तस्मै च निर्वाणमार्गाय ॥ १०७ ॥

यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थंकराः अचरमशरीरा मुमुक्षवश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूवुः, न पुनरन्यथापि । ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो न द्वितीय इति । अलं च प्रपञ्चेन । तेषां शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्ताना [सिद्धाना] तस्य शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपस्य मोक्षमार्गस्य च प्रत्यस्तमितभाव्यभावकविभागत्वेन नोआगमभावनमस्कारोऽस्तु । अवधारितो मोक्षमार्गः कृत्यमनुष्ठीयते ॥ १०७ ॥

अथोपसपद्ये साम्यमिति पूर्वप्रतिज्ञां निर्वहन् मोक्षमार्गभूतां स्वयमपि शुद्धात्मप्रवृत्तिमासूत्रयति—

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण ।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि॥ १०८ ॥

जिणिंदा न केवल जिना जिनेन्द्राश्च तीर्थंकरपरमदेवा । कथभूताः सन्तः एते सिद्धा जाता । मग्गं समुट्ठिदा निजपरमात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणमार्गं मोक्षमार्गं समुत्थिता आश्रिता । केन । एव पूर्वं बहुधा व्याख्यातक्रमेण । न केवलं जिना जिनेन्द्रा अनेन मार्गेण सिद्धा जाता समणा सुखदु खादिसमताभावनापरिणतात्मतत्त्वलक्षणा शेषा अचरमदेहश्रमणाश्च । अचरमदेहाना कथ सिद्धत्वमिति चेत् । "तवसिद्धे णयसिद्धे सजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य । णाणम्मि दसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमसामि ॥" इति गाथाकथितक्रमेणैकदेशेन **णमोत्थु तेसिं** नमोऽस्तु तेभ्य । अनन्तज्ञानादिसिद्धगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारोऽस्तु **तस्स य णिव्वाणमग्गस्स** तस्मै निर्विकारस्वसवित्तिलक्षणनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्वाणमार्गाय च । ततोऽवधार्यते अयमेव मोक्षमार्गो नान्य इति ॥ १०७ ॥

अथ 'उवसपयामि सम्म जत्तो णिव्वाणसपत्ती' इत्यादि पूर्वप्रतिज्ञा निर्वाहयन् स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकरोति प्रतिपादयति—**तम्हा** यस्मात्पूर्वोक्तशुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षमार्गेण जिना जिनेन्द्रा श्रमणाश्च सिद्धा जातास्तस्मादहमपि **तह** तथैव तनैव प्रकारेण **जाणित्ता** ज्ञात्वा । कम् ।

तीर्थंकर और (श्रमणा) एक दो पर्याय धारणकर मोक्ष जानेवाले ऐसे मोक्षाभिलाषी मुनि हैं, वे (सिद्धा) मोक्षमें सिद्ध अवस्थाको (जाता) प्राप्त हुए हैं, (तेभ्य) उन सबको (च) तथा (तस्मै निर्वाणमार्गाय) शुद्धात्माकी प्रवृत्तिमयी अनुभवरूप मोक्षमार्गको (नमः अस्तु) द्रव्य भावरूप नमस्कार होवे । **भावार्थ**—जो तीर्थंकर वा सामान्यकेवली अथवा अन्य मुनि मोक्षको गये हैं, वे केवल शुद्ध आत्माकी प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्गको पाकर ही मुक्त हुए हैं । शुद्धात्माके अनुभव विना दूसरा कोई मोक्षमार्ग नही है, यही अद्वितीय मार्ग है । अब बहुत विस्तार कहाँतक किया जावे, साराश इतना है, कि जो शुद्धात्मतत्त्वमे प्रवर्तमान हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठियोको और जो शुद्धात्मतत्त्वकी प्रवृत्तिमयी अनुभवरूप मोक्षमार्ग है, उसको द्रव्य भावरूप नमस्कार होवे ॥ १०७ ॥ आगे आचार्यने जो पूर्व प्रतिज्ञा की थी, कि मैं समताभावोको अवलबता हूँ, अब उसीका निर्वाह (पालन) करते

तस्मात्तथा ज्ञात्वात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन ।
परिवर्जयामि ममतामुपस्थितो निर्ममत्वे ॥ १०८ ॥

अहमेष मोक्षाधिकारी ज्ञायकस्वभावात्मतत्त्वपरिज्ञानपुरस्सरममत्वनिर्ममत्वहानोपादानविधानेन कृत्यान्तरस्याभावात्सर्वारम्भेण शुद्धात्मनि प्रवर्तते । तथाहि—अहं हि तावत् ज्ञायक एव स्वभावेन, केवलज्ञायकस्य च सतो मम विश्वेनापि सहजज्ञेयज्ञायकलक्षण एव संबन्धः न पुनरन्ये स्वस्वामिलक्षणादयः संबन्धाः । ततो मम न क्वचनापि ममत्वं सर्वत्र निर्ममत्वमेव । अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात्प्रोत्कीर्णलिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजात-

---

अप्पाणं निजपरमात्मानम् । किंविशिष्टम् । **जाणगं** ज्ञायकं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावम् । केन कृत्वा ज्ञात्वा । **सभावेण** समस्तरागादिविभावरहितशुद्धबुद्धैकस्वभावेन । पश्चात् किं करोमि । **परिवज्जामि** परि समन्ताद्वर्जयामि । काम् । **ममत्तिं** समस्तचेतनाचेतनमिश्रपरद्रव्यसंबन्धिनीं ममताम् । कथंभूतः सन् । **उवट्ठिदो** उपस्थितः परिणतः । क्व । **णिम्ममत्तम्मि** समस्तपरद्रव्यममकाराहंकाररहितत्वेन निर्ममत्वलक्षणे परमसाम्याभिधाने वीतरागचारित्रे तत्परिणतनिजशुद्धात्मस्वभावे वा । तथाहि—अहं तावत्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वेन ज्ञायकैकटङ्कोत्कीर्णस्वभावः । तथाभूतस्य सतो मम न केवलं स्वस्वाम्यादयः परद्रव्यसंबन्धा न सन्ति । निश्चयेन ज्ञेयज्ञायकसंबन्धो नास्ति । ततः कारणात्समस्तपरद्रव्यममत्वरहितो भूत्वा परमसाम्यलक्षणे निजशुद्धात्मनि तिष्ठामि ।

हुए मोक्षमार्गरूप शुद्ध आत्माकी प्रवृत्ति दिखलाते है (**तस्मात्**) इस कारणसे अर्थात् जो मुक्त हुए हैं, वे शुद्धात्माके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे हुए है, इस कारणसे (**तथा**) उसी प्रकार अर्थात् जैसे तीर्थंकरादिकोने स्वरूप जानके शुद्धात्माका अनुभव किया है, उसी तरह मै भी (**स्वभावेन**) अपने आत्मीक भावसे (**ज्ञायक**) सकल ज्ञेयपदार्थोंको जाननेवाले (**आत्मान**) आत्माको (**ज्ञात्वा**) समस्त परद्रव्यसे भिन्न जानकर (**ममता**) पर वस्तुमे ममत्वबुद्धिको (**परिवर्जयामि**) सब तरहसे छोडता हूँ, और (**निर्ममत्वे**) स्वरूपमे निश्चल होके वीतराग भावमे (**उपस्थित.**) स्थित होता हूँ। **भावार्थ**— जो पुरुष मोक्षका इच्छुक है, वह ज्ञानस्वरूप आत्माका जाननेवाला होता है, इसके बाद ममता भावका त्यागी होके वीतरागभावोका आचरण करता है, तथा अन्य सब कार्य मिथ्या भ्रमरूप समझकर सब प्रकारके उद्यमवाला होके शुद्धात्मामे प्रवतता है। उस प्रवृत्तिकी रीति इस तरह है—मै निजस्वभावसे ज्ञायक (जाननेवाला) हूँ, इस कारण समस्त परवस्तुओके साथ मेरा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बध है, लेकिन वे पदार्थ मेरे है, मै उनका स्वामी हूँ, ऐसा मेरा सम्बध नही है। इसलिये मेरे किसी परवस्तुमे ममत्वभाव नही है, सबमे ममताभाव रहित हूँ, और जो मैं एक स्वभाव हूँ, सो मेरा समस्त ज्ञेयपदार्थोंका जानना स्वभाव है, इस कारण वे ज्ञेय मुझमे ऐसे मालूम होते है, कि मानो प्रतिमाकी तरह गढ दिये है, वा लिखे हैं, या मेरेमे समा गये (मिल गये) हैं, या कीलित हैं, या डूब गये हैं, वा पलट रहे है, अथवा प्रतिबिंबित हैं, इस तरह मेरे ज्ञेयज्ञायक सबध हैं, अन्य

मेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं ज्ञेयज्ञायकलक्षणसंबन्धस्यानिवार्यत्वेनाशक्यविवेचनत्वादुपात्तवैश्वरूप्यमपि सहजानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेनैक्यरूप्यमनुज्झन्तमासंसारमनयैव स्थित्या स्थित मोहेनान्यथाध्यवस्यमानं शुद्धात्मानमेष मोहमुत्खाय यथास्थितमेवातिनिःप्रकम्पः संप्रतिपद्ये । स्वयमेव भवतु चास्यैव दर्शनविशुद्धिमूलया सम्यग्ज्ञानोपयुक्ततयात्यन्तमव्याबाधरतत्वात्साधोरपि साक्षात्सिद्धभूतस्य स्वात्मनस्तथाभूतानां परमात्मनां च नित्यमेव तदेकपरायणत्वलक्षणो भावनमस्कारः ॥ १०८ ॥

जैन ज्ञानं ज्ञेयतत्त्वप्रणेतृ
स्फीतं शब्दब्रह्म सम्यग्विगाह्य ।
संशुद्धात्मद्रव्यमात्रैकवृत्त्या
नित्यं युक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम् ॥

किंच 'उवसपयामि सम्म' इत्यादिस्वकीयप्रतिज्ञा निर्वाहयन्स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणति स्वीकरोत्येव यदुक्त गाथापातनिका प्रारम्भे तेन किमुक्त भवति—ये ता प्रतिज्ञा गृहीत्वा सिद्धि गतास्तैरेव सा प्रतिज्ञा वस्तुवृत्त्या समाप्ति नीता । कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पुनर्ज्ञानदर्शनाधिकारद्वयरूपग्रन्थसमाप्तिरूपेण समाप्ति नीता । शिवकुमारमहाराजेन तु तद्ग्रन्थश्रवणेन च । कस्मादिति चेत् । ये मोक्षं गतास्तेषा सा प्रतिज्ञा परिपूर्णा जाता । न चैतेषा कस्मात् । चरमदेहत्वाभावादिति ॥ १०८ ॥ एव ज्ञानदर्शनाधिकारसमाप्तिरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वय गतम् ।

एव निजशुद्धात्मभावनारूपमोक्षमार्गेण ये सिद्धि गता ये च तदाराधकास्तेषा दर्शनाधिकारापेक्षयावसानमङ्गलार्थं ग्रन्थापेक्षया मध्यमङ्गलार्थं च तत्पदाभिलाषी भूत्वा नमस्कार करोति—

दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं ।
अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं ॥ *५ ॥

णमो णमो नमो नम पुन पुनर्नमस्करोमीति भक्तिप्रकर्षं दर्शयति । केभ्य । सिद्धसाहूण

कोई भी सबध नही है । इसलिये अब मैं मोहको दूर कर अपने यथास्थित (जैसा था वैसा) स्वरूपको निश्चल होकर, आपसे ही अगीकार करता हूँ । मेरे स्वरूपमे त्रिकालसम्बन्धी अनेक प्रकार अति गभीर सब ही द्रव्य-पर्याय एक ही समयमे प्रत्यक्ष हैं, और मेरा यह स्वरूप ज्ञेयज्ञायक सम्बधसे यद्यपि समस्त लोकके स्वरूप हुआ है, तो भी स्वाभाविक अनत ज्ञायकशक्तिसे अपने एक स्वरूपको नही छोडता, और यह मेरा स्वरूप अनादि कालसे इसी प्रकारका था, परंतु मोहके वशीभूत होके अन्यका अन्य (दूसरा) जाना, इसी कारण मैं अज्ञानी हुआ । अब मैंने जैसेका तैसा (यथार्थ) जान लिया, इस कारण अप्रमादी होके स्वरूपको स्वीकार करता हूँ, और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानसे अखण्डित सुखमें तिष्ठे हुए साक्षात् सिद्धस्वरूप भगवान् अपनी जो आत्मा है, उसको हमारा भावनमस्कार होवे । तथा जो अन्य जीव उस परमात्मभावको प्राप्त हुए हैं, उनको भी हमारा बहुत भक्तिसे भावनमस्कार होवे ॥ १०८ ॥

ज्ञेयीकुर्वन्नञ्जसासीमविश्वं
ज्ञानीकुर्वन् ज्ञेयमाक्रान्तभेदम् ।
आत्मीकुर्वन् ज्ञानमात्मन्यभासि
स्फूर्जत्यात्मा ब्रह्म संपद्य सद्यः ॥
द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥

इति तत्त्वदीपिकायां प्रवचनसारवृत्तौ श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनो नाम द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥ २ ॥

सिद्धसाधुभ्य । पुनरपि कथभूतेभ्य. । सिद्धशब्दवाच्यस्वात्मोपलब्धिलक्षणार्हत्सिद्धेभ्य साधुशब्दवाच्यमोक्षसाधकाचार्योपाध्यायसाधुभ्यः । पुनरपि कथभूतेभ्य । **दसणससुद्धाणं** मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितसम्यग्दर्शनसंशुद्धेभ्य । पुनरपि कथभूतेभ्य । **सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताण** सशयादिरहित सम्यग्ज्ञान तस्योपयोग. सम्यग्ज्ञानोपयोग', योगो निर्विकल्पसमाधिर्वीतरागचारित्रमित्यर्थ. ताभ्या युक्ता सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तास्तेभ्य । पुनश्च किंरूपेभ्य । **अव्वाबाधरदाणं** सम्यग्ज्ञानादिभावनोत्पन्नाव्याबाधानन्तसुखरतेभ्यश्च ॥ ५ ॥ इति नमस्कारगाथासहितस्थलचतुष्टयेन चतुर्थविशेषान्तराधिकार. समाप्तः । एव 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकादशगाथापर्यन्त शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयमुख्यत्वेन प्रथमो विशेषान्तराधिकारस्तदनन्तर 'अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य' इत्यादिगाथानवकपर्यन्त पुद्गलाना परस्परबन्धमुख्यत्वेन द्वितीयो विशेषान्तराधिकारस्तत. पर 'अरसमरूव' इत्यादि एकोनविंशतिगाथापर्यन्त जीवस्य पुद्गलकर्मणा सह बन्धमुख्यत्वेन तृतीयो विशेषान्तराधिकारस्ततश्च 'ण चयदि जो दु ममत्ति' इत्यादि द्वादशगाथापर्यन्त विशेषभेदभावनाचूलिकाव्याख्यानरूपश्चतुर्थो चारित्रविशेषान्तराधिकार इत्येकाधिकपञ्चाशद्गाथाभिर्विशेषान्तराधिकारचतुष्टयेन विशेषभेदभावनाभिधानश्चतुर्थोऽन्तराधिकार समाप्त ।

इति श्री**जयसेनाचार्य**कृताया तात्पर्यवृत्तौ 'तम्हा दसणमाई' इत्यादि पञ्चत्रिंशद्गाथापर्यन्त सामान्यज्ञेयव्याख्यान तदनन्तर 'दव्व जीव' इत्याद्येकोनविंशतिगाथापर्यन्त जीवपुद्गलधर्मादिभेदेन विशेषज्ञेयव्याख्यान ततश्च 'सपदेसेहि समग्गो' इत्यादि गाथाष्टकपर्यन्त सामान्यभेदभावना ततः पर 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकाधिकपञ्चाशद्गाथापर्यन्त विशेषभेदभावना चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन त्रयोदशाधिकशतगाथाभि. **सम्यग्दर्शनाधिकारनामा ज्ञेयाधिकारापरसज्ञो** द्वितीयो महाधिकार समाप्त ॥ २ ॥

इति श्री**पांडे हेमराज**कृत श्रीप्रवचनसार सिद्धातकी बालावबोधभाषाटीकामे **ज्ञेयतत्त्व**का अधिकार पूर्ण हुआ ॥ २ ॥

•

३

चारित्राधिकारः

अथ परेषां चरणानुयोगसूचिका चूलिका । तत्र

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः
द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ॥

इति चरणाचरणे परान् प्रयोजयति—'एस सुरासुर' इत्यादि 'सेसे' इत्यादि 'ते ते' इत्यादि ।

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ १ ॥

कार्यं प्रत्यत्रैव ग्रन्थ समाप्त इति ज्ञातव्यम् । कस्मादिति चेत् । 'उवसपयामि सम्म' इति प्रतिज्ञासमाप्ते । अत पर यथाक्रमेण सप्ताधिकनवतिगाथापर्यन्त चूलिकारूपेण चारित्राधिकार-व्याख्यान प्रारभ्यते । तत्र तावदुत्सर्गरूपेण चारित्रस्य संक्षेपव्याख्यानम् । तदनन्तरमपवादरूपेण तस्यैव चारित्रस्य विस्तरव्याख्यानम् । ततश्च श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गव्याख्यानम् । तदनन्तर शुभोपयोगव्याख्यानमित्यन्तराधिकारचतुष्टय भवति । तत्रापि प्रथमान्तराधिकारे पञ्चस्थलानि 'एव पणमिय सिद्धे' इत्यादि गाथासप्तकेन दीक्षाभिमुखपुरुषस्य दीक्षाविधानकथनमुख्यतया प्रथम-स्थलम् । अत पर 'वदसमिदिंदिय' इत्यादिमूलगुणकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयम् । तदनन्तर गुरुव्यवस्थाज्ञापनार्थं 'लिगग्गहणे' इत्यादि एका गाथा । तथैव प्रायश्चित्तकथनमुख्यतया 'पयदम्हि' इत्यादि गाथाद्वयमिति समुदायेन तृतीयस्थले गाथात्रयम् । अथाधारादिशास्त्रकथितक्रमेण तपोध-नस्य सक्षेपसमाचारकथनार्थं 'अधिवासे व' इत्यादि चतुर्थस्थले गाथात्रयम् । तदनन्तर भावहिंसा-द्रव्यहिंसापरिहारार्थं 'अपयत्तादो चरिया' इत्यादिपञ्चमस्थले सूत्रषट्कमित्येकविंशतिगाथाभि स्थलपञ्चकेन प्रथमान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—अथासन्नभव्यजीवाश्चारित्रे प्रेरयति—

इसके बाद चारित्रका अधिकार प्रारभ करते हैं—जो जीव मोक्षाभिलाषी हैं, वे द्रव्यके स्वरूपको भी यथार्थ जानते हैं, और चारित्रके स्वरूपको भी यथार्थ जानते है, क्योकि द्रव्यके ज्ञानके अनुसार चारित्र होता है, और चारित्रके अनुसार द्रव्यज्ञान होता है । इस कारण ये दोनो एकत्र रहते हैं । इन दोनोमे जो एक न होवे, तो मोक्षमार्ग भी न हो, इसलिये इन दोनोका जानना योग्य है । इसी कारण चारित्रका स्वरूप कहते हैं । आगे चारित्रके आचरणमे अन्य जीवोको युक्त करते हैं । जो द्रव्यका ज्ञान होवे, तो चारित्रके आचरणकी अच्छी तरह सिद्धि होवे, और जो चारित्र हो, तो द्रव्यका ज्ञान सफल होवे । इन दोनोकी परस्पर सिद्धि है । इस कारण जो जीव क्रियामे प्रवृत्त होते हैं, वे आत्मद्रव्यके जाननेसे अविरोधी क्रियाका आचरण करो, अहबुद्धि रहित निरभिलाषी होके आचरो । इसीलिये आचार्य अन्य जीवोंके हितके निमित्त यत्याचार कहते हैं । पूर्व ही ग्रथारभ-

एवं प्रणम्य सिद्धान् जिनवरवृषभान् पुन पुन श्रमणान् ।
प्रतिपद्यता श्रामण्यं यदीच्छति दु खपरिमोक्षम् ॥ १ ॥

यथा ममात्मना दुःखमोक्षार्थिना, 'किच्चा अरिहंताणं' इति 'तेसिं' इति अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां प्रणतिवन्दनात्मकनमस्कारपुरःसरं विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानं साम्यनाम श्रामण्यमवान्तरग्रन्थसदर्भोभयसंभावितसौस्थित्यं स्वयं प्रतिपन्नं परेषामात्मापि यदि दुःखमोक्षार्थी तथा तत्प्रतिपद्यतां यथानुभूतस्य तत्प्रतिपत्तिवर्त्मनः प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठाम इति ॥ १ ॥

अथ श्रमणो भवितुमिच्छन् पूर्वं किं किं करोतीत्युपदिशति—

पडिवज्जदु प्रतिपद्यता स्वीकरोतु । किम् । **सामण्ण** श्रामण्य चारित्रम् । यदि किम् । **इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्ख** यदि च दु खपरिमोक्षमिच्छति । स क कर्ता । परेषामात्मा । कथ प्रतिपद्यताम् **एवं** एव पूर्वोक्तप्रकारेण 'एस सुरासुरमणुसिद' इत्यादिगाथापञ्चकेन पञ्चपरमेष्ठिनमस्कार कृत्वा ममात्मना दु खमोक्षार्थिनान्यै पूर्वोक्तभव्यैर्वा यथा तच्चारित्र प्रतिपन्न तथा प्रतिपद्यताम् । किं कृत्वा पूर्वम् । **पणमिय** प्रणम्य । कान् । **सिद्धे** अञ्जनपादुकादिसिद्धिविलक्षणस्वात्मोपलब्धिसिद्धिसमेतसिद्धान् । **जिणवरवसहे** सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशाजना उच्यन्ते शेषाश्चानगारकेवलिनो जिनवरा भण्यन्ते । तीर्थंकरपरमदेवाश्च जिनवरवृषभा इति तान् जिनवरवृषभान् । न केवल तान् प्रणम्य **पुणो पुणो समणे** चिच्चमत्कारमात्रनिजात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयाचरणप्रतिपादनसाधकत्वोद्यतान् श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूश्च पुनः पुन प्रणम्येति । किंच पूर्वं ग्रन्थप्रारम्भकाले शाम्यमाश्रयामीति **शिवकुमारमहाराज**नामा प्रतिज्ञा करोतीति भणितम् । इदानी तु महात्मना चारित्र प्रतिपन्नमिति पूर्वापरविरोध । परिहारमाह—ग्रन्थप्रारम्भात्पूर्वमेव दीक्षा गृहीता तिष्ठति पर किंतु ग्रन्थकरणव्याजेन क्वाप्यात्मान भावनापरिणत दर्शयति । क्वापि **शिवकुमारमहाराजं** क्वाप्यन्य भव्यजीव वा । तेन कारणेनात्र ग्रन्थे पुरुषनियमो नास्ति कालनियमो नास्तीत्यभिप्राय ॥ १ ॥ अथ श्रमणो भवन्निच्छन्पूर्वं क्षमितव्य करोति—'उवट्ठिदो

के आदिमे "एस सुरासुर" इत्यादि गाथाओसे पचपरमेष्ठियोको नमस्कार किया था, उन्ही गाथाओसे इस यत्याचारके आरभमे भी आचार्य नमस्कार करते है । अब फिर आचार्य नमस्कारपूर्वक दयालु होके कहते है—**[एव]** इस प्रकार "एस सुरासुर" इत्यादि गाथाओकर **[जिनवरवृषभान्]** जिनवरोमे श्रेष्ठ ऐसे अरहतोको **[सिद्धान्]** सिद्धोको **[पुन पुन.]** अनेक बार **[श्रमणान्]** मुनियोको **[प्रणम्य]** नमस्कार करके 'भव्यजावोको चारित्रमे प्रेरणा करनेका उपदेश करते है, कि हे भव्यजीवो ! जैसे दु खका नाश करनेके लिये मेरी आत्माने पच-परमेष्ठियोको वदना (नमस्कार) पूर्वक निर्मल ज्ञान दर्शनरूप समताभाव नामवाला यतिमार्ग अगीकार किया है, उसी प्रकार' **[यदि]** जो तुम्हारा आत्मा भी **[दु खपरिमोक्ष]** दु खसे मुक्त होनेकी **[इच्छति]** अभिलाषा करता है, तो **[श्रामण्य]** यतिधर्मको **[प्रतिपद्यता]** प्राप्त होवे । **भावार्थ**—जैसा हमने वह साम्यभावरूप मोक्षकामार्गभूत चारित्र अनुभव किया है, वैसा ही तुमको भी कहते हैं, कि तुम भी मुनिमार्गका आचरण करो ॥ १ ॥ आगे जो मुनि होना चाहता है, वह पहले क्या क्या करे,

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ।। २ ।।

आपृच्छ्य बन्धुवर्गं विमोचितो गुरुकलत्रपुत्रैः ।
आसाद्य ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् ।। २ ।।

यो हि नाम श्रमणो भवितुमिच्छति स पूर्वमेव बन्धुवर्गमापृच्छते, गुरुकलत्र-पुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति । तथाहि—एव बन्धुवर्गमापृच्छते, अहो इदजनशरीरबन्धुवर्गवर्तिन आत्मानः अस्य जनस्य आत्मा न किंचनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीत तत आपृष्टा यूयं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिबन्धुमुपसर्पति । अहो इदजनशरीरजनकस्यात्मन्, अहो इदजनशरीरजनन्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मान न युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीतं तत इममात्मानं युवां विमु-

---

होदि सो समणो' इत्यग्रे षष्ठगाथाय यद्व्याख्यान तिष्ठति तन्मनसि धृत्वा पूर्वं किं कृत्वा श्रमणो भविष्यतीति व्याख्याति—**आपिच्छ** आपृच्छ्य पृष्ट्वा । कम् । **बंधुवग्ग** गोत्रम् । तत कथभूतो भवति । **विमोचिदो** विमोचितस्त्यक्तो भवति । कै कर्तृभूतै । **गुरुकलत्तपुत्तेहिं** पितृमातृकलत्रपुत्रै । पुनरपि किं कृत्वा श्रमणो भविष्यति । **आसिज्ज** आसाद्य आश्रित्य । कम् । **णाणदसणचरित्ततव-वीरियायार** ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमिति । अथ विस्तर.—अहो बन्धुवर्गपितृमातृकलत्र-पुत्रा, अय मदीयात्मा साप्रतमुद्भिन्नपरमविवेकज्योतिस्सन् स्वकीयचिदानन्दैकस्वभाव परमात्मा-नमेव निश्चयनयेनानादिबन्धुवर्गं पितर मातर कलत्र पुत्र चाश्रयति तेन कारणेन मा मुञ्चत

उसकी परिपाटीको कहते हैं—[**बधुवर्गं**] अपने कुटुबसमूहको [**आपृच्छ्य**] पूँछकर [**गुरुकलत्रपुत्रैः**] मा बाप स्त्रीजन और पुत्र इनसे [**विमोचितः**] मुक्त हुआ [**ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारं**] आठ प्रकारका ज्ञानाचार, आठ तरहका दर्शनाचार, तेरह प्रकारका चारित्राचार, बारहप्रकार तपाचार और आत्मशक्तिको प्राप्त करनेवाला ऐसा वीर्याचार, इस तरह पाँच आचारोको [**आसाद्य**] स्वीकार करके विरक्त होता है । **भावार्थ**—जो जीव मुनि होना चाहता है, वह पहले ही अपने कुटुम्बके लोगोसे पूँछकर अपनेको छुडावे । छुडानेकी रीति इस तरहसे है—भो इस जनके शरीरके तुम भाई बधुओ, इस जनका (मेरा) आत्मा तुम्हारा नही है, ऐसा तुम निश्चयकर समझो । इस-लिये तुमसे पूँछता हूँ, कि यह मेरी आत्मामे ज्ञान-ज्योति प्रगट हुई है, इस कारण अपना आत्म-स्वरूप ही अनादि भाई बधुको प्राप्त होता । अहो इस जनके शरीरके तुम माता पिताओ, इस जनका आत्मा तुमने उत्पन्न नही किया, यह तुम निश्चयसे समझो, इसलिये तुम इस मेरे आत्माके विषयमे ममता भाव छोडो । यह आत्मा ज्ञान-ज्योतिकर प्रगट हुआ है, सो अपने आत्मस्वरूप ही माता पिताको प्राप्त होता है । हे इस जनके शरीरका मन हरनेवाली स्त्री, तू इस जनके आत्माको नही रमण कराती, (प्रसन्न करती) यह निश्चयसे जान । इस कारण इस आत्मासे ममत्व भाव छोड़ दे । यह आत्मा ज्ञान-ज्योतिकर प्रगट हुआ है, इसलिये अपनी अनुभूतिरूप स्त्रीके साथ रमण-

श्चतम्, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजनकमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीररमण्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मानं न त्वं रमयसीति निश्चयेन त्वं जानीहि तत इममात्मानं विमुञ्च, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः स्वानुभूतिमेवात्मनोऽनादिरमणीमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीरपुत्रस्यात्मन्, अस्य जनस्यात्मनो न त्वं जन्यो भवसीति निश्चयेन त्वं जानीहि तत इममात्मानं विमुञ्च, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजन्यमुपसर्पति । एवं गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति । तथा अहो कालविनयोपधानबहुमानानिह्नवार्थव्यञ्जनतदुभयसपन्नलक्षणज्ञानाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो निःशङ्कितत्वनिःकाङ्क्षितत्वनिर्विचिकित्सत्वनिर्मूढदृष्टित्वोपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणदर्शनाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्

यूयमिति क्षमितव्य करोति । ततश्च किं करोति परमचैतन्यमात्रनिजात्मतत्त्वसर्वप्रकारोपादेयरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिसमस्तपरद्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरणस्वशक्त्यनवगूहनवीर्याचाररूप निश्चयपञ्चाचारमाचारादिचरणग्रन्थकथिततत्साधकव्यवहारपञ्चाचार चाश्रयतीत्यर्थ । अत्र यद्गोत्रादिभि सह क्षमितव्यव्याख्यान कृत तदत्रातिप्रसंगानिषेधार्थम् । तत्र नियमो नास्ति । कथ-

---

स्वभावी है । हे जनके शरीरका पुत्र, तू इस जनके आत्मासे नही उत्पन्न हुआ, यह निश्चयसे समझ । इस कारण इसमे ममता भाव छोड, यह आत्मा ज्ञान-ज्योतिकर प्रगट हुआ है, इसलिये अपने आत्माका यह आत्मा ही अनादि पुत्र है, और वह उसको प्राप्त होता है । इस प्रकार माता, पिता, स्त्री, पुत्रादि, कुटुम्बसे अपना पीछा छुडावे । अथवा जो कोई जीव मुनि होना चाहता है, वह तो सब तरह कुटुम्बसे विरक्तही है, उसको कुटुम्बसे पूँछनेका कुछ कार्य ही नही रहा, परतु यदि कुटुम्बसे विरक्त होवे, और जब कुछ कहना पडे, तब वैराग्यके कारण कुटुम्बके समझानेको इस तरहके वचन निकलते हैं । यहांपर ऐसा नही समझना, कि जो विरक्त होवे, तो कुटुम्बको राजी करके ही होवे । कुटुम्ब यदि किसी तरह राजी न होवे, तब कुटुम्बके भरोसे रहनेसे विरक्त कभी हो ही नही सकता । इस कारण कुटुम्बके पूँछनेका नियम नही है । जो कभी किसी जीवको मुनि-दशा धारणके समय कुछ कहना ही होवे, तो पूर्वोक्त प्रकार उपदेशरूप वचन निकलते हैं । उस तरहके वैराग्यरूप वचनोको सुनकर जो निकट-ससारी जीव कुटुम्बमे हो, वे भी विरक्त होसकते है । तथा इसके बाद सम्यग्दृष्टी जीव अपने स्वरूपको देखता है, जानता है, अनुभव करता है, अन्य समस्त ही व्यवहार भावोसे अपनेको भिन्न मानता है, और परभावरूप सभी शुभाशुभ क्रियाओको हेयरूप जानता है, अगीकार नही करता । लेकिन वही सम्यग्दृष्टी जीव पूर्व बँधे हुए कर्मोके उदयसे अनेक प्रकारके विभाव (विकार) भावोस्वरूप परिणमता है, तो भी उन भावोसे विरक्त है, वह यह जानता है, कि जबतक इस अशुद्ध परिणतिकी स्थिति है, तबतक यह अवश्य होती है, इस कारण आकुलतारूप भावोको भी नही प्राप्त होता । यह सम्यग्दृष्टी जीव तो सकल

त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैषणादाननिक्षेपणप्रतिष्ठापनसमितिलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायध्यानव्युत्सर्गलक्षणतपआचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो समस्तेतराचारप्रवर्तकस्वशक्त्यनिगूहनलक्षणवीर्या-

---

मिति चेत् । पूर्वकाले प्रचुरेण भरतसगररामपाण्डवादयो राजान एव जिनदीक्षां गृह्णन्ति, तत्परिवारमध्ये यदा कोऽपि मिथ्यादृष्टिर्भवति तदा धर्मस्योपसर्गं करोतीति । यदि पुनः कोऽपि मन्यते गोत्रसमतं कृत्वा पश्चात्तपश्चरणं करोमि तस्य प्रचुरेण तपश्चरणमेव नास्ति कथमपि तपश्चरणे गृहीतेऽपि यदि गोत्रादिममत्वं करोति तदा तपोधन एव न भवति । तथाचोक्तम्—"जो सकलणयररज्जं पुव्वं चइऊण कुणइ य ममत्तिं । सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो" ॥ २ ॥

द्रव्य भावरूप विभावभावोंका तभी त्याग कर चुका, जब इसके स्वपर विवेकरूप भेदविज्ञान प्रगट हुआ था, और तभी टंकोत्कीर्ण निजभाव भी अंगीकार किया । इसलिये सम्यग्दृष्टिको न तो कुछ त्यागनेको रहा है और न कुछ स्वीकार करनेको रहा है । परन्तु वही सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहके उदयसे शुभ भावोंरूप परिणमन करता है, उस परिणमनकी अपेक्षा त्यागता है, और अंगीकार करता है । यही कथन दिखलाते हैं—प्रथम ही गुणस्थानोंकी परिपाटीके क्रमसे अशुभ परिणतिकी हानि होती है, उसके बाद धीरे धीरे शुभ परिणति भी छूटती जाती है । इस कारण पहले तो वह गृहवास कुटुम्बका त्यागी होता है, पीछे शुभ रागके उदयसे व्यवहार रत्नत्रयरूप पंचाचारोंको अंगीकार करता है । यद्यपि ज्ञानभावसे समस्त ही शुभाशुभ क्रियाओंका त्यागी है, परन्तु शुभ रागके उदयसे ही पंचाचारोंको ग्रहण करता है । उसकी रीति बतलाते हैं—हे काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन, तदुभयरूप आठ प्रकार ज्ञानाचार, मैं तुझको जानता हूँ, कि तू शुद्धात्म स्वरूपका निश्चय करके स्वभाव नहीं है, तो भी मैं तबतक अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको प्राप्त हो जाऊँ । अहो निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावनास्वरूप, दर्शनाचार, तू शुद्धात्माका स्वरूप नहीं है, ऐसा मैं निश्चयसे जानता हूँ, तो भी तुझको तबतक स्वीकार करता हूँ, जबतक तेरे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त हो जाऊँ । अहो मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिके कारण पंच महाव्रत, तीन गुप्ति, पांच समितिरूप तेरह प्रकार चारित्राचार, मैं जानता हूँ, कि निश्चयसे तू शुद्धात्माका स्वरूप नहीं है, तथापि तबतक अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको प्राप्त होऊँ । अहो अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्गस्वरूप बारह प्रकार तपआचार, मैं निश्चयसे जानता हूँ, कि तू शुद्धात्माका स्वभाव नहीं है, परन्तु तो भी तुझको तबतक स्वीकार करता हूँ, जबतक तेरे प्रसादसे शुद्धस्वरूपको प्राप्त होजाऊँ । अहो समस्त आचारकी प्रवृत्तिके बढ़ानेमें स्वशक्तिके प्रगट करनेवाले वीर्याचार, मैं निश्चयसे जानता हूँ, कि तू शुद्धात्मा

चार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे। एवं ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति च ॥ २ ॥

अथातः कीदृशो भवतीत्युपदिशति—

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥ ३ ॥

श्रमण गणिन गुणाढच कुलरूपवयोविशिष्टमिष्टतरम् ।
श्रमणैस्तमपि प्रणतः प्रतीच्छ मा चेत्यनुगृहीत ॥ ३ ॥

ततो हि श्रामण्यार्थी प्रणतोऽनुगृहीतश्च भवति। तथाहि—आचरिताचारितसमस्तविरतिप्रवृत्तिसमानात्मरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणम्, एवंविधश्रामण्याचरणाचारण-

---

अथ जिनदीक्षार्थी भव्यो जैनाचार्यमाश्रयति—**समणं** निन्दाप्रशंसादिसमचित्तत्वेन पूर्वसूत्रोदितनिश्चयव्यवहारपञ्चाचारस्य चरणाभरणप्रवीणत्वात् श्रमणम्। **गुणड्ढ** चतुरशीतिलक्षगुणाष्टादशसहस्रशीलसहकारिकारणोत्तमनिजशुद्धात्मानुभूतिगुणेनाढ्य भृत परिपूर्णत्वाद् गुणाढ्यम्। **कुलरूववयोविसिट्ठं** लोकदुगुछारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्य कुल भण्यते। अन्तरङ्गशुद्धात्मानुभूतिरूपक निर्ग्रन्थनिर्विकार रूपमुच्यते। शुद्धात्मसंवित्तिविनाशकारिवृद्धबालयौवनोद्रेकजनितबुद्धिवैकल्परहित वयश्चेति तै कुलरूपवयोभिर्विशिष्टत्वात्कुलरूपवयोविशिष्टम्। इट्ठदरं समतम्। कै। **समणेहिं**

का स्वरूप नही है, परतु तो भी तुझको तबतक अगीकार करता हूँ जबतक कि तेरे प्रसाद (कृपा) से शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हो जाऊँ। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्यरूप पाँच प्रकार आचारको अगीकार करता है॥ २॥ आगे इसके बाद कैसा होता है, यह कहते हैं—(**तं**) उस (**गणिण**) परम आचार्यके पास जाकर (**प्रणत**) नमस्कार करता हुआ (**चापि**) और निश्चयकर (**मां**) हे प्रभो, मुझको (**प्रतीच्छ**) शुद्धात्म तत्त्वकी सिद्धिकरके अगीकार करो, (**इति**) इस प्रकार बिनती करता हुआ (**अनुगृहीत**) आचार्य दीक्षाका उपदेश देते हैं, और अगीकार करते हैं। वे आचार्य कैसे हैं, कि (**श्रमणं**) पचाचारके आचरण करनेमे तथा करानेमे प्रवीण अर्थात् साम्यभावलीन हैं, (**गुणाढच**) यतिपदवीका आप आचरण करनेमे अन्यको आचरण करानेमे प्रवीण होनेसे गुणोकर परिपूर्ण है, (**कुलरूपवयोविशिष्टं**) कुलसे, रूपसे, उमरसे, विशेषता लियेहुए (उत्कृष्ट) है, और वे (**श्रमणै.**) मुक्तिके इच्छुक महामुनियोकर (**इष्टतरं**) अतिप्रिय हैं। **भावार्थ**—जो उत्तम कुलमे उत्पन्न हुआ है, उसकी सब लोक नि शक होते हुए सेवा करते है, जो उत्तम कुलोत्पन्न होगा, उसके कुलकी परिपाटीसे ही क्रूर भावादिक दोषोका अभाव निश्चयमे होगा। इससे कुलकी विशेषता लिये हुए ही आचार्य होते हैं, आचार्यके बाहरसे रूपकी विशेषता ऐसी है, कि देखनेसे उनमे अतरगकी शुद्ध अनुभव-मुद्रा पायी जाती है, तो भी बाहरके शुद्ध रूपकर मानो अतरगकी शुद्धता बतलाई जारही है, इस कारण रूपकी विशेषताकर सहित होते है, तथा वय (उमर) करके विशेषता इस तरह है, कि बालक, वृद्ध अवस्थामे बुद्धिकी विकलतासे रहित हैं, और

प्रवीणत्वात् गुणाढ्यं, सकललौकिकजननिःशङ्कसेवनीयत्वात् कुलक्रमागतक्रौर्यादिदोषवर्जितत्वाच्च कुलविशिष्टम्, अन्तरङ्गशुद्धरूपानुमापकबहिरङ्गशुद्धरूपत्वात् रूपविशिष्टं, शैशववार्धक्यकृतबुद्धिविक्लवत्वाभावाद्यौवनोद्रेकक्रियाविविक्तबुद्धित्वाच्च वयोविशिष्टं, निःशेषितयथोक्तश्रामण्याचरणाचारणविषयपौरुषेयदोषत्वेन मुमुक्षुभिरभ्युपगततरत्वात् श्रमणैरिष्टतरं च गणिनं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकमाचार्यं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्ध्या मामनुगृहाणेत्युपसर्पन् प्रणतो भवति। एवमियं ते शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धिरिति तेन प्रार्थितार्थेन संयुज्यमानोऽनुगृहीतो भवति ॥ ३ ॥

अथातोऽपि कीदृशो भवतीत्युपदिशति—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो॥ ४ ॥

नाहं भवामि परेषां न मे परे नास्ति ममेह किंचित्।
इति निश्चितो जितेन्द्रियः जातो यथाजातरूपधरः ॥ ४ ॥

निजपरमात्मतत्त्वभावनासहितसमचित्तश्रमणैरन्याचार्यैः गुणि एवंविधगुणविशिष्टं, परमभावनासाधकदीक्षादायकमाचार्यम्। **तं पि पणदो** न केवलमाचार्यमाश्रितो भवति प्रणतोऽपि भवति। केन रूपेण। **पडिच्छ मं** हे भगवन्, अनन्तज्ञानादिजिनगुणसंपत्तिकारणभूताया अनादिकालेऽत्यन्तदुर्लभाया भावसहितजिनदीक्षाया प्रदानेन प्रसादेन मां प्रतीच्छ स्वीकुरु **चेदि अणुगहिदो** न केवलं प्रणतो भवति, तेनाचार्येणानुगृहीतः स्वीकृतश्च भवति। हे भव्य, निस्सारसंसारे दुर्लभबोधिं प्राप्य निजशुद्धात्मभावनारूपया निश्चयचतुर्विधाराधनया मनुष्यजन्म सफलं कुर्वित्यनेन प्रकारेणानुगृहीतो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ अथ गुरुणा स्वीकृतः सन्नीदृशो भवतीत्युपदिशति—**णाहं होमि परेसिं** नाहं भवामि परेषाम्। निजशुद्धात्मनः सकाशात्परेषां भिन्नद्रव्याणां संबन्धी न भवाम्यहम्। **ण मे परे** न मे संबन्धीनि परद्रव्याणि, **णत्थि मज्झमिह किंचि** नास्ति ममेह किंचिदपि परद्रव्यं मम नास्ति।

जवान अवस्थामें काम-विकारसे बुद्धिकी विकलता होती है, उससे भी रहित हैं। ऐसी अवस्थाकी विशेषता लिये हुए आचार्य कहे गये हैं, और समस्त सिद्धांतोक्त मुनिकी क्रियाके आचरण करने तथा करानेमें जो कभी पीछे दोष हुआ हो, उसको बतलानेवाले हैं, तथा गुणका उपदेश करनेवाले हैं। इसलिये अत्यंत प्रिय हैं। इत्यादि अनेक गुणोंकर शोभायमान जो आचार्य हैं, उनके पास जाकर यह दीक्षा(व्रत)का ग्रहण करनेवाला पुरुष पहले तो नमस्कार करता है, उसके बाद शुद्धात्मतत्त्वके साधक आचार्यको हाथ जोड़कर बिनती करता है, कि प्रभो, मैं संसारसे भयभीत हुआ हूँ, सो मुझको शुद्धात्मतत्त्वकी सिद्धि होनेके लिये दीक्षा दो। तब आचार्य कहते हैं, कि तुझको शुद्धात्मतत्त्वकी सिद्धि (प्राप्ति) करनेवाली यह भगवती-दीक्षा है। ऐसा कहकर वह मुमुक्षु आचार्यसे कृपायुक्त किया जाता है ॥ ३ ॥ आगे फिर वह कैसा होता है, यह कहते हैं—(अहं) मैं (परेषां) शुद्ध चिन्मात्रसे अन्य जो परद्रव्य हैं, उनका (न भवामि) नहीं हूँ, और (न मे) न मेरे (परे) परद्रव्य हैं, इसलिये (इह) इस लोकमें (मम) मेरा (किंचित्) कुछ भी (नास्ति) नहीं है

ततोऽपि श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधरो भवति। तथाहि—अहं तावन्न किंचिदपि परेषां भवामि परेऽपि न किंचिदपि मम भवन्ति, सर्वद्रव्याणां परैः सह तत्त्वतः समस्तसंबन्धशून्यत्वात्। तदिह षड्द्रव्यात्मके लोके न मम किंचिदप्यात्मनोऽन्यदस्तीति निश्चितमतिः परद्रव्यस्वस्वामिसंबन्धानामिन्द्रियनोइन्द्रियाणां जयेन जितेन्द्रियश्च सन् धृतयथानिष्पन्नात्मद्रव्यशुद्धरूपत्वेन यथाजातरूपधरो भवति ॥ ४ ॥

अथैतस्य यथाजातरूपधरत्वस्यासंसारानभ्यस्तत्वेनात्यन्तमप्रसिद्धस्याभिनवाभ्यासकौशलोपलभ्यमानायाः सिद्धेर्गमक बहिरङ्गान्तरङ्गलिङ्गद्वैतमुपदिशति—

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥ ५ ॥

इदि णिच्छिदो इति निश्चितमतिर्जात । जिदिंदो जादो इन्द्रियमनोजनितविकल्पजालरहितानन्तज्ञानादिगुणस्वरूपनिजपरमात्मद्रव्याद्विपरीतेन्द्रियनोइन्द्रियाणा जयेन जितेन्द्रियश्च सजात सन् जधजादरूवधरो यथाजातरूपधर. व्यवहारेण नग्नत्व यथाजातरूप निश्चयेन तु स्वात्मरूप तदित्थंभूत यथाजातरूप धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थ ॥ ४ ॥ अथ तस्य पूर्वसूत्रोदितयथाजातरूपधरस्स निर्ग्रन्थस्यानादिकालदुर्लभाया स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धेर्गमकं चिह्नं बाह्याभ्यन्तरलिङ्गद्वयमादिशति—जधजादरूवजाद पूर्वसूत्रोक्तलक्षणयथाजातरूपेण निर्ग्रन्थत्वेन जातमुत्पन्न यथाजातरूपजातम्। उप्पाडिदकेसमसुग केशश्मश्रुसस्कारोत्पन्नरागादिदोषवर्जनार्थमुत्पाटितकेशश्मश्रुकम्। सुद्ध निरवद्यचैतन्यचमत्कारविसदृशेन सर्वसावद्ययोगेन रहितत्वाच्छुद्धम्।

(इति) इस तरह (निश्चित.) निश्चय करता हुआ (जितेन्द्रिय.) पाँच इद्रियोका जीतनेवाला (यथाजातरूपधर जातः) आत्माका जैसा कुछ स्वयसिद्ध स्वरूप है, उसको धारण करता है। भावार्थ—जो पुरुष मुनि होना चाहता है, उसके प्रथम तो ऐसे भाव होते है, कि न मै परद्रव्यका हूँ, और न मेरे परद्रव्य है, क्योकि कोई द्रव्य अपना स्वरूप छोडकर किसीसे मिलता नही है, सब जुदे जुदे है। इसलिये ससारमे जो नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्मरूप समस्त परभाव हैं, उनमे मेरा स्वरूप कुछ भी नही है। मै सबसे भिन्न अविनाशी टकोत्कीर्ण वस्तुमात्र हूँ, ऐसा निश्चय करके जितेंद्री होता हुआ जैसा कुछ मुनिका स्वरूप है, उसको धारण करता है ॥ ४ ॥ आगे अनादिकालसे लेकर कभी जिसका अभ्यास नही किया था, ऐसा जो यथाजातरूपधारक मुनिपद है, उसकी बतलानेवाली अतरग बहिरग भेदकर लिंगकी द्वैतता दिखलाते हैं, अर्थात् जिन चिह्नोसे मुनि-पदवी अच्छी तरह जानी जावे, ऐसे द्रव्य भावलिंगोको कहते है—(यथाजातरूपजातं) जैसा निग्रंथ अर्थात् परमाणुमात्र परिग्रहसे भी रहित मुनिका स्वरूप होता है, वैसे स्वरूपवाला (उत्पाटितकेशश्मश्रुकं) लोच करडाले हैं, शिर डाढीके बाल जिसने ऐसा (शुद्ध) समस्त परिग्रहरहित होनेसे निर्मल (हिंसादितः रहित) हिंसा आदि पाप योगोसे रहित और (अप्रतिकर्म) शरीरके सम्हालनेकी अथवा सजानेको क्रियाकर रहित, ऐसा (लिङ्ग) मुनीश्वरके द्रव्यलिंग (भवति)

मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥ ६ ॥ जुगलं ।

यथाजातरूपजातमुत्पाटितकेशश्मश्रुक शुद्धम् ।
रहित हिंसादितोऽप्रतिकर्म भवति लिङ्गम् ॥ ५ ॥
मूर्च्छारम्भविमुक्त युक्तमुपयोगयोगशुद्धिभ्याम् ।
लिङ्गं न परापेक्षमपुनर्भवकारणं जैनम् ॥ ६ ॥ युगलम् ।

आत्मनो हि तावदात्मना यथोदितक्रमेण यथाजातरूपधरस्य जातस्यायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययानां मोहरागद्वेषादिभावानां भवत्येवाभावः, तदभावात्तु तद्भावभाविनो निवसनभूषणधारणस्य मूर्धजव्यञ्जनपालनस्य सकिंचनत्वस्य सावद्ययोगयुक्तत्वस्य शरीरसंस्कारकरणत्वस्य चाभावाद्यथाजातरूपत्वमुत्पाटितकेशश्मश्रुत्व शुद्धत्वं हिंसादिरहितत्वमप्रतिकर्मत्व च भवत्येव, तदेतद्बहिरङ्गं लिङ्गम् । तथात्मनो यथाजातरूपधरत्वापसारितायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावानामभावादेव

रहिद हिंसादीदो शुद्धचैतन्यरूप निश्चयप्राणहिंसाकारणभूताया रागादिपरिणतिलक्षणनिश्चयहिंसाया अभावात् हिंसादिरहितम् । अप्पडिकम्म हवदि परमोपेक्षासंयमबलेन देहप्रतिकाररहितत्वादप्रतिकर्म भवति । किम् । लिंगं एवं पञ्चविशेषण विशिष्ट लिङ्ग द्रव्यलिङ्ग ज्ञातव्यमिति प्रथमगाथा गता ॥ मुच्छारंभविमुक्क परद्रव्यकाङ्क्षारहितनिर्मोहपरमात्मज्योतिर्विलक्षणा बाह्यद्रव्ये ममत्वबुद्धिर्मूर्च्छा भण्यते, मनोवाक्कायव्यापाररहितचिच्चमत्कारप्रतिपक्षभूत आरम्भो व्यापारस्ताभ्या मूर्च्छारम्भाभ्या विमुक्त मूर्च्छारम्भविमुक्तम् । जुत्त उवजोगजोगसुद्धीहिं निर्विकारस्वसंवेदनलक्षण उपयोग निर्विकल्पसमाधियोग तयोरुपयोगयोगयो शुद्धिरुपयोगयोगशुद्धिस्तया युक्तम् । ण परावेक्ख निर्मलानुभूतिपरिणते परस्य परद्रव्यस्यापेक्षया रहित न परापेक्षम् । अपुणब्भकारण पुनर्भवविनाश-

---

होना है । तथा (मूर्च्छारम्भवियुक्त) परद्रव्यमें मोहसे उत्पन्न ममतारूप परिणामोंके आरंभसे रहित (उपयोगयोगशुद्धिभ्या) ज्ञानदर्शनरूप चैतन्यपरिणामस्वरूप उपयोग और मन वचन कायकी क्रियारूप योग इनकी शुद्धि अर्थात् शुभाशुभरूप रंजकतासे रहित भावरूप उपयोगशुद्धि और योगपरिणतिकी निश्चलतारूप योगशुद्धि इस तरह दो प्रकारकी शुद्धताकर (युक्त) सहित (न परापेक्षं) परकी अपेक्षा नहीं रखनेवाला (अपुनर्भवकारणं) और मोक्षका कारण ऐसा (जैन लिङ्ग) जिनेन्द्रकर कहा हुआ भावलिंग होता है । भावार्थ—यथाजातरूप (निर्ग्रंथपने) पदके रोकनेवाले जो राग, द्वेष, मोह, भाव हैं, उनका जब अभाव होता है, तब यह आत्मा आप ही से परिपाटी (क्रम) के अनुसार यथाजातरूपका धारक होता है । उस अवस्थामें इन जीवके रागादि भावोंके बढानेवाले जो वस्त्र आभूषण हैं, उनका अभाव तथा सिर दाढीके बालोंकी रक्षाका अभाव होता है, निष्परिग्रह दशा होती है, पापक्रियासे रहित होता है, और शरीर संस्कारादिक क्रियासे रहित होता है, अर्थात् जैसा मुनिका स्वरूप बाह्यदशासे होता है, वैसा ही बन जाता है, यह द्रव्यलिंग जानना । तथा इस आत्माके जैसा निर्ममत्वादि अंतरंगमें मुनिपद कहा है, वैसा ही

तद्भावभाविनो ममत्वकर्मप्रक्रमपरिणामस्य शुभाशुभोपरक्तोपयोगतत्पूर्वकतथाविधयोगाशुद्धियुक्तत्वस्य परद्रव्यसापेक्षत्वस्य चाभावान्मूर्च्छारम्भवियुक्तत्वमुपयोगयोगशुद्धियुक्तत्वमपरापेक्षत्वं च भवत्येव, तदेतदन्तरङ्गं लिङ्गम् ॥ ५-६ ॥

अथैतदुभयलिङ्गमादायैतदेतत्कृत्वा च श्रमणो भवतीति भवतिक्रियाया बन्धुवर्गप्रच्छनक्रियादिशेषसकलक्रियाणां चैककर्तृकत्वमुद्द्योतयन्नियता श्रामण्यप्रतिपत्तिर्भवतीत्युपदिशति—

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेणं तं णमंसित्ता ।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥ ७ ॥

आदाय तदपि लिङ्गं गुरुणा परमेण तं नमस्कृत्य ।
श्रुत्वा सव्रतां क्रियामुपस्थितो भवति स श्रमण ॥ ७ ॥

ततोऽपि श्रमणो भवितुमिच्छन् लिङ्गद्वैतमादत्ते गुरुं नमस्यति व्रतक्रिये शृणोति

कशुद्धात्मपरिणामाविपरीतापुनर्भवस्य मोक्षस्य कारणमपुनर्भवकारणम् । जेण्ह जिनस्य सबन्धीद जिनेन प्रोक्त वा जैनम् । एव पञ्चविशेषणविशिष्ट भवति । किम् । **लिंग** भावलिङ्गमिति । इति द्रव्यलिङ्गभावलिङ्गस्वरूप ज्ञातव्यम् ॥ ५-६ ॥ अथैतल्लिङ्गद्वैतमादाय पूर्वं भाविनैगमनयेन यदुक्त पञ्चाचारस्वरूप तदिदानी स्वीकृत्य तदाधारेणोपस्थित स्वस्थो भूत्वा श्रमणो भवतीत्याख्याति— **आदाय तं पि लिंग** आदाय गृहीत्वा तत्पूर्वोक्त लिङ्गद्वयमपि । कथभूतम् । दत्तमिति क्रियाध्याहारः । केन दत्तम् । **गुरुणा परमेण** दिव्यध्वनिकाले परमागमोपदेशरूपेणार्हद्भट्टारकेण । दीक्षाकाले तु दीक्षागुरुणा, लिङ्गग्रहणानन्तर **त णमसित्ता** त गुरु नमस्कृत्य **सोच्चा** तदनन्तर श्रुत्वा । काम् । **किरिय** क्रिया बृहत्प्रतिक्रमणाम् । किंविशिष्टाम् । **सवदं** सव्रता व्रतारोपणसहिताम् । **उव-**

अवस्थाकर जो स्वरूपका होना उसके रोकनेवाले जो राग द्वेष मोह भाव हैं, उनका जब अभाव होता है, तब इस आत्माके स्वाभाविक मोक्षका कारण, अहकार ममता भाव रहित, उपयोगकी शुद्धता सयुक्त, स्वाधीन, अतरगलिंग प्रगट होता है । इस प्रकार जब यह आत्मा बाह्य चिह्नोसे और अतरग चिह्नोसे यथाजातरूपका धारक होता है, तब इसके मुनिपद कहा है ॥ ५-६ ॥ आगे दो प्रकारके लिंगको अगीकार कर अन्य क्रियाओको करके ही मुनि होता है, इस कारण कुटुम्बीलोकोको पूँछने आदिक क्रियासे लेकर आगे जो समस्त क्रिया मुनि-पदकी पूर्णता तक हैं, उन सब क्रियाओका जब यह एक कर्ता होता है, तब इसके निश्चयसे मुनि-पदकी सिद्धि होती है, यह कहते हैं—(**परमेण गुरुणा**) उत्कृष्ट गुरू जो अरहत केवली अथवा दीक्षा देनेवाले आचार्यगुरू हैं, उनसे उपदेशित (**तदपि लिङ्गं**) द्रव्य भाव भेदसे दो प्रकारके लिंगको (**आदाय**) अगीकार करके, (**तं नमस्कृत्य**) दीक्षाके देनेवाले अर्हंन वा आचार्यको (**नमस्कृत्य**) नमस्कार करके और (**सव्रता**) पाँच महाव्रतो सहित (**क्रिया**) मुनिकी आचार विधिको (**श्रुत्वा**) सुनकर (**सः**) वह मुनिपदका इच्छुक पुरुष (**उपस्थित**) मुनिपदको एकाग्रतासे अवलम्बनकर तिष्ठता हुआ (**श्रमण**) सबमे समदृष्टि होनेसे परिपूर्ण साक्षात् मुनि होता है । **भावार्थ**—जो मुनि होना चाहता है, वह प्रथम गुरूके उपदेशसे दो प्रकारके लिंगको धारण करता है । वह दो प्रकारका लिंग व्यवहारसे गुरूका दिया

अथोपतिष्ठते उपस्थितश्च पर्याप्तश्रामण्यसामग्रीकः श्रमणो भवति। तथाहि—तत इदं यथाजातरूपधरत्वस्य गमकं बहिरङ्गमन्तरङ्गमपि लिङ्गं प्रथममेव गुरुणा परमेणार्हद्भट्टारकेण तदात्वे च दीक्षाचार्येण तदादानविधानप्रतिपादकत्वेन व्यवहारतो दीयमानत्वाद्दत्तमादानक्रियया सभाव्य तन्मयो भवति। ततो भाव्यभावकभावप्रवृत्तेतरेतरसवलनप्रत्यस्तमितस्वपरविभागत्वेन दत्तसर्वस्वमूलोत्तरपरमगुरुनमस्क्रियया संभाव्य भावस्तववन्दनामयो भवति। ततः सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भवन्तमात्मानं जानन् सामायिकमधिरोहति। ततः समस्तसावद्यकर्मायतनं कायमुत्सृज्य यथाजातरूप स्वरूपमेकमेकाग्रेणालम्ब्य व्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति, उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात्साक्षाच्छ्रमणो भवति॥ ७॥

अथाविच्छिन्नसामायिकाधिरूढोऽपि श्रमणः कदाचिच्छेदोपस्थापनमर्हतीत्युपदिशति—

ट्ठिदो ततश्चोपस्थित स्वस्थ सन् **होदि सो समणो** स पूर्वोक्तस्तपोधन इदानी श्रमणो भवतीति। इतो विस्तर —पूर्वोक्तलिङ्गद्वयग्रहणानन्तर पूर्वसूत्रोक्तपञ्चाचारमाश्रयति ततश्चानन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण भावनमस्कारेण तथैव तद्गुणप्रतिपादकवचनरूपेण द्रव्यनमस्कारेण च गुरु नमस्करोति। तत पर समस्तशुभाशुभपरिणामनिवृत्तिरूप स्वस्वरूपे निश्चलावस्थान परमसामायिकव्रतमारोहति स्वीकरोति। मनोवचनकायै कृतकारितानुमतैश्च जगत्त्रये कालत्रयेऽपि समस्तशुभाशुभकर्मभ्यो भिन्ना निजशुद्धात्मपरिणतिलक्षणा या तु क्रिया सा निश्चयेन बृहत्प्रतिक्रमणा भण्यते। व्रतारोपणानन्तर ता च शृणोति। ततो निर्विकल्प समाधिबलेन कायमुत्सृज्योपस्थितो भवति, ततश्चैव परिपूर्णश्रमणसामग्र्या सत्या परिपूर्णश्रमणो भवतीत्यर्थ॥ ७॥ एव दीक्षाभिमुखपुरुषस्य दीक्षाविधानकथनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथासप्तक गतम्। अथ निर्विकल्पसामायिकसयमे यदा

हुआ कहा जाता है, क्योंकि गुरुने ही द्रव्य भाव लिंगकी विधि बतलाई है, और यह शिष्य जब इस लिंगको स्वीकार करता है, तब मानता है, कि गुरुने मुझको मुनिपद दिया है, ऐसी भावनासे तन्मय होता है। पीछे गुरूको परम उपकारी जानकर नमस्कार करता है, उसके वाद बहुत भक्तिसे स्तुति करता है, और सब पापयोगोकी क्रियाके दूर करनेवाले पांच महाव्रतोको यत्याचाररूप श्रुतज्ञानसे सुनता है, तथा जैसा सिद्धान्तमे टकोत्कीर्ण शुद्ध सिद्ध समान आत्माका स्वरूप कहा है, वैसा ही जानता हुआ राग द्वेषसे रहित सामायिक दशाको प्राप्त होता है, और प्रतिक्रमण, आलोचन, प्रत्याख्यानस्वरूप श्रुतज्ञानसे सुनता है, सुनकर तीन कालके कर्मोसे भी भिन्न अपने स्वरूपका अनुभव करता है। तीन कालकी मन, वचन, कायकी क्रियासे रहित स्थिर स्वरूपको प्राप्त होता है, और जिस शरीरकी क्रियासे पाप होवे, ऐसे काययोगका त्यागी होता है, तथा यथाजातस्वरूपको धारणकर एकाग्रसे तिष्ठता है। जब इतनी सपूर्ण क्रियायें होती हैं, तभी मुनिपदवी होती है॥७॥ आगे यद्यपि अखडित सामायिक दशाको मुनि प्राप्त है, तो भी किसी कालमे छेदोपस्थापक होता है, यह कहते हैं (**व्रतसमितीन्द्रियरोधा**) पाप योगक्रियासे रहित पांच

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥ ८ ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥ ९ ॥ जुम्मं ।

व्रतसमितीन्द्रियरोधो लोचावश्यकमचेलमस्नानम् ।
क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्त च ॥ ८ ॥
एते खलु मूलगुणा श्रमणाना जिनवरै. प्रज्ञप्ता ।
तेषु प्रमत्त श्रमण. छेदोपस्थापको भवति ॥ ९ ॥ युग्मम् ।

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तवशेन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रह-विरत्यात्मकं पञ्चतयं व्रतं तत्परिकरश्च पञ्चतयी समितिः पञ्चतय इन्द्रियरोधो लोचः

च्युतो भवति तदा सविकल्प छेदोपस्थापनचारित्रमारोहतीति प्रतिपादयति—**वदसमिदिंदियरोधो** व्रतानि च समितयश्चेन्द्रियरोधश्च व्रतसमितिन्द्रियरोध. । **लाचावस्सयं** लोच चावश्यकानि लोचावश्यक, "समाहारस्यैकवचनम्" । **अचेलमण्हाणं खिदिसयणमदतवण ठिदिभोयणमेगभत्त च** अचेलकास्नानक्षितिशयनादन्तधावनस्थितिभोजनैकभक्तानि ॥ **एदे खलु मूलगुणा समणाण जिणवरेहिं पण्णत्ता** एते खलु स्फुट अष्टाविंशतिमूलगुणा श्रमणाना जिनवरै. प्रज्ञप्ता **तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि** तेषु मूलगुणेषु यदा प्रमत्त च्युतो भवति । स क । श्रमणस्तपोधनस्तदाकाले छेदोपस्थापको भवति । छेदे व्रतखण्डने सति पुनरप्युपस्थापकश्छेदोपस्थापक इति । तथाहि—निश्चयेन मूलमात्मा तस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणा मूलगुणास्ते च निर्विकल्पसमाधिरूपेण परमसामायिकाभिधानेन निश्चयैकव्रतेन मोक्षबीजभूतेन मोक्षे जाते सति सर्वे प्रकटा भवन्ति । तेन कारणेन

महाव्रत, पाँच समिति, और पाँच इन्द्रियोका निरोध (रोकना) [**लोचावश्यकं**] केशोका लोच, छह आवश्यक क्रियायें, [**अचेलक्य**] दिगम्बर अवस्था, [**अस्नान**] अग प्रक्षालनादि क्रियासे रहित होना, [**क्षितिशयन**] भूमिमे सोना, [**अदन्तधावन**] दाँतोन नही करना, [**स्थितिभोजन**] खडे होकर भोजन करना, [**च**] और [**एकभुक्तः**] एक बार भोजन करना, [**एते**] ये २८ [**मूलगुणा**] मूलगुण [**श्रमणानां**] मुनीश्वरोके [**जिनवरै**] सर्वज्ञवीतरागदेवने [**खलु**] निश्चयकर [**प्रज्ञप्ताः**] कहे हैं, इन मूलगुणोसे ही यतिपदवी स्थिर रहती है । [**तेषु**] उन मूलगुणोमे जो किसी समय [**प्रमत्तः**] प्रमादी हुआ [**श्रमण.**] मुनि हो, तो [**छेदोपस्थापक**] सयमके छेद (भंग) का फिर स्थापन करनेवाला होता है। **भावार्थ**—ये अट्ठाईस मूलगुण निर्विकल्प सामायिकके भेद है, इस कारण ये मुनिके मूलगुण है, इन्हीसे मुनिपदकी सिद्धि होती है । जो कभी इन गुणोमे प्रमादी होजावे, तो निर्विकल्प सामायिकका भग होजाता है, इसलिये इनमे सावधान होना योग्य है । जो यह मालूम हो, कि मेरे इस भेदमे सयमका भग हुआ है, तो उसी भेदमे फिर आत्माको स्थापन करे, उस

पद्त्तयमावश्यकमचेलक्यमस्नानं क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तश्चैवं एते निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव। तेषु यदा निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा केवलकल्याणमात्रार्थिनः कुण्डलवलयाङ्गुलीयादिपरिग्रहः किल श्रेयान्, न पुनः सर्वथा कल्याणलाभ एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवति ॥ ८-९ ॥

अथास्य प्रव्रज्यादायक इव छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्तीत्याचार्यविकल्पप्रज्ञापनद्वारेणोपदिशति—

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा ॥ १० ॥

लिङ्गग्रहणे तेषां गुरुरिति प्रव्रज्यादायको भवति।
छेदयोरुपस्थापकाः शेषा निर्यापकाः श्रमणाः ॥ १० ॥

तदेव सामायिक मूलगुणव्यक्तिकारणत्वात् निश्चयमूलगुणो भवति। यदा पुनर्निर्विकल्पसमाधौ समर्थो न भवत्यय जीवस्तदा यथा कोऽपि सुवर्णार्थी पुरुष सुवर्णमलभमानस्तत्पर्यायानपि कुण्डलादीन् गृह्णाति न च सर्वथा त्याग करोति, तथाय जीवोऽपि निश्चयमूलगुणाभिधानपरमसमाध्यभावे छेदोपस्थापन चारित्रं गृह्णाति। छेदे सत्युपस्थापनं छेदोपस्थापनम्। अथवा छेदेन व्रतभेदेनोपस्थापनं छेदोपस्थापनम्। तच्च संक्षेपेण पञ्चमहाव्रतरूपं भवति। तेषा व्रताना च रक्षणार्थं पञ्चसमित्यादिभेदेन पुनरष्टाविंशतिमूलगुणभेदा भवन्ति। तेषा च मूलगुणाना रक्षणार्थं द्वाविंशतिपरीषहजयद्वादशविधतपश्चरणभेदेन चतुस्त्रिंशदुत्तरगुणा भवन्ति तेषा च रक्षणार्थं देवमनुष्यतिर्यगचेतनकृतचतुर्विधोपसर्गजयद्वादशानुप्रेक्षाभावनादयश्चेत्यभिप्राय ॥ ८-९ ॥ एव मूलोत्तरगुणकथनरूपेण द्वितीयस्थले सूत्रद्वय गतम्। अथास्य तपोधनस्य प्रव्रज्यादायक इवान्योऽपि निर्यापकसज्ञो गुरुरस्ति इति गुरुव्यवस्था निरूपयति—लिंगग्गहणे तेसिं लिङ्गग्रहणे तेषा तपोधनाना गुरु त्ति होदि

अवस्थामें छेदोपस्थापक होता है। जैसे कोई पुरुष सुवर्णका इच्छुक है, उस पुरुषको सोनेकी कंकण, कुंडल, मुद्रिका, आदि जितनी पर्यायें हैं, वे सब ग्रहण करना कल्याणकारी है, ऐसा नहीं हैं, कि सोना ही ग्रहण योग्य है, उसके भेद—पर्याय ग्रहण योग्य नहीं हो। यदि भेदोंको ग्रहण नहीं करेगा, तो सोनेकी प्राप्ति कहाँसे हो सकती है? क्योंकि सोना तो उन भेदोंस्वरूप ही है, इस कारण सोनेके सब पर्याय-भेद ग्रहण करने योग्य हैं। उसी प्रकार निर्विकल्प सामायिक संयमका जो अभिलाषी है, उसको उस सामायिकके भेद २८ मूलगुण भी ग्रहण करने योग्य हैं, क्योंकि सामायिक इन मूलगुणोंरूप है, इस कारण इन गुणोंमें वह मुनि सावधान होता है, यदि किसी कारणसे कभी भंग होजावे, तो फिर स्थापन करता है॥ ८-९॥ आगे जैसे इस मुनिको दीक्षाके देनेवाले आचार्य होते हैं, उसी प्रकार इसके संयम भंग हुआ हो, तो उपदेश देकर संयमके भेदोंमें फिर स्थापन करे, इस प्रकार भेदका बतलानेवाला दूसरा भी इसका गुरू होता है, यह कहते हैं—[तेषां] पूर्वोक्त

यतो लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसंयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरुः, य पुनरनन्तरं सविकल्पच्छेदोपस्थापनसंयमप्रतिपादकत्वेन छेदं प्रत्युपस्थापकः स निर्यापकः, योऽपि छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानप्रतिपादकत्वेन छेदे सत्युपस्थापकः सोऽपि निर्यापक एव । ततश्छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्ति ॥ १० ॥

अथ छिन्नसयमप्रतिसंधानविधानमुपदिशति—

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि ।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥११॥

गुरुर्भवतीति । स क. । **पव्वज्जदायगो** निर्विकल्पसमाधिरूपपरमसामायिकप्रतिपादको योऽसौ प्रव्रज्यादायक स एव दीक्षागुरु **छेदेसु अ वट्टगा** छेदयोश्च वर्तका ये **सेसा णिज्जावगा समणा** ते शेषाः श्रमणा निर्यापका भवन्ति शिक्षागुरवश्च भवन्तीति । अयमत्रार्थ —निर्विकल्पसमाधिरूपसामायिकस्यैकदेशेन च्युतिरेकदेशच्छेद , सर्वथा च्युति सकलदेशच्छेद इति देशसकलभेदेन द्विधा छेद' । तयोश्छेदयोर्ये प्रायश्चित्त दत्त्वा सवेगवैराग्यजनकपरमागमवचनै संवरण कुर्वन्ति ते निर्यापका' शिक्षागुरव' श्रुतगुरवश्चेति भण्यन्ते । दीक्षादायकस्तु दीक्षागुरुरित्यभिप्राय ॥ १० ॥ अथ पूर्वसूत्रोक्तच्छेदद्वयस्य प्रायश्चित्तविधान कथयति—**पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि जायदि जदि** प्रयताया समारब्धाया छेद· श्रमणस्य कायचेष्टाया जायते यदि चेत् । अथ विस्तरः—छेदो जायते यदि चेत् । स्वस्थभावच्युतिलक्षण छेदो भवति । कस्याम् । कायचेष्टायाम् । कथभूतायाम् । प्रयतायाँ स्वस्वभावलक्षणप्रयत्नपराया समारब्धाया अशनशयनयानस्थानादिप्रारब्धायाम् ।

मुनियोके [**लिङ्गग्रहणे**] मुनिलिङ्ग ग्रहणकी अवस्थामे [**गुरुः**] जो गुरू होता है, वह [**प्रव्रज्यादायक'**] दीक्षाको देनेवाला [**भवति**] होता है, अर्थात् कहा जाता है, [**छेदयो'**] एक देश सर्वदेशके भेदकर जो दो प्रकारके छेद अर्थात् सयमके भेद उनके [**उपस्थापकाः**] उपदेश देकर फिर स्थापन करनेवाले [**शेषाः**] अन्य [**श्रमणा**] यत्याचारमे अति प्रवीण महामुनि है, वे [**निर्यापकाः**] निर्यापकगुरु कहे जाते हैं । **भावार्थ**—प्रथम तो जिस आचार्यके पाससे मुनिपदकी दीक्षा लीजावे, वह गुरू **दीक्षादायक** कहा जाता है, और दीक्षा लेनेके बाद अंतरग एकदेश जो कभी संयमका भग हुआ हो, तो जिस गुरूके उपदेशसे फिर उस सयमकी स्थापना कीजावे, वह गुरू निर्यापक कहा जाता है, अथवा यदि जिस सयमका सर्वथा ही नाश हुआ हो, तो वह सयम जिस गुरूके उपदेशसे फिर अगीकार किया जावे, वह गुरू भी **निर्यापक** कहा जाता है ॥ १० ॥ आगे जो सयमरूप वृक्ष भग हुआ हो, तो उसके जोडनेकी विधि दिखलाते है—[**प्रयतायां**] यत्नपूर्वक [**समारब्धायां**] आरम्भ हुई [**कायचेष्टायां**] शरीरकी क्रियाके होनेपर [**यदि**] जो [**श्रमणस्य**] मुनिके [**छेदः**] सयमका भग [**जायते**] उत्पन्न हो, तो [**पुन**] फिर [**तस्य**] उस मुनिको [**आलोचनपूर्विका क्रिया**] जैसी कुछ यत्याचार ग्रंथोमे आलोचना-क्रिया कही गई है, वैसी ही करनी चाहिये, यह उपाय है । [छेदोप-

छेदपउत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि ।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥ १२ ॥ जुगलं ।

प्रयताया समारब्धाया छेद. श्रमणस्य कायचेष्टायाम् ।
जायते यदि तस्य पुनरालोचनापूर्विका क्रिया ॥ ११ ॥
छेदप्रयुक्त. श्रमण· श्रमण व्यवहारिण जिनमते ।
आसाद्यालोच्योपदिष्टं तेन कर्तव्यम् ॥ १२ ॥ युगलम् ।

द्विविधः किलः संयमस्य छेदः, वहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च । तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो वहिरङ्गः, उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरङ्गः । तत्र यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धायाः कायचेष्टायाः कथंचिद्वहिरङ्गच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथान्तरङ्गच्छेदवर्जितत्वादालोचनपूर्विकया क्रिययैव प्रतीकारः । यदा तु स एवोपयोगाधि-

---

तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया तस्य पुनरालोचनपूर्विका क्रिया । तदा काले तस्य तपोधनस्य स्वस्थभावस्य बहिरङ्गसहकारिकारणभूता प्रतिक्रमणलक्षणालोचनपूर्विका पुन क्रियैव प्रायश्चित्तं प्रतिकारो भवति न चाधिकम् । कस्मादिति चेत् । अभ्यन्तरे स्वस्थभावचलनाभावादिति प्रथमगाथा गता । **छेदपउत्तो समणो** छेदे प्रयुक्त श्रमणो निर्विकारस्वसंवित्तिभावनाच्युतिलक्षणच्छेदेन यदि चेत् प्रयुक्त. सहित श्रमणो भवति । **समण ववहारिण जिणमदम्हि** श्रमणं व्यवहारिण जिनमते तदा जिनमते व्यवहारज्ञ प्रायश्चित्तकुशलं श्रमणं **आसेज्ज** आसाद्य प्राप्य न केवल साद्य **आलोचित्ता** नि प्रपञ्चभावेनालोच्य दोषनिवेदन कृत्वा । **उववि‌ट्ठ तेण कायव्व** उपदिष्ट तेन कर्तव्यम् ।

युक्त श्रमण] अतरग उपयोगरूप यतिपद जिसके भग हुआ हो, ऐसा मुनि **[जिनमते व्यवहारिणं]** वीतराग-मार्गमे व्यवहारक्रियामे चतुर **[श्रमणं]** महामुनिको **[आसाद्य]** प्राप्त होकर **[आलोच्य]** और अपने दोष प्रकाशित करके (कह करके) **[तेन]** उस महामुनिसे **[उपदिष्टं]** उपदेश किया गया, जो मुनिपद भगका दड वह **[कर्तव्य]** करे । **भावार्थ—**सयमका भग दो प्रकार होता है, एक तो वहिरङ्ग दूसरा अतरङ्ग । जो उपयोगके विना शरीर ही की क्रियासे भग हुआ हो, वह वहिरङ्ग है, और जो उपयोगकर भग हुआ हो, वह अतरग है । इस तरह दो प्रकारसे सयमका भग जानना । जो मुनि अतरगमे उपयोगकी निर्मलतासे सयममे सावधान है, और बहिरङ्ग चलना, वैठना, सोना, आदि शरीरकी क्रियाओमे यत्नसे प्रवर्तता है, तथा यत्न करनेपर भी जिसका किसी तरह शरीरमात्र क्रियासे उपयोग विना ही संयमका भग हुआ हो, तो उस मुनिके सर्वथा अतरगमे सयमका भग नही हुआ, किंतु वहाँपर किसी जातिका बहिरङ्गमे उस मुनिके उस सयमके स्थापन करनेका उपाय आलोचनादिक क्रिया है । आलोचनादिक क्रियासे उस दोषकी निवृत्ति होती है, और जो अतरङ्गमे उपयोगसे संयमका घात हुआ हो, तो यह साक्षात् सयमका घात है । वह मुनि इस दोषको दूर करनेके लिये जो आचार्य महामुनि भगवत कथित व्यवहारमार्गमे प्रवीण (चतुर) हो, उसके पास जाकर अपना दोप प्रकाशे, (कहे) आलोचनादि क्रिया करे, और वह आचार्य जो सयमके शुद्ध करनेका उपाय (आचरण) बतलावे, उसको अगीकार

कृतच्छेदत्वेन साक्षाच्छेद एवोपयुक्तो भवति तदा जिनोदितव्यवहारविधिविदग्धश्रमणाश्रयणालोचनपूर्वकतदुपदिष्टानुष्ठानेन प्रतिसधानम् ॥ ११-१२ ॥

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् परद्रव्यप्रतिबन्धा प्रतिषेध्या इत्युपदिशति—

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे ।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥ १३ ॥

अधिवासे वा विवासे छेदविहीनो भूत्वा श्रामण्ये ।
श्रमणो विहरतु नित्य परिहरमाणो निबन्धान् ॥ १३ ॥

सर्व एव हि परद्रव्यप्रतिबन्धा उपयोगोपरञ्जत्वेन निरुपरागोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदायतनानि तदभावादेवाछिन्नश्रामण्यम् । अत आत्मन्येवात्मनो नित्याधि-

---

तेन प्रायश्चित्तपरिज्ञानसहिताचार्येण निर्विकारस्वसवेदनभावनानुकूल यदुपदिष्ट प्रायश्चित्त तत्कर्तव्यमिति सूत्रतात्पर्यम् ॥ ११-१२ ॥ एव गुरुव्यवस्थाकथनरूपेण प्रथमगाथा, तथैव प्रायश्चित्तकथनार्थं गाथाद्वयमिति समुदायेन तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम् । अथ निर्विकारश्रामण्यच्छेदजनकान्परद्रव्यानुबन्धान्निषेधयति—**विहरदु** विहरतु विहार करोतु । स क । **समणो** शत्रुमित्रादिसमचित्तश्रमण **णिच्चं** नित्य सर्वकालम् । किं कुर्वन्सन् । **परिहरमाणो** परिहरन्सन् । कान् । **णिबधाणि** चेतनाचेतनमिश्रपरद्रव्येष्वनुबन्धान् । क्व विहरतु । **अधिवासे** अधिकृतगुरुकुलवासे निश्चयेन स्वकीयशुद्धात्मवासे वा **विवासे** गुरुविरहितवासे वा । किं कृत्वा । **सामण्णे** निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रे **छेदविहूणो भवीय** छेदविहीनो भूत्वा रागादिरहितनिजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रच्युतिरूपच्छेदरहितो भूत्वा । तथाहि—गुरुपार्श्वे यावन्ति शास्त्राणि तावन्ति पठित्वा तद-

---

करे। इस प्रकार फिर सयमको स्थापन करना चाहिये। ऐसे यह अंतरङ्ग बहिरङ्गरूप दो प्रकारकी सयमका छेदोपस्थापन जानना योग्य है ॥ ११-१२ ॥ आगे मुनिपदके भगका कारण परद्रव्योके साथ सबध है, इसलिये परके सबधोका निषेध करते हैं—(**श्रामण्ये**) समताभावरूप यति अवस्थामे (**छेदविहीनो भूत्वा**) अतरग बहिरंग भेदसे दो तरहका जो मुनिपदका भग है, उससे रहित होकर (**नित्यं**) सर्वदा (हमेशा) (**निबन्धान्**) परद्रव्यमे इष्ट अनिष्ट सम्बन्धोके (**परिहरमाणं**) त्यागता हुआ (**अनिवासे**) आत्मामे आत्माको अगीकार कर जहाँ गुरूका वास हो, वहाँपर अर्थात् उन पूज्य गुरुओकी सगतिमे रहे, (**वा**) अथवा (**विवासे**) अथवा उससे दूसरी जगह रहकर (**विहरतु**) व्यवहार कर्म करे। **भावार्थ**—जो मुनि अपने गुरूओके पास रहे, तब तो बहुत अच्छी बात है, अथवा अन्य जगह रहे, तब भी अच्छा है। परतु सब जगह इष्ट अनिष्ट विषयोमे सम्बन्ध (राग द्वेष) का त्याग होना चाहिये, तथा मुनिपदवीके भग होजानेका कारण परद्रव्यके साथ सबध होना ही है, क्योकि परद्रव्यके सबधसे अवश्य ही उपयोग भूमिमे रागभाव होता है, जिस जगह रागभाव है, वहाँपर वीतरागभाव यतिपदका भग होता ही है। इस कारण परद्रव्यके साथ सबध होना उपयोगकी अशुद्धताके कारण हैं। इसलिये परद्रव्य सबध मुनिको सर्वथा निषेध किया है। जब परद्रव्यका सबध मुनिके दूर हो जायगा, तो सहज ही अतरंग सयमका घात न होगा, तभी निर्दोष

कृत्य वासे वा [गुरुत्वेन गुरूनधिकृत्य वासे वा] गुरुभ्यो विशिष्टे वासे वा नित्यमेव प्रतिषेधयन् परद्रव्यप्रतिबन्धान् श्रामण्ये छेदविहीनो भूत्वा श्रमणो वर्तताम् ॥ १३ ॥

अथ श्रामण्यस्य परिपूर्णायतनत्वात् स्वद्रव्य एव प्रतिबन्धो विधेय इत्युपदिशति—

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि ।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥ १४ ॥

चरति निबद्धो नित्य श्रमणो ज्ञाने दर्शनमुखे ।
प्रयतो मूलगुणेषु च य स परिपूर्णश्रामण्य ॥ १४ ॥

एक एव हि स्वद्रव्यप्रतिबन्ध उपयोगमार्जकत्वेन मार्जितोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्यपरिपूर्णतायतनं, तत्सद्भावादेव परिपूर्णं श्रामण्यम् । अतो नित्यमेव ज्ञाने दर्शनादौ

नन्तर गुरु पृष्ट्वा च समशीलतपोधनै सह भेदाभेदरत्नत्रयभावनया भव्यानामानन्द जनयन् तप श्रुतसत्त्वैकत्वसतोपभावनापञ्चक भावयन् तीर्थंकरपरमदेवगणधरदेवादिमहापुरुषाणा चरितानि स्वय भावयन् परेषा प्रकाशयश्च विहरतीति भाव. ॥ १३ ॥ अथ श्रामण्यपरिपूर्णकारणत्वात्स्वशुद्धात्मद्रव्ये निरन्तरमवस्थान कर्तव्यमित्याख्याति—**चरदि** चरति वर्तते । कथभूतः **णिबद्धो** आधीन , **णिच्चं** नित्य सर्वकालम् । स क कर्ता । **समणो** लाभालाभादिसमचित्तश्रमण । क्व निबद्ध । **णाणम्मि** वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमज्ञाने तत्फलभूतस्वसंवेदनज्ञाने वा **दसणमुहम्मि** दर्शन तत्त्वार्थश्रद्धानं तत्फलभूतनिजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्व वा तत्प्रमुखेष्वनन्तसुखादिगुणेषु **पयदो मूलगुणेसु य** प्रणत प्रयत्नपरश्च । केषु । मूलगुणेषु निश्चयमूलगुणाधारपर-

---

मुनिपदकी सिद्धि होगी । इस तरह परद्रव्यके विरक्त वीतरागभावोमे लीन मुनि कही भी रहे, चाहे गुरुके पास रहे, अथवा अन्य जगह रहे, सभी जगह वह निर्दोष है, और जो परभावोमे रागी द्वेषी होता है, वह सब जगह सयमका घाती होता है, तथा महा सदोषी है । इसलिये परद्रव्यके सम्बन्ध मुनिको सर्वथा निषेध किये गये हैं ॥ १३ ॥ आगे मुनिपदकी पूर्णताका कारण अपने आत्माका सम्बन्ध है, इसलिये आत्मामे लीन होना योग्य है, यही कहते हैं—**(यः)** जो **(श्रमणः)** मुनि **(दर्शनमुखे)** सम्यक् दर्शन आदि अनतगुण सहित **(ज्ञाने)** ज्ञानस्वरूप आत्मामे **(नित्य)** हमेशा **(चरति)** प्रवृत्त (लीन) होता है, **(सः)** वह **(मूलगुणेषु)** २८ मूलगुणोमे **(प्रयत)** सावधान होकर उद्यमी हुआ **(परिपूर्णश्रामण्यः)** अतरङ्ग बाह्य सयम भगसे रहित अखंडित यतिपदवी अर्थात् परिपूर्ण मुनिपदका धारक होता है । **भावार्थ**—अपने आत्मामें जो रत (लीन) होना, वह परिपूर्ण मुनिपदवीका कारण है, क्योकि जब यह अपनेमे रत होता है, तभी इसके परद्रव्यमें ममत्व भाव छूटता है, और जिस अवस्थामे यह परद्रव्यसे विरक्त हुआ, कि वही इसका उपयोग भी निर्मल हो जाता है, जिस जगह उपयोगकी निर्मलता है, वहां अवश्य ही मुनिपदकी सिद्धि होती है। इसलिये

च प्रतिबद्धेन मूलगुणप्रयततया चरितव्यं ज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मद्रव्यप्रतिबद्धशुद्धास्तित्वमात्रेण वर्तितव्यमिति तात्पर्यम् ॥ १४ ॥

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् यतिजनासन्नः सूक्ष्मपरद्रव्यप्रतिबन्धोऽपि प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा ।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥१५॥

भक्ते वा क्षपणे वा आवसथे वा पुनर्विहारे वा ।
उपधौ वा निबद्ध नेच्छति श्रमणे विकथायाम् ॥ १५ ॥

श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुमात्रत्वेनादीयमाने भक्ते तथाविधशरीरवृत्त्यविरोधेन शुद्धात्मद्रव्यनीरङ्गनिस्तरङ्गविश्रान्तिसूत्रणानुसारेण प्रवर्तमाने क्षपणे नीरङ्गनिस्तरङ्गान्तरङ्गद्रव्यप्रसिद्धचर्थमध्यास्यमाने गिरीन्द्रकन्दरप्रभृतावावसथे यथोक्तशरीरवृत्तिहेतुमार्गणार्थमारभ्यमाणे विहारकर्मणि श्रामण्यपर्यायसह-

---

मात्मद्रव्ये वा **जो सो पडिपुण्णसामण्णो** य एव गुणविशिष्टश्रमण स परिपूर्णश्रामण्यो भवतीति । अयमत्रार्थ —निजशुद्धात्मभावनारतानामेव परिपूर्णश्रामण्य भवतीति ॥ १४ ॥ अथ श्रामण्यच्छेदकारणत्वात्प्रासुकाहारदिष्वपि ममत्व निषेधयति—**णेच्छदि** नेच्छति । कम् । **णिबद्ध** निबद्धमाबद्धम् । क्व । **भत्ते वा** शुद्धात्मभावनासहकारिभूतदेहस्थितिहेतुत्वेन गृह्यमाणे भक्ते वा प्रासुकाहारे **खमणे वा** इन्द्रियदर्पविनाशकारणभूतत्वेन निर्विकल्पसमाधिहेतुभूते क्षपणे वानशने **आवसधे वा** परमात्मतत्त्वोपलब्धिसहकारिभूते गिरिगुहाद्यावसथे वा **पुणो विहारे वा** शुद्धात्मभावनासहकारिभूताहार-

---

आत्मामे रत होना परिपूर्ण मुनिपदका कारण है । ऐसा समझकर अपने ज्ञान दर्शनादि अनत गुणोमे अपना सर्वस्व जान रत होना योग्य है, और अट्ठाबीस मूलगुणोमे यत्नसे प्रवृत्त होना योग्य है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि मुनिपदकी पूर्णता एक आत्मामे लीन होनेसे ही होती है, इस कारण अन्य परद्रव्यका सम्बन्ध त्यागना ही योग्य है ॥ १४ ॥ आगे मुनिके निकटमे यद्यपि सूक्ष्म परद्रव्य भी है, तथापि उनमे मुनिको रागभावपूर्वक सम्बन्ध निषिद्ध है, यह कहते हैं—जो महामुनि है, वह (**भक्ते**) आहारमे (**वा**) अथवा (**क्षपणे**) इन्द्रियोको उत्तेजित न होने देनेका कारण तथा निर्विकल्प समाधिके कारणभूत अनशनमे (**वा**) अथवा (**आवसथे**) गुफा आदिक निवासस्थलमे (**वा पुन**) अथवा (**विहारे**) विहार-कार्यमे (**वा**) अथवा (**उपधौ**) शरीरमात्र परिग्रहमे (**वा**) अथवा (**श्रमणे**) दूसरे मुनियोमे (**वा**) अथवा (**विकथायां**) अधर्म-चर्चामे (**निबन्ध**) ममत्वपूर्वक सम्बन्धको (**न**) नही (**इच्छति**) चाहता है । **भावार्थ**—मुनिपदका निमित्तकारण शरीर है, और शरीरका आधार आहार है, इसलिये उसको मुनि ग्रहण करते हैं, और अपनी शक्तिके अनुसार शुद्धात्मामे निश्चल स्थिरताके निमित्तभूत उपवासको स्वीकार करते है, और मनकी चचलताको रोकनेके लिये एकान्त पर्वतकी गुफादिकके निवासको, तथा शरीरकी प्रवृत्तिके लिये आहार नीहार क्रियामे विहारकार्यको भी करते है, और उनके मुनिपदवीका निमित्तकारण

कारिकारणत्वेनाप्रतिषिध्यमाने केवलदेहमात्रे उपधौ अन्योन्यबोध्यबोधकभावमात्रेण कथंचित्परिचिते श्रमणे शब्दपुद्गलोल्लाससंवलनकश्मलितचिद्भित्तिभागायां शुद्धात्मद्रव्यविरुद्धायां विकथायां चैतेष्वपि तद्विकल्पाचित्रितचित्तभित्तितया प्रतिषेध्यः प्रतिबन्धः ॥ १५ ॥

अथ को नाम छेद इत्युपदिशति—

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु ।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा ॥१६॥

अप्रयता वा चर्या शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिषु ।
श्रमणस्य सर्वकाले हिंसा सा संततेति मता ॥ १६ ॥

अशुद्धोपयोगो हि छेदः, शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात् तस्य हिंसनात्

नीहारार्थव्यवहारार्थव्यवहारे वा । पुनर्देशान्तरविहारे वा **उवधिम्हि** शुद्धोपयोगभावनासहकारिभूतशरीरपरिग्रहे ज्ञानोपयोगकरणादौ वा **समणम्हि** परमात्मपदार्थविचारसहकारिकारणभूते श्रमणे समशीलसंघातकतपोधने वा । **विकधम्हि** परमसमाधिविघातश्रृङ्गारवीररागादिकथाया चेति । अयमत्रार्थः—आगमविरुद्धाहारविहारादिषु तात्त्वत्पूर्वमेव निषिद्ध । योग्याहारविहारादिष्वपि ममत्व न कर्तव्यमिति ॥ १५ ॥ एवं संक्षेपेणाचाराराधनादिकथिततपोधनविहारव्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम् । अथ शुद्धोपयोगभावनाप्रतिबन्धकच्छेद कथयति—**मदा** मता समता । का । हिंसा शुद्धोपयोगलक्षणश्रामण्यछेदकारणभूता हिंसा । कथंभूता । **संतत्तिय त्ति** संतता निरन्तरेति । का हिंसा मता । **चरिया** चर्या चेष्टा यदि चेत् । कथंभूता । **अपयत्ता वा** अप्रयत्ना

शरीरमात्र परिग्रह भी है, तथा गुरु शिष्यके भेदसे पठन-पाठन अवस्थामे दूसरे मुनियोका सम्बन्ध भी है, और शुद्धात्म द्रव्यकी विरोधिनी पौद्गलिक शब्दोके द्वारा कथा चर्चा भी है। यद्यपि मुनिके परद्रव्यरूप परिग्रह है, तथापि इनमें ममत्वबुद्धिरूप चित्तवृत्तिका निषेध हैं। यद्यपि मुनिने स्थूल परद्रव्यका त्याग तो प्रथम ही कर दिया है, तथापि मुनिपदमे भी इस प्रकारके सूक्ष्म परद्रव्यके अस्तित्वमे ममत्वभाव नही करना चाहिये, क्योकि इनमे भी ममत्व भाव करनेसे शुद्धात्म द्रव्यवृत्तिरूप मुनिपदका भग हो जाता है। इसलिये सूक्ष्म परद्रव्योमे भी सम्बन्ध करनेका निषेध है ॥ १५ ॥ आगे शुद्धोपयोगरूप यतित्वका मुनिके कौनसा भग है, इस बातको बताते हैं—**(वा)** अथवा **(श्रमणस्य)** मुनिके **(शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिषु)** सोने, बैठने, खडे होने, चलने आदि अनेक क्रियाओमे **(या)** जो **(अप्रयता)** यत्न रहित **(चर्या)** प्रवृत्ति होती है, **(सा)** वह **(सर्वकाले)** हमेश **(सतता)** अखण्डित **(हिंसा)** चैतन्य प्राणोका विनाश करनेवाली हिंसा है, **(इति)** इस प्रकार **(मता)** वीतराग सर्वज्ञदेवने कही है। **भावार्थ**—सयमका घात ही अशुद्ध उपयोग है, क्योकि मुनिपद शुद्धोपयोगरूप है। अशुद्धोपयोगसे मुनिपदका नाश होता है, और अशुद्धोपयोगका होना यही हिंसा है, सबसे बडी हिंसा ज्ञानदर्शनरूप शुद्धोपयोगके घातसे ही होती है। वह अशुद्धोपयोग मुनिके निरंतर उस समय ही समझना चाहिये, जिस समय मुनि

स एव च हिंसा । अतः श्रमणस्याशुद्धोपयोगाविनाभाविनी शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिष्वप्रयता या चर्या सा खलु तस्य सर्वकालमेव संतानवाहिनी छेदानर्थान्तरभूता हिंसैव ॥ १६ ॥

अथान्तरङ्गबहिरङ्गत्वेन छेदस्य द्वैविध्यमुपदिशति—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ १७ ॥

म्रियतां वा जीवतु वा जीवोऽयताचारस्य निश्चिता हिंसा ।
प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितस्य ॥ १७ ॥

अशुद्धोपयोगोऽन्तरङ्गच्छेदः, परप्राणव्यपरोपो बहिरङ्गः । तत्र परप्राणव्यपरोपसद्भावे तदसद्भावे वा तदविनाभाविनाप्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भा-

---

वा नि.कषायस्वसंवित्तिरूपप्रयत्नरहिता सक्लेशसहितेत्यर्थः । केषु विषयेषु । **सयणासणठाणचंकमादीसु** शयनासनस्थानचङ्क्रमणस्वाध्यायतपश्चरणादिषु । कस्य । **समणस्स** श्रमणस्य तपोधनस्य । क्व । **सव्वकाले** सर्वकाले । अयमत्रार्थः—बाह्यव्यापाररूपाः शत्रवस्तावत्पूर्वमेव त्यक्त्वा तपोधनैः अशनशयनादिव्यापार पुनस्त्यक्तो नायाति । ततः कारणादन्तरङ्गक्रोधादिशत्रुनिग्रहार्थं तत्रापि सक्लेशो न कर्तव्य इति ॥ १६ ॥ अथान्तरङ्गबहिरङ्गहिंसारूपेण द्विविधच्छेदमाख्याति—**मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा** म्रियतां वा जीवतु वा जीव. प्रयत्नरहितस्य निश्चिता हिंसा भवति बहिरङ्गान्यजीवस्य मरणेऽमरणे वा निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणप्रयत्नरहितस्य निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणव्यपरोपणरूपा निश्चयहिंसा भवति । **पयदस्स णत्थि बंधो** बाह्याभ्यन्त-

---

सोना, बैठना, चलना, इत्यादि क्रियाओमे यत्नपूर्वक प्रवृत्ति नही करते । यत्नके विना मुनिकी क्रिया अट्ठाईस मूलगुणकी घातिनी है । यत्न उस ही समयमे नही होता, जिस समयमे उपयोगकी चचलता होती है, यदि उपयोगकी चचलता न हो, तो यत्न अवश्य हो । इसलिये उपयोगकी जो निश्चलता है, वही शुद्धोपयोग है । यत्न सहित क्रियासे भग नही होता, और यत्न रहित क्रियासे भंग होता है, इसलिये यह बात सिद्ध हुई, कि मुनिकी जो यत्न रहित क्रियाओमे प्रवृत्ति है, वह सब निरंतर शुद्धोपयोगरूप सयमकी घातनेवाली हिंसा ही है, इसलिये मुनिको यत्नसे रहना योग्य है ॥ १६ ॥ आगे अन्तरङ्ग बहिरङ्गके भेदसे सयमके घातके भी दो भेद हैं, यह दिखाते हैं—(**जीव**) दूसरा जीव, (**म्रियतां वा**) मरे, (**जीवतु वा**) अथवा जीवित रहे, (**अयताचारस्य**) जिस मुनिका आचार यत्नपूर्वक नही है, उसके (**हिंसा**) हिंसा (**निश्चिता**) निश्चित है, क्योकि (**समितस्य**) पाँचो समितियोमे (**प्रयतस्य**) यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले मुनिके (**हिंसामात्रेण**) बाह्यमे जीवके घातके होने मात्रसे (**बन्धः**) बन्ध (**नास्ति**) नही होता । **भावार्थ**—हिंसा दो प्रकारकी है, एक अन्तरङ्ग और दूसरी बहिरङ्ग, ज्ञानप्राणकी घात करनेवाली अशुद्धोपयोगरूप प्रवृत्तिको 'अन्तरङ्गहिंसा' कहते हैं । बाह्यजीवके प्राणोका घात करनेको 'बहिरङ्गहिंसा' कहते हैं । इन दोनोंमे अन्तरङ्गहिंसा बलवती है । क्योकि बाह्यमे दूसरे जीवका घात हो, या न हो, किन्तु यदि

वस्य सुनिश्चितहिंसाभावप्रसिद्धेस्तथा तद्विनाभाविना प्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगासद्भावपरस्य परप्राणव्यपरोपसद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्ध्या सुनिश्चितहिंसाऽभावप्रसिद्धेश्चान्तरङ्ग एव छेदो बलीयान् न पुनर्बहिरङ्गः। एवमप्यन्तरङ्गच्छेदायतनमात्रत्वाद्बहिरङ्गच्छेदोऽभ्युगम्येतैव ॥ १७ ॥

अथ सर्वथान्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥ १८ ॥

रप्रयत्नपरस्य नास्ति बन्ध। केन। **हिंसामेत्तेण** द्रव्यहिंसामात्रेण। कथभूतस्य पुरुषस्य। **समिदस्स** समितस्य शुद्धात्मस्वरूपे सम्यगितो गत परिणत समितस्तस्य समितस्य। व्यवहारेणेर्यादिपञ्चसमितियुक्तस्य च। अयमत्रार्थ.—स्वस्वभावनानिरूपनिश्चयप्राणस्य विनाशकारणभूता रागादिपरिणतिर्निश्चयहिंसा हिंसा भण्यते रागाद्युत्पत्तेर्बहिरङ्गनिमित्तभूत परजीवघातो व्यवहारहिंसेति द्विधा हिंसा ज्ञातव्या। किंतु विशेष—बहिरङ्गहिंसा भवतु वा मा भवतु स्वस्वभावनारूपनिश्चयप्राणघाते सति निश्चयहिंसा नियमेन भवतीति। तत कारणात्सैव मुख्येति ॥ १७ ॥ अथ तमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्या दृढयति—

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥ *१ ॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये।
मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्पपमाणदो विट्ठो ॥ *२ ॥ जुम्म।

उच्चालियम्हि पाए उत्क्षिप्ते चालिते सति पादे। कस्य। **इरियासमिदस्स** ईर्यासमितितपोधनस्य। क्व। **णिग्गमत्थाए** विवक्षितस्थानान्निर्गमस्थाने **आबाधेज्ज** आबाध्येत पीड्येत। स क।

मुनिके यत्नरहित हलन चलनादि क्रिया हो, तो उस मुनिके यत्न रहित आचारसे अवश्यमेव उपयोगकी चचलता होती है। अतएव अशुद्धोपयोगके होनेसे आत्माके चैतन्य प्राणका घात होता है, इसी लिये हिंसा अवश्यमेव है, और यदि मुनि यत्नसे पाँच समितियोमे प्रवृत्ति करे, तो वह मुनि उपयोगकी निश्चलतासे शुद्धोपयोगरूप संयमका रक्षक होता है। इसलिये बाह्यमे कदाचित् दूसरे जीवका घात भी हो, तब भी अन्तरङ्ग अहिंसक भावके बलसे बन्ध नही होता। इसलिये शुद्धोपयोगरूप सयमकी घातनेवाली अन्तरङ्गहिंसा ही बलवती है। अन्तरङ्गहिंसासे अवश्य ही बन्ध होता है। किन्तु बाह्यहिंसासे बन्ध होता भी है, और नही भी होता है। यदि यत्न करनेपर भी बाह्यहिंसा हो जाय, तो बन्ध नही होता, और जो यत्न न हो, तो अवश्य ही बाह्यहिंसा बन्धका कारण होती है, और बाह्यहिंसाका जो निषेध किया है, सो भी अन्तरङ्गहिंसाके निवारण करनेके लिये ही किया है। इसलिये अन्तरङ्गहिंसा त्याज्य है, और शुद्धोपयोगरूप अहिंसकभाव उपादेय है ॥ १७ ॥ आगे सर्वथा अन्तरङ्ग शुद्धोपयोगरूप सयमका घात निषेध करने योग्य है, यह कहते हैं—(अयताचारः) जिसके यत्नपूर्वक आचार क्रिया नही, ऐसा (श्रमण) जो मुनि वह

अयताचार श्रमण षट्स्वपि कायेषु वधकर इति मत. ।
चरति यत यदि नित्यं कमलमिव जले निरुपलेप ॥ १८ ॥

यतस्तदविनाभाविना अप्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावः षट्काय-प्राणव्यपरोप्रत्ययबन्धप्रसिद्ध्या हिंसक एव स्यात् । यतश्च तद्विनाभाविना प्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगासद्भावः परप्रत्ययबन्धलेशस्याप्यभावाज्जलदुर्ललितं

कुलिंगं सूक्ष्मजन्तु न केवलमाबाध्येत **मरिज्ज** म्रियता वा । किं कृत्वा । **तं जोगमासेज्ज** तं पूर्वोक्त पादयोग पादसघट्टनमाश्रित्य प्राप्येति । **ण हि तस्स तण्णिमित्तो बधो सुहुमो य देसिदो समये** न हि तस्य तन्निमित्तो बन्ध सूक्ष्मोऽपि देशित समये तस्य तपोधनस्य तन्निमित्तं सूक्ष्मजन्तुघात-निमित्तो बन्ध. सूक्ष्मोऽपि स्तोकोऽपि नैव दृष्टः समये परमागमे । दृष्टान्तमाह—**मुच्छा परिग्गहो च्चिय** मूर्च्छापरिग्रहश्चैव **अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो** अध्यात्म दृष्टमिति । अयमत्रार्थः—'मूर्च्छा परिग्रह' इति सूत्रे यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादिपरिणामानुसारेण परिग्रहो भवति न च बहिरङ्गपरिग्रहानुसारेण तथात्र सूक्ष्मजन्तुघातेऽपि यावतांशेन स्वस्वभावचलनरूपा रागादिपरिणतिलक्षणभावहिंसा तावतांशेन बन्धो भवति, न च पादसघट्टमात्रेण तस्य तपोधनस्य रागादिपरिणतिलक्षणभावहिंसा नास्ति । तत करणाद्बन्धोऽपि नास्तीति ॥ १-२ ॥ अथ निश्चयहिंसारूपोऽन्तरङ्गच्छेद सर्वथा प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—**अयदाचारो** निर्मलात्मानुभूतिभावनालक्षणप्रयत्नरहितत्वेन अयताचारः प्रयत्नरहित । स क । **समणो** श्रमणस्तपोधन **छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो** षट्स्वपि कायेषु वधकरो हिंसाकर इति मत समतः कथितः । **चरदि** आचरति वर्तते । कथ यथा भवति । **जद** यत यत्नपर **जदि** यदि चेत् **णिच्च** नित्य सर्वकाल तदा **कमल व जले णिरुवलेवो** कमलमिव जले निरुपलेप इति । एतावता किमुक्त भवति—शुद्धात्मसवित्तिलक्षण-

---

(**षट्स्वपि**) छहो (**कायेषु**) पृथिवी आदि कायोमे (**बन्धक.**) बन्धका करनेवाला है, (**इति**) ऐसा (**मत.**) सर्वज्ञदेवने कहा है। (**यदि**) यदि (**नित्यं**) हमेश (**यत**) यति क्रियामे यत्नका (**चरति**) आचरण करता है, (**तदा**) तो वह मुनि (**जले**) जलमे (**कमलम्**) कमलकी (**इव**) तरह (**निरुपलेप.**) कर्मबन्धरूप लेपसे रहित है। **भावार्थ**—जिस समय उपयोग रागादिभावसे दूषित होता है, उस समय अवश्यमेव यति क्रियामे शिथिल होकर गुणोमे यत्न रहित होता है। यहां यत्न रहित क्रिया होती है, वहाँ अवश्यमेव अशुद्धोपयोगका अस्तित्व है। यत्न रहित क्रियासे षट्कायकी विराधना होती है। इससे अशुद्धोपयोगी मुनिके हिंसकभावसे बन्ध होता है। जब मुनिका उपयोग रागादि भावसे रजित न हो, तब अवश्य ही यति क्रियामे सावधान होता हुआ यत्नसे रहता है, उस समय शुद्धोपयोगका अस्तित्व होता है, और यत्नपूर्वक क्रियासे जीवकी विराधनाका इसके अंश भी नही है। अतएव अहिंसकभावसे कर्मलेपसे रहित है, और यदि यत्न करते हुए भी कदाचित् परजीवका घात होजाय, तो भी शुद्धोपयोगरूप अहिंसकभावके अस्तित्वसे कर्मलेप नही लगता। जिस प्रकार कमल यद्यपि जलमे डूबा रहता है, तथापि अपने अस्पृश्य स्वभावसे निर्लेप ही है, उसी तरह यह मुनि भी होता है। इसलिये जिन जिन भावोसे शुद्धोपयोगरूप अन्तरग-

कमलमिव निरुपलेपत्वप्रसिद्धेरहिंसक एव स्यात् । ततस्तैस्तैः सर्वैः प्रकारैरशुद्धोपयोगरूपोऽन्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्यो यैर्यैस्तदायतनमात्रभूतः परप्राणव्यपरोपरूपो बहिरङ्गच्छेदो दूरादेव प्रतिषिद्धः स्यात् ॥ १८ ॥

अथैकान्तिकान्तरङ्गच्छेदत्वादुपधिस्तद्वत्प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि ।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥ १९ ॥

भवति वा न भवति बन्धो मृते जीवेऽथ कायचेष्टायाम् ।
बन्धो ध्रुवमुपधेरिति श्रमणास्त्यक्तवन्तः सर्वम् ॥ १९ ॥

यथा हि कायव्यापारपूर्वकस्य परप्राणव्यपरोपस्याशुद्धोपयोगसद्भावासद्भावाभ्यामनैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमनैकान्तिकमिष्टं, न खलु तथोपधेः, तस्य सर्वथा

शुद्धोपयोगपरिणतपुरुष षड्जीवकुले लोके विचरन्नपि यद्यपि वहिरङ्गद्रव्यहिंसामात्रमस्ति तथापि निश्चयहिंसा नास्ति । तत कारणाच्छुद्धपरमात्मभावनाबलेन निश्चयहिंसैव सर्वतात्पर्येण परिहर्तव्येति ॥ १८ ॥ अथ बहिरङ्गजीवघाते बन्धो भवति न भवति वा परिग्रहे सति नियमेन भवतीति प्रतिपादयति—**हवदि व ण हवदि बधो** भवति वा न भवति बन्धः कस्मिन्सति **मदम्हि** जीवे मृते सत्यन्यजीवे । **अध** अहो । कस्या सत्याम् । **कायचेट्ठम्हि** कायचेष्टायाम् । तर्हि कथ बन्धो भवति । **बधो ध्रुवमुवधीदो** बन्धो भवति ध्रुव निश्चितम् । कस्मादुपधे. परिग्रहात्सकाशादिति हेतो **समणा**

सयमका सर्वथा घात हो, उन भावोका निषेध है, और अन्तरंगसयमके घातका कारण. परजीवकी बाधारूप बहिरगसयमका भी घात सर्वथा त्याज्य है ॥ १८ ॥ आगे सर्वथा अन्तरंगसयमका घातक होनेसे मुनिको परिग्रहका सर्वथा निषेध करते हैं— [अथ] आगे अर्थात् मुनिको परिग्रहसे संयमका घात दिखाते हैं, कि [कायचेष्टायां] मुनिकी हलन चलन क्रियाके होनेसे [जीवे] त्रस स्थावर जीवके [मृते सति] मरनेपर [हि] निश्चयसे [बन्धः] कर्मलेप [भवति] होना है, [वा] अथवा [न] नही भी [भवति] होता है । किन्तु [उपधे] परिग्रहसे [बन्ध] बन्ध [ध्रुवं] निश्चयसे होता ही है । [इति] ऐसा जानकर [श्रमणा.] महामुनि अरहतदेव [सर्वं] समस्त ही परिग्रहको पहले ही [त्यक्तवन्त] छोडते हैं । **भावार्थ**—मुनिके हलन चलनादि क्रियासे परजीवका जो घात होता है, उस घातसे मुनिके सर्वथा बन्ध नही होता, होता भी है, और नही भी होता है, यहाँ अनेकान्त है, एक नियम नही । क्योकि यदि अन्तरग शुद्धोपयोग है, तो बन्ध नही होता। इसलिये बाह्य परप्राण घातसे शुद्ध अशुद्ध उपयोगके होने या न होनेसे बन्ध होता भी है, और नही भी होता है। मुनिके परजीवके घातसे बन्ध होवे भी, और न भी होवे, परन्तु यदि मुनि परिग्रहका ग्रहण करें, तो बन्ध होवे भो न भी होवे, ऐसा नही है । किन्तु निश्चयसे बन्ध होता है। क्योकि परिग्रह के ग्रहणसे सर्वथा अशुद्धोपयोग होना है । अत अन्तरंगसयमका घात होनेसे बन्ध निश्चित है। अन्तरग अभिलाषाके विना परिग्रहका ग्रहण कदाचित् नही होता, अन्तरगभावके विना शरीरकी

तदविनाभावित्वप्रसिद्धचदैकान्तिकाशुद्धोपयोगसद्भावस्यैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमैकान्तिकमेव । अत एव भगवन्तोऽर्हन्तः परमाः श्रमणाः स्वयमेव [प्रागेव] सर्वमेवोपधिं प्रतिषिद्धवन्तः । अत एव चापरैरप्यन्तरङ्गच्छेदवत्तदनान्तरीयकत्वात्प्रागेव सर्व एवोपधिः प्रतिषेध्यः ॥ १९ ॥

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त-
मेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि ।
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं
निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ॥

छड्डिया सव्वं श्रमणा महाश्रमणा सर्वज्ञा पूर्वं दीक्षकाले शुद्धबुद्धैकस्वभावं निजात्मानमेव परिग्रहं कृत्वा शेष समस्तं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं छर्दितवन्त । एवं ज्ञात्वा शेषतपोधनैरपि निजपरमात्मपरिग्रहं स्वीकारं कृत्वा शेष. सर्वोऽपि परिग्रहो मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यजनीय इति । अत्रेदमुक्तं भवति—शुद्धचैतन्यरूपनिश्चयप्राणे रागादिपरिणामरूपनिश्चयहिंसया पातिते सति नियमेन बन्धो भवति । परजीवघाते पुनर्भवति वा न भवतीति नियमो नास्ति, परद्रव्ये ममत्वरूपमूर्च्छापरिग्रहेण तु नियमेन भवत्येवेति ॥ १९ ॥ एवं भावहिंसाव्याख्यानमुख्यत्वेन पञ्चमस्थले गाथाषट्कं गतम् । इति पूर्वोक्तक्रमेण 'एव पणमिय सिद्धे' इत्याद्येकविंशतिगाथाभिः स्थलपञ्चकेनोत्सर्गचारित्रव्याख्याननामा प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्त । अतःपरं चारित्रस्य देशकालापेक्षयापहृतसंयमरूपेणापवादव्याख्यानार्थं पाठक्रमेण त्रिंशद्गाथाभिर्द्वितीयोऽन्तराधिकारः प्रारभ्यते ॥ तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति, तस्मिन्प्रथमस्थले निर्ग्रन्थमोक्षमार्गस्थापनामुख्यत्वेन 'ण हि णिरवेक्खो चागो' इत्यादि गाथापञ्चकम् । अत्र टीकाया गाथात्रयं नास्ति । तदनन्तरं सर्वसावद्यप्रत्याख्यानलक्षणसामायिकसंयमासमर्थाना यतीनां संयमशौचज्ञानोपकरणनिमित्तमपवादव्याख्यानमुख्यत्वेन

क्रियासे यत्न करते हुए परजीवका घात हो भी जाय, परन्तु परिग्रहका ग्रहण अन्तरंगभाव विना शरीरकी चेष्टासे कदाचित् नहीं होता । इसलिये ऐसा जानकर ही भगवान् वीतरागदेव परिग्रहका सर्वथा त्याग करते हैं, और दूसरे मुनियोंको भी यही चाहिये, कि वे भी समस्त परिग्रहका त्याग करें । शुद्धोपयोगरूप अन्तरंगसंयमका घात करो, या परिग्रहका ग्रहण करो, ये दोनों समान हैं । संयमके घातक दोनों हैं । इसलिये मुनिको चाहिये, कि जिस प्रकार अन्तरंगसंयमके घातका निषेध करे, उसी प्रकार परिग्रहको सबसे पहले छोड़ दे । बहुत कहाँतक कहें, जो समझनेवाला है, वह थोड़े ही में समझ जाता है, और जो समझनेवाला न होवे, तो उसको जितना वचनका विस्तार दिखाया जाय, वह सब ही मोहका समूह अपार वागजल होता है, अर्थात् किसी प्रकार भी वह समझता नहीं ॥ १९ ॥ आगे अन्तरंगभावसे जो बाह्यपरिग्रहका त्याग है, वह अन्तरंग शुद्धोपयोगरूप संयमके घातका निषेधक नहीं है, ऐसा उपदेश करते हैं—यदि [**निरपेक्ष.**] परिग्रहकी अपेक्षासे सर्वथा रहित [**त्यागः**] परिग्रहका त्याग [**न**] न होय तो [**हि**] निश्चयसे [**भिक्षोः**] मुनिके [**आशयविशुद्धिः**] चित्तकी निर्मलता [**न**] नहीं [**भवति**] होती है, [**च**] और [**चित्ते**] ज्ञानदर्शनोपयोगरूप परिणामोंमे [**अविशुद्धस्य**] जो समल है, उस मुनिके [**कथं**] किस प्रकार [**नु**] भला [**कर्मक्षयः**]

अथान्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एवायमुपधिप्रतिषेध इत्युपदिशति—

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ ॥२०॥

न हि निरपेक्षस्त्यागो न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः।
अविशुद्धस्य च चित्ते कथं नु कर्मक्षयो विहितः ॥ २० ॥

न खलु बहिरङ्गसंगसद्भावे तुषसद्भावे तण्डुलगताशुद्धत्वस्येवाशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरङ्गच्छेदस्य प्रतिषेधसद्भावे च न शुद्धोपयोगमूलस्य केवलस्योपलम्भः। ततोऽशुद्धोपयोगस्यान्तरङ्गच्छेदस्य प्रतिषेधं प्रयोजनमपेक्ष्योपधेर्विधीयमानः प्रतिषेधोऽन्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ॥ २० ॥

'छेदो जेण ण विज्जदि' इत्यादि सूत्रत्रयम्। तदनन्तरं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणप्रधानत्वेन 'पेच्छदि ण हि इह लोगं' इत्याद्येकादश गाथा भवन्ति। ताश्चामृतचन्द्रटीकायां न सन्ति। ततः परं सर्वोपेक्षासंयमसमर्थस्य तपोधनस्य देशकालापेक्षया किंचित्संयमसाधकशरीरस्य निरवद्याहारादिसहकारिकारणं ग्राह्यमिति पुनरप्यपवादविशेषव्याख्यानमुख्यत्वेन 'उवयरणं जिणमग्गे' इत्याद्येकादशगाथा भवन्ति। अत्र टीकायां गाथाचतुष्टयं नास्ति। एवं मूलसूत्राभिप्रायेण त्रिंशद्गाथाभिः टीकापेक्षया पुनर्द्वादशगाथाभिः द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका। तथाहि—अथ भावशुद्धिपूर्वकबहिरङ्गपरिग्रहपरित्यागे कृते सति अभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागः कृत एव भवतीति निर्दिशति—**ण हि णिरवेक्खो चागो** न हि निरपेक्षस्त्यागः यदि चेत् परिग्रहत्यागः सर्वथा निरपेक्षो न भवति किंतु किमपि वस्त्रपात्रादिकं ग्राह्यमिति भवता भण्यते तर्हि हे शिष्य **ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी** न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः तदा सापेक्षपरिणामे सति भिक्षोस्तपोधनस्य चित्तशुद्धिर्न भवति **अविसुद्धस्स य चित्ते** शुद्धात्मभावनारूपशुद्धिरहितस्य तपोधनस्य चित्ते मनसि हि स्फुटं **कहं तु कम्मक्खओ विहिओ** कथं तु कर्मक्षयो विहितः उचितो न कथमपि। अनेनैतदुक्तं भवति—यथा बहिरङ्गतुषसद्भावे सति तण्डुलस्याभ्यन्तरशुद्धिं कर्तुं नायाति तथा विद्यमानेऽविद्यमाने वा बहिरङ्गपरिग्रहेऽभिलाषे सति निर्मलशुद्धात्मानुभूतिरूपा चित्तशुद्धिं कर्तुं नायाति। यदि पुनर्विशिष्टवैराग्यपूर्वकपरिग्रहत्यागो भवति तदा चित्तशुद्धिर्भवत्येव ख्यातिपूजालाभनिमित्तत्यागे तु न भवति ॥ २० ॥

समस्त कर्मका नाश [विहितः] हो सकता है ? नहीं हो सकता। **भावार्थ**—जो मुनिके बाह्य परिग्रह तिल तुसमात्र भी हो, तो अन्तरंगमें शुद्धोपयोगरूप संयमका घात अवश्य होता है, उतने ही परिग्रहसे अशुद्ध भाव अवश्य होते हैं। जिस प्रकार चाँवलके ऊपर तुसके (छिलके) होनेसे चाँवलमें अवश्य आरक्त (ललाई लिये हुए) मल होता है, उस ही प्रकार मुनिके किंचित्मात्र भी बाह्य परिग्रहके होनेसे अभ्यन्तरमें निश्चयसे अशुद्ध भाव होते हैं। जिस मुनिके कुछ भी परिग्रह है, उसके शुद्धोपयोग नहीं होता, जहाँ शुद्धोपयोग नहीं, वहाँ केवलपदकी प्राप्ति कहाँसे होवे। इसलिये जो कोई अशुद्धोपयोगरूप असंयम भावको छोड़ना चाहे, वह पुरुष बाह्य परिग्रहका सर्वथा

अथैकान्तिकान्तरङ्गच्छेदत्वमुपधिविस्तरेणोपदिशति—

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥ २१ ॥

कथं तस्मिन्नास्ति मूर्च्छा आरम्भो वा असंयमस्तस्य ।
तथा परद्रव्ये रतः कथमात्मानं प्रसाधयति ॥ २१ ॥

उपधिसद्भावे हि ममत्वपरिणामलक्षणाया मूर्च्छायास्तद्विषयकर्मप्रक्रमपरिणामलक्षणस्यारम्भस्य शुद्धात्मरूपहिंसनपरिणामलक्षणस्यासंयमस्य वावश्यं भावित्वात्त-

---

अथ तमेव परिग्रहत्यागं द्रढयति—

गेण्हदि व चेलखडं भायणमत्थि त्ति भणिदमिह सुत्ते ।
जदि सो चत्तालबो हवदि कह वा अणारभो ॥ *३ ॥
वत्थक्खडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियद ।
विज्जदि पाणारभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥ *४ ॥
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता ।
पत्थं च चेलखंड बिभेदि परदो य पालयदि ॥ ५ ॥ विसेसय ।

गेण्हदि व चेलखड गृह्णाति वा चेलखण्ड वस्त्रखण्ड **भायण** भिक्षाभाजनं वा **अत्थि त्ति भणिदं** अस्तीति भणितमास्ते । क्व । **इह सुत्ते** इह विवक्षितागमसूत्रे **जदि** यदि चेत् । **सो चत्तालबो हवदि कहं** निरालम्बनपरमात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन् स पुरुषो बहिर्द्रव्यालम्बनरहित कथ भवति न कथमपि **वा अणारभो** निःक्रियनिरारम्भनिजात्मतत्त्वभावनारहितत्वेन निरारम्भो वा कथ भवति किंतु सारम्भ एव, इति प्रथमगाथा ॥ **वत्थक्खड दुद्दियभायण** वस्त्रखण्ड दुग्धिकाभाजनं **अण्ण च गेण्हदि** अन्यच्च गृह्णाति कम्बलमृदुशयनादिक यदि चेत् । तदा किं भवति । **णियद विज्जदि पाणारभो** निजशुद्धचैतन्यलक्षणप्राणविनाशरूपो वा नियत प्राणारम्भ प्राणवधो विद्यते न केवल प्राणारम्भ **विक्खेवो तस्स चित्तम्मि** अविक्षिप्तचित्तपरमयोगरहितस्य परिग्रहपुरुषस्य विक्षेपस्तस्य विद्यते चित्ते मनसीति । इति द्वितीयगाथा ॥ **गेण्हइ** स्वशुद्धात्मग्रहणशून्य सन् गृह्णाति किमपि बहिर्द्रव्य **विधुणइ** कर्मधूलिं विहाय बहिरङ्गधूलिं विधूनोति विनाशयति । **धोवइ** निर्मलपरमात्मतत्त्वमलजनकरागादिमल विहाय बहिरङ्गमल धौति प्रक्षालयति **सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता** निर्विकल्पध्यानातपेन ससारनदीशोषणमकुर्वन् शोषयति शुष्क करोति **जदं तु** यत्नपर तु यथा भवति । किं कृत्वा । आतपे निक्षिप्य । किं तत् । **पत्थ च चेलखड** पात्र वस्त्रखण्ड

त्याग करे, तब उस पुरुषके अन्तरगसयमके घातका निषेध अवश्य होता है ॥ २० ॥ आगे यह कहते है, कि सर्वथा अन्तरगसंयमका घात परिग्रहसे ही है—**[तस्मिन्]** उस परिग्रहके होनेपर **[मूर्च्छा]** ममत्व परिणाम **[वा]** अथवा उस परिग्रहके लिये **[आरम्भः]** उद्यमसे क्रियाका आरम्भ और **[तस्य]** उस ही मुनिके **[असयम]** शुद्धात्माचरणरूप सयमका घात **[कथ]** किस प्रकार **[नास्ति]** न होवे, अवश्य ही होवे, **[तथा]** उस ही प्रकार जिसके परिग्रह है, वह मुनि **[परद्रव्ये]**

थोपधिद्वितीयस्य परद्रव्यरतत्वेन शुद्धात्मद्रव्यप्रसाधकत्वाभावाच्च ऐकान्तिकान्तरङ्गच्छेदत्वमुपधेरवधार्यत एव । इदमत्र तात्पर्यमेवंविधत्वमुपधेरवधार्य स सर्वथा संन्यस्तव्यः ॥ २१ ॥

अथ कस्यचित्क्वचित्कदाचित्कथंचित्कश्चिदुपधिरप्रतिषिद्धोऽप्यस्तीत्यपवादमुपदिशति—

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥ २२ ॥

छेदो येन न विद्यते ग्रहणविसर्गेषु सेवमानस्य ।
श्रमणस्तेनेह वर्तता काल क्षेत्र विज्ञाय ॥ २२ ॥

वा विभेदि निर्भयशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्य सन् बिभेति भयं करोति । कस्मात्सकाशात् । **परदो य** परतश्चौरादे **पालयदि** परमात्मभावना न पालयन्न रक्षयन्परद्रव्य किमपि पालयतीति तृतीया गाथा ॥ ३–५ ॥ अथ सपरिग्रहस्य नियमेन चित्तशुद्धिर्नश्यतीति विस्तरेणाख्याति—**किध तम्हि णत्थि मुच्छा** परद्रव्यममत्वरहितचिच्चमत्कारपरिणतेर्विसदृशमूर्च्छा कथ नास्ति अपि त्वस्त्येव । क्व । तस्मिन् परिग्रहाकाङ्क्षितपुरुषे **आरभो वा** मनोवचनकायक्रियारहितपरमचैतन्यप्रतिबन्धक आरम्भो वा कथ नास्ति किं त्वस्त्येव **असजमो तस्स** शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणासयमो वा कथ नास्ति किं त्वस्त्येव तस्य सपरिग्रहस्य **तध परदव्वम्मि रदो** तथैव निजात्मद्रव्यात्परद्रव्ये रत **कधमप्पाण पसाधयदि** स तु सपरिग्रहपुरुष कथमात्मान प्रसाधयति । न कथमपीति ॥ २१ ॥ एव श्वेताम्बरमतानुसारिशिष्यसबोधनार्थं निर्ग्रन्थमोक्षमार्गस्थापनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथापञ्चक गतम् । अथ कालापेक्षया परमोपेक्षासयमशक्त्यभावे सत्याहारसयमशौचज्ञानोपकरणादिक किमपि ग्राह्यमित्यपवादमुपदिशति—**छेदो जेण ण विज्जदि** छेदो येन न विद्यते । येनोपकरणेन शुद्धोपयोगलक्षण-

---

निजरूपसे भिन्न परद्रव्यरूप परिग्रहमे **[रतः]** रागी होकर **[कथ]** किस तरह **[आत्मानं]** अपने शुद्ध स्वरूपका **[प्रसाधयति]** एकाग्रतासे अनुभव करसकता है ? नहीं कर सकता । **भावार्थ**—जिसके परिग्रह होता है, उसके अवश्य ही ममत्वभाव होते हैं। उस परिग्रहके निमित्तसे आरम्भ भी होता है, जहाँ ममता और आरम्भ होता है, वहाँ शुद्धोपयोगरूप आत्मीक प्राणकी हिंसा होती है, जहाँ हिंसा हो, वही असयम भी हो, और भी परिग्रही मुनिको बडा दोष है, परिग्रह परद्रव्य है, जो परद्रव्यमे रत होता है, उसके शुद्धात्मद्रव्यकी सिद्धिका अभाव होता है, शुद्धात्मद्रव्यकी सिद्धि मुनिपदका मूल है, जहाँ यह नही, वहाँ मुनिपद नही । इसलिये इस कथनका यह अभिप्राय है, कि परिग्रह सर्वथा त्यागने योग्य है ॥ २१ ॥ आगे किसी मुनिके किसी एक कालमे किसी एक तरहसे कोई एक परिग्रह अत्याज्य भी है, ऐसा अपवादमार्ग दिखलाते हैं—**[सेवमानस्य]** परिग्रह सेवनेवाले मुनिके **[ग्रहणविसर्गेषु]** ग्रहण करनेमे अथवा त्यागनेमे **[येन]** जिस परिग्रहसे **[छेद]** शुद्धोपयोगरूप संयमका घात **[न विद्यते]** नही हो, **[तेन]** उस परिग्रहसे **[श्रमण]** मुनि **[कालं क्षेत्रं]** काल और क्षेत्रको **[विज्ञाय]** जानकर **[इह]** इस लोकमे **[वर्तता]** प्रवर्ते (रहे) तो कोई हानि नही

आत्मद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्याभावात्सर्व एवोपधिः प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्गः । अयं तु मिश्रकालक्षेत्रवशात्कश्चिदप्रतिषिद्ध इत्यपवादः । यदा हि श्रमणः सर्वोपधिप्रतिषेधमास्थाय परममुपेक्षासंयमं प्रतिपत्तुकामोऽपि विशिष्टकालक्षेत्रवशावसन्नशक्तिर्न प्रतिपत्तुं क्षमते तदापकृष्य संयमं प्रतिपद्यमानस्तद्बहिरङ्गसाधनमात्रमुपधिमातिष्ठते । स तु तथा स्थीयमानो न खलूपधित्वाच्छेदः, प्रत्युत छेदप्रतिषेध एव । यः किलाशुद्धोपयोगाविनाभावी स छेदः । अयं तु श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुभूताहारनिर्हारादिग्रहणविसर्जनविषयच्छेदप्रतिषेधार्थमुपादीयमानः सर्वथा शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वाच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ॥ २२ ॥

अथाप्रतिषिद्धोपधिस्वरूपमुपदिशति—

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥२३॥

सयमस्य छेदो विनाशो न विद्यते । कयोः । **गहणविसग्गेसु** ग्रहणविसर्गयो यस्योपकरणस्यान्यवस्तुनो वा ग्रहणे स्वीकारे विसर्जने । किं कुर्वत तपोधनस्य । **सेवमाणस्स** तदुपकरणं सेवमानस्य । **समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता** श्रमणस्तेनोपकरणेनेह लोके वर्तताम् । किं कृत्वा । कालं क्षेत्रं च विज्ञायेति । अयमत्र भावार्थः—काल पञ्चमकाल शीतोष्णादिकाल वा क्षेत्र भरतक्षेत्र मानुषजाङ्गलादिक्षेत्र वा, विज्ञाय येनोपकरणेन स्वसंवित्तिलक्षणभावसयमस्य बहिरङ्गद्रव्यसंयमस्य वा, छेदो न भवति तेन वर्तत इति ॥२२॥ अथ पूर्वसूत्रोदितोपकरणस्वरूप दर्शयति—**अप्पडिकुट्ठ उवधिं** निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिद्धमुपधिमुपकरणरूपोपधिं **अपत्थणिज्ज असंज-**

है । **भावार्थ**—उत्सर्गमार्ग वह है, कि सब परिग्रहका निषेध किया है, क्योकि आत्माके एक अपने भावके सिवाय परद्रव्यरूप दूसरा पुद्गलभाव नही है, इस कारण उत्सर्गमार्ग परिग्रह रहित है, और यह विशेषरूप अपवादमार्ग है वह काल क्षेत्रके वश किसी एक परिग्रहको ग्रहण करता है, इसलिये अपवाद भेदरूप है । यही दिखलाते है—जिस समय कोई एक मुनि सब परिग्रहको त्यागकर परम वीतराग सयमको प्राप्त होना चाहता है, वही मुनि किसी एक कालकी विशेषतासे अथवा क्षेत्रके विशेषसे हीन शक्ति होता है, तब वह वीतरागसयम दशाको नही धारण कर सकता, इसलिये सरागसयम अवस्थाको अंगीकार करता है, और उस अवस्थाका बाह्य साधन परिग्रह ग्रहण करता है । उस परिग्रहको ग्रहण कर तिष्ठते हुए मुनिके उस परिग्रहसे सयमका घात नही होता । सयमका घात वहाँ होता है जहाँपर कि मुनिपदका घातक अशुद्धोपयोग होता है । यह परिग्रह तो संयमके घातके दूर करनेके लिये है । मुनिपदवीका सहकारी कारण शरीर है, और उस शरीरकी प्रवृत्ति आहार नीहारके ग्रहण त्यागसे होती है, उसमे सयमके घातके निषेधके लिये अगीकार करते हैं । इस कारण अशुद्धोपयोगमयी जो संयमका घात है, उसको दूर करनेवाला परिग्रह है, इसलिये घातक नही है ॥ २२ ॥ आगे जिस परिग्रहका मुनिके लिये निषेध नही है, उसका स्वरूप दिखलाते हैं—[**श्रमण**] अपवादमार्गी मुनि [**उपधिं**] ऐसे परिग्रहको [**गृह्णातु**] ग्रहण

अप्रतिक्रुष्टमुपधिमप्रार्थनीयमसंयतजनैः ।
मूर्च्छादिजननरहितं गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पम् ॥ २३ ॥

यः किलोपधिः सर्वथा बन्धासाधकत्वादप्रतिक्रुष्टः संयमादन्यत्रानुचितत्वादसंयतजनाप्रार्थनीयो रागादिपरिणाममन्तरेण धार्यमाणत्वान्मूर्च्छादिजननरहितश्च भवति स खल्वप्रतिषिद्धः । अतो यथोदितस्वरूप एवोपधिरुपादेयो न पुनरल्पोऽपि यथोदितविपर्यस्तस्वरूपः ॥ २३ ॥

अथोत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवाद इत्युपदिशति—

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि ।
संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥ २४ ॥

किं किंचनमिति तर्कः अपुनर्भवकामिनोऽथ देहेऽपि ।
संग इति जिनवरेन्द्रा निःप्रतिकर्मत्वमुद्दिष्टवन्तः ॥ २४ ॥

अत्र श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिध्यमानेऽत्यन्तमुपात्तदेहेऽपि परद्रव्यत्वात्परिग्रहोऽयं न नामानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेत्यप्रतिकर्मत्वमुपदिष्टवन्तो भगवन्तो-

---

दजणेहिं अप्रार्थनीयं निर्विकारात्मोपलब्धिलक्षणभावसंयमरहितस्यासंयतजनस्यानभिलषणीयम् । **मुच्छादिजणणरहिदं** परमात्मद्रव्यविलक्षणबहिर्द्रव्यममत्वरूपमूर्च्छारक्षणार्जनसंस्कारादिदोषजननरहितम् । **गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं** गृह्णातु श्रमणो यमप्यल्पं पूर्वोक्तमुपकरणोपधिं यद्यप्यल्पं तथापि पूर्वोक्तोचितलक्षणमेव ग्राह्यं न च तद्विपरीतमधिकं वेत्यभिप्रायः ॥ २३ ॥ अथ सर्वसंगपरित्याग एव श्रेष्ठः शेषमशक्यानुष्ठानमिति प्ररूपयति—**किं किंचण त्ति तक्कं** किं किंचनमिति तर्कः किं किंचन परिग्रह इति तर्को विचारः क्रियते तावत् । कस्य । **अपुणब्भवकामिणो** अपुनर्भवकामिनः अनन्तज्ञानादिचतुष्टयात्ममोक्षाभिलाषिणः **अध** अहो **देहो वि** देहोऽपि **संग त्ति** सङ्गः परिग्रह इति हेतोः **जिणवरिंदा** जिनवरेन्द्राः कर्तारः **णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा** निःप्रतिकर्मत्वमुप-

---

करें, तो कुछ भी दोष नहीं है । जो परिग्रह (**अप्रतिक्रुष्ट**) बंधको नहीं करता (**असंयतजनैः**) संयम रहित जनोंका (**अप्रार्थनीय**) प्रार्थना करनेके योग्य नहीं है, (**मूर्च्छादिजननरहित**) ममता, आरंभ, हिंसादिक भावोंकी उत्पत्तिसे रहित है, और वह (**यद्यपि**) यद्यपि (**अल्प**) थोड़ा है । **भावार्थ—** जिस परिग्रहको असंयमी ग्रहण नहीं कर सकते, और जिससे रागादिभाव विना ग्रहण होनेसे मूर्च्छादि भाव नहीं होते, ऐसे परिग्रहका मुनिको निषेध नहीं है, किंतु ग्रहण करने योग्य है, और जो इससे विपरीत परिग्रह है, वह थोड़ा होनेपर भी ग्रहण योग्य नहीं है, जैसा कुछ मुनिके योग्य है, वही ग्रहण योग्य है ॥ २३ ॥ आगे उत्सर्गमार्ग ही वस्तुका धर्म है, अपवादमार्ग नहीं, ऐसा उपदेश करते हैं—(**अथ**) अहो, देखो कि (**अपुनर्भवकामिन**) मोक्षके अभिलाषी मुनिके (**देहेऽपि**) देहके होनेपर भी (**संगः**) परिग्रह है, (**इति**) ऐसा जानकर (**जिनवरेन्द्राः**) सर्वज्ञ वीतरागदेव (**निःप्रतिकर्मत्व**) ममत्वभाव सहित शरीरकी क्रियाके त्यागका (**उद्दिष्टवन्तः**) उपदेश करते हुए, तब उस मुनिके (**किं**) क्या (**किंचन**) अब भी कुछ परिग्रह है, (**इति**) ऐसा (**तर्कः**) बड़ा ही

ऽर्हद्देवाः । अथ तत्र शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसंभावनरसिकस्य पुंसः शेषोऽन्योऽनुपात्तः परिग्रहो वराकः किं नाम स्यादिति व्यक्त एव हि तेषामाकूतिः । अतोऽवधार्यते उत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवादः । इदमत्र तात्पर्यं वस्तुधर्मत्वात्परमनैर्ग्रन्थ्यमेवावलम्ब्यम् ।। २४ ।।

अथ केऽपवादविशेषा इत्युपदिशति—

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं ।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ।।२५।।

दिष्टवन्त । शुद्धोपयोगलक्षणपरमोपेक्षासंयमबलेन देहेऽपि नि प्रतीकारित्वं कथितवन्त इति । ततो ज्ञायते मोक्षसुखाभिलाषिणा निश्चयेन देहादिसर्वसंगपरित्याग एवोचितोऽन्यस्तूपचार एवेति ।।२४।। एवमपवादव्याख्यानरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम् । अथैकादशगाथापर्यन्तं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणमुख्यत्वेन व्याख्यान करोति । तद्यथा—श्वेताम्बरमतानुसारी शिष्य पूर्वपक्ष करोति—

पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो ।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीण ।। *६ ।।

पेच्छदि ण हि इह लोग निरुपरागनिजचैतन्यनित्योपलब्धिभावनाविनाशक ख्यातिपूजालाभरूपं प्रेक्षते न च हि स्फुट इह लोकम् । न च केवलमिह लोक **पर च** स्वात्मप्राप्तिरूप मोक्ष विहाय स्वर्गभोगप्राप्तिरूप पर च परलोकं च नेच्छति । स क । **समणिंददेसिदो धम्मो** श्रमणेन्द्रदेशितो धर्म जिनेन्द्रोपदिष्ट इत्ययर्थ । **धम्मम्हि तम्हि कम्हा** धर्मे तस्मिन् कस्मात् **वियप्पिय** विकल्पित निर्ग्रन्थलिङ्गाद्वस्त्रप्रावरणेन पृथक्कृतम् । किम् । **लिंग** सावरणचिह्नम् । कासा संबन्धि । **इत्थीणं** स्त्रीणामिति पूर्वपक्षगाथा ।।६।। अथ परिहारमाह—

णिच्छयदो इत्थीण सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा ।
तम्हा तप्पडिरूव वियप्पियं लिंगमित्थीण ।। *७ ।।

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा निश्चयत स्त्रीणां नरकादिगतिविलक्षणानन्तसुखादिगुणस्वभावा तेनैव जन्मना सिद्धिर्न दिष्टा न कथिता । **तम्हा तप्पडिरूवं** तस्मात्कारणा-

---

विचार होता है । **भावार्थ**—जिस मार्गमे मुनिपदका सहकारी शरीर भी परद्रव्यरूप परिग्रह जानकर आदर करने योग्य नही है, वह भी ममताभावसे रहित होकर त्यागने योग्य है, और भगवतदेवने ममतासे आर विहारमे प्रवृत्ति होनेको मना किया है, तो उस मार्गमे शुद्धात्म रसके आस्वादी मुनिके अन्य परिग्रह विचारा कैसे बन सकता है, ऐसा अरहतदेवका प्रकट (निश्चित) अभिप्राय है । इससे यह बात सिद्ध होती है, कि उत्सर्ग निष्परिग्रह मार्ग है, वही वस्तुका धर्म है । परिग्रह रहनेसे अपवादमार्ग वस्तुका धर्म नही है । इससे यह अभिप्राय निकला, कि उत्सर्गमार्ग ही वस्तुका धर्म है, इसलिये परम निर्ग्रन्थ पदवी अवलबन करने योग्य है ।। २४ ।। आगे अपवादमार्गके कौनसे भेद हैं, उनको दिखलाते हैं—**(जिनमार्गे)** सर्वज्ञ वीतरागदेव कथित निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गमे **(उपकरण)**

उपकरणं जिनमार्गे लिङ्ग यथाजातरूपमिति भणितम् ।
गुरुवचनमपि च विनय सूत्राध्ययन च निर्दिष्टम् ॥ २५ ॥

त्प्रतियोग्य सावरणरूप **वियप्पिय लिंगमित्थीणं** निर्ग्रन्थलिङ्गात्पृथक्त्वेन विकल्पित कथित लिङ्ग प्रावरणसहित चिह्नम् । कासाम् । स्त्रीणामिति ॥ ७ ॥ अथ स्त्रीणा मोक्षप्रतिबन्धक प्रमादबाहुल्यं दर्शयति—

पइडीपमादमइया एदासिं वित्ति भासिया पमदा ।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुल त्ति णिद्दिट्ठा ॥ *८ ॥

पइडीपमादमइया प्रकृत्या स्वभावेन प्रमादेन निर्वृत्ता प्रमादमयी । का कर्त्री भवति । **एदासिं वित्ति** एतासा स्त्रीणा वृत्ति परिणति **भासिया पमदा** तत एव नाममालाया प्रमदा' प्रमदासज्ञा भणिता भाषिता स्त्रियः । **तम्हा ताओ पमदा** यत एव प्रमदा सज्ञास्ता' स्त्रिय तस्मात्तत एव **पमादबहुल त्ति णिद्दिट्ठा** नि प्रमादपरमात्मतत्त्वभावनाविनाशकप्रमादबहुला इति निर्दिष्टा ॥८॥ अथ तासा मोहादिबाहुल्य दर्शयति—

संति धुव पमदाणं मोहपदोसा भय दुगुंछा य ।
चित्ते चित्तामाया तम्हा तासिं ण णिव्वाण ॥ *९ ॥

संति धुवं पमदाण सन्ति विद्यन्ते ध्रुव निश्चित प्रमदाना स्त्रीणाम् । के ते । **मोहपदोसा भय दुगुछा य** मोहादिरहितानन्तसुखादिगुणस्वरूपमोक्षकारणप्रतिबन्धका मोहप्रद्वेषभयदुगुछापरिणामाः **चित्ते चित्ता माया** कौटिल्यादिरहितपरमबोधादिपरिणते प्रतिपक्षभूता चित्ते मनसि चित्रा विचित्रा माया **तम्हा तासिं ण णिव्वाण** तत एव तासामव्याबाधसुखाद्यनन्तगुणाधारभूत निर्वाण नास्तीत्यभिप्राय ॥ ९ ॥ अथैतदेव द्रढयति—

ण विणा वट्टदि णारी एक्क वा तेसु जीवलोयम्हि ।
ण हि सउड च गत्त तम्हा तासिं च सवरणं ॥ *१० ॥

ण विणा वट्टदि णारी न विना वर्तते नारी **एक्क वा तेसु जीवलोयम्हि** तेषु निर्दोषिपरमात्मध्यानविघातकेषु पूर्वोक्तदोषेषु मध्ये जीवलोके त्वेकमपि दोष विहाय **ण हि सउड च गत्त** न हि स्फुट सवृत गात्र च शरीर **तम्हा तासिं च सवरण** तत एव च तासा सवरण वस्त्रावरणं क्रियत इति ॥ १० ॥

अथ पुनरपि निर्वाणप्रतिबन्धकदोषान्दर्शयति—

चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्ल अत्तव च पक्खलणं ।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं ॥ *११ ॥

विज्जदि विद्यते तासु च स्त्रीषु । किम् । **चित्तस्सावो** चित्तस्रव नि कामात्मतत्त्वसवित्तिवि-

---

मुनिके उपकारी परिग्रह [इति] इस प्रकार [भणित] कहे हैं, कि [यथाजातरूप लिङ्ग] जैसा मुनि-का स्वरूप चाहिये, वैसा ही शरीरके द्रव्यलिङ्गका होना, एक तो यह परिग्रह है । [गुरुवचन अपि] तत्त्वके उपदेशक गुरुके वचनरूप पुद्गलोका ग्रहण एक यह भी परिग्रह है, [च] और [विनय] जो

यो हि नामाप्रतिषिद्धोऽस्मिन्नुपधिरपवादः स खलु निखिलोऽपि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनोपकारकारकत्वादुपकरणभूत एव न पुनरन्यः। तस्य तु विशेषः

नाशकचित्तस्य कामोद्रेकेण स्रवो रागसार्द्रभाव **तासिं** तासा स्त्रीणा **सिथिल्ल** शिथिलस्य भाव शैथिल्यं तद्भवमुक्तियोग्यपरिणामविषये चित्तदार्ढ्याभाव सत्त्वहीनपरिणाम इत्यर्थ.। **अत्तव च पक्खलणं** ऋतौ भवमार्तवं प्रस्खलन रक्तस्रवण सहसा झटिति मासे मासे दिनत्रयपर्यन्तं चित्तशुद्धिविनाशको रक्तस्रवो भवतीत्यर्थ । **उप्पादो सुहममणुआण** उत्पाद उत्पत्ति सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तमनुष्याणमिति ॥ ११ ॥

अथोत्पत्तिस्थानानि कथयति—

लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥ *१२ ॥

लिंगम्हि य इत्थीण थणतरे णाहिकक्खपदेसेसु स्त्रीणा लिङ्गे योनिप्रदेशे स्तनान्तरे नाभिप्रदेशे कक्षप्रदेशे च **भणिदो सुहुमुप्पादो** एतेषु स्थानेषु सूक्ष्ममनुष्यादिजीवोत्पादो भणित.। एते पूर्वोक्तदोषाः पुरुषाणा किं न भवन्तीति चेत्। एवं न वक्तव्यं स्त्रीषु बाहुल्येन भवन्ति। न चास्तित्वमात्रेण समानत्वम्। एकस्य विषकणिकास्ति द्वितीयस्य च विष सर्वतोऽस्ति किं समानत्व भवति। किंतु पुरुषाणा प्रथमसहननबलेन दोषविनाशको मुक्तियोग्यविशेषसयमोऽस्ति। **तासिं कह सजमो होदि** तत कारणात्तासा कथ सयमो भवतीति ॥ १२ ॥ अथ स्त्रीणा तद्भवमुक्तियोग्या सकलकर्मनिर्जरा निषेधयति—

जदि दसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोर चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥ *१३ ॥

जदि दसणेण सुद्धा यद्यपि दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धा **सुत्तज्झयणेण चावि सजुत्ता** एकादशाङ्गसूत्राध्ययनेनापि सयुक्ता **घोर चरदि व चरियं** घोर पक्षोपवासमासोपवासादि चरति वा चरित्र **इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा** तथापि स्त्रीजनस्य तद्भवकर्मक्षययोग्या सकलनिर्जरा न भणितेति भाव । किंच यथा प्रथमसहननाभावात्स्त्री सप्तमनरक न गच्छति तथा निर्वाणमपि "पुवेद वेदंता पुरिसा जे खवगसेढिमारूढा। सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झति।" इति गाथाकथितार्थाभिप्रायेण भावस्त्रीणा कथ निर्वाणमिति चेत्। तासा भावस्त्रीणा प्रथमसहननमस्ति द्रव्यस्त्रीवेदाभावात्तद्भवमोक्षपरिणामप्रतिबन्धकतीव्रमोद्रेकोऽपि नास्ति। द्रव्यस्त्रीणा प्रथमसहननं नास्तीति कस्मान्नागमे कथितमास्त इति चेत्। तत्रोदाहरणगाथा—"[1]अतिमतिसघडण णियमेण य कम्मभूमिमहिलाण। आदिमतिगसघडण णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं"॥ अथ मतम्—यदि मोक्षो नास्ति तर्हि भवदीयमते किमर्थमर्जिकाना महाव्रतारोपणम्। परिहारमाह—तदुपचारेण

कोई शुद्धात्माके अनुभवी महामुनि हैं, उनका विनयमे प्रवृत्त होनेरूप द्रव्यमनके पुद्गल यह भी परिग्रह है, [**च**] और [**सूत्राध्ययन**] वचनात्मक सिद्धान्तोका पढना, यह भी परिग्रह [**प्रज्ञप्त**] कहा है। **भावार्थ**—जिस परिग्रहका अपवादमार्गमे निषेध नही किया गया है, वह सभी परिग्रह यति

---

[1] अन्तिमसहननत्रय नियमेन कर्मभूमिममहिलानामस्ति। आदिमसहननत्रय नास्तीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥

सर्वाहार्यवर्जितसहजरूपोपेक्षितयथाजातरूपत्वेन बहिरङ्गसलिङ्गभूताः कायपुद्गलाः श्रूयमाणतत्कालबोधकगुरुगीर्यमाणात्मतत्त्वद्योतकसिद्धोपदेशवचनपुद्गलास्तथाधीयमान-नित्यबोधकानादिनिधनशुद्धात्मतत्त्वद्योतनसमर्थश्रुतज्ञानसाधनीभूतशब्दात्मसूत्रपुद्गलाश्च

कुलव्यवस्थानिमित्तम् । न चोपचार साक्षाद्भवितुमर्हति अग्निवत् क्रूरोऽयं देवदत्त इत्यादिवत् । तथा चोक्तम्—मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचार प्रवर्तते । किंतु यदि तद्भवे मोक्षो भवति स्त्रीणा तर्हि शतवर्षदीक्षिताया अर्जिकाया अद्यदिने दीक्षित' साधु कथ वन्द्यो भवति । सैव प्रथमत किं न वन्द्या भवति साधो. । किंतु भवन्मते मल्लितीर्थंकर. स्त्रीति कथ्यते तदप्ययुक्तम् । तीर्थंकरा हि सम्यग्दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशभावना पूर्वभवे भावयित्वा पश्चाद्भवन्ति । सम्यग्दृष्टे स्त्रीवेदकर्मणो बन्ध एव नास्ति कथ स्त्री भविष्यतीति । किं च यदि मल्लितीर्थंकरो वान्य. कोऽपि वा स्त्रीभूत्वा निर्वाण गत तर्हि स्त्रीरूपप्रतिमाराधना किं न क्रियते भवद्भि. । यदि पूर्वोक्तदोषा सन्त स्त्रीणा तर्हि सीतारुक्मिणीकुन्तीद्रौपदीसुभद्राप्रभृतयो जिनदीक्षा गृहीत्वा विशिष्टतपश्चरणेन कथ षोडशस्वर्गे गता इति चेत् । परिहारमाह—तत्र दोषो नास्ति तस्मात्स्वर्गादागत्य पुरुषवेदेन मोक्ष यास्यन्त्यग्रे । तद्भवमोक्षो नास्ति भवान्तरे भवतु को दोष इति । इदमत्र तात्पर्यम्—स्वय वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यं पर प्रति विवादो न कर्तव्य । कस्मात् । विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यतीति ॥ अथोपसंहाररूपेण स्थितपक्षं दर्शयति—

तम्हा त पडिरूव लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।
कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा ॥ *१४ ॥

तम्हा यस्मात्तद्भवे मोक्षो नास्ति तस्मात्कारणात् **त पडिरूव लिंग तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठ** तत्प्रतिरूप वस्त्रप्रावरणसहित लिङ्गं चिह्न लाञ्छन तासा स्त्रीणा जिनवरै सर्वज्ञैर्निर्दिष्ट कथितम् । **कुलरूववओजुत्ता समणीओ** लोकदुगुच्छारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्य कुल भण्यते । अन्तरङ्गनिर्विकारचित्तशुद्धिज्ञापक बहिरङ्गनिर्विकार रूप भण्यते । शरीरभङ्गरहित वा अतिबाल-वृद्धबुद्धिवैकल्यरहित वयो भण्यते । तै कुलरूपवयोभिर्युक्ता कुलरूपवयोयुक्ता भवन्ति । का श्रामण्यर्जिका । पुनरपि किंविशिष्टा । **तस्समाचारा** तासा स्त्रीणा योग्यस्तद्योग्य आचारशास्त्र-विहितसमाचार आचरण यासा तास्तत्समाचारा इति ॥ १४॥ अथेदानी पुरुषाणा दीक्षाग्रहणे वर्ण-व्यवस्था कथयति—

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा ।
सुमुहो कुछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥ *१५ ॥

वण्णेसु तीसु एक्को वर्णेषु त्रिष्वेक ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवर्णेष्वेक **कल्लाणगो** कल्याणाङ्ग आरोग्य **तवोसहो वयसा** तप सह तप क्षम । केन । अतिवृद्धबालत्वरहितवयसा **सुमुहो** निर्विकाराभ्यन्तरपरमचैतन्यपरिणतिविशुद्धिज्ञापक गमक बहिरङ्गनिर्विकार मुख यस्य मुखावयवभङ्ग-

---

अवस्थाका सहायक है, इसलिये उपकारी है, अन्य परिग्रह नही है । उस मुनिके योग्य परिग्रहके भेद इस प्रकार है, कि सब वस्त्र आभूषणादिकसे रहित सहज (स्वाभाविक) सुदर यथाजातरूप बाह्य द्रव्य लिंगस्वरूप काययोग संबधी पुद्गल, एक तो यह उपकरण है, और शुद्धात्मतत्त्वके

शुद्धात्मतत्त्वव्यञ्जकदर्शनादिपर्यायतत्परिणतपुरुषविनीतताभिप्रायवर्तकचित्रपुद्गलाश्च भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यं, कायवद्वचनमनसी अपि न वस्तुधर्मः ।। २५ ।।

अथाप्रतिषिद्धशरीरमात्रोपधिपालनविधानमुपदिशति—

रहित वा स भवति सुमुखः **कुंछारहिदो** लोकमध्ये दुराचाराद्यपवादरहित **लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो** एवं गुणविशिष्टपुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति । यथायोग्य सच्छूद्राद्यपि ।। १५ ।। अथ निश्चयनयाभिप्राय कथयति—

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो ।
सेस भगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो ।। *१६ ।।

जो रयणत्तयणासो सो भगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो यो रत्नत्रयनाश स भङ्गो जिनवरैर्निर्दिष्ट । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धाज्ञानानुष्ठानरूपो योऽसौ निश्चयरत्नत्रयस्वभावस्तस्य विनाश स एव निश्चयेन नाशो भङ्गो जिनवरैर्निर्दिष्ट **सेसं भंगेण पुणो** शेषभङ्गेन पुन शेषखण्डमुण्डवातवृषणादिभङ्गेन **ण होदि सल्लेहणाअरिहो** न भवति सल्लेखनार्हः लोकदुगुञ्छाभयेन निर्ग्रन्थरूपयोग्यो न भवति । कौपीनग्रहणेन तु भावनायोग्यो भवतीत्यभिप्राय ।। १६ ।। एव स्त्रीनिर्वाणनिराकरणव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिस्तृतीय स्थल गतम् । अथ पूर्वोक्तस्योपकरणरूपापवादव्याख्यानस्य विशेषविवरण करोति—**इदि भणिदं** कथितम् । किम् । **उवयरण** उपकरणम् । क्व । **जिणमग्गे** जिनोक्तमोक्षमार्गे । किमुपकरणम् । **लिंग** शरीराकारपुद्गलपिण्डरूप द्रव्यलिङ्गम् । किंविशिष्टम् । **जहजादरूव** यथाजातरूप यथाजातशब्देनात्र व्यवहारेण सगपरित्यागयुक्त निश्चयेनाभ्यन्तरेण शुद्धबुद्धैकस्वभाव परमात्मस्वरूपं **गुरुवयणं पि य** गुरुवचनमपि निर्विकारपरमचिज्ज्योति स्वरूपपरमात्मतत्त्वप्रतिबोधक सारभूत सिद्धोपदेशरूप गुरुपदेशवचनम् । न केवल गुरूपदेशवचन **सुत्तज्झयण च** आदिमध्यान्तवर्जितजातिजरामरणरहितनिजात्मद्रव्यप्रकाशकसूत्राध्ययन च परमागमवाचनमित्यर्थः । **णिद्दिट्ठं** उपकरणरूपेण निर्दिष्ट कथितम् । **विणओ** स्वकीयनिश्चयरत्नत्रयशुद्धिर्निश्चयविनय , तदाधारपुरुषेषु भक्तिपरिणामो व्यवहारविनय. । उभयोऽपि विनयपरिणाम उपकरण भवतीति निर्दिष्ट. । अनेन किमुक्त भवति— निश्चयेन चतुर्विधमेवोपकरणम् । अन्यदुपकरण व्यवहार इति ।। २५ ।। अथ युक्ताहारविहारलक्षण-

---

प्रकाशक जो वचनात्मक पुद्गल हैं, उनको गुरूके पासमे सुनता है, तथा जो अनादि अनत शुद्धात्मतत्त्वका प्रगट करनेवाला श्रुतिज्ञान है, उसके वचनस्वरूप जो सूत्रपुद्गल है, उनको पढता है, ये भी उपकरण हैं, और जिन महापुरुष मुनीश्वरोके ज्ञानादि भाव प्रगट हुए है, उनमे विनयरूप परिणत हुए जो चित्त पुद्गल हैं, ये भी उपकरण है । इससे यह वात सिद्ध हुई. कि मुनिको जैसे शरीरमे ममताभावका निषेध है, उसी तरह वचन मनका भी निषेध है, क्योकि ये भी वस्तुके धर्म नही हैं, इसलिये त्याज्य हैं, इनसे ही अपवादमार्गी मुनि कहलाते हैं, उत्सर्गमार्ग इनसे रहित है ।। २५ ।। आगे मुनिको निषेध नही किया गया, ऐसा शरीरमात्र परिग्रह उसके पालनेकी विधि वतलाते हैं—[श्रमण] जो मुनि है, वह [इहलोकनिरापेक्षः] इस लोकमे विपयोकी अभिलाषा रहित हुआ [परस्मिन् लोके] परलोकमे अर्थात् होनेवाली देवादिपर्यायोमे [अप्रतिवद्ध] अभिलाषा-

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥ २६ ॥

इहलोकनिरापेक्ष अप्रतिबद्ध परस्मिन् लोके ।
युक्ताहारविहारो रहितकषायो भवेत् श्रमण ॥ २६ ॥

अनादिनिधनैकरूपशुद्धात्मतत्त्वपरिणतत्वादखिलकर्मपुद्गलविपाकात्यन्तविविक्तस्वभावत्वेन रहितकषायत्वात्तदात्वमनुष्यत्वेऽपि समस्तमनुष्यव्यवहारबहिर्भूतत्वेनेहलोकनिरपेक्षत्वात्तथा भविष्यदमर्त्यादिभावानुभूतितृष्णाशून्यत्वेन परलोकाप्रतिबद्धत्वाच्च परिच्छेद्यार्थोपलम्भप्रसिद्ध्यर्थप्रदीपपूरणोत्सर्पणस्थानीयाभ्यां शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भप्रसिद्ध्यर्थतच्छरीरसंभोजनसंचलनाभ्यां युक्ताहारविहारो हि स्यात् श्रमणः । इदमत्र तात्पर्यम्—यतो हि रहितकषायः ततो न तच्छरीरानुरागेण दिव्यशरीरानुरागेण वाहारविहारयोरयुक्त्या प्रवर्तते । शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकश्रामण्यपर्यायपालनायैव केवलं युक्ताहारविहारः स्यात् ॥ २६ ॥

तपोधनस्य स्वरूपमाख्याति—**इहलोगणिरावेक्खो** इहलोकनिरापेक्ष टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजात्मसंवित्तिविनाशकख्यातिपूजालाभरूपेहलोककाङ्क्षारहित **अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि** अप्रतिबद्ध परस्मिन् लोके तपश्चरणे कृते दिव्यदेवस्त्रीपरिवारादिभोगा भवन्तीति, एवंविधपरलोके प्रतिबद्धो न भवति **जुत्ताहारविहारो हवे** युक्ताहारविहारो भवेत् । स क । **समणो** श्रमण । पुनरपि कथंभूत । **रहिदकसाओ** नि कषायस्वरूपसंवित्त्यवष्टम्भबलेन रहितकषायश्चेति । अयमत्र भावार्थ —योऽसौ इहलोकपरलोकनिरपेक्षत्वेन नि कषायत्वेन च प्रदीपस्थानीयशरीरे तैलस्थानीयं ग्रासमात्र दत्त्वा घटपटादिप्रकाश्यपदार्थस्थानीय निजपरमात्मपदार्थमेव निरीक्षते स एव युक्ताहारविहारो भवति, पुनरन्य शरीरपोषणनिरत इति ॥ २६ ॥ अथ पञ्चदशप्रमादैस्तपोधन प्रमत्तो

कर नहीं बँधे हुए [**रहितकषाय**] राग द्वेष भावरूप कषायोसे रहित होते हैं, [**युक्ताहारविहार**] योग्य आहार विहारमे [**भवेत्**] प्रवृत्ति करता है, अयोग्यको छोड़ता है । **भावार्थ**—मुनीश्वरने अपना स्वरूप अनादि अनत पुद्गलसे उत्पन्न हुए भावोंसे भिन्न जान लिया है, इसलिये कर्मके उदयसे जो मिली हुई मनुष्यादि पर्याय है, उसमे आत्म-बुद्धि नही करते, अर्थात् अपनी नही मानता, और कषायोंमे रहित है, इसलिये मनुष्य सबंधिनी क्रियासे रहित है, उन्हे इस लोकमे पचेन्द्रीके विषयोकी वाञ्छा नहीं है, तथा आगामी कालके देवादि गतिके दिव्य-सुखोके भोगनेकी वाञ्छासे भी रहित हैं, इसलिये परलोककी भी अभिलाषासे बँधे हुये नही हैं । जैसे घट पटादि पदार्थोंके देखनेके लिये दीपकमे तेल डालते हैं, और बत्ती आदि को भी सँभालते हैं, उसी प्रकार मुनि शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये शरीरको भोजनसे, तथा चलनादि क्रियासे, योग्य आहार विहार क्रियामे प्रवृत्त करते हैं । इससे यह कथन सिद्ध हुआ, कि मुनीश्वर कषाय भावोंसे रहित हैं, इसलिये अपने वर्तमान शरीरके अनुरागसे प्रवृत्ति नही करते, किन्तु शुद्धात्मतत्त्वकी सिद्धिके

अथ युक्ताहारविहारः साक्षादनाहारविहार एवेत्युपदिशति—

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा ।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥ २७ ॥

यस्यानेषण आत्मा तदपि तपः तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः ।
अन्यद्भैक्षमनेषणमथ ते श्रमणा अनाहाराः ॥ २७ ॥

स्वयमनशनस्वभावत्वादेषणादोषशून्यभैक्ष्यत्वाच्च युक्ताहारः साक्षादनाहार एव स्यात् । तथाहि—यस्य सकलकालमेव सकलपुद्गलाहरणशून्यमात्मानमवबुद्ध्यमानस्य सकलाशनतृष्णाशून्यत्वात्स्वयमनशन एव स्वभावः । तदेव तस्यानशनं नाम तपो-

---

भवतीति प्रतिपादयति—

कोहादिएहि चउहि वि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं ।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहिं ॥ *१७ ॥

हवदि क्रोधादिपञ्चदशप्रमादरहितचिच्चमत्कारमात्रात्मतत्त्वभावनाच्युतः सन् भवति । स कः कर्ता । **समणो** सुखदुःखादिसमचित्तः श्रमणः । किंविशिष्टो भवति । **पमत्तो** प्रमत्तः प्रमादी । कैः कृत्वा । **कोहादिएहि चउहि वि** चतुर्भिरपि क्रोधादिभिः **विकहाहि** स्त्रीभक्तचोरराजकथाभिः **तहिंदियाणमत्थेहिं** तथैव पञ्चेन्द्रियाणामर्थैः स्पर्शादिविषयैः । पुनरपि किंरूपः । **उवजुत्तो** उपयुक्तः परिणतः । काभ्याम् । **णेहणिद्दाहिं** स्नेहनिद्राभ्यामिति ॥ १७ ॥ अथ युक्ताहारविहारतपोधन-स्वरूपमुपदिशति—**जस्स** यस्य मुनेः संबन्धी **अप्पा** आत्मा । किंविशिष्टः । **अणेसण** स्वकीयशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृताहारेण तृप्तत्वान्न विद्यते एषणमाहाराकाङ्क्षा यस्य स भवत्यनेषणः **तं पि तवो** तस्य तदेव निश्चयेन निराहारात्मभावनारूपमुपवासलक्षणं तपः, **तप्पडिच्छगा समणा** तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः तन्निश्चयोपवासलक्षणं तपः प्रतीच्छन्ति तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः । पुनरपि

लिये मुनिपदवी पालनेके निमित्त केवल योग्य आहारमें प्रवर्तित प्रेरित होते हैं ॥ २६ ॥ आगे कहते हैं, कि योग्य आहार विहार करनेपर भी मुनिको साक्षात् आहार विहारसे रहित मानना चाहिये—**[यस्य आत्मा]** जिस मुनिका जीव **[अनेषणः]** अपने स्वभावकर परद्रव्यके ग्रहणसे रहित निराहारी है, **[तत्]** वही आत्माका निराहार स्वभाव **[अपि]** निश्चयसे **[तपः]** अंतरंग तप है । **[तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः]** उस निराहार आत्मस्वभावकी सिद्धिके वाञ्छक जो महामुनि हैं, वे **[अनेषणं]** आहारके दोषोंसे रहित **[अन्यत् भैक्षं]** अन्य भिक्षाके विषयमें शुद्ध अन्नको ग्रहण करते हैं, **[अथ]** इसीलिये ग्रहण करते हुए भी **[ते श्रमणाः]** वे महामुनि **[अनाहाराः]** आहार ग्रहणसे रहित ही है, ऐसा मानना चाहिये । **भावार्थ**—जो महामुनीश्वर हैं, उन्होंने भी अपना स्वरूप सदाकाल समस्त परद्रव्यरूप पुद्गलके ग्रहणसे रहित जान लिया है, इसलिये भोजन करनेकी तृष्णासे रहित है, और यही उनके अंतरंग अनशन नामा तप है । ऐसे निराहार आत्मस्वभावके भावनेवाले मुनि जो शरीरकी स्थितिके निमित्त आहार भी लेते हैं, तो सब दोषोंसे रहित शुद्ध अन्नको लेते हैं, इसलिये वे मुनि आहार ग्रहण करते हुए भी नहीं लेनेवाले ही माने जाते हैं, क्योंकि उन्होंने

ऽन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात् इति कृत्वा ये तं स्वयमनशनस्वभावं भावयन्ति श्रमणाः। तत्प्रतिषिद्धये चैषणादोषशून्यमन्यद्भैक्षं चरन्ति। ते किलाहरन्तोऽप्यनाहरन्त इति [इव] युक्ताहारत्वेन स्वभावपरभावप्रत्ययप्रतिबन्धाभावात्साक्षादनाहारा एव भवन्ति। एवं स्वयमविहारस्वभावत्वात्समितिशुद्धविहारत्वाच्च युक्तविहारः साक्षादविहार एव स्यात् इत्यनुक्तमपि गम्येतेति ॥ २७ ॥

अथ कुतो युक्ताहारत्वं सिद्ध्यतीत्युपदिशति--

केवलदेहो समणो देहे वि ममत्तरहिदपरिकम्मा।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥ २८ ॥

केवलदेहः श्रमणो देहेऽपि ममत्वरहितपरिकर्मा।
आयुक्तवांस्तं तपसा अनिगूह्यात्मनः शक्तिम् ॥ २८ ॥

यतो हि श्रमणः श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेन केवलदेहमात्रस्योपधेः प्रस-

---

किं येषाम्। **अण्णं** निजपरमात्मतत्त्वादन्यद्भिन्नं हेयम्। किम्। **अणेसण** अन्नस्याहारस्यैषण वाञ्छानेषणम्। कथभूतम्। **भिक्खं** भिक्षाया भव भैक्ष्य **अध** अथ अहो **ते समणा अणाहारा** ते अनशनादिगुणविशिष्टा श्रमणा आहारग्रहणेऽप्यनाहारा भवन्ति। तथैव च निःक्रियपरमात्मानं ये भावयन्ति पञ्चसमितिसहिता विहरन्ति च विहारा भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥ अथ तदेवानाहारकत्वं प्रकारान्तरेण प्राह—**केवलदेहो** केवलदेहोऽन्यपरिग्रहरहितो भवति। स क कर्ता। **समणो** निन्दाप्रशमादिसमचित्तः श्रमणः। तर्हि किं देहे ममत्वं भविष्यति। नैवम्। **देहे वि ममत्तरहिदपरिकम्मो** देहेऽपि ममत्वरहितपरिकर्मा "ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिं उवट्ठिदो। आलंबणं च मे आदा

एक तो अपना स्वभाव निराहार समझ रक्खा है, और दूसरे जो आहार लेते हैं, तो रागी होकर नहीं लेते, इसलिये बंध नहीं होता। इस कारण निराहार ही मानने और इसीतरह चलनादि क्रियारूप विहार-कर्मको भी निजस्वभाव नहीं मानते हैं, और जो विहार-कर्म करते भी हैं, तो ईर्यासमितिकी शुद्धिसे योग्य विहार करते हैं। इसलिये विहार-क्रिया करनेपर भी अविहारी मानना चाहिये ॥ २७ ॥ आगे योग्य आहार किससे होता है, यह कहते हैं—[श्रमणः] मुनि [केवलदेहः] एक शरीरमात्र परिग्रहवाला होता हुआ [देहेऽपि] देहके होनेपर भी उसमें [न मम] यह मेरा नहीं है, [इति] इस प्रकार [ममत्वरहितपरिकर्मा] देहसंबन्धी अयोग्य आहार विहार क्रियासे रहित हुआ तथा [आत्मनः शक्तिं] अपने स्थिरता भावस्वरूप बलको [अनिगूहन्] नहीं छिपाता हुआ अर्थात् प्रगट करता हुआ [तं] उस देहको [तपसा] अनशनरूप तपस्यामें [आयुक्तवान्] लगाता है। **भावार्थ**—मुनिके अन्य परिग्रह परमाणुमात्र भी नहीं, किंतु मुनिअवस्थाका सहकारी कारण अकेला देहमात्र परिग्रह है, वह किसी प्रकार जबर्दस्तीसे भी दूर नहीं किया जा सकता है। इसलिये मुनिके केवल शरीरमात्र परिग्रहका निषेध नहीं है, और यद्यपि मुनिके शरीर है, तो भी उस शरीरमें ममताभाव नहीं करते। तथा "किं किंचण त्ति तक्क" ऐसी पहले गाथा कही गई है, उसमें सर्वज्ञ

ह्याप्रतिषेधकत्वात्केवलदेहत्वे सत्यपि देहे 'किं किंचण' इत्यादिप्राक्तनसूत्रद्योतितपरमेश्वराभिप्रायपरिग्रहेण न नाम ममायं ततो नानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेति परित्यक्तसमस्तसंस्कारत्वाद्रहितपरिकर्मा स्यात् । ततस्तन्ममत्वपूर्वकानुचिताहारग्रहणाभावाद्युक्ताहारत्वं सिद्ध्येत् । यतश्च समस्तामप्यात्मशक्तिं प्रकटयन्ननन्तरसूत्रोदितेनानशनस्वभावलक्षणेन तपसा तं देहं सर्वारम्भेणाभियुक्तवान् स्यात् । तत आहारग्रहणपरिणामात्मकयोगध्वंसाभावाद्युक्तस्यैवाहरेण च युक्ताहारत्वं सिद्ध्येत् ।। २८ ।।

अथ युक्ताहारस्वरूपं विस्तरेणोपदिशति—

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं ।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ।। २९ ।।

एकः खलु स भक्तः अपरिपूर्णोदरो यथालब्धः ।
भैक्षाचरणेन दिवा न रसापेक्षो न मधुमांस ।। २९ ।।

अवसेसाइ वोसरे'' ।। इति श्लोककथितक्रमेण देहेऽपि ममत्वरहितः **आजुत्तो तं तवसा** आयुक्तवान् आयोजितवास्त देह तपसा । किं कृत्वा । **अणिगूहिय** अनिगूह्य प्रच्छादनमकृत्वा । काम् । **अप्पणो सत्ति** आत्मन' शक्तिमिति । अनेन किमुक्त भवति—यः कोऽपि देहाच्छेषपरिग्रहं त्यक्त्वा देहेऽपि ममत्वरहितस्तथैव तं देह तपसा योजयति स नियमेन युक्ताहारविहारो भवतीति ।। २८ ।। अथ युक्ताहारत्व विस्तरेणाख्याति—**एक्कं खलु तं भत्त** एककाल एव खलु हि स्फुट स भक्त आहारो युक्ताहार कस्मादेकभक्तेनैव निर्विकल्पसमाधिसहकारिकारणभूतशरीरस्थितिसंभवात् । स च

वीतरागका अभिप्राय यह है, कि परिग्रह सर्वथा त्याज्य है, ऐसा जानके भगवतकी आज्ञाको ग्रहणकर शरीरमे ममताभावसे रहित होता है, देहके सभालनेमे प्रवृत्त नही होता, ममत्व बुद्धिसे आयोग्य आहारको ग्रहण नही करता, इस कारण मुनिके योग्य आहारकी सिद्धि होती है। उस शरीरको अयोग्य आहारसे पोषण नही करता, यथाशक्ति तपस्यामे ही लगाता है। साराश यह निकला कि मुनिके अतरग वीतराग भावका बल है, इसलिये सब आरम्भसे शरीरको उसमे लगाता है, जो कभी आहार भी लेता है, तो योग्य लेता है, इसलिये वैराग्यके बलसे योग्य आहारकी सिद्धि है ।। २८।। आगे योग्य आहारका स्वरूप विस्तारसे दिखलाते है—**[स भक्तः]** वह शुद्ध आहार **[खलु]** निश्चयकर **[एकः]** एक काल (वक्त) ग्रहण किया जाता है, तब योग्य आहार होता है, और वह योग्य आहार **[अपरिपूर्णोदर.]** नही पूर्ण होता है, पेट जिससे ऐसा होता है, **[यथालब्धः]** जैसा कुछ मिले, वैसा ही अगीकार करने योग्य है, **[भैक्षाचरणेन]** भिक्षावृत्ति कर लेना योग्य है, **[दिवा]** दिनमे ही लेने योग्य है, **[न रसापेक्षः]** जिस आहारमे मिष्ट स्निग्धादि रसकी इच्छा न हो, तथा **[न मधुमांस]** शहद और मासादि अयोग्य वस्तुए जिसमे नही हैं ऐसा । **भावार्थ**—मुनिको एक ही बार आहार करना चाहिये, क्योकि मुनि-पर्यायका सहायक शरीर है, उस शरीरकी स्थिति एक बार आहार लेनेसे होजाती है इसलिये एक वक्त लेना योग्य है, और जो शरीरके अनुरागसे बार बार लेवे, तो वह प्रमाद दशासे द्रव्य-भावहिंसाका

एककाल एवाहारो युक्ताहारः, तावतैव श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरस्य धारणत्वात् । अनेककालस्तु शरीरानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः शरीरानुरागसेवकत्वेन च युक्तस्य अप्रतिपूर्णोदर एवाहारो युक्ताहारः तस्यैव वाप्रतिहतयोगत्वात् । प्रतिपूर्णोदरस्तु प्रतिहतयोगत्वेन कथंचित् हिंसायतनीभवन् न युक्तः । प्रतिहतयोगत्वेन न च युक्तस्य यथालब्ध एवाहारो युक्ताहारः तस्यैव विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागशून्यत्वात् । अयथालब्धस्तु विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः । विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य भिक्षाचरणेनैवाहारो युक्ताहारः तस्यैवारम्भशून्यत्वात् । अभैक्षाचरणेन त्वारम्भसंभवात्प्रसिद्धहिंसायतनत्वेन न युक्तः । एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य दिवस एवाहारो युक्ताहारः तदेव सम्यगवलोकनात् । अदिवसे तु सम्यगवलोकनाभावादनिवार्यहिंसायतनत्वेन न युक्तः । एवं-

---

कथंभूत. । अप्पडिपुण्णोदरं यथाशक्त्या न्यूनोदर' जहालद्धं यथालब्धो न च स्वेच्छालब्ध' चरणं भिक्खेण भिक्षाचरणेनैव लब्धो न च स्वपाकेन दिवा दिवैव न च रात्रौ । ण रसावेक्खं रसापेक्षो न भवति किंतु सरसविरसादौ समचित्त ण मधुमंस अमधुमास' अमधुमास इत्युपलक्षणेन आचारशास्त्रकथितपिण्डशुद्धिक्रमेण समस्तायोग्याहाररहित इति । एतावता किमुक्त भवति । एवविशिष्टविशेषणयुक्त एवाहारस्तपोधनाना युक्ताहार. कस्मादिति चेत् । चिदानन्दैकलक्षणनिश्चयप्राणरक्षणभूता रागादिविकल्पोपाधिरहिता या तु निश्चयनयेनाहिंसा तत्साधकरूपा बहिरङ्गपरजीव-

---

कारण होता है, इसलिये बार बार लेना अयोग्य है, एक ही काल लेना उचित है, और एक बार भी शरीरके अनुरागसे जो लिया जावे, तो वह भी अयोग्य है, सयमकी सिद्धिका कारण शरीरकी स्थितिके निमित्त जा लेना है, वह योग्य है, और एक बार भी पेट भरके आहार लेना है, वह भी अयोग्य है, क्योकि बहुत आहारसे योगकी शिथिलता होनेपर प्रमाद-दशा होजाती है, वही हिंसाका कारण है, इसलिये उदर भरके भोजन करना योग्य नही है, ऊनोदर रहना ठीक है, और शरीरके अनुरागकर जो पेटभर भी न लिया जाय, तो भी वह योग्य आहार नहीं है, संयमका साधन शरीरकी स्थितिके निमित्त ही ऊनोदर रहना ठीक है । जैसा कुछ मिले, वैसा ही अगीकार करे, ऐसा नही, कि अपने लिये करावे । इसलिये यथालब्ध आहार ठीक है, और यथालब्ध आहार भी जो विशेष इन्द्रियस्वादके अनुरागसे किया जावे, तो वह हिंसाका स्थान होता है, इसकारण निषेध योग्य है, यदि संयम-साधक शरीरकी स्थितिके निमित्त लिया जावे, तो वह योग्य है । भिक्षावृत्तिसे जो आहार लिया जावे, तो आरम्भ नहीं करना पड़ता, और यदि भिक्षावृत्तिसे नही लिया जावे, तो हिंसाका कारण आरम्भ अवश्य होता है । इसलिये वह निषिद्ध है, भिक्षावृत्ति योग्य है, तथा राग भावसे अतरगकी अशुद्धतासे भिक्षावृत्तिसे भी ग्रहण करना अयोग्य आहार कहा जाता है। सयम साधक शरीरकी स्थितिके लिये भिक्षा कर लेना योग्य है । दिनमे अच्छा तरह दिखलाई देता है, दयाका पालन होता है, इसलिये दिनका आहार योग्य है । रात्रिमे अच्छी तरह नही

विधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य । अरसापेक्ष एवाहारो युक्ताहारस्तस्यैवान्तःशुद्धिसुन्दरत्वात् । रसापेक्षस्तु अन्तरशुद्धया प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः । अन्तरशुद्धिसेवकत्वेन न च युक्तस्य अमधुमांस एवाहारो युक्ताहारः तस्यैवाहिंसायतनत्वात् । समधुमांसस्तु हिंसायतनत्वान्न युक्तः । एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य मधुमांसमत्र हिंसायतनोपलक्षणं तेन समस्तहिंसायतनशून्य एवाहारो युक्ताहारः ॥ २९ ॥

अथोत्सर्गापवादमैत्रीसौस्थित्यमाचरणस्योपदिशति—

बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा ।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥ ३० ॥

प्राणव्यपरोपणनिवृत्तिरूपा द्रव्याहिंसा च सा द्विविधापि तत्र युक्ताहारे सभवति । यस्तु तद्विपरीत' स युक्ताहारो न भवति । कस्मादिति चेत् । तद्विलक्षणभूताया द्रव्यरूपाया हिंसाया सद्भावादिति ॥ २९ ॥

अथ विशेषेण मासदूषणं कथयति—

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मसपेसीसु ।
संतत्तियमुववादो तज्जादीण णिगोदाण ॥ *१८ ॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मसस्स खादि फासदि वा ।
सो किल णिहणदि पिंड जीवाणमणेगकोडीणं ॥ *१९ ॥ जुम्मं ।

भणित इत्यध्याहार. । स क । **उववादो** व्यवहारनयेनोत्पाद । किंविशिष्ट । **संतत्तियं**

दिखलाई देता है । इस कारण अवश्य हिंसा होती है, इसलिये रात्रिभोजन निषिद्ध है, और दिनका भी आहार सराग परिणामोसे करना अयोग्य है, सयम-साधनके निमित्त योग्य है। जो आहार सरस होगा उससे अवश्य अतरंग अशुद्ध होगा, ऐसा होनेपर हिंसाका कारण हो जायगा इसलिये सरस आहार योग्य नही, नीरस आहार योग्य है । मधु मास युक्त आहार हिंसाका स्थानक है, इसलिये निषेध किया गया है, इनसे रहित आहार योग्य है, और जिन वस्तुओमे मधु मासका दोष लगता हो, तथा हिंसा होती होवे, ऐसी वस्तुओका आहार योग्य नही है, नि.पाप आहार योग्य है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि जो आहार एक वक्त लिया जावे, पेट भरके न लिया जावे, भिक्षावृत्तिसे युक्त यथालब्ध दिनमे नीरस मासादि दोष रहित लिया जावे, वह आहार योग्य है, इससे अन्य रीतिसे जो लेना है, वह अयोग्य है ॥ २९ ॥ आगे उत्सर्गमार्ग और अपवाद-मार्गमे मैत्रीभाव होवे, तो मुनिके आचारकी स्थिरता होसकती है, इसलिये इन दोनोमे मैत्रीभाव दिखलाते है—[**बालो वा**] बालक हो, [**वा**] अथवा [**वृद्ध.**] बुड्ढा हो, [**वा**] अथवा [**श्रमाभिहत'**] तपस्यासे खिन्न (दु खी) हुआ हो, [**वा पुन**] अथवा [**ग्लान**] रोगसे पीडित होवे, ऐसा मुनि [**यथा मूलच्छेद**] जिसतरहसे मूलसयमका घात [**न भवति**] नही हो, उस तरहसे [**स्वयोग्या**] अपनी शक्तिके अनुसार [**चर्या**] आचरण [**चरतु**] करे। **भावार्थ**—उत्सर्गमार्ग वहाँ है, जहाँपर

बालो वा वृद्धा वा श्रमाभिहतो वा पुनर्ग्लानो वा ।
चर्या चरतु स्वयोग्या मूलच्छेदो यथा न भवति ॥ ३० ॥

बालवृद्धश्रान्तग्लानेनापि संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा सयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमेवाचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गः। बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्य मृद्वेवाचरणमाचरणीयमित्यपवादः। बालवृद्धश्रान्तग्लानेन सयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य

सान्ततिको निरन्तर । केषा सबन्धी । **णिगोदाणं** निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावानामनादिनिधनत्वेनोत्पादव्ययरहितानामपि निगोदजीवानाम् । पुनरपि कथभूतानाम् । **तज्जादीणं** तद्वर्णतद्गन्धतद्रसतत्स्पर्शत्वेन तज्जातीना मासजातीनाम् । कास्वधिकरणभूतासु । **मसपेसीसु** मासपेशीषु मासखण्डेषु । कथभूतासु । **पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु** पक्कासु चामासु च विपच्यमानास्विति प्रथमगाथा । **जो पक्कमपक्कं वा** य. कर्ता पक्कामपक्का वा **पेसीं** पेशी खण्डम् । कस्य । **मंसस्स** मासस्य **खादि** निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नसुखसुधाहारमलभमान सन् खादति भक्षति **फासदि वा** स्पर्शति वा **सो किल णिहणदि पिंड** स कर्ता किल लोकोक्त्या परमागमोक्त्या वा निहन्ति पिण्डम् । केषाम् । **जीवाण** जीवानाम् । कतिसंख्योपेतानाम् । **अणेगकोडीणं** अनेककोटीनामिति । अत्रेदमुक्त भवति—शेषकन्दमूलाद्याहारा केचनानन्तकाया अप्यग्निपक्का सन्तः प्रासुका भवन्ति मास पुनरनन्तकाय भवति तथैव चाग्निपक्कमपक्क पच्यमान वा प्रासुक न भवति । तेन कारणेनाभोज्यमभक्षणीयमिति ॥ १८-१९ ॥

अथ पाणिगताहार प्रासुकोऽप्यन्यस्मै न दातव्य इत्युपादिशति—

अप्पडिकुट्ठं पिंड पाणिगय णेवं देयमण्णस्स ।
दत्ता भोत्तुमजोग्ग भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ॥ *२०॥

अप्पडिकुट्ठ पिंडं पाणिगय णेव देयमण्णस्स अप्रतिकुष्ट आगमाविरुद्ध आहार पाणिगतो

मुनि, बाल, वृद्ध, खेद, रोग, इन चार अवस्थाओकर सहित हो, परतु शुद्धात्मतत्त्वके साधनेवाले सयमका भंग (नाश) जिस तरह न हो, उस तरह अति कठिन अपने योग्य आचरणको करे, वही उत्सर्गमार्ग है, और जहांपर बालादि दशायुक्त हुआ शुद्धात्मतत्त्वके साधनेवाले सयमका, तथा सयमके साधक शरीरका नाश जिसतरह न हो, उसी तरह अपनी शक्तिके अनुसार कोमल आचरण करे, ऐसा सयम पाले वहां अपवादमार्ग है । इस तरह मुनिमार्गके दो भेद हैं । उत्सर्गअवस्थामे कैसा ही रोगादि दशाकर पीड़ित हो, अपने अति कठोर आचरण करो सयमको पाले । अपवाद अवस्थामे जो रोगादि अवस्थासे पीडा हो, तो शरीरकी रक्षा करे, कोमल आचारमें प्रवर्ते, सयमको पाले । इस तरह 'कठिन कोमल' दो प्रकारके मुनिके मार्ग हैं । जो इन दोनो मार्गोंमें आपसमें विरोध होवे, जैसे कि उत्सर्गमार्गी अपवाद अवस्थाको न धारण करे, और अपवादमार्गी उत्सर्ग अवस्थाको न धारण करे, तो मुनिसे संयम नही पलसकता, क्योंकि जो उत्सर्गमार्गी कठोर ही आचरण करे, रोगादि अवस्थाके वशसे जघन्य दशारूप अपवादमार्गको न धारण करे, तो शरीरके

छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमाचरणमाचरता शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात् तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वप्याचरणमाचरणीयमित्यपवादसापेक्ष उत्सर्गः । बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धाश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वाचरणमाचरता संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमति-

---

हस्तगतो नैव देयो न दातव्योऽन्यस्मै **दत्ता भोत्तुमजोग्ग** दत्वा पश्चाद्भोक्तुमयोग्यं **भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो** कथचित् भुक्तो वा भोजन कृतवान् तर्हि प्रतिकुष्ठो भवति प्रायश्चित्तयोग्यो भवतीति । अयमत्र भाव.—हस्तगताहार योऽसावन्यस्मै न ददाति तस्य निर्मोहात्मतत्त्वभावनारूप निर्मोहत्व ज्ञायत इति ॥ २० ॥ अथ निश्चयव्यवहारसज्ञयोरुत्सर्गापवादयो कथचित्परस्परसापेक्षभाव स्थापयन् चारित्रस्य रक्षा दर्शयति—**चरदु** चरतु, आचरतु । किम् । **चरियं** चारित्रमनुष्ठानम् । कथभूतम् । **सजोग्गं** स्वयोग्यमवस्थायोग्यम् । कथ यथा भवति । **मूलच्छेदो जधा ण हवदि** मूलच्छेदो यथा न भवति । स कः कर्ता चरति । **बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा** बालो वा वृद्धो वा श्रमाभिहतः पीडित श्रमाभिहतो वा ग्लानो व्याधिस्थो वेति । तद्यथा—उत्सर्गापवादलक्षण कथ्यते तावत्स शुद्धात्मन सकाशादन्यद्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूप सर्वं त्याज्यमित्युत्सर्गो निश्चयनय सर्वपरित्याग परमोपेक्षासयमो वीतरागचारित्र शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थ । तत्रासमर्थः पुरुष शुद्धात्मभावनासहकारिभूत किमपि प्रासुकाहारज्ञानोपकरणादिक गृह्णातीत्यपवादो व्यवहारनय एकदेशपरित्यागस्तथा चापहृतसयम सरागचारित्र शुभोपयोग इति यावदेकार्थ. । तत्र शुद्धात्मभावनानिमित्त सर्वत्यागलक्षणोत्सर्गे दुर्धरानुष्ठाने प्रवर्तमानस्तपोधन शुद्धात्मतत्त्वसाधकत्वेन मूलभूतसंयमस्य सयमसाधकत्वेन मूलभूतशरीरस्य वा यथा छेदो विनाशो न भवति तथा

नाशसे सयमका नाश करेगा । इसलिये उत्सर्गमार्गीको अपवादमार्गसे मैत्रीभाव रखना योग्य है, और अपवादमार्गीको उत्सर्गमार्गसे मैत्रीभाव करना योग्य है। जो अपवादमार्गी रोगादिकसे पीडित हुआ शरीरकी रक्षाके लिये जघन्य ही आचरण करनेमे प्रवृत्त (तैयार) होगा, तो वह प्रमादी हुआ, उत्कृष्ट सयमको नही पा सकेगा, और जघन्य सयमका भी नाश करेगा। इसलिये अपवादमार्गीको उत्सर्गमार्गसे मैत्रीभाव रखना योग्य है । यही मैत्रीभाव दिखलाते हैं—बाल, वृद्ध, खेद, रोग, इन दशाओकर यद्यपि मुनि पीडित हो, तो भी शुद्धात्मतत्त्वका साधनेवाला जो सयम है, उसका नाश जिस तरह न हो, उसी प्रकार अति कठिन आचरणको आचरे, परतु वही मुनि जिस तरह सयमका कारण शरीरका नाश न हो, उसी प्रकार अपने योग्य कोमल आचरण भी आचरे। ऐसा मुनि अपवादमार्गकी अपेक्षा सहित उत्सर्गमार्गी कहा जाता है। तथा बाल, वृद्ध, खेद, रोग, इन अवस्थाओसे सहित मुनि सयमके साधन शरीरका जिस तरह नाश न हो, उस तरह अपने योग्य कोमल आचरणको आचरता है, परन्तु वही मुनि जिस तरह शुद्धात्मतत्त्वका साधक संयमका नाश न हो, उसी प्रकार अति कठोर आचरणको आचरे, तो वह उत्सर्गमार्गकी

कर्कशमप्याचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवादः । अतः सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम् ॥ ३० ॥

अथोत्सर्गापवादविरोधदौःस्थमाचरणस्योपदिशति—

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं ।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥ ३१ ॥

आहारे वा विहारे देशं कालं श्रमं क्षमामुपधिम् ।
ज्ञात्वा तान् श्रमणो वर्तते यद्यल्पलेपी सः ॥ ३१ ॥

अत्र क्षमाग्लानत्वहेतुरुपवासः । बालवृद्धत्वाधिष्ठानं शरीरमुपधिः, ततो बाल-

---

किमपि प्रासुकाहारादिकं गृह्णातीत्यपवादसापेक्ष उत्सर्गो भण्यते । यदा पुनरपवादलक्षणेऽपहृतसंयमे प्रवर्तते तथापि शुद्धात्मतत्त्वसाधकत्वेन मूलभूतसंयमस्य संयमसाधकत्वेन मूलभूतशरीरस्य वा यथोच्छेदो विनाशो न भवति तथोत्सर्गसापेक्षत्वेन प्रवर्तते । तथा प्रवर्तत इति कोऽर्थः । यथा संयमविराधना न भवति तथेत्युत्सर्गसापेक्षोपवाद इत्यभिप्रायः ॥ ३० ॥ अथापवादनिरपेक्षमुत्सर्गं तथैवोत्सर्गनिरपेक्षमपवादं च निषेधयश्चारित्ररक्षणाय व्यतिरेकद्वारेण तमेवार्थं द्रढयति—**वट्टदि** वर्तते । स कः कर्ता । **समणो** शत्रुमित्रादिसमचित्तः श्रमणः यदि । किम् । **जदि अप्पलेवी सो** यदि चेदल्पलेपी स्तोकसावद्यो भवति । कयोर्विषयोर्वर्तते । **आहारे व विहारे** तपोधनयोग्याहारविहारयोः । किं कृत्वा । पूर्वं **जाणित्ता** ज्ञात्वा । कान् कर्मतापन्नान् । **देसं कालं समं खमं उवधिं** देशं कालं

अपेक्षा लिये हुए, अपवादमार्गी है । इससे यह बात सिद्ध हुई, कि उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों मार्गोंमें जो परस्पर मैत्रीभाव होवे, तो मुनिके आचारकी स्थिरता अच्छी तरह होसकती है ॥३०॥ आगे उत्सर्ग और अपवादमार्ग इन दोनोंमें आपसमें विरोध हो, तो मैत्रीभाव न होवे । उसके न होनेसे आचारकी स्थिरता नहीं होसकती, यह कहते हैं—[**स श्रमणः**] वह अपवादमार्गी अथवा उत्सर्गमार्गी मुनि [**यदि**] जो [**अल्पलेपी**] थोड़े कर्मबंधसे लिप्त होता है, तो [**देशं**] क्षेत्र [**कालं**] शीत उष्णादि काल [**श्रमं**] मार्गादिकका खेद [**क्षमां**] उपवासादि करनेकी शक्ति [**उपधिं**] और बाल, वृद्ध, रोगादि अवस्थायुक्त शरीररूप परिग्रह [**तान्**] इन पाँचोंको [**ज्ञात्वा**] अच्छीतरह जानकर [**आहारे**] मुनि-योग्य आहार-क्रियामें [**वा**] अथवा [**विहारे**] हलन चलनादि क्रियामें [**वर्तते**] प्रवृत्त होता है । **भावार्थ**—जो परमविवेकी उत्सर्गी अथवा अपवादी मुनि इन देश आदि पाँच भेदोंको जानकर जिस क्रियामें कर्मबंध थोड़ा हो, और संयमका भंग न हो, ऐसी आहार क्रियामें प्रवर्ते, तो दोष नहीं है, क्योंकि संयमकी रक्षाके निमित्त जिस तरहसे शरीरका नाश न हो, उसी तरह कठोर अथवा कोमल क्रियामें प्रवर्तता है । इसलिये देश कालका जाननेवाला उत्सर्गमार्गी मुनि, बाल, वृद्ध, खेद, रोगी अवस्थाओंके कारक आहार विहारमें प्रवृत्त होता है, कोमल क्रियाको आचरता है, और अल्प कर्मबंध भी जिसमें होता है, ऐसी अपवाद अवस्थाको धारता हुआ उत्सर्गमुनि बहुत अच्छा है, जो कि शरीर-रक्षा करके भी संयमका भंग नहीं होने

वृद्धश्रान्तग्लाना एव त्वाकृष्यन्ते । अथ देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्गः । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वरमपवादः । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयतः सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति । तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः ।

मार्गादिश्रमं क्षमं क्षमतामुपवासादिविषये शक्ति उपधिं बालवृद्धश्रान्तग्लानसबन्धिनं शरीरमात्रोपधिं परिग्रहमिति पञ्च देशादीन् तपोधनाचरणसहकारिभूतानिति । तथाहि—पूर्वकथितक्रमेण तावद्दुर्धरानुष्ठानरूपोत्सर्गे वर्तते । तत्र च प्रासुकाहारादिग्रहणनिमित्तमल्पलेपं दृष्ट्वा यदि न प्रवर्तते तदा आर्तध्यानसक्लेशेन शरीरत्याग कृत्वा पूर्वकृतपुण्येन देवलोके समुत्पद्यते । तत्र सयमाभावान्महान् लेपो भवति । तत कारणादपवादनिरपेक्षमुत्सर्गं त्यजति । शुद्धात्मभावनासाधकमल्पलेप बहुलाभमपवादसापेक्षमुत्सर्गं स्वीकरोति तथैव च पूर्वसूत्रोक्तक्रमेणापहृतसंयमशब्दवाच्येऽपवादे प्रवर्तते

देता है, और देश कालादिका जाननेवाला अपवादमार्गी मुनि, बाल, वृद्ध, खेद, रोग, अवस्थाओके वशीभूत होकर आहार विहार क्रियामे प्रवर्तता हुआ कोमल आचरणोको आचरता है, और न प्रमादी हुआ अति कोमल आचरणकर सयमका नाश करता है। जहाँपर सयमका नाश हुआ जानता है, वहाँ कठोर क्रिया भी करता है, अति शिथिल भी नही होता। शरीरकी रक्षा करके सयमको पालता है, अल्प बध भी होता है, ऐसी उत्सर्गअवस्थाको लिये हुए, अपवादमार्गी मुनि बहुत अच्छा है, जो कि सयमको भी पालता है, और शरीरको भी डिगने नही देता। तथा देश कालादिका जाननेवाला उत्सर्गमुनि, बाल, वृद्ध, रोग, खेद, अवस्थाओके होनेपर जो अल्प कर्मबंधके भयसे कोमल आचारको नही आचरण करे, आहार विहार क्रियामे नही प्रवर्ते, और मनमे यह जाने, कि मैं इस उत्कृष्ट उत्सर्ग सयमको धारण करता हूँ, मुझको जघन्य दशास्वरूप अपवाद सयम योग्य नही है, तथा जो हीन अवस्थाको धारण करूँगा, तो बध होगा, ऐसा जानकर उत्कृष्ट ही आचारका आचरण करे, तो वह मुनि अति कठोर तप करके शरीरका नाशकर देवलोकमे जाके उत्पन्न होता है, वहाँ संयमरूप अमृतका वमन (उल्टी) करता है, क्योकि देवपद तपस्याका कारण नही है। इसलिये वहाँपर वही जीव महा कर्मबधसे लिप्त होता है। इस कारण जो उत्सर्गमार्गी अपवादमार्गसे मैत्रीभाव नही करता, तो वह उत्सर्गमार्गी अच्छा नही है, जो कि शरीरका नाशकर सयमका नाश करता है। तथा जो देश कालादिका जाननेवाला अपवाद मुनि बाल, वृद्ध, खेद, रोग, अवस्थाओके होनेपर आहार विहारमे प्रवृत्ति करे, और मनमे यह समझे, कि सिद्धान्तोमे कहा है, कि जो अल्प बध भी होवे, तो भी रोग खेदादि दशाओके होनेपर वह मुनि कोमल आचारमे प्रवृत्ति करे, तो दोष नही है, ऐसा जानकर जा अति शिथिल (आलसी) होके स्वेच्छाचारी हुआ आहार विहारमे प्रवर्ते, तो वह सयमका नाश कर असयमीके समान होवे, उस समय मुनिके

समन्ततो दोलायमानस्यात्यन्ततरलतया कदाचिच्चिकीर्षाज्वरपरवशस्य विश्वं स्वयं सिसृक्षोर्विश्वव्यापारपरिणतस्य प्रतिक्षणविजृम्भमाणक्षोभतया कदाचिद्बुभुक्षाभावितस्य विश्वं स्वयं भोग्यतयोपादाय रागद्वेषदोषकल्माषितचित्तवृत्तेरिष्टानिष्टविभागेन प्रवर्तितद्वैतस्य प्रतिवस्तुपरिणममानस्यात्यन्तविसंस्थुलतया कृतनिश्चयस्य निःक्रियनिर्भोगं युगपदापीतविश्वमप्यविश्वतयैकं भगवन्तमात्मानमपश्यतः सततं वैयग्र्यमेव स्यात् । न चैकाग्र्यमन्तरेण श्रामण्यं सिद्ध्येत्, यतो नैकाग्र्यस्यानेकमेवेदमिति पश्यतस्तथाप्रत्ययाभिनिविष्टस्यानेकमेवेदमिति जानतस्तथानुभूतिभावितस्यानेकमेवेदमितिप्रत्यर्थविकल्पव्यावृत्तचेतसा सततं प्रवर्तमानस्य तथा वृत्तिदुःस्थितस्य चैकात्मप्रतीत्यनुभूतिवृत्तिस्वरूपसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतिप्रवृत्तदृशिज्ञप्तिवृत्तिरूपात्मत-

---

परिज्ञानादेव भवतीति प्रकाशयति—**एयग्गगदो समणो** ऐकाग्र्यगतः श्रमणो भवति । अत्रायमर्थः — जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानलक्षणनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपमैकाग्र्यं भण्यते । तत्र गतस्तन्मयत्वेन परिणतः श्रमणो भवति । **एयग्गं णिच्छिदस्स** ऐकाग्र्यं पुनर्निश्चितस्य तपोधनस्य भवति । केषु । अत्थेसु टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतिष्वर्थेषु **णिच्छित्ती आगमदो** सा च पदार्थनिश्चितिरागमतो भवति । तथाहि—जीवभेदकर्मभेदप्रतिपादकागमाभ्यासाद्भवति न केवलमभ्यासात्तथैवागमपदे सारभूताच्चिदानन्दैकपरमात्मतत्त्वप्रकाशकादध्यात्माभिधानात्परमागमाच्च पदार्थ-

---

करनेकी इच्छासे समस्त द्रव्योंके व्यापाररूप परिणमन करता है, और समय समयमें अहंबुद्धिसे क्षोभभावकी हवासे क्षोभित समुद्रकी तरह क्षोभित हुआ, कभी भोगनेकी इच्छा करता है, समस्त त्रैलोक्यका भोक्ता अपनेको मानता है, सबको भोग्य जानता है, कि यह मेरी वस्तु है, मैं इसका भोगनेवाला हूँ, और राग द्वेष भावोंसे कलङ्कित (मलिन) चित्त होता है, इष्ट अनिष्ट वस्तुओंमें द्विविधभेद मानकर प्रवर्तता है, हरएक वस्तुमें आत्मबुद्धिसे परिणमता है, अत्यंत शिथिल भावकर बहिर्मुख हुआ परमें आत्माका निश्चय करता है, और वह अकर्ता, अभोक्ता अपनी ज्ञान-शक्तिसे एक ही समय समस्त लोकालोकका पीनेवाला (जाननेवाला) और अपने स्वरूपसे एक है, ऐसे भगवंत आत्माको देखता जानता नहीं है, हमेशा चञ्चलतासे क्लेशयुक्त रहता है। इस कारण पदार्थोंके निश्चय विना एकाग्रता नहीं होती, इसीसे पदार्थोंका निश्चय करना योग्य है। एकाग्रता विना मुनिपदकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि वह स्वरूपको पर उपाधिसे अनेकरूप देखता है, अनेकतारूप प्रतीतिके आवशसे अनेकरूप जानता है, अनेक ही स्वरूप देखता है, अनेकरूप अनुभव करता है, कि मेरा स्वरूप अनेक है, सब परभावोंसे रहित एक स्वरूपको देखता, जानता, अनुभवता नहीं है, इसी लिये हरएक पदार्थमें निरंतर आत्मभावसे प्रवर्तता है, संकल्प विकल्परूप चित्तकी प्रवृत्ति धारण करता है। इस प्रकार एकाग्रता विना अथिर दुस्थित हुआ पुरुष अपने एक स्वरूपके अनुभवकी प्रवृत्तिकर ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप आत्मतत्त्वकी एकाग्रताको कैसे पासकता है? जहांपर एकाग्रता न हो, वहाँ शुद्धात्मतत्त्व अनुभवरूप यतिपद किस तरह हो सके? नहीं होता। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि जिसका दूसरा नाम मोक्षमार्ग है, ऐसा जो यह मुनिपद है,

स्वैकाग्र्याभावात् शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपं श्रामण्यमेव न स्यात् । अतः सर्वथा मोक्षमार्गापरनाम्नः श्रामण्यस्य सिद्धये भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञे प्रकटानेकान्तकेतने शब्दब्रह्मणि निष्णातेन मुमुक्षुणा भवितव्यम् ।। ३२ ।।

अथागमहीनस्य मोक्षाख्यं कर्मक्षपणं न संभवतीति प्रतिपादयति—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ।। ३३ ।।

आगमहीन श्रमणो नैवात्मान परं विजानाति ।
अविजानन्नर्थान् क्षपयति कर्माणि कथं भिक्षु ।। ३३ ।।

न खल्वागममन्तरेण परात्मज्ञानं परमात्मज्ञानं वा स्यात्, न च परात्मज्ञानशून्यस्य परमात्मज्ञानशून्यस्य वा मोहादिद्रव्यभावकर्मणां ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां वा क्षपणं स्यात् । तथाहि—न तावन्निरागमस्य निरवधिभवापगाप्रवाहवाहिमहामोह-

---

परिच्छित्तिर्भवति आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा तत कारणादेव मुक्तलक्षणागमपरमागमे च चेष्टा प्रवृत्ति ज्येष्ठा प्रशस्येत्यर्थ ।। ३२ ।। अथागमपरिज्ञानहीनस्य कर्मक्षपण न भवतीति प्ररूपयति—**आगमहीणो समणो णेवप्पाणं पर वियाणादि** आगमहीन. श्रमणो नैवात्मान पर वा विजानाति **अविजाणंतो अट्ठे** अविजानन्नर्थान्परमात्मादिपदार्थान् **खवेदि कम्माणि किध भिक्खु** क्षयपति कर्माणि कथ भिक्षुर्न कथमपि इति । इतो विस्तर —"गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य । उवओगी वि य कमसो वीस तु परूवणा भणिदा ।।" इति गाथाकथिताद्यागममजानन् तथैव

उसकी सिद्धिके निमित्त अर्हंत सर्वज्ञ कथित प्रगट अनेकान्त ध्वजासहित ब्रह्मरूप सिद्धात मुक्तिवांछक पुरुषोकर आदर करने योग्य है । सिद्धान्तके अभ्याससे पदार्थोंका निश्चय होता है, उस निश्चयसे एकाग्रता होती है, उस एकाग्रतासे मुनिपद होता है, मुनिपद और मोक्षमार्ग एक है। इस कारण मोक्षाभिलाषोको आगमका अभ्यास करना उचित है ।। ३२ ।। आगे आगमसे जो रहित है, उसके मोक्षरूप कर्मोंकी क्षपणा (क्षय) नही होती, यह कहते हैं—[**आगमहीन श्रमण**] सिद्धान्तकर रहित मुनि [**आत्मानं**] नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्मसे रहित शुद्ध जीवद्रव्यको और [**परं**] पर शरीरादि द्रव्य भाव कर्मोको [**नैव**] निश्चयकर नही [**विजानाति**] जानता है, और [**अर्थान्**] जीव अजीवादि पदार्थोको [**अविजानन्**] नही जानता हुआ [**भिक्षु**] मुनि [**कर्माणि**] द्रव्यभावरूप समस्त कर्मोंका [**कथ**] कैसे [**क्षपयति**] नाश कर सकता है । **भावार्थ**—जिस जीवको सिद्धान्तका ज्ञान न हो, और आगमके पढने सुननेरूप अभ्याससे रहित होवे, उसको अपना और परका ज्ञान नही होता, और निर्विकल्परूप परमात्माका भी ज्ञान नही होता है, उसीको दिखलाते हैं—अनत ससाररूपी नदीका बढानेवाला जो यह महामोह है, उससे कलकित (मलीन) हुए जगत-जीव है, वे भगवतप्रणीत आगमके विना विवेकसे रहित हैं, जैसे धतूरेको पीकर उन्मत्त (बावला) हुआ मनुष्य करने योग्य कार्य और अकार्यको नही जानता, उसी तरहसे अनजान हो रहे है, पर और आत्माको एक स्वरूप देखते हैं, जानते है, शरीरादि परद्रव्यमे और उपयोगसे मिले हुए राग, द्वेष,

मलमलीमसस्यास्य जगतः पीतोन्मत्तकस्येवावकीर्णविवेकस्याविविक्तेन ज्ञानज्योतिषा निरूपयतोऽप्यात्मात्मप्रदेशनिश्रितशरीरादिद्रव्येषूपयोगमिश्रितमोहरागद्वेषादिभावेषु च स्वपरनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावादयं परोऽयमात्मेति ज्ञानं सिद्ध्येत्। तथा च त्रिसमयपरिपाटीप्रकटितविचित्रपर्यायप्राग्भारागाधगम्भीरस्वभावं विश्वमेव ज्ञेयीकृत्य प्रतपतः परमात्मनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावात् ज्ञानस्वभावस्यैकस्य परमात्मनो ज्ञानमपि न सिद्ध्येत्। परात्मपरमात्मज्ञानशून्यस्य तु द्रव्यकर्मारब्धैः शरीरादिभिस्तत्प्रत्ययैर्मोहरागद्वेषादिभावैश्च सहैक्यमाकलयतो वध्यघातकविभागाभावान्मोहादिद्रव्यभावकर्मणां क्षपणं न सिद्ध्येत्। तथा च ज्ञेयनिष्ठतया प्रतिवस्तु पातोत्पातपरिणतत्वेन ज्ञप्तेरासंसारात्परिवर्तमानायाः परमात्मनिष्ठत्वमन्तरेणानिवार्यपरिवर्ततया ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां क्षपणमपि न सिद्ध्येत्। अतः कर्मक्षपणार्थिभिः सर्वथागमः पर्युपास्यः ॥ ३३ ॥

"भिण्णउ जेण ण जाणियउ णियदेहह परमत्थु। सो अधउ अवरह अधयह किं दरिसावइ पथु ॥" इति दोहकसूत्रकथिताद्यागमपदसारभूतमध्यात्मशास्त्रं चाजानन् पुरुषो रागादिदोषरहिताव्याबाधसुखादिगुणस्वरूपनिजात्मद्रव्यस्य भावकर्मशब्दाभिधेयै रागादिनानाविकल्पजालैर्निश्चयेन कर्मभि सह भेद न जानाति तथैव कर्मारिविध्वंसकस्वकीयपरमात्मतत्त्वस्य ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभिरपि सह पृथक्त्व न वेत्ति। तथा चाशरीरलक्षणशुद्धात्मपदार्थस्य शरीरादिनोकर्मकर्मभि सहान्यत्व न जानाति। इत्थंभूतभेदज्ञानाभावाद्देहस्थमपि निजशुद्धात्मान न रोचते। समस्तरागादिपरिहारेण न च भावयति। ततश्च कथ कर्मक्षयो भवति न कथमपीति। तत कारणान्मोक्षार्थिना

मोह, भावोमें एकता मानते हैं। स्वपर भेदका कारण जो सिद्धान्त उसके उपदेशसे जिसके आत्माका अनुभव नही हुआ है, इस कारण उसके यह आत्मा है, यह पर है, ऐसे भेदविज्ञानकी सिद्धि नही होती। और निर्विकल्प समाधिसे एक परमात्मज्ञानकी भी सिद्धि नही होती। वह परमात्मा तीन कालसंबधी अनंत नाना प्रकारकी पर्यायो सहित लोक अलोकरूप समस्त ज्ञेयको एक समयमे जानकर प्रकाशमान है, ऐसे केवलज्ञान स्वभावरूप आत्माको नही जानता है। जो परमात्माके भेदविज्ञानसे शून्य है, और परमात्मज्ञानसे भी शून्य है, वह पुरुष द्रव्यकर्म, भावकर्म नोकर्मसे आत्माको एक (मिला हुआ) मानता है, ऐसा नहीं समझता, कि ये कर्म आत्माके घातक हैं, आत्मा इनसे घाता जाता है, इसी लिये आत्माके स्वभाव नही हैं, ऐसा भेद नही जानता, और समस्त विकल्पोसे रहित होके स्वरूपको नही अनुभवता, तो बतलाइये कि ऐसे जीवके मोह आदिक द्रव्य भावकर्मोंका क्षय किस तरहसे होवे ? नही हो सकता, और वही जीव अपनी भूलसे पर ज्ञेयोमे तिष्ठता है, हरएक पदार्थमे ग्रहण और त्यागसे राग द्वेष भावरूप परिणमन करता है, इसलिये उस जीवका ज्ञान अनादि कालसे उलटा हो रहा है, परमात्मस्वरूपमें स्थिर नहीं होता। ऐसे जीवके अथिर शुद्ध क्षयोपशमरूप ज्ञानकर्मकी भी क्षपणा नही होती। जो कि भेदविज्ञानसे शून्य है, और परमात्मज्ञानसे शून्य है। इस कारण अज्ञानीके द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, अथिर ज्ञानकर्म,

अथागम एवैकश्चक्षुर्मोक्षमार्गमुपसर्पतामित्यनुशास्ति—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥ ३४ ॥

आगमचक्षु साधुरिन्द्रियचक्षूंषि सर्वभूतानि ।
देवाश्चावधिचक्षुषः सिद्धा पुनः सर्वतश्चक्षुष ॥ ३४ ॥

इह तावद्भगवन्तः सिद्धा एव शुद्धज्ञानमयत्वात्सर्वतश्चक्षुषः शेषाणि तु सर्वाण्यपि भूतानि मूर्तद्रव्यावसक्तदृष्टित्वादिन्द्रियचक्षूंषि, देवास्तु सूक्ष्मत्वविशिष्टमूर्तद्रव्यग्राहित्वादवधिचक्षुषः । अथ च तेऽपि रूपिद्रव्यमात्रदृष्टत्वेनेन्द्रियचक्षुर्भ्योऽविशिष्यमाणा इन्द्रियचक्षुष एव । एवममीषु समस्तेष्वपि संसारिषु मोहोपहततया ज्ञेयनिष्ठेषु सत्सु ज्ञाननिष्ठत्वमूलशुद्धात्मतत्त्वसंवेदनसाध्यं सर्वतश्चक्षुस्त्वं न सिद्ध्येत् । अथ तत्सिद्धये भगवन्तः श्रमणा आगमचक्षुषो भवन्ति । तेन ज्ञेयज्ञानयोरन्यो-

---

परमागमाभ्यास एव कर्तव्य इति तात्पर्यार्थः ॥ ३३ ॥ अथ मोक्षमार्गार्थिनामागम एव दृष्टिरित्याख्याति—**आगमचक्खू** शुद्धात्मादिपदार्थप्रतिपादकपरमागमचक्षुषो भवन्ति । के ते । **साहू** निश्चयरत्नत्रयाधारेण निजशुद्धात्मसाधका साधव. **इंदियचक्खूणि** निश्चयेनातीन्द्रियामूर्तकेवलज्ञानादिगुणस्वरूपाण्यपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशादिन्द्रियाधीनत्वेनेन्द्रियचक्षूंषि भवन्ति । कानि कर्तृणि । **सव्वभूदाणि** सर्वभूतानि सर्वससारिजीवा इत्यर्थः । **देवा य ओहिचक्खू** देवा अपि च सूक्ष्ममूर्तपुद्गलद्रव्यविषयावधिचक्षुष **सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू** सिद्धाः पुन शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवा-

---

इनका नाश नही होता । इसलिये इन कर्मोके क्षयके निमित्तकारण आगमका अभ्यास करना योग्य है ॥ ३३ ॥ आगे मोक्षमार्गी जीवोके एक सिद्धान्त ही नेत्र है, यह कहते हैं—**[साधु]** मुनि **[आगमचक्षु]** सिद्धान्तरूपी नेत्रोवाला होता है, अर्थात् मुनिके मोक्षमार्गकी सिद्धिके निमित्त आगमनेत्र होते है, **[सर्वभूतानि]** समस्त ससारी जीव **[इन्द्रियचक्षूंषि]** मन सहित स्पर्शनादि छह इन्द्रियोरूप चक्षुवाले हैं, अर्थात् ससारी जीवोके इष्ट अनिष्ट विषयोके जाननेके लिये इन्द्रिय ही नेत्र हैं, **[च]** और **[देवाः]** चार तरहके देव **[अवधिचक्षुष]** अवधिज्ञानरूप नेत्रोवाले हैं, अर्थात् देवताओके सूक्ष्म मूर्तीक द्रव्य देखनेको अवधिज्ञान नेत्र है, लेकिन वह अवधिज्ञान इन्द्रियज्ञानसे विशेष नही, क्योकि अवधि मूर्तद्रव्यको ग्रहण करता है, और इन्द्रिय नेत्र भी मूर्तीकको ग्रहण करता है, इससे इन दोनोमे समानता है, **[पुनः]** तथा **[सिद्धा]** अष्टकर्म रहित सिद्धभगवान् **[सर्वतः चक्षुषः]** सब ओरसे नेत्रोवाले हैं । **भावार्थ**—संसारमे जितने ससारी जीव हैं, वे सब अज्ञानसे आच्छादित हैं, इस कारण परज्ञेय पदार्थोमे मोहित हैं, ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञानसे रहित है, इससे इनके अतीन्द्रिय सबका देखनेवाला नेत्र नही है, सर्वदर्शी तो एक सिद्धभगवान् हैं, उस सिद्धपदकी प्राप्तिके निमित्त जो मोक्षमार्गी महामुनि हैं, वे आगम-नेत्रके धारक होते हैं, उस आगम-नेत्रसे स्वरूप पररूपका भेद करते हैं । यद्यपि ज्ञेय ज्ञानकी परस्पर एकता हो रही है, भेद नही किया जाता है, तो भी आगम-नेत्रके बलसे लक्षणभेद जुदा जुदा किये जाते हैं, इस भेदविज्ञान-

न्यसंवलनेनाशक्यविवेचनत्वे सत्यपि स्वपरविभागमारचय्य निर्भिन्नमहामोहाः सन्तः परमात्मानमवाप्य सततं ज्ञाननिष्ठा एवावतिष्ठन्ते। अतः सर्वमप्यागमचक्षुषैव मुमुक्षूणां द्रष्टव्यम् ॥ ३४ ॥

अथागमचक्षुषा सर्वमेव दृश्यत एवेति समर्थयति—

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥ ३५ ॥

सर्वे आगमसिद्धा अर्था गुणपर्यायैश्चित्रैः।
जानन्त्यागमेन हि दृष्ट्वा तानपि ते श्रमणाः ॥ ३५ ॥

आगमेन तावत्सर्वाण्यपि द्रव्याणि प्रमीयन्ते, अविशिष्ट[विस्पष्ट]तर्कणस्य सर्वद्रव्याणामविरुद्धत्वात्। विचित्रगुणपर्यायविशिष्टानि च प्रतीयन्ते, सहक्रमप्रवृत्तानेकधर्मव्यापकानेकान्तमयत्वेनैवागमस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः। अतः सर्वेऽर्था आगमसिद्धा एव

जीवलोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयसर्वप्रदेशचक्षुष इति। अनेन किमुक्तं भवति, सर्वशुद्धात्मप्रदेशे लोचनोत्पत्तिनिमित्तं परमागमोपदेशादुत्पन्नं निर्विकारं मोक्षार्थिभिः स्वसंवेदनज्ञानमेव भावनीयमिति ॥ ३४ ॥ अथागमलोचनेन सर्वं दृश्यत इति प्रज्ञापयति—**सव्वे आगमसिद्धा** सर्वेऽप्यागमसिद्धा आगमेन ज्ञाताः। के ते। **अत्था** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतयोऽर्थाः। कथं सिद्धाः। **गुणपज्जएहिं चित्तेहिं** विचित्रगुणपर्यायैः सह। **जाणंति** जानन्ति। कान्। **ते वि** तान् पूर्वोक्तार्थगुणपर्यायान्। किं कृत्वा पूर्वम्। **पेच्छित्ता** दृष्ट्वा ज्ञात्वा। केन। **आगमेण हि** आगमेनैव। अयमत्रार्थः—पूर्वमागमं पठित्वा पश्चाज्जानन्ति **ते समणा** ते श्रमणा भवन्तीति। अत्रेदं भणितं भवति—सर्वे द्रव्यगुणपर्यायाः परमागमेन ज्ञायन्ते। कस्मात्। आगमस्य

की शक्तिसे प्राणी महामोहको जीतता है, पीछे परमात्मतत्वको पाता है, तब निरन्तर अनन्तज्ञानमें तिष्ठता है। इसलिये सर्वदर्शी सिद्धपदके साधक आगमको जानकर मुक्तिके इच्छुक महामुनि सबको आगम-नेत्रसे देखते हैं, आगम बड़ा नेत्र है ॥ ३४ ॥ आगे आगम-नेत्रसे सब देखा जाता है, यह बात दृढ करते है।—(**सर्वे अर्थाः**) सभी जीव अजीवादि पदार्थ हैं, वे (**चित्रैः**) नाना प्रकारके (**गुणपर्यायैः**) गुणपर्यायोसे (**आगमसिद्धाः**) सिद्धान्तमे सिद्ध हैं, (**तान् अपि**) गुण पर्यायो सहित उन पदार्थोंको भी (**ते श्रमणाः**) वे मोक्षमार्गी महामुनि (**हि**) निश्चयकर (**आगमेन दृष्ट्वा**) सिद्धान्त-नेत्रसे देखकर (**जानन्ति**) जानते हैं। **भावार्थ**—जितने जीव अजीवादि पदार्थ हैं, उनके गुण पर्यायोके भेदसे जो स्वरूप हैं, वह अनादिनिधन सिद्धान्तमे अच्छी तरह सिद्ध किया है, अर्थात् सिद्धान्तमे द्रव्य, गुण, पर्यायका स्वरूप यथार्थ कहा है, किसी तर्क (न्याय) से खंडित नहीं होता, अविरोधरूप है। सहभावी गुण और क्रमवर्ती पर्याय इन दो भेदोसे द्रव्यमें जो अनंतधर्म हैं, उन स्वरूप अनेकान्तको आगम कहा है, इससे प्रमाण है, क्योकि नाना प्रकारके गुण पर्याय सहित सब द्रव्योंके अनेकातस्वरूपका आगम कहनेवाला है। ऐसे आगम-नेत्रसे महामुनि सकल पदार्थोंके स्वरूपको देखते हैं, जानते हैं। सब पदार्थ ज्ञेय हैं, महामुनि ज्ञाता हैं, द्रव्यश्रुत आगमको

भवन्ति । अथ ते श्रमणानां ज्ञेयत्वमापद्यन्ते स्वयमेव, विचित्रगुणपर्यायविशिष्टसर्वद्रव्यव्यापकानेकान्तात्मकश्रुतज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमनात् । अतो न किंचिदप्यागमचक्षुषामदृश्यं स्यात् ॥ ३५ ॥

अथागमज्ञानतत्पूर्वतत्त्वार्थश्रद्धानतदुभयपूर्वसंयतत्वानां यौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं नियमयति—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥ ३६ ॥

आगमपूर्वा दृष्टिर्न भवति यस्येह सयमस्तस्य ।
नास्तीति भणति सूत्रमसयतो भवति कथ श्रमण ॥ ३६ ॥

इह हि सर्वस्यापि स्यात्कारकेतनागमपूर्विकया तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणया दृष्ट्या शून्यस्य स्वपरविभागाभावात् कायकषायैः सहैक्यमध्यवसतोऽनिरुद्धविषयाभिलाषतया

परोक्षरूपेण केवलज्ञानसमानत्वात्, पश्चादागमाधारेण स्वसवेदनज्ञाने जाते स्वसंवेदनज्ञानबलेन केवलज्ञाने च जाते प्रत्यक्षा अपि भवन्ति । तत. कारणादागमचक्षुषा परपरया सर्वं दृश्यं भवतीति ॥ ३५ ॥ एवमागमाभ्यासकथनरूपेण प्रथमस्थले सूत्रचतुष्टय गतम् । अथागमपरिज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानतदुभयपूर्वकसयतत्वत्रयस्य मोक्षमार्गत्व नियमयति—**आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह** आगमपूर्विका दृष्टि सम्यक्त्व नास्ति यस्येह लोके **सजमो तस्स णत्थि** सयमस्तस्य नास्ति **इदि भणदि** इत्येव भणति कथयति । किं कर्तृ । **सुत्त** सूत्रमागम । **असंजदो होदि किध समणो** असयत:

जानकर भावश्रुत ज्ञानके उपयोगी होकर परिणमे हैं, इस कारण महामुनि आगमके बलसे सबको देखते हैं, इसी लिये आगम-नेत्रसे कुछ भी अनदीखता नही रहता । इस कारण मोक्षाभिलाषीको अभ्यास करना योग्य है ॥ ३५ ॥ आगे सिद्धान्तका ज्ञान और उस सिद्धान्तके अनुसार श्रद्धान और ज्ञान श्रद्धान सयुक्त सयम ये तीनो एक कालमे होवें, तो मोक्षमार्ग होता है, ऐसा निश्चय करते हैं—(**इह**) इस लोकमे (**यस्य**) जिस जीवके (**आगमपूर्वा**) पहले अच्छी तरह सिद्धान्तको जानकर (**दृष्टि**) सम्यग्दर्शन (**न भवति**) नही हो, (**तस्य**) तो उसके (**सयम.**) मुनिकी क्रियारूप आचार (**नास्ति**) नही होता, (**इति**) यह बात (**सूत्र**) जिनप्रणीत सिद्धान्त (**भणति**) कहता है, (**असंयत**) और जिसके सयमभाव नही है, वह पुरुष (**कथ**) कैसे (**श्रमणः**) मुनि (**भवति**) हो सकता है ? नही हो सकता। **भावार्थ**—जिस पुरुषके प्रथम ही आगमको जानकर पदार्थोंका श्रद्धान न हुआ हो, उस पुरुषके सयमभाव भी नही होता, यह निश्चय है, और जिसके सयम नही हैं, वह मुनि नही कहा जाता । जिसके आगमको जानकर श्रद्धान हुआ हो, वही मुनि कहलाता है, अन्यथा नही कहा जाता । इसी कथनको विशेषतासे दिखलाते हैं—ज्ञान दर्शन चारित्रका जो एक ही बार होना उसको मोक्षमार्ग कहते हैं, क्योकि जो जीव अनेकान्त ध्वजाकर विराजमान आगमज्ञानके अनुसार श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनसे रहित है, उसके भेदविज्ञानके अभावसे स्वपरका भेद नही होता, कषाय परिणामोसे एकताका अभ्यास होता है, वहांपर राग, द्वेष, मोह, भावसे विषयाभिलाषाका निरोध नही होता, इन्द्रियें विषयोमे प्रवर्तती हैं, षट्कायके जीवोंकी हिंसा

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽप्यात्मज्ञानस्य मोक्षमार्गसाधकतमत्वं द्योतयति—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥ ३८ ॥

यदज्ञानी कर्म क्षपयति भवशतसहस्रकोटिभि. ।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्त क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ ३८ ॥

यदज्ञानी कर्म क्रमपरिपाट्या बालतपोवैचित्र्योपक्रमेण च पच्यमानमुपात्तरागद्वेषतया सुखदुःखादिविकारभावपरिणतः पुनरारोपितसंतानं भवशतसहस्रकोटीभिः

नास्ति किंतु त्रयेणेति ॥ ३७ ॥ एव भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गस्थापनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् । किंच बहिरात्मावस्थान्तरात्मावस्थापरमात्मावस्था मोक्षावस्थात्रयं तिष्ठति । अवस्थात्रयेऽनुगताकारद्रव्यं तिष्ठति । एव परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायात्मको जीवपदार्थ । तत्र मोक्षकारण चिन्त्यते । मिथ्यात्वरागादिरूपा बहिरात्मावस्था तावदशुद्धा मुक्तिकारण न भवति । मोक्षावस्था शुद्धात्मफलभूता सा चाग्रे तिष्ठति । एताभ्या द्वाभ्या भिन्ना यान्तरात्मावस्था सा मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन शुद्धा यथा सूक्ष्मनिगोतज्ञाने शेषावरणे सत्यपि क्षयोपशमज्ञानावरण नास्ति तथात्रापि केवलज्ञानावरण सत्यप्येकदेशक्षयोपशमज्ञानापेक्षया नास्त्यावरणम् । यावताशेन निरावरणरागादिरहितत्वेन शुद्धा च तावताशेन मोक्षकारणं भवति तत्र शुद्धपारिणामिकभावरूपं परमात्मद्रव्य ध्येय भवति तच्च तस्मादन्तरात्मध्यानावस्थाविशेषात्कथचिद्भिन्नम् । यदैकान्तेनाभिन्न भवति तदा मोक्षेऽपि ध्यान प्राप्नोति, अथवास्य ध्यानपर्यायस्य विनाशे सति तस्य पारिणामिकभावस्यापि विनाश· प्राप्नोति । एव बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मकथनरूपेण मोक्षमार्गो ज्ञातव्य· । अथ परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वाना भेदरत्नत्रयरूपाणा मेलापकेऽपि यदभेदरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिलक्षणमात्मज्ञान निश्चयेन तदेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति—ज अण्णाणी कम्मं खवेदि निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकविशिष्टभेदज्ञानाभावादज्ञानी जीवो यत्कर्म क्षपयति । कामि

तभी मोक्षमार्ग होता है, ऐसा तात्पर्य समझना ॥ ३७ ॥ आगे आगम-ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और सयमभाव इस रत्नत्रयकी एकताके होनेपर भी आत्मज्ञानको मुख्यरूप मोक्षमार्गका साधक दिखलाते हैं—(**अज्ञानी**) परमात्मज्ञान रहित पुरुष (**यत् कर्म**) जो ज्ञानावरणादि अनेक कर्म (**भवशतसहस्रकोटिभि**) सौ हजार कोड (अनेक) पर्यायोकर (**क्षपयति**) क्षय करता है, (**त्रिभिर्गुप्त**) मन, वचन, कायकी क्रियाओके निरोधकर स्वरूपमे लीन (**ज्ञानी**) परमात्मभावका अनुभवी ज्ञाता (**तत्**) उन ज्ञानावरणादि असख्यात लोकमात्र कर्मोको (**उच्छ्वासमात्रेण**) एक उस्वासमात्र (थोडे) कालमें ही (**क्षपयति**) क्षय कर देता है । **भावार्थ**—अज्ञानी जीव क्रियाकाडकी परिपाटीसे और अनेक प्रकारके अज्ञानतपके बलसे जो कर्म क्षय करता है, उसी कर्मके उदयसे राग, द्वेष, भावोसे सुख दु खादि विकार भावोरूप परिणमता है, पश्चात् नवीन बध करके सन्तान बढाता है, इस कारण अनेक सौ हजार कोटि पर्यायोमें भी कर्मोका क्षय नही करता,—मुक्त नही होता, अज्ञानीके

कथंचन निस्तरति, तदेव ज्ञानी स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यातिशयप्रसादासादितशुद्धज्ञानमयात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्वसद्भावात्कायवाङ्मनःकर्मोपरमप्रवृत्तत्रिगुप्तत्वात् प्रचण्डोपक्रमपच्यमानमपहस्तितरागद्वेषतया दूरनिरस्तसमस्तसुखदुःखादिविकारः पुनरनारोपितसंतानमुच्छ्वासमात्रेणैव लीलयैव पातयति। अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम् ॥ ३८ ॥

अथात्मज्ञानशून्यस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्करमित्यनुशास्ति—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥३९॥

कर्मभूताभि। भवसयसहस्सकोडीहिं भवशतसहस्रकोटिभि त णाणी तिहिं गुत्तो तत्कर्म ज्ञानी जीवस्त्रिगुप्तिगुप्त. सन् खवेदि उस्सासमेत्तेण क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेणेति। तद्यथा—बहिर्विषये परमागमाभ्यासबलेन यत्सम्यक्परिज्ञान तथैव श्रद्धान व्रताद्यनुष्ठान चेति त्रय तत्त्रयाधारेणोत्पन्नं सिद्धजीवविषये सम्यक्परिज्ञान श्रद्धान तद्गुणस्मरणानुकूलमनुष्ठान चेति त्रय तत्त्रयाधारेणोत्पन्न विशदाखण्डैकज्ञानाकारे स्वशुद्धात्मनि परिच्छित्तिरूप सविकल्पज्ञान स्वशुद्धात्मोपादेयभूतरुचिविकल्परूप सम्यग्दर्शन तत्रैवात्मनि रागादिविकल्पनिवृत्तिरूप सविकल्पचारित्रमिति त्रयम्। तत्त्रयप्रसादेनोत्पन्न यन्निर्विकल्पसमाधिरूप निश्चयरत्नत्रयलक्षण विशिष्टस्वसवेदनज्ञान तदभावादज्ञानी जीवो बहुभवकोटिभिर्यत्कर्म क्षपयति तत्कर्म ज्ञानी जीव पूर्वोक्तज्ञानगुणसद्भावात् त्रिगुप्तिगुप्तः सन्नुच्छ्वासमात्रेण लीलयैव क्षपयतीति। ततो ज्ञायते परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वाना भेदरत्नत्रयरूपाणा सद्भावेऽप्यभेदरत्नत्रयरूपस्य स्वसवेदनज्ञानस्यैव प्रधानत्वमिति ॥ ३८ ॥ अथ पूर्वसूत्रोक्तात्मज्ञानरहितस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वाना यौगपद्यमप्यकिंचित्करमित्युपदि-

---

कर्मकी निर्जरा बधका ही कारण है, और ज्ञानीके वह स्याद्वाद—ध्वजासे चिह्नित आगमका जानना, तत्त्वार्थ श्रद्धान, और संयमभाव इन तीन रत्नत्रय भावोकी अधिकताके प्रसादसे अगीकार की गई शुद्ध ज्ञानमयी आत्मतत्त्वकी अनुभूति, उसरूप ज्ञानके होनेसे मन, वचन, कायकी क्रियाके निरोधसे स्वरूपमे गुप्त है, इस कारण वह ज्ञानी अपनी ज्ञान वैराग्यकी शक्तिके बलसे एक क्षणमे विना ही यत्नके अपनी लीला ही कर असख्यात लोकमात्र कर्मोंको क्षय कर डालता है, कर्मके उदयमे राग, द्वेष, मोह, भावोसे रहित है, इसलिये इष्ट अनिष्ट पदार्थोके सयोगसे सुख दुःख विकारको नही धारण करता, इसी कारण नूतन बधका कर्ता नही है, ससारकी सतानका उच्छेदक है, सहज ही मुक्त होता है। इससे यह तात्पर्य जानना, कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, और सयमभाव इनकी एकताके होनेपर भी आत्मज्ञान ही को मोक्षके साधनेकी अधिकता है ॥ ३८ ॥ आगे आत्मज्ञानशून्य पुरुषके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमभाव इनकी एकता भी अकार्यकारी

सकलपरद्रव्यशून्योऽपि विशुद्धदृशिज्ञप्तिमात्रस्वभावभूतावस्थापितात्मतत्त्वोपजातनित्यनिश्चलवृत्तितया साक्षात्संयत एव स्यात् । तस्यैव चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयोगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं सिद्ध्यति ॥ ४० ॥

अथास्य सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतस्य कीदृग्लक्षणमित्यनुशास्ति—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ ४१ ॥

समशत्रुबन्धुवर्ग समसुखदु ख प्रशसानिन्दासमः ।
समलोष्टकाञ्चन पुनर्जीवितमरणे समः श्रमण ॥ ४१ ॥

संयमः सम्यग्दर्शनज्ञानपुरःसरं चारित्रं, चारित्रं धर्मः, धर्मः साम्यं, साम्यं मोहक्षोभविहीनः आत्मपरिणामः । ततः संयतस्य साम्यं लक्षणम् । तत्र शत्रुबन्धुवर्गयोः सुखदुःखयोः प्रशसानिन्दयोः लोष्टकाञ्चनयोर्जीवितमरणयोश्च समः । अयं

व्यवहारेण यद्बहिर्विषये व्याख्यान कृत तेन सविकल्प सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रय यौगपद्य ग्राह्यम् । अभ्यन्तरव्याख्यानेन तु निर्विकल्पात्मज्ञान ग्राह्यमिति सविकल्पयौगपद्य निर्विकल्पात्मज्ञान च घटत इति ॥ ४० ॥ अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वलक्षणेन विकल्पत्रययौगपद्येन तथा निर्विकल्पात्मज्ञानेन च युक्तो योऽसौ सयतस्तस्य किं लक्षणमित्युपदिशति । इत्युपदिशति कोऽर्थ इति पृष्टे प्रत्युत्तर ददाति । एव प्रश्नोत्तरपातनिकाप्रस्तावे क्वापि क्वापि यथासभवमितिशब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः— स श्रमण सयतस्तपोधनो भवति । य किंविशिष्ट । शत्रुबन्धुसुखदु खनिन्दाप्रशसालोष्ठकाञ्चनजीवितमरणेषु सम समचित्त इति । तत एतदायाति । शत्रुबन्धुसुखदु खनिन्दाप्रशंसालोष्टकाञ्च-

---

ही बार अपने ज्ञानकी अधिकतासे चूर चूर कर डाला है, जैसे प्रवीण मल्ल अपने शत्रु-मल्लको मसल मसल कर प्राणरहित कर देता है, उसी तरह विनाश किया है, ऐसा वह महामुनि सुभट, सब परद्रव्यसे रहित हुआ, ज्ञान, दर्शन, चारित्रकी स्थिरतासे साक्षात् सयमी है, और उसी मुनिके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, सयमकी एकता है, तथा आत्मज्ञानकी एकता है ॥ ४० ॥ आगे आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमभावका एकत्व और आत्मज्ञानका एकत्व जिस मुनिके सिद्ध हुआ है, और वह जिन लक्षणोसे मालूम होता है, उनको दिखाते हैं—(**श्रमण**) समता भावमे लीन महा मुनि है, वह (**समशत्रुबन्धुवर्ग**) शत्रु कुटुम्बके लोग इनमें समान भाववाला है, (**समसुखदु ख**) सुख और दु ख जिसके समान हैं, (**प्रशसानिन्दासम**) बडाई और निन्दा—दोषकथन इन दोनोमे समान है, (**समलोष्टकाञ्चन**) लोहा और सोना जिसके समान हैं, और (**पुन. जीवितमरणे सम**) प्राणधारण और प्राणत्याग ये दोनोमे भी समान हैं । **भावार्थ**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानयुक्त जो चारित्र है, उसको सयम कहते हैं, वही धर्म है, और उसीका नाम साम्यभाव भी है । मोह क्षोभसे रहित जो आत्माका परिणाम वह साम्यभाव है, इससे सयमीका लक्षण साम्य-

मम परोऽयं स्वः अयमाह्लादोऽयं परितापः, इदं ममोत्कर्षणमिदमपकर्षणमयं ममाकिंचित्कर इदमुपकारकमिदं ममात्मधारणमयमत्यन्तविनाश इति मोहाभावात् सर्वत्राप्यनुदितरागद्वेषद्वैतस्य सततमपि विशुद्धदृष्टिज्ञप्तिस्वभावमात्मानमनुभवतः शत्रुबन्धुसुखदुःखप्रशंसानिन्दालोष्टकाञ्चनजीवितमरणानि निर्विशेषमेव ज्ञेयत्वेनाक्रम्य ज्ञानात्मन्यात्मन्यचलितवृत्तेर्यत्किल सर्वतः साम्यं तत्सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यस्य संयतस्य लक्षणमालक्षणीयम् ॥ ४१ ॥

अथेदमेव सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतत्वमैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनाम मोक्षमार्गत्वेन समर्थयति—

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥ ४२ ॥

दर्शनज्ञानचरित्रेषु त्रिषु युगपत्समुत्थितो यस्तु ।
एकाग्रगत इति मतः श्रामण्यं तस्य परिपूर्णम् ॥ ४२ ॥

ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूति-

---

नजीविकमरणसमताभावनापरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतिस्वरूपं यत्परमसाम्यं तदेवपरमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येन तदा निर्विकल्पात्मज्ञानेन च परिणततपोधनस्य लक्षणं ज्ञातव्यमिति ॥ ४१ ॥ अथ यदेव संयततपोधनस्य साम्यलक्षणं भणितं तदेव श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो भण्यत इति प्ररूपयति—**दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु** दर्शनज्ञानचारित्रेषु त्रिषु युगपत्सम्यगुपस्थित उद्यतो यस्तु कर्ता **एयग्गगदो त्ति मदो** स ऐकाग्र्यगत इति मतः संमतः **सामण्णं**

भाव है। शत्रु, मित्र, सुख, दुःख, स्तुति, निंदा सोना, लोहा, जीवन, मरण इत्यादि इष्ट, अनिष्ट विषयोंमें मुनिके भेद नहीं है, समताभाव है। यह मेरा है, यह पर है, यह आनन्द है, यह दुःख है, यह मुझको उत्तम है, यह मुझको हीन है, यह उपकारी है, यह कुछ नहीं, यह जीवन है, यह मेरा विनाश है, इत्यादि जो अनेक विकल्प हैं, वे मोहके अभावसे मुनिके नहीं होते, इसलिये महामुनि राग द्वेषसे रहित हैं, सदाकाल निर्मल ज्ञान दर्शनमयी आत्माको अनुभवते हैं, सब इष्ट अनिष्ट विषयोंको ज्ञेयरूप जानते है, रागी होके कर्ता नहीं है, स्वरूपमें समस्त सकल्प, विकल्पोंसे रहित होके निश्चल तिष्ठे हुए हैं, ऐसे मुनिके जो समताभाव है, वही महामुनिका लक्षण है, इसी लक्षणसे मुनिके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, सयमभाव इनकी एकता और आत्मज्ञानकी एकता सिद्ध हुई जान पड़ती है, इसलिये समभाव मुनिका प्रगट लक्षण है॥ ४१ ॥ आगे पूर्ण सिद्ध हुई, जो यह आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, सयमभावकी एकता और आत्मज्ञानकी एकता यही एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग है, इसीका दूसरा नाम मुनिपदवी है, यह कहते हैं—(यः) जो पुरुष (दर्शनज्ञानचरित्रेषु) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, (त्रिषु) इन तीन भावोंमें (युगपत्) एक ही समय (समु-

लक्षणेन ज्ञानपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृतत्त्ववृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण च त्रिभिरपि यौगपद्येन भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलादङ्गाङ्गिभावेन परिणतस्यात्मनो यदात्मनिष्ठत्वे सति संयतत्वं तत्पानकवदनेकात्मकस्यैकस्यानुभूयमानतायामपि समस्तपरद्रव्यपरावर्तत्वादभिव्यक्तैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवावगन्तव्यः। तस्य तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेनैकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वाद्द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन विश्वस्यापि भेदाभेदात्मकत्वात्तदुभयमिति प्रमाणेन प्रज्ञप्तिः।

तस्स पडिपुण्ण श्रामण्यं चारित्र यतित्व तस्य परिपूर्णमिति। तथाहि—भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मभ्यः शेषपुद्गलादिपञ्चद्रव्येभ्योऽपि भिन्न सहजशुद्धनित्यानन्दैकस्वभाव मम सबन्धि यदात्मद्रव्य तदेव ममोपादेयमितिरुचिरूप सम्यग्दर्शनम्। तत्रैव परिच्छित्तिरूप सम्यग्ज्ञान तस्मिन्नेव स्वरूपे निश्चलानुभूतिलक्षण चारित्रं चेत्युक्तस्वरूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रय पानकवदनेकमप्यभेदनयेनैक यत् तत्सविकल्पावस्थाया व्यवहारेणैकाग्र्य भण्यते। निर्विकल्पसमाधिकाले तु निश्चयेनेति तदेव च नामान्तरेण परमसाम्यमिति तदेव परमसाम्य पर्यायनामान्तरेण शुद्धोपयोगलक्षण श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो ज्ञातव्य इति। तस्य तु मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति। ऐकाग्र्य मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वात् द्रव्यप्रधा-

---

स्थित) अच्छी तरह उद्यमी हुआ प्रवर्तता है, वह (**एकाग्रगत**) एकाग्रताको प्राप्त है, (**इति भत**) ऐसा कहा है, (**तु**) और (**तस्य**) उसी पुरुषके (**श्रामण्य**) यतिपद (**परिपूर्णं**) पूर्ण हुआ जानना। **भावार्थ**—ज्ञेय, ज्ञायक, तत्त्वकी यथावत्प्रतीतिका होना सम्यग्दर्शन है, ज्ञेय, ज्ञायकका यथार्थ जान लेना, सम्यग्ज्ञान है, और अन्य क्रियासे निवृत्त होके दर्शनस्वरूप आत्मामे प्रवृत्ति 'चारित्र' कहा जाता है। इन तीनो ही भावोका आत्मा भावक है, ये भाव्य हैं, इन भाव्य भावोके बढनेसे अति परिपूर्ण परस्पर मिलाप है, आत्मा अगी है, ये तीनों भाव अग हैं, अग अगीकी एकता है। इस प्रकार एक भावको परिणत हुए आत्माके स्वरूपमे लीन होनेरूप जो सयमभाव है, वह यद्यपि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेदसे अनेक है, तथापि एकस्वरूप ही है। जैसे आम तथा इमली आदिका बनाया हुआ 'पना' मिष्ट खट्टा चरपरा सुगध द्रव्य आदिके भेदसे अनेक है, तथापि सबको मिलकर एक पर्याय धारण करता है, इससे एक है, उसी प्रकार वह सयम यद्यपि रत्नत्रयसे भेद लिये हुए है, तो भी तीनो भावोका एक संयमरूप पर्याय है, इसलिये एकरूप है, एकरूप संयमभाव सब परद्रव्यसे रहित है, प्रगट एकाग्रतारूप मुनिपद है, और यही मोक्षमार्ग जानना। उस मोक्षमार्गको जो दर्शन ज्ञान चारित्र ऐसे भेदकर कहना है, यह भेदस्वरूप पर्यायकी विवक्षाकर व्यवहारनयसे है, और एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग ऐसा जो कथन है, वह अभेदस्वरूप द्रव्यार्थिककी विवक्षाकर निश्चयनयसे जानना। जितने कुछ पदार्थ ससारमे हैं, वे सब भेद अभेदस्वरूप हैं। इसलिये भेदकर कहना वह व्यवहार है, और अभेदकर कहना वह निश्चय है, इन दोनोकी सिद्धि प्रमाणसे होती है। यह मोक्षमार्ग निश्चयकर एक है, व्यवहारकर अनेक होजाता है, ज्ञान, दर्शन,

इत्येव प्रतिपत्तुराशयवशादेकोऽप्यनेकीभवं-
स्त्रैलक्षण्यमथैकतामुपगतो मार्गोऽपवर्गस्य य. ।
द्रष्टृज्ञातृनिबद्धवृत्तिमचल लोकस्तमास्कन्दता-
मास्कन्दत्यचिराद्विकाशमतुल येनोल्लसन्त्याश्चितेः ॥ ४२ ॥

अथानैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति—

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ ४३ ॥

मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा द्रव्यमन्यदासाद्य ।
यदि श्रमणोऽज्ञानी बध्यते कर्मभिर्विविधैः ॥ ४३ ॥

यो हि न खलु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति सोऽवश्यं ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति । तदासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानाद्भ्रष्टः स्वयमज्ञानीभूतो मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा तथाभूतश्च बध्यत एव न तु विमुच्यते । अत अनैकाग्र्यस्य न मोक्षमार्गत्व सिद्ध्येत् ॥ ४३ ॥

नेन निश्चयनयेन निर्णयो भवति । समस्तवस्तुसमूहस्यापि भेदाभेदात्मकत्वान्निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयस्यापि प्रमाणेन निश्चयो भवतीत्यर्थ ॥ ४२ ॥ एव निश्चयव्यवहारसंयमप्रतिपादनमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथाचतुष्टय गतम् । अथ य स्वशुद्धात्मन्येकाग्रो न भवति तस्य मोक्षाभाव दर्शयति— **मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज जदि** मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा यदि चेत् । किं कृत्वा द्रव्यमन्यदासाद्य प्राप्य । स कः । **समणो** श्रमणस्तपोधन । तदा काले **अण्णाणी** अज्ञानी भवति । अज्ञानी सन् **बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं** बध्यते कर्मभिर्विविधैरिति । तथाहि—यो निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनैकाग्रो भूत्वा स्वात्मान न जानाति तस्य चित्त बहिर्विषयेषु गच्छति । ततश्चिदानन्दैकनिजस्वभावाच्च्युतो भवति । ततश्च रागद्वेषमोहै परिणमति तत्परिणमन् बहुविध-

---

चारित्र, इन तीन भेदोको लिए हुए यद्यपि अनेक है, तो भी एकाग्रताकर एक है । ऐसा एक अनेकस्वरूप यह मोक्षमार्ग ज्ञातापुरुषोके विचारसे सिद्ध हुआ है । ऐसे मोक्षमार्गको हे जगत्के भव्यजीवो ! तुम अगीकार करो, जिससे कि यह चिदानद अपने अनत प्रकाशको प्राप्त होवे ॥ ४२ ॥ आगे जिसके एकाग्रता नही है, उसके मोक्षमार्ग भी नही, यह कहते है—[यदि] जो [अज्ञानी] आत्मज्ञानसे रहित [श्रमणः] मुनि [अन्यत् द्रव्य] आत्मासे भिन्न परद्रव्यको [आसाद्य] अगीकार कर [मुह्यति वा] मोहको प्राप्त होता है, [रज्यति वा] अथवा रागी होता है, [वा द्वेष्टि] अथवा द्वेषी होता है, तो वह अज्ञानी मुनि [विविधैः] अनेक तरहके [कर्मभि] ज्ञानावरणादिकर्मोसे [बध्यते] बँध जाता है । **भावार्थ**—जो कोई ज्ञानस्वरूप आत्माको एकाग्र होकर नही चितता है, वह अवश्य ही परद्रव्यको स्वीकार करता है, और परद्रव्यमे लगा हुआ, ज्ञानस्वरूप आत्मासे भ्रष्ट होता है । अज्ञानी हुआ रागी, द्वेषी, मोही, होता है । ऐसा होनेपर कर्मोंसे बँधता है, मुक्त नही होता । इसलिये जो एकाग्रताकर रहित है, उसके मोक्षमार्गकी सिद्धि नही है ॥ ४३ ॥ आगे जो

अथैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वमवधारयन्नुपसंहरति—

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।
समणा जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥४४॥

अर्थेषु यो न मुह्यति न हि रज्यति नैव द्वेषमुपयाति ।
श्रमणो यदि स नियत क्षपयति कर्माणि विविधानि ॥ ४४ ॥

यस्तु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति स न ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति । तदनासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानादभ्रष्टः स्वयमेव ज्ञानीभूतस्तिष्ठन्न मुह्यति न

कर्मणा बध्यत इति । तत कारणान्मोक्षार्थिभिरेकाग्रत्वेन स्वस्वरूप भावनीयमित्यर्थ ॥ ४३ ॥ अथ निजशुद्धात्मनि योऽसावेकाग्रस्तस्यैव मोक्षो भवतीत्युपदिशति—**अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि** अर्थेषु बहि पदार्थेषु यो न मुह्यति न रज्यति हि स्फुटं नैव द्वेषमुपयाति **जदि** यदि चेत् **सो समणो** स श्रमण **णियद** निश्चत **खवेदि विविहाणि कम्माणि** क्षपयति कर्माणि विवधानि इति । अथ विशेष —योऽसौ दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपाद्यपध्यानत्यागेन निजस्वरूपं भावयति तस्य चित्त बहि पदार्थेषु न गच्छति ततश्च बहि पदार्थे चिन्ताभावान्निर्विकारचिच्चमत्कारमात्राच्च्युतो न भवति । तदच्यवनेन च रागाद्यभावाद्विविधकर्माणि विनाशयतीति । ततो मोक्षार्थिना निश्चलचित्तेन निजात्मनि भावना कर्तव्येति । इत्य वीतरागचारित्रव्याख्यान श्रुत्वा केचन वदन्ति—सयोगिकेवलिनामप्येकदेशेन चारित्रं, परिपूर्णचारित्रं पुनरयोगिचरमसमये भविष्यति तेन कारणेनेदानोमस्माक सम्यक्त्वभावनया भेदज्ञानभावनया च पूर्यते चारित्रं पश्चाद्भविष्यतीति नैव वक्तव्यम् । अभेदनयेन ध्यानमेव चारित्र तच्च ध्यान केवलिनामुपचारेणोक्त चारित्रमप्युपचारेणेति । यत्पुन समस्तरागादिविकल्पजालरहित शुद्धात्मानुभूतिलक्षण सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक वीतरागच्छद्मस्थचारित्र तदेव कार्यकारीति । कस्मादिति चेत्, तेनैव केवलज्ञान जातस्मस्माच्चारित्रे तात्पर्यं कर्तव्यमिति भावार्थ । किंच उत्सर्गव्याख्यानकाले श्रामण्य व्याख्यातमत्र पुनरपि किमथामिति परिहारमाह—तत्र सर्वपरित्यागलक्षण उत्सर्ग एव मुख्यत्वेन च मोक्षमार्ग अत्र तु श्रामण्यव्याख्यानमस्ति पर किंतु श्रामण्यं मोक्षमार्गो भवतीति मुख्यत्वेन विशेषोऽस्ति ॥ ४४ ॥

एकाग्रताका प्राप्त है, उसीके मोक्षमार्ग है, ऐसा कहकर व्याख्यानका सकोच करते हैं—[यः] जो ज्ञानस्वरूप आत्माका जाननेवाला [श्रमणः] मुनि [यदि] यदि [अर्थेषु] परस्वरूपपदार्थोंमें [न मुह्यति] मोहो नहीं होता, [न हि रज्यति] तो वह निश्चयकर रागी नहीं होता, और [द्वेष] द्वेषभावको भी [नैव उपयाति] नहीं प्राप्त होता, [सः] वह मुनि [नियत] निश्चित एकाग्रताकर सहित हुआ [विविधानि] अनेक प्रकारके [कर्माणि] ज्ञानावरणादि कर्मोंको [क्षपयति] क्षय करता है । भावार्थ—जो पुरुष ज्ञानस्वरूप आत्माको एकाग्रताकर चितवन करता है, वह ज्ञेयरूप परद्रव्यका अंगीकार नहीं करता, परको त्यागकर ज्ञानस्वरूप आत्मामें लीन होजाता है, वहाँ आप ही ज्ञानी हुआ मोही, रागी, द्वेषी, नहीं होता, ऐसो वीतराग अवस्थाकर मुक्त होता है । कर्मोंसे नहीं बँधता । इसलिये जो मुनि एकाग्रभावको प्राप्त है, उसको ही मोक्षमार्गकी सिद्धि है,

रज्यति न द्वेष्टि तथाभूतः सन् मुच्यत एव न तु बध्यते । अत ऐकाग्र्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं सिद्ध्येत् ॥ ४४ ॥ इति मोक्षमार्गप्रज्ञापनम् ॥ अथ शुभोपयोगप्रज्ञापनम् ।

तत्र शुभोपयोगिनः श्रमणत्वेनान्वाचिनोति—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥ ४५ ॥

श्रमणा शुद्धोपयुक्ता शुभोपयुक्ताश्च भवन्ति समये ।
तेष्वपि शुद्धोपयुक्ता अनास्रवा सास्रवा शेषा ॥ ४५ ॥

ये खलु श्रामण्यपरिणतिं प्रतिज्ञायापि जीवितकषायकणतया समस्तपरद्रव्यनिवृत्तिप्रवृत्तसुविशुद्धदृशि तस्वभावात्मतत्त्ववृत्तिरूपां शुद्धोपयोगभूमिकामधिरोढुं न क्षमन्ते । ते तदुपकण्ठनिविष्टाः कषायकुण्ठीकृतशक्तयो नितान्तमुत्कण्ठुलमनसः श्रमणः किं भवेयुर्न वेत्यत्राभिधीयते । 'धम्मेण परिणदप्पा' इति स्वयमेव निरूपितत्वादस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवायः । ततः शुभोपयोगिनोऽपि

एव श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गोपसहारमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाद्वय गतम् । अथ शुभोपयोगिनां शास्त्रवरत्वाद्व्यवहारेण श्रमणत्व व्यवस्थापयति—**सति** विद्यन्ते । क्व । **समयम्हि** समये परमागमे । के सन्ति । **समणा** श्रमणास्तपोधना । किंविशिष्टा । **सुद्धुवजुत्ता** शुद्धोपयोगयुक्ता शुद्धोपयोगिन इत्यर्थ । **सुहोवजुत्ता य** न केवल शुद्धोपयोगयुक्ता शुभोपयोगयुक्ताश्च । चकारोऽत्र अन्वयार्थे गौणार्थे ग्राह्य । तत्र दृष्टान्त । यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावा सिद्धजीवा एव जीवा भण्यन्ते व्यवहारेण चतुर्गतिपरिणता अशुद्धजीवाश्च जोवा इति तथा शुद्धोपयोगिना मुख्यत्व शुभोपयोगिना तु चकारसमुच्चयव्याख्यानेन गौणत्वम् । कस्याद्गौणत्व जातमितिचेत् । **तेसु वि सुद्धुवजुत्ता**

इसमे सदेह नही है ॥ ४४ ॥ इस प्रकार **मोक्षमार्गाधिकार** सम्पूर्ण हुआ । आगे शुभोपयोगका कथन करते हुए पहले शुभोपयोगीको मुनिपदवीसे जघन्य दिखलाते है—**(समये)** परमागममे **(श्रमणा)** मुनि **(शुद्धोपयुक्ता)** शुद्धोपयोगी **(च)** और **(शुभोपयुक्ता)** शुभोपयोगी इस तरह दो प्रकारके **(भवन्ति)** होते हैं, **(तेषु अपि)** उन दो तरहके मुनियोमे भी **(शुद्धोपयुक्ताः)** शुद्धोपयोगी महामुनि **(अनास्रवा)** कर्मोंके आस्रवसे रहित हैं, **(शेषा)** बाकी जो शुभोपयोगी मुनि हैं, वे **(सास्रवा)** आस्रवभाव सहित है । **भावार्थ**—जो जीव यतिपरिणतिकी प्रतिज्ञा करके भी कषायके अशके उदयसे सब परद्रव्योसे निवृत्त होकर भी निर्मल ज्ञान, दर्शन, स्वभावकर आत्म-तत्त्वकी प्रवृत्तिरूप शुद्धोपयोग भूमिकाके ऊपर चढनेको असमर्थ हैं, शुद्धोपयोगी महामुनिके समीपवर्ती हैं, और जिनकी कषायके उदयसे शक्ति क्षीण होरही है, जिनका मन चचल है, ऐसे शुभोपयोगी मुनि, मुनि हो-सकते हैं, कि नही ? ऐसा शिष्यका प्रश्न है, उसका उत्तर यह है, कि "धम्मेण परिणदप्पा" इत्यादि गाथामे हम समाधान कर आये है । शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थसमवाय है । एकार्थसमवाय उसे कहते है, कि जहाँ आत्मामे ज्ञान दर्शन परिणति है, और राग परिणति भी है, इस तरह एक

धर्मसद्भावाद्भवेयुः श्रमणाः किंतु तेषां शुद्धोपयोगिभिः समं समकाष्ठत्वं न भवेत्, यतः शुद्धोपयोगिनो निरस्तसमस्तकषायत्वादनास्रवा एव। इमे पुनरनवकीर्णकषायकणत्वात्सास्रवा एव। अत एव च शुद्धोपयोगिभिः सममभी न समुच्चीयन्ते केवलमन्वाचीयन्त एव ॥ ४५ ॥

अथ शुभोपयोगिश्रमणलक्षणमासूत्रयति—

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥ ४६ ॥

अर्हदादिषु भक्तिर्वत्सलता प्रवचनाभियुक्तेषु ॥
विद्यते यदि श्रामण्ये सा शुभयुक्ता भवेच्चर्या ॥ ४६ ॥

सकलसंगसंन्यासात्मनि श्रामण्ये सत्यपि कषायलवावेशवशात् स्वयं शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थातुमशक्तस्य परेषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थितेष्वर्हदादिषु शुद्धात्म-

---

अणासवा सासवा सेसा तेष्वपि मध्ये शुद्धोपयोगयुक्ता अनास्रवा शेषा सास्रवा इति यत कारणात्। तद्यथा—निजशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वाच्छुद्धोपयोगिनो निरास्रवा एव शेषा शुभोपयोगिनो मिथ्यात्वविषयकषायरूपाशुभास्रवनिरोधेऽपि पुण्यास्रवसहिता इति भाव ॥ ४५ ॥ अथ शुभोपयोगिश्रमणाना लक्षणमाख्याति—**सा सुहजुत्ता भवे चरिया** सा चर्या शुभयुक्ता भवेत्। कस्य। तपोधनस्य। कथंभूतस्य। समस्तरागादिविकल्परहितपरमसमाधौ स्थातुमशक्यस्य। यदि किम्। **विज्जदि जदि** विद्यते यदि चेत्। क्व। **सामण्णे** श्रामण्ये चारित्रे। किं विद्यते। **अरहतादिसु भत्ती** अनन्तगुणयुक्तेष्वर्हत्सिद्धेषु गुणानुरागयुक्ता भक्ति **वच्छलदा** वत्सलस्य भावो वत्सलता वात्सल्य विनयोऽनुकूलवृत्ति। केषु विषयेषु। **पवयणाभिजुत्तेसु** प्रवचनाभियुक्तेषु। प्रवचनशब्देनात्रागमो भण्यते संघो वा तेन प्रवचनेनाभियुक्ता प्रवचनाभियुक्ता आचार्योपाध्याय-

---

आत्मपदार्थमे दोनोका समवाय है, इस कारण शुभोपयोगीके भी धर्मका अस्तित्व है, इसी लिये शुभोपयोगी भी परमागममे मुनि कहे हैं, परतु इतना विशेष है, कि शुभोपयोगी शुद्धोपयोगीकी दशामे समानता नही है, क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायोसे रहित है, निरास्रव है, और शुभोपयोगी कषाय अशसे रहित नही है, इसके कषायका अश जीवित है, सास्रव है। इसलिये शुद्धोपयोगीके बरावर नही है, जघन्य है ॥ ४५ ॥ आगे शुभोपयोगी मुनिका लक्षण कहते हैं—**(यदि)** जो **(श्रामण्ये)** मुनि-अवस्थामें **(अर्हदादिषु भक्ति)** अरहतादि पचपरमेष्ठियोमे अनुराग और **(प्रवचनाभियुक्तेषु)** परमागमकर युक्त शुद्धात्म स्वरूपके उपदेशक महामुनियोमे **(वत्सलता)** प्रीति अर्थात् जिस तरह गौ अपने बछडेमे अनुरागिणी होती है, उसी तरह **(विद्यते)** प्रवर्ते, तो **(सा)** वह **(शुभयुक्ता)** शुभ रागकर सयुक्त **(चर्या)** आचारकी प्रवृत्ति **(भवेत्)** होती है। **भावार्थ—**जो मुनि समस्त परिग्रहके त्याग करनेसे मुनि-अवस्थाको भी प्राप्त है, परतु कषाय अशके उदयवशसे आप शुद्धात्मामे स्थिर होनेको अशक्त है, तो वह मुनि, जो शुद्धात्मस्वरूपके उपदेष्टा हैं, उनमे भक्तिसे

वृत्तिमात्रावस्थितिप्रतिपादकेषु प्रवचनाभियुक्तेषु च भक्त्या वत्सलतया च प्रचलितस्य तावन्मात्ररागप्रवर्तितपरद्रव्यप्रवृत्तिसंवलितशुद्धात्मवृत्तेः शुभोपयोगि चारित्रं स्यात् । अतः शुभोपयोगिश्रमणानां शुद्धात्मानुरागयोगि चारित्रत्वं लक्षणम् ॥४६॥

अथ शुभोपयोगिश्रमणानां प्रवृत्तिमुपदर्शयति—

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥ ४७ ॥

बन्दननमस्करणाभ्यामभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्ति ।
श्रमणेषु श्रमापनयो न निन्दिता रागचर्यायाम् ॥ ४७ ॥

शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचरित्रतया समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु श्रमणेषु वन्दननमस्करणाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता श्रमापनयनप्रवृत्तिश्च न दुष्येत् ॥ ४७ ॥

साधवस्तेष्विति । एतदुक्त भवति—स्वय शुद्धोपयोगलक्षणे परमसामयिके स्थातुमसमर्थस्यान्येषु शुद्धोपयोगफलभूतकेवलज्ञानेन परिणतेषु तथैव शुद्धोपयोगाराधकेषु च यासौ भक्तिस्तच्छुभोपयोगिश्रमणाना लक्षणमिति ॥ ४६ ॥ अथ शुभोपयोगिना शुभप्रवृत्ति दर्शयति—**ण णिंदिदा** नैव निषिद्धा । क्व । **रायचरियम्हि** शुभरागचर्याया सरागचारित्रावस्थायाम् । का न निन्दिता । **वदणणमसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती** वन्दननमस्काराभ्या सहाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्ति । **समणेसु समावणओ** श्रमणषु श्रमापनय रत्नत्रयभावनाभिघातकश्रमस्य खेदस्य विनाश इति । अनेन किमुक्त भवति—शुद्धोपयोगसाधके शुभोपयोगे स्थिताना तपोधनाना इत्थभूता शुभोपयोगप्रवृत्तयो रत्नत्रयाराधकस्वरूपेषु विषये युक्ता एव विहिता एवेति ॥ ४७ ॥ अथ शुभोपयोगिनामेवेत्थभूता.

प्रीतिकरके प्रवर्तता है, उस मुनिके इतनी ही रागप्रवृत्तिकर परद्रव्यमे प्रवृत्ति होती है, और वह शुद्धात्मतत्त्वकी स्थिरतासे चलित होता है । ऐसे मुनिके शुभोपयोगरूप चारित्रभाव जानना । ये ही पचपरमेष्ठियोमे भक्ति, सेवा, प्रीति, शुभोपयोगी मुनीश्वरका लक्षण प्रगट हैं ॥ ४६ ॥ आगे शुभोपयोगी मुनीश्वरकी प्रवृत्ति दिखलाते है—**[रागचर्यायां]** सरागचारित्र अवस्थामे जो शुभोपयोगी मुनि है, उनको **[श्रमणेषु]** शुद्धस्वरूपमे थिर ऐसे महामुनियोमे **[श्रमापनय]** अनिष्ट वस्तुके सयोगसे हुआ जो खेद उसका दूर करना, और **[वन्दननमस्काराभ्यां]** गुणानुवादरूप स्तुति और नमस्कार सहित **[अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्ति]** आते हुए देखके उठकर खडा हो जाना, पीछे पीछे चलना, ऐसी प्रवृत्तिकी सिद्धि, **[न निन्दिता]** निषेधरूप नही की गई है। **भावार्थ**—शुभोपयोगी मुनि जो महा मुनीश्वरोकी स्तुति करें, नमस्कार करें, उनको देखकर उठके खडे हो और पीछे पीछे चलें, इत्यादि विनयपूर्वक प्रवर्ते, तो योग्य है, निषेध नही है, और जो महामुनिके स्थिरताके घातक कभी उपसर्गादिसे खेद हुआ हो, तो उसके दूर करनेको वैयावृत्ति क्रिया भी निषेधरूप नही है, शुद्धात्मभावकी थिरताके लिये योग्य है, खेदके नाश होनेपर मुनिके समाधि होती है, इसलिये

अथ शुभोपयोगिनामेवैवंविधाः प्रवृत्तयो भवन्तीति प्रतिपादयति—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥ ४८ ॥

दर्शनज्ञानोपदेश शिष्यग्रहण च पोषण तेषाम् ।
चर्या हि सरागणा जिनेन्द्रपूजोपदेशश्च ॥ ४८ ॥

अनुजिघृक्षापूर्वकदर्शनज्ञानोपदेशप्रवृत्तिः शिष्यसग्रहणप्रवृत्तिस्तत्पोषणप्रवृत्तिर्जिनेन्द्रपूजोपदेशप्रवृत्तिश्च शुभोपयोगिनामेव भवन्ति न शुद्धोपयोगिनाम् ॥ ४८ ॥

अथ सर्वा एव प्रवृत्तयः शुभोपयोगिनामेव भवन्तीत्यवधारयति—

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥ ४९ ॥

प्रवृत्तयो भवन्ति न च शुद्धोपयोगिनामिति प्ररूपयति—**दसणणाणुवदेसो** दर्शन मूढत्रयादिरहितं सम्यक्त्व ज्ञानं परमागमोपदेश तयोरुपदेशो दर्शनज्ञानोपदेश **सिस्सग्गहण च पोसणं तेसिं** रत्नत्रयाराधनाशिक्षाशीलाना शिष्याणा ग्रहण स्वीकारस्तेषामेव पोषणमशनशयनादिचिन्ता **चरिया हि सरागाण** इत्थभूता चर्या चारित्रं भवति हि स्फुटम् । केषाम् । सरागाणा धर्मानुरागचारित्रसहितानाम् । न केवलमित्थभूता **जिणिदपूजोवदेसो य** यथासभव जिनेन्द्रपूजादिधर्मोपदेशश्चेति ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते । शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते । श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते, तेषा कथ विशेषो भेदो ज्ञायत इति । परिहारमाह—युक्तमुक्त भवता पर किंतु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते । येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव । कस्मात् । बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रवननिम्बवनवदिति ॥ ४८ ॥ अथ काश्चिदपि या प्रवृत्तयस्ता शुभोपयोगिना-

---

योग्य है ॥ ४७ ॥ आगे शुभोपयोगियोके ही ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं, यह कहते हैं—[हि] निश्चयकर [सरागाणा] शुभोपयोगी मुनियोको [चर्या] यह क्रिया है जो कि, [दर्शनज्ञानोपदेश] सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानका उपदेश देना, [शिष्यग्रहण] शिष्य-शाखाओका सग्रह करना, [च तेषा पोषण] और उन शिष्योका समाधान करना, [च] और [जिनेन्द्रपूजोपदेशः] भगवान् वीतरागकी पूजाका उपदेश देना, इत्यादि। **भावार्थ**—पू ´ कही जो क्रियायें वे शुभोपयोगी मुनिके होती हैं, शुद्धोपयोगियोंके नही होती, क्योंकि शुद्धोपयोगी वीतराग हैं, और शुभोपयोगी सराग हैं, इसलिये इनके धर्मानुरागसे ऐसी इच्छा होती है, कि जीव धर्मको ग्रहण करें, तो बहुत अच्छा है, ऐसा जानकर ज्ञान दर्शनका उपदेश देते है, शिष्योको रखते हैं, पोषते हैं, भगवान्‌की भक्तिका उपदेश करते हैं, ऐसी शुभोपयोगी मुनिकी क्रियायें हैं ॥ ४८ ॥ आगे समस्त वैयावृत्त्यादिक क्रियायें शुभोपयोगियोके

उपकरोति योऽपि नित्यं चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य ।
कायविराधनरहितं सोऽपि सरागप्रधान स्यात् ॥ ४९ ॥

प्रतिज्ञातसंयमत्वात् षट्कायविराधनरहिता या काचनापि शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्योपकारकरणप्रवृत्तिः सा सर्वापि रागप्रधानत्वात् शुभोपयोगिनामेव भवति न कदाचिदपि शुद्धोपयोगिनाम् ॥ ४९ ॥

अथ प्रवृत्तेः संयमविरोधित्वं प्रतिषेधयति—

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥५०॥

मेवेति नियमति—**उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसघस्स** उपकरोति योऽपि नित्य कस्य चातुर्वर्णस्य श्रमणसघस्य । अत्र श्रमणशब्देन श्रमणशब्दवाच्या ऋषिमुनियत्यनगारा ग्राह्या । "देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिहमुनि स्यादृषि प्रसृतर्द्धिरारूढ श्रेणियुग्मेऽजनि यतिरनगारोऽपर साधुवर्ग । राजा ब्रह्मा च देव परम इति ऋषिविक्रियाक्षीणशक्तिप्राप्तो बुद्धयौषधीशो वियदयनपटुविश्ववेदी क्रमेण ॥" ऋषय ऋद्धि प्राप्तास्ते चतुर्विधा राजब्रह्मदेवपरमऋषिभेदात् । तत्र राजर्षयो विक्रियाक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवन्ति । ब्रह्मर्षयो बुद्धयोषधर्द्धियुक्ता भवन्ति । देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसपन्ना भवन्ति । परमर्षय केवलिन केवलज्ञानिनो भवन्ति मुनयः अवधिमन.पर्ययकेवलिनश्च । यतय उपशमकक्षपकश्रेण्यारूढा । अनगारा सामान्यसाधव । कस्मात् । सर्वेषा सुखदु खादिविषये समतापरिणामोऽस्तीति । अथवा श्रमणधर्मानुकूलश्रावकादिचातुर्वर्णसघ. । कथ यथा भवति । **कायविराधणरहिद** स्वस्वभावनास्वरूप स्वकीयशुद्धचैतन्यलक्षण निश्चयप्राण रक्षन् परकीयषट्कायविराधनारहित यथा भवति **सो वि सरागप्पधाणो से** सोऽपीत्थभूतस्तपोधनो धर्मानुरागचारित्रसहितेषु मध्ये प्रधान श्रेष्ठ स्यादित्यर्थ ॥ ४९ ॥ अथ वैयावृत्यकालेऽपि स्वकीयसयमविराधना कर्तव्येत्युपदिशति—**जदि कुणदि कायखेद वेज्जावच्चत्थमुज्जदो** यदि चेत् करोति कायखेद

भी नही होती, यह कहते हैं—[**य अपि**] जो मुनि निश्चयसे [**नित्य**] सदाकाल [**चातुर्वर्णस्य**] चार प्रकारके [**श्रमणसघस्य**] मुनीश्वरोके सघका [**कायविराधनरहित**] षट्काय जीवोकी विराधना रहित [**उपकरोति**] यथायोग्य वैयावृत्त्यादिक कर उपकार करता है, [**सोऽपि**] वह भी चतुर्विध सघके उपकारी मुनिके [**सरागप्रधान.**] सरागधर्म है, प्रधान जिसके, ऐसा शुभोपयोगी [**स्यात्**] होता है । **भावार्थ**—जो चार तरहके सघका उपकारी होता है, वह एक शुद्धात्माके आचरणकी रक्षाके लिये होता है । चतुर्विध सघ शुद्धात्माका आचरण करता है, इससे उसकी रक्षाके लिये वह ऐसा उपकार करता है, जिममे कि षट्कायकी विराधना (हिंसा) न होवे, क्योकि यह मुनि भी सयमी है, इसलिये अपना सयम भी रखता है, उपकार करता है, इस कारण यह सयमी शुभोपयोगी है, शुद्धोपयोगियोके ऐसी क्रिया नही होती ॥ ४९ ॥ आगे ऐसी वैयावृत्यादिक क्रिया नही करे, जो कि अपने संयमकी विरोधिनी होवे, यह कहते हैं—[**वैयावृत्त्यर्थं उद्यत**] अन्य मुनीश्वरोकी सेवाके लिये उद्यमवान् हुआ जो शुभोपयोगी मुनि वह [**यदि**] जो [**कायखेदं**] षट्काय-

यदि करोति कायखेदं वैयावृत्त्यर्थमुद्यत श्रमणः ।
न भवति भवत्यगारी धर्मः स श्रावकाणा स्यात् ॥ ५० ॥

यो हि परेषां शुद्धात्मवृत्तित्राणाभिप्रायेण वैयावृत्त्यप्रवृत्त्या स्वस्य सयमं विराधयति स गृहस्थधर्मानुप्रवेशात् श्रामण्यात् प्रच्यवते । अतो या काचन प्रवृत्तिः सा सर्वथा संयमाविरोधेनैव विधातव्या । प्रवृत्तावपि संयमस्यैव साध्यत्वात् ॥ ५० ॥

अथ प्रवृत्तेर्विषयविभागं दर्शयति—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥ ५१ ॥

जैनाना निरपेक्षं साकारानाकारचर्यायुक्तानाम् ।
अनुकम्पयोपकारं करोतु लेपो यद्यप्यल्प. ॥ ५१ ॥

या किलानुकम्पापूर्विका परोपकारलक्षणा प्रवृत्तिः सा खल्वनेकान्तमैत्रीपवित्रि-

---

षट्कायविराधनाम् । कथंभूत सन् । वैयावृत्त्यर्थमुद्यत **समणो ण हवदि** तदा श्रमणस्तपोधनो न भवति । तर्हि किं भवति । **हवदि अगारी** अगारी गृहस्थो भवति । कस्मात् । **धम्मो सो सावयाणं से** षट्कायविराधना कृत्वा योऽसौ धर्म. स श्रावकाणा स्यात् न च तपोधनानामिति । इदमत्र तात्पर्यम्—योऽसौ स्वशरीरपोषणार्थं शिष्यादिमोहेन वा सावद्य नेच्छति तस्येद व्याख्यान शोभते, यदि पुनरन्यत्र सावद्यमिच्छति वैयावृत्त्यादिस्वकीयावस्थायोग्ये धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्तीति ॥ ५० ॥ अथ यद्यप्यल्पलेपो भवति परोपकारे तथापि शुभोपयोगिभिर्धर्मोपकार कर्तव्य इत्युपदिशति—**कुव्वदु** करोतु । स क कर्ता । शुभोपयोगी पुरुष । क करोतु । **अणुकंपयोवयार**

की विराधनारूप हिंसाको **[करोति]** करता है, तो वह **[श्रमण]** अपने संयमका धारक मुनि **[न भवति]** नहीं होता, किन्तु **[अगारी भवति]** गृहस्थ होता है, क्योंकि **[स]** वह जीवकी विराधनायुक्त वैयावृत्यादि क्रिया **[श्रावकाणां]** गृहवासी श्रावकोंका **[धर्मः]** धर्म **[स्यात्]** है। **भावार्थ-** जो कोई सराग चारित्री मुनि अन्य मुनीश्वरोंकी शुद्धात्माचरणकी रक्षाके लिये वैयावृत्य क्रियाकर अपनेमें विराधना करता है, वह गृहस्थधर्मको करता है, मुनिपदसे गिरता है, क्योंकि हिंसा सहित गृहस्थका धर्म है, इसलिये शुद्धोपयोगी मुनिके सयमका घात न होवे, इस तरह सेवादि क्रियामें प्रवर्तता है, क्योंकि अन्यकी सेवामें जो प्रवर्तता है, वह भी संयमको ही वृद्धिके लिये। इस कारण सयमका घात करना योग्य नहीं है ॥ ५० ॥ आगे परोपकार प्रवृत्ति किसको करे, यह भेद दिखलाते हैं—**[साकारानाकारचर्यायुक्तानां]** श्रावक मुनिकी आचार क्रिया सहित जो **[जैनाना]** जिनमार्गानुसारी श्रावक और मुनि हैं, उनका **[निरपेक्षं]** फलकी अभिलाषा रहित होके **[अनुकम्पया]** दयाभावसे **[उपकार]** उपकार अर्थात् यथायोग्य सेवादिक क्रिया **[करोतु]** शुभोपयोगी करो, कोई दोष नहीं। **[यद्यपि]** लेकिन इस शुभाचारसे **[अल्पः लेपः]** थोड़ासा शुभकर्म बँधता है, परतु तो

तच्चित्तेषु शुद्धेषु जैनेषु शुद्धात्मज्ञानदर्शनप्रवृत्तवृत्तितया साकारानाकारचर्यायुक्तेषु शुद्धात्मोपलम्भेतरसकलनिरपेक्षतयैवाल्पलेपाप्यप्रतिषिद्धा न पुनरल्पलेपेति सर्वत्र सर्वथैवाप्रतिषिद्धा, तत्र तथाप्रवृत्त्याशुद्धात्मवृत्तित्राणस्य परात्मनोरनुपपत्तेरिति ॥ ५१ ॥

अथ प्रवृत्तेः कालविभागं दर्शयति—

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥ ५२ ॥

रोगेण वा क्षुधया तृष्णया वा श्रमेण वा रूढम् ।
दृष्ट्वा श्रमण साधु प्रतिपद्यतामात्मशक्त्या ॥ ५२ ॥

यदा हि समधिगतशुद्धात्मवृत्तेः श्रमणस्य तत्प्रच्यावनहेतोः कस्याप्युपसर्गस्योप-

---

अनुकम्पासहितोपकार दयासहितं धर्मवात्सल्यम् । यदि किम् । **लेवो जदि वि अप्पो** "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ" इति दृष्टान्तेन यद्यप्यल्पलेप स्तोकसावद्य भवति । केषा करोतु । **जेण्हाण** (?) निश्चयव्यवहारमोमोक्षमार्गपरिणतजैनानाम् । कथम् । **णिरवेक्ख** निरपेक्ष शुद्धात्मभावनाविनाशकख्यातिपूजालाभवाञ्छारहित यथा भवति । कथभूताना जैनानाम् । **सागारणगारचरियजुत्ताणं** सागारानागारचर्यायुक्ताना श्रावकतपोधनाचरणसहितानामित्यर्थः ॥ ५१ ॥ कस्मिन्प्रस्तावे वैयावृत्त्य कर्तव्यमित्युपदिशति—**पडिवज्जदु** प्रतिपद्यता स्वीकरोतु । कया । **आदसत्तीए** स्वशक्त्या । स क कर्ता । **साहू** रत्नत्रयभावनया स्वात्मान साधयतीति साधु । कम् । **समण** जीवितमरणादिसमपरिणतत्वाच्छ्रमणस्त श्रमणम् । **दिट्ठा** दृष्ट्वा । **रूढ** रूढ व्याप्त पीडित कदर्थितम् । केन **रोगेण वा**

भी दोष नही है । **भावार्थ**—जो यह दयाभावकर परोपकाररूप प्रवृत्ति कही है, वह अनेकान्तसे पवित्र है चित्त जिनका ऐसे उत्तम जैनी यती श्रावकोमे करनी योग्य है, शुद्धात्मकी प्राप्तिसे अन्य समस्त शुभ फलकी वाञ्छासे रहित सहज हो जो अल्पकर्म लेप भी हो, तो भी अच्छा है, और जो शुद्धात्माकी प्राप्तिसे रहित मिथ्यादृष्टि है, उनको सेवादिक, निषेध की गई है । जो उनकी सेवादिकसे थोडा भी कर्मबध है, तो भी निषेध है, क्योकि उन मिथ्यादृष्टियोकी सेवासे न तो अपनेको शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति है, और न उनके शुद्धात्म तत्त्वको रक्षा है, दोनो जगह धर्मको वृद्धि नही हैं, इससे उसका निषेध हैं ॥ ५१ ॥ आगे किस समय धर्मात्माओके वैयावृत्त्यादिक क्रिया होती है, यह कहते है—(**साधु**) शुभोपयोगी मुनि (**रोगेण**) रोगकर (**वा**) अथवा (**क्षुधया**) भूखकर (**वा**) अथवा (**तृष्णया**) प्यासकर (**वा**) अथवा (**श्रमेण**) परीषहादिकके खेदकर (**रूढं**) पीडित हुए (**श्रमण**) महामुनीश्वरको (**दृष्ट्वा**) देखकर (**आत्मशक्त्या**) अपनी शक्तिके अनुसार (**प्रतिपद्यता**) वैयावृत्त्यादिक क्रिया करो । यहा सेवादिकका समय जानना । **भावार्थ**—जो मुनि अच्छी तरह शुद्धस्वरूपमे लीन हुए है, उनके किसी एक सयोगसे स्वरूपसे चलायमान होनेका कारण कोई एक उपसर्ग आगया हो तो वह शुभोपयोगी मुनिका वैयावृत्त्यादिकका काल है । उस समय ऐसा कार्य करे,

निपातः स्यात् स शुभोपयोगिनः स्वशक्त्या प्रतिचिकीर्षा प्रवृत्तिकालः । इतरस्तु स्वयं शुद्धात्मवृत्तेः समधिगमनाय केवलं निवृत्तिकाल एव ॥ ५२ ॥

अथ लोकसंभाषणप्रवृत्तिं सनिमित्तविभागं दर्शयति—

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥ ५३ ॥

वैयावृत्त्यनिमित्तं ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम् ।
लौकिकजनसंभाषा न निन्दिता वा शुभोपयुता ॥ ५३ ॥

समधिगतशुद्धात्मवृत्तीनां ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां वैयावृत्त्यनिमित्तमेव शुद्धात्मवृत्तिशून्यजनसंभाषणं प्रसिद्धं न पुनरन्यनिमित्तमपि ॥ ५३ ॥

अथैवमुक्तस्य शुभोपयोगस्य गौणमुख्यविभागं दर्शयति—

अनाकुलत्वलक्षणपरमात्मनो विलक्षणेनाकुलत्वोत्पादकेन रोगेण व्याधिविशेषेण वा छुधाए क्षुधया तण्हाए वा तृषया वा समेण वा मार्गोपवासादिश्रमेण वा । अत्रेदं तात्पर्यम्—स्वस्वभावनाविघातकरोगादिप्रस्तावे वैयावृत्त्यं करोति शेषकाले स्वकीयानुष्ठानं करोतीति ॥ ५२ ॥ अथ शुभोपयोगिनां तपोधनवैयावृत्त्यनिमित्तं लौकिकसंभाषणविषये निषेधो नास्तीत्युपदिशति—ण णिंदिदा शुभोपयोगितपोधनानां न निन्दिता न निषिद्धा । का कर्मतापन्ना । लोगिगजणसंभासा लौकिकजनैः सह संभाषा वचनप्रवृत्तिः सुहोवजुदा वा अथवा सापि शुभोपयोगयुक्ता भण्यते । किमर्थं न निषिद्धा । वेज्जावच्चणिमित्तं वैयावृत्त्यनिमित्तं । केषां वैयावृत्त्यम् । गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम् । अत्र गुरुशब्देन स्थूलकायो भण्यते अथवा पूज्यो वा गुरुरिति । तथाहि—यदा कोऽपि शुभोपयोगयुक्त आचार्यः सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगिनां वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगिनां वैयावृत्त्यं करोति तदाकाले तद्वैयावृत्त्यनिमित्तं लौकिकजनैः सह संभाषणं करोति न शेषकाल इति भावार्थः ॥ ५३ ॥ एवं गाथापञ्चकेन लौकिकव्याख्यानसंबन्धिप्रथमस्थलं गतम् ।

जो उनका उपसर्ग दूर होके स्वरूपमें स्थिरता हो । इससे अन्य जो शुभोपयोगियोंका काल है, वह अपने शुद्धात्मस्वरूपके आचरणके निमित्त है, सेवादिकके निमित्त नहीं । वे मुनि उस समय ध्यानादिकमें प्रवर्तते हैं ॥ ५२ ॥ आगे शुभोपयोगियोंके वैयावृत्त्यादिकके लिये अज्ञानी लोगोंसे भी बोलना पडता है, ऐसा भेद दिखलाते हैं—[ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां] रोग पीडित, पूज्य आचार्य, वर्षोंमें छोटे, और वर्षोंमें बडे, ऐसे चार तरहके मुनियोंकी [वैयावृत्त्यनिमित्तं] सेवाके लिये [शुभोपयुता] शुभ भावोंकर सहित [लौकिकजनसंभाषा वा] अज्ञानी चारित्रभ्रष्ट जीवोंसे वचनकी प्रवृत्ति करनी (बोलना) भी [न निन्दिता] निषेधित नहीं की गई है । भावार्थ—जो धर्मात्मा मुनि हैं, वे अज्ञानी लोगोंसे वचनालाप नहीं करते हैं, परंतु किसी समय उन लोगोंसे बोलनेसे जो महामुनीश्वरोंका उपसर्ग दूर हो जावेगा, ऐसा मालूम पड जाय, तो उन मुनियोंकी वैयावृत्त्यके लिये उन लोगोंसे वचनालाप करनेका निषेध नहीं है; अन्य कार्यके लिये निषेध है ॥ ५३ ॥

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥ ५४ ॥

एषा प्रशस्तभूता श्रमणानां वा पुनर्गृहस्थानाम् ।
चर्या परेति भणिता तयैव पर लभते सौख्यम् ॥ ५४ ॥

एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः तदयं शुद्धात्मप्रकाशिकां समस्तविरतिमुपेयुषां कषायकणसद्भावात्प्रवर्तमानः शुद्धात्मवृत्तिविरुद्धरागसंगतत्वाद्गौणः श्रमणानां, गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसम्पर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेनाशुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः ॥५४॥

अथाय वैयावृत्त्यादिलक्षणशुभोपयोगस्तपोधनैर्गौणवृत्त्या श्रावकैस्तु मुख्यवृत्त्या कर्तव्य इत्याख्याति— **भणिदा** भणिता कथिता। का कर्मतापन्ना। **चरिया** चारित्रमनुष्ठानम्। किंविशिष्टा। **एसा** एषा प्रत्यक्षीभूता। पुनश्च किरूपा। **पसत्थभूदा** प्रशस्तभूता धर्मानुरागरूपा। केषा सबन्धिनी। **समणाण वा** श्रमणाना वा **पुणो घरत्थाणं** गृहस्थाना वा पुनरियमेव चर्या **परेत्ति** परा सर्वोत्कृष्टेति **ताएव परं लहदि सोक्ख** तयैव शुभोपयोगचर्यया परपरया मोक्षसुख लभते गृहस्थ इति। तथाहि— तपोधना शेषतपोधनाना वैयावृत्त्य कुर्वाणा सन्त. कायेन किमपि निरवद्यवैयावृत्त्य कुर्वन्ति। वचनेन धर्मोपदेश च। शेषमौषधान्नपानादिकं गृहस्थानामधीन तेन कारणेन वैयावृत्त्यरूपो धर्मो गृहस्थाना मुख्य तपोधनाना गौण। द्वितीय च कारण निर्विकारचिच्चमत्कारभावनाप्रतिपक्षभूतेन विषयकषायनिमित्तोत्पन्नेनार्तरौद्रध्यानद्वयेन परिणताना गृहस्थानामात्माश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति वैयावृत्त्यादिधर्मेण दुर्ध्यानवञ्चना भवति तपोधनससर्गेण निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपदेशलाभो भवति। ततश्च परपरया निर्वाण लभत इत्यभिप्राय. ॥ ५४ ॥ एव शुभोपयोगित-

---

आगे शुभोपयोग किसके गौण है, और किसके मुख्य है, यह दिखलाते हैं—[**एषा**] यह [**प्रशस्तभूता**] शुभरागरूप [**चर्या**] आचारप्रवृत्ति [**श्रमणाना**] मुनीश्वरोके होती है, [**वा पुन**] और [**गृहस्थानां**] श्रावकोके [**परा**] उत्कृष्ट होती है, [**इति भणिता**] ऐसी परमागममे कही गई है, [**तया एव**] उसी शुभरागरूप आचार प्रवृत्तिकर श्रावक [**पर सौख्य**] उत्कृष्ट मोक्ष सुखको [**लभते**] परम्पराकर पाता है। **भावार्थ**—शुद्धात्मामे अनुरागरूप जो शुभाचार है, वह शुद्धात्माकी प्रकाशनेवाली महाविरतिको प्राप्त मुनीश्वरोके कषाय अशके उदयसे गौणरूप प्रवर्तता है, क्योकि यह शुभाचार शुद्धात्माके आचरणके विरोधी रागके सम्बधसे होता है, और श्रावकके यह शुभाचार मुख्य है, क्योकि गृहस्थके महाविरतिका तो अभाव है, इसलिये शुद्धात्माचारणकी थिरताके प्रकाशका अभाव है, इसीकारण कषायोंके उदयसे मुख्य है। यह शुभोपयोग रागके सयोगसे गृहस्थके शुद्धात्माके अनुभवसे परम्परा मोक्षका कारण होता है। जैसे स्फटिकमणिका सम्बधसे इंधनमे सूर्यसे आग परम्पराकर प्रगट होती है, उसी प्रकार गृहस्थके यह शभोपयोग परम्परा मोक्षका

अथ शुभोपयोगस्य कारणवैपरीत्यात् फलवैपरीत्यं साधयति—

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥ ५५ ॥

राग प्रशस्तभूतो वस्तुविशेषेण फलति विपरीतम् ।
नानाभूमिगतानीह बीजानीव सस्यकाले ॥ ५५ ॥

यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्य कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यंभावित्वात् ॥ ५५ ॥

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये दर्शयति—

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥ ५६ ॥

पोषनाना शुभानुष्ठानकथनमुख्यतया गाथाष्टकेन द्वितीयस्थल गतम् । इत ऊर्ध्वं गाथाषट्कपर्यन्त पात्रापात्रपरीक्षामुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । अथ शुभोपयोगस्य पात्रभूतवस्तुविशेषात्फलविशेष दर्शयति—**फलदि** फलति फलं ददाति । स क । **रागो** राग । कथभूतः । **पसत्थभूदो** प्रशस्तभूतो दानपूजादिरूप । किं फलति । **विवरीद** विपरीतमन्यादृश भिन्नभिन्नफलम् । केन कारणभूतेन । **वत्थुविसेसेण** जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नपात्रभूतवस्तुविशेषेण । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह—**णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि** नानाभूमिगतानीह बीजानि इव सस्यकाले धान्यनिष्पत्तिकाल इति । अयमत्रार्थ —यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिवशेन तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफल प्रयच्छन्ति तथा स एव बीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीयपात्रभूतवस्तुविशेषण भिन्नभिन्नफल ददाति । तेन किं सिद्धम् । यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यवन्धो भवति परंपरया निर्वाण च । नो चेत्पुण्यवन्धमात्रमेव ॥ ५५ ॥ अथ कारणवैपरीत्यात्फलमपि विपरीत भवति तमेवार्थं द्रढयति—**ण लहदि** न लभते । स क. कर्ता । **वदणियमज्झयण-**

कारण है ॥ ५४ ॥ आगे इस शुभोपयोगके कारणकी विपरीततासे फलका विपरीतता सिद्ध होती है—[**प्रशस्तभूत**] शुभरूप [**रागः**] रागभाव अर्थात् शुभोपयोग [**वस्तुविशेषेण**] पुरुषके भेदकर [**विपरीतं**] विपरीत कार्यको [**फलति**] फलता है, जैसे [**सस्यकाले**] खेतीके समयमे [**नानाभूमिगतानि**] नानाप्रकारकी खोटी भूमिमे डाले हुए [**हि**] निश्चयसे [**बीजानि इव**] बीज धान्य विपरीत फलको करते हैं । **भावार्थ**—कोई कोई भूमियां ऐसी खराव हैं, कि जिनमे उपजनके लिये बोया गया अन्न खराव होजाता है, उसी तरह यह शुभोपयोग पात्रके भेदसे विपरीत फलको भी देता है, जिस तरहका पुरुष खराव और अच्छा होता है, वहाँ वसे फलको उत्पन्न करता है, वह कारणके भेदसे कायमे भेद अवश्य होजाता है ॥ ५५॥ आगे कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतता दिखलाते हैं—[**छद्मस्थविहितवस्तुषु**] अज्ञानी जीवोकर अपनी बुद्धिसे कल्पित देव गुरु

छद्मस्थविहितवस्तुषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः ।
न लभते अपुनर्भावं भावं सातात्मकं लभते ।। ५६ ।।

शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः किल फलं, तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव । तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतत्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भावशून्यकेवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्सुदेवमनुजत्वम् ।। ५६ ।।

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये एव व्याख्याति—

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु ।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ।। ५७ ।।

अविदितपरमार्थेषु च विषयकषायाधिकेषु पुरुषेषु ।
जुष्टं कृतं वा दत्तं फलति कुदेवेषु मनुजेषु ।। ५७ ।।

झाणदाणरदो व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरत । केषु विषयेषु । यानि व्रतादीनि । **छदुमत्थविहिदवत्थुसु** छद्मस्थविहितवस्तुषु अल्पज्ञानिपुरुषव्यवस्थापितपात्रभूतवस्तुषु । इत्थभूत. पुरुष क न लभते । **अपुणब्भावं** अपुनर्भवशब्दवाच्य मोक्षम् । तर्हि किं लभते । **भावं सादप्पगं लहदि** भावं सातात्मक लभते । भावशब्देन सुदेवमनुष्यत्वपर्यायो ग्राह्य । स च कथभूत सातात्मक. सद्वेद्योदयरूप इति । तथाहि—ये केचन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति पुण्यमेव मुक्तिकारण भणन्ति ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते न च गणधरदेवादय । तै छद्मस्थैरज्ञानिभि शुद्धात्मोपदेशशून्यैर्ये दीक्षितास्तानि छद्मस्थविहितवस्तूनि भण्यन्ते । तत्पात्रससर्गेन यद्व्रतनियमाध्ययनदानादिकं करोति तदपि शुद्धात्मभावनानुकूल न भवति तत. कारणान्मोक्ष न लभते । सुदेवमनुष्यत्वं लभत इत्यर्थ ।। ५६ ।। अथ सम्यक्त्वव्रतरहितपात्रेषु भक्ताना कुदेवमनुजत्वं भवतीति प्रतिपादयति—**फलदि** फलति । केषु । **कुदेवेसु मणुवेसु** कुत्सितदेवेषु मनुजेषु । किं कर्तृ । **जुट्ठं** जुष्ट सेवा-

---

धर्मादिक पदार्थोंमे **[व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरत.]** जो पुरुष व्रत, नियम, पठन, ध्यान, दानादि क्रियाओमे लीन है, वह पुरुष **[अपुनर्भावं]** मोक्षको **[न]** नही **[लभते]** पाता, किन्तु **[सातात्मकं भावं]** पुण्यरूप उत्तम देव मनुष्यपदवीको **[लभते]** पाता है । **भावार्थ**—सर्वज्ञ वीतरागकर स्थापित देव, गुरु, धर्मादिकमे जो शुभोपयोगरूप भाव निश्चल होते हैं, उनका फल साक्षात् पुण्य है, परम्परा मोक्ष है, और इस ही शुभोपयोगके कारणकी विपरीततासे विपरीत होता है, और विपरीत फलको करता है, यही दिखलाते हैं । जिन अज्ञानी जीवोने देव, गुरु, धर्मादिक वस्तु स्थापित की हैं, वे कारण विपरीत हैं, उनमे व्रत, नियम, पठन, पाठन, ध्यान, दानादिककर अति प्रीतिसे लगनेरूप जो शुभोपयोग है, उससे मोक्षकी प्राप्ति नही है, कणके विना अकेले पयाल (भूसे) की तरह पुण्यरूप फल होता है, वह फल उत्तम देवता उत्तम मनुष्यगतिरूप जानना ।। ५६ ।। आगे कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतताको और भी दिखलाते हैं—**[अविदितपरमार्थेषु]** नही जाना है, शुद्धात्म पदार्थ जिन्होने **[च]** और **[विषयकषायाधिकेषु]** इन्द्रियोके विषय तथा क्रोधादि

यानि हि छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं ये खलु शुद्धात्मपरिज्ञान-शून्यतयानवाप्तशुद्धात्मवृत्तितया चाविदितपरमार्था विषयकषायाधिकाः पुरुषाः तेषु शुभोपयोगात्मकानां जुष्टोपकृतदत्तानां या केवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्कु-देवमनुजत्वम् ॥ ५७ ॥

अथ कारणवैपरीत्यात् फलमविपरीतं न सिध्यतीति श्रद्धापयति—

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु ।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥ ५८ ॥

यदि ते विषयकषाया पापमिति प्ररूपिता वा शास्त्रेषु ।
कथं ते तत्प्रतिबद्धा पुरुषा निस्तारका भवन्ति ॥ ५८ ॥

विषयकषायास्तावत्पापमेव तद्वन्तः पुरुषा अपि पापमेव तदनुरक्ता अपि पापानुर-क्तत्वात् पापमेव भवन्ति । ततो विषयकषायवन्तः स्वानुरक्तानां पुण्यानुयायिनः

कृता कदं व कृत वा किमपि वैयावृत्त्यादिकम् । दत्तं दत्त किमप्याहारादिकम् । केषु । पुरिसेसु पुरुषेषु पात्रेषु । किंविशिष्टेषु । अविदिदपरमत्थेसु य अविदितपरमार्थेषु च परमात्मतत्त्वश्रद्धान-ज्ञानशून्येषु । पुनरपि किंरूपेषु । विसयकसायाधिगेसु विषयकषायाधिकेषु विषयकषायाधीनत्वेन निर्विषयशुद्धात्मस्वरूपभावनारहितेषु इत्यर्थं ॥ ५७ ॥ अथ तमेवार्थं प्रकारान्तरेण द्रढयति—जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु यदि च ते विषयकषाया. पापमिति प्ररूपिता' शास्त्रेषु किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति कथ ते तत्प्रतिबद्धा विषयकषायप्रतिबद्धा पुरुषा निस्तारका ससारोत्तारका दातृणाम् । न कथमपीति । एतदुक्त भवति–विषयकषायास्ताव-

---

कषाय जिनके अधिक हैं, ऐसे [पुरुषेषु] अज्ञानी मनुष्योंकी [जुष्ट] बहुत प्रीतिकर सेवा करना, [कृत] टहल चाकरी करना, [वा] अथवा [दत्त] उनको आहारादिकका देना, वह [कुदेवेषु] नीच देवोमे [मनुजेषु] नीच मनुष्योमे [फलति] फलता है । भावार्थ—जिन अज्ञानी छद्मस्थ जीवोने विपरीत गुरु स्थापन किये हैं, वे कारण विपरीत हैं, आत्माके जाने विना और आचरण विना परमार्थज्ञानसे रहित हैं, तथा विषय कषायोके सेवनेवाले हैं । ऐसे गुरुओकी सेवा भक्ति करना, वैयावृत्यका करना और आहारादिकका देना, इन क्रियाओसे जो पुण्य होता है, उसका फल नीच देव और नीच मनुष्य होना है ॥ ५७ ॥ आगे कारणकी विपरीततासे उत्तम फलकी सिद्धि नही होती, यह कहते हैं—[यदि] जो [ते] वे [विषयकषाया.] स्पर्श आदिक पाँच विषय, क्रोधादि चार कषाय [शास्त्रेषु] सिद्धान्तमें [पाप] पापरूप हैं, [इति प्ररूपिता] ऐसे कहे गये हैं, [वा] तो [तत्प्रतिबद्धा] उन विषय कषायोसे युक्त हैं, [ते पुरुषा] वे पापी पुरुष अपने भक्तोंके [कथं] किस तरह [निस्तारका] तारनेवाले [भवन्ति] हो सकते हैं ? नही हो सकते । भावार्थ—विषय और कषाय ये दोनो ससारमे बड़े भारी पाप हैं, जो जीव विषय-कषायोकर पापी हैं, और अपनेको गुरु मानते हैं, अपने भक्तोको पुण्यात्मा कहते हैं, वे पापी ससारके तारनेवाले कैसे

[पुण्यायापि न] कल्प्यन्ते कथं पुनः संसारनिस्तारणाय । ततो न तेभ्यः फलमविपरीतं सिध्येत् ॥ ५८ ॥

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं दर्शयति—

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥ ५९ ॥

उपरतपाप पुरुष समभावो धार्मिकेषु सर्वेषु ।
गुणसमितितोपसेवी भवति स भागी सुमार्गस्य ॥ ५९ ॥

उपरतपापत्वेन सर्वधर्मिमध्यस्थत्वेन गुणग्रामोपसेवित्वेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यपरिणतिनिवृत्तैकाग्र्यात्मकसुमार्गभागी स श्रमणः स्वयं परस्य मोक्षपुण्यायतनत्वादविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं प्रत्येयम् ॥ ५९ ॥

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं व्याख्याति—

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ ६० ॥

अशुभोपयोगरहिता. शुद्धोपयुक्ता शुभोपयुक्ता वा ।
निस्तारयन्ति लोकं तेषु प्रशस्तं लभते भक्त ॥ ६० ॥

त्पापस्वरूपास्तद्वन्त पुरुषा अपि पापा एव ते च स्वकीयभक्ताना दातॄणा पुण्यविनाशका एवेति ॥ ५८ ॥ अथ पात्रभूततपोधनलक्षण कथयति—उपरतपापत्वेन सर्वधार्मिकसमदर्शित्वेन गुणग्रामसेवकत्वेन च स्वस्य मोक्षकारणत्वात्परेषा पुण्यकारणत्वाच्चेत्थभूतगुणयुक्त पुरुष सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गस्य भाजन भवतीति ॥ ५९ ॥ अथ तेषामेव पात्रभूततपोधनानां प्रकारान्तरेण लक्षणमुपलक्षयति—शुद्धोपयोगशुभोपयोगपरिणतपुरुषा पात्र भवन्तीति । तद्यथा—

कहलाये जासकते हैं ? उनसे उत्तम फल कैसे सिद्ध होसकता है ? किसी तरह भी नही, क्योंकि ससारमे विषय कषाय महापाप हैं । इसलिये विषय और कषायवाले तरन तारन नही होसकते ॥ ५८ ॥ और उत्तम फलका कारण उत्तम पात्र दिखलाते हैं—(**सः**) वह (**पुरुष**) परममुनि (**सुमार्गस्य**) रत्नत्रयकी एकतासे एकाग्रतारूप मोक्षमार्गका (**भागी**) सेवनेवाला पात्र (**भवति**) होता है । जोकि (**उपरतपाप.**) समस्त विषय कषायरूप पापोसे रहित हो, (**सर्वेषु**) सभी (**धार्मिकेषु**) धर्मोमे (**समभाव**) समदृष्टि हो, अर्थात् अनंत नयस्वरूप अनेक धर्मोमे पक्षपाती नही हो, मध्यस्थ हो, और (**गुणसमितितोपसेवी**) ज्ञानादि अनेक गुणोके समूहका सेवनेवाला हो । **भावार्थ**—पूर्वोक्त गुणो सहित ऐसे महापुरुष मुनि तारनेमे समर्थ हैं, आप और दूसरेको पुण्य और मोक्ष देनेके ठिकाने हैं । ऐसा यह उत्तम पात्र उत्तम फलका कारण समझना ॥ ५९ ॥ आगे फिर भी उत्तम फलका उत्तम कारण दिखलाते हैं—(**अशुभोपयोगरहिता**) खोटे रागरूप मोह द्वेषभावोसे रहित हुए ऐसे

यथोक्तलक्षणा एव श्रमणा मोहद्वेषाप्रशस्तरागोच्छेदादशुभोपयोगवियुक्ताः सन्तः सकलकषायोदयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयुक्ताः प्रशस्तरागविपाकात्कदाचिच्छुभोपयुक्ताः स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोकं निस्तारयन्ति तद्भक्तिभावाप्रवृत्तप्रशस्तभावा भवन्ति परे च पुण्यभाजः ॥ ६० ॥

अथाविपरीतफलकारणाविपरीतकारणसमुपासनप्रवृत्तिं सामान्यविशेषतो विधेयतया सूत्रद्वैतेनोपदर्शयति—

दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं ।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥ ६१ ॥

दृष्ट्वा प्रकृतं वस्त्वभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः ।
वर्तता ततो गुणाद्विशेषितव्य इति उपदेशः ॥ ६१ ॥

श्रमणानामात्मविशुद्धिहेतौ प्रकृते वस्तुनि तदनुकूलक्रियाप्रवृत्त्या गुणातिशया-

---

निर्विकल्पसमाधिबलेन शुभाशुभोपयोगद्वयरहितकाले कदाचिद्वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगयुक्ताः कदाचित्पुनर्मोहद्वेषाशुभरागरहितकाले सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगयुक्ताः सन्तो भव्यलोकं निस्तारयन्ति, तेषु च भव्यो भक्तो भव्यवरपुण्डरीकः प्रशस्तफलभूतं स्वर्गं लभते परंपरया मोक्षं चेति भावार्थः ॥ ६० ॥ एवं पात्रापात्रपरीक्षाकथनमुख्यतया गाथापञ्चकेन तृतीयस्थलं गतम् । इत ऊर्ध्वम् आचारकथितक्रमेण पूर्वं कथितमपि पुनरपि दृढीकरणार्थं विशेषेण तपोधनसमाचारं कथयति । अथाभ्यागततपोधनस्य दिनत्रयपर्यन्तं सामान्यप्रतिपत्तिं तदनन्तरं विशेषप्रतिपत्तिं दर्शयति— **वट्टदु** वर्तताम् । स कः । अत्रत्य आचार्यः । किं कृत्वा । **दिट्ठा** दृष्ट्वा । किम् । **वत्थुं** तपोधनभूतं पात्रं वस्तु । किंविशिष्टम् । **पगदं** प्रकृतम् अभ्यन्तरनिरुपरागशुद्धात्मभावनाज्ञापकबहिरङ्गनिर्ग्रन्थनिर्विकाररूपम् । काभिः कृत्वा वर्तताम् । **अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं** अभ्यागतयोग्याचारविहिताभिरभ्युत्थानादिक्रियाभिः **तदो गुणादो** ततो दिनत्रयानन्तरं गुणाद्गुणविशेषात् **विसेसिदव्वो त्ति**

(शुद्धोपयुक्ताः) सकल कषायोंके उदयके अभावसे कोई शुद्धोपयोगी **(वा)** अथवा **(शुभोपयुक्ताः)** उत्तम रागके उदयसे कोई शुभोपयोगी इस तरह दोनों प्रकारके मुनि **(लोकं)** उत्तम भव्य जीवोंको **(निस्तारयन्ति)** तारते हैं। **(तेषु)** उन दोनों तरहके मुनियोंका **(भक्तः)** सेवक महापुरुष **(प्रशस्तं)** उत्तम स्थानको **(लभते)** पाता है। **भावार्थ—**ये उत्तम मुनि आप मोक्षके ठिकाने हैं, इसलिये जगतके उद्धार करनेवाले हैं, जो इन मुनियोंकी भक्ति करता है, वह उत्तम भावों सहित होता है, और जो अनुमोदना करता है, वह भी पुण्यफलको भोगता है ॥ ६० ॥ आगे जो उत्तम फलके कारण उत्तम पात्र हैं, उनकी सेवा, सामान्य विशेषतासे दो गाथाओंमें दिखलाते हैं—**(ततः)** इस कारण जो उत्तम पुरुष हैं, वे **(प्रकृतं)** उत्तम **(वस्तु)** पात्रको **(दृष्ट्वा)** देखकर **(अभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः)** आता हुआ देखके उठ खड़ा होना, इत्यादि उत्तम पात्रकी क्रियाओंकर **(वर्तताम्)** प्रवर्तें। क्योंकि **(गुणात्)** उत्तम गुण होनेसे **(विशेषितव्यः)** आदर विनयादि विशेष करना योग्य है, **(इति)** ऐसा **(उपदेशः)** भगवंतदेवका उपदेश है। **भावार्थ—**भगवंतकी ऐसी आज्ञा है, कि जो ज्ञानादि-

धानमप्रतिषिद्धम् ॥ ६१ ॥

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।
अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि ॥ ६२ ॥

अभ्युत्थानं ग्रहणमुपासनं पोषणं च सत्कार ।
अञ्जलिकरणं प्रणामो भणितमिह गुणाधिकाना हि ॥ ६२ ॥

श्रमणानां स्वतोऽधिकगुणानामभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामप्रवृत्तयो न प्रतिषिद्धाः ॥ ६२ ॥

अथ श्रमणाभासेषु सर्वाः प्रवृत्तीः प्रतिषेधयति—

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया ।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ ६३ ॥

तेन आचार्येण स तपोधनो रत्नत्रयभावनावृद्धिकारणक्रियाभिर्विशेषितव्य । **उवदेसो** इत्युपदेश सर्वज्ञगणधरदेवादीनामिति ॥ ६१ ॥ अथ तमेव विशेष कथयति, **भणिद** भणित कथितम् **इह** अस्मिन्ग्रन्थे । केषा सबन्धी । **गुणाधिगाण हि** गुणाधिकतपोधनाना हि स्फुटम् । किं भणितम् । **अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसण च सक्कारं अजलिकरण पणम** अभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामादिकम् । अभिमुखगमनमभ्युत्थानम्, ग्रहण स्वीकार, उपासन शुद्धात्मभावनासहकारिकारणनिमित्त सेवा, तदर्थमेवाशनशयनादिचिन्ता पोषणम्, भेदाभेदरत्नत्रयगुणप्रकाशनं सत्कारः, बद्धाञ्जलिनमस्कारोऽञ्जलिकरणम्, नमोऽस्त्वितिवचनव्यापार प्रणाम इति ॥ ६२ ॥ अथाभ्यागताना तदेवाभ्युत्थानादिक प्रकारान्तरेण निर्दिशति—**अब्भुट्ठेया** यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति तपसा वा तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वाच्छ्रुतविनयार्थमभ्युत्थेया अभ्युत्थेया अभ्युत्थान्योग्या भवन्ति । के ते । **समणा** निर्ग्रन्थाचार्या । किंविशिष्टा । **सुत्तत्थविसारदा** विशुद्धज्ञान-

---

गुणोंसे अधिक हो, उसका आदर विनय करना, धर्मात्माओको योग्य है । इसलिये धर्मात्माओको उत्तम पात्रकी विनयादि क्रिया अवश्य करनी चाहिये ॥ ६१ ॥ आगे विनयादि क्रियाको विशेषपनेसे कहते है—(**इह**) इस लोकमे (**हि**) निश्चयकर (**गुणाधिकानां**) अपनेसे अधिक गुणो सहित महापुरुषोके लिये (**अभ्युत्थानं**) सामने आते हुए देखकर उठके खडा होके सामने जाना, (**ग्रहण**) बहुत आदरसे आइये, आइये, ऐसे उत्तम वचनोकर अगीकारकर (**उपासनं**) सेवा करना, (**पोषण**) अन्नपानादिकर पोषना, (**सत्कार**) गुणोकी प्रशसाकर उत्तम वचन कहना, (**अञ्जलिकरण**) विनयसे हाथ जोडना, (**च**) और (**प्रणाम**) नमस्कार करना योग्य है । **भावार्थ**—इतनी पूर्वोक्त उत्तम क्रियायें अपनेसे गुणोकर उत्कृष्ट पुरुषोकी करनी योग्य हैं ॥ ६२ ॥ आगे जो असलमे मुनि तो नही हैं, लेकिन मुनिसे मालूम पडते हैं, ऐसे द्रव्यलिंगी मुनियोकी आदर विनयादिक सब क्रियाओका निषेध है, यही कहते हैं—(**श्रमणैः**) उत्तम मुनियोकर (**हि**) निश्चयसे (**सूत्रार्थविशारदा**)

अभ्युत्थेया. श्रमणा' सूत्रार्थविशारदा उपासेयाः ।
संयमतपोज्ञानाढ्या प्रणिपतनीया हि श्रमणे ॥ ६३ ॥

सूत्रार्थवैशारद्यप्रवर्तितसयमतपःस्वतत्त्वज्ञानानामेव श्रमणानामभ्युत्थानादिकाः प्रवृत्तयोऽप्रतिषिद्धा इतरेषां तु श्रमणाभासानां ताः प्रतिषिद्धा एव ॥ ६३ ॥

अथ कीदृशः श्रमणाभासो भवतीत्याख्याति—

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥ ६४ ॥

न भवति श्रमण इति मतः सयमतप सूत्रसप्रयुक्तोऽपि ।
यदि श्रद्धत्ते नार्थानात्मप्रधानान् जिनाख्यातान् ॥ ६४ ॥

दर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वप्रभृत्यनेकान्तात्मकपदार्थेषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचारचतुरचेतस सूत्रार्थविशारदा । न केवलमभ्युत्थेया **उवासेया** परमचिज्ज्योति परमात्मपदार्थपरिज्ञानार्थमुपासेया. परमभक्त्या सेवनीया. । **सजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया** हि सयमतपोज्ञानाढ्या. प्रणिपतनाया. हि स्फुटं वहिरङ्गेन्द्रियमयमप्राणसयमबलेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मनि यत्नपरत्व सयम । बहिरङ्गानशनादितपोबलेनाभ्यन्तरे परद्रव्येच्छानिरोधेन च स्वस्वरूपे प्रतपन विजयन तप । बहिरङ्गपरमागमाभ्यासेनाभ्यन्तरे स्वसवेदनज्ञान सम्यग्ज्ञानम् । एवमुक्तलक्षणै. संयमतपोज्ञानैराढ्या परिपूर्णा यथासभव प्रतिवन्दनीया । कै । **समणेहिं** श्रमणैरिति । अत्रेद तात्पर्यम्—ये बहुश्रुता अपि चारित्राधिका न भवन्ति तेऽपि परमागमाभ्यासनिमित्त यथायोग्य वन्दनीया । द्वितीय च कारणम्—ते सम्यक्त्वे ज्ञाने च पूर्वमेव दृढतरा अस्य तु नवतरतपोधनस्य सम्यक्त्वे ज्ञाने चापि दार्ढ्यं नास्ति तर्हि स्तोकचारित्राणा किमर्थमागमे वन्दनादिनिषेध' कृत इति चेत् । अतिप्रसगनिषेधार्थमिति ॥ ६३ ॥ अथ श्रमणाभास कीदृशो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तर ददाति— **णं हवदि समणो** स श्रमणो न भवति **त्ति मदो** इति मत समत. । क्व । आगमे । कथभूतोऽपि । **संजमतवसुत्तसपजुत्तो वि** सयमतप श्रुतै सप्रयुक्तोऽपि सहितोऽपि । यदि किम् । **जदि सद्दहदि ण**

परमागमके अर्थोंमे चतुर और (**सयमतपोज्ञानाढ्या**) सयम, तपस्या, ज्ञान, इत्यादि गुणोकर पूर्ण ऐसे (**श्रमणा.**) महामुनि (**अभ्युत्थेयाः**) खडे होके सामने जाकर आदर करने योग्य हैं, (**उपासेया**) सेवने योग्य हैं, और (**प्रणिपतनीया**) नमस्कार करने योग्य हैं। **भावार्थ**—जो मुनि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकर सहित हैं, उन्हीकी पूर्वोक्त विनयादि क्रिया करनी योग्य है, और जो द्रव्यलिंगी श्रमणाभास मुनि हैं, उनको विनयादि करना योग्य नही हैं ॥ ६३ ॥ आगे श्रमणाभास मुनि कैसा होता है, यह कहते हैं—(**संयमतप सूत्रसप्रयुक्तोऽपि**) सयम, तपस्या, सिद्धान्त, इनकर सहित होनेपर भी (**यदि**) जो मुनि (**जिनाख्यातान्**) सर्वज्ञवीतराग कथित (**आत्मप्रधानान्**) सव ज्ञेयोंके जाननेसे आत्मा है, मुख्य जिनमे ऐसे (**अर्थान्**) जीवादिक पदार्थोंका (**न श्रद्धत्ते**) नही श्रद्धान करता, वह मिथ्यादृष्टि (**श्रमणः**) उत्तम मुनि (**न भवति**) नही होसकता, (**इति मत.**) ऐसा यह

आगमज्ञोऽपि संयतोऽपि तपःस्थोऽपि जिनोदितमनन्तार्थनिर्भरं विश्वं स्वेनात्मना ज्ञेयत्वेन निष्पीतत्वादात्मप्रधानमश्रद्दधानः श्रमणाभासो भवति ॥ ६४ ॥

अथ श्रामण्येन सममननुमन्यमानस्य विनाशं दर्शयति—

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो पट्ठचारित्तो ॥ ६५ ॥

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि ।
क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्र ॥ ६५ ॥

श्रमणं शासनस्थमपि प्रद्वेषादपवदतः क्रियास्वननुमन्यमानस्य च प्रद्वेषकषायि-

---

यदि चेन्मूढत्रयादिपञ्चविंशतिसम्यक्त्वमलरहित सन् न श्रद्धत्ते न रोचते न मन्यते । कान् । **अत्थे** पदार्थान् । कथभूतान् । **आदपधाणे** निर्दोषिपरमात्मप्रभृतीन् । पुनरपि कथंभूतान् । **जिणक्खादे** वीतरागसर्वज्ञेनाख्यातान् दिव्यध्वनिना प्रणीतान् गणधरदेवैर्ग्रन्थविरचितानित्यर्थ ॥ ६४ ॥ अथ मार्गस्थश्रमणदूषणे दोष दर्शयति—**अववददि** अपवदति दूषयत्यपवाद करोति । स क· । **जो हि** यः कर्ता हि स्फुटम् । कम् । **समण** श्रमण तपोधनम् । कथभूतम् । **सासणत्थ** शासनस्थ निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्थम् । कस्मात् । **पदोसदो** निर्दोषिपरमात्मभावनाविलक्षणात् । प्रद्वेषात्कषायात् । किं कृत्वा पूर्वम् । **दिट्ठा** दृष्ट्वा अपवदते । न केवल अपवदते । **णाणुमण्णदि** नानुमन्यते । कासु विषयासु । **किरियासु** यथायोग्य वन्दनादिक्रियासु **हवदि हि सो** भवति हि स्फुट स । किंविशिष्ट । **णट्ठचारित्तो** कथचिदतिप्रसगान्नष्टचारित्रो भवतीति । तथाहि—मार्गस्थतपोधन दृष्ट्वा यदि कथचिन्मात्सर्यवशाद्दोषग्रहण करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवति स्फुटं पश्चादात्मनिन्दा कृत्वा वर्तते तदा दोषो नास्ति कालान्तरे वा निवर्तते तथापि दोषो नास्ति । यदि पुनस्तत्रैवानुबन्ध कृत्वा तीव्रकषायवशादतिप्रसगं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवतीत्यय भावार्थ । बहुश्रुतैरल्पश्रुततपोधनाना दोषो न ग्राह्यस्तैरपि तपोधनै किमपि पाठमात्र गृहीत्वा तेषा दोषो न ग्राह्य किंतु किमपि सारपद गृहीत्वा स्वय भाननैव कर्तव्या । कस्मादिति चेत् । रागद्वेषोत्पत्तौ सत्या बहुश्रुताना श्रु_त-

---

श्रमणाभासमुनि सिद्धान्तोमे महापुरुषोने कहा है । **भावार्थ**—जो सिद्धान्तका जाननेवाला भी है, सयमी तपस्वी भी है, लेकिन सर्वज्ञप्रणीत जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान नही करता, इसीसे वह श्रमणाभास कहा जाता है ॥ ६४ ॥ आगे यथार्थ मुनिपद सहित मुनिकी जो क्रिया विनयादि नही करता, वह चारित्रसे रहित है, ऐसा दिखलाते हैं—(**यः**) जो मुनि (**शासनस्थं**) भगवतकी आज्ञामे प्रवृत्त (**श्रमण**) उत्तम मुनिको (**दृष्ट्वा**) देखकर (**प्रद्वेषत**) द्वेष भावसे (**हि**) निश्चयकर (**अपवदति**) अनादर कर बुराई करता है, (**क्रियासु**) और पूर्वोक्त विनयादि क्रियाओमे (**न अनुमन्यते**) नही प्रसन्न होता, (**स**) वह द्वेषी अविनयी मुनि (**हि**) निश्चयसे (**नष्टचारित्र**) चारित्र रहित (**भवति**) है । **भावार्थ**—जो कोई मुनि दूसरे जिनमार्गी मुनिको देखकर द्वेष भावसे निन्दा करता है, निरादर करता है, वह कषाय भावोकी परिणतिसे नष्टचारित्री होता है ॥ ६५ ॥ आगे जो यति-

निश्चितसूत्रार्थपदः शमितकषायस्तपोऽधिकश्चापि ।
लौकिकजनससर्गं न त्यजति यदि सयतो न भवति ॥ ६८ ॥

यतः सकलस्यापि विश्ववाचकस्य सल्लक्ष्मणः शब्दब्रह्मणस्तद्वाच्यस्य सकलस्यापि सल्लक्ष्मणो विश्वस्य च युगपदनुस्यूततदुभयज्ञेयाकारतयाधिष्ठानभूतस्य सल्लक्ष्मणो ज्ञातृतत्त्वस्य निश्चयनयान्निश्चितसूत्रार्थपदत्वेन निरुपरागोपयोगत्वात् शमितकषायत्वेन बहुशोऽभ्यस्तनिष्कम्पोपयोगत्वात्तपोऽधिकत्वेन च सुष्ठु संयतोऽपि सप्तार्चिःसगत तोयमिवावश्य भाविविकारत्वात् लौकिकसंगादसयत एव स्यात्ततस्तत्संगः सर्वथा प्रतिषेध्य एव ॥ ६८ ॥

अथ लौकिकलक्षणमुपलक्षयति—

समाप्त । अथानन्तरं द्वात्रिंशद्गाथापर्यन्त पञ्चभि· स्थलैः शुभोपयोगाधिकार कथ्यते । तत्रादौ लौकिकससर्गनिषेधमुख्यत्वेन 'णिच्छिदसुत्तत्थपदो' इत्यादिपाठक्रमेण गाथापञ्चकम् । तदनन्तर सरागसयमापरनामशुभोपयोगस्वरूपकथनप्रधानत्वेन 'समणा सुद्धुवजुत्ता' इत्यादि सूत्राष्टकम् । ततश्च पात्रापात्रपरीक्षाप्रतिपादनरूपेण 'रागो पसत्थभूदो' इत्यादि गाथाषट्कम् । तत परमाचारादिविहितक्रमेण पुनरपि सक्षेपरूपेण समाचारव्याख्यानप्रधानत्वेन 'दिट्ठा पगद वत्थु' इत्यादि सूत्राष्टकम् । तत पर पञ्चरत्नमुख्यत्वेन 'जे अजधागहिदत्था' इत्यादि गाथापञ्चकम् । एव द्वात्रिंशद्गाथाभि स्थलपञ्चकेन चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा अथ लौकिकससर्गं प्रतिषेधयति—**णिच्छिदसुत्तत्थपदो** निश्चितानि ज्ञातानि निर्णीतान्यनेकान्तस्वभावनिजशुद्धात्मादिपदार्थप्रतिपादकानि सूत्रार्थपदानि येन स भवति निश्चितसूत्रार्थपदः **समिदकसाओ** परविषये क्रोधादिपरिहारेण तथाभ्यन्तरे परमोपशमभावपरिणतनिजशुद्धात्मभावनाबलेन च शमितकषाय **तवोधिगो चावि** अनशनादिबहिरङ्गितपोबलेन तथैवाभ्यन्तरे शुद्धात्मभावनाविषये प्रतिपन्नाद्विजयनाच्च तपोऽधिकश्चापि सन् स्वय सयत कर्ता **लोगिगजणससग्ग ण चयदि जदि** लौकिका स्वेच्छाचारिणस्तेषा ससर्गो लौकिकससर्गस्त न त्यजति यदि चेत् **सजदो ण हवदि** तर्हि सयतो न भवतीति । अयमत्रार्थ —स्वय भावितात्मापि यद्यसवृतजनससर्गं न त्यजति तदातिपरिचयादग्निसगत जलमिव विकृतिभाव गच्छतीति ॥ ६८ ॥ अथानुकम्पालक्षण कथ्यते—

अपि] तपस्याकर उत्कृष्ट है, तो भी **[यदि]** जो **[लौकिकजनससर्गं]** चारित्रभ्रष्ट अज्ञानी मुनियोकी सगति **[न जहाति]** नही छोडता है, तो वह **[संयतः]** संयमी मुनि **[न भवति]** नही होसकता । **भावार्थ**—जो भगवत्प्रणीत शब्दब्रह्मका जाननेवाला है, आत्मतत्त्वको भी जानता है, बहुत अभ्यासकर निष्कप उपयोगी है, और तपकी अधिकतासे उत्कृष्ट सयमी भी है, इत्यादि अनेक गुणोकर युक्त है, तो भी लौकिक मुनिकी जो सगति नही छोडे, तो वह सयमी नही होसकता । जैसे आगके सम्बन्धसे उत्तम शीतल जल अवश्य गर्म विकारको धारण करता है, उसी तरह मुनिभी कुसगतिसे अवश्य नाशको प्राप्त होता है । इसलिये कुसगति त्यागने योग्य है ॥ ६८ ॥ आगे लौकिक मुनिका लक्षण कहते हैं—**[नैर्ग्रन्थ्य प्रव्रजितः]** निर्ग्रंथ मुनिपदको धारणकर दीक्षित

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं ।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंजुदो चावि ॥ ६९ ॥

निर्ग्रन्थ. प्रव्रजितो वर्तते यद्यैहिकै· कर्मभि. ।
स लौकिक इति भणित संयमतप संयुतश्चापि ॥ ६९ ॥

प्रतिज्ञातपरमनैर्ग्रन्थ्यप्रव्रज्यत्वादुदूढसंयमतपोभारोऽपि मोहबहुलतया श्लथीकृतशुद्धचेतनव्यवहारो मुहुर्मनुष्यव्यवहारेण व्याघूर्णमानत्वादैहिककर्मानिवृत्तौ लौकिक इत्युच्यते ॥ ६९ ॥

अथ सत्संगं विधेयत्वेन दर्शयति--

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥७०॥

तस्मात्समं गुणात् श्रमण गुणैर्वाधिकम् ।
अधिवसतु तत्र नित्यं इच्छति यदि दुःखपरिमोक्षम् ॥ ७० ॥

तिसिद व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥ +२२ ॥

तिसिदं व भुक्खिद वा दुहिदं वा दट्ठूण जो हि दुहिदमणो पडिवज्जदि तृषित वा बुभुक्षितं वा दु खित वा दृष्ट्वा कमपि प्राणिन यो हि स्फुट दु खितमना. सन् प्रतिपद्यते स्वीकरोति। कं कर्मतापन्नम् । तं प्राणिनम् । कया । किवया कृपया दयापरिणामेन तस्सेसा होदि अणुकंपा तस्य पुरुषस्यैषा प्रत्यक्षीभूता शुभोपयोगरूपानुकम्पा दया भवतीति । इमा चानुकम्पा ज्ञानी स्वस्थभावनामविनाशयन् संक्लेशपरिहारेण करोति । अज्ञानी पुन सक्लेशेनापि करोतीत्यर्थ ॥ २२ ॥ अथ लौकिकलक्षणं कथयति—णिग्गंथो पव्वइदो वस्त्रादिपरिग्रहरहितत्वेन निर्ग्रन्थोऽपि दीक्षाग्रहणेन प्रव्रजितोऽपि वट्टदि जदि वर्तते यदि चेत् । कै । एहिगेहि कम्मेहिं ऐहिकै· कर्मभि· भेदाभेदरत्नत्रयभावनाशकै ख्यातिपूजालाभनिमित्तैर्ज्योतिषमन्त्रवादिवैदिकादिभिरैहिकजीवनोपायकर्मभि. सो लोगिगो त्ति भणिदो स लौकिको व्यावहारिक इति भणित । किं विशिष्टोऽपि संजमतवसंजुदो चावि द्रव्यरूपसंयमतपोभ्या संयुक्तश्चापीत्यर्थ ॥ ६९ ॥ अथोत्तमसंसर्ग कर्तव्य इत्युपदिशति—तम्हा यस्माद्धीनसंसर्गाद्गुणहानिर्भवति तस्मात्कारणात् अधिवसदु अधिवसतु तिष्ठतु । स क कर्ता ।

हुआ मुनि [यदि] जो [ऐहिकै·] इस लोकसम्बन्धी [कर्मभि·] ससारी कर्म ज्योतिष, वैद्यक, मत्र यत्रादिकोकर [वर्तते] प्रवर्ते, तो [सः] वह भ्रष्ट मुनि [संयमतपःसंप्रयुक्तोऽपि] संयम तपस्याकर सहित हुआ भी [लौकिक·] लौकिक [इति] ऐसे नामसे [भणित.] कहा है । भावार्थ—यद्यपि निर्ग्रंथ दीक्षाकी प्रतिज्ञा की है, सयम तपस्याका भार भी लिया है, लेकिन जो मोहकी अधिकतासे शुद्ध चेतना व्यवहारको शिथिल करता है, 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसे अभिमानकर घूम रहा है, और इसलोक सम्बन्धी कर्मोंसे रहित नहीं हुआ ऐसा भ्रष्ट मुनि लौकिक कहलाता है । ऐसेकी सगति मुनिको

यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यं भाविविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात्। ततो दुःखमोक्षार्थिना गुणैः समोऽधिको वा श्रमणः श्रमणेन नित्यमेवाधिवसनीयः तथास्य शीतापवरककोणनिहितशीततोयवत्समगुणसंगाद्गुणरक्षा शीततरतुहिनशर्करासंपृक्तशीततोयवत् गुणाधिकसंगात् गुणवृद्धिः ॥ ७० ॥

इत्यध्यास्य शुभोपयोगजनितां काचित्प्रवृत्तिं यति
सम्यक् संयमसौष्ठवेन परमां क्रामन्निवृत्तिं क्रमात्।
हेलाक्रान्तसमस्तवस्तुविसरप्रस्ताररम्योदया
ज्ञानानन्दमयीं दशामनुभवत्वेकान्ततः शाश्वतीम् ॥

इति शुभोपयोगप्रज्ञापनम्। अथ पञ्चरत्नम्।

तन्त्रस्यास्य शिखण्डिमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतो
द्वैतीयीकमथार्हतो भगवतः संक्षेपतः शासनम्।

समणो श्रमण। वव। तम्हि तस्मिन्नधिकरणभूते णिच्चं नित्य सर्वकालम्। तस्मिन्कुत्र। समण श्रमणे लक्षणवशादधिकरणे कर्म पठ्यते। कथभूते श्रमणे। समं समे समाने। कस्मात्। गुणादो बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयलक्षणगुणात्। पुनरपि कथंभूते। अहियं वा स्वस्मादधिके वा। कै। गुणेहिं मूलोत्तरगुणैः। यदि किम्। इच्छदि जदि इच्छति वाञ्छति यदि चेत्। कम्। दुक्खपरिमोक्खं स्वात्मोत्थसुखविलक्षणाना नारकादिदुःखाना मोक्ष दुःखपरिमोक्षमिति। अथ विस्तरः—यथाग्निसयोगाज्जलस्य शीतलगुणविनाशो भवति तथा व्यावहारिकजनससर्गात्संयतस्य सयमगुणविनाशो भवतीति ज्ञात्वा तपोधन कर्ता समगुणं गुणाधिक वा तपोधनमाश्रयति तदास्य तपोधनस्य यथा शीतलभाजनसहितशीतलजलस्य शीतलगुणरक्षा भवति तथा समगुणससर्गाद्गुणरक्षा भवति। यथा च तस्यैव जलस्य कर्पूरशर्करादिशीतलद्रव्यनिक्षेपे कृते सति शीतलगुणवृद्धिर्भवति तथा निश्चय-

---

त्यागने योग्य है ॥ ६९ ॥ आगे अच्छी सगति करनी चाहिये, ऐसा दिखलाते हैं—[तस्मात्] इस कारणसे, अर्थात् आगके सम्बधसे जलकी तरह, मुनि भी लौकिककी कुसगतिसे असंयमी हो जाता है। इससे कुसगतिको त्यागकर [श्रमणः] उत्तम मुनि [यदि] जो [दुःखपरिमोक्षं] दुःखसे मुक्त हुआ (छूटना) [इच्छति] चाहता है, तो [गुणात् समं] गुणोसे अपने समान [वा] अथवा [गुणैः अधिकं] गुणोमे अपनेसे अधिककी [श्रमणम्] श्रमणको [तत्र] इन दोनोकी सगतिमे [अधिवसतु] निवास करना चाहिये। **भावार्थ**—जो मोक्षाभिलाषी मुनि हैं, उसको चाहिये, कि या तो गुणोमे अपने समान हो, या अधिक हो, ऐसें दोनोकी सगति करें, अन्यकी न करें। जैसे शीतल घरके कोनेमें शीतल जलके रखनेसे शीतल गुणकी रक्षा होती है, वह जल अति शीतल हो जाता है, बरफ मिश्रीकी सगतिसे और भी अधिक शीतल हो जाता है, उसी तरह गुणाधिक पुरुषकी सगतिसे गुण बढते हैं, इसलिये सत्सगति करना योग्य है। मुनिको चाहिये, कि पहली अवस्थामें तो पूर्व कही हुई शुभोपयोगसे उत्पन्न प्रवृत्तिको स्वीकार करे, पीछे क्रमसे सयमकी उत्कृष्टतासे

व्याकुर्वञ्जगतो विलक्षणपथां संसारमोक्षस्थितिं
जियात्सप्रति पञ्चरत्नमनघ सूत्रैरिमैः पञ्चभिः ॥

अथ संसारतत्त्वमुद्घाटयति—

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये ।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥ ७१ ॥

ये अयथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिताः समये ।
अत्यन्तफलसमृद्ध भ्रमन्ति ते अतः परं कालम् ॥ ७१ ॥

ये स्वयमविवेकतोऽन्यथैव प्रतिपद्यार्थानित्थमेव तत्त्वमिति निश्चयमारचयन्तः सततं समुपचीयमानमहामोहमलमलीमसमानसतया नित्यमज्ञानिनो भवन्ति ते खलु समये स्थिता अप्यनासादितपरमार्थश्रामण्यतया श्रमणाभासाः सन्तोऽनन्तकर्मफलोप-

---

व्यवहाररत्नत्रयगुणाधिकसंसर्गाद्गुणवृद्धिर्भवतीति सूत्रार्थः ॥ ७० ॥ इत पर पञ्चमस्थले सक्षेपेण ससारस्वरूपस्य मोक्षस्वरूपस्य च प्रतीत्यर्थं पञ्चरत्नभूतगाथापञ्चकेन व्याख्यान करोति । तद्यथा । अथ ससारस्वरूप प्रकटयति—अत्यन्तफलसमृद्ध भ्रमन्ति न विद्यतेऽन्त इत्यत्यन्त ते पर कालं द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चप्रकारससारपरिभ्रमणरहितशुद्धात्मस्वरूपभावनाच्युता सन्तः परिभ्रमन्ति । कम् । पर कालम् अनन्तकालम् । कथभूतम् । नारकादिदु खरूपात्यन्तफलसमृद्धम् । पुन-

---

परम दशाको धारण करे। इसलिये हे भव्यो ! समस्त वस्तुकी प्रकाशनेवाली केवलज्ञानानन्दमयी अविनाशी अवस्थाको सब तरहसे पाकर अपने अतीन्द्रिय सुखको अनुभवो ॥ ७० ॥ इस प्रकार यह शुभोपयोगका अधिकार पूर्ण हुआ। आगे पच रत्नोको पाँच गाथाओसे कहते है। ये पच रत्न इस सिद्धान्तके मुकुट हैं, और भगवन्तके अनेकान्त मतको सक्षेपसे कहते हैं, और ससार मोक्षकी स्थितिको प्रगट करते हैं, इसलिये ये पच रत्न जयवन्ते होवें। ससारतत्त्व १, मोक्षतत्त्व २, मोक्षतत्त्वका साधन ३, मोक्षतत्त्वसाधन सर्वमनोरथस्थान कथन ४, और शिष्यजनोको शास्त्र-पठनका लाभ ५, ये पाँच रत्न हैं। आगे पाँचोमे से प्रथम ही ससारतत्त्वको कहते हैं—[**ये**] जो पुरुष [**समये**] जिनमतमे द्रव्यलिग अवस्था धारणकर तिष्ठते भी हैं, लेकिन [**अयथागृहीतार्थाः**] अन्यथा पदार्थोका स्वरूप ग्रहण करते हुए [**एते तत्त्वं**] जो पदार्थ हमने जानलिये हैं, ये ही वस्तुका स्वरूप हैं, [**इति**] ऐसा मिथ्यापना मानकर [**निश्चिताः**] निश्चय कर बैठे हैं, [**ते**] ऐसे वे श्रमणाभास मुनि [**अतः**] इस वर्तमानकालसे आगे [**अत्यन्तफलसमृद्धं**] अनन्तभ्रमणरूपी फलकर पूर्ण [**परं कालं**] अनंतकालपर्यंत [**भ्रमन्ति**] भटकते हैं। **भावार्थ**—ये अज्ञानी मुनि मिथ्याबुद्धिसे पदार्थका श्रद्धान नही करते हैं, अन्यकी अन्य कल्पना करते है, और सदा महामोह मलकर चित्तकी मलिनतासे अविवेकी हैं, यद्यपि द्रव्यलिंगको धारण कर रहे हैं, तो भी परमार्थ मुनिपनेको नही प्राप्त हुए हैं, जो मुनिके समान मालूम पडते हैं, वे अनतकालतक अनतपरावर्तनकर भयानक कर्म-फलको भोगते हुए भटकते हैं। इसलिये ऐसे श्रमणाभास मुनिको ससारतत्त्व जानना चाहिये, दूसरा कोई संसार नही है, जो जीव मिथ्याबुद्धि लिये हुए है, वे ही जीव संसार हैं ॥ ७१ ॥ आगे मोक्षतत्त्वको

भोगप्राग्भारभयंकरमनन्तकालमनन्तभवान्तपरावर्तैरनवस्थितवृत्तयः संसारतत्त्वमेवावबुध्यताम् ॥ ७१ ॥

अथ मोक्षतत्त्वमुद्घाटयति—

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा ।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥ ७२ ॥

अयथाचारवियुक्तो यथार्थपदनिश्चितः प्रशान्तात्मा ।
अफले चिरं न जीवति इह स संपूर्णश्रामण्यः ॥ ७२ ॥

यस्त्रिलोकचूलिकायमाननिर्मलविवेकदीपिकालोकशालितया यथावस्थितपदार्थनिश्चयनिवर्तितौत्सुक्यस्वरूपमन्थरसततोपशान्तात्मा सन् स्वरूपमेकमेवाभिमुख्येन चरन्नयथाचारवियुक्तो नित्यं ज्ञानी स्यात् स खलु संपूर्णश्रामण्यः साक्षात् श्रमणो हेलावकीर्णसकलप्राक्तनकर्मफलत्वादनिष्पादितनूतनकर्मफलत्वाच्च पुनः प्राणधारणदैन्यमनास्कन्दन् द्वितीयभावपरावर्ताभावात् शुद्धस्वभावावस्थितवृत्तिर्मोक्षतत्त्वमवबुध्यताम् ॥ ७२ ॥

रपि कार्यभूतम् । अतो वर्तमानकालात्परं भाविनमिति । अयमत्रार्थः—इत्थंभूतसंसारपरिभ्रमणपरिणतपुरुष एवाभेदेन संसारस्वरूपं ज्ञातव्यमिति ॥ ७१ ॥ अथ मोक्षस्वरूपं प्रकाशयति—अजधाचारविजुत्तो निश्चयव्यवहारपञ्चाचारभावनापरिणतत्वादयथाचारवियुक्तः विपरीताचाररहित इत्यर्थः । जधत्थपदणिच्छिदो सहजानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मादिपदार्थपरिज्ञानसहितत्वाद्यथार्थपदनिश्चितः पसंतप्पा विशिष्टपरमोपशमभावपरिणतनिजात्मद्रव्यभावनासहितत्वात्प्रशान्तात्मा जो य कर्ता सो संपुण्णसामण्णो स संपूर्णश्रामण्यः सन् चिरं ण जीवदि चिरं बहुतरकालं न जीवति न तिष्ठति अफले शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादरहितत्वेनाफले संसारे । किंतु । शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति । अयमत्र भावार्थः—इत्थंभूतमोक्षतत्त्वपरिणतपुरुष एवाभेदेन मोक्षस्वरूपं ज्ञातव्य-

---

प्रगट करते हैं—[अयथाचारवियुक्तः] जो पुरुष मिथ्या आचरणसे रहित है, अर्थात् यथावत् स्वरूपाचरणमें प्रवर्तते हैं, [यथार्थपदनिश्चितः] जैसा कुछ पदार्थोंका स्वरूप है, वैसा ही जिसने निश्चल श्रद्धान कर लिया है, [प्रशान्तात्मा] और जो राग द्वेषसे रहित है, ऐसा [सः] वह पुरुष [संपूर्णश्रामण्यः] सम्पूर्ण मुनिपदवी सहित हुआ [इह] इस [अफले] फल रहित संसारमें [चिरं] बहुत कालतक [न जीवति] प्राणोंको नहीं धारण करते हैं, थोडे कालतक ही रहते हैं। भावार्थ—त्रिलोकका चूडामणिरत्न समान निर्मल विवेकरूपी दीपकके प्रकाशसे जिस महामुनिने यथावत् पदार्थोंका निश्चय किया है, और एक अपने ही स्वरूपको मुख्यपनेसे आचरता है, विपरीत आचरणसे रहित हुआ, सदाकाल ज्ञानी है, ऐसा परिपूर्ण मुनिपदवीका धारक महामुनि पूर्व बँधे समस्त कर्म-फलोंकी निर्जरा करता है, नवीन कर्मबंध-फलका उत्पन्न करनेवाला नहीं होता, इससे फिर संसारिक प्राणोंके धारण करनेकी दीनताको नहीं करता। जिसके दूसरी पर्यायका अभाव है, ऐसा

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमुद्घाटयति—

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं ।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा ॥ ७३ ॥

सम्यग्विदितपदार्थास्त्यक्त्वोपधिं बहिस्थमध्यस्थम् ।
विषयेषु नावसक्ता ये ते शुद्धा इति निर्दिष्टाः ॥ ७३ ॥

अनेकान्तकलितसकलज्ञातृज्ञेयतत्त्वयथावस्थितस्वरूपपाण्डित्यशौण्डाः सन्तः समस्तबहिरङ्गान्तरङ्गसंगसगतिपरित्यागविविक्तान्तश्चकचकायमानानन्तशक्तिचैतन्यभास्वरात्मतत्त्वस्वरूपाः स्वरूपगुप्तसुषुप्तकल्पान्तस्तत्त्ववृत्तितया विषयेषु मनागप्यासक्तिमनासादयन्तः समस्तानुभाववन्तो भगवन्तः शुद्धा एवासंसारघटितविकटकर्मकवाटविघटनपटीयसाध्यवसायेन प्रकटीक्रियमाणावदानावमोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमबुध्यताम् ॥ ७३ ॥

मिति ॥ ७२ ॥ अथ मोक्षकारणमाख्याति—**सम्म विदिदपदत्था** सशयविपर्ययानध्यवसायरहितानन्तज्ञानादिस्वभावनिजपरमात्मपदार्थप्रभृतिसमस्तवस्तुविचारचतुरचित्तचातुर्यप्रकाशमानसातिशयपरमविवेकज्योतिषा सम्यग्विदितपदार्था । पुनरपि किंरूपा । **विसयेसु णावसत्ता** पञ्चेन्द्रियविषयाधीनरहितत्वेन निजात्मतत्त्वभावनारूपपरमसमाधिसजातपरमानन्दैकलक्षणसुखसुधारसास्वादानुभवनफलेन विषयेषु मनागप्यनासक्ता. । किं कृत्वा । पूर्वं स्वस्वरूपपरिग्रह स्वीकार कृत्वा **चत्ता** त्यक्त्वा । कम् । **उवहिं** उपधिं परिग्रहम् । किंविशिष्टम् । **बहित्थमज्झत्थ** बहिस्थ क्षेत्राद्यनेकविध मध्यस्थं मिथ्यात्वादिचतुर्दशभेदभिन्नम् । **जे** एवगुणविशिष्टा ये महात्मान **ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा** ते शुद्धात्मान शुद्धोपयोगिन सिद्धयन्ति इति निर्दिष्टा कथिता । अनेन व्याख्यानेन विमुक्त भवति—इत्थभूता परमयोगिन एवाभेदेन मोक्षमार्गा इत्यवबोद्धव्या ॥ ७३ ॥ अथ शुद्धोपयोगलक्षणमोक्षमार्गं सर्वमनोरथस्थानत्वेन प्रदर्शयति—**भणियं** भणितम् । किम् । **सामण्णं** सम्यग्दर्शन-

---

यह शुद्ध स्वरूपमे स्थित मुनि है, उसीको तुम मोक्षतत्त्व जानो, अन्य मोक्ष नहीं । जो परद्रव्यसे मुक्त हुआ स्वरूपमे लीन है, वही जीव मुक्त है ॥ ७२ ॥ आगे मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व दिखलाते है—(ये) जो जीव (**सम्यग्**) यथार्थ (**विदितपदार्थाः**) समस्त तत्त्वोको जानते हैं, तथा (**बहिस्थमध्यस्थं**) बाह्य और अतरग रागादि (**उपधिं**) परिग्रहको (**त्यक्त्वा**) छोडकर (**विषयेषु**) पाँच इन्द्रियोंके स्पर्शादि विषयोमे (**न अवसक्ताः**) लीन नही है (**ते**) वे, जीव (**शुद्धा**) निर्मल भगवन्त मोक्षतत्त्वके साधन है, (**इति**) ऐसे (**निर्दिष्टा**) कहे गये है । **भावार्थ**—जो अनेकान्तपने सहित सकल ज्ञेय ज्ञायक तत्त्वोके यथार्थ जाननेमे प्रवीण हैं, समस्त बाह्य अतर परिग्रहको त्यागकर देदीप्यमान हुए हैं, अनत ज्ञानशक्तिकर विराजमान आत्मतत्त्व जिनके घटमे है, इन्द्रियोके विषयोमे किसी समय भी आसक्त नही होते, स्वरूपमे ऐसे लीन हैं, कि मानो सुखसे सोरहे हैं, इसलिये विषयोसे रहित हैं, ससारमे लगे कर्मरूप किवाडोके उघाडनेको जिन्होने अपनी शक्ति प्रगट की है, और महाप्रभाव सहित है, ऐसे शुद्धजीव हैं; वे ही मोक्षतत्त्वके साधक जानने चाहिये

व्यज्ञानानन्दस्वभावमननुभूतपूर्वं भगवन्तमात्मानमवाप्नोति ॥ ७५ ॥ गाथा-समाप्तिः ॥

इति तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां प्रवचनसारवृत्तौ चरणानुसूचिकानामकस्तृतीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥ ३ ॥

ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्य इति चेत्, अभिहितमेतत् पुनरप्यभिधीयते । आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानन्तधर्माधिष्ठात्रेकं द्रव्यमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणपूर्वकस्वानुभवप्रमीयमाणत्वात् । तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम् १ । पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम् २ । अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसहितावस्थलक्ष्योन्मुखविशिखवत् । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्ववत् ३ । नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् । परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नास्तित्ववत् ४ । अस्तित्वना-

---

र्थान्तराधिकार समाप्त ॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तक्रमेण 'एव पणमिय सिद्धे' इत्याद्येकविंशतिगाथाभिरुत्सर्गाधिकार । 'ण हि णिरवेक्खो चागो' इत्यादि त्रिंशद्गाथाभिरपवादाधिकारः । तत पर 'एयग्गगदो समणो' इत्यादिचतुर्दशगाथाभि श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाधिकार । ततोऽप्यनन्तर 'णिच्छिदसुत्तत्थपदो' इत्यादिद्वात्रिंशद्गाथाभि. शुभोपयोगाधिकारश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन सप्तनवतिगाथाभिश्चरणानुयोगचूलिका नामा तृतीयो महाधिकार' समाप्त ॥ ३ ॥

अत्राह शिष्य । परमात्मद्रव्य यद्यपि पूर्वं बहुधा व्याख्यातम् । तथापि सक्षेपेण पुनरपि कथ्यतामिति भगवानाह—केवलज्ञानाद्यनन्तगुणानामाधारभूत यत्तदात्मद्रव्य भण्यते । तस्य च नयैं प्रमाणेन च परीक्षा क्रियते । तद्यथा—एतावत् शुद्धनिश्चयेन निरुपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिवि-

---

आत्माको पाता है ॥ ७५ ॥

इति श्रीपाडे हेमराजकृत श्रीप्रवचनसार सिद्धान्तकी बालावबोधभाषाटीकामें चारित्र अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

जो कोई यह प्रश्न करे, कि यह आत्मा कैसा है ? और इसकी प्राप्ति किस तरह होती है ? तो उसका समाधान पहले भी कर आये हैं, और फिर भी तात्पर्यरूपसे कहते हैं—यह आत्मा चैतन्यरूप अनन्त धर्मात्मक एक द्रव्य है, वे अनन्त धर्म अनन्त नयोंसे जाने जाते हैं, अनन्त नयरूप श्रुतज्ञान है । उस श्रुतज्ञानप्रमाणसे अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा जाना जाता है, इस कारण नयोंसे वस्तु दिखलाई जाती है । वही आत्मा द्रव्यार्थिकनयकर चिन्मात्र है, जैसे वस्त्र एक है, और पर्यायार्थिकनयकर वही आत्मा ज्ञान दर्शनादिरूपसे अनेकस्वरूप है, जैसे वही वस्त्र सूतके ततुओंसे अनेक है । वही आत्मा अस्तित्वनयकर स्वद्रव्य क्षेत्र, काल, भावोंसे अस्तित्वरूप है, जैसे लोहेका वाण अपने द्रव्यादि चतुष्टयकर अस्तित्वरूप है, उसमे लोहा तो द्रव्य है, वह धनुष और डोराके बीचमे रहता है, इससे वह बाणका क्षेत्र है, जो साधनेका समय है, वह काल है, और निशानके सामने है, वह भाव हैं, इस तरह अपने चतुष्टयकर लोहमई बाण अस्तित्वरूप है,

स्तित्वनयेनायोमयानयोमगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् क्रमतः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्वनास्तित्ववत् ५। अवक्तव्यनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थलक्ष्योन्मुख लक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम् ६। अस्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्ववदवक्तव्यम् ७। नास्तित्वावक्तव्यनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च नास्तित्ववदवक्तव्यम् ८। अस्ति-

---

कल्पोपाधिरहितम्। तदेवाशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिसहितम्। शुद्धसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतम्। तदेवाशुद्धसद्भूतव्यवहारनयेनाशुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णाधारभूतद्व णुकादिस्कन्धवन्मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतम्। अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्वयणुकादिस्कन्धसश्लेशबन्धस्थितपुद्गलपरमाणुवत्परमौदारिकशरीरे वीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकदेहस्थितम्। उपचरि-

---

उसी प्रकार स्वचतुष्टयकर आत्मा अस्तित्वरूप है। वही आत्मा नास्तित्वनयकर परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्तित्वरूप है, जैसे वही लोहमई बाण परचतुष्टयसे लोहमई नही हैं, धनुष और डोराके बीचमे नही है, साधनेका समय अन्य नही है, और निशानेके सामने नही है, ऐसे वही लोहमई बाण परचतुष्टय नयकर नास्तित्वरूप है, उसी प्रकार परचतुष्टयसे आत्मा नही है। वही आत्मा अस्तिनास्तित्वनयसे स्वचतुष्टय परचतुष्टयके क्रमसे अस्तिनास्तिरूप है, जैसे वही बाण स्वचतुष्टय परचतुष्टयकी क्रम-विवक्षासे अस्तिनास्तिरूप होता है। वही आत्मा अवक्तव्यनयकर एक ही समय स्वचतुष्टय परचतुष्टय अवक्तव्य है, जैसे वही बाण स्वपरचतुष्टयकर अवक्तव्य साधता है। वही आत्मा अस्तिअवक्तव्यनयकर स्वचतुष्टयकर और एक ही बार स्वपरचतुष्टयकर अस्तिअवक्तव्यरूप बाणके दृष्टान्तसे समझ लेना। नास्तिअवक्तव्यनयकर वही आत्मा परद्रव्य, क्षेत्र, काल भावोकर और एक ही समय स्वपरचतुष्टयकर नास्तिअवक्तव्यरूप बाणके दृष्टान्तसे जान लेना। अस्तिनास्तिअवक्तव्यनयकर वही आत्मा स्वचतुष्टयकर परचतुष्टयकर और एक ही बार स्वपरचतुष्टयकर बाणकी तरह अस्तिनास्तिअवक्तव्यरूप सिद्ध होता है। विकल्पनयकर वही आत्मा भेद लिये हुए है, जैसे एक पुरुष, कुमार, बालक, जवान, वृद्ध भेदोंसे सविकल्प होता है। अविकल्पनयकर वही आत्मा अभेदरूप है, जैसे वही पुरुष अभेदरूप है। नामनयकर वही आत्मा शब्दब्रह्मसे नाम लेके कहा जाता है। स्थापनानयकर वही आत्मा पुद्गलका सहारा लेकर स्थापित किया जाता है। जैसे मूर्तीक पदार्थकी स्थापना है। द्रव्यनयकर वही आत्मा अतीत अनागत पर्यायकर कहा जाता है, जैसे श्रेणिकराजा तीर्थंकरमहाराज हैं। भावनयकर वही आत्मा जिस भावरूप

त्वनास्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसहितावस्थलक्ष्योन्मुखानयोमया-गुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्य-गुणकार्मुकान्तरलवर्तिसहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्व-नास्तित्ववदवक्तव्यम् ९ । विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत्सविकल्पम् १० । अविकल्पनयेनैकपुरुषमात्रवदविकल्पम् ११ । नामनयेन तदात्मवत् शब्दब्रह्मामर्शि १२ । स्थापनानयेन मूर्तित्ववत्सकलपुद्गलालम्बि १३ । द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीतपर्यायोद्भासि १४ । भावनयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्वपर्यायोल्लासि १५ । सामान्यनयेन हारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि १६ । विशेषनयेन तदेकमुक्ताफलवदव्यापि १७ । नित्यनयेन नटवद्ध्रुववदवस्थायि १८ । अनित्यनयेन रामरावणवदनवस्थायि १९ । सर्वगतनयेन विस्फारिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति २० । असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति २१ । शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि २२ । अशून्यनयेन लोकाक्रान्तनौवन्मिलितोद्भासि २३ । ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धन-

---

तासद्भूतव्यवहारनयेन काष्ठासनाद्युपविष्टदेवदत्तवत्समवशरणस्थितवीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकग्रामगृहादिस्थितम् । इत्यादि परस्परसापेक्षानेकनयैः प्रमीयमाणं व्यवह्रियमाणं क्रमेण मेचकस्वभावविवक्षितैकधर्मव्यापकत्वादेकस्वभावं भवति । तदेव जीवद्रव्यं प्रमाणेन प्रमीयमाणं मेचकस्वभावानामनेकधर्माणां युगपद्व्यापकचित्रपटवदनेकस्वभावं भवति । एवं नयप्रमाणाभ्यां तत्त्वविचार-

---

परिणमता है, उस भावसे तन्मय हो जाता है, जैसे पुरुषाधीन स्त्री विपरीत सभोगमे प्रवर्तती हुई उस पर्यायरूप होती है, उसी प्रकार आत्मा वर्तमान पर्यायरूप होता है। सामान्यनयकर अपने समस्त पर्यायोमे व्यापी है, जैसे हारका सूत सब मोतियोमे व्यापी है। विशेषनयकर वही द्रव्य एक पर्यायकर कहा जाता है, जैसे उस हारका एक मोती सब हारोमे अव्यापी है। नित्यनयकर ध्रौव्यरूप है, जैसे नट यद्यपि अनेक स्वाग रचता है, तो भी नट एक है, उसी तरह नित्य है। अनित्यनयकर वही द्रव्य अवस्थान्तरकर अनवस्थित है, जैसे नट राम रावणादिके स्वागकर अन्यका अन्य होजाता है। सर्वगतनयकर सकलपदार्थवर्ती है, जैसे खुली आँख समस्त घट पटादि पदार्थोंमे प्रवर्तती है। असर्वगतनयकर अपनेमे ही प्रवृत्ति करती है, जैसे बद किया हुआ नेत्र अपनेमे ही मौजूद रहता है। शून्यनयकर केवल एक ही शोभायमान है, जैसे शून्य घर एक ही है। अशून्यनयकर अनेकोसे मिला हुआ शोभता है, जैसे अनेक लोगो से भरी हुई नाव शोभती है। ज्ञान ज्ञेयके अभेद कथनरूप नयकर एक है, जैसे अनेक ईंधनरूप परिणत हुई आग एक है। ज्ञानज्ञेयके भेदकथनरूपनयकर अनेक है, जैसे आरसी (दर्पण) अपने अनेक घट पटादि पदार्थोंके प्रतिबिम्बसे अनेकरूप होती है। नियतनयकर अपने निश्चित स्वभावको लिये हुए है, जैसे जल अपने सहज स्वभावकर शीतलता लिए होता है। अनियतनयकर अनिश्चित स्वभाव है, जैसे पानी आगके सम्बन्धसे उष्ण हो जाता है। स्वभावनयकर किसीका बनाया हुआ नही होता, जैसे स्वभावकर

भारपरिणतधूमकेतुवदेकम् २४ । ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसंपृक्तदर्पणवदनेकम् २५ । नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि २६ । अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि २७ । स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि २८ । अस्वभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि २९ । कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ३० । अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ३१ । पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादिवद्यत्नसाध्यसिद्धिः ३२ । दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः ३३ । ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ३४ । अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्ठीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ ३५ । गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद्गुणग्राहि ३६ । अगुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ३७ । कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ ३८ । अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ३९ । भोक्तृनयेन

काले योऽसौ परमात्मद्रव्य जानाति स निर्विकल्पसमाधिप्रस्तावे निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनापि जानातीति ॥ पुनरप्याह शिष्य —ज्ञातमेवात्मद्रव्य हे भगवन्निदानी तस्य प्राप्त्युपाय कथ्यताम् । भगवानाह—सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभे-

---

काटा विना बनाया हुआ तीखा (पैना) होता है । अस्वभावनयकर सँभाला हुआ होता है, जैसे लोहेका बाण बनानेसे तीखा होता है । कालनयकर कालके आधीन सिद्धि होती है, जैसे ग्रीष्मकाल (गर्मी) के अनुसार डालका आम सहजमे पक जाता है । अकालनयकर कालके आधीन सिद्धि नहीं है, जैसे घासकी गर्मीसे पालमे आम पक जाता है । पुरुषाकारनयसे यत्नसे सिद्धि होती है, जैसे शहदके उत्पन्न करनेके लिये काठके छेदमे एक मधुमाखी रखते हैं, उस मक्षिकाके शब्दसे दूसरी शहदकी मक्खियाँ आकर अपने आप मधुछत्ता बनाता हैं, इस तरह यत्नसे भी शहदकी सिद्धि होती है, उसी प्रकार यत्नसे भी द्रव्यकी सिद्धि होती है । दैवनयकर विना यत्न भी साध्यकी सिद्धि होती है, जैसे यत्न किया था शहदके लिये परतु दैवसंयोगसे उस मधुछत्तेमे माणिकरत्नकी प्राप्ति हो गई, इस तरह यत्न विना भी सिद्धि होती है । ईश्वरनयकर पराधीन हुआ भोगता है, जैसे पथी बालक धायके आधीन हुआ खान पान क्रिया करता है । अनीश्वरनयकर स्वाधीन भोक्ता है, जैसे स्वेच्छाचारी सिंह मृगोको विदारणकर खान-पान क्रिया करता है । गुणनयकर गुणोका ग्रहण करनेवाला है, जैसे उपाध्यायकर सिखाया हुआ कुमार गुणग्राही होता है । अगुणनयकर केवल साक्षीभूत है, गुणग्राही नही है, जैसे अध्यापकसे सिखलाये हुए कुमारका रक्षक पुरुष गुणग्राही नही होता । कर्तानयकर रागादि परिणामोका कर्ता है, जैसे रँगरेज रगका करनेवाला होता है । अकर्तानयकर रागादि परिणामोका करनेवाला नही है, साक्षीभूत है, जैसे रँगरेज जब अनेक रंग करता है, तब कोई तमाशा देखनेवाला तमाशा ही देखता है, वह कर्ता नही होता । भोक्तान-

हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत्सुखदुःखादिभोक्तृ ४० । अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि ४१ । क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठानप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ४२ । ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ४३ । व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ४४ । निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ४५ । अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम् ४६ । शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरुपाधिस्वभावम् ४७ । तदुक्तम्—

दरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसजातरागाद्युपाधिरहितपरमान्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवमलभमान सन् पूर्णमासीदिवसे जलकल्लोलक्षुभितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलैर्यावदस्वस्थरूपेण क्षोभ गच्छत्यय जीवस्तावत्कालं निजशुद्धात्मान न प्राप्नोति इति । स एव वीतरागसर्वज्ञप्रणीतो-

---

यकर सुख दु खका भोक्ता है । जैसे हित, अहित पथ्यको लेता हुआ रोगी सुख दु खको भोगता है । अभोक्तानयकर भोक्ता नही है, केवल साक्षीभूत है, जैसे हित, अहित पथ्यको भोगनेवाले रोगीका तमाशा देखनेवाला धन्वन्तरी वैद्यका नौकर साक्षीभूत है । क्रियानयकर क्रियाकी प्रधानतासे सिद्धि होती, जैसे किसी अधेने महाकष्टसे किसी पाषाणके खभेको पाकर अपना माथा फोडा, वहांपर उस अधेके मस्तकमे जो लोहू (रक्त) का विकार था, वह दूर हो गया, इस कारणसे उसकी आँखें खुल गईं, और उस जगह उसने खजाना पाया, इस प्रकार क्रिया-कष्टकर भी वस्तुकी प्राप्ति होती है । ज्ञाननयकर विवेककी ही प्रधानतासे वस्तुकी सिद्धि होती है, जैसे किसी रत्नके परीक्षक पुरुषने किसी अज्ञानी दीन पुरुषके हाथमे चिंतामणिरत्न देखा, तब उस दीनपुरुषको बुलाकर अपने घरके कोनेमे से एक मुट्ठी चनेके अन्नकी देकर उसके बदले चिंतामणिरत्न ले लिया, उसी प्रकार क्रिया-कष्टके विना ही वस्तुकी सिद्धि होती है । व्यवहारनयकर यह आत्मा बध मोक्षावस्थाकी द्विविधामे प्रवर्तता है, जैसे एक परमाणु दूसरे परमाणुसे बधता है, और खुलता है, उसी प्रकार यह आत्मा बध मोक्ष अवस्थाको पुद्गलके साथ धारण करता है । निश्चयनयकर परद्रव्यसे बध मोक्षावस्थाकी द्विविधाको नही धारण करता, केवल अपने ही परिणामसे बंध मोक्ष अवस्थाको धरता है, जैसे अकेला परमाणु बध मोक्ष अवस्थाके योग्य अपने स्निग्ध रूक्ष गुण परिणामको धरता हुआ बध मोक्ष अवस्थाको धारण करता है । अशुद्धनयकर यह आत्मा उपाधिजन्य स्वभावको लिये हुए है, जैसे एक मिट्टी घडा, सरवा, आदि अनेक भेद लिये हुए होती है । शुद्धनयकर उपाधि रहित अभेद स्वभावरूप है, जैसे भेदभाव रहित केवल मृत्तिका होती है । इत्यादि अनन्त नयोसे वस्तुकी सिद्धि होती है । वस्तु अनेक तरह वचन-विलाससे दिखलाई जाती है, जितने वचन हैं, उतने ही नय हैं, जितने नय हैं, उतने ही मिथ्यावाद हैं । जो एक नयको सर्वथा मानें, तो मिथ्यावाद होता है, और जो कथचित् माना जाय, तो यथार्थ अनेकतारूप सर्व वचन होता है, इसलिये एकान्तपनेका निषेध है । एक ही बार वस्तुको अनेक नयकर सिद्ध करते है । यह आत्मा नय और प्रमाणसे जाना जाता है, जैसे एक समुद्र जब जुदी जुदी नदियोके जलसे सिद्ध किया जावे, तब गगा यमुना आदिके सफेद नीलादि जलोके भेदस एक एक स्वभावको

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया॥
परसमयाण वयण मिच्छ खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाण पुण वयण सम्मं खु कहचि वयणादो॥

एवमनया दिशा प्रत्येकमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयैर्निरूप्यमाणमुदन्वद्दन्तरालमिलद्धवलनीलगाङ्गयामुनोदकभारवदनन्तधर्माणां परस्परमतद्भावमात्रेण शक्यविवेचनत्वादमेचकस्वभावैकधर्मव्यापकैकधर्मित्वाद्यथोदितैकान्तात्मात्मद्रव्यम्। युगपदनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणेन निरूप्यमाणं तु समस्ततरङ्गिणीपयःपूरसमवायात्मकैकमकराकरवदनन्तधर्माणं वस्तुत्वेनाशक्यविवेचनत्वान्मेचकस्वभावानन्तधर्मव्याप्येकधर्मित्वात् यथोदितानेकान्तात्मात्मद्रव्यं

स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः
पश्यन्तीत्थं चेत् प्रमाणेन चापि।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्म-
स्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः॥

पदेशवत् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्यवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखनिवर्तनक्रोधादिकषायव्यावर्तनादिपरंपरादुर्लभान्यपि

धारता है, उसी प्रकार यह आत्मा नयोकी अपेक्षा एक एक स्वरूपको धारण करता है। और जैसे वही समुद्र अनेक नदियोके जलोसे एक ही है, भेद नही, अनेकान्तरूप एक वस्तु है, उसी प्रकार यह आत्मा प्रमाणकी विवक्षासे अनत स्वभावमय एक द्रव्य है। इस प्रकार एक अनेक स्वरूप नय प्रमाणसे सिद्धि होती है, नयोसे एकस्वरूप दिखलाया जाता है, प्रमाणसे अनेक स्वरूप दिखलाये जाते हैं। इस प्रकार स्यात्पदकी शोभासे गर्भितनयोके स्वरूपसे और अनेकान्तरूप प्रमाणसे अनत धर्म सयुक्त शुद्धचिन्मात्र वस्तुका जो पुरुष निश्चय श्रद्धान करते हैं, वे साक्षात् आत्मस्वरूपके अनुभवी होते हैं। इस प्रकार इस आत्मद्रव्यका स्वरूप कहा। आगे उस आत्माकी प्राप्तिका उपाय दिखलाते है—यह आत्मा अनादिकालसे लेकर पुद्गलीककर्मके निमित्तसे मोहरूपी मदिरा (शराब) के पीनेसे मदोन्मत्त हुआ घूमता है, और समुद्रकी तरह अपनेमे विकल्प-तरगोसे महाक्षोभित है। क्रमसे प्रवृत्त हुए अनन्त इन्द्रिय-ज्ञानके भेदोसे सदाकाल पलटता रहता है, एकरूप नही, अज्ञानभावकर परस्वरूप बाह्यपदार्थोमे आत्मबुद्धिसे मैत्रीभाव करता है, आत्मविवेककी शिथिलतासे सर्वथा बहिर्मुख हुआ है, बारम्बार पुद्गलीककर्मके उपजानेवाले रागद्वेष भावोकी द्वैततामे प्रवर्त रहा है। ऐसे आत्माको शुद्ध चिदानन्द परमात्माकी प्राप्ति कहाँसे हो सकती है ? यदि यही आत्मा अखड ज्ञानके अभ्याससे अनादि पुद्गलीककर्मसे उत्पन्न हुआ जो मिथ्यामोह उसको अपना घातक

प्रशस्तिः

नाथान्वय नमस्कृत्य भव्यसारङ्गवार्मुचम् ।
सग्रथ्नामि प्रशस्ति हि नानाशब्दविराजिताम् ॥ १ ॥

मुक्तिश्रीर्यस्य कान्ता प्रसभमखिल त्रोटितं कर्मबन्ध,
येन ध्यानेन प्लुष्ट निखिलभवतरु पातु वो नेमिनाथः ।
ज्ञानाक्षिर्ज्ञानमूर्ति' सकलमुनिजनं सेव्यमानो यतीन्द्रो,
भव्याना यो हि चिन्त्य सकलगुणनिधिर्देवनाथो जितारि ॥ २ ॥

विक्रमादित्यराज्येऽस्मिश्चतुर्दशपरे शते ।
नवषष्ट्या युते किं नु गोपाद्रौ देवपत्तने ॥ ३ ॥

अनेकभूभुक्पदपद्मलग्नस्तस्मिन्निवासी ननु पारुप
श्रृङ्गारहारो भुवि कामिनीना भूभुक् प्रसिद्ध श्रीवीरमेन्द्र ॥ ४ ॥

मदनारिगृहं तत्र मदविध्वंसनक्षमम् ।
वैडूर्यघटितं मन्ये किं देवैश्चात्र निर्मितम् ॥ ५ ॥

ननु शक्रस्यादेशेन घनदेनात्र निर्मितम् ।
कंसतालैश्च घण्टाद्यैर्भूते यत्स्वर्गिभि• सह ॥ ६ ॥

कामिन्यो यत्र गायन्ति नृत्यन्ति हि स्वभावतः ।
पठन्ति विदुषः पाठं निरवद्यं कृते मुद ॥ ७ ॥

श्रीकाष्ठसघे जगति प्रसिद्धे महद्गुणौघै त्रयमाथुरान्वये ।
सदा सदाचारविचारदक्षे गणे सुरम्ये वरपुष्कराख्ये ॥ ८ ॥

मुनीश्वरोऽभून्नयसेनदेव कृशाष्टकर्मा यशसा निवास ।
पट्टे तदीये मुनिरश्वसेन आसीत्सदा ब्रह्मणि दत्तचेता ॥ ९ ॥

पट्टे तदीये शुभकर्मनिष्ठोऽप्यनन्तकीर्तिर्गुणरत्नवार्धिः ।
मुनीश्वरोऽभूज्जिनशासनेन्दुस्तत्पट्टधारी भुवि क्षेमकीर्तिः ॥ १० ॥

पट्टे तदीये ननु हेमकीर्तिस्तपःप्रभानिर्जितभानुभानुः ।
रत्नत्रयालकृतधर्ममूर्तिर्यतीश्वरोऽभूज्जगति प्रसिद्ध• ॥ ११ ॥

टीकाकारस्य प्रशस्तिः

अज्ञानतमसा लिप्तो मार्गो रत्नत्रयात्मक ।
तत्प्रकाशसमर्थाय नमोऽस्तु कुमुदेन्दवे ॥ १ ॥

सूरीश्रीवीरसेनाख्यो मूलसघेऽपि सत्तपा ।
नैर्ग्रन्थ्यपदवी भेजे जातरूपधरोऽपि य• ॥ २ ॥

तत• श्रीसोमसेनोऽभूद्गणी गुणगणाश्रय ।
तद्विनेयोऽस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते ॥ ३ ॥

यतिपपादकुशेशयषट्पदः परमधर्मधरः, किमु भूधर. ।
न हि जड कि नग. खलु चन्द्रमा न हि विधुः स कलङ्कविवर्जितः ॥ १२ ॥

पारावारो हि लोके यो जनानिमिषसेवितः ।
देवकीर्तिमुनिः साक्षात्परं क्षारविवर्जितः ॥ १३ ॥

व्याख्यायैव गुरु' साक्षात्पशुधर्मविनिर्गतः ।
पद्मकीर्तिमुनिर्भाति परं रागविवर्जितः ॥ १४ ॥

दिगम्बरोऽभूद्भुवि मेरुपर्वत सुवर्णवर्णैः किमु सोऽप्यजङ्गमः ।
सरित्पति' कि जलक्षारवर्जितो नक्षत्रराजः स कलङ्कनिर्गत' ॥ १५ ॥

प्रतापचन्द्रो हि मुनिप्रधान' स्वव्याख्यया रञ्जितसर्वलोकः ।
नियन्त्रितात्मीयमनोविहङ्गो विवादिभूभृत्कुलिशो नितान्तम् ॥ १६ ॥

गुणरत्नैरकूपारो भवभ्रमणशङ्कितः ।
हेमचन्द्रो यतिः साक्षात्परं ग्राहविवर्जितः ॥ १७ ॥

ग्लावः साम्यं रत्नसानो स्थिरत्वं भानोः सूर्यं' सूर्यकारोश्च रूपम्,
गम्भीरत्वं पयोधेः प्रसभमखिलं त्यागमेवं बलेश्च ।
'सगृहीत्वा विधात्रा किमुत निजबलास्थापितोऽयं धर्मचन्द्रो',
लक्ष्मीणो ज्ञानदक्षो विबुधमुनिजनानन्दकारी स्वभावात् ॥ १८ ॥

पद्मकीर्तिमुने शिष्यो गुणरत्नमहोनिधिः ।
ब्रह्मचारी हरीराजः शीलव्रतविभूषितः ॥ १९ ॥

इति प्रशस्ति' ।

●

शीघ्र बभूव माल् ? साधु सदा धर्मरतो वदान्य ।
सूनुस्तत साधुमहीपतिर्यस्तस्मादय चारुभटस्तनूज. ॥ ४ ॥

य. संततं सर्वविद सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति ।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थपुष्टात्पितुर्भक्तिविलोपभीरु ॥ ५ ॥

श्रीमत्त्रिभुवनचन्द्र निजमतवाराशितायना चन्द्रम् ।
प्रणमामि कामनामप्रबलमहापर्वतैकशतधारम् ॥ ६ ॥

जगत्समस्तसंसारिजीवकारणबन्धवे ।
सिंधवे गुणरत्नाना नमस्त्रिभुवनेन्दवे ॥ ७ ॥

त्रिभुवनचन्द्र चन्द्र नौमि महासयमोत्तम शिरसा ।
यस्योदयेन जगता स्वान्ततमोराशिकृन्तन कुरुते ॥ ८ ॥

इति प्रशस्ति ।

●

भाषाकारकी प्रशस्ति

दोहा—मूलग्रंथकरता भए, कुंदकुंद मतिमान।
अमृतचंद्र टीका करी, देवभाष परवान ॥ १ ॥
जैसे करता मूलको, तैसो टीकाकार।
तातैं अतिसुंदर सरस, बरतै प्रवचनसार ॥ २ ॥
सकलतत्त्वपरकासिनी, तत्त्वदीपिका नाम।
टीका सरसुतिदेविकी, यह टीका अभिराम ॥ ३ ॥

चौपाई—बालबोध यह कीनी जैसे। सो तुम सुनहु कहू तैसे ॥
नगर आगरेमैं हितकारी। कँवरपाल ग्याता अविकारी ॥ ४ ॥
तिन विचार जियमैं इह कीनी। जो भाषा इह होइ नवीनी ॥
अल्पबुद्धि भी अरथ बखानै। अगम अगोचर पद पहिचानै ॥ ५ ॥
यह विचार मनमैं तिन राखी। पाडे हेमराजसौं भाखी ॥
आगैं राजमल्लनैं कीनी। समयसारभाषा रसलीनी ॥ ६ ॥
अब जो प्रवचनकी ह्वै भाखा। तौ जिनधर्म वधै बहु-साखा ॥
तातैं करहु, विलब न कीजै। परमभावना अगफल लीजै ॥ ७ ॥

दोहा—अवनीपति बंदहि चरण, सुयण-कमल विहसत।
साहजिहाविनकर-उदै, अरिगण-तिमिर नसंत ॥ ८ ॥

सोरठा—निज सुबोध अनुसार, ऐसैं हित उपदेशसौं।
रची भाष अविकार, जयवती प्रगटहु सदा ॥ ९ ॥
हेमराज हिय आनि, भविकजीवके हित भणी।
जिनवर-आण-प्रमानि, भाषा प्रवचनकी करी ॥ १० ॥

दोहा—सत्रहसै नव उत्तरे, माघ मास सित पाख।
पञ्चमि आदितवारको, पूरन कीनी भाख ॥ ११ ॥
षट्सहस्र-सत-तीन है, सख्या ग्रंथप्रमान।
विवुध विवेकविचारिकरि, सुणिज्यो पुरुष प्रधान ॥ १२ ॥

इस प्रकार प्रशस्ति पूर्ण हुई।

•

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

कुन्दकुन्द-विरइयो

पवयणसारो



कुंदकुंद-विरइयो

पवयणसारो

[1]

1) एस सुरासुरमणुसिदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥१॥

2) सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥२॥

3) ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥३॥

4) किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥४॥

5) तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥५॥ [पणगं]

6) संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

7) चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

8) परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥८॥

9) जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

---

1) K वदिय, P घादि 3) K पत्तेयमेव पत्तेय 4) A तध, A चेदि for चेव. 5) K विसुद्धणाण दसणपहाणासम, C सामासिज्ज, K जुत्तो for जत्तो 6) C संपज्जइ, K मणुव, A °प्पहाणउ P °पधाणदो 7) A समुत्ति, ACP विहूणो, AP अप्पणोऽध समो 8) CK तक्काले (°ळे), [तम्मय त्ति ?], A मणेयव्वो.

10) णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥१०॥

11) धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥११॥

12) असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं ॥१२॥

13) अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंत ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥

14) सुविदिदपयत्थसुत्तो सजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥

15) उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥१५॥

16) तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो ।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

17) भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि ।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो ॥१७॥

18) उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स ।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो ॥१८॥

18*1) तं सव्वट्ठवरिट्ठं इट्ठं अमरासुरप्पहाणहिं ।
जे सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥१८*१॥

19) पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो ।
जादो अणिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥१९॥

20) सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगद ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥२०॥

---

11) K पावइ, K य for व 12) K सया, AP अभिद्दुदो, C अभिदुदो, K भमइ 13) AP अदिसय. 14) AP पदत्थ. 15) C माहरवो. 16) P तध, K सहाओ, C सव्वलोयपडिमहिदो, C हुवइ. 17) AP °विहूणो, K त्ति for हि, AP ट्ठिदि, K समवाओ 18) A अत्थ for अट्ठ, C पज्जायेण, K सभूदो. 18*1) K ते, P पधाणेहिं, C जे for ये 19) CK घाइ. C वीरियो, CK अहिय, AP अदिंदिओ C अईदियो. 20) C देहगय, K अइदियत्त.

21) परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया ।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

22) णत्थि परोक्ख किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥२२॥

23) आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोय तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥

24) णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा ।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥

25) हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदण ण जाणादि ।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥ जुगलं ।

26) सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा ।
णाणमयादो य जिणो विमयादो तस्स ते भणिया ॥२६॥

27) णाणं अप्प त्ति मद वट्टदि णाण विणा ण अप्पाणं ।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाण व अण्ण वा ॥२७॥

28) णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूण णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥२८॥

29) ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियद अक्खातीदो जगमसेसं ॥२९॥

30) रयणमिह इंदणील दुद्धज्झसिय जहा सभासाए ।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥३०॥

31) जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।
सव्वगयं वा णाण कह ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥३१॥

32) गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगव ।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेस ॥३२॥

---

21) K ओग्गह 22) P वि सम्मत्त, K सया 23) C खु for तु 24) CK हवइ, A अधिगो, K होदि for हवदि 25) C जइ, K त णाण°, A अधिगो 26) CK °गओ, A भणिदा 27) K य वट्टइ, K णाण च 28) K सहाओ, AP अत्था 29) AP णेएसु, AP अक्खादीदो 30) AP रदण-इह, AP दुद्धज्झुसिय, K दुद्धुज्जसिय [दुद्धज्झुसिय], K वट्टइ CP °मट्ठेसु 31) CK जइ, CK होइ, त्था for अट्ठा. 32) C गेण्हइ णेव ण मुचइ ण पर परिणमइ पेच्छइ जाणइ, P गिण्हदि, CKP भयव.

33) जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाण जाणगं सहावेण ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥३३॥

34) सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं ।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥

35) जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।
णाण परिणमदि सय अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥३५॥

36) तम्हा णाण जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं ।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसबद्धं ॥३६॥

37) तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥

38) जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

39) जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥३९॥

40) अत्थं अक्खणिवदिद ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूद णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥४०॥

41) अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजाद ।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥४१॥

42) परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंत कम्ममेवुत्ता ॥४२॥

43) उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया ।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥४३॥

44) ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीण ॥४४॥

---

33) C विजाणइ, CK सुद°, AP लोग° 34) P तज्जाणणा, CP भणिदा 35) C जाणइ, CK परिणमइ, P णाणट्ठिदा 36) AP तिधा for तिहा, A दव्व त्ति 37) C तक्कालिएव, K पज्जाया, 38) P सजादा, AC असब्भूया. 39) CK जइ, AP पच्चक्खमजाद, P पलइद, C हवइ, P परूविंति 40) KP अट्ठ, K °सक्क त्ति 41) CK °मणिंदिय, AP गद, C जाणइ. 42) K खाइय, 43) K भणिदा; AP हि मुहिदो for विमूढो.

45) पुण्णफला अरहता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया ।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥४५॥

46) जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सय सहावेण ।
ससारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥४६॥

47) जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं ।
अत्थ विचित्तविसमं तं णाणं खाइय भणियं ॥४७॥

48) जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्क सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥४८॥

49) दव्वं अणतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥४९॥

50) उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स ।
त णेव हवदि णिच्च ण खाइग णेव सव्वगदं ॥५०॥

51) तिक्कालणिच्चविसमं सयल सव्वत्थ सभव चित्तं ।
जुगव जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥५१॥

52) ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अवधगो तेण पण्णत्तो ॥५२॥

52*2) तस्स णमाइ लोगो देवासुरमणुअरायसबंधो ।
भत्तो करोदि णिच्चं उवजुत्तो तं तहा वि अहं ॥५२*२॥

53) अत्थि अमुत्तं मुत्त अदिंदिय इदिय च अत्थेसु ।
णाण च तहा सोक्ख जं तेसु परं च तं णेय ॥५३॥

54) जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदिय च पच्छण्ण ।
सयल सग च इदरं त णाण हवदि पच्चक्ख ॥५४॥

55) जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्त ।
ओगेण्हित्ता जोग्ग जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥५५॥

---

45) A ओदयिगा, AP विरहिदा, K खाइयं ति 46) C जइ हवइ 47) P खायिग 48) C वजाणइ C अट्ठे, A तेकालिके, C तिक्कालिये, P तिकालिगे, A दव्वमेक्कं वा 49) K जुगव जो ण विजाणइ (third foot), A कध C किह 50) C जइ, C हवइ, CK खाइय णेव सव्वगय 51) AP ेकाल, AP °विसम for विसय, AKP सकल, K जोण्ह जाणदि जुगव (third foot), C जाणइ 52) C परिणमइ ण गेण्हइ उप्पज्जइ, A अत्थेसु 52*2) C मणुय, P णियद for णिच्च 53) CK अइदिय, C अट्ठेसु, AP तधा 54) CK अइदिय, A सकल. 55) K मुत्तिगओ, AP ओगिण्हित्ता, K उग्गेण्हित्ता, CK त ण जाणादि,

56) फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति ।
अक्खाणं ते अक्खा जुगव ते णेव गेण्हंति ॥५६॥

57) परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा ।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥५७॥

58) जं परदो विण्णाण तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु ।
जदि केवलेण णाद हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥

59) जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं ।
रहियं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगतिय भणियं ॥५९॥

60) ज केवलं ति णाण तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥६०॥

61) णाणं अत्थतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी ।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं हि त लद्धं ॥६१॥

62) णो सद्दहति सोक्खं सुहेसु परम ति विगदघादीणं ।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा त पडिच्छति ॥६२॥

63) मणुयासुरामरिंदा अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं ।
असहंता त दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६३॥

64) जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्ख वियाण सब्भावं ।
जइ तं ण हि सब्भाव वावारो णत्थि विसयत्थं ॥६४॥

65) पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण ।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥६५॥

66) एगतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा ।
विसयवसेण दु सोक्ख दुक्ख वा हवदि सयमादा ॥६६॥

67) तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्व ।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६७॥

---

56) A परसो, CK पासो, for फासो, P गिण्हति 57) C सहाओ, A सहाओ त्ति, CK भणिया, CK कह. 58) A तत्तु for त तु C परोक्खो त्ति [परोक्ख ति] 59) A वित्थिद for वित्थड, AP रहिदं, K उग्गहादिहि, A सुह त्ति, AP एयतिय. 60) CK घाई, K भणिओ, K घादिक्खय जादो 61) AP लोगालोगेसु, K वित्थुदा, A तु for हि, K अत्थ for लद्धं 62) A णहि, P ण for णो, K परम त्ति 63) C मणुया°, A अहिद्दुआ, CK अभिद्दुदा, AP इदिएहिं. 64) CK रई, P साहाव, C त णत्थिं सहावं. 65) A विसए, K पासेहि, C आदा for अप्पा. 66) A कुणइ 67) AP जदि, A कादव्वं, AP तघ

68) सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुह च लोगे तहा देवो ॥६८॥

68*3) तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं ।
तिहुवणपहाणदइय माहप्पं जस्स सो अरिहो ॥६८*३॥

68*4) तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिद मणुवदेवपदिभाव ।
अपुणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं ॥६८*४॥

69) देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि पा सुसीलेसु ।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥६९॥

70) जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा ।
भूदो तावदि काल लहदि सुहं इदिय विविहं ॥७०॥

71) सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराण पि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥७१॥

72) णरणारयतिरियसुरा भजति जदि देहसंभवं दुक्खं ।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥७२॥

73) कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥७३॥

74) जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्ह जीवाणं देवदंताणं ॥७४॥

75) ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥७५॥

76) सपरं बाधासहिय विच्छिण्णं बधकारणं विसमं ।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥७६॥

77) ण हि मण्णदि जो एव णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपार ससारं मोहसंछण्णो ॥७७॥

---

68) A जधादिच्चो, CK जहाइच्चो, A तधा, CK लोए 68*3) P इस्सरिय, P तिहुअण. 68*4) C अदिच्छिद देवमणुयपदि°, P पडिभाव 69) P सुहोवजोगप्पगो 70) C लहइ 71) P सहावसुद्ध, A सिद्धमुवदेसो, C वेदणट्टा K वेदणत्ता. 72) P णरणारग, AP किध, C होदि for हवदि 73) ACK °चक्कहरा, P कुलिसायुधचक्कधरा, AK सुहोवजोग, CK वड्ढि, A सुहिया 74) C जइ, AP पुन्नाणि 75) AP अणुहवति. 76) A सहित KP सहिद, AP इदिएहि, A तधा 77) C मण्णइ, AP सछन्नो, C स चिरकालेण for मोहसछण्णो,

78) एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा ।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥७८॥

79) चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥७९॥

79*5) तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गकरो ।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो ॥७९*५॥

79*6) तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥७९*६॥

80) जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

81) जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८१॥

82) सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥

82*7) दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था ।
पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं ॥८२*७॥

83) दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति ।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥८३॥

84) मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥८४॥

85) अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य मणुवतिरिएसु ।
विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥८५॥

86) जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥८६॥

---

79) A चरियम्मि, CK ण चयदि, C जइ, C लहइ 79*5) K महिओ. 79*6) A तिलोगस्स 80) CK जाइ 81) CK चयदि जदि, C रायदोसे, P लभदि 82) CP खविय, CK तहोवदेस. 82*7) P णाणप्पधणा, C om हि. 83) C खुब्भइ, A तेणोवच्छण्णो 85) CK अयधा, A व तिरियमणुये(वे)सु, C विसयेसु अइप्पसगो 86) K °चओ P °चय

87) दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया ।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ॥८७॥

88) जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि अचिरेण कालेण ॥८८॥

89) णाणप्पगमप्पाण परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥८९॥

90) तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥९०॥

91) सत्तासबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे ।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥९१॥

92) जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥९२॥

92*8) जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कार ।
वदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ॥९२*८॥

92*9) तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा ।
विहविस्सरियेहिं सदा सपुण्णमणोरहा होंति ॥९२*९॥

[11]

*1) तम्हा तस्स णमाइं किच्चा णिच्च पि तम्मणो होज्ज ।
वोच्छामि सगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ॥*१॥

1) अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥१॥

2) जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥२॥

3) अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्त ।
गुणवं च सपज्जाय ज तं दव्व ति वुच्चंति ॥३॥

---

87) C अत्थ°, K दव्व ति 88) C णिहणइ, ACKP उवलद्ध, C पावइ 89) C जाणइ जइ, A णिच्चयदो. 90) P महिगच्छदु 91) CK सबधे, A सवणो 92) P चरियम्मि 92*9) CK देविंदा माणुसिं, K सया 1) CP अट्ठो 2) P परममयग, CK परसमयग ति, C ठिया मुणेयव्वा 3) CK सहावं उप्पाद, A जत्त, CK दव्व त्ति, C उच्चति

4) सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सह पज्जएहिं चित्तेहिं ।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥४॥

5) इह विविहलक्खणाणं लक्खमणमेगं सदिति सव्वगयं ।
उवदिसदा खलु धम्म जिणवरवसहेण पण्णत्त ॥५॥

6) दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा ।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥६॥

7) सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो ।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससबद्धो ॥७॥

8) ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥८॥

9) उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्व हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्व ॥९॥

10) समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥१०॥

11) पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स त पि दव्व णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥११॥

12) परिणमदि सय दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठ ।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति ॥१२॥

13) ण हवदि जदि सद्दव्व असद्धुवं हवदि तं कहं दव्वं ।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥१३॥

14) पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स ।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ॥१४॥

15) सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो ।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥१५॥

---

4) AP सगपज्जएहि 5) K °मेग तु सदिति, AP सदित्ति 6) A समक्खादो, K तह, P परसमयो 7) CP अट्ठेसु, K सहाओ सबधो 8) P विहूणो, CK दव्वेण P धउव्वेण, C अट्ठेण, 10) A एकम्मि, K °दत्थेहि 11) AKP पादुब्भवदि, P अ for य, C णेव य णट्ठ 12) CK दव्वमेवेत्ति 13) K होदि त, AP कध 14) C °मतब्भाव अतब्भव होदि कहमेक्क, A होदि

16) जं दव्वं त ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो ।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

17) जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।
सदवट्ठिद सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसोयं ॥१७॥

18) णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं ।
दव्वत्त पुण भावो तम्हा दव्व सयं सत्ता ॥१८॥

19) एवविह सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं ।
सदसब्भावणिबद्ध पादुब्भाव सदा लभदि ॥१९॥

20) जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो ।
किं दव्वत्त पजहदि ण चयदि अण्णो कहं हवदि ॥२०॥

21) मणुवो ण हवदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभाव कधं लहदि ॥२१॥

22) दव्वट्ठिएण सव्वं दव्व तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अण्णमणण्ण तक्काले तम्मयत्तादो ॥२२॥

23) अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्ण वा ॥२३॥

24) एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता ।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥२४॥

25) कम्मं णामसमक्खं सयावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइय वा सुरं कुणदि ॥२५॥

26) णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता ।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥२६॥

27) जायदि णेव ण णस्सदि खणभगसमुब्भवे जणे कोई ।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा ॥२७॥

---

18) K त्ति य, P पज्जायो 19) AP एवविध, K एवविहसब्भावे, A लभदे, C लहइ K लहदि 20) C भविस्सइ, A होदि for हवदि 21) A मणुओ P मणुसो, A होदि C हवइ, CK कह, C लहइ 22) K अणण्णमण्ण, AP तक्काल 23) C हवइ, AP पज्जाएण 25) CK सहावमह, P णारइय 26) P णारग 27) K सभवविलओ, C ते अण्णा

28) तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे ।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥२८॥

29) आदा कम्ममलिमसो परिणाम लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्म तु परिणामो ॥२९॥

30) परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया ।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥३०॥

31) परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा ।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥३१॥

32) णाणं अट्ठवियप्पो कम्म जीवेण ज समारद्ध ।
तमणेगविध भणिदं फल ति सोक्खं व दुक्ख वा ॥३२॥

33) अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी ।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥३३॥

34) जत्ता करणं कम्म फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥३४॥

35) दव्व जीवमजीव जीवो पुण चेदणोवजोगमओ ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं ॥३५॥

36) पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥३६॥

37) उप्पादट्ठिदिभगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स ।
परिणामादो जायंते सघादादो व भेदादो ॥३७॥

38) लिंगेहिं जेहिं दव्व जीवमजीवं च हवदि विण्णादं ।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥३८॥

39) मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा ।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥३९॥

---

28) CK जीवस्स for दव्वस्स 29) C लहइ, A सिलिसिदि, C सिलसदि 30) C मया 31) A चेयणाए, CK तिहाहिमदा, C खलु for पुण, C फलम्हि, C भणिया 32) A अत्थवियप्पो, KP °वियप्पं, C त अणेयविह, CK भणिय, A फल त्ति P फल च 33) C मुणेयव्वो 34) K णेवमण्ण, C लहइ. 35) AP चेदणोवजोगमयो, CK °वओगमओ, A य अजीव for अज्जीव. 36) P पुग्गल, A आयासे, 37) ACP परिणामा for परिणामादो, K जायदि 39) CKP अणेय, CK विहा.

40) वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो ।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥४०॥

41) आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्त ।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥४१॥

42) कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो ।
णेया सखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥४२॥ जुगलं ।

43) जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगास ।
सपदेसेहिं असखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥४३॥

43✻2) एदाणि पंचदव्वाणि उज्झियकाल तु अत्थिकाय त्ति ।
भण्णते काया पुण वहुप्पदेसाण पचयत्तं ॥४३✻२॥

44) लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो ।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥४४॥

45) जध ते णमप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं ।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥४५॥

46) समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥४६॥

47) वदिवददो त देस तस्सम समओ तदो परो पुव्वो ।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धसी ॥४७॥

48) आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं ।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कादि तं देदुमवगासं ॥४८॥

49) एक्को व दुगे वहुगा सखातीदा तदो अणता य ।
दव्वाणं च पदेसा सति हि समय त्ति कालस्स ॥४९॥

50) उप्पादो पद्धसो विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्हि ।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥५०॥

---

40) P पुग्गल° 41) A ट्ठाण for ठाण 43) CK आयास, A देसेहिं असखादा, C पदेसो त्ति कालस्स 43✻2) P पचदव्वाणुज्झिय°, P वहुप्पदेसविचयवत्त 44) C लोयालोयेसु K लोयालोएसु P पहुच्च (?), P पुणु 45) CKP जह CKP णह°, CK तह, C °प्पएसा 46) P °मित्त for °मेत्त, CP दविय for दव्व, C वट्टइ 48) CK आयास (in both places) 49) AP एको, CK दुवे, AP सखादीदा. 50) C एग°, CK सहाव°, C होदि,

51) एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा ।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥५१॥

52) जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं तु तच्चदो णादुं ।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥५२॥

53) सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो ।
जो त जाणदि जीवो पाणचदुक्केण संबद्धो ॥५३॥

54) इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य ।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥५४॥

54※3) पंच वि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ५४※३॥

55) पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो ते पाणा पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥५५॥

56) जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभुंजदि कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥५६॥

57) पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं ।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥५७॥

58) आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे ।
ण चयदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥५८॥

59) जा इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पग झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥५९॥

60) अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो ।
अत्थो पज्जाओ सो सठाणादिप्पभेदेहिं ॥६०॥

61) णरणारयतिरियसुरा सठाणादीहिं अण्णहा जादा ।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥६१॥

---

51) A एक्कमि, C एक्कम्मि, P एक्कहि 52) K पएसा पएस°, AP च for तु K तमट्ठ (?). 53) C जाणइ, CK चउक्केण P चदुक्काहि 54) CK तहा 54※3) CK मणवचिकाए (ये)ण 55) C जीविस्सदि, A पाणा पुण for ते पाणा 56) C मोहादियेहि AP उवभुज for उवभुजदि 57) C पदोसेहिं 58) A धरदि, AP जहदि for चयदि, CR ममत्ति देहपहाणेसु. ; 59) A विजयी, APC रज्जदि, A कध, P किध, for किह 60) K सब्भूदो, A पज्जायो 61) A उदयादु हि

62) तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं ।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥६२॥

63) अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसण भणिदो ।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥६३॥

64) उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स सचय जादि ।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥६४॥

65) जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे ।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥६५॥

66) विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥६६॥

67) असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि ।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥६७॥

68) णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥६८॥

69) देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥६९॥

70) णाहं पोग्गलमइयो ण ते मया पोग्गला कया पिंड ।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥७०॥

71) अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो ।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुवदेसादित्तमणुहवदि ॥७१॥

72) एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तण च लुक्खत्तं ।
परिणामादो भणिद जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥७२॥

73) णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥७३॥

74) णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पचगुणजुत्तो ॥७४॥

---

63) K भणिद (?), AP सो हि for सा वि 64) CK तह 65) C अणयारे, AP जीवे य for जीवेसु 67) C रहियो 68) CK ण हि कारइदा. 69) AP पोग्गलदव्व पि. 70) P कदा, 71) P °मित्तो, C य for जो, ACKP °मणुभवदि,

75) दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा ।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥७५॥

76) ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥७६॥

77) कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥७७॥

78) ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स ।
संजायते देहा देहतरसकमं पप्पा ॥७८॥

79) ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥७९॥

80) अरसमरूवमगधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाण ॥८०॥

81) मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥८१॥

82) रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बधो तेण जाणीहि ॥८२॥

83) उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥८३॥

84) भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये ।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥८४॥

85) फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं ।
अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥८५॥

86) सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया ।
पविसंति जहाजोग्ग चिट्ठंति हि जति बज्झति ॥८६॥

---

76) AK पोग्गल°, A °कायएहि 77) A ण दु for ण हि 78) AP पुणो हि for पुणो वि. 79) C वेयुव्वियो तेजइयो (K तेजइगो) कम्मइयो, AK पोग्गल 81) K पासेहि, A अप्पा बधदि, CK किह 82) P जहा तह, A जधा तध, CK जाणाहि 83) C विविहे, Ap विसए, CK सो बधो. 84) AP विसए 85) K पासेहिं, K पोग्गलाण, A अण्णोण्णमवगाहो, AK पोग्गल°. 86) K पोग्गला, CK चेट्ठंति, AP चिट्ठति हि

87) रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥८७॥

88) परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥८८॥

89) सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥८९॥

90) भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा ।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥९०॥

91) जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज ।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥९१॥

92) कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स ।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥९२॥

93) गेण्हदि णेव ण मुच्चदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि ।
जीवो पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥९३॥

94) स इदाणि कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स ।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥९४॥

95) परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥९५॥

95✽4) सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि ।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥९५✽४॥

96) सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥९६॥

97) एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो ।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥९७॥

---

87) CK मुचदि, CK राय° 88) K मोहपदेसा 89) C पाव ति, ACK भणिद° 91) C जाणइ, C °मासिज्ज, A ममेद त्ति 92) CK सहाव°, C पोग्गलकम्मकयाण 93) C गेण्हइ णेव ण मुचइ करेइ, K पोग्गलमज्झे 94) CK विमुचदे, C धूलेहिं 95) AP सुहम्मि असुहम्मि C पविसइ, K भेदेहिं for भावेहिं 95✽4) C तिव्व, this gātha is not included in Prabhācandra's Commentry 96) CP कसाइदा, KP कम्मरएहिं. 97) P णिच्छएण

98) ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु ।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥९८॥

99) णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥९९॥

100) एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१००॥

101) देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥१०१॥

101) जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा ।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥१०२॥

103) जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्ज समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१०३॥

104) जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता ।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१०४॥

105) णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू ।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असदेहो ॥१०५॥

106) सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो ।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥१०६॥

107) एवं जिणा जिणिंदा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा ।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥१०७॥

108) तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण ।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि ॥१०८॥

108*5) दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं ।
अव्वाबाधरदाण णमो णमो सिद्धसाहूण ॥१०८*५॥

---

98) AP जहदि for चयदि, C होइ 100) CK अइंदिय°, P मण्णेहमप्पग सुद्ध 101) A सुहदुह for सुहदुक्खा, C धुवउवओगप्पगो 102) CK दुग्गंधि (?) 103) K गंथी (?), C दिट्ठी for गंठी 104) P सभावे, for सहावे, A धादा for झादा 105) CK घाइ, A झायदि किमट्ठ C ण सदेहो. 106) A समत्त for समंत, P अक्खादीदो 107) C समट्ठिदा 108) K सहावेण, A तध, K णिम्म-मत्तम्हि. 108*5) C रयाण.

[III]

1) एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्ण जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥१॥

2) आपिच्छ बंधुवग्ग विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदसणचरित्ततववीरियायार ॥२॥

3) समण गणिं गुणड्ढ कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं ।
समणेहि त पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥३॥

4) णाह होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि ।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥४॥

5) जधजादरूवजाद उप्पाडिदकेसमंसुग सुद्ध ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंग ॥५॥

6) मुच्छारंभविमुक्क जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंग ण परावेक्ख अपुणब्भवकारण जेण्ह ॥६॥ जुगल ।

7) आदाय तं पि लिंग गुरुणा परमेणं तं णमसित्ता ।
सोच्चा सवद किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥७॥

8) वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदतवण ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥८॥

9) एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥९॥ जुम्मं ।

10) लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि ।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा ॥१०॥

11) पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि ।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥११॥

12) छेदपउत्तो समणो समण ववहारिणं जिणमदम्हि ।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठ तेण कायव्व ॥१२॥ जुगलं ।

---

1) CK इच्छदि जदि, P मोक्खो for मोक्ख 2) ACP विमोइदो, C °यायारे. 4) C जहजाद 5) C जहजाद, C उप्पाडिय, K °मस्सुग, CP रहिय, C अप्पडियम्म 6) A विजुत्त, P विमुत्त for विमुक्क, CK उवओग, CK जोण्ह 8) AP लोचावस्सक°, C लोचावासय, CK ठिय, C °मेयभत्त. 10) AP छेदेसूवट्ठवगा, C छेदेसु उवट्ठवगा, K अवट्ठवगा 12) AP छेदुवजुत्तो, CK आसिज्जा.

13) अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे ।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥१३॥

14) चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि ।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥१४॥

15) भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा ।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥१५॥

16) अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु ।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा ॥१६॥

17) मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥१७॥

17*1) उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥१७*१॥

17*2) ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये ।
मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ॥१७*२॥ जुम्मं ।

18) अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो ।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥१८॥

19) हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि ।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥१९॥

20) ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी ।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ ॥२०॥

20*3) गेण्हदि व चेलखंड भायणमत्थि त्ति भणिदमिह सुत्ते ।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो ॥२०*३॥

20*4) वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं ।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥२०*४॥

---

13) CK विहीणो 14) P पडिवण्ण for पडिपुण्ण 15) CP खवणे, AP उवधिम्मि, CK आवसहे वा यु(उ)णो 16) A सव्वकाल, C सातत्तिय 17) AP जीवदु, AP समिदीसु for समिदस्स 17*1) C पाये, C णिग्गमट्ठाणे, C मरेज्ज 18) APC बधगो त्ति for वधकरो ति. 19) AP मदेहिं for मदम्हि, A सवणा for समणा, ACK छड्डिया. 20) AP चाओ, C हवइ, K विसोही, CK हि for य, CK तु for णु 20*3) C गेण्हइ, C जइ, 20*4) P वत्थखडण C गिण्हदे, K गेण्हदे, C विज्जइ.

20*5) गेण्हदि विधुणइ धोवइ मोसेइ जदं तु आदवे खित्ता ।
पत्थं च चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि ॥२०*५॥ विसेसयं ।

21) किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥२१॥

22) छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥२२॥

23) अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥२३॥

24) किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि ।
संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥२४॥

24*6) पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो ।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥२४*६॥

24*7) णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा ।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥२४*७॥

24*8) पइडीपमादमइया एदासिं वित्ति भासिया पमदा ।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुल त्ति णिदिट्ठा ॥२४*८॥

24*9) संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंछा य ।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं ॥२४*९॥

24*10) ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि ।
ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं ॥२४*१०॥

24*11) चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं ।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं ॥२४*११॥

24*12) लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु ।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥२४*१२॥

20*5) P has the termination दि for इ throughout, CP पत्त for पत्थ 21) CP किह, A तम्मि, CK पसाहयदि 22) P खित्त for खेत्त, C विजाणिता 23) K जणस्स, CK रहिय, AP जदि वि यप्प. 24) CK देहो वि, CK सगो त्ति, ACKP अप्पडि° for णिप्पडि° 24*8) C पयडी, P विण्णादा for णिदिट्ठा. 24*9) K पदेसा 24*10) C वट्टइ, P तासि तु for तासि च, 24*11) P सेत्थिल्लं, 24*12) C कक्खदेसेसु, C किह

24※13) जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता ।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥२४※१३॥

24※14) तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।
कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा ॥२४※१४॥

24※15) वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा ।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥२४※१५॥

24※16) जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो ।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो ॥२४※१६॥

25) उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं ।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयण च णिद्दिट्ठं ॥२५॥

26) इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥२६॥

26※17) कोहादिएहि चउहि वि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं ।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहि ॥२६※१७॥

27) जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा ।
अण्ण भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥२७॥

28) केवलदेहो समणो देहे वि ममत्तरहिदपरिकम्मा ।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥२८॥

29) एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं ।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥२९॥

29※18) पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मसपेसीसु ।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं ॥२९※१८॥

29※19) जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा ।
सो किल णिहणदि पिंड जीवाणमणेगकोडीणं ॥२९※१९॥

24★13) P दसणहि for दसणेण, C भणिया. 24★14) P तप्पडिरूव, C वयो° 24★16) C सेसअभगेण, C होइ. 25) C विणय, AP पण्णत्त for णिद्दिट्ठ. 26) C लोय, P सवणो 26※17) CP कोधादिएहि चदुहि वि, C °मट्ठेहि 27) A तओ for तवो, CK °मह 28) A देहो ण ममेत्ति रहिदपरिकम्मे, P देहेण(?) ममत्तिरहिदपरिकम्मो, CK रहिय, A अणिगूह for अणिगूहिय 29) AC जधा, CK मह 29※18) C पेसेसु, P सातत्तिय for सतत्तिय, 29※19) CP किर for किल, C णिहणइ.

29*20) अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स ।
दत्ता भोत्तुमजोग्ग भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ।।२९*२०।।

30) बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा ।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ।।३०।।

31) आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं ।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ।।३१।।

32) एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ।।३२।।

33) आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ।।३३।।

34) आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ।।३४।।

35) सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं ।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ।।३५।।

36) आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ।।३६।।

37) ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ।।३७।।

38) जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ।।३८।।

39) परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ।।३९।।

39*21) चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं ।
सो संजमो त्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण ।।३९*२१।।

---

30) P समभिगदो for °हृदो, K चरदि, AP मूलच्छेद 31) CK य for व, P उवहिं 32) CP अट्ठेसु, P °चिट्ठा तदो जिट्ठा 33) KP विजाणादि, AP अत्थे, CK किह 34) K देवा वि, A सव्वदा. 35) AC अट्ठा for अत्था 36) P हवदि for भवदि, AP णत्थि त्ति, AP हवदि C हवइ for होदि 37) C अट्ठेसु, C अट्ठे. 38) CK भवसद, CK खवेइ, AP उस्सादमित्तण, 39) AC देहादिगेसु 39*21) C पव्वज्जाये.

40) पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥४०॥

41) समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥४१॥

42) दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥४२॥

43) मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥४३॥

44) अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥४४॥

45) समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥४५॥

46) अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥४६॥

47) वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥४७॥

48) दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥४८॥

49) उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥४९॥

50) जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥५०॥

51) जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥५१॥

---

40) CK जिय. 41) P समवधुसत्तुवग्गो, C लेट्ठु, K लेंडु, CK विय for पुणो, K जीविय, P सवणे for समणो 42) A युगव, A परिपुण्ण 44) A अत्थेसु, AP विविधाणि, CK विविहाणि कम्माणि 45) CKP सति for होंति. 46) CK हवे for भवे 47) A वदणणमसणेण हि, CK राग 48) A जिणेंद 49) CP चाउवण्णस्स, P कायविराहण°, CP पहाणो, P सो for the final से (also in the next gāthā). 51) C सायारणयार°, C अणुकपाउवयार, A जदि वि अप्प.

52) रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥५२॥

53) वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥५३॥

54) एसा पसत्थभूदा समणाण वा पुणो घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥५४॥

55) रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥५५॥

56) छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥५६॥

57) अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु ।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥५७॥

58) जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु ।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥५८॥

59) उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥५९॥

60) असुभोवयोगरहिदा सद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोग तेसु पसत्थ लहदि भत्तो ॥६०॥

61) दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं ।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥६१॥

62) अब्भुट्ठाण गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।
अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि ॥६२॥

63) अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया ।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥६३॥

64) ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥६४॥

---

52) C रोएण, CK छुहाए, AP साधू 53) P विज्जावच्च 55) C विवरीय, AP भूमिगदाणि हि, A बीयाणि व 57) A मणुजेसु P मणुसेसु for मणुवेसु 58) A कह 59) C °पाओ 60) CKP असुहोवओगरहिदा 61) C पगड, A तत्तो गुणदो, C °दव्व त्ति. 62) A उववा (व) सण, ACP भणिदमिह 64) C अट्ठे आदपहाणे

65) अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥६५॥

66) गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति ।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥६६॥

67) अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु ।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥६७॥

68) णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि ।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥६८॥

68*22) तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥६८*२२॥

69) णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं ।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंजुदो चावि ॥६९॥

70) तम्हा स गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥७०॥

71) जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये ।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥७१॥

72) अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसतप्पा ।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥७२॥

73) सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं ।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा ॥७३॥

74) सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥७४॥

75) बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो ।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥७५॥



---

68) AP जहदि for चयदि, C जइ 68*22) This gāthā is not traced in P, there being altogather a different arrangement of gāthās in this section. 69) A पव्वइदो, A लोगिगो दि, A संजमतवसपजुत्तो वि. 70) A अधियं, P अधिग, C इच्छइ. 72) P पसन्तप्पा for पसतप्पा. CK जो for इह 73) P णोवसत्ता. 75) CK सासणमेद.

प्रवचनसारगाथानां वर्णानुक्रमसूची

Here is given an alphabetically arranged Index of the gāthās of *Pravacanasara* The first No refers to the Book and the second to the gāthā therein The number 3, 29 *20 means that it is the 20th additional gāthā, of the version of Jayasena, following the 29th gāthā of the 3rd Book according to Amṛtacandra's version.

अमृतचन्द्राचार्यटीकान्तर्गतानां स्वरचितानामुक्तानां च पद्यानां वर्णानुक्रमसूची—

* The verses marked with asterisk alone are quotations, and the rest are all composed by Amṛtacandra in various contexts in his commentary. The manner in which the verse *ānandāmṛta* etc is introduced perhaps indicates that it is a quotation

जयसेनाचार्यटीकायामुक्तानां पद्यादीनां वर्णानुक्रमसूची—

Critical Apparatus

The dialectal form of the Prakrit *gāthās*, though they are physically placed in the Sanskrit commentary of Amṛtacandra, is substantially made to conform to the text as incorporated in the Sanskrit commentary of Jayasena, who, as it is evident from some of his remarks in his commentaries on the works of Kundakunda, appears to be particular about the Prakrit text, and hence, I was tempted to collate the *gāthās* with the MSS containing the commentaries of Amṛtacandra and Prabhācandra, which have been designated as A and P and are described below. I regret, however, that I could not get a MS. containing only the commentary of Jayasena.

For the benefit of those who want to read the Prakrit text continuously, I have given the Text with Various Readings in this edition. The Readings are collected from the following MSS.

A—It belongs to Sri Ailaka Pannālāla D. Jaina Sarasvati Bhavana, Bombay 4, and it is numbered as 534ज/136क. It is a paper MS., oblong in size, measuring about 12½ by 6½ inches. It contains 70 leaves plus the last one. From the contents it is clear that some leaves after the 70th have been lost, and, therefore, the major portion of the final prose passage in Amṛtacandra's commentary is missing, in the first book *gāthā* No. 23 with its commentary is not copied due to oversight, otherwise the MS. is quite intact, though the last page is slightly damaged in one corner. The MS. contains the *gāthās*, *chāyā* and the Sanskrit commentary of Amṛtacandra. The MS. is fairly accurate, especially in Sanskrit portions, leaving aside some orthographical errors that can be easily detected. The writer appears to be an intelligent copyist with an uniform Devanāgarī hand. In the first and the last five pages he has written the introductory remarks, preceding each *gāthā*, in red ink, but in the middle they are simply rubbed over with red chalk, it is very convenient to read the *gāthās* only, which, otherwise, would have been very difficult to be detected in those continuously and closely running lines. It is with this MS. that I have checked some of the knotty points in the printed text of the commentary of Amṛtacandra. The colophon, which gives the date of the MS., runs thus in red ink:

इति तत्त्वदीपिका नाम प्रवचनसारवृत्तिः समाप्ता ॥ * ॥ शुभ भवतु मगलं महा श्री देयाद्विद्या परमेश्वरी ॥ * ॥ श्रीः ॥ अथ सवत्सरे श्रीविक्रमादित्यगताब्दा संवत् ॥ १४९७॥ वर्षे ज्येष्ठ सुदि १३॥ शनिवासरे श्री टोडामहादुर्गे ॥ श्री मूलसघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे भट्टारकश्रीपद्मनन्दिदेवा तत्पट्टे भट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवा. गुरुभ्राता श्रीमदनदेवास्तत्शिष्य ब्रह्मनरसिंह तत्पुस्तकात् मया सुदरलालेन लिपिकृता इदोरमध्ये स्वपठनार्थः सवत् १९३०॥ श्री ॥ श्रीरस्तु ॥ कल्याणमस्तु लेखकपाठकयोः ॥ श्री ॥ श्री ॥ ॐ नमः सिद्ध ॥

It can be very easily detected from this colophon that the present MS is written in Saṁvat 1930, at Indore, by Sundaralāla from a MS, belonging to Brahma Narasiṁha, which appears to have been written at श्रीटोडामहादुर्ग (चित्तोड ?) in Saṁvat 1497 Sundaralāla says that he copied it for his study, that indicates that he might be knowing Sanskrit, though the language of the colophon is not a piece of good Sanskrit, at any rate, it must be said to his credit that Sundaralāla is a faithful copyist

'—It belongs to Śrī Ailaka Pannālāla D Jaina Sarasvatī Bhavana, Bombay 4, it is numbered as 1370ज/309क It is a paper MS, oblong in size, measuring 12 by 6½ inches There are 43 leaves, and the MS, for all appearance, is complete It contains the text and the Sanskrit commentary of Prabhācandra The MS is lately copied in Bombay, in Saṁvat 1981, from a MS. written in Saṁvat 1555 The MS is not carefully written, especially in the beginning portion, the copyist is not able to read correctly the MS from which he is copying, and which possibly appears to have bean written in that *padimātrā* system Especially the Prakrit portion is very faulty There is a good deal of disorder, especially in the third book, in the numbering and order of gāthās, one is not in a position to say whether the copyist is responsible for this, or more possibly, as the gaps in the middle indicate, the MS, from which this copy is made, was not in a good condition

As one interested in the well-being of that institution, I have to request the authorities of Śrī Ailaka Pannālāla Sarasvatī Bhavana to employ intelligent copyists to prepare MSS for the institution, otherwise carelessly written MSS would defeat the very aim of the institution

—This Ms belongs to the Balātkāragaṇa Mandira, Karanja, No 768 It has 178 folios, 10 by 6½ inches in size Each page has 16 lines, with some 42 letters in a line It contains Pañcāstikāya, Pravacanasāra and Samayasāra accompanied by Bāḷacandra's Kannaḍa commentary on them It is accurately copied in general, and may be about 200 years old Pages 51 to 106 are covered by Pravacanasāra It ends thus

मगल महाश्रीः ॥ ३२०० ॥ सर्वग्रथसख्या ॥ ६६३४ ॥ मूलगाथा ॥ १८१ ॥ ३११ ॥ ४४३ ॥ सर्वगाथा ॥ ९३५ ॥

In its readings *ḷ* is used for 1, very often *e* and *ya* get interchanged, *d* is often written for *dh*, etc But these are ignored while recording the readings

—This belongs to the Senagaṇa Mandira, Karanja It contains Pañcāstikāya besides Pravacanasāra which covers 170 leaves, from 135 to 304 It ends thus·

ग्रथसख्या । ६७२० ॥ × ॥ मल्लिषेणाचार्यकृतटीकामिद भद्र भूयात् ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥

The portion beginnig with Malliṣeṇācārya appears to be added later on and then scored off Really speaking it contains the Tātparyavṛtti of Jayasena The order of gāthās in the third chapter is different here and there It writes *ḷ* for *l*, often *ya* and *e* are interchanged, and about *ya-śruti* there is some looseness, these are

generally ignored while recording the readings Possibly it is copied from a MS in Kannaḍa script and that explains the above details as well as the reading *attham* for *laddham*

My friend Dr V P Johrapurkar supplied to me the descriptions of C and K and also his careful collations of these from which I have recorded readings selected from the point of view of Prakrit dialectology My thanks are due to him for his kindness in allowing me to use his collations

In noting the following variants my attention was devoted to the dialectal differences, and those I have very scrutinizingly noted, naturally, apparent mistakes of the MSS have been ignored, some orthographical peculiarities have been recorded in a few cases When a reading of some MSS is noted, it means that others agree with the text printed, and so forth When all of them give a particular reading, I could not accept it, because my aim has been to give a tentative text as incorporated in the commentary of Jayasena

These Various Readings, I am sure, would be useful, when we are out to build a critical text of Pravacanasāra without any bias for a particular commentator



THE ENGLISH TRANSLATION

OF

PRAVACANASĀRA

Book 1

1 Here I pay obeisance to Vardhamāna, the saviour, the promulgator of the law, who is saluted by the Suras, Asuras and lords of men, and who has washed off the dirt of destructive Karmas [1]

2 (I pay obeisance) also to the remaining Tīrthaṅkaras (*i e*, the promulgators of the creed) along with all Siddhas (*i e*, the liberated souls) whose nature is pure and to the Sramaṇas (*i e*, the saints) whose behaviour is characterised by knowledge, faith, conduct, penance and energy

3 I pay obeisance to them collectively as well as individually and to the contemporary Arahantas in the Mānuṣa region [2]

4-5 After saluting Arahantas (*i e*, Tīrthaṅkaras), Siddhas also Gaṇadharas (*i e*, the direct disciples of Tīrthaṅkaras), the band of preceptors and all the saints, and after having taken the life (*i e*, a state of life, *āśrama*) of foremost knowledge and faith of pure nature, I adopt equanimity whereby Nirvāṇa is attained

In these foot-notes P Stands for *Pancastikaya* of Kundakunda aud TS for *Tattvārtha-sūtras* of Umāsvāti as commented upon by Pūjyapāda

1 The passional vibrations etc subject a soul to the influx of Karma which is of the nature of subtle matter According to its fruit the Karma is divided into eight basic types 1 *Jnānāvaranīya-k*, knowledge-obscuring-k, which obscures the knowledge of the soul, 2 *Darśanavaranīya-k*, conation-obscuring-k, which obscures the conative faculty of the soul, 3 *Vedanīya-k*, feeling k, which gives rise to, determines and regulates the feelings of pleasure and pain, 4 *Mohanīya k*, deluding-k, which deludes the faith and conduct of the soul, 5 *Ayuṣ-k*, age-k, which determines the age in a particular embodiment, 6 *Nāma-k*, body-making-k, which organises the various physical features of the embodied being, 7 *Gotra-k*, family-determining-k which determines the high or low family of the individual, and 8 *Antaraya-k*, obstructive-k, which hinders the happy disposition of the soul These eight are divided into two groups, *Ghati-k*, distructive-k, and *Aghati-k* non-destructive-k, according as they crush or not the natural attributes of the soul The first, second, fourth and the last constitute *Ghati-k*, and the remaining are *Aghati-k* These eight basic types *(mūlaprakṛti)* are further divided into 148 subtypes *(uttara-prakṛti)* and so forth, each basic type dividing itself into various subtypes TS VIII

2 At present there are no Tīrthaṅkaras in our region after Mahavīra, who attained liberation in 527 B C, but there are Tīrthaṅkaras, according to the Jaina tradition, in the five *videha*-countries of the Manuṣa-kṣetra *i e*, the first two islands and a half of the Jaina geography TS III

6 Nirvāṇa, along with the glories of Devas,[1] Asuras and lords of men, accrues to a soul through conduct pre-eminently characterised by faith and knowledge

7 Verily this realisation is the Dharma, which, in turn, is pointed out as equanimity, and equanimity is the state of the self in which infatuatory perturbation is absent

8 For the time being a substance is said to be constituted of that by which it is transformed, therefore the self should be recognised as Dharma, when there is developed the condition of Dharma

9 The Soul whose nature is amenable to modification comes to be auspicious, inauspicious or pure according as it develops auspicious, inauspicious or pure states (of consciousness)

10 There is no substance without a modification and no modification without a substance, the existence of a thing is made up of substance, quality and modification

11 The self that has developed equanimity, if endowed with pure activities, attains the bliss of Nirvāṇa, and if endowed with auspicious activities, attains heavenly happiness

12 By the rise of inauspicious activities, the soul wanders for long as a low-graded human being, a sub-human being and a hellish one being subject for ever to thousands of miseries

13 The happiness of those who are famous for their pure consciousness or serenity is transcendental, born from the self, supersensuous, incomparable, infinite and indestructible

14 That Sramaṇa, who has well understood all things and the texts that explain them, who is endowed with self-control and penances, who is free from attachment, and to whom pleasure and pain are alike, is said to represent pure consciousness (For the definition of Sūtra, see gāthā 34)

15 He, who has manifested pure consciousness and is free from (knowledge- and conation-) obscuring, obstructive and deluding Karmic dust,[2] has become self-sufficient, and fully comprehends the objects of knowledge

16 The omniscient, who has realised his nature and is worshipped by the lords of all worlds, becomes self-sufficient, and he is called Svayambhū

17 Further, he represents a condition of the collocation of permanence, origination and destruction, though therein the origination is without destruction and the destruction devoid of origination

18 In fact, every entity is characterised by existence, and it is with regard to only one aspect that every object suffers origination and destruction[3]

19 He develops knowledge and happiness after having exhausted the destructive Karmas, being endowed with excellent infinite strength and excessive lustre and after becoming supersensuous

1 *yathā cāritrān nirvāṇam bhavati tathā Devendradivibhavo'pi*
2 See note on 1, 1 3 Compare P 11

*1 The miseries of those beings, that have faith in him who is the best among all things and who is respected by the foremost among gods and demons, are exhausted.[1]

20 In the case of the omniscient, the pleasure or pain is not physical, because he is endowed with supersensuousness so it should be known

21 The omniscient who develops knowledge directly visualizes all objects and their modifications, he does never comprehend them through the sensational stages such as outlinear grasp[2]

22 Nothing is indirect to him who is himself ever omniscient and who is all-round rich in the qualities of all the organs of senses though himself beyond the senses

23 The soul is co extensive with knowledge, knowledge is said to be co-extensive with the object of knowledge, the object of knowledge comprises the physical and non-physical universe, therefore knowledge is omnipresent[3]

24-25 He, who does not admit the soul to be co-extensive with knowledge, must indeed concede that the soul is either smaller or larger than knowledge If the soul is smaller, the knowledge, being insentient, cannot know, if larger, how can it know in the absence of knowledge ?

26 The great Jina is everywhere and all the objects in the world are within him, since the Jina is an embodiment of knowledge and since they are the objects of knowledge

27 The doctrine of Jina is that knowledge is the self and in the absence of the self there cannot be (any) knowledge, therefore, knowledge is the self, while the self is knowledge or anything else

28 The knower has knowledge for his nature and all the objects are within the range of the knowledge, just as the objects of sight are within the ken of the eye, though there is no mutual inherence

29 The knower, who is beyond sense-perception, necessarily knows and sees the whole world neither entering into nor entered into by the objects of knowledge,[4] just as the eye sees the objects of sight

30 The knowledge operates on the objects, just as a sapphire, thrown in the milk, pervades the whole of it with its lustre

---

1 The gathas which are marked with an asterisk are not recognised in Amṛtacandra's commentary, but they are treated as a regular part of the text by Jayasena, such verses are serially numbered with an asterisk

2 The sense-perception, being not immediate, has four stages *avagraha*, outlinear grasp, *īhā*, consideration or discrimination, *avāya*, judgement, *dhāraṇyā*, retention of the judgement Such stages are not present when omniscience is functioning TS I, 15

3 See II 36, 44, 53 etc *infra*

4 I have taken *na praviṣṭaḥ na aviṣṭaḥ* as against the commentators who take *na aviṣṭaḥ (na apraviṣṭaḥ)*

31 If those objects are not within the knowledge, knowledge cannot be all-pervasive, the knowledge is all-pervasive, how then objects are not existing in it ?

32 The omniscient lord neither accepts nor abandons, nor transforms the external objectivity, he sees all around, and knows everything completely

33 He, who clearly understands the self as of the nature of the knower on the authority of the scriptural knowledge, is called a *ś*rutakevalin by the sages that enlighten the world

34 That which is preached by the Jina through words, which are constituted of material substance,[1] is called the *sūtra* (or the sacred text), knowledge consists in knowing it, and hence the sacred text also is designated as knowledge

35 He who knows is knowledge, the self does not become a knower with knowledge (as an extraneous instrument)[2] The very self develops knowledge, and all the objects stand (reflected) in the knowledge,

36 Therefore the self is knowledge, the object of knowledge is the substance, which is said to be threefold,[3] the substance comprises the soul and the (five) other (substances), which are prone to modification

37 All modifications, present and absent, of all those types of substances, stand essentially (reflected) in the knowledge, as if in the present.

38 Those, which have never originated and those, in fact, that have been and are already destroyed are the absent modifications, they are directly visualised in omniscience

39 If that omniscience would not directly visualise the future and past modifications, who then would call that knowledge super-natural ?

40 It is declared that it is impossible to know the past and future for those who (are accustomed to) know the object by means of discrimination and other stages (of perception),[4] when it has fallen within the range of the senses

1 Sound is material according to Jaina philosophy, and it is the result of the clash of molecules (see II, 40 *infra*, and also P 79, TS V, 24) According to the Vaiśeṣika system it is a quality of *ākāśa* When once it is accepted that sound is a quality, one is forced to find out some substance or the other with which it is to be associated, and the Vaiśeṣika school concludes that it is the *linga* of *ākāśa*, because no other substance is convenient for this attribution As in Jainism, the Mimaṁsaka school holds that sound is a substance

2 The doctor takes the temperature of the patient with the thermometer, *i e*, his process of taking the temperature stands in need of an outside instrument We are accustomed to define, nowadays, knowledge as the process of analysis and synthesis, and the author says that this process is not extraneous, but completely identical with, nay the very nature of the soul

3 With reference to past, present and future, or with regard to substance, quality and modification, or with respect to origination, destruction and permanence, see II, 35-42 *infra*

4 See note on I, 21 *ante*

41 That is called supersensuous knowledge which knows any substance, with or without space-points, with or without form, and those modifications which have not come into existence and those which are destroyed

42 If the knower develops the influence of the object known, then he does not possess the knowledge which is born after the destruction of Karmas, the great Jinas say that he who so develops, (merely) enjoys the fruit of Karma

43 The great Jinas say that portions of Karmas are necessarily operating (and giving their fruit), he, who is infatuated with, or shows attachment or aversion towards them, necessarily incurs bondage (of Karmas)

44 In the case of Arahantas, at the time of their Arhatship, (certain activities like) standing, sitting, moving about and religious discourse are natural (and necessary consequences of the Karmic fruition with no effort on their part), just as acting deceitfully is in the case of women

45 Arahantas owe their status to the fruits of merits (or meritorious Karmas), their activities are the consequences of the Karmic operations, their activities are called *kṣāyikī* (*i e*, due to the destruction of Karmas), because they are free from infatuation etc

46 The transmigratory existence would be an impossibility in the case of all the embodied beings, if the soul itself is naturally incapable of developing auspicious and inauspicious states

47 That knowledge is called *kṣāyika* (*i e*, produced after the destruction of Karmas) which knows completely and simultaneously the whole range of variegated and unequal objectivity of the present and otherwise

48 He, who does not know simultaneously the objects of the three tenses and in the three worlds, cannot know even a single substance with its (infinite) modifications

49 A single substance has infinite modes and infinite are the classes of substances, if he does not know (them) simultaneously, how will he be able to know all of them?

50 If the knower, after coming into contact with the objectivity, produces knowledge step by step, that knowledge cannot be eternal, neither can it be *kṣāyika* nor all-pervasive

51 The omniscience of the Jina knows simultaneously the (whole range of) variegated and unequal objectivity possible in all places and present in three tenses, indeed great is the glory of that knowledge !

52 The soul (of the omniscient), though knowing all the things, does not transform itself (under their influence) does not receive (any-thing external), nor does it become one among them, and hence it is said to be without Karmic bondage [1]

*2 Him ever adores the devoted world consisting of Devas, Asuras and lords of men, so do I devotedly adore him

1 Compare 32 *ante*

53 Just as knowledge of various entities is super-sensitive with reference to non-concrete and sensitive with regard to concrete things, so too is happiness, that which is the best of those (two) should be realized

54 That is *pratyaksa* knowledge which perceives (all) the non-concrete (things), among the concrete those (atoms etc) that are beyond the scope of senses, those that are hidden and all others that are related to substances and also that are not

55 The soul itself is non-concrete (*i e*, devoid of the sense-qualities), when it is embodied, it comes to be concrete, (thus, being coupled with senses,) it perceives the perceptible through (the stages of) outlinear grasp etc,[1] or sometimes it does not

56 The sense-qualities of touch, taste, smell, colour and sound have a reference to material objects,[2] the sense-organs can never grasp them simultaneously

57 The sense-organs are of foreign stuff, they can never be said to form the nature of the soul How then what is perceived by them can be direct (*pratyakṣa* or immediate) for the soul ?

58 Perception of things through a foreign agency is called *parokṣa*, indirect or mediate, whatever is perceived by the soul alone is *pratyakṣa*, direct or immediatie?

59 That self-born, perfect, and pure knowledge which spreads over infinite things and which is free from (the stages of perception such as) outlinear grasp etc, is called the real happiness[3]

60 Whatever is known as omniscient knowledge, that alone is a condition of happiness, no (trace of) misery is said to be there, since the destructive Karmas[4] are exhausted

61 (In the omniscient) the knowledge reaches the very verge of objectivity, and the vision extends over the physical and superphysical universe, in Him all that is undesirable is destroyed and whatever is desirable is achieved

62 The *abhavya* souls do not believe the statement that the happiness of those who are free from destructive Karmas is the best of all, while the *bhavya* souls accept it (and believe)[5]

63 Lords of men, Asuras and Amaras, harassed by senses that are born with them, being unable to bear with the pain, sport themselves with attractive objects of senses

---

1 See note on 21 *ante*

2 TS V 23

3 Ignorance, which is the result of Knowledge-obscuring-karman, is misery in this world, then the real happiness consists in destroying the Karma and in developing absolute happiness which is identical with omniscience and constitutes the very stuff of the self

4 See note on 1 *ante*

5 The souls incapable of attaining liberation are called *abhavya*, and those capable, *bhavya* see P 163, TS II, 7

64 Know that misery to be natural for those who are attached to the objects of senses, if it is not natural, there would not be any attempt for the objects of senses

65 It is not the body, but the very soul itself, that develops happiness having obtained desired objects that are naturally endowed with the qualities of touch etc

66 Really speaking, the body does not make any embodied being happy even in heaven, but the soul itself develops happiness or misery coming under the influence of the objects of enjoyment

67 If the visual faculty of people could remove darkness, then the lamp is of no avail, so when the soul itself is happiness, what then the objects of enjoyment contribute ?

68 Just as the sun, all by himself is lustrous and warm, and a deity of the sky, so also the liberated soul is (endowed with) knowledge and happiness, and is a divinity of the world

*3 He is Arhan (*i e*, worshipful one) whose glory consists of lustre, conation, knowledge, supernatural accomplishment, happiness, affluence and the leading lordship of the three worlds

*4 I repeatedly offer obeisance to the Siddha, who is superior and never suffering in his merits, who holds lordship over men and Devas and who is never (hereafter) bound to take birth anymore

69 The soul, that is devoted to the worship of God, ascetic and the preceptor, to the offering of gifts, to virtuous conduct, and to the observance of fasts, is of auspicious activities (or manifestation of consciousness) [1]

70 The soul, endowed with auspicious manifestation of consciousness, is born as a sub-human or human being or a god, and during that period, obtains different kinds of sensual pleasures

71 It is evident from the doctrine that the happiness even of the gods is not self-established, oppressed by physical urge, they sport themselves with attractive objects of senses

72 If men, denizens of hell, sub-human beings and gods (indiscriminately) suffer misery incidental to body, then of what avail is the (distinction of) auspicious or inauspicious activity of the soul ?

73 Indra and other sovereigns, quite engrossed as if they are happy, nourish their bodies etc by means of enjoyments that are the consequences of auspicious activities

74 If there are, in fact, different merits resulting from auspicious activities (or mental condition), they (merely) occasion a sensual thirst to all the beings among whom the gods come last (in the order of enumeration) [2]

---

1 The term *upayoga* is very difficult to be rendered into English, the shade of its sense often depends on the context, similar is the case with *Dharma* and other words

2 TS VIII, 10

75 Moreover those beings, with their thirst enhanced, pained with desires and burning with misery, hanker after the pleasures of senses and experience them till their death

76 Happiness derived through sense-organs is dependent, amenable to disturbances, terminable, a cause of bondage and dangerous, and hence it is misery in disguise

77 He, who does not admit that there is no difference between merit and demerit, wanders in this horrible and boundless transmigratory existence muffled in delusion

78 Thus, knowing the nature of reality, he, who does not entertain attachment or aversion for any object, destroys all physical pain, being endowed with pure manifestation of consciousness

79 Having abandoned sinful activities and proceeding on the path of auspicious conduct, if one does not abandon delusion etc, he cannot realize the pure self.

*5 He is the God who is known for his austerities and selfcontrol, who is pure, who paves the path of heaven and liberation, who is worshipped by the lords of Amaras and Asuras and who stands at the summit of the physical world

*6 Those men attain eternal happiness who salute the God among the gods of gods, who is foremost among the great saints, and who is the preceptor of the three worlds

80 He, who knows the Arahanta with respect to substantiality, quality and modification, realizes himself, and his delusion, in fact, dwindles into destruction

81 The soul, being free from delusion and having grasped well the reality of the self, realizes the pure self, if it abandons attachment and aversion

82 It is in this way that even all the Arahantas have destroyed portions of Karmas, preaching the same they attained *Nirvāna*· my obeisance to them

*7 Bow unto those persons who are pure in faith, foremost in knowledge, practising perfect conduct, and who deserve respect, honour and gifts

83 The deluded notion of the soul about substances etc is called delusion, muffled therein and developing attachment or aversion the soul is baffled

84 Various kinds of bondage become possible, when the soul develops delusion, attachment or aversion, therefore they are to be destroyed [1]

85 False perception of things, absence of kindness towards subhuman and human beings and indulging with objects of pleasure—these are the characteristics of delusion or infatuation

86 He, who regularly understands the reality from the Jaina scriptures with direct and other proofs, exhausts the heap of delusion, therefore the scripture should be studied

---

1, TS VIII, 1-2

87 Substances, qualities and their modifications are (technically) signified by the term *artha*, and among them, it is said, that the substance is the substratum of qualities and modifications [1]

88 He, who destroys delusion, attachment and aversion, after having grasped the discourse of the Jina, escapes from all miseries within a short time

89 He, who really knows his soul as constituted of knowledge and others as only related with it as substances, effects the destruction of delusion

90 Therefore, if the soul aspires after the delusionless state of the self, it should understand from the Jaina creed the self and the non-self among the (scheme of) substances with regard to their qualities

91 He, who, in his state of *Srāmaṇya* (i e, asceticism), never believes in these substances with their closely related generality of existence and various special qualities, is not a Sramana, and religious purity is not possible for him

92 The great souled Sramaṇa, who has put an end to his delusive vision, who is expert in scriptures and who has established himself in conduct free from attachment, is qualified as Dharma

*8 He acquires religious merit who, at his sight, is pleased, stands up and respects him with salutation, obeisance etc

*9 Thereby, human and sub-human beings, obtaining the grades of gods and men, have their desires ever fulfilled with wealth and affluence

Book II

*1 *Having saluted and having constantly concentrated* my mind on him, I shall discourse in short upon the knowledge consisting in the ascertainment of the highest objectivity

1 The object of knowledge is made up of substances, which are said to be characterised by qualities, and with which, moreover, are (associated) the modifications, those, who are deluded by modifications, are false believers

2 Those beings, that are attached to modifications, are pointed out as the followers of the foreign creed (*para-samayika*), and those who establish themselves in the nature of the self, are to be known as the followers of one's own creed [2]

3 That is called a substance which is endowed with qualities and accompanied by modifications and which is coupled with origination, destruction and permanence without leaving its nature (of existence) [3]

4 The nature of the substance is existence accompanied by qualities by its variegated modifications and by origination, destruction and permanence for all the time [4]

---

1 TS V, 38, 41

2 For the cosmological shade of meaning of *samaya*, see P 3

3 Compare P 10

4 Umāsvāti expresses the same in TS V, 29, 30, 38

5 Here, amongst various characteristics, existence is described as one all-comprising characteristic by the great Jina, when (he was) clearly propounding the (religious) creed [1]

6 The Jinas have truly declared that the substance is naturally (and essentially) proved to be existential, and it is as well proved from the scriptures, he, who does not accept it, is a false believer

7 That existing entity established in its nature is the substance, the development of the substance with reference to qualities and modes (*artha*) is (also) its nature coupled with permanence, origination and destruction

8 There can be no origination without destruction, nor there is destruction without origination, origination and destruction are not possible in the absence of the permanent substantiality [2]

9 Origination, permanence and destruction take place in modifications, modifications are (possible) necessarily in a substance, therefore the substance forms the base of all of them

10 A substance, in fact, is intimately united with the (three) conditions signified by the terms: origination, permanence and destruction at one and the same moment, therefore, really speaking, the substance is (the substratum of) all the three

11 In a substance some modification originates and some other passes away, but the substantiality neither originates nor is destroyed

12 The substance, which is not different from its (initial) existence, develops of its own accord some other quality leaving the one, therefore, modifications in qualities are further called the substance

13 If the substance is not an existing entity, it must be either non-existing or again something else than a substance, in either case how can it be a substance? Therefore, the substance is self-existent.

14 It is the dictum of Mahāvīra that separateness (*prathaktva*) consists in having separated space-points, non-identity (*anyatva*) is the absence of identity, (between *sattā* or existence and *dravya* or substance) there is no identity (*na tadbhavaṃ* perhaps the same as *atadbhāvah*, non-identity), then how can those two be one?

15 Substance is existing, quality is existing and modification is existing so is the detailed scope of existence, the negation of any one of them, in fact, is that negation termed as non-identity

16 Really speaking what is substance is not quality, nor what is quality is substance, this is a case of non-identity and not of absolute negation · so it is pointed out

---

1 Compare P, 8-9

2 The case of liberated souls stands on a slightly different level, see I, 17 *ante*

17 That condition, which in fact, forms the nature of the substance, is quality which is not different from its initial existence, that existing entity established in its nature is the substance this is the doctrine of the Jina

18 There is nothing as quality nor as a modification in the absence of a substance, that substantiality is (*a condition*) of *positive existence, therefore the* substance is existence itself [1]

19 In this manner, the substance forever retains its position, in its own nature, as endowed with positive and negative conditions according as it is looked at from the substantial and the modificational view-points [2]

20 When the soul (in its course) is or will be born as a man, god or any one else, does it leave its substantiality? If it does not leave, how is it different (in different births)? [3]

21 A man (so long he has a human body) is not a god, nor is a god a man or a liberated being, if it is not so possible, how can their mutual non-difference be established?

22 All substances are non-different from the substantial view-point, but again they are different from the modificational view-point, because of the individual modification pervading it for the time being

23 *According to some modification or the other* it is stated that a substance exists, does not exist, is indescribable, is both or otherwise [4]

24 There is no modification (such as human or divine etc) as such which is permanent, nor there is any activity (of mundane beings) which is not the outcome of their nature Even if the highest *Dharma* is without fruit, the activity (of mundane beings) is not without a fruit

---

1 Compare P, 8, 11-12

2 *When it is said that a substance, without leaving its substantiality,* undergoes various modifications, *naturally* there will be two view-points of looking at a substance according as our attention is mainly directed to the substance or towards the modifications these are called *dravyârthika-naya* and *paryāyârthika-naya* substantial and modificational view-points

3 In various, births, from the substantial view-point, the soul is the same behind *different* bodies, but it is different, if the bodies that envelop it in different births are taken into consideration, compare P 17

4 This is the famous Syādvāda or the Saptabhangi-naya of the Jainas The human mind is limited, the human speech has its limitations, the world of nature is made up of infinite things, and each thing has an indefinite number of qualities and modes Every point can be studied in its positive and negative aspects, and when the speech cannot assert both of them definitely, we adopt the alternative that a thing is indescribable To explore all the characteristics is an endless task, so the author here concentrates his attention on existence and non-existence which together give rise to indescribability, and points out the seven possible alternative modes of assertion, see P 14

25. The Karma of the Nāma type (*i e*, the Nāma-Karma which determines the various physical characteristics of the embodied beings)[1] overcomes the nature of the soul with its nature, makes him a man, a sub-human being, a denizen of hell or a god

26 Men, denizens of hell, sub-human beings and gods who are, in fact, shaped by (their own) Nāma-karma, have not realized their nature (of knowledge and bliss), developing as they are their Karmas

27 In this world, in which modifications originate and pass away at every moment, nothing is absolutely produced or destroyed, what is production of one modification is the destruction of another, and thus origination and destruction are different

28 In this world, therefore, there is nothing as such absolutely established in its nature, after all mundane existence is (only) an activity of the soul-substance which is moving (in four grades of existence)

29 The soul tainted with Karma attains a condition mixed with Karma, thence Karma clings, therefore Karma is a condition (developed by passions etc)

30 The development of the soul is soul itself, and this activity (of development) pervades the soul, this activity is known as Karma, and hence the soul is not the (direct) agent of (material) Karmas

31 The soul develops into (or with) sentiency which, in turn, is said to be of three kinds, say with regard to knowledge, Karma and the fruit of Karma

32 Knowledge is the comprehension of the objectivity (exactly as it is), whatever is done by the soul is Karma, which is of many kinds, the fruit of Karma is either happiness or misery

33 The nature of the soul is development' this development is with reference to knowledge, Karma and the fruit, therefore, it should be understood that knowledge, Karma and the fruit constitute the soul

34 When the Sramaṇa is convinced that the soul itself is the agent, means, action, and the fruit, and if he does not develop anything (else as passions etc), he realizes the pure self

35 Substance comprises Jiva, the sentient principle and Ajiva the non-sentient principle, Jiva is constituted of sentiency and manifestation of consciousness,[2] Ajiva is insentient, and the foremost of this class is matter

36 That space which is accompanied by matter and soul, which is rich with Kāla (or time) and the two magnitudes (*i e*, *astikāyas*) of Dharma and Adharma (*i e*, the principles of motion and rest) and which is eternal, is called Loka or the physical world [3]

---

1 See note on I, 1 *ante*

2 TS II, 8

3 TS V, 12

37 Of this physical world constituted of matter and souls, there take place transformations consisting of origination, permanence and destruction collectively or individually

38 The characteristics by which the sentient and non-sentient substances are recognised are known as the special qualities called *mūrta* and *amūrta*, concrete and non-concrete

39 The qualities which are perceived by senses, which characterise the material substances and which are manifold are *mūrta* or concrete qualities, the qualities of non-concrete substances are to be known as *amūrta* or non-concrete [1]

40 Colour, taste, smell and touch are found in matter from the finer molecule to the gross earth, and sound is material and of various kinds [2]

41-42 The peculiar property of Akāśa is to give room, of the Dharma-substance, to be a cause of movement, of Adharma, to be a cause of stationariness, of Kāla, to mark the continuity, of soul, the manifestation of consciousness these are to be known, in short, the peculiar characteristics of non-concrete substances [3]

43 The souls, material bodies, principles of motion and rest and space all these possess innumerable space-points, but time has no space-points [4]

*2 These five substances, leaving aside the time, are called *astikāyas* or magnitudes, the word *kāya* signifies the collection of space-points [5]

44 The sky or space pervades Loka and Aloka, Loka is occupied by the principles of motion and rest, by time which rests with the other two (*viz*, soul and matter) and by soul and matter

45 Just as there are points of space, so are there of the remaining (substances), a primary atom is without space-points, because (being an unit) it gives rise to the (measure of) space-point [6]

---

1 Compare P 99,

2 TS V, 5, 23-24,

3 According to Jainism space or *ākāśa* is a substance, a reality We can think of a beginning and an end in connection with things limited, but we cannot posit these for nature as a whole Space extends infinitely, so itse xtension is infinite Besides extension there is another characteristic of space, namely, to give room or the capacity to contain The second is not an independent characteristic, because it needs certain other things for which the room is to be given The six substances including space as well are there in space to a certain extent and that much extent is called *lokākāśa*, the physical space, and the rest, where there is nothing but mere space, is called *ālokākāśa*, super-physical or non-physical space The experience of this empty space is possible for the omniscient, since our ordinary experience is always relative And since omniscience is capable of comprehending even empty space, there is no propriety of calling empty space as a mere theoretical abstraction thus the Jaina authors accept the possibility of empty space On gāthās 41-42 see P 23-24, 85-86, 90 etc, TS V, 17-18, 22

4 TS V, 8-9

5 On *astikaya* see P 5

6 TS V, 11

46 The moment of time is without space-points, it is equal to the time required by that unit of substance measured by one *Pradeśa* to traverse one space-point of the sky-substance [1]

47 That much duration required for crossing from one to the other spatial point is (known as) *samaya*, instant or moment, the objective entity before and after is time, *samaya* is liable to origination and destruction [2]

48 That much portion of the space occupied by one atom is called the space-point and it is capable of giving room to the atoms of all (substances)

49 All substances (excepting time) have one, two, many, innumerable or even infinite space-points, while time has only one space-point *viz*, *samaya*, instant or moment

50 That *samaya* or instant, which has origination and destruction at one and the same moment, is (still) a *samaya* established in its nature

51 This is the essential nature of *kālānu* (the unit of time), all the while, that it undergoes what are called origination, permanence and destruction at one and the same moment

52 That, which has not many space-points, nor even one space-point in order that it might be known (?), should be known as void, which is something other than existence

---

1 It is an interesting feature of Jaina physics that it has accepted Time and Space as realities, as much facts as matter, and even their ultimate units are recognised with their mutual relation settled A primary atom, an ultimate indivisible unit of matter, is an unit of matter, the space occupied by an atom is *pradeśa* or space-point, which is the unit of space, and finally, the time required for an atom to traverse one space-point is *samaya*, instant or moment, which is an unit of time The co-ordination of these three fundamental and ultimate facts of physical universe shows the insight with which the Indian mind pursued the analysis of any subject

2 Compare P 24 etc Time, according to Jainism, is a substance, a reality forming a condition of the introduction of changes in other things The ultimate unit of time is *samaya* The Sāṁkhya school, though it does not admit the reality of time, is quite in agreement with the Jaina definition of *samaya*, Time is both absolute and relative Absolute time is a non-corporeal substance conditioning the introduction of change in various things, while moments, hours etc are the modes of relative time only Like other substances it is characterised by existence, but it differs from others in the fact that it is made up of simple elements called *kālānu* Because of this manner of constitution, time is not looked upon as an *astikāya*

Time as a driving force is almost deified in Atharvaveda Nyāya-vaiśesikas infer the existence of time from such notions as past, present and future Buddhism does not accept the reality of time, as its theory of momentariness cannot harbour the possibility of any continuity According to Buddhist authors, time is treated merely as a subjective element

51

53 The physical world is stable, eternal and (filled) complete with entities endowed with space-points, he, who knows it, is the soul endowed with four life-essentials

54 Life-essentials of Jivas or souls are senses, *bala (i e.,* the channels of activities), duration of life and respiration [1]

*3 Life-essentials (in details) are ten. five senses, three channels of activity *viz*, of mind, speech and body, respiration and the duration of life

55 *That which formerly lived, lives now and will live in future with the four life-essentials is the Jiva, the sentient principle, these life-essentials, moreover,* are fashioned by material substances [2]

56 The soul endowed with life-essentials, bound by infatuatory and other Karmas, and enjoying the fruit of Karmas, is bound by other additional Karmas

57 If the Jiva, through delusion and hatred, causes harm to the life-essentials of living beings, this results into the bondage of Karmas such as knowledge-obscuring

58 The soul tainted with Karma, so long as it does not give up attachment towards external objects the foremost of which is the body, possesses other life-essentials again and again

59 He, who has conquered his senses etc and meditates the pure manifestation of consciousness of his self, will not be tainted by Karmas, how then can the life-essentials follow him ?

60 The transformation of one condition into another, in the case of the soul (when coming into contact with matter) whose existential nature is (already) de ermined, is the modification with its varieties of figuration etc

61 Human, hellish, sub-human and divine modifications of the soul are mutually different with regard to the figuration (of the body) etc, because of the operation of Nāma-karman [3]

62 The nature of the substance established in its existential condition is said to be three-fold (*viz*, consisting of origination, permanence and destruction), he, who knows it in detail, will not be infatuated with foreign substances

---

1 The life-essentials do not form the nature of the soul-stuff, but they are the indications or the signs of the presence of the soul in an embodied condition We do not perceive the soul, but it has certain essential features in this mundane existence, and they are four in number (and the same would be ten when their details are taken into consideration) The four life-essentials are typically selective and mutually exclusive to a great extent The signs of soul given by Vaiśeṣikas, namely, *prāṇāpānā-nimiṣonmeṣa-jīvanamano-gatīndriyānt-ara-vikārāh sukha-duhkhēcchā-dvesaprayatnāścātmano lingāni* (V S III, 2,4), look more like a descriptive enumeration

2 Compare P 30

3 Compare P 16

63 The soul is constituted of the manifestation of consciousness, manifestation of consciousness is towards knowledge and cognition, the manifestation of consciousness of the soul is either auspicious, or inauspicious [1]

64 It the manifestation of consciousness is auspicious, the soul accumulates merit, if inauspicious, sin, in the absence of both there is no accumulation (of Karmas)

65 He, who recognises the great Jinas, attends on Siddhas as well as saints and is compassionate towards living beings, has an auspicious resultant of consciousness [2]

66 He, who is steeped in sensual pleasures and passions, who is given to false scriptures, evil intentions and wicked words, and who is cruel and goes astray, has an inauspicious resultant of consciousness

67 Being free from inauspicious manifestation of consciousness and without the auspicious one towards foreign substances and being indifferent, I meditate on my self that is essentially constituted of knowledge

68 I am neither the body, nor the mind, nor the speech, nor the cause thereof, nor the agent, nor the commissioner, nor the consentor of the doers

69 It is pointed out that body, mind and speech are constituted of material substances, and the material substance, in turn, is a lump of atomic substances

70 I am neither made of matter, nor is the matter lumped by me, therefore, I am neither the body nor the maker of that body

71 The primary atom has no space-points, it is an unit of space-points and itself having no quality of sound, being arid or cohesive it comes to have two or more space-points [3]

72 It is said that the points of aridness or cohesiveness of an atom, because of transformation, increasing by one from one onwards, attain infinity

73 Atomic modifications, cohesive or arid, whether (having) even or odd points, bind mutually, when ordinarily there is the difference of two points, the minimum point being excepted [4]

74 An atom with two points of cohesiveness binds with an atom of four points of cohesiveness or aridness, and that of three points with that of five points

75 The gross entities (or molecules) [5] which have two or more space-points and the subtle or gross earth-water-fire-air bodies come to have different shapes according to their modifications (of the qualities of cohesiveness or aridness)

76 The physical world is thickly packed everywhere with material bodies, subtle and gross, capable of being received or not (by the soul)

---

1 See P 40, TS, 11, 8-9
2 Compare 1, 69 *ante*
3 See P 77, 78, 81 etc
4 TS V, 33-37
5 On the significance of *skandha* see P 74 etc

77 The moleculas capable of becoming Karmas, coming into contact with the (passional) conditions or transformations of the soul, are developed into Karmas, and not that they are so transformed by the soul.

78 Those material bodies, which are transformed into Karmas, go to form the bodies, when the soul is passing into one more body again.

79 The physical body, the transformatory body, the electric body, the translocational body and the Karmic body all these are made of material substance [1]

80 Know that the (pure) soul is without (the qualities of) taste, colour, smell, touch, and sound, it is all the quality of sentiency, it is beyond inferential mark, and it has no definable shape [2]

81 Material objects possessing the qualities of colour etc, mutually bind on account of their qualities of touch (*viz*, cohesiveness and aridness), the (nature of the) soul is quite opposed to this, then how is it that material Karmas bind it?

82 The soul, which is without colour etc, perceives and knows objects endowed with colour etc and the qualities, similarly the (case of) bondage is to be understood

83 The soul, which is constituted of the manifestation of consciousness, conceives infatuation, attachment or aversion having obtained various objects of pleasure, so again it is bound up with them (*i e*, the passional states)

84 It is by the attitude, with which the soul perceives and knows the objects of senses, that it is tinged, and it is thereby, moreover, the Karma binds so goes the doctrine

85 Bondage between material bodies is due to their qualities of touch etc (*i e*, *cohesiveness and aridness*), *and that of the soul is due to attachment etc*, mutual interpenetration is said to be the bondage of soul and matter

86 The soul has space-points, and in those space-points material bodies penetrate and remain as it may be possible, they pass away (according to their duration) or remain bound

87 When the soul develops attachment, Karma binds, when it is without attachment, it becomes free from Karmas, know this to be in short the real description of the bondage of the soul

88 Bondage results from the modification which consists of attachment, aversion and infatuation Infatuation and aversion are inauspicious, while attachment is either auspicious or inauspicious

89 It is already remarked that auspicious and inauspicious attitudes towards other (*i e*, external) things lead to merit and sin (respectively) According to the doctrine (of the Jina), the attitude, which is (inclined) towards neither, is the cause of the destruction of misery [3]

---

1 TS *II*, 36

2 This *gatha* is the same as P 127

3. Compare P 132, also II, 64 *ante*

90 (All) the living embodiments, immovable like the earth etc and the movable, are different from the (essential nature of) soul, and the soul is essentially different from them [1]

91 He, who, having realized (or accepted) his nature, does not understand the self and the non-self (and the difference between them), conceives, through infatuation, an attitude I am this and this is mine

92 The soul, effecting the development of its consciousness, is the agent of its own development, it is not the agent of all those conditions constituted of material substances [2]

93 The soul, though standing in the midst of matter all the while, neither accepts nor abandons, nor is the agent of material Karmas

94 The soul, at present (i e, in this transmigratory condition), being the agent of its own modification constituted out of its own substance, is sometimes bound up with or released from Karmic dust

95 When the soul, under the influence of attachment or aversion develops itself into auspicious or inauspicious resultant of consciousness, the Karmic dust pours into it in the form of knowledge-obscuring etc

4* The fruition of auspicious or inauspicious types (of Karmas) is intensified by pure and soiled attitudes (respectively), but in reverse to that, all the types have minimum intensity

96 The soul, which has space-points, when soiled by infatuation, attachment and aversion, is clung by Karmic dust,[3] and that is called bondage in the scripture

97 The Arahantas have preached to the ascetics or saints this discourse in short on the bondage of the soul from the realistic standpoint of view, the same from the ordinary stand-point of view is something different

98 He, who does not abandon the notion of mineness over the body and possessions that 'I am this and this is mine', gives up the *śrāmanya (i e* the status of a saint) and goes astray

99 'I do not belong to others, nor do others belong to me, I am mere knowledge' he, who meditates thus in concentration, comes to meditate on his (pure) self

100 Thus I consider myself to be constituted of knowledge and faith, supersensuous, a great objectivity, eternal, stable, independent and pure

101 Bodies, possessions happiness, misery, friends or enemies are not the eternal associates of the soul, the soul is eternally constituted of the manifestation of consciousness

---

1 TS II, 12-13

2 Compare P 65,

3 Compare II, 29 & 86 *ante*

102 He, who, knowing this and being pure in self, meditates on that highest Self, whether he is a layman or an ascetic, destroys the dangerous knot of delusion

103 He, who has destroyed the knot of delusion, who has overthrown attachment and aversion and is indifferent to pleasure and pain in his condition of a Sramana, attains eternal happiness

104 He, who has destroyed the dirt of delusion, has abstained from objects of pleasure, has restrained his mind and is established in his own nature, becomes a meditator of the self

105 What does that great sage, who has destroyed the thick destructive Karmas, who directly comprehends all entities and realities, who has reached the end of the objects of knowledge and who is free from doubts, meditate upon ?

106 Being free from all hindrances, being all round rich in knowledge and happiness of all the senses (together), being beyond the reach of senses and having no senses, he meditates on the highest happiness

107 My salutation to that path leading to Nirvāna and to those who, following it, attained the state of Sramanas, of Jinas, of Jinendras and of Siddhas [1]

108 Therefore, thus realizing the soul as the knower by nature, I give up the notion of mineness and have come to adopt the (notion of) non-attachment

*5 My repeated salutations to those liberated saints whose faith (*darśana*) is pure, who are endowed with the manifestation of consciousness with respect to right knowledge and who are happy without hindrances

Book III

1-2 Having repeatedly saluted the Siddhas the foremost great Jinas and the saints, may he adopt asceticism, if he desires for escape from misery, after taking leave of the family of relations, being let off by elders, wife and children, and being intent on the cultivation of knowledge, faith, conduct, austerities and strength.

3 He prostrates himself before a (great) saint, the head of an ascetic band, rich in virtues, endowed with distinctive family, form and age, and honoured by ascetics, saying, 'Admit me', and he is favoured (with admission to the ascetic community)

4 I do not belong to others, nor do others belong to me, there is nothing that is mine here, thus determined and conquering his senses, he adopts a form similar to that in which he is born (*yathā-jāta-rūpadharah*) [2]

5-6 The (external) emblem (of a Jaina saint) consists in possessing a form in which one is born, in pulling out hair and moustache, in being pure, in being

1 For their mutual distinctions see the commentary of Jayasena

2 It means that he should give up everything including clothes and remain naked, this is the excellent type of Jaina asceticism

free from harm unto beings etc, and in not attending to the body (*apratikarma*),[1] the (internal) Jaina (ascetic) emblem, which is the cause of negation of births, consists in being free from infatuation and preliminary sins, in being endowed with purity of manifestation of consciousness and activities, and in having no desire for anything else

7 Adopting this (ascetic) emblem (both external and internal), at the hands of an excellent preceptor, bowing to him and (then) hearing the course of duties consisting of vows, when one begins to practise it, he becomes a Sramana (i e, an ascetic)

8-9 (Five) vows, (fivefold) carefulness, control of (five) senses, pulling out the hair, (sixfold) *āvaśyakas* (or essentials), nakedness, not taking bath, sleeping on ground, not cleansing the teeth, taking meals in a standing posture and taking only one meal a day—these, in fact, have been prescribed, as the primary virtues[2] of the ascetic, by the great Jinas, he, who is negligent about them, is a defaulter (who needs to be reestablished on the correct path).

10 That preceptor, at whose hands they accept the (ascetic) emblem, is known as *pravrajyā-dāyaka* (i e, the teacher who initiates them into the ascetic fold), the remaining ascetics, who help to re-establish them in the right course, when they have committed certain defaults, are called *niryāpaka*

11-12 When the monk is carefully conducting (his) physical activities, if there is a default, to him is then prescribed a (lustral) course of conduct preceded with *ālocanā* (i e, the report of sins committed), the defaulter monk should approach a monk (practically) expert in the Jaina doctrine, should confess before him and practise what is prescribed by him.

13 Whether in the company of his preceptor or alone, without (any) breach with regard to his ascetic course, an ascetic should remain ever avoiding the attachments

14 That is perfect asceticism, when one practises his course ever intent on knowledge preceded by faith and exerting in the (practice of) primary virtues

15 A Sramana does not entertain attachment either for food or for fast, either for residence or for touring, or for paraphernalia, or for co-monks, or for unhealthy gossip

---

1 *appadikammam* occurs here, in gāthā 24, and also in 28 without the negative particle Reading the two gāthās side by side the sense is clear that a monk is not to pay attention to, caress and decorate his body in any way *prati* and *pari* are often interchanged in Prakrit and sometimes phonetically represented by *padi* So more convenienty and accurately the form should be derived from *kr* with *pari* *a-prati-kr* is not altogether wrong, but the sense becomes restricted *pari* is preferable as seen from the use of *parikarma* in gāthā 28

2, For the detailed discussion about primary virtues, see *Mūlācāra of* Vattakera, chapter 1

16 Careless activities of a monk when sleeping, sitting, standing and walking, are always known as continuous harm unto living beings

17 Let the being die or not, harm unto living beings is certain (to occur) in the case of him who is careless in conduct, there is no bondage for him, who is mindful of the items of carefulness, by mere (physical) harm

*1-2 If a subtle living organism is crushed or killed with the contact of the feet in movement of an ascetic who is careful in his walking towards his destiny, the scripture does not hold him liable even for a slight bondage as a consequence of that, (the case is similar to the statement) it is infatuation alone that is called paraphernalia on the authority of the spiritual lore [1]

18 A Sramaṇa of careless conduct is called murderer of the six (classes of) embodied beings, if he carefully practises (his course of conduct), he is forever uncontaminated like the lotus on water

19 There is or there is no bondage, when a being dies in the course of physical activities, bondage is certain from attachment to paraphernalia, therefore ascetics give up everything

20 If there is no renunciation (absolutely) free from (any) expectation, the monk cannot have the purification of mind, how can he effect the destruction of Karmas, when he is impure in mind?

*3-5 (If you were to say that) it is (found) stated in certain texts that a monk accepts a piece of clothing and possesses a pot, (we have to ask) how can he (with these) be independent and without activities involving preliminary sin? If he accepts a piece of clothing, gourdbowl and anything else, necessarily there is involved harm unto living beings, and there is disturbance in his mind he accepts the pot and the piece of cloth, cleanses them, washes them, carefully dries them in the sun, protects them and is afraid of others (that they might take them away) [2]

21 (If he accepts these things) how then is he not liable to infatuation, preliminary sin and lack of control?, similarly when a monk is attached to external things, how will he realize his self?

22 A monk should so conduct (his course of duties), understanding the (necessities of) time and place, that, when using the paraphernalia, there should not be any default (with respect to primary virtues) in accepting and abandoning it

---

1 Hiṃsā is not merely *prāṇa-vyaparopaṇa*, but *pramatta-yogāt prāṇa-vyaparopaṇaṃ hiṃsā* (TS VII, 13) It is the passions negligent and careless channels of activities etc, that matter most, it is the mental condition, rather than the visible act, that is of utmost importance For instance, *parigraha* does not so much consist in having physical contact with external objects as in being infatuated with them

2 The life of a Jaina monk is expected to be ideally self-sufficient, independent and without sin, but these virtues cannot be ideal if he were to accept clothes, alms-bowl etc, *dugdhikā* is a kind of native gourd

23 Let the monk accept that little (quantity of) paraphernalia, which does not involve bondage (*i e*, which is sanctioned by the scripture,)[1] which is not desired for by men who are not self-controlled (*i e*, which is essential for maintaining self-control) and which does not give rise to (any) infatuation etc

24 Even the slightest thought about the body, on the part of him who aims at the negation of births, is considered as attachment, therefore the great Jinas have preached non-attention (towards the body)

*6 The religion preached by great saints (*i e*, the Tīrthaṅkaras) does not aim at (happiness etc in) this or the next world (but only at liberation), then how is it that, in this religion, women are prescribed an alternative ascetic emblem (consisting of clothing etc) ?[2]

*7 In fact, liberation is not said to be possible for women in that very birth, therefore an alternative (ascetic) emblem is prescribed for women befitting them

*8 The nature of these (*viz*, women) is naturally full of negligence (*Pramāda*), and hence they are designated as *pramadā*, therefore these women (*pramadāḥ*) are said to be plentifully negligent

*9 As a matter of fact, women are liable to infatuation, aversion, fear and disgust, in their mind (there is) crookedness of a varied type, therefore they cannot attain liberation (in that very birth)

*10 There is not a single woman, in the whole world, who is without even one of these above faults, their limbs are not closed (?) (*samudam*), and hence they need clothing

*11 In their case there is always the mental mobility and fickleness and the periodical oozing of blood (at the time of monthly course) wherein grow subtle human organisms

*12 There is said to be the growth of subtle organisms in the female organ of generation, in between their breasts and in the parts of their navel and armpit, then how can self-control be possible for them ?

*13 Women cannot effect (complete) exhaustion of Karmas, even though they are pure in faith, are endowed with scriptural study and practise a severe course of conduct

---

1 *a-prati-kruṣta*, that which is not forbidden by the scriptural injunction, see *20 *infra*

2 A question is raised that women, when they are not allowed to accept the standard course of asceticism, it means, should go only to heavens etc which as a matter of doctrine, are not considered to be healthy objects of aim Liberation is the only aim, to be aspired after, which can never be attained by any other course than the adoption of standard asceticism, if women are to get liberation, they should also be allowed to accept the standard emblem The answer is given in the gāthās to follow

*14 Therefore the Jinas have prescribed for them an emblem befitting their nature (*i e*, consisting of clothing etc), those, that are endowed with family, form and age and practise that course, are called nuns (*śramanī*)

*15 He is a fit one for accepting the ascetic emblem who hails from the three castes (*varnas*), whose limbs are healthy, whose age can stand the austerities, who is of winning appearance and whose character is free from any scandal

*16 The loss of three jewels[1] is said to be the (greatest) loss by the Jinas, even by any other loss one does not remain fit for observing *sallekhanā*,[2] *i e*, the voluntary submission to death.

25 According to Jainism the (acceptable) ascetic paraphernalia is said to consist of the bodily form in which one is born, the words of the teacher, (disciplinary) modesty and the study of the sacred texts

26 He is Sramaṇa who has no desires in this world and no attachment for the next, whose diet and tourings are proper, and who is free from passions

*17 The ascetic becomes negligent or careless, when he is affected by the four (passions), anger etc [3] and unhealthy gossip, by the objects of senses, and by affection and drowsiness

27 (Really speaking) the soul of the monk does not eat (any) food, that is the (internal) penance, and the ascetics are after that The ascetics are (as good as) without food, even if they accept faultless food

28 The Sramaṇa possesses the body alone, and even towards the body he pays not attention of mineness, he yokes the same to austerities without concealing his ability

29 (The proper food consists of) one meal which is not stomachful, in the form in which it is obtained, which is obtained by begging and by day, wherein there is no consideration of juices and which does not contain honey and flesh

*18-19 There is an incessant growth of subtle organisms of the *nigoda* class[4] (similar to the colour of the flesh etc) in the pieces of flesh cooked or raw and in the course of being cooked, he, who eats or touches the pieces of raw or baked flesh, kills, in fact, a host of many crores of beings

---

1 TS I, 1

2 *sallekhanā* is a form of an ascetic ideal consisting in voluntary submission to death, and it must necessarily be differentiated from what is ordinarily called suicide, see *Ratnakaranda Srāvakācāra* of Samantabhadra, verses 122-30

3 Anger, pride, deceit and greed are the four passions, unhealthy gossip is also of four kinds about women, about food, about thieves etc and about the state

4 *nigoda* beings form a class by themselves at the lowest stage of evolution with minimum amount of vitality They live in groups rather than as individuals They are said to take birth and die eighteen times within a wink of time

*20 The unauthorised food (*i e*, not sanctioned by the scriptures), which has fallen in the (cavity of) palms, should not be given to others, he is unfit to eat (again) after giving it (to others), if he eats, he must repent for that.

30 A monk, young or old, exhausted or diseased, should practise a course of conduct fit for him in a manner that there is no violation of primary virtues.

31 If a Sramana observes his course of conduct understanding the (nature of) food, touring, place, time, physical labour, his forbearance and his bodily condition, he incurs the least bondage

32 He, who is concentrated on one thing alone, is a Sramana, such a concentration is possible for him whose comprehension of the objectivity is certain, this certainty (of knowledge) is possible from the study of scriptures, therefore application to the (study of) scriptures is of the highest importance

33 The Sramana, who is lacking in the stduy of scriptures, does not know his self and the things other than his self, without knowing the objectivity how can the monk destroy the Karmas ?

34 The saints have scriptures as their eyes, all the living beings have sense-organs as their eyes, the gods have clairvoyance as their eyes,[1] and the Siddhas have eyes in every way

35 All the objects, with their various qualities and modifications, are known from the scriptures those, who know them learning from the scriptures, are the Sramanas

36 He, whose right faith is not preceded by the (study of) scripture, cannot possess self-control. so says the sacred text, and if he has no moral discipline, how can he be a Sramana ?

37 One does not attain liberation (merely) by the (study of) scripture, if he has no faith with regard to the nature of reality, or one who has faith cannot attain Nirvāna if he is devoid of moral discipline

38 The man of knowledge, who is controlled in three ways,[2] destroys within a breath the Karma which a man devoid of knowledge could destroy in hundred thousand crores of lives

39 Further, he, who has an atom of attachment towards body etc , cannot attain libetation, even if he knows all the scriptures

*21 Especially in ascetic life, moral discipline is said to consist in renunciation, in abstaining from activities (leading to sin), in refraining from sensual pleasures and in destroying the passions

40 That Sramana, who has five-fold carefulness, who is controlled in three ways, who has curbed his five senses, who has subdued his passions and who is completely endowed with faith and knowledge, is called self-disciplined

1 TS I, 9, 21

2 Mentally, verbally and physically

41 Enemies and the members of the family, happiness and misery, prais and censure, a clod of earth and (a lump of) gold, and even life and death are alik to the Sramaṇa

42 He, who is simultaneously applied to (the cultivation of) the trio o right faith, knowledge and conduct, is said to have attained concentration, and hi has perfect asceticism

43 If an ignorant ascetic, accepting an external object, falls a prey tc delusion, attachment or aversion, he is bound by various Karmas

44 If an ascetic, develops neither infatuation nor attachment nor aversion, he necessarily destroys various Karmas

45 According to the (authority of the) scripture the ascetics are endowed with either pure or auspicious manifestation of consciousness' amongst them, those endowed with the pure one have no Karmic influx and the rest have [1]

46 The ascetic course of conduct, resulting from auspicious manifestation of consciousness, consists in devotion to Arahantas etc and in showing affection towards those who are applied to the doctrine [2]

47 Standing up (when the elderly monks arrive), following them (when they are going), showing respect (to them) and removal of fatigue. these, accompanied by salutation and adoration, are not forbidden for monks having auspicious resultant of consciousness

48 Preaching about right faith and knowledge, receiving and feeding the pupils, and giving instruction in the worship of great Jinas constitute the course of conduct of monks with auspicious resultant of consciousness

49 He, who renders assistance to the ascetic community consisting of four classes[3] without causing harm to any living being, is the foremost monk (possessing *śubhopayoga*)

50 If an ascetic, in course of rendering assistance to his co-monks, causes pain to living beings, he is no more an ascetic but becomes a house-holder, because that forms the duty of a layman

51 One should confer benefits on all the Jainas whether practising the course of duty of a house-holder or of an ascetic through compassion and without expecting anything in return, even though this involves slight sin

52 A monk (of *śubhopayoga*) should, to the best of his ability, help a co-ascetic seeing him suffering from disease, hunger, thirst or exhaustion

53 Talk with common people, if it results into auspicious consciousness, for rendering assistance to diseased, revered, young or old ascetics, is not forbidden [4]

1 Compare P, 135

2 Compare P 136

3 See Jayasena's commentary for the explanation of four classes in the ascetic community

4 As a rule he is not to have any familiarity with common people but on some such exceptional occasions it is not forbidden

54 This course of conduct is good for monks, but it is the best for householders, whereby alone they (gradually) attain the highest bliss

55 The auspicious attachment fruits otherwise according to the object with which it is associated, like the seeds, at the sowing time, sown in different kinds of fields

56 One, who is devoted to vows, rules, study, meditation and charity and who is keeping in mind the aims prescribed by a teacher who has not attained omniscience,[1] will not attain liberation, but attains a pleasurable condition of existence (to be followed by births again)

57 Reverence, service and gifts offered to persons, who do not know the nature of reality and in whom pleasures and passions predominate, result into wretched births among men and gods

58 Since objects of pleasures and passions are described as sin in the sacred texts, how can those, who are given to them, be able (to cross and) to help others to cross (the mundane existence)?

59 That man, who has refrained from sin, who entertains an attitude of equality towards all religious people and who maintains a band of virtues, joins the excellent, path of liberation

60 Those, that are free from inauspicious manifestation of consciousness and are endowed with pure or auspicious one, can (cross and) help others to cross (the mundane existence), one who is devoted to them attains excellence

61 Seeing a natural object[2] (in the form of a great saint), one should perform such duties, the foremost of which is standing up, one is to be honoured according to his merits· that is the advice (of Jinas)

62 Meritorious ascetics in this world, it is said, should be welcomed with a stand-up, should be greeted with words, should be served, fed and revered, should be saluted with folded hands and be bowed down to

63 Sramanas, skilled in the interpretation of sacred texts and rich in moral discipline, austerities and right knowledge, should be welcomed with a stand-up, should be served and be bowed down to by other ascetics

64 It is opined that one does not become a Sramana, though endowed with moral discipline, austerities and scriptural study, if he has no faith in the realities, the foremost of which is the soul, as preached by Jinas.

65 Seeing an ascetic abiding by the injunctions of the scripture, he, who ridicules him through malice and is unwilling to do these reverential duties (unto him), ruins his conduct

---

1 By observing the course of conduct preached by a non-omniscient teacher one cannot attain liberation which is decidedly superior to heavens

2 He is a natural object, because he is *yathā-jāta-rūpa-dharah* without any artificiality

66 If a monk of inferior merits, thinking (proudly) that he is a Sramaṇa, expects reverence from one who is more merited, he wanders in worldly existence till infinity

67 If monks possessing more merits with regard to their asceticism, remain practising (their duties) with (or in the company of) those of inferior merits, they are *victims of false faith and lose their conduct.*

68 He, who has properly grasped the interpretation of the sacred text, who has pacified the passions and who excels in austerities, cannot be self-controlled, if he does not abandon company with common people

*22 He, who is pained in mind at the sight of and receives kindly the thirsty, hungry and miserable, is a man of compassion [1]

69 If a monk after becoming a Nirgrantha ascetic, still dabbles in worldly professions (like palmistry etc), he is called a worldly man (or a commoner), even though he is endowed (externally) with selfcontrol and austerities

70 Therefore, a Sramaṇa, if he desires for release from misery, should always live with an ascetic of equal merits or possessing more merits

71 Those, who have wrongly grasped the nature of realities and are sure (in their mistaken way) that the reality, according to the creed, is such, wander long (till infinity) in mundane existence which is full with the fruits of misery

72 He, who has abstained from improper conduct, who is certain about the nature of reality exactly as it is, whose soul is peaceful and who maintains perfect asceticism here, will not live long without attaining the fruit (of liberation)

73 Those, that have grasped all things properly, have renounced (attachment for) external and internal[2] paraphernalia and are not steeped in pleasures of senses, are called the pure or *śuddha*

74 He, who is pure, is said to be Sramaṇa, to the pure one belong faith and knowledge, the pure one attains liberation, he alone is a Siddha my salutation to him

75 He, who, practising the course of duties of a house-holder and of a monk, comprehends this doctrine, realizes, within a short time, the essence of the doctrine (namely, the Self) [3]



---

1. This gāthā is the same as P 137

2 *ajjhattha* I have taken as *adhyātma*

3 The author does not lose the opportunity of mentioning the name of the present work indirectly

INDEX

The index is mainly intended for giving a topical analysis of *Pravacanasāra* under convenient heads In view of the fact that the English equivalents of Jaina technical terms are not finally settled, even if settled the English equivalent may not always necessarily and exclusively indicate the same Jaina term, I have put the topics with Sanskrit words at the head, and in every case an English equivalent, at least the meaning, is given In giving the English equivalents I have always taken into consideration the suggestions of my worthy predecessors, and at times I have differed from them, because it was felt that a better connotative equivalent was needed Some important and technical terms have also been included here The references are to Books and Nos of gāthās, Nos with an asterisk indicate the additional gāthās according to Jayasena's commentary I, 68 *3 means the 3rd additional gāthā of Jayasena's text which comes just after 68th regular gāthā of the first Book



Index to Introduction

This Index and the Table of Contents supplement each other The present Index includes names of authors and works and references to important topics In the case of authors and works that are repeatedly referred to, only the informative references are noted The dark numbers indicate important references References are to the pages of the Introduction · 98 n2 means p 98 footnote No 2; and 119-nl means that the occurrence is on p 119 and also in the foot-note No. 1 on that page Names of books are put in Italics, and those of modern scholars in capitals Words are arranged according to English alphabets

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास द्वारा संचालित
श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) के
प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

(१) गोम्मटसार जीवकाण्ड

श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथाएँ, श्री ब्रह्मचारी प० खूबचन्दजी सिद्धान्त-शास्त्रीकृत सस्कृत छाया तथा नयी हिन्दी टीका युक्त । अबकी बार पडितजीने धवल, जय-धवल, महाधवल और वडी सस्कृतटीकाके आधारसे विस्तृत टीका लिखी है । पचमावृत्ति
मूल्य—उन्नीस रुपये ।

(२) गोम्मटसार कर्मकाण्ड

श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथाएँ, प० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत सस्कृत छाया और हिन्दी टीका। प० खूवचन्दजी द्वारा सशोधित । जैन सिद्धान्त-ग्रन्थ है। चतुर्थावृत्ति।
मूल्य—सत्रह रुपये ।

(३) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

स्वामिकार्तिकेयकृत मूल गाथाएँ, श्री शुभचन्द्रकृत बडी सस्कृत टीका तथा स्याद्वाद महा-विद्यालय वाराणसीके प्रधानाध्यापक प० कैलासचन्द्रजी शास्त्रीकृत हिन्दी टीका । डॉ० आ० ने० उपाध्येकृत अध्ययनपूर्ण अग्रेजी प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक सपादन । द्वितीयावृत्ति ।
मूल्य—उन्नीस रुपये ।

(४) परमात्मप्रकाश और योगसार

श्री योगीन्दुदेवकृत मूल अपभ्रश दोहे, श्री ब्रह्मदेवकृत सस्कृत टीका व प० दौलतरामजीकृत हिन्दी टीका । विस्तृत अग्रेजी प्रस्तावना और उसके हिन्दीसार सहित । महान् अध्यात्मग्रथ । डॉ० आ० ने० उपाध्येका अमूल्य सम्पादन । नवीन चतुर्थ सस्करण । मूल्य—अठारह रुपये ।

(५) ज्ञानार्णव

श्री शुभचन्द्राचार्यकृत महान् योगशास्त्र । सुजानगढ निवासी प० पन्नालालजी वाकली-वालकृत हिन्दी अनुवाद सहित । पचमावृत्ति । मूल्य—पच्चीस रुपये ।

(६) प्रवचनसार

श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित ग्रन्थरत्नपर श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत तत्त्वप्रदीपिका एव श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति नामक सस्कृत टीकाएँ तथा पाडे हेमराजजी रचित वालाव-बोधिनी भाषाटीका । डॉ० आ० ने० उपाध्येकृत अध्ययनपूर्ण अग्रेजी अनुवाद तथा विशद प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक सम्पादन । चतुर्थावृत्ति । मूल्य—छत्तीस रुपये ।

(७) बृहद्द्रव्यसंग्रह

आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित मूल गाथाएँ, सस्कृत छाया, श्री ब्रह्मदेवविनिर्मित सस्कृतवृत्ति और प० जवाहरलाल शास्त्रीप्रणीत हिन्दीभाषानुवाद । षड्द्रव्यसप्ततत्त्वस्वरूप-वर्णनात्मक उत्तम ग्रन्थ । चतुर्थावृत्ति । मूल्य—वारह रुपये पचास पैसे।

(८) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत मूल श्लोक । प० टोडरमल्लजी तथा प० दौलतरामजीकी टीकाके आधार पर प० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित नवीन हिन्दी टीका सहित । श्रावकमुनिधर्मका चित्तस्पर्शी अद्भुत वर्णन । षष्ठावृत्ति । मूल्य—पाँच रुपये ।

(९) पञ्चास्तिकाय

श्री कुन्दकुन्दाचार्यविरचित अनुपम ग्रन्थराज । श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत 'समयव्याख्या' (तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति) एव श्री जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' नामक सस्कृत टीकाओंसे अलकृत और पाडे हेमराजजी रचित बालावबोधिनी भाषाटीकाके आधारपर प० पन्नालालजी बाकलीवालकृत प्रचलित हिन्दी अनुवाद सहित । तृतीयावृत्ति । मूल्य—सात रुपये ।

(१०) स्याद्वादमञ्जरी

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका तथा श्री मल्लिषेणसूरिकृत सस्कृत टीका। श्री जगदीशचन्द्र शास्त्री एम० ए० पी० एच० डी० कृत हिन्दी अनुवाद सहित । न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। बडी खोजसे लिखे गये ८ परिशिष्ट हैं। चतुर्थावृत्ति।

मूल्य—इक्कीस रुपये ।

(११) इष्टोपदेश

श्री पूज्यपाद-देवनन्दि आचार्यकृत मूल श्लोक, पडितप्रवर श्री आशाधरकृत सस्कृतटीका, प० धन्यकुमारजी जैनदर्शनाचार्य एम० ए० कृत हिन्दीटीका, बैरिस्टर चम्पतरायजीकृत अग्रेजी टीका तथा विभिन्न विद्वानो द्वारा रचित हिन्दी, मराठी, गुजराती एव अग्रेजी पद्यानुवादो सहित भाववाही आध्यात्मिक रचना । द्वितीय आवृत्ति । मूल्य—दो रुपये पचास पैसे ।

(१२) लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित)

श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीरचित करणानुयोग ग्रन्थ । पडितप्रवर टोडरमल्लजीकृत बडी टीका सहित । श्री फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीका अमूल्य सम्पादन । द्वितीयावृत्ति । मूल्य—तेंतालीस रुपये ।

(१३) द्रव्यानुयोगतर्कणा

श्री भोजकविकृत मूल श्लोक तथा व्याकरणाचार्य ठाकुरप्रसादजी शर्माकृत हिन्दी अनुवाद । द्वितीयावृत्ति । मूल्य—ग्यारह रुपये पचीस पैसे ।

(१४) न्यायावतार

महान् तार्किक आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकरकृत मूल श्लोक व जैनदर्शनाचार्य पं० विजयमूर्ति एम० ए० कृत श्री सिद्धर्षिगणिकी सस्कृतटीकाका हिन्दीभाषानुवाद । न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है । द्वितीयावृत्ति । मूल्य—छ रुपये ।

(१५) प्रशमरतिप्रकरण

आचार्य श्री उमास्वातिविरचित मूल श्लोक, श्री हरिभद्रसूरिकृत सस्कृतटीका और प० राजकुमारजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित सरल अर्थ सहित वैराग्यका बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। प्रथमावृत्ति । मूल्य—छ रुपये ।

(१६) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (मोक्षशास्त्र)

श्री उमास्वातिकृत मूलसूत्र और स्वोपज्ञ भाष्य तथा पं० खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका। तत्त्वोंका हृदयग्राह्य गम्भीर विश्लेषण। द्वितीयावृत्ति। मूल्य—छ रुपये।

(१७) सप्तभंगीतरंगिणी

श्री विमलदासकृत मूल और पंडित ठाकुरप्रसादजी शर्मा कृत भाषाटीका। न्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। तृतीयावृत्ति। मूल्य—छ रुपये।

(१८) समयसार

आचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित महान् अध्यात्म ग्रन्थ। आत्मख्याति, तात्पर्यवृत्ति, आत्मख्यातिभाषावचनिका—इन तीन टीकाओं सहित तथा पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित। तृतीयावृत्ति। मूल्य—बत्तीस रुपये।

(१९) इष्टोपदेश

मात्र अंग्रेजी टीका व पद्यानुवाद। मूल्य—पचहत्तर पैसे।

(२०) परमात्मप्रकाश

मात्र अंग्रेजी प्रस्तावना व मूल गाथाएँ। मूल्य—दो रुपये।

(२१) योगसार

मूल गाथाएँ व हिन्दी सार। मूल्य—पचहत्तर पैसे।

(२२) कार्तिकेयानुप्रेक्षा

मूल्य गाथाएँ और अंग्रेजी प्रस्तावना। मूल्य—दो रुपये पचास पैसे।

(२३) प्रवचनसार

अंग्रेजी प्रस्तावना, प्राकृत मूल, अंग्रेजी अनुवाद तथा पाठांतर सहित। मूल्य—पाँच रुपये।

(२४) अष्टप्राभृत

श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित मूल गाथाओंपर श्री रावजीभाई देसाई द्वारा गुजराती गद्य पद्यात्मक भाषान्तर। मूल्य—दो रुपये।

(२५) मोक्षमाला (भावनाबोध सहित)

श्रीमद् राजचन्द्रकृत मूल गुजराती ग्रन्थका श्री हंसराजजीकृत हिन्दी अनुवाद। इसमें जैन धर्मको यथार्थ समझानेका प्रयास किया गया है। भाषाशैली बहुत सुन्दर और सरल है। इसमें १०८ शिक्षापाठ हैं। साथमें भावनाबोधमें बारह भावनाओंका सुन्दर दृष्टान्तसहित वर्णन है। तृतीयावृत्ति मूल्य—छ रुपये।

(२६) श्रीमद् राजचन्द्र

श्रीमद् राजचन्द्रके मूल गुजराती पत्रों व रचनाओंका श्री हंसराजजीकृत हिन्दी अनुवाद। तत्त्वज्ञानपूर्ण महान् ग्रन्थ है। मूल्य—बाईस रुपये पचास पैसे।

अधिक मूल्यके ग्रन्थ मँगानेवालोंको कमिशन दिया जायेगा। इसके लिये वे हमसे पत्रव्यवहार करें।

■

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगासकी ओरसे

प्रकाशित गुजराती ग्रन्थ

१ श्रीमद् राजचन्द्र २ मोक्षमाला (भावनाबोध सहित) ३ तत्त्वज्ञान ४ पत्रशतक ५ आत्मसिद्धि शास्त्र ६ सुबोध सग्रह ७ श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला ८ श्रीमद् राजचन्द्र आत्मकथा ९ श्रीमद् लघुराजस्वामी (प्रभुश्री) उपदेशामृत १० नित्यक्रम ११ नित्यनियमादि पाठ (भावार्थ सहित) १२ समाधिसोपान (रत्नकरण्ड श्रावकाचारके विशिष्ट स्थलोका अनुवाद) १३ आठ दृष्टिनी सज्झाय (भावार्थ सहित) १४ आलोचनादि पद सग्रह १५ आलोचनादि पद सग्रह (सक्षिप्त) १६ सहजसुखसाधन १७ धर्मामृत (अप्राप्य) १८ समयसार (अप्राप्य) १९ ज्ञानमजरी (अप्राप्य) २० पूजासचय २१ तत्त्वज्ञान तरगिणी २२ परमात्मप्रकाश २३ सुवर्ण-महोत्सव (आश्रम परिचय) २४ पूजादि स्मरणाजलि काव्यो २५ A Great Seer २६ श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला (हिन्दी अनुवाद) २७ नित्यनियमादि पाठ भावार्थयुक्त (हिन्दी अनुवाद) २८ नित्यक्रम (बालबोध लिपि) २९ तत्त्वज्ञान (बालबोध लिपि)।

आश्रमके गुजराती प्रकाशनोका पृथक् सूचीपत्र मगाइये। सभी ग्रन्थोपर डाकखर्च अलग रहेगा।

प्राप्तिस्थान

१. श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम,
स्टेशन–अगास, पोस्ट–बोरिया
वाया–आणद (गुजरात)
पिन ३८८१३०

२. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल,
(श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)
चोकसी चेम्बर, खारा कुवा, जौहरी बाजार
बम्बई–४००००२

